

श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्य कृत

अष्टपाहुड

[श्री श्रुतसागर सूरि कृत संस्कृत टीका]

हिन्दी अनुवादक

पं० पन्नालाल साहित्याचार्य, सागर

भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्

मूर्मिका

डॉ० फूलचन्द्र जैन प्रेमी
अस्सम, जीव दर्शन विभाग
सम्पूर्णविनाश संस्कृत विष्ववाचशाल्य, बाराणसी

अब से कुछ दशक पूर्व तक प्रायः भारतीय और पालवात्म विद्वान् भारतीय संस्कृति, अस्सीर्द्धन और साहित्य का मूल बोद्धों में देखने के अस्यस्त ये लिङ्ग अब से मोहन-जोदडो हडप्पा से प्राप्त सामग्री आदि साक्षों के अध्ययन के पश्चात् चिन्तकों के चिन्तन की दिशा ही बदल मई और अब यह प्रमाणित हो चुका है कि अमण-संस्कृति-वैदिक संस्कृति से पृथक् और प्राचीन है।

वस्तुतः अमणधारा भारत में अत्यन्त प्राचीनकाल से ही प्रवहमान है। पुरातात्त्विक साक्षों, भाषावैज्ञानिक, साहित्यिक एवं शिलालेखीय आदि अव्येषणों के आधार पर अनेक विद्वान् अब यह मानने लगे हैं कि वायों के वाग्यान से पूर्व भारत में जो संस्कृति थी वह अमण या आर्हत्-संस्कृति होनी चाहिए। अमण संस्कृति अपनी जिन-विशेषताओं के कारण गरिमा-मण्डित रही है, उनमें श्रम, संयम और त्याग ऐसे आध्यात्मिक आदर्शों का महत्वपूर्ण स्थान है। यह संस्कृति सुदूर अतीत में जैन धर्म के आदि तीर्थंकर वृषभ या ऋषभदेव द्वारा प्रवत्तित हुई। ऋषभदेव का उल्लेख अमण और वैदिक इन दोनों ही संस्कृतियों में स्वयं-सिद्ध है। ये इस अक्षराणी काल के प्रथम सुसंस्कृत पुस्तक थे, जिन्होंने सर्वप्रथम विविध ज्ञान-विज्ञान और कलाओं की शिक्षा दी थी। मनुष्य को जीवनोपयोगी असि, असि, कृषि, शिल्प, वाणिज्य और विज्ञा का उपदेश देकर समाज-व्यवस्था स्थापित की। इनके प्रथम चक्रवर्ती पुत्र भरत के नाम से इस पुण्यदेश का “भारतवर्ष” यह नाम प्रसिद्ध हुआ।

प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव से लेकर अन्तिम एवं जीवीसर्वे तीर्थंकर महावीर तक की इस गौरवशाली तीर्थंकर परम्परा से प्राप्त तत्त्वज्ञान और आत्म कल्याणकारी उपदेशों के आधार पर अमण संस्कृति के अमर गायक और उन्नायक सहकर्मी जैन-आधार्यों ने प्रायः सभी प्राचीन भारतीय भाषाओं एवं सभी विज्ञाओं में अपने श्रेष्ठ साहित्य के माध्यम से भारतीय साहित्य और चिन्तन परम्परा में भीवृद्धि की है।

आचार्य कुन्दकुन्द और उनका दिव्य अवदान

तीर्थंकर महात्मीय द्वैत गणधर के बाद की लहरदर्ती जैन आचार्यों का विषाल परम्परा में आगे क महान् आचार्यों का नाम धड़ामूदंक लिया जाता है। जिनके अनुपम व्यक्तित्व और कर्तृत्व से भारतीय चिन्तन अनुप्राणित होकर चतुर्विंश्ट प्रकाश को किरणे फैलाता रहा है, किन्तु इन सबमें अब से हो हजार वर्ष पूर्व युगप्रथान आचार्य कुन्दकुन्द ऐसे प्रखर प्रभापुरुष के समान महान् आचार्य हुए जिनके महान् आध्यात्मिक चिन्तन से सम्पूर्ण भारतीय मनीषा प्रभावित हुई और उसने एक अद्भुत भोग लिया। यही कारण है कि इनके परवर्ती सभी आचार्यों ने अपने को उनकी परम्परा का आचार्य मानकर उनकी सम्पूर्ण विरासत से जुड़ने में अपना गीरब माना तथा उनकी मूल-परम्परा तथा ज्ञानन्मरिमा को एक स्वर से धोष भान्य करते हुए कहा—

मंगलं भगवदो वीरो मंगलं गौदमो गणी ।

मंगलं कोणकुदाइ, जेह घम्मोरथु मंगलं ॥

[मञ्जलं भगवान्वीरो मञ्जलं गौतमो गणी ।

मञ्जलं कुन्दकुन्दार्यो जैनघर्मोऽसु मंगलम् ॥]

अर्थात् तीर्थंकर महान् यहादेवन्मर्दन मंगलस्थित है। इनके प्रथम गणधर गौतम-स्वामी (तीर्थंकर महात्मीय की दिव्यध्वनि के विवेचनकर्ता तथा द्वादशांग आगमोंके रचयिता) मंगलात्मक है। आचार्य कुन्दकुन्द जैसे समर्थ आचार्योंकी आचार्य-परम्परा मंगलभय है तथा प्राणिमात्रका कल्याण करने वाला जैनघर्म सभीके लिए मंगलकारक है।

छिलाकेखों के अनुसार इनका जन्मस्थान कोणकुन्दे प्रचलित नाम कोणकुन्दी (कुन्दकुन्दपुरम्) वहसील गुफ्फूर है जो कि आनन्दप्रदेशके अनन्तपुर जिलेमें कोणकुन्दपुर अपरनाम कुरुक्षराई माना जाता है। इनका जन्म शार्दूली नाम संक्षिप्त नाम थुकला ५ ईसापूर्व १०८ (बी० सी०) में हुआ था। इन्होंने ११ वर्ष की अवस्थाय में ही अपन दीक्षा की तथा ३३ वर्ष तक मुनिपद पर रहकर ज्ञान और चारित्र की सतत् साधना की। ४४ वर्ष की आयु (ईसा पूर्व ६४) चतुर्विंश सव ने इन्हें आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया। ५१ वर्ष १० माह और १५ दिन तक उन्होंने आचार्यपद को सुशोभित किया। इस तरह इन्होंने कुल १५ वर्ष १० माह १५ दिनकी दीर्घिय पायी और ईसा पूर्व १२में समाधिमरण पूर्वक मृत्यु पाकर स्वर्गरीहृण किया।^१

१. समयसार : पुरोवाह (मुनुकि) पृ० ३०४ : स०—बलभद्र जैन, प्रकाशन-कुन्दकुन्द भारती, दिल्ली १९८८।

र्दो एवं एन उपाये ने भी इनका समय इसी सन् के प्रारम्भ में मानते हुए लिखा है—

"I am inclined to believe, after this long survey of the available material, that kundakunda's age lies at the beginning of the Christian era",^१

कुछ विद्वान् आदि कुन्दकुन्दको पौच्छी-छठी जीतीका भी सिद्ध करने में प्रयत्नमयोग्य है।^२ कहता है मूल विग्रहार परम्पराके महान् पौष्टक होनेके कारण आचार्य कुन्दकुन्द जैसे अनुपम अधिकारी और कर्तृत्वके घनी आचार्यकी उत्कृष्ट मौलिकता एवं कौसिको कुछ विद्वान् सहन नहीं कर पा रहे हैं, इसीलिए उन्हें परबर्ती सिद्ध करनेके लिए तथ्य-रहित आचार बहालाकर अपनेको सम्मुख भान रहे हैं। कस्तुतः आचार्य कुन्दकुन्द या अन्य जैनआचार्य द्वारा धोष साहित्यके निर्माणका उद्देश्य स्व-पर कल्याण करना था, न कि आत्म-प्रवर्षन या लौकिक मरणको प्राप्ति। इसीलिए आज अनेकों द्वारे उत्कृष्ट आश्रामकर्तुंक ग्रन्थ उपलब्ध हैं जिनमें उसके लेखकने अपना नाम तक लिखना उचित न समझा। आचार्य अमृत-चन्द्राचार्य (८-९वीं शती) के पूर्व तक कुन्दकुन्दके साहित्य पर किसी द्वारा दीका आविन्न लिखे जाने का यह अर्थ नहीं कि वे ५-६वीं शतीके थे, अपितु काफी साहित्यका नष्ट होना, भाषायी आकांक्षण और साथ ही आज जैसे प्राचीन कालमें विविध सम्पर्क और साधनोंका अभाव कारण है।

आचार्य कुन्दकुन्दके पन्थ ही उनकी प्राचीनता, प्रामाणिकता और भौलिकता-को कह रहे हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थोंमें "सुयगाणभद्रबाहु गमयगुरु भगवान्नो जयओ" — कहकर अपनेको बारह अंगों और धौवह पूर्वोंके विपुल किस्तारके बेसा, गमयगुरु (प्रबोधक) भगवान् ध्रुतज्ञानी-श्रुतकेवली भद्रबाहुका शिष्य कहा है।^३ भद्रबाहुको अपना गमयगुरु कहनेका यही अर्थ है कि श्रुतकेवलों भद्रबाहु कुन्दकुन्दको प्रबोध करने वाले गुरु थे। इसीलिए समयसारको भी उन्होंने "श्रुतकेवली भणित" कहा है। यथा—

१. Pravacansara : Introduction p. 21.

२. अमण भगवान् महावीर : पृ० ३०६ लेखक प० कल्याण विजयगणी, (विशेष-लेखकने इस पुस्तकमें दस प्रभाणों (प्राइटों) से आचार्य कुन्दकुन्दको छठी जीतीका भ्रमा है।

३. धोष पाद्मव गाथा ६०-६१.

वंवितु सञ्चासिद्धे धूषमचलमणेऽप्यन् गदा पत्ते ।

धोऽष्टामि समयपाहुद्विष्णमो सुधकेवली भणिय ॥—समयसार १.

अवणबेलगोलकी चन्द्रगिरि पर्वत पर महनवर्मा मण्डपमें बक्षिण मुख स्तम्भ पर शक सं० १०८५^१ के लेख संख्या ४०में धूतकेवली भद्रबाहु और चन्द्रगुप्तके बाद आचार्य कुन्दकुन्द हनके बाद आ० चमास्त्वातिका उल्लेख करके इन्हें भद्रबाहु-के अन्वयका ही बतलाया है । इस लेखका मुख्यांश इसप्रकार है—

श्रीभद्रः सर्वतो यो हि भद्रबाहुरिति शूतः ।

धूतकेवलि नाथेषु चरमः परमो मुनिः ॥

चन्द्रप्रकाशोऽचलचन्द्रकीर्तिः श्रीचन्द्रगुप्तोऽजन्मि तस्य शिष्यः ।

यस्य प्रभवाकाश् वनदेवताभिराराधितः स्वस्य गणो मुनीनाम् ॥

“तस्यान्वये भू-दिदिते बभूव यः पद्मनन्दिप्रथमाभिषानः ।

श्रीकोष्ठकुन्दादि-मुनीस्वरास्यस्त्वंयमादुद्गत-चारणादिः ॥

बभूद्गुप्तास्यादि मुनिस्त्रै रोड़ादावार्थ्यं शब्दोत्तरगृद्विष्णुः ।

तदन्वये तस्यद्वौऽस्ति नाम्यस्तात्कालिकादीप-पदार्थं वेदी ॥

पद्मनन्दि कुन्दकुन्दाचार्यका ही अपर नाम है । दीकाकार जयसेनाचार्य तथा ब्रह्मदेवमे कुमारनन्द सिद्धान्तदेवको भी कुन्दकुन्दाचार्यका गुरु बतलाया है^२, जब-कि नन्दिसंघकी पट्टावलीमें जिनचन्द्रको गुरु बतलाया है ।^३ किन्तु भद्रबाहुको आचार्य कुन्दकुन्दने गमकमुहके झर्में जिस तरह स्मरण किया है उससे आ० भद्र-बाहुको ही उनका गुरु मानना अधिक उपयुक्त है ।

कलिकाल-सावंजा आचार्य कुन्दकुन्दके अनेक नाम

साहित्य और शिलालेखोंमें इनके विभिन्न नामोंका उल्लेख मिलता है जिनमें कोष्ठकुन्द (कुन्दकुन्द), पद्मनन्दि, ब्रह्मीज, एलाचार्य, महाभुनि, गृद्विष्णु प्रमुख नाम हैं । नन्दिसंघसे साम्बद्ध विजयगनरके १३८६ ई० के एक शिलालेखमें तथा नन्दिसंघ पट्टावलीमें इस तरह नामोंका उल्लेख है—

१. शक संवत्सरमें ७८ जोड़ देने पर उसका ईसवी सन् निकल आता है, ६०५ जोड़ देने पर वीर मिवाणि संवत् तथा १३५ संख्या जोड़ देने पर विक्रम संवत् निकाल लिया जाता है ।
२. (क) समयप्रामृत भूमिका पृ० ४.
(ख) पञ्चास्त्रिकाय पर ब्रह्मदेव (ईरवीं सदी) की दीकाकी उत्तरानिका.
३. जैन सिद्धान्त भास्कर वर्ष १ अंक ४ पृ० ७८.

श्रीमूलसं(ष)ज्ञनि नन्दिसंवस्तस्तिमन् बलालकारणेऽतिरम्य ।

तत्रापि सारस्वतनामिनगच्छे स्वच्छाशायोऽभूविह पदम् सन्धी ॥

आचार्यः कुन्दकुन्दारुयो वक्ष्याद्यो महामुनिः ।

एलाचार्यो गुदपिच्छु इति तत्त्वाम पञ्चधा ॥^१

वि० सं० ९९० में रचित आचार्य देवसेनने अपने 'दर्शनसार' मन्त्रमें भाव 'पद्मनन्दी' नामसे उनका उल्लेख किया है ।^२ वि० सं० १६वीं शतीके पट्टप्राभूतके दीकाकार श्रुतसागर सुरिते उनके पाँच नामोंका उल्लेख करते हुए उन्हें अहकाशमें गमन करनेवाला (चारणकृद्विषारो), विदेहक्षेत्र जाकर सीमधर स्वामीकी विष्वव्यवनि सुनमें वाला तथा 'कलिकाल-सर्वज्ञ' रूप विदेषिताओंसे युक्त बतलाया है । प्रायः प्रत्येक प्राभूतके अस्त्रमें इस तरहकी पुष्टिका पाई जाती है—

श्रीपद्मनन्दि कुन्दकुन्दाचार्य वक्ष्याद्याचार्येलाचार्यगुदपिच्छुचार्यनामपञ्चक-
विराजितेन चतुर्गुलाकाशगमनदिना पूर्वक्षिद्देहपुण्डरीकिणीनगरवन्वित सीमधरा-
परनाम स्वर्यप्रभजिनेन तच्छुकालानसम्बोधित भरतवर्षमध्यजीवेन श्रीजिनघन्दसूरि-
भद्रारकपद्माभरणमूतेन कलिकालसर्वज्ञेन विरचिते पदप्राभूतप्रयन्ते सर्वमुनिवृद्धस्ती-
मणिहतेन कलिकालगीतमस्कामिना श्रीमल्लभूषणेन भद्रारकेणानुमतेन सकलविद्व-
ज्ञनसमाजसमानितेनोभयभाषाकविचक्ष्वर्तिना श्रीविद्यामस्तिगुरुवन्तेवासिना
सूरिवरक्षीश्वरसागरेण विरचिता बोषप्रसन्नतस्य दोका परिसमाप्ता ।^३

श्रुतसागरसूरि द्वारा आ० कुन्दकुन्दके लिए 'कलिकालसर्वज्ञ' विदेषण श्री
विदेष सहस्रपूर्ण है ।

विदेहक्षेत्र गमन और चारणकृद्वि सम्बन्धी उल्लेख

अनेक द्रव्यों और शिलालेखोंमें आ० कुन्दकुन्दके विदेहगमन और चारण-
कृद्वि सम्बन्धी उल्लेख मिलते हैं । यद्यपि आजके कुछ विद्वानोंने विदेहगमन
और वही सीमधर स्वामीके समक्षरणमें पहुँचकर विष्वव्यवनि अवग की इस घटनाको
सही नहीं माना है । किन्तु सदियों प्राचीन हन उल्लेखोंको नजरन्दाज भी
मैते किया जा सकता है ? विदेह गमनकी घटनाका सर्वप्रथम उल्लेख आचार्य
देवसेनने किया है—

जह पठमणिद्विणाहो सीमधरसामिविष्वव्यवणाणेष ।

ए विदोहुह तो समष्टा कहं सुमग्नं पद्माणेषि ॥^४

१. जैन सिद्धान्त भास्कर (आरा) भाग १ किरण ४ पृ० ९०.

२. दर्शनसार ४३.

३. अष्टपाहुड़ : पृष्ठ २०५. श्री शान्तिकीरतनगर, श्रीमहाकीरजी, १९६८

४. दर्शनसार : गाथा ४३.

—इस गाथामें कहा है कि पद्मनन्दि (कुन्दकुल्य) स्वामीसे सीमवर स्वामी से दिव्यज्ञान प्राप्तकर अन्य मुनियोंसे प्रबोचित किया । यदि वे प्रबोचन कार्य न करते तो अमण सुभार्ता किस तरह प्राप्त करते ?

जयसेनाचार्यने पञ्चास्तिकायकी टीकामें उक्त विदेहगमन वाली चटनाको “प्रसिद्ध कथा” कहा है । अनेक शिलालेखोंमें भी उन्हें चारणशृङ्खिघारी अर्थात् पूर्णीसे चार बंगुल ऊपर आकाशमें अनेक योजन तक गमन करने वाला कहा है ।^१ अवणबेलगोल नगरके मठकी उत्तर गोपालमें शक सं० १०४१ के शिलालेख संख्या १३९ में इस तरह लिखा है—

स्वस्ति श्री वद्मानस्य वद्मानस्य शासने ।

श्रीकोण्डकुन्द नामाभूच्छतुरजूलचारणः ॥२॥

अर्थात् वद्मानके शासनमें परिपूर्ण रूपसे निष्ठात् चार बंगुल ऊपर जमीन से चलने वाले कुन्दकुलचार्य हुए ।

भृनवकी मण्डपके उत्तरमें एक स्तम्भ पर शक सं० १०९९ के लेख सं० ४२ में नागदेव मन्त्री डारा अपने गुह श्री नयकीति योगीन्द्रकी विस्तृत गुहन्परम्परा का चल्लेक है जिसमें आचार्य पद्मनन्दी (कुन्दकुल्य), उमास्ताति-नृदपिच्छ, बलाकपिच्छ, गुणनन्दि आदि आचार्योंके नामोलेख हैं । इसमें भी अ० कुन्दकुल्य की चारणशृङ्खिघारी बतलाया है । यथा—

श्री पद्मनन्दोत्यनवशानामा ह्याचार्यं शब्दोत्तरकोणकुम्हः ।

हितीयमासीदभिशानमुण्डाच्छरित्रसङ्जातसुचारणहिं ॥ ४३ ॥^३

यही एको आमुण्डराय वस्ति के दक्षिणकी ओर मण्डपके प्रथम स्तम्भ पर शक सं० १०४५ के लेख सं० ४३ में लिखा है ।^४

अवणबेलगोलके विन्ध्यगिरि पर्वत पर सिंहरबस्तीमें उत्तरकी ओर एक स्तम्भ पर शक सं० १३२० के लेख सं० १०५ में स्पष्ट रूपसे आचार्य कुन्दकुन्दको अनेक विदोषणों सहित भूमिसे चार बंगुल ऊपर गमन करने वाला कहा है—

१. जैन शिलालेख संख्या १, शिलालेख सं० ४०, ४१, ४२, १०५, १३९,
२८७

२. वही पृष्ठ २८६

३. जैन शिला संख्या १ पृ० ४२.

४. वही : लेख सं० ४३ एवं ४५.

पास्त्राभारेषु पुण्याप्तिं सज्जतो कौण्डकुन्दा यतोऽदः ॥१३॥

रजोभिरस्पृष्टतमत्वमन्तव्यहितेभीं संव्यञ्जयितुं यतोऽः ।

रजः पदे भूमितलं विहाय चत्वार मन्त्रे चतुरद्वयुलं सः ॥१४॥

अथति यतीन्द्र कुन्दकुन्दाचार्यं रजःस्थानं पृथ्वीतलको छोड़कर चार अंगुल ऊपर गमन करते थे, जिससे यह स्पष्ट होता है कि वे अन्तः और बाह्य रज (धूल) से अत्यन्त अस्पृष्टता व्यक्त करते थे ।

विविध संघ और आचार्यं कुन्दकुन्द एवं कुन्दकुन्दान्वयः :

आचार्यं कुन्दकुन्दका व्यक्तित्व और कर्तृत्व इतना अनुपम था कि दिग्म्बर जैन परम्पराके प्रायः सभी संघोंने अपनेको कुन्दकुन्दान्वयका माननेमें गौरव-शाली अनुभव किया । यही कारण है कि मूलसंघके अनेक भेद-प्रभेद हो जाने अथवा स्वतन्त्र अन्यान्य संघ बन जानेके बावजूद सभी संघ आचार्यं कुन्दकुन्द या कुन्दकुन्दान्वयकी परम्पराका अपनेको मन्त्र अनुयायी मानते हुए भावनात्मक एकता, जैन शासनकी अन्युन्तति एवं आत्मकल्याणके लक्ष्यमें एकजुट होकर लगे रहे । और यही कारण है कि जब हम उस लम्बे समयके जैन साहित्य, संस्कृति, धर्म-दर्शन और आचार-विचारोंको व्येष्ठता तथा जैनधर्मको शाश्वतता प्रदान करने हेतु उनके त्यागकी ओर दृष्टिपात्र करते हैं तो हमारा मस्तक गौरवसे ऊँचा उठ जाता है और हमें अपने अन्दर अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है कि हम अपने भारतकी इस भहान् धरोहरके उत्तराधिकारी और अनुयायी हैं । किन्तु हम सभी-को भी इस बड़े उत्तराधित्वका बोध होने और इसके विकासके लिए जेष्ठा करते रहनेके विषयमें भी निरन्तर सोचते रहनेकी बड़ी आवश्यकता है ।

वैसा कि यही कहा गया है कि दिग्म्बर जैन परम्परा के प्रायः सभी संघों ने कुन्दकुन्द की परम्परा के अन्तर्गत अपने को घोषित किया । हमें इविहसंघ, सन्धि, सेन और काष्ठासंघ—ये चार प्रमुख हैं । इन सभी के कुन्दकुन्द अन्वय से सम्बन्धित होने के शिलालेखादि में उल्लेख प्राप्त होते हैं । अंगादि से प्राप्त शिलालेख संख्या १६६ में इविहसंघ कोण्डकुन्दान्वय लिखा है । शिलालेख सं० ५३८ में सेनगण के साथ कुन्दकुन्दान्वय जुड़ा हुआ ही है । और नन्दिसंघ तो मूलसंघ कुन्दकुन्दान्वय, देशियगण, पुस्तकाल्प से सम्बद्ध था ही ।^१ मूलसंघ दिग्म्बर परम्परा में प्रमुखता से भान्य रहा है । मूलसंघ का सर्वश्रेष्ठम घट्टलेख

१. जैन शिलालेख संग्रह भाग १, पृ० १९७-१९८।

२. जैन शिलालेख संग्रह भाग ३, पि० सं० ५३८, जैन शिलालेख भास्तर भड़ा।

३. कि० ४ पृ० ९०।

गोपवंश के महाराजा मात्रवर्मा द्वितीय और उनके पुत्र अधिभीत। सन् ४००-४२५ के कारीब) के लेखों में पाया जाता है।^१ इसी मूलसंघ कोण्डकुन्दान्वय का उल्लेख मूलिलेखों आदि में करना वर्तमान कालमें भी प्रचलित है।

कोण्डकुन्दान्वय का स्वतंत्र उल्लेख आठवीं-नौवीं शती के शिलालेख में देखा गया है तथा मूलसंघ कोण्डकुन्दान्वय का एक साथ सर्वप्रथम प्रयोग लेख सं० १८० (लगभग १०४४ ई०) में इस प्रकार पाया गया है—“श्रीमूलसंघ, देवियगण, पुस्तक-गच्छ कोण्डकुन्दान्वय इकुलेश्वरद वलिय”“गुभचन्द्रदेवर”^२। अन्यान्य शिलालेखों के उल्लेख भी दृष्ट्य हैं।^३

श्रवणबेलगोलमें कतिके वस्तीके द्वारसे दक्षिणकी ओरके पूर्वमुख पर शक सं० १०२२ के लेख सं० ५५ पर भी लिखा है कि—

श्रीमतोद्वद्धमानस्य वर्द्धमानस्य शासने।

श्री कोण्डकुन्द-नामाभूमूलसंघापणी गणी ॥३॥^४

श्रवणबेलगोल के महनवमी मण्डप में शक सं० १२३५ के लेख सं० ४१ में लिखा है—

श्री मूलसंघ-देवीगण-पुस्तकगच्छ कोण्डकुन्दान्वये।

गुरुकुलमिह कथमिति चेद्वद्विमि संक्षेपतो भूवने ॥२॥

कुण्डल (कन्नड) के लेख सं० २०९ शक सं० ९२७ में भी कहा है^५—

आतकर्य-भुण-जलधिष्ठकुण्डकुन्दान्वयर्थ्।

आ-कोण्डकुन्दान्वयदोलु । श्री कुण्डकुन्दान्वय-मूलसंघ^६।

विन्ध्यगिरि पर्वतपर सिद्धरथसीमें उत्तरकी ओर एक स्तम्भपर शक सं०

१. जैन शिलालेख संग्रह २ की प्रस्तावना.
२. जैन शिलालेख संग्रह भाग ३. शि० सं० १८० पृ० २२०, यह लेख दीहृ-कण्ठगालुमें गौड़के खेतके दूसरे पाषाणपर उक्तीर्ण है।
३. जैन शि० संग्रह भाग ३. लेख सं० ३०७, ३१३, ३१४, ३३५, ३५२, ३५६, ३६४, ३७२, ३७७, ३८४, ३८९, ३९४, ४०२, ४११, ४३९, ४४९, ४६६-६, ४७८, ५१४, ५२१, ५२४, ५२६, ५३८, ५४७, ५५१, ५६१, ५७१, ५८०, ५८२, ५८४, ५८५, ५९०, ६००, ६२१, ६७३, ७०२, ७५५, ८३४, ८३६.
४. वही भाग १ पृ० ११५.
५. जैन शिलालेख सं० भाग २ पृ० २६९.

१३२० के विस्तृत लेख संक्षया १०५ में अनेक आचार्योंके नामोलेख सहित यह उल्लीळ है—

यः पुष्टवदन्तेन च भूतबल्यास्येनापि शिष्य-द्वितयेन रेजे ।
फलप्रदानाय जगाउजनानां प्राप्तोऽक्षुराम्यामिककल्पभूजः ॥२५॥
अर्हद्वलिस्त्साङ् धर्मतुदिधं स श्रीकोण्डकुण्डान्वयमूलसङ् धं ।
कालस्वभावादिह जायमानहेष्टराहीकरणाय चक्र ॥२६॥^१

इस तरह आचार्य कुन्दकुन्द और कुन्दकुन्दान्वयका उल्लेख अनेकों शिलालेखोंमें है । उपर्युक्त उल्लेखोंके अस्तिरिक्त महाराष्ट्र, मैसूर, बिहार, मध्यप्रदेश, राजस्थान, उत्तरप्रदेश, गुजरात, दिल्ली आदि स्थानोंके शिलालेखोंमें आ० कुन्दकुन्दका और इनके अन्वयका उल्लेख है । इन शिलालेखोंको जैन शिलालेख संग्रह भाग ५, में देखा जा सकता है ॥^२

कुन्दकुन्दाचार्यके नामोलेख तथा उनकी वशोगाथासे सम्बन्धित शिलालेख दृष्टव्य है—

यह श्रवणबेलगोलके चन्द्रगिरि पर्वतपर पादवनाथ वस्तिमें एक स्तम्भलेख सं० ५४, जो कि शक सं० १०५० का है, इसमें कहा है—

बन्दोविभूम्युचि न कैरिह कौण्डकुन्दः ।
कुन्द-प्रमा-प्रणयि-कीर्ति-विभूषिताशः ।
यद्यारु-चारण-कराम्भुजाकून्दरीकदच्छः ।
कुन्दस्य भरते प्रयतः प्रतिष्ठाम् ॥५॥^३

अर्थात् कुन्दपुष्टकी प्रभा धारण करनेवाली जिनकी कीर्ति द्वारा दिशायें विभूषित हुई है, जो धारणोंके-धारण और दिशारी महामुनियोंके सुन्वर करकमलों के भ्रमर थे और जिन पवित्रात्माने भरतसीधमें भूतकी प्रतिष्ठा की, वे विभूषितकुन्दकुन्दाचार्य इस पृष्ठीपर किसके द्वारा बन्द नहीं हैं ?

चन्द्रगिरि पर्वतपर सिद्धरजस्तीमें वक्षिण औरके एक स्तम्भपर शक सं० १३३५ के लेख सं० १०८ में कहा है—

तदीयवंशाकरतः प्रसिद्धादभूवदोषा यतिरस्त्वाला ।
वभौ यद्यन्तर्मणिवभूनीन्द्रस्य कुण्डकुन्दोदित पञ्चदण्डः ॥१०॥

१. वही भाग १. पृ० १९९.

२. वही भाग ५. पृ० ३५, ३८, ४४, ५६, ५७, ५८, ६३, ७२, ७३, ७५, ८४, ९२, १०३, १०५, ११०, ११२, ११४.

३. वही भाग १. पृ० १०३.

वेरावक (सोराष्ट्र) में १२ वीं सदीके एक संस्कृत लेख सं० २८७में
लिखा है—

वभूयुः कुन्दकुन्दात्या साकारकृतजगत्प्रयाः ॥१३॥

येषामाकाशागामिस्वं व्याहर्षचकमुज्ज्वलं ।

इस प्रकार शास्त्रात्मिक शिलालेखादिमें आचार्य कुन्दकुन्दकी यशोगाथा उल्लिखित है । किन्तु मैंने यहाँ कुछ प्रमुख उदाहरण ही प्रस्तुत किये हैं । यद्यपि वहाँ सर्वप्रथम मर्कराके उस ताज्जपत्रवाले लेखका उल्लेख होना चाहिए वा जो आचार्य कुन्दकुन्दके उल्लेखवाला सर्वशास्त्रीय लेख है किन्तु इसकी प्रामाणिकता विवादन्यस्त है । फिर भी कुछ अंग इस प्रकार है—

स्वस्ति जितं भगवता गतवन्नगगननामेन पद्ममाभेन श्रीमद् जगद्गीवीय
कुलामलध्योमावनासनभास्करः ॥१॥ विभूषणविभूषितकाष्वायनं सगोत्रस्य ॥२॥ विदुत्सु
प्रथमगण्यं श्रीमान् कोङ्गणिमहाधिराज अविनीत नामवेद वस्तस्य वेसिंग गणं
कोण्डकुन्दान्वय गुणचन्द्रभट्टारशिष्यस्य अभ्यणन्दिः ॥३॥^१

इस तरह आचार्य कुन्दकुन्द और उनके अन्वयको गौरवशाली परम्परा दो हुजार वर्षोंसे अबतक निरन्तर चल रही है । तथा कुन्दकुन्दान्वयके रूपमें जिसका उल्लेख आज भी सभी प्रतिष्ठित सूतियोंके सूतिलेखोंमें अनिवार्यतः प्रचलित है । जिनके परिपेक्षमें हम उनके महान् व्यक्तित्व और कर्तृत्वके साथही भारतीय मनोरोगको उनके अनुपम योगदानको परखकर सकते हैं ।

आचार्य कुन्दकुन्दकी भाषा और साहित्य

आचार्य कुन्दकुन्दकी कृतियोंमें तात्त्विक, बाध्यात्मिक और वाचार जैसे दुर्लभ विषयोंके प्रतिपादनमें भी भावों और भाषाओं प्रीढ़ता तथा प्रसन्न, सरल एवं गम्भीर शैलीका जो स्वरूप दिखाता है पड़ता है वह अन्यत्र दुर्लभ है । इन्होंने भारतीय आर्यभाषाके प्राचीन स्वरूपको छानमें रखकर तत्कालीन बोलचालकी

१. जैन शिलालेख सं० भाग ४,
२. वेदिए जैन शि० सं० भाग २ को प्रस्तावना पृ० ३ में डॉ० होरालालजीने
इसे बनाकरी कहा है ।
३. मर्कराका मह संस्कृत कल्प लेख शक सं० ३८८ (४६६ ई०) का है ।
अविनीत कोङ्गणिका मर्करा पत्र (मर्कराके लाजमेमेंसे प्राप्त ताज्जपत्र) लेख-
में भी राजाओंसे वंशावली इस दानपत्रमें दी गई है । इसीमें वेसिंग
(देशीय) गण कोण्डकुन्द अन्वयके चुष्चन्द्र भट्टार (भट्टारक) के शिष्य
अभ्यणन्दि भट्टार आदिको परम्पराका उल्लेख है ।

भाषा (जनभाषा) के रूपमें प्रचलित शीरसेनी प्राकृत भाषाको माध्यम बनाकर विशाल साहित्यका सुजन किया । कुछ भाषा वैज्ञानिकोंने इनकी कृतियोंकी इस भाषाको “जैन शीरसेनी” कहा है । आचार्य कुन्दकुन्दके उत्तरवर्ती अनेक आचार्योंने भी इसकी परम्पराको आगे बढ़ाते हुए इसी भाषामें साहित्य सुजन किया ।

इस सन्दर्भमें यशस्वी विद्वान् बलभद्र जैनका यह कथन सर्वथा उपयुक्त है कि ‘हमें यह नहीं भूलना आहिये कि कुन्दकुन्द केवल सिद्धान्त और आड्यालमके ही मर्म विद्वान् नहीं थे, अपितु वे भाषाभास्त्रके भी अधिकारी और प्रवर्तक विद्वान् थे । उन्होंने अपनी प्रौढ़ रचनाओं द्वारा प्राकृतको नये आयाम दिये, उसका संस्कार किया, उसे संवारा और नया रूप दिया । इसीलिए वे जैन शीरसेनीके आद कवि और रचनाकार माने जाते हैं ।’^१

प्राकृत भाषाओंके क्रमिक विकास एवं परिवर्तनोंके अध्ययनमें हमें कुन्दकुन्द के ग्रन्थोंसे बड़ी सहायता प्राप्त होती है, इससे हम उसके कालका निर्णय भी कर सकते हैं । प्राकृत भाषा-शास्त्रके विद्वान् प्राकृतभाषाके क्रमिक विकासका विस्लेषण करते हुए इस निष्कर्षपर पहुँचे हैं कि ‘ह’ और ‘अ’ में परिवर्तन होते-होते प्रथम तो वे ‘ह’ और ‘अ’ हुए, फिर क्रमशः ‘ह’ का अंग्रेजी गया और ‘अ’ के स्थानमें ‘ह’ का प्रयोग होने लगा । ऐतिहासिक वृष्टिसे भाषा-शास्त्रियोंने इस विकास-कालको द्वितीय पूर्व प्रथम शताब्दीका स्थिर किया है । कुन्दकुन्दकृत समय-सारःमें हमें ‘रथ’ के स्थानपर ‘रघ’ और ‘रह’ दोनों ही परिवर्तित रूपोंका प्रयोग मिलता है ।^२

शुलपरम्पराके संरक्षक और पादुड़ साहित्यके अनुपम ऋष्टा

यद्यपि शुल-विच्छेदके बाद और कुन्दकुन्दसे पूर्व ‘शुलरक्षा’ के लिए प्रयत्न तो होते रहे, किन्तु भाष्यताओंके आधारपर जो मतभेद उत्पन्न हो गये थे उनपर साधिकार लिखतेका प्रयत्न किसीने नहीं किया । यह कार्य आचार्य कुन्दकुन्दने अपने ऋग्र लिया । अतः ‘युग प्रतिष्ठापक’ होनेका थोथ कुन्दकुन्दको प्राप्त होना स्वाभाविक है । यही कारण है कि उस समय और आदकी परम्परामें आचार्य कुन्दकुन्दको वह स्थान दिया जो अन्यको प्राप्त नहीं हुआ । क्योंकि युग-

१. समवार : मुनुदि : पृ० १०, स० ८० बलभद्र जैन,

२. समवार : वही भाषा १८, पृ० ७७.

३. वही पृ० ६.

प्रतिष्ठानक होने के नाते कुन्दकुन्दको महस्ता बढ़ती ही रही । और इसीलिए कुन्दकुन्दके मूलसंघका दूसरा नाम ही कुन्दकुन्दान्वय प्रसिद्ध हो गया ।^१

आचार्य कुन्दकुन्दके समय धोदधर्मका नेतृत्ववाद और शून्यवाद राज्यान्वय पाकर जनमानसको उत्थित कर रहा था । इसके कारण जनमानसमें आत्मा और आत्माके कल्याणके लिए किये जानेवाले तपश्चरण और चारित्रपर अनास्था उत्पन्न होने लगी थी । इस अनास्थाको सांख्यशतके कृटस्थ नित्यवादने और हुवा थी । कुल मिलाकर उस समय जनताको धार्मिक आस्थायें चंचल हो रही थीं और जनतामें दिशाहीनताकी भावना व्याप्त थी । ऐसे कालमें कुन्दकुन्दने जनताको सही धार्मिक भागीदर्शन कराने और तोर्धकुरोंकी वाणीके अनादि-निष्ठन सत्यको प्रचारित करनेका बायित्व अपने ऊपर ले लिया और अपने तपःपूत व्यक्तित्व, अविरत साधना एवं गम्भीर आगमज्ञानके द्वारा सत्यधर्मको पुनः स्थापना की । मुनिधर्मके अध्यकर व्याप्त विकृतियोंका परिमाजन किया और अध्यात्मकी गंगा बहाकर आत्माके प्रति व्याप्त अनास्थाको दूर किया । इसक्लिए वे युगप्रबर्तक, युगपुरुष और कान्तदृष्टाके रूपमें सर्वाधिक विख्यात हुए । मंगलपाठमें तीर्थकर महाकीर और गौतम गणधरके बाद आचार्य कुन्दकुन्दके नाम-स्मरणका, उनके नामपर मूलसंघ कुन्दकुन्दान्वय प्रचलित होने एवं परवर्ती आचार्यों द्वारा अपने आपको कुन्दकुन्दान्वयी माननेका यही रहस्य है ।^२

आचार्य कुन्दकुन्द के सभी ग्रन्थ 'पाहुड' कहे जाते हैं । पाहुड अर्थात् प्राभूत जिसका अर्थ है 'भैंट' । आचार्य जयसेन ने समयसार की तात्पर्यवृत्ति में कहा है^३ कि जैसे देवदत्त नाम का कोई व्यक्तिरूप राजा का दर्शन करने के लिए कोई "सातभूत वस्तु" राजा को देता है तो उसे प्राभूत या भैंट कहते हैं, उसी प्रकार परमात्मा के आराधक पुरुषके लिए निर्दोष 'परमात्मा रूपी राजा'का दर्शन कराने के लिए यह शास्त्र भी प्राभूत (भैंट) है ।

कलायमाद्वय पर चूणि सूतों के रचयिता आचार्य यतिवृत्तम के अनुसार "जम्हा पदेहि पुर्द (कुड) तम्हा पाहुड" अर्थात् जो पर्दों से लकूट हो उसे पाहुड कहते हैं ।^४ जयधवलाकार आचार्य और सेन के अनुसार—प्रकृष्टेन तीर्थकरण

१. आचार्य कुन्दकुन्द और उनका समयसार—प० २२.

२. णियमसारोः प्रस्तावना प० ४. सं० बलभद्र जैन, कुन्दकुन्द भारती दिल्ली, १९८७.

३. समयसार तात्पर्य वृत्ति : गाचा १.

४. क्षायपाहुड भाग—१ पृष्ठ ३८६.

आभृतं प्रस्थापित इहि प्राभृतम् । प्रकृष्टैराचार्यैविद्वावित्तवद्वाभृतं चारितं
ध्यास्यात्मानोत्तिति वा प्राभृतम् ।^१ जो प्रकृष्ट अर्थात् तीर्थंकर के द्वारा
प्राभृत अथवा प्रस्थापित किया गया है वह प्राभृत है । अथवा जिनका विद्वा ही
घन है ऐसे प्रकृष्ट आचार्यों के द्वारा जो धारण अथवा व्याख्यान किया गया है
अथवा परम्परा रूप से लाया गया है वह प्राभृत है ।

इस तरह तीर्थंकरोंके उत्तेषण रूप द्वादशांग वाणीसे सम्बद्ध ज्ञानक्षय ग्रन्थों
को हम पाहुड़ कहते हैं । आचार्य कुन्दकुन्दन ने अपने प्रायः सभी ग्रन्थों की रचना
मूल द्वादशांगिके तत्त्वबोधों स्थलोंके आधार पर की है । यथा ज्ञानद्वयें अंग मुक्ति-
याद के अन्तर्गत एवं इह दूसरे पञ्च पूर्व ज्ञानप्रयोगके बारह वस्तु अधिकारोंमें
से दशम वस्तु अधिकार के 'समय पाहुड़'के आधार पर समयसार ग्रन्थ की
रचना की गई । इन्होंने अपने ग्रन्थोंकी प्रामाणिकताका आधार प्रायः सभी
ग्रन्थोंके प्रारम्भिक मंगलाचरणोंमें कहा है^२ कि श्रुतकेवलियोंने जो कहा है मैं
वही कहूँगा । अर्थात् श्रुतकेवलियों द्वारा प्रख्यात तत्त्वज्ञानका मैं वक्ता मान हूँ,
स्वयं कर्ता नहीं । अर्थात् समयपाहुड़ आदि वही ग्रन्थ है, जिनकी देशना भगवान्
महावीरने और जिनकी प्रख्याता गौतम गणधर तथा श्रुतकेवलियोंने की थी
वही आचार्य परम्परासे सुरक्षित रूपमें आचार्य कुन्दकुन्दको प्राप्त हुई ।

साक्षात् गणधर कथित या प्रत्येकबुद्ध कथित सूक्ष्मग्रन्थों की केवल
मौखिक परम्परा चली आ रही थी, सिद्धान्त ग्रन्थों के नाम पर गृहस्थोंको
पढ़नेकी अनुमति नहीं थी । श्रुत प्रायः इतना विच्छिन्न और विस्मृत-सा हो गया
था कि सर्वसाधारण विद्वान्-साधुओंको उन विषयों पर लेखनी चलानेका साहस न
होता था । किन्तु इस स्थितिकी आचार्य कुन्दकुन्दने बड़ी कुशलताके साथ सम्हाला
और साहित्य सूजन करके जनताको उद्बोधन करनेके लिए वे आगे बढ़े तथा
अपने अनुभवकी बाजी लगाकर उन्होंने १. पञ्चतिकाय, २. समयपाहुड़
३. पवयणसार, ४. णियमसार, ५. अट्ठपाहुड़ (वसणपाहुड़, चारित-
पाहुड़, सुतपाहुड़, बोधपाहुड़, भावपाहुड़, मोक्षपाहुड़, सीलपाहुड़ तथा लिङ-
पाहुड़) ६. बारस अणुवेक्षणा और ७. भत्तिसंग्रहो—(सिद्ध, सुद, चारित, जोह
(जोगी) जाइरिय, णिव्वण, पञ्चगुह तथा तित्वयरभति नामक भक्तिसंग्रह)
जैसे महान् ग्रन्थोंकी रचना की । इनके अतिरिक्त रवणसारको भी कुछ विद्वान्

१. वही भाग-१, पृष्ठ ३२५ ।

२. (क) बोच्छामि समयपाहुड़मिगमी सुदकेवली भणिद—समयसार १.१.

(ख) बोच्छामि णियमसार, केवलि-सुदकेवली भणिद—नियमसार १.१.

इनकी कृति मानते हैं। तमिल-वेदके रूपमें सुविव्याह “तिरुक्कुरल” (कुरल-काव्य) नामक नीतिग्रन्थ भी इनको कृति माना जाता है।

ऐसी मान्यता है कि आचार्य कुन्दकुन्दने चौरासी ‘पाहुड’ ग्रन्थोंकी रचना की थी। उपलब्ध पाहुडोंके अतिरिक्त अब इन चौरासीमेंसे कुछ पाहुडोंके नामोंके उल्लेख भी मिलते हैं। प्राकृत एवं जैन साहित्यके सुप्रसिद्ध मनीष डॉ० ए० एन० उपाध्ये ने निम्नलिखित सैतालिस पाहुडों की सूची प्रस्तुत की है—

१. आचार पाहुड, २. आलाप पाहुड, ३. अंग (सार) पाहुड, ४. आराहणा (सार) पाहुड, ५. बंज (सार) पाहुड, ६. बुद्धि या द्वीधि पाहुड, ७. चरण पाहुड, ८. चूलिया पाहुड, ९. चूर्णि पाहुड, १०. दिव्य पाहुड, ११. द्रव्य (सार) पाहुड, १२. दृष्टि पाहुड, १३. इयन्त्र पाहुड, १४. जीव पाहुड, १५. जोणि (सार) पाहुड, १६. कर्माविपाक पाहुड, १७. कर्म पाहुड, १८. क्रियासार पाहुड, १९. क्षपणासार या क्षपण पाहुड, २०. लिङ्ग (सार) पाहुड, २१. लोय पाहुड, २२. नय पाहुड, २३. नित्य पाहुड, २४. नीकम्म पाहुड, २५. एवंवर्ग पाहुड, २६. एयड्ड पाहुड, २७. पय पाहुड, २८. प्रकृति पाहुड, २९. प्रमाण पाहुड, ३०. उलझी पाहुड (?), ३१. संठाण पाहुड, ३२. समवाय पाहुड, ३३. पट्टवर्षान पाहुड, ३४. सिद्धान्त पाहुड, ३५. सिक्खि (शिक्षा) पाहुड, ३६. स्थान पाहुड, ३७. तत्त्व (सार) पाहुड, ३८. तोय (तीय) पाहुड, ३९. ओष्ठत पाहुड, ४०. उत्पाद पाहुड, ४१. विद्या पाहुड, ४२. वस्तु पाहुड, ४३. विहिय या विहृय पाहुड।^१

‘संयम प्रकाश’ नामक ग्रन्थमें उपयुक्त पाहुडों के अतिरिक्त नामकम्म पाहुड, योगसार पाहुड, निताय पाहुड, उद्योग पाहुड, शिक्षा पाहुड ऐस्तु पाहुड नाम ग्राम्य होते हैं।^२

आचार्य कुन्दकुन्दकी उपलब्ध कृतियोंमेंसे पञ्चतिकाय, समयपाहुड और प्रवयणसारकी नाटकत्रय या प्राभूतत्रय कहा जाता है।

समयसारमें ही जीव-अजीव तत्त्वोंका संसाररूपी रंगभूमिमें अपना-अपना पाठ (रोल) अदा करने वाला निरूपण किया गया है। अतः समयसारके नाटक कहा जा सकता है। परन्तु यह तीन ग्रन्थ मिलकर “प्राभूतत्रयी” कहलाते

१. प्रवयनसार : अंगीजी भूमिका : पृष्ठ २५. संपा० डॉ० ए० एन० उपाध्ये, प्रकाशक—रायर्स एन्ड सन्स, सन् १९३५.

२. संयम प्रकाश : पृष्ठ ४५३, प्रका०—आचार्य सूर्यसागर दि० जैन ग्रन्थमाला संगिति चत्पुर, दी० नि० स० २४७४.

है। इसी कारण इन तीनों का इवटुडा नाम 'नाटकश्री' पढ़ गया। वेसे अमृतचन्द्राचार्य ही ने समयसारको नाटककी संज्ञा दी, क्योंकि इन्होंने जीव-अजीव आदि तत्त्वोंका निरूपण ऐसा किया है जैसे नाटकके सभी पात्र आते-जाते हों और इस कारण अपनी टीकामें इस ग्रन्थको नाटकका स्वरूप दिया है। कविवर बनारसीदासने तो इसीके आधार पर प्राचीन हिन्दीमें कवितबद्ध 'नाटक समयसार' नामक महत्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की।

समयसारके माध्यमसे आचार्य कुन्दकुन्दने आध्यात्मिक क्षेत्रमें आत्मतत्त्व और आध्यात्मिक रूपकी जिस ऊँचाईको छुआ है वह सम्पूर्ण विश्व साहित्यमें तुर्लभ है। इस दृष्टिसे यह अनुपम अन्यरत्न है।

यह कथन ठीक ही है कि समयसारमें पारमाधिक दृष्टिसे ही सारी चर्चाकी गई है, अतएव अनधिकार साधारण जनको उसका कोई-कोई भाग सामाजिक और नीतिक व्यवस्थाको उलटभलट कर देने वाला प्रतीत हो सकता है।^१

पं० बलभद्रजी ने भी ठीक ही लिखा है^२ कि आत्माके शुद्ध स्वरूपका वर्णन करने वाले समयसारकी समता अन्य कोई ग्रन्थ नहीं कर सकता। इस दृष्टिसे इसे ग्रन्थराज, आत्म अमैका प्रतिनिष्ठि-ग्रन्थ और जैमधर्मका एकमात्र प्राण-ग्रन्थ कहा जाये तो अत्युक्ति नहीं होगी। इस ग्रन्थकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि आत्मघर्म जैसे गूढ़ विषयको इसमें अत्यन्त सरल और सुविध रीतिसे प्रतिपादित किया गया है। दुर्लभ विषयको भी दृष्टान्तों^३ के माध्यमसे सहज बनाया गया है।

पंचास्तिकाय को "संग्रह" कर्ता "पंचतिकसंग्रहो" कहा गया है। इसमें सम्प्रवर्हान के विषयमूल जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश—इन पाँच अस्तिकाय द्रव्योंका विवेचन है। समयसारमें सम्प्रवर्हान के आधारमूल स्वरूप-परदर्शक का विवेचन है और पवर्यणसारमें सम्प्रवर्हानित्र की व्याख्या है। इस तरह आचार्य कुन्दकुन्दने इन तीनों ही ग्रन्थोंमें सम्प्रवर्हान, सम्प्रवर्हान और सम्प्रवर्हानित्रका आवश्यक विस्तारके साथ सुसम्बद्ध विवेचन करके मुमुक्षुओंके लिए साक्षात् मोक्षमार्ग प्रदर्शित किया। प्रवचनसार सुख्यत्वित रचना वाला एक दार्शनिक ग्रन्थके साथ-साथ साधक अभिनोके आचार-किञ्चार संबंधी उपयोगी शिक्षाओंका

१. कुन्दकुन्दाचार्यके तीन रत्न : उपोद्घात पृष्ठ २२.

२. समयसार : सं० पं० बलभद्र जैन, प्रकाशक कुन्दकुन्द भारती, १९७८.

३. समयसारकी ७६ गाथाओंमें ३७ दृष्टान्तों द्वारा विषयको समझाया गया है।

प्रतिपादक एक महान् प्रन्थ भी है जिसमें दीक्षार्थी साक्षकों के लिए उपयोगी तथा अस्त्यावश्यक उपदेश भरा हुआ है।

गियमसार में भी इसी रत्नव्रयको भोज-प्राप्तिका मार्ग प्रतिपादित किया गया है। बारस-अणुवेदखामें अध्रुव, अनित्य आदि वैराग्यवर्धक वारह भावनाओंका वर्णन है। उपदेश-प्रधान आठ पाहुडोंमें जो उपदेश आ० कुन्दकुन्दने दिया है उसका प्रधान लक्ष्य अपर्याप्तोंको सच्चे आचारमें सुदृढ़ करना है।

आचार्य कुन्दकुन्दके द्वारा रचित ग्रन्थोंमें चाहे हम पञ्चतिंशसंग्रह गढ़ें, समर्पणहुए या पवयणसार पढ़ें—उनके द्वारा वस्तुतत्वका जो प्रतिपादन किया गया है वह अपूर्व ही है।

अदृष्टपाहुड, बारस अणुवेदखा और भत्तिमंगहो—इनमें क्रमशः रत्नव्रय, वैराग्य और भक्ति आदि विषयोंका प्रतिपादन बेजोड़ है। समर्पणहुए आदि प्रन्थोंमें आ० कुन्दकुन्दने परसे भिन्न तथा स्वकीय मुण्ड-पर्यायोंसे अभिन्न आत्मा का जो वर्णन किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है। उन्होंने इन ग्रन्थोंमें आध्यात्मिक सुह प्राप्तिकी चारा रूप जिस अपूर्व मन्दाकिनीको प्रवाहित किया है उसमें यवाचारण कर भुम्भु शास्त्रको प्राप्तिक योग्य बनाते हैं। तभी तो कविवर वृद्धावनदासने कहा है—

जासके मुखारविन्दते प्रकाश भासवृद्ध स्याद्वाद जैन वैन हंद कुन्दकुन्द से,
तासके अस्यासते विकास भेद ज्ञान होत, मृड सो लसी नहीं कुबुद्धि कुन्दकुन्द से।
देत है अशोक शीस नाय इन्द्र चंद जाहि मोहि मार खंड मारतण्ड कुन्दकुन्द से,
विशुद्धि बुद्धि वृद्धिदा, प्रसिद्ध ऋद्धि प्रिद्धिदा, हुए, न है, न होहिगे मुनिद-
कुन्दकुन्द से ॥

इस तरह साहित्यके क्षेत्रमें आ० कुन्दकुन्दकी अलौकिक विवरता, शास्त्र-प्रधन-प्रतिभा एवं सिद्धान्त प्रन्थोंके सारका आध्यात्मिक और द्रव्यानुयोगके रूपमें प्रस्तुत करनेका अपना अलग ही वैशिष्ट्य है। महावीर और गौतम गणधरके बाद यह पहला ही अवसर था, जबकि ज्ञानाभ्यासियोंको तत्त्वचिन्तन की एक व्यवस्थित दिशा मिली। यही कारण है कि दिग्म्बर जैन वरम्परामें भगवान् महावीर और गौतम गणधरके बाद आचार्य कुन्दकुन्दका नाम युगप्रतिष्ठापकके रूपमें बड़ी श्रद्धा और भक्तिके साथ लिया जाता है, और युगों-युगों तक वे इस रूपमें जीवित रहेंगे। आचार्य कुन्दकुन्दके प्रन्थोंके व्याख्याकार आचार्य अमूलचंद्र, आ० जयसेन, श्रुतसागरसूरि, कन्ही वृत्तिकार अध्यात्मी बालचन्द्र, प० बनारसीदास, पां० राजमस्तूर, प० जयचन्द्रजी आदि तथा दीसर्वी-शतीके अनेक मन्त्रीविदोंका हम

उपकार कभी नहीं भूल सकते जिन्होंने कुम्भकुन्दके साहित्यका अहन चिन्मन, अवगाहन एवं स्वानुभव करके हम लोगों तक सरल रूपमें पहुँचाया ताकि हम आत्म-कल्याणके द्वारा इस जीवनको सफल बना सकें ।

प्रस्तुत ग्रन्थ

प्रस्तुत 'अटठ पाहुड' (अट पाहुड) में उपदेश प्रधान आचरणमूलक तथा उत्तर-चिन्मन युक्त आठ पाहुड ग्रन्थ निबद्ध हैं । इनमें बाधार्य कुम्भकुन्दके "आधार्यर्थ" अर्थात् विशाल अमण्डलके अनुशास्त्र रूपके सर्वत्र दर्शन होते हैं । इस ग्रन्थका प्रकाशन कुछ संस्थाओंसे हुआ भी है किन्तु षट्प्राभूतपर श्रुतसागर सूरिकी संस्कृत टीका सहित प्रस्तुत संस्करणकी प्रवधानालूकि जैनधर्म-दर्शन एवं साहित्यके विषयात् एवं उद्भव विद्वान्, अनेक ग्रन्थोंके प्रणेता, सम्पादक एवं अनुवादक सागर (म० प्र०) निवासी डॉ० प०० पन्नालालजी साहित्याधार्यके अनुवाद सहित श्री शान्तिवीर दिगम्बर जैन संस्थान, श्री महावीरजी (राजस्थान) से दीर निवीण सं० २४९४, ई० सन् १९६८ में प्रकाशित हुआ था । यह संस्करण कुर्लम हो जानेसे इसे अब इसी अनुवाद सहित अनेकान्त विद्वत् परिषद् सोनागिर से नये रूपमें प्रकाशित करके बहुत ही प्रशंसनीय कार्य किया गया है ।

सीलहड्डी सभी के बहुशुल्क विद्वान् भट्टारक श्रुतसागरसूरिको सम्मतः छह पाहुड ही उपलब्ध रहे होंगे, तभी उन्होंने लिंग पाहुड और सील पाहुडको छोड़ देसण, चारित, सुत, बोध, भाव और भोवत्व — इन छह पाहुडोंपर विद्वत्तापूर्ण, विस्तृत टीका लिखी ।^१ "षट्प्राभूतादि संश्रह" के नामसे श्रुतसागरसूरिकी टीका सहित प०० पन्नालालजी सोनी द्वारा सम्पादित यह ग्रन्थ जैन साहित्यके महान् उद्भारक विद्वान् प०० नाथूरामजी प्रेमीके सदप्रथलसे माणिकचंद्र ग्रन्थमाला, बम्बईसे सन् १९२० में प्रकाशित हुआ था । बादमें दो पाहुड और उपलब्ध होने पर अट पाहुडका प्रकाशन हुआ । अट पाहुडपर भाषा क्वचिका (झंडारी भाषा) में प०० जयचन्द्रजी छावड़ा द्वारा लिखित टीका भी काफी लोकप्रिय है ।

"अटठ पाहुड" में कुल पाँच सौ तीन गाथायें हैं । इसमें ग्रन्थकारने आठ पाहुडोंके माध्यमसे जैनधर्म-दर्शनका हृदय रत्नव्रयधर्म, अमण्डल और सर्वे आमण्ड्य आदि विषयोंका बड़ी ही स्पष्टतासे विवेचन करते हुए विधिसाधारसे सतत् सावधान रहनेके लिए बारम्बार आगाह किया है ताकि विष्णु वीतराग

१. आमेर शास्त्र गण्डार ग्रन्थसूची (पृष्ठ १५९) के उल्लेखानुसार यही षट्प्राहुड पर प०० मनोहर की भी संस्कृत टीका वाली पाण्डुलिपि उपलब्ध है, जिसका लिपि सं० १७९० है ।

जैनधर्म द्वारा प्रतिपादित आत्मकल्याणके विशुद्ध मार्गपर जीव सदा अग्रसर रहें। इस दृष्टिसे यह सच्च एक आदर्श जीवनको प्रकाशित करने वाली वह महान् अमर-कृति है जो जीवोंको युगों-युगों तक आलोकित करती रहेगी। यही भृष्ट पाहुडमें संप्रहीत प्रत्येक पाहुडका संक्षिप्त विषय परिचय प्रस्तुत है—

१. दर्शण पाहुड—छत्तीस गाथाओं द्वारा इस पाहुडमें सम्यग्दर्शनकी महत्ता का विवेचन है। इसमें बतलाया है कि सम्यक्त्वरूपी रत्नसे भृष्ट मनुष्य भले ही अपेक्षक प्रकारत्वे, पाठ्यक्रमों आनंद हो। तो भी जिनबचनोंको श्रद्धासे रहित होनेके कारण वहीं के वहीं घूमते रहते हैं।^१ जिस तरह जड़ (मूल) के नष्ट हो जानेपर उस वृक्षके परिवार अर्थात् स्कन्ध, शाखा, पत्र, पुष्प, फलादिकी वृक्षि नहीं होती उसी प्रकार सम्यग्दर्शन रूप मूलके नष्ट होनेपर चारित्रकी वृद्धि नहीं होती। अतः जो मनुष्य जिनदर्शन (जिनमत) से भृष्ट है वे जड़ (सम्यग्दर्शन) से रहित होनेसे मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते।^२ इसीलिए जो कार्य किया जा सकता है वह क्वशय करना चाहिए और जिसका करना शक्य नहीं है उसका शद्धान करना चाहिए। कथोंकि केवलआनी जिनेन्द्र भगवान् ने शद्धान करनेवाले पुरुषको सम्यग्दर्शन कहा है अर्थात् शद्धान् करने वाले पुरुषके सम्यक्त्व होता है।^३

इस प्रकार इस सम्पूर्ण पाहुडकी प्रत्येक गाथा सम्यग्दर्शनकी महिमाके विवेचन से बोतप्रोत है।

२. चारित पाहुड—इस पाहुड में पेंतालीस गाथायें हैं, जिनमें मुख्य रूपसे सम्यक् चारित्रका स्वरूप और इसके भेद-प्रभेदोंका विवेचन किया गया है। इसमें अमरण और आवक दोनोंके आचारका प्रतिपादन 'गागर में सागर' की तरह मिलता है। इस पाहुडमें कहा है कि जो ज्ञान-मार्ग अर्थात् सम्यग्यानके द्वारा सम्यक्त्व आचरणमें उत्ताह रखता है, उसीकी भावना करता है, आत्माको पारीर और कर्मसे पृथक् समरप्ता है, अहंत आदि स्तुति और सुगुह आदिकी सेवा करता है, साथ ही वह सम्यग्दर्शनमें श्रद्धा रखता है वह जिन-सम्यक्त्वको नहीं छोड़ता।^४ इसीलिए जो ज्ञानी पुरुष चारित्रका पालन करता हुआ आत्माके सिवाय अन्य

१. दर्शण पाहुड गाथा ४.

२. वही गाथा १०.

३. जं सम्केद तं कोरह जं च ण सम्केद तं च सहृहणं।

केवलजिपोहि भणिवं सहृहमाणस्स सम्मतं ॥ वही, गाथा २-

४. चारित पाहुड गाथा १३.

पदार्थकी इच्छा नहीं करता वह शीघ्र ही अनुपम सुन्दरो प्राप्त करता है—यह निश्चय जानो ।^१

३. सुत पाहुड—सत्ताईस गाथाओंसे युक्त इस पाहुडके प्रारम्भमें ग्रथकरते अरहंत द्वारा प्रलयित गणधर देवों द्वारा अच्छी तरहमे जिसका गुण्फल किया है तथा शास्त्रका अर्थ खोजना हो जिसका प्रयोगन है उसे सूच कहा है । ऐसे ही सूचले अमण अपना परमार्थ साक्षते हैं ।^२ आगे सूचकी महत्ता विणित करते हुये कहा है कि जिस प्रकार सूत्र (धारा या ढोरा) से रहित सुई नष्ट (गुम) हो जाती है उसी तरह शास्त्र रहित मनुष्य भी नष्ट हो जाता है और जैसे—सूत्र (धारा) सहित सुई खोती नहीं है, उसी तरह सूत्र (आगम शास्त्र) सहित अर्थात् आगमोंके अध्ययन, मनन और तदनुसार आचरणसे दुक्त पूर्ण नष्ट नहीं होता अर्थात् भटकता नहीं है । अपितु उसका चतुर्गति भ्रमण रूप संसारका जहाँ अन्त हो जाता है ।^३

यह पाहुड मुनियोंके आचार-विचारका संक्षेपमें प्रतिपादन करनेवाला महत्त्व-पूर्ण प्रामाणिक तथा प्राचीन दस्तावेज है । यहाँ सकारण स्त्री-प्रब्रज्या तकका नियेष किया गया है । इसी तरह मुनियोंको अस्त्रधारणका सर्वथा नियेष किया गया है । यहाँ यह भी बतलाया गया है कि जिनसूत्रोंमें तीन लिङ (वेष) प्रतिपादित हैं । इनमें प्रथम हैं सर्वशेष तम्भ दिगम्बर साधुका, दूसरा उत्कृष्ट आवक-का और तृतीय है आयिकाओंका । इन तीनोंके अतिरिक्त ऐसा कोई वेष (लिङ) नहीं है जो मोक्षमार्गमें ग्राह्य हो ।

४. शोष पाहुड—इसमें बासठ गाथायें हैं जिनमें आयतन, चैत्यगृह, जिन-प्रतिमा, दर्शन, जिनभिम्ब, जिनमुद्रा, आत्मज्ञान, देव, सीधं, अहंत और प्रब्रज्या—इन ग्यारह स्वानोंके माध्यमसे दिगम्बर धर्म और मुनिशर्यका स्वरूप बहुत ही उत्कृष्ट रूपमें प्रतिपादित किया गया है । ऐतिहासिक दृष्टिसे इस पाहुडकी असिम दो गाथायें अतिमहत्वकी हैं जिनमें आचार्य कुन्दकुन्दने अपने गमकगुरु भगवान् श्रुतकेवली भद्रधारूका जयघोष किया है तथा अपनेको उनका शिष्य बतलाया है ।

५. भाव पाहुड—एक सौ त्रिसठ गाथाओं वाले इस पाहुडमें “भावशुद्धि” की महिमाका उत्कृष्ट प्रतिपादन करते हुये भावको ही गुण और दोषका कारण

१. चारित्र गाथा ४२.

२. सुतपाहुड गाथा १.

३. सुत हि जाणमाणो भवस्स भवणासर्ण च सो कृणदि ।

सुतं जहा असुसा जासदि सुते सहा णो वि ॥ वहीः गाथा ३.

पतलाया गया है। यही कर्म, भावलिंग, अपरिप्रह संख्यी अनेक विषयोंका गहन विवेचन है। सम्बद्धशंन सहित ही इति घारणकी प्रेरणा की गई है।

५. शील पादुड़—इसमें १३६ गायाएँ हैं जिनमें बन्द और भौमिका स्वरूप, बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा—आत्माके इन तीन भेदोंका निरूपण तथा मोक्षके कारण रूप परमात्माके व्याप्तिकी वावदध्यक्षता और महत्ता बताई है।

भट्टारक श्रुतसागरसूरिने उपर्युक्त छह पादुड़ों पर ही संस्कृत भाषामें टीका लिखी है।

६. लिंग पादुड़—बस्तुतः इस पादुड़का नाम “समणलिंग पादुड़” होना चाहिए। जैसाकि ग्रन्थकारने प्रथम गायामें सूचित भी किया है। इस पादुड़में अमणके लिङ्ग (वेष) को लक्ष्य करके उसके निषिद्ध आचरणोंके प्रति साक्षात् किया गया है।

७. शील पादुड़—शीलका महत्त्व प्रतिपादन करने वाले अष्ट पादुड़के इस अंतिम पादुड़में खालीस गायाएँ हैं। इसमें कहा है कि शीलका ज्ञानके साथ कोई विरोध नहीं है किन्तु शीलके बिना विषयवासनासे ज्ञान नष्ट हो जाता है। शील विषयोंका वाचु है और मोक्षका सौपान है। यही जीवदया, सत्य, अचौर्य, अहाचर्य, इन्द्रियदमन, सम्यक् वर्णन-ज्ञान तथा तप आदिको शीलके अन्तर्गत माना गया है।

उपर्युक्त आठ पादुड़ोंके अध्ययनसे यह बात स्पष्ट होती है कि इन आठोंका अपना-अपना स्वतंत्र और मौलिक ग्रन्थोंके रूपमें महत्त्व है। यथापि “षट्पादुड़” नामसे श्रुतसागरीय संस्कृत टीका सहित अनेक प्राचीन पाण्डुलिपियाँ प्राप्त होती हैं किन्तु कुछ पाण्डुलिपि एक-एक पादुड़की भी उपलब्ध हैं।^१ बस्तुतः षट्प्राभृत या अट्ठ पादुड़ कोई एक अलग ग्रंथ नहीं है अपितु पृथक्-पृथक् शोटे-बड़े छह या आठ पादुड़ ग्रन्थोंको षट्प्राभृत या अट्ठ पादुड़ नाम देकर एक साथ संग्रहीत कर दिया गया प्रतीत होता है। शोधकी दुष्टिसे इसमें इतनी महत्त्वपूर्ण सामग्री है कि प्रत्येक पर पृथक्-पृथक् शोध प्रबन्ध लिखे जा सकते हैं। विषविद्यालयोंकि पाठ्य-क्रममें इनका निर्धारण करके भी इनके व्यापक अध्ययन एवं अनुसंधानके नये क्षेत्र उद्घाटित किये जा सकते हैं।

भट्टारक श्रुतसागरसूरि और उनको प्रस्तुत टीका

यह चिदित ही है कि ‘षट्प्राभृत’ पर प्रस्तुत संस्कृत टीकाके लेखक १६वीं शताब्दीके विद्वान् भट्टारक श्रुतसागर सूरि हैं। ये मूलसंघ, सरस्वती गण्ड बलात्कार

१. प्राकृत विद्या अवट्टबर १९८८ पृ० ३३.

गणमें हुए हैं। इनके गुरुका नाम विद्यानन्दि था। विद्यानन्दि देवेन्द्रकीतिके और देवेन्द्रकीसि पद्मनन्दिके शिष्य और उत्तराधिकारी थे। विद्यानन्दिके बाद मलिलभूषण और उसके बाद लक्ष्मीचन्द्र भट्टारक हुए। मलिलभूषणको उन्होंने अपना गुरुभाई लिखा है। श्रुतसागरने लक्ष्मीचन्द्रको गुजर देशके सिहासनका भट्टारक लिखा है। श्रुतसागरके अनेक शिष्य थे।^१ श्रुतसागरले अपनेको रेणवती, बहुचारी या वर्णी लिखा है तथा स्वयंको अनेक उपाधि-विद्वानोंसे अलंकृत बताया है। यथा— रुद्रदर्शिमहाम्, दिविदीप, राक्ष-वारण-छन्द-अलंकार-सिद्धान्त-साहित्यादिशास्त्रनिपूण, प्राकृतव्याकरणादि अमेक शास्त्रचर्चन्त्र, चथयभाषाकविषयकवती, ताकिकागिरोमणि, परमागमप्रवीण, कलिकालसुर्वज्ञ आदि।^२

श्रुतसागरसूरि वस्तुतः अपने 'श्रुतसागर' नामको सार्थक करने वाले विद्वान् थे। इनकी टीकाओंमें उद्धृत विभिन्न शास्त्रोंके उद्धरणोंको देखनेसे ही ज्ञात हो जाता है ये विविध भाषाओं और शास्त्रोंके ज्ञाता थे। इनका सम्पूर्ण जीवन जैन साहित्यके लिए समर्पित था। इनकी अवतक निम्नलिखित ३८ कृतियाँ उपलब्ध हैं।

१. यस्तस्तिलक चत्तिका, २. तत्त्वार्थवृत्ति, ३. तत्त्वव्यप्रकाशिका, ४. जिनसहूलनाम टीका, ५. महाभिषेक टीका, ६. पट्पाहुडटीका, ७. सिद्धमवित्तीका, ८. सिद्धप्रकाष्टकटीका, ९. ज्येष्ठजिनवरकथा, १०. रविवतकथा, ११. सप्तपरमस्थानकथा, १२. मुकुटसप्तसीकथा, १३. अक्षयनिविकथा, १४. षोडश-कारण कथा, १५. मेघमालावत कथा, १६. चन्द्रमवष्टीकथा, १७. लिपिविद्यान-कथा, १८. पुरस्वर विद्यानकथा, १९. वशलाक्षणीवतकथा, २०. पुष्पाङ्गजलिवतकथा २१. आकाशार्पचमीवतकथा, २२. मुखसावलीवतकथा, २३. मिहुःसाप्तमीवतकथा, २४. कुण्डवदशमीकथा, २५. शावणद्वादशीकथा, २६. रत्नवयन्नवतकथा, २७. जगन्नामवतकथा, २८. अशोकरोहिणीकथा, २९. तपोलकण दक्षिण कथा, ३०. मेरु-पंक्तिकथा, ३१. विमालपंचिकथा, ३२. पलिकविद्यानकथा, ३३. श्रीपालचरित, ३४. यशोधर चरित, ३५. औदार्यचिन्तामणि, ३६. श्रुतस्कन्धपूजा, ३७. पालव-नामस्तवन, ३८. शान्तिनामस्तवन।

इनमें ८ टीका गम्य, औरीस कथागम्य, शेष छह व्याकरण और काव्य गम्य हैं।^३

१. ऐस साहित्य और इतिहास, पृ० ३७१ (व० नम्भूराम प्रेमी)

२. लीर्घकर बहावीर और सम्मी आचार्य परम्परा : मान ३, पृ० ३९१.

३. वही पृ० ३९४.

वस्तुतः किसी कविके अन्तर्यामको पूरी तरह समझना तथा उसकी भावग्राही व्याख्या करके दूसरोंको समझाना आसान नहीं होता। फिर भी यदि वह इसमें प्रवृत्ति करता है तो वह उसका गुणलत व्याख्या है कि मूल रचयिताके पूरे भावों और वाक्यवहारकी समीक्षीन व्याख्या करे तथा उसमें अन्तर्निहित भावों और गुणोंको प्रकाशित लाये।

यद्यपि प्रस्तुत ग्रन्थके टीकाकार श्रुतसागरसूरिकी विद्वत्ताका दर्शन इस टीकामें पढ़े-जदै होता है किन्तु कुछ मूल गाथाओंके अर्थमें विभिन्नता पाई जाती है। कुछ अपनी ओरसे भी ऐसी भावें जोड़ी जिन्हें बागमानुकूल भी नहीं कहा जा सकता। मूल गाथागत भावोंके अतिरिक्त ऐसे अप्रासांगिक प्रसंग आवश्यक भी नहीं थे। परमत-स्वाधन और स्वरूप-दोषणकी शिष्ट परम्परा तो प्रायः मभी मतोंके शास्त्रोंमें उल्लिखित है। कुछ सीमा तक इस परम्पराका इसमें पालन भी किया गया है किन्तु कुछ प्रसंगोंमें इसका इस टीकामें अतिक्रमण भी देखनेको मिलता है, जिससे टीकाकारसे कुछ अंशों तक असहिष्णुता और कट्टरताके भाव झलकने लगते हैं। जबकि अनेकान्तवादी जैन परम्परामें ऐसी समझनाका अवकाश ही नहीं है। इसीलिए उद्यपुरके शास्त्र अष्टारोंमें संग्रहीत श्रुत-सागरीय टीका सहित उद्प्राभूतकी परम्पुरियोंमें 'या टीका शूठी है, गाथा सौची है' तथा 'या टीका अप्रमाण शूठी है, कुमारी किया है'—जैसी टिप्पणियों सहित प्रतिक्रियायें उद्धृत देखनेको मिलती हैं।^१ सिद्धान्तकी दृष्टिसे इन टिप्पणियोंके मूलमें अन्तर्निहित भावनाको इस टीकाका गहन अध्येता अनने-आप समझ सकता है। किन्तु इतने मात्रसे इस टीकाकी महत्त्वामें कमी नहीं आती, अपितु प्राकृत भाषाओं मूल गाथाओं पर संस्कृतमें व्यष्टिगत्य रूपमें लिखित प्राकृत शब्दानुसारी इस टीका द्वारा मूलग्रन्थकारके भावों और शब्दोंकी सरल और विस्तृत रूपमें समझनेमें बहुत सहायता मिलती है। जैन सिद्धान्तके पारिभाषिक शब्दोंकी सरल परिभाषायें, उनकी निश्चित तथा व्युत्पत्ति मूलक व्याख्यायें किसी भी अध्येता के आकर्षणका कारण बन जाती हैं।

प्रस्तुत टीकाकी यह भी अपनी विशेषता है कि इसमें श्रुतसागरसूरिने जैन साहित्यके चारों अनुयोगोंसे सम्बन्धित ग्रन्थों और आचार्योंके संकहों दुर्लभ उद्धरणों, प्रमाणों, श्लोकोंको विषयकी पुष्टि एवं उनके प्रतिपादन हेतु प्रसंगानुसार संकलित किया है, जो अन्यत्र दुर्लभ हैं। इसमें उनकी विद्यालय ज्ञान-गारिमा

१. 'प्राकृत विद्या' (उद्यपुरसे प्रकाशिक जैमासिक शोषण पत्रिका) अक्टूबर १९८८ के अन्तमें पृष्ठ ३००-३०५ पर छाँ. शस्त्राज्ञन्व कालीवर्गके 'कुम्ह-कुम्हके ग्रन्थोंकी प्रमुख पार्श्वप्रियता'' नामक लेखसे उद्धृत।

के दर्शन होते हैं। अपने प्रकृत अभिप्रायको पुष्ट करनेके लिए जिन अनेक ग्रंथोंके इस दीकामें उद्धरण दिये गये हैं उनमें प्राकृत, संस्कृत तथा अपभ्रंश भाषाओंके भी उद्धरण हैं। कुछ तो ऐसे हैं जिनके मूलग्रन्थ या सन्दर्भ भी आज उपलब्ध नहीं होते। समन्तभद्राचार्यकी रस्तकरण्डधावकाचारकी प्रभावन्दीय संस्कृत दीकामा अनुसरण करते हुए इस दीकामें भी अनेक कथायें दी हैं जिससे सामान्य पाठक भी रुचिपूर्वक इसका अध्ययन कर लेता है। इस तरह बनेक दुष्टियोंसे प्रस्तुत दीका महत्वपूर्ण है।

श्रुतसागरसूरि द्वारा प्रस्तुत इस ग्रन्थके प्रत्येक पाहुडके और इनके अन्यान्य ग्रंथोंकी आदि, मध्य और अन्तकी पुष्टिकाओं, प्रशस्तियों आदिमें आचार्यों आदिकी भाषावलों तथा अन्यान्य सूचनायें भी अत्यधिक महत्वपूर्ण और प्रशंसनीय हैं, जिनके द्वारा जैन इतिहासकी विश्वरी कड़ियोंको जोड़नेका कार्य किया जा सकता है।

इस तरह बहुमुखी व्यक्तित्वके घनी श्रुतसागरसूरि द्वारा रचित विविध और विश्वाल वाङ्मयसे स्पष्ट है कि वे प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं तथा घर्मंशास्त्र, दर्शन, न्याय, ध्याकरण, साहित्य आदि विषयोंके प्रतिभाशाली विद्वान् थे। इससे अपने लिए विभूषित विशेषणों और उपाधियोंकी घरितार्थता भी पूर्ण सिद्ध हो जाती है। उनके लिए प्रयुक्त “कलिकाल-गीतम्” विशेषणसे यह प्रतीत होता है कि जिस प्रकार गीतम् गणधरने श्रुतका शीजरूपमें प्रभार और प्रसार किया, उसी प्रकार परमागमप्रवीण, तार्किक शिरोमणि श्रुतसागरने अनेक वादियोंको पराजित करके जैनघर्मेंकी अपूर्व प्रभावना भी की।

भाद्रपद शुक्ला षष्ठी पूर्वोण पर्व शुभारम्भ
दीर निवाण संवत् २५१६

विषयानुक्रमणिका

वैसणपात्राद

	गाथा	पृष्ठ
मङ्गलाचरण और प्रतिशा वाक्य	१	२
वर्षे दर्शन मूलक है	२	३
दर्शन भ्रष्ट को निवारण नहीं है	३	६
सम्यक्त्व से भ्रष्ट जीव संसार में अमरण करते हैं	४	८
सम्यक्त्व से भ्रष्ट जीवों को बोधि की प्राप्ति कुर्लंग है	५	९
उत्कृष्ट शारीर कीन होते हैं ?	६	१०
भ्रष्टों में भ्रष्ट कीन है ?	८	१२
बोधावी आरित्र से पतित है	९	१३
चौरासी लाल गुणों का वर्णन	१०	१५
शोल की दण विराघनाएँ	११	१६
आलोचना के वश दोष	१२	१६-१७
मूल विनष्ट जीव सिद्ध भर्ही हो सकते	१०-११	१६-२०
सम्यग्दृष्टि जीवों की पाद वन्दना न करने का		
कुफल	१२	२२
सम्यग्दृष्टि के भेदों का वर्णन	१२	२३-२७
सम्यक्त्व से रहित जीवों की पाद वन्दना का कुफल	१३	२८
कीन से मुनियों को सम्यक्त्व रहता है ?	१४	२९
वास्तु और अन्यत्वर परिभ्रह के भेद	१४	२९-३०
सम्यक्त्ववान् जीव हो श्रेय और अश्रेय को जातता है	१५	३१
निवारण कीन प्राप्त करता है ?	१६	३२
जिन वस्त्र रूप जीवध की महिमा	१७	३३
जिनधर्म में तीन ही लिङ्ग (वेष) हैं	१८	३४
सम्यग्दृष्टि का लक्षण	१९	३५
अवहार और निष्क्रिय से सम्यग्दृष्टि का लक्षण	२०	३७
सम्यक्त्व ही मोक्ष की प्रथम सीढ़ी है	२१	३८
अद्वामवान् जीव को सम्यक्त्व होता है	२२	३९
वन्दना करते जोग्य कीन है ?	२३	४१

	गाथा	पृष्ठ
मन मुद्रा से ईर्ष्या रखने वाला मिथ्यादृष्टि है	२४	४२
गौरव करने वाले सम्यक्त्व से भ्रष्ट हैं	२५	४३
असंयमी की बन्धना नहीं करना चाहिये	२६	४९
गुणहीन बन्धना के योग्य नहीं हैं	२७	४६
बन्धनीय पुरुषों के मुण्डों का वर्णन	२८-२९	४७-४८
मोक्ष का कारण क्या है ?	३०	४९
सम्यग्वर्षानादित्रिक निवारण के साधन हैं	३१	५०
चार आराधनाएँ मोक्ष का कारण हैं	३२	५१
सम्यक्त्व को प्रहिमा	३३-३४	५२-५३
स्थावर प्रतिमा क्या है	३५	५४
जिनेन्द्र के १००८ लक्षण तथा अतिशयों आदि का वर्णन	३६	५५-५७
निवारण को कौन प्राप्त होते हैं ?	३७	५८

आरित पाठ्य

भक्त्यलाचरण और ग्रन्थ प्रतिज्ञा	१-२	६०
दशन, जान और चारित्र जीव के अविनाशी भाव हैं	३	६२
जान दशन, और चारित्र के लक्षण	४	६३
चारित्र के दो भेद—सम्यक्त्वाचरण और संयमाचरण	५	६४
सम्यक्स्वाचरण का वर्णन	६-९	६५-६९
जिन सम्यक्त्व के आदावक की पहचान	१०-११	७०
जिन सम्यक्त्व को कौन छोड़ता है ?	१२	७२
जिन सम्यक्त्व को कौन भहीं छोड़ता है ?	१३	७३
अशान तथा मिथ्यात्व आदि को छोड़ने का उपदेश	१४	७४
विषुद्ध ध्यान का होता है	१५	७४
बन्ध को कौन प्राप्त होते हैं ?	१६	७६
चारित्र सम्बन्धी दोषों को कौन छोड़ता है ?	१७	७६
ऐ दीनों भाव किसके होते हैं ?	१८	७८
संस्कारतगुणी और असंस्कारतगुणी निर्जरा के वृष्टान्त संस्कारण का वर्णन, उसके दो भेद, सागार और वल्लगार	१९	७९
	२०	८०

	गाया	पृष्ठ
सागार संयमाचरण के ११ भेद	२१	८१
अणुव्रत, गुणव्रत और विकासव्रत	२२	८४
पाँच अणुव्रत	२३	८५
तीन गुणव्रत	२४	८५
चार विकासव्रत	२५	८६
अनागार संयमाचरण का वर्णन	२६-२७	८८-९१
महाव्रत का निष्कृत वर्ण	३०	९२
अहिंसा व्रत की पाँच भावनाएँ	३१	९३
सत्य व्रत पाँच भावनाएँ	३२	९४
अथीर्यव्रत की पाँच भावनाएँ	३३	९५
ब्रह्मचर्य व्रत की पाँच भावनाएँ	३४	९६
परिग्रह त्याग व्रत की पाँच भावनाएँ	३५	९७
पाँच समितियों का वर्णन	३६	९८
आत्म ज्ञान स्वरूप है	३७	९९
सम्पर्जानी का लक्षण	३८	१००
दर्शन, ज्ञान, चारित्र की महिमा	३९-४०	१०१-१०४

सुत आहुत

सूत्र का वर्ण	१	१०६
जो दो प्रकार के सूत्र को ज्ञानता है वह भव्य है	२	१०७
सूत्र का ज्ञान संसार का मास्त करता है	३	१०८
सूत्र सहित मनुष्य नाश को प्राप्त नहीं होता यह नुई के दृष्टान्त से स्पष्ट है	४	१०९
जिन सूत्र का ज्ञान ही सम्पर्दूष्टि है	५	११०
जिन सूत्र व्यवहार और निष्पत्यरूप हैं	६	११०
सूत की श्रद्धा से रहित मिथ्यादृष्टि है	७	११२
सूत्रार्थ से खण्ट मनुष्य करोड़ों भव तक भ्रमण करता है	८	११३
स्वप्नन्द विहार करने वाला मिथ्याल को प्राप्त होता है	९	११४
मिथ्येल मृति का पाणिपात्र आहुत लेना मोक्ष का आर्थ है जोह अमार्ग है	१०	११५

	गाथा	पृष्ठ
वन्दनीय कौन है ?	११	११५
वन्दना किसे करना चाहिये	१२	११६
इच्छाकार किसे करना चाहिये ?	१३	११७
आवक वर्म का फल	१४	११७
आत्मधान से रहित जीव संसारी ही है	१५	११८
आत्मध्यान की प्रेरणा	१६	११९
मुनि को पाणियाँ ही आहार लेना चाहिये	१७	१२०
तिल तुष्माश परिष्ठ का घारी मुनि निगोद का पात्र होता है	१८	१२१
परिष्ठकान् मुनि गर्हणीय है	१९	१२४
पौज महात्म ही निर्मम मोक्ष मार्ग है और वही वन्दनीय है	२०	१२५
दूसरा लिङ्ग उल्कुष्ट आवकों का है	२१	१२६
स्त्रियों का उल्कुष्ट लिङ्ग-आधिकार का पद	२२	१२८
वस्त्रधारी जीव सिद्धि की प्राप्त नहीं होता है	२३	१२९
स्त्री को दीक्षा क्यों नहीं दी जाती ?	२४-२७	१३०-१३४

बोध पाठ्य

मञ्जुलावरण और प्रतिमा आवय	१-२	१३६
आयतन आदि ग्यारह अधिकारों के नाम	३-४	१४०
आयतन का लक्षण	५-७	१४३-१४६
चैत्यगृह का स्वरूप	८-९	१४८-१५०
जिन प्रतिमा का वर्णन	१०	१५३
जङ्गम प्रतिमा का वर्णन	११	१५८
सिद्ध प्रतिमा का वर्णन	१२-१३	१५९-१६१
दक्षनाधिकार का वर्णन	१४-१५	१६२-१६३
जिन विम्बाधिकार	१६-१८	१६४-१६७
जिन मुद्राधिकार	१९	१६८
ज्ञानाधिकार	२०-२१	१७०-१७३
देवाधिकार	२४	१७४
धर्माधिकार	२५	१७५
हीराधिकार	२६-२७	१७६-१७९

	गाथा	पृष्ठ
महेतस्वरूपाधिकार नामादि शिखों की अपेक्षा		
अहंत का वर्णन	२८-३०	१८३-१८५
गुणस्थानादि की अपेक्षा अहंत के वर्णन की प्रतिशा	३१	१८८
गुणस्थान की अपेक्षा अहंत का वर्णन	३२	१८९
चौंतीस अतिशय तथा प्रतिशायों का वर्णन मार्गणा की अपेक्षा अहंत का वर्णन	३३	१९३
पर्याप्ति की अपेक्षा अहंत का वर्णन	३४	१९५
प्राणों की अपेक्षा अहंत का वर्णन	३५	१९७
जीव स्थानों की अपेक्षा अरहंत का वर्णन	३६	१९८
द्रव्य की अपेक्षा अरहंत का वर्णन	३७-३९	१९९-२०२
भाव शिखोप की अपेक्षा अहंत का वर्णन	४०-४१	२०२-२०३
प्रद्रव्य का वर्णन	४२-५१	२०४-२३३
जीव प्राभृत की चूलिका	५०-६२	२४१-२४३

भाव पाठ्य

मन्त्रकलाचरण और प्रतिशा वाक्य	१	२४५
भावलिङ्ग की प्रमुखता	२	२४६
आत्मनार परिप्रेक्ष से युक्त मनुष्य का वाक्य त्याग निष्पक्ष है	३	२४७
भाव रहित को सिद्धि नहीं होती	४	२४९
भाव के वशाद् रहते हुए वाक्य का त्याग क्या कर सकता है ?	५	२५०
भाव लिङ्ग प्रथम लिङ्ग है	६	२५१
भाव रहित जीव ने अनेक बार निर्गत्य मुड़ा वारण की है	७	२५१
भाव के बिना जीव ने नरक गति के भीषण दुःख सहे हैं	८-११	२५२-२५५
शुभ भावना से रहित जीव सुरक्षोक में भी दुःख प्राप्त करता है	१२-१६	२५७-२६४
भाव के बिना मनुष्यगति के दुःख सहन करते पड़ते हैं	१७-२०	२६४-२६६

	गाथा	पृष्ठ
भाव के बिना श्रिभुवन में अमण किया है तथा क्षुषा तृष्णा आदि के दुःख सहन किये हैं और क्षुद्रभव घारण किये हैं	२१-३०	२६७-२७५
रत्नशय का लक्षण	३१	२७५
भाव के बिना प्राप्त होने वाले क्रमरणों का निष्पाण इव्य लिङ्गी मुनि सर्वत्र अमण करता है	३२	२७६
भाव रहित जीव अनन्त काल से अन्स मरण आदि के दुःख भोग रहा है	३३	२८४
भाव के बिना जीव ने अनन्त पूर्वाग्रहण किये	३४	२८५
भाव के बिना समस्त लोक में यह जीव अमा है	३५	२८७
भाव के बिना अनेक रोग, गर्भवास के दुःख तथा बाल्य आदि अवस्थाओं के दुःख भोगे हैं	३७-४२	२९०-२९५
भाव से मुक्त जीव ही मुक्त कहलाता है	४३	२९६
मान कषाय से बाहुबली कलूपित रहे	४४	२९७
अधुनिङ्ग मुनि की कथा	४५	२९८-३२५
कलिष्ठ मुनि की कथा	४६	३२६-३४४
भाव के बिना यह जीव चौरासी लाख मोनियों में मटका है	४७	३४५
भाव इव्य लिङ्ग कथा कर सकता है ?	४८	३४६
माहूसुनि की कथा	४९	३४७-३४८
दीपावल मुनि की कथा	५०	३४९-३५२
भावलिङ्गी शिवकुमार की कथा (तदन्तगत अमूर्त्यवारी की कथा) भव्य सेव मुनि की कथा	५१	३५३-३७२
शिवभूति मुनि की कथा	५२	३७४-३७७
भाव से ही नग्न होता है	५३	३७८-३७९
भाव रहित नग्नत्व अकाम्पकारी है	५४	३७९
भावलिङ्गी कौन होता है ?	५५	३८०
भावलिङ्गी की भावना	५६	३८१
भावपूर्वक विशुद्ध आत्मव्यान की प्रेरणा	५७-५९	३८३-३८५
शुद्ध जीव स्वभाव की भावना करते वाले जीव ही जिवीय को प्राप्त होता है	६०	३८६
	६१	३८७

	गाथा	पृष्ठ
शुद्ध जीव स्वभाव की जानने की प्रेरणा	६२	३८७
जीव का सद्ग्राव भानने वाले ही सिद्ध होते हैं	६३	३९०
आत्मा का लक्षण	६४	३९१
पौर्ण प्रकार के ज्ञान की भावना करने का उपदेश	६५	३९२
भावरहित श्रुति किस काम का है ?	६६	३९३
द्रष्टव्य से सभी नम्न हैं	६७	३९४
भाव रहित नग्नत्व दुःख का कारण है	६८	३९५
भाव नग्नत्व से क्या होने वाला है ?	६९	३९६
अस्यत्तर दोषों का त्याग कर धर्मार्थ जिनलिङ्ग को प्रकट करने की प्रेरणा	७०	३९७
सदोष मुनि नट धर्मण है	७१	४०१
द्रष्टव्यलिङ्गी भुनि बोधि को प्राप्त नहीं होता	७२	४०२
भावलिङ्ग-पूर्वक द्रष्टव्यलिङ्गी प्रकट होता है	७३	४०४
भाव रहित भुनि स्तिर्यगति के दुःख का पात्र होता है बोधि की दुर्लभता	७४	४०५
बोधि को कौन प्राप्त होता है ?	७५	४०७
तीर्थकर प्रहृति का वन्ध कौन करता है ?	७६	४०८
बारह प्रकार के तप का वर्णन	७७	४०९
कौन सा जिनलिङ्ग निर्मल होता है ?	७८	४१३
उदाहरण पूर्वक जिनधर्म की श्रेष्ठता	७९	४२०
पुण्य और धर्म की परिभावाएँ	८०	४२४
पुण्य, भोग का निमित्त है, कर्म काय का नहीं	८१	४२५
आत्मा ही धर्म है	८२	४२८
आत्मा की भावना के बिना पुण्य सिद्धि कारण नहीं है	८३	४३१
शालिमत्स्य की कथा	८४-८५	४४०-४४१
भावरहित जीवों का बाह्य त्याग निरर्थक है	८६	४४३
श्रुतज्ञान की भावना की प्रेरणा	८७-८९	४४४-४४६
परोवह और उपसर्ग सहन करने की प्रेरणा	९०-९१	४४८-४४९
अनुप्रेक्षाओं तथा भावनाओं की भावना करो	९२-९३	४५१-४५२
नौ पदार्थ तथा सात तत्त्व आदि की भावना तथा जीव समास और गुणस्त्रानों का वर्णन	९४	४५३
	९५	४५४

	गाया	पृष्ठ
नी प्रकार का अहंकार भारण करने का उपदेश भाव सकृत मूलि ही भाव आवाचना को प्राप्त करता है	१६	४६२
भाव अमण ही कल्पाण को प्राप्त करते हैं	१७	४६४
आहार के ४६ दोषों का वर्णन	१८	४६५
सचित सक्त पान तीव्र दुःख का कारण है	१००-१०१	४७७-४७८
पौष्टि प्रकार की विनय का उपदेश	१०२	४७९
जिनभक्ति और वैद्यावृत्य का उपदेश	१०३	४८०
आलोधना का वर्णन	१०४	४८१
जमा का वर्णन	१०५-१०७	४८२-४८४
दीक्षा काल के योग का स्मरण करने का वर्णन	१०८	४८५
भाव रहित जीवों का वाह्यलिङ्ग अकार्यकारी है	१०९	४९०
अहारादिसंज्ञाओं की आसक्ति का फल	११०	४९१
भावशुद्धि पूर्वक उत्तरगुणों का पालन कर तत्त्व की भावभा करने का उपदेश	१११	४९१
परिणाम ही बन्ध और मोक्ष का कारण है	११२-११३	४९२-४९३
शील के अठारह हजार भेदों का तथा चीरासी लाल उत्तरगुणों का वर्णन	११४-११७	४९५-५००
घम्भेर और शुद्धत्वान का वर्णन	११८	५००
भाव अमण ही व्यानकुड़ार के द्वारा संसार रूपी दृश्य को छेदते हैं	११९	५०६
रागरूपी वायु से रहित होकर व्यान रूपी दीपक जलता है	१२०	५०८
पञ्चपरम गुरुओं के ध्यान की प्रेरणा	१२१	५१२
ज्ञान सलिल की भृहिमा	१२२	५१३
भावश्रमणों का भावाकुर नष्ट हो जाता है	१२३	५१५
भावश्रमण बनने की प्रेरणा	१२४-१२६	५१७-५१९
भावश्रमण धन्य है	१२७	५२१
भावमूलि ऋद्धियों में मोहित नहीं होते	१२८-१२९	५२२-५२३
भाव हित करने की प्रेरणा	१३०-१३१	५२३-५२५

	ग्रन्थ	पृष्ठ
भोग सुख के कारण जीव ने अनन्त भवमागर में ऋषण किया है	१३२	५२६
प्राणिवध के कारण जीव चौरासी लाल योनियों में घूमा है	१३३	५२७
अभयदान की प्रेरणा	१३४	५२८
३४३ मिद्यामतों का वर्णन	१३५	५२९
मिद्यादृष्टि जीव अपने स्वभाव को नहीं छोड़सा	१३६	५३०
अभय जीव को जिनधर्म नहीं रचता	१३७	५३१
कुत्सित धर्म के सेवन का फल	१३८-१३९	५३२-५३३
तीन सौ तिरेसठ पालण्डी मत छोड़ने का उपदेश	१४०	५३४
सम्यदर्शन से रहित जीव चलवश है	१४१	५३४
सम्यनदृष्टि की प्रशंसा	१४२-१४३	५३५-५३६
जिनलिङ्ग की प्रशंसा	१४४	५३७
सम्यदर्शन धारण करने का उपदेश	१४५	५३८
जीव का स्वरूप	१४६	५३९
मध्य जीव ज्ञानावरणादि कर्मों का नाश करता है	१४७	५४०
ब्रह्मिया कर्मों के नष्ट होने पर प्रकट होने वाले गुण	१४८	५४१
सम्यदर्शन से जीव परमात्मा बनता है	१४९-१५०	५४४-५४५
जिमवर की चरण बन्दना का फल	१५१	५४७
सत्पुरुष कषायरूपी विष से लिप्त नहीं होता	१५२	५४८
सत्पुरुष का लक्षण	१५३	५४९
धीर धीर पुरुषों का लक्षण	१५४	५५१
विषय रूपी सागर के पार करने वाले		
भगवान् धन्य हैं	१५५	५५२
ज्ञानरूपी शास्त्र के द्वारा माया रूपी बेल का नाश	१५६	५५३
चारित्ररूपी स्त्री द्वारा पाप रूपी स्तम्भ नाश होता है	१५७	५५३

	गाथा	पृष्ठ
मुनि रुधी चन्द्रमा का वर्णन	१५८	५५४
विशुद्ध भावों का फल	१५९-१६३	५५५-५५८

मोक्ष पाहुड़

मञ्जुलाचरण और प्रतिज्ञा वाक्य	१-२	५६०-५६१
आत्मतत्त्व की महिमा और उसके तीन भेद	३-४	५६२-५६३
बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा		
के लक्षण	५	५६४
सिद्धों का वर्णन	६	५६५
परमात्मा के ध्यान का क्रम	७	५६६
बहिरात्मा का वर्णन	८-११	५६७-५६८
देह से निरसेध पुरुष ही निवाण की पाता है	१२	५६८
बन्ध और मोक्ष विषयक जिनीषदेश	१३	५६८
स्वद्रव्य में रत जीव सम्यदृष्टि है	१४	५६९
परद्रव्य में रत जीव मिष्यादृष्टि है	१५	५७०
परद्रव्य और स्वद्रव्य की रति का फल	१६	५७०
परद्रव्य का लक्षण	१७	५७१
स्वद्रव्य का लक्षण	१८	५७१
स्वद्रव्य के ध्यान का फल	१९-२३	५७२-५७५
कालादि लक्षण से आत्मा ही परमात्मा होता है	२४	५७६
यत और तप से स्वर्ग की प्राप्ति होना अच्छा है	२५	५७७
शुद्ध आत्मा से ध्यान की प्रेरणा	२६	५७९
आत्मा का ध्यान किसके होता है ?	२७-२८	५८१-५९२
निजौल्य ध्यानी का विचार	२९	५९३
ध्यानस्त्र मुनि कर्म क्षय करता है	३०	५९४
व्यवहार में सोनेखाला स्वकार्य में जागता है	३१-३२	५९५
ध्यान और अध्ययन का उपदेश	३३	५९६
आराधक का लक्षण और आराधना का फल	३४-३७	५९६-५९९
रत्नशय का लक्षण	३७-३८	६००
वर्णन शुद्ध मनुष्य ही निर्वाण को पाता है	३९	६०१
सम्बन्ध का लक्षण	४०	६०२
सम्प्रग्राहन का लक्षण	४१	६०३

	गाथा	पृष्ठ
सम्बन्धित्रिक का लक्षण	४२	६०३
रत्नशय युक्त तप का फल	४३	६०४
कैसा योगी परमात्मा का ध्यान करता है	४४	६०५
कैसा जीव उत्तम सुख को प्राप्त करता है	४५	६०६
विषय कथाय से युक्त जीव सिद्धि सुख की प्राप्त नहीं होता	४६	६०७
द्वंद्व की कथा	४६	६०७-६२०
जिन भूद्वा सिद्धि सुख का कारण है	४७	६२०
परमात्मा के ध्यान का फल	४८-४९	६२१-६२२
चारित्र ही आत्मा का धर्म है	५०	६२२
जीव स्वभाव से रागात्मि रहित है	५१	६२४
कैसा योगी ध्यानरत होता है ?	५२	६२५
ज्ञानी जीव कर्मों का अल्प काल में श्रव्य करता है	५३	६२६
अज्ञानी और ज्ञानी का लक्षण	५४-५८	६२७-६३२
तप रहित ज्ञान और ज्ञान रहित तप व्यर्थ है	५९	६३४
तीर्थकर भी तप से ही मिद्दि को प्राप्त करते हैं	६०	६३५
मात्र वास्तु लिङ्ग का धारक मूर्ति मोक्षभाग का नाश करने वाला है	६१	६३७
सुखिया स्वभाव के छोड़ने का उपदेश	६२-६३	६३८-६३९
कैसा आत्मा का ध्यान करना चाहिये	६४	६४०
आत्मा का जानना मरल नहीं	६५	६४१
विषयों से विरक्त मनुष्य ही आत्मा को जानता है	६६	६४२
विषय मह जीव चन्द्रगंगति संसार में घूमते हैं	६७	६४३
विषयों में विरक्त जीव संसार से मुक्त होते हैं	६८	६४४
पर द्रव्य में परमाणु प्रमाण राग करने वाला अज्ञानी है	६९	६४५
नियम से निर्बाण किन्हें प्राप्त होता है ?	७०	६४६
पर द्रव्य का राग संसार का कारण है	७१	६४६
ममभाव से ही चारित्र होता है	७२	६४७
यह पंचम काल ध्यान के योग्य नहीं है इस मान्यता का निराकरण	७३-७५-७७	६०८-६५२
जिन लिङ्ग धारण कर पाप करने वाले मोक्षमार्गी नहीं हैं	७८-७९	६५३-६५४

	गाथा	पृष्ठ
मोक्षमार्गीं कौन है इसका वर्णन	८०-८८	६५५-६६२
धन्य तथा कुरुकृत्य कौन है ?	८९	६६२
सम्यकत्व का स्वरूप	९०-९१	६६३-६६६
मिथ्यादृष्टि कौन है ? तथा मिथ्यात्व का फल	९२-९७	६६७-६७१
बाह्य कर्म करने वाले साधु सिद्धि सुख नहीं पाते	९८-१००	६७२-६७६
सम्भवा साधु कौन होता है ?	१०१-१०२	६७२-६७६
आत्म तत्त्व क्या है ?	१०३	६७६
पञ्चपरमेष्ठी रूप आत्मा ही शरण है	१०४-१०६	६७८-६८०

लिङ्ग पाठ्य

मङ्गलाचरण और प्रतिशा वाक्य	१	६८३
धर्म से लिङ्ग होता है, लिङ्ग मात्र से धर्म नहीं प्रीता	२	६८३
लिङ्ग धारण कर लिंग भाव की हँसी करने का फल	३	६८३
अमणाभासों का वर्णन	४-२२	६८४-६९२

शील पाठ्य

मङ्गलाचरण और प्रतिशा वाक्य	१	६९३
शील और ज्ञान का विरोध नहीं है	२	६९३
ज्ञान की प्राप्ति कठिनाई से होती है	३	६९३
विषयासक्त जीव ज्ञान को नहीं जानता	४	६९४
चारित्र हीन ज्ञान, दर्शन रहित लिङ्ग और संयम रहित तप की निरर्थकता	५	६९४
चारित्र से शुद्ध ज्ञान आदि की महिमा	६	६९५
विषयी जीव चतुर्गति में अमण करते हैं	७	६९५
विषय से विरक्त जानी जीव चतुर्गति अमण को क्लेदते हैं	८	६९६
ज्ञान रूपी जल में जीव शुद्ध होता है	९	६९६
ज्ञान से गर्वित जीव विषयों में रक्त होते हैं इसमें ज्ञान का अपराष नहीं है	१०	६९६
निर्वाण की प्राप्ति किनको होती है	११-१२	६९७

	गाथा	पृष्ठ
इष्टदर्शी मनुष्यों को मार्ग प्राप्त है परन्तु		
उमार्गदर्शी मनुष्यों का ज्ञान निरर्थक है	१३	६९८
आराधक कौन नहीं है ?	१४	६९८
शील की महिमा	१५-१८	६९९-७००
शील का परिवार क्या है ?	१९	७००
शील क्या-क्या है ?	२०	७०१
विषय सुनी विद्वान् की दारणाः	२१-२२	७०१
विषयासक्त जीवों को प्राप्त होने वाले दुःख	२३	७०२
तप और शील से युक्त मनुष्य विषय को विष		
के समान छोड़ देते हैं	२४	७०२
सब वर्गों में शील ही उत्तम अंग है	२५	७०३
विषयों के सोभी मनुष्य अरहर की छड़ी के समान		
संसार में भ्रमण करते हैं	२६	७०३
कर्म की गौठ को कौन छोड़ते हैं ।	२७	७०४
शील युक्त मनुष्य ही उक्तव्य निर्वाण को प्राप्त		
होता है	२८	७०४
शील के दिना मोक्ष नहीं होता	२९-३१	७०५-७०६
विषयों से विरक्त मनुष्य ही नरक की भारी		
वेदना को नष्ट करता है	३२	७०६
अतीन्त्रिय मोक्ष पद शील से प्राप्त होता है	३३	७०६
सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, तप और वीर्य पक्ष्याचार		
पुरातन कर्मों को अतिन के समान भरम करते हैं	३४	७०७
विषयों से विरक्त मनुष्य ही सिद्धि को प्राप्त		
होते हैं	३५	७०८
शीलवान् कौन है ?	३६	७०८
जिनशासन में लोधि को कौन प्राप्त होते हैं ?	३७	७०८
शीलरूपी सलिल में स्नान करने वाले जीव सिद्धि		
मुख को प्राप्त होते हैं	३८	७०८
आराधनाओं को प्रकट कौन करते हैं ?	३९	७०९
सम्यक्त्व, शील तथा ज्ञान का लक्षण	४०	७०९



नमः सिद्धेभ्यः

श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्ये-विरचितम्

षट्प्राभूतम्

श्री-श्रुतसागर-सूरि-विरचितया टीकया सहितम्

दृग्वृत्तसूत्रबोधाख्यं भावमालसमाह्न्यम् ।
षट्प्राभूतमिति प्राहुः कुन्दकुन्दगुरुदितम् ॥ १ ॥

अथ 'श्रीविद्यानन्दिभट्टारकपट्टाभरणभूतश्रीमल्लभूषणभट्टारकाणमादेशाद-
च्येषणावशात् बहुशः प्रार्थनावशात् कलिकालसर्वज्ञविद्वावलीविराजमानाः श्री-
सद्मोपदेशकुशला निजात्मस्वरूपप्राप्तिं पञ्चपरमेष्ठिचरणात् प्रार्थयन्तः सर्वजग-
दुपकार्त्तिं उत्तमक्षमाप्रधानतपोरत्नसंभूषितहृदयस्थला भव्यजनजनकतुल्माः श्री-

दर्शनप्राभूत, चारिप्राभूत, सूत्रप्राभूत, बोधप्राभूत, भावप्राभूत और
मोक्षप्राभूत इस प्रकार कुन्दकुन्द स्वामीके हारा कथित षट्प्राभूत कहे
जाते हैं ॥

[विशेष—श्री कुन्दकुन्द स्वामीके हारा रीचत लिङ्गप्राभूत और
शीलप्राभूत ये दो प्राभूत और हैं जिनकी भाषा टीका षट्प्राभूत के अनन्तर
इसी ग्रन्थ में आगे दी जावेगी । जान पड़ता है कि संस्कृत टीकाकार श्री
श्रुतसागर सूरिको टीका करते समय वे उपलब्ध नहीं होंगे, इसलिये उन्होंने
षट्प्राभूतके नामसे दर्शनप्राभूत आदि छह प्राभूतोंकी ही टीका की है ।]

अथानन्तर जो 'कलिकालसर्वज्ञ' इस विद्वावलीसे सुशोभित है, श्री-
सम्पन्न आहंत धर्म के उपदेश में कुशल हैं, पञ्च परमेष्ठी के चरणों से
जो निज आत्मस्वरूप की प्रार्थना करते हैं, सर्व जगत् का उपकार करने-
वाले हैं, उत्तम क्षमा की प्रधानता लिये हुए तपरूपी ज्ञान से जिनका
हृदय विभूषित है, जो अव्य जीवोंके लिये पिताके समान हैं तथा आत्म-
स्वरूप की अद्वा से जिन्हें सम्यगदर्शन उपलब्ध हुआ है ऐसे श्री श्रुतसागर
सूरि, श्री विद्यानन्दिभट्टारक सम्बन्धी पट्ट के अलंकारस्वरूप श्री मल्ल-

श्रुतसागरसुर्यः श्रीकुन्दकुन्दाचार्यवित्तचितषट्प्रभुतप्रभ्यं दीक्षयन्तः स्वहचिविरचितसदृष्ट्यः सम्यगदर्शनप्राभृतस्यादौ परापरगुरुप्रवाहमञ्जलप्रसिद्धिप्रार्थनपरा नामदीसूतस्य ३वित्तनमाहु—

**काऊण णमुक्षकारं जिणवरवसहस्रं बद्धमाणस्स ।
दंसणमार्गं वोच्छामि जहाकर्मं समासेण ॥१॥**

कृत्वा नमस्कारं जिनवरवृषभस्य वर्धमानस्य ।

दर्शनमार्गं वक्ष्यामि यथाक्रमं समासेण ॥१॥

अष्टवदा नामदो । (वोच्छामि) वक्ष्यामि कथयिष्यामि । कः कर्ता ? अहं श्रीकुन्दकुन्दाचार्यः । कं कर्मतापत्त्वम् ? (दंसणमार्ग) सम्यगदर्शनस्वरूपम् । कथं वक्ष्यामि ? (जहाकर्म) यथाक्रममनुक्रमेण । केन कृत्वा ? (समासेण) संक्षेपेण । कि कृत्वा पूर्वम् ? (बद्धमाणस्स) वर्द्धमानस्य प्रियकारिणीवल्लभ-श्रीसिद्धार्थ-महाराज-नन्दनस्थान्तिमतीर्थकरपरमदेवस्य भरतक्षेत्रस्थविदेहवेशसुम्बन्धश्रीकुण्ड-पुरपत्तनोत्पत्त्वस्य सुवर्णवर्णशरीरस्य किञ्चिदधिकद्वासमतिवर्वपरमायुषः सप्तहस्तोत्तरशरीरस्य निर्भयत्वरञ्जितसंगमनामधेयदेवकृतस्तवनस्य वीर-बद्धमान-भहावीर-महतिमहार्दीर्घसम्भिन्नामप्यन्यकार्त्तांसदस्य । (णमुक्षकार) नमोऽस्त्वात वचनेन मनसा कायेन वचसा साण्टाङ्गप्रणामम् । (काऊण) कृत्वा । कथंसूतस्य वर्धमानस्य ? (विणवरवसहस्र) जिनवराणां श्रीगीतमादिगणघरदेवादीना मध्ये वृषभस्य

भूषण भट्टारक की आज्ञा से, ग्रेरणा से और अनेक जीवों को प्रार्थना के वश से श्री कुन्दकुन्दाचार्य हारा रचित षट्प्रभुतप्रभ्य की टोका करने के लिये उद्यत हुए हैं सो परापर गुरुप्रवाह से मञ्जल सिद्धि की प्रार्थना करते हुए दर्शनप्राभृत के प्रारम्भ में मञ्जलसूत्र की व्याख्या करते हैं—

गाथार्थ—कर्मरूप शत्रुओं को जीतनेवाले गौतमादि गणधरोंमें वृषभ-श्रेष्ठ श्री बद्धमान भगवान् को, अथवा ज्ञानादि गुणों से वर्धमान—निरंतर बृद्धि की प्राप्त होनेवाले जिनवरवृषभ—भगवान् कृषभदेव-प्रथम तीर्थकर अथवा समस्त तीर्थकरों को नमस्कार कर मैं अनुक्रम से संक्षेपपूर्वक सम्यगदर्शन का स्वरूप कहूँगा ॥१॥

विशेषार्थ—प्रभ्य के प्रारम्भ में मञ्जलाचरण, प्रतिज्ञावाक्य और प्रतिपादन की शैली का निरूपण करते हुए श्री कुन्दकुन्दाचार्य महाराज ने कहा है कि मैं प्रियकारिणी महाराजी के प्राणनाथ सिद्धार्थ महाराज के

शेषस्य ! इत्यनेन विशेषणेन प्रथमलीर्थकर-भोगवादिनायादोनामपि सर्वतीर्थकर-समुदायस्थापि नमस्कारः कुलो भवतीति वेदितव्यम् ।

इत्थमूले पञ्चो उपद्वृते जिष्ठरेति सिस्तार्णं ।

तं सोउण सकणे दंसणहीणो ण वंदिल्लो ॥२॥

पुनः अन्तिम तीर्थकर, भरतक्षेत्र में स्थित विदेह देश सम्बन्धी कुण्डपुर नगर में उत्पन्न, मुकुण के समान वर्णवाले, कुछ अधिक अहत्तर वर्ष की उत्कृष्ट आयु से युक्त, सात हाथ ऊचे, निर्भयता से प्रसन्न संगम नामक देव द्वारा स्तुत; तथा वीर, वर्द्धमान, महावीर, महतिमहावीर और सत्यति इन पाँच नामों से प्रसिद्ध श्री वर्द्धमान भगवान् को मन-बधन-काय से नमस्कार कर संक्षेपपूर्वक पूर्वाचार्यों के क्रम का उल्लंघन न कर सम्यगदर्शन का रूपरूप कहूँगा । गाथा में आया हुआ जिनवरवसहस्रस शब्द विशेषण और विशेष्य दोनों हैं । इसलिये विशेषण पक्ष में वर्द्धमाणस्स का विशेषण मानकर उसका अर्थ ऐसा करना चाहिये कि जो वर्द्धमान स्वामी कर्मरूप शत्रुओं को जीतनेवाले गौतमादि गणधरों में वृषभ—शेष हैं उन्हें नमस्कार कर, और विशेष्य पक्ष में वर्द्धमाणस्स को विशेषण मानकर ऐसा अर्थ करना चाहिये कि जो (वर्द्धते—ज्ञानादिगुणैः समेधते—वृद्धि प्राप्नोतीति वर्धमानः) ज्ञानादि गुणों से निरन्तर वृद्धि को प्राप्त हो रहे हैं ऐसे प्रथम जिनेन्द्र श्री वृषभ देव को अथवा वृषभ—अजित आदि चौबीस तीर्थकरों के समूह को नमस्कार कर । क्योंकि “कटपयपुरः-म्यवर्णः” इस नियम के अनुसार ‘वर’ का अर्थ २४ होता है, अतः जिनवरवस्थाय का अर्थ शेष चौबीस जिनेन्द्र भी होता है ।

गाथार्थ—जिनेन्द्र भगवान् ने शिष्यों के लिये सम्यगदर्शनमूलक धर्म-

१. कटपयपुरस्थवर्णनंव-नव-पञ्चाष्टकलितैः क्रमशः ।

स्वरज्जनशूल्यं संख्या मात्रोपरिमात्रं त्वाज्यम् ॥

अर्थात् क ट प और य के आमे क्रम से ९ ९ ५ और ८ अक्षरों से उत्तरे अंकों को कल्पना करना चाहिये स्वर, व और न से शूल्य समझना चाहिये और मात्रा तथा संख्यत अक्षर त्वाज्य मानना चाहिये, अर्थात् उनसे किसी अङ्क का बोध नहीं होता । इस नियम के साथ ‘अङ्कानां वामतो गतिः’ अंकों की गति उल्टी होती है यह नियम भी ध्यान में रखना चाहिये । उल्लिखित क्रम के अनुसार क से ४ और र से २ अङ्क लिये जाते हैं, तथा दोनों को विपरीत गति से पढ़नेपर ‘वर’ का अर्थ २४ निकलता है ।

दर्शनमूलो धर्मं उपदिष्टो जिनवरैः शिष्याणाम् ।

तं दुर्ज्ञा न्वकर्ण दर्शनहीनो न वन्दितव्यः ॥ ३ ॥

(दर्शनमूलो धर्मो) वर्णनं सम्यक्तं मूलमधिकानाधारा प्रासादस्य गतीपूरकत् वृक्षस्य पातालमत-जटाबत् प्रतिष्ठा धर्मस्य स दर्शनमूल एवंगुणविशिष्टो धर्मो दयालक्षणः (जिनवरेहि) तीर्थकरणरम-देवैरपरकेवलिभिष्व (उच्चहृष्टो) उपदिष्टः प्रतिषादितः । केषामुपदिष्टः ? (सिस्त्वाण) शिष्याणां गणवर-चक्रधर-न्यज्ञधरादीनां भव्यवरपृष्ठरीकाणाम् । (तं सोऽण सकर्णे) तं धर्मं थुलाऽङ्कर्णं स्वकर्णे निजश्वरणं आत्मशब्दप्रहे । (दर्शनहीणो ण वैदिष्टो) दर्शनहीनः सम्यक्त्वरहितो न वन्दितव्यो नैव वन्दनीयो न माननीयः । तस्यान्न-दानादिकमपि न देयम् । उक्तं च—

मिष्यादृग्म्यो ददद्दानं दाता मिष्यात्ववर्देकः ।

अब कोज्ञौ दर्शनहीन इति चेत् ? तीर्थकरणरमदेवप्रतिमां न मानयन्ति, न पूज्यादिना पूजयन्ति । किमिति न पूजयन्ति ? मिष्यादृष्ट्यः किलैवं वदन्ति—

का उपदेश दिया है, सो उसे अपने कानों से सुनकर सम्यगदर्शन से रहित मनुष्य की बन्दना नहीं करना चाहिये ॥ २ ॥

विशेषार्थ—जिस प्रकार महूल का मूल आधार नीव है और वृक्ष का मूल आधार पाताल तक गई हुई उसकी जड़ें हैं उसी प्रकार धर्म का मूल आधार सम्यगदर्शन है । सम्यगदर्शन बिना धर्मरूपी महूल अथवा धर्मरूपी वृक्ष ठहर नहीं सकता है । जीवरक्षारूप आत्मा की परिणति को दया कहते हैं, वह दया ही धर्मका लक्षण है । तीर्थकर परमदेव तथा अन्यान्य केवलियों ने अपने गणधर, चक्रवर्ती तथा इन्द्र आदि शिष्यों को धर्म का यही स्वरूप बताया है । इसे अपने कानोंगे सुनकर सम्यगदर्शनसे हीन मनुष्य को नमस्कार नहीं करना चाहिये । धर्मकी जड़स्वरूप सम्यगदर्शन ही जिसके पास नहीं है वह धर्मात्मा कैसे हो सकता है ? और जो धर्मत्मा नहीं है वह बन्दना या नमस्कार का पात्र किस तरह हो सकता है ? ऐसे मनुष्य की तो आहारदान आदि भी नहीं देना चाहिये, क्योंकि कहा है—

मिष्येति—मिष्यादृष्टियों के लिये दान देनेवाला दाता मिष्यात्वको बढ़ानेवाला है ।

अब प्रश्न यह है कि वह सम्यगदर्शन से रहित मनुष्य कौन है जिसे नमस्कार नहीं करना चाहिये । तो उसका उत्तर यह है कि जो तीर्थकर परमदेव की प्रतिमा को नहीं मानते हैं, पुण्य आदि सामग्री से उसकी पूजा नहीं करते हैं वे मिष्यादृष्टि हैं ।

तीर्थकरपरमदेवः कि पूजयति देवान् ? तथा वयमपि न पूजयामः । पञ्चमकाले
किल मुनियो न वर्तन्ते । तदपृक्तम् । उक्तं च—

भस्तरः कुलपर्वता इव भुवो मोहं विहाय स्वर्यं
रसानां निधयः पशोधय इव व्याघ्रत्वित्सप्तहाः ।
स्पृष्टाः कैरपि नो नभोविभुतया विष्वस्य विश्वान्तये
सन्त्यद्यापि चिरन्तनान्तिकषराः सत्तः कियन्तोऽप्यमी ॥

मिथ्यादृष्टयः किल वदन्ति—क्वतः कि प्रयोजनम् ? आत्मैव पोषणीयः, तस्य
दुःखं न दति मयूरपिञ्च एव किल रुचिरं न भवति, सूत्रपिञ्च रुचिरम्, मयूरपिञ्चेन
आभेटनं “बौतिर्भवति (?)” । तदसत्यम् । उक्तं च भगवत्याराधनायन्ते—

रजसेवाणमगहणं मददव सुकुमालया लहूर्त्तं च ।
जत्थेदे पञ्च गुणा तं पडिलिहणं पसंसंति ॥

प्रश्न— वयों नहीं पूजा करते हैं ?

उत्तर—मिथ्यादृष्टि लोग ऐसा कहते हैं कि तीर्थकर परमदेव वया
किन्हीं देवों की पूजा करते हैं ? जिस प्रकार तीर्थकर परमदेव किसी की
पूजा नहीं करते उसी प्रकार हम भी पूजा नहीं करते । मिथ्यादृष्टि कहते
हैं कि पञ्चम काल में मुनि नहीं होते । परन्तु उनका ऐसा कहना ठीक
नहीं है, क्योंकि कहा है—

भस्तर इति—जो स्वर्यं मोहं को छोड़कर कुलपर्वतों के समान पृथिवी
का उद्धार करनेवाले हैं, जो समुद्रोंके समान स्वयं धन की इच्छा से रहित
होकर रत्नों के स्वामी हैं, तथा जो आकाश के समान व्यापक होते से
किन्हीं के द्वारा स्पृष्ट न होकर विष्व की विश्वान्ति के कारण हैं; ऐसे
अपूर्व गुणों के धारक प्राचीन मुनियों के निकट में रहनेवाले कितने साधु
आज भी विद्युमान हैं । अर्थात् पञ्चम काल में साधुओं की विरलता तो
हो सकती है, पर उनका सर्वथा अभाव संभव नहीं है ॥

मिथ्यादृष्टि कहते हैं कि इन्हों से क्या प्रयोजन है ? आत्मा ही पोषण
करने योग्य है, उसे दुःख नहीं देना चाहिये । मयूर के पंखों से बनी पिछी
सुन्दर नहीं होती, किन्तु सूत से बनी पिछी सुन्दर होती है । मयूर के
पंखों से बनी पिछी से तो हिसा होती है ।…… इत्यादि कहना असत्य है,
क्योंकि भगवती-आराधना ग्रन्थ में कहा गया है ।

रजसेवाणमिति—घूलि और पसोना का ग्रहण नहीं करना, मृदुता,

१. आत्मानुशासने श्लोकसंख्या ३३ ।

२. छोतिर्भवति-म ।

शासनदेवता न पूजनीयाः, आत्मैव देवो वर्तते । अपरः कोऽपि देवो नास्ति,
बीरावनत्तरं किल केवलिनोऽष्ट जाता न तु श्रयः, महापुराणादिकं किल विकथा
इत्यादि ये उत्सूक्ष्म मन्त्रसे ते मिथ्यादृष्ट्यश्चावक्ता नास्तिकाः । ते यदि
जिनसूक्ष्मुलहृन्ते तदास्तिकैयुं कितवचनेन निषेद्धनीयाः । तथापि यदि कदाचर्ह न
भृष्ट्वन्ति तदा समर्थरास्तिकैरुपान्त्रिगुर्यश्चिप्ताभिमुखे ताढनोयाः, तत्र पार्थ
गिल् ॥२॥

सुकुमारता और लधुता अर्थात् वजन में हलका होना; जिसमें ये पाँच
गुण हों वही पिछो प्रशंसा के योग्य है ॥

मिथ्यादृष्टि यह भी कहते हैं कि 'शासनदेवता पूजनीय नहीं हैं,
आत्मा ही देव है, उसके सिवाय अन्य कोई देव नहीं है; मगवान् महावीर
के बाद आठ केवली हुए हैं, न कि तीन । महापुराण आदिक विकथाएँ
हैं । इत्यादि प्रकार से जो शास्त्र के विरुद्ध मानते हैं वे मिथ्यादृष्टि
चावकि बथवा नास्तिक हैं । वे यदि जिनसूक्ष्म का उल्लंघन करते हैं तो
नास्तिक—सम्यग्दृष्टि मनुष्यों को युक्तिपूर्ण बचनों द्वारा उन्हें भना
करना लाभिष्ये । योगिक प्रभावशाली—समर्थ मनुष्य धर्मके समूल विनाश
को सहन नहीं करते । धर्म-प्रभावना में कुछ साक्ष्य प्रवृत्ति होती ही है
उसके द्विता वह संभव नहीं है । धर्म ही प्राणियों की माता है, धर्म ही
उनका पिता है, धर्म ही रक्षक है, धर्म ही वृद्धि करनेवाला है और धर्म
ही उन्हें निर्मल एवं निश्चल परम पद में पहुँचानेवाला है, धर्म का नाश
होने पर सत् पुरुषों का भी नाश हो जाता है । अतः जो धर्मद्वाही नीच
पुरुषों का निवारण करते हैं उन्हीं के द्वारा सज्जनों के जगत् की रक्षा
होती है ॥ २ ॥

१. सम्यग्दृष्टि जीव जिनशासन की प्रभावना में सहायक होने से शासनदेवताओं
का सम्मान करता है, परन्तु जिनेन्द्र देव के समान उनकी पूजा नहीं करता
और न उत्सूक्ष्म देव मानता है । उसकी शब्दा बीतराग सर्वं और हितोपदेशी
देव—अरहत्त-सिद्धमें ही रहती है । भय, आशा, स्नेह तथा लोभ के
बशीभूत होकर वह रागी द्वेषी देवों को नहीं पूजता है ।

२. धर्म-निमूलविष्वर्वसं सहन्ते न प्रभावकाः । नास्ति साक्षद्लेशेन विना धर्मप्रभा-
वना ॥४१॥ । धर्मो सत्ता पिता धर्मो धर्मस्वाताभिवधकः । धर्मो भवभूतो
धर्मो निश्चले निर्मले पदे ॥४२॥ । धर्मधर्वसे सतां व्यंसस्तस्माद्धर्मद्वृहोऽप्यमान् ।
निवारयन्ति ये सत्तो रक्षिते तैः सतां जगत् ॥ ४३ ॥

✓ दंसणभट्टा भट्टा दंसणभट्टस्स णतिथि णिव्वाण ।
 सिज्जांति चरियभट्टा दंसणभट्टा ण सिज्जांति ॥ ३ ॥

दर्शनभट्टा भट्टा दर्शनभट्टस्य नास्ति निवाणम् ।
 सिध्यन्ति चरित्रभट्टा दर्शनभट्टा न सिध्यन्ति ॥ ३ ॥

(दंसणभट्टा भट्टा) सम्यग्दर्शनात्पतितः पतिता उच्यन्ते । (दंसण-भट्टस्स णतिथि णिव्वाण) सम्यग्दर्शनात् पतितस्य सर्वकर्मक्षयलक्षणो मोक्षो न भवति, किन्तु सम्यग्दर्शनात्पतिता नरकादिगतिषु परितो दीर्घकालं पर्यन्तन्ति । (सिज्जांति चरियभट्टा) सिद्यन्ति आत्मोपलिङ्घमनुभवन्ति प्राप्नुवन्ति । के ते ? चरियभट्टा चारित्रात्पतिता यति-शावकलक्षणस्त्रृचर्य-प्रत्याल्यानाम्यां स्त्रृलिताः, सामयीं प्राप्य थेणिकमहाराजादिवत् स्तोकेन मोक्षं प्राप्नुवन्ति । (दंसणभट्टा ण

गाथार्थ—सम्यग्दर्शन में भ्रष्ट प्राणी भ्रष्ट कहे जाते हैं, सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट प्राणी को निवाण नहीं प्राप्त होता । चारित्र से भ्रष्ट प्राणी तो सिद्ध हो जाते हैं—मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं, पर सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट प्राणी सिद्ध नहीं हो सकते—मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते ॥ ३ ॥

किञ्चोषार्थ—जो मनुष्य सम्यग्दर्शन से पतित हो जाते हैं वे ही व्यधार्थमें पतित कहलाते हैं । सम्यग्दर्शन से पतित मनुष्य को समस्त कर्मों का क्षय हो जाना जिसका लक्षण है ऐसा मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता । सम्यग्दर्शन से पतित मनुष्य नरकादि गतियों में दीर्घ काल तक—अद्युपुद्यगलपरावर्तन काल तक परिभ्रमण करता रहता है । इसके विपरीत जो चारित्र से भ्रष्ट हैं अर्थात् शावक और मुनि पद के योग्य ब्रह्मचर्य तथा चारित्र से भ्रष्ट हैं वे अनुकूल सामग्री को पाकर थेणिक महाराज आदि के समान थोड़े ही समय में मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं । सम्यग्दर्शन से पतित मनुष्य भव्यसेन आदि मुनियों अथवा वशिष्ठ आदि ऋषियों के समान मोक्ष प्राप्त नहीं करते, किन्तु संसार-सागर में निमग्न रहते हैं । ऐसा जान कर राजा श्रेयांस आदि यशस्वी एवं प्रामाणिक पुरुषों के द्वारा चलाये हुए दान-पूजा आदि प्रशस्त कार्यों का निषेध नहीं करता चाहिये—उनमें सदा श्रद्धा भाव रखना चाहिये ॥

[इस गाथा का विवेचन करते समय कितने ही लोग “चारित्र से भ्रष्ट मनुष्य सिद्ध हो जाते हैं, परन्तु सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट मनुष्य सिद्ध नहीं होते” इसका यह कलितार्थ निकाल कर विवेचन करते हैं कि मोक्ष

सिज्जति । सम्यक्त्वर्णनात्पतिता न सिष्यन्ति मोक्षं न प्राप्नुवन्ति, भव्यसेनादिवत् विषिष्ठपूर्वदिवच्च संसारे निमज्जन्ति, इति शास्त्रा श्रुतकीर्तिश्चेयांसादि-प्रमाणपूर्वैरुप्रवर्तितं दान-पूजादिसत्कर्म न निषेधनीयम् । आस्तिकभावेन सदा स्थातव्यमित्यथः ॥ ३ ॥

सम्मतरथणभद्रा जाणता बहुविहाइं सत्थाइं ।

आराहणाविरहिणा भर्त्ति तत्थेव सत्थेव ॥४॥

सम्यक्त्वरत्नभ्रष्टा जानन्तो बहुविधानि शास्त्राणि ।

आराधनाविरहिता भ्रमन्ति तश्चेव तत्रेव ॥५॥

(सम्मतरथणभद्रा) सम्यक्त्वरत्नभ्रष्टा: सम्यक्त्वमेव रत्नं सर्वेभ्यो भावेभ्य उत्तमं कस्तु त्रैलोक्यपस्त्यसमुद्योतकत्वात्, तस्माद् भ्रष्टा: परिच्युता दान-पूजादिकनिषेधकाः (जाणता बहुविहाइं सत्थाइं) जानन्तोऽपि बहुविधानि शास्त्राणि तर्क-

के लिये चारित्र आवश्यक नहीं है, सम्यग्दर्शन ही आवश्यक है; और इस विवेचन के अनुरूप मोक्षमार्ग में सम्यक्त्वारित्र को गौण कर देते हैं । सो उतका यह विवेचन आगमसंगत नहीं है । इस गाथा में तो कुन्दकुन्द महाराज ने यही भाव प्रकट किया है कि जो श्रावक या भूनि अपने चारित्र से भ्रष्ट होते समय सम्यग्दर्शन से भी भ्रष्ट हो गया है अर्थात् अपनी श्रद्धा को भी छोड़ चुका है वह निर्वाण से बहुत दूर हो गया है अर्थात् वह अर्धपुद्गलपरावर्तन प्रमाण काल तक संसार में भटक सकता है । परन्तु जो मात्र चारित्र से भ्रष्ट हुआ है—सभी वीन श्रद्धा को सुरक्षित रखे हुए है—वह शीघ्र अनुकूल सामग्री पाकर विशुद्ध चारित्र को धारण करता हुआ निर्वाण को प्राप्त हो सकता है । मोक्ष प्राप्ति के लिये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्त्वारित्र में से किसी को भीण या प्रधान नहीं किया जा सकता, क्योंकि तीनों ही अनिवार्य आवश्यक कारण हैं] ॥३॥

गाथार्थ—सम्यक्त्वरूपी रत्नसे भ्रष्ट मनुष्य भले ही अनेक प्रकारके शास्त्रों को जानते हों तो भी जिनवचनोंकी श्रद्धासे रहित होनेके कारण वहींके वहीं अर्थात् उसो चतुर्गतिरूप संसारमें परिभ्रमण करते रहते हैं ॥४॥

विशेषार्थ—तीन लोकरूप भवनका प्रकाशक होनेसे सम्यक्त्वरूप रत्न ही समस्त पदार्थोंमें उत्तम बस्तु है । इस सम्यक्त्वरूपी रत्नसे पतित होकर जो दान-पूजा आदि प्रशस्त कामोंका निषेध करते हैं वे तर्क-

व्याकरण-छन्दो-अलङ्कार-साहित्य-सिद्धान्तादीन् प्रन्थान् जानाना अपि (आराहण-विरहिया) जिनवचनमाननलक्षणामाराधनामकुवर्णा लौका; पातकिनः (भमति तत्येव तत्येव) तत्रैव तत्रैव नरकादिव्येव दुर्गतिषु भास्यन्ति, न कदाचिदपि मोक्षं सम्भव्यं इत्यर्थः ॥४॥

सम्मतविरहिया ण सुट्टु वि उग्रा तवं चरंता ण ।
ण लहंहि बोहिलाहं अवि वाससहस्रकोडीहि ॥५॥

सम्यक्त्वविरहिता ण सुष्टु अपि उग्रा तपश्चरन्तः ण ।
न लभन्ते बोधिलाभं अपि वर्षसहस्रकोटिभिः ॥५॥

(सम्मतविरहिया ण) सम्यक्त्वविरहिता: सम्यक्त्वात् ये किरहिताः पतिताः । णमिति वाक्यालङ्कारे । (सुट्टु वि उग्रा तवं चरंता ण) सुष्टु अपि अतीवापि उग्रं तपः कुर्वन्तोऽपि मासोपवासादिकं तपोविशेषमाचरन्तोऽपि । णमिति वाक्यालङ्कारे । (लहंहि बोहिलाहं) ते पुरुषा बोधिलाभं सम्यगदर्शनज्ञान-चारित्रलक्षणोपलक्षिता या व्याकरण-छन्द-अलंकार-साहित्य और सिद्धान्त आदि ग्रन्थों को जानते हुए भी जिनेन्द्र देव के बचनों को श्रद्धारूप आराधना से रहित होने के कारण नरकादि दुर्गतियों में ही घूमते हैं—कभी मोक्ष प्राप्त नहीं करते ।

[जिनागम में शावकों और मुनियों की अपने अपने पद के अनुरूप अनेक प्रशस्त क्रियाओं का वर्णन किया गया है । जो लोग उन क्रियाओं का निषेध करते हैं वे जिनागम की श्रद्धा से रहित हैं और फलस्वरूप सम्यक्त्वरूपी रत्न से ज्युत हैं । ऐसे जीव तर्क-व्याकरण आदि लौकिक प्रन्थ तो दूर रहे, स्यारह अङ्गों और नी पूर्वों को भी जानते हों, तो भी सम्यक्त्व से रहित होने के कारण मिथ्यादृष्टि ही कहे जाते हैं । मिथ्या-दृष्टि जीवों का संसारपरिभ्रमण निश्चित ही है । जिनागम में सम्यक्त्व रहित नाना शास्त्रों के ज्ञान को निःसार एवं सम्यक्त्व सहित मात्र अष्ट प्रब्रह्मन-मातृका के ज्ञान को सारपूर्ण बताया गया है ।] ॥५॥

ग्रामार्थ—सम्यगदर्शन से रहित मनुष्य अच्छी तरह कठिन तपश्चरण करते हुए भी हजार करोड़ वर्षों में भी रत्नप्रयरूप बोधिको नहीं प्राप्त कर पाते हैं ॥५॥

विशेषार्थ—जो मनुष्य सम्यगदर्शन से पतित हैं वे भले ही भतिशय कठिन मासोपवास आदि विशिष्ट तपों का आचरण करते हों तो भी

बोधिस्तस्या लामं न लभन्ते । कियल्कालपर्यन्तं बोधिलाभं न लभन्ते इत्याह—
(अवि वाससहस्रकोडीहि) अग्नि वर्षसहस्रकोटिमि: वर्षसहस्रकोटिमिरपि अनन्त-
कालमपि गमयित्वा ते मुक्ति न गच्छन्तीत्पर्यः । इति ज्ञात्वा दान-पूजादिकं
व्यवहारघर्मं निश्चयघर्मे नशान्तर्गुर्व न सर्वं देवा ॥५॥

सम्मत-णण-दंसण-बल-बीरिय-बहूदमाण जे सच्चे ।

कलि-कलुसपाथरहिया वरणाणो होंति अइरेण ॥६॥

सम्यक्त्वज्ञानदर्शनबलबीर्यवर्द्धमाना ये सर्वे ।

कलिकलुषपापरहिता वरज्ञानिनो भवन्ति अचिरेण ॥६॥

(सम्मतणाणदंसणबलबीरियबहूदमाण) सम्यक्त्व-ज्ञान-दर्शन-बल-बीर्यवर्द्ध-
मानाः । (जे सच्चे) ये सर्वे भव्यजीवाः । सम्यक्त्वेन जिनवचनहचिर्लपेण, ज्ञानेन
पठन-पाठनादिना, दर्शनेन सत्तावलोकनमात्रेण, बलेन निजबीयर्द्दिनगूहनल्पेण,
बीर्येणात्मशक्त्या, ये पुरुषा वर्द्धमानाः । वर्तमाना वा वटुमाणपाठेन । ते पुरुषाः ।
(वरणाणी होंति) केवलज्ञानिनो भवन्ति । वर-न्यादेन तीर्थकारत्वं प्राप्नुवन्तीत्पर्यः ।
कदा ? (अइरेण) अचिरेण स्तोककालेन, तृतीयभवे भोक्ता यान्तीत्पर्यः । ते पुरुषाः

हजार करोड़ वर्षों में भी सम्यगदर्शन, सम्यगज्ञान और सम्यक्त्वारित्र
रूप लक्षण से युक्त बोधि को नहीं प्राप्त कर सकते हैं अर्थात् सम्यक्त्व
के बिना अनन्त काल व्यतीत करके भी मुक्ति को प्राप्त नहीं हो सकते
हैं । ऐसा ज्ञान कर निश्चय धर्म में प्रधानभूत दान-पूजा आदिक व्यवहार
घर्म का त्याग नहीं करना चाहिये ॥५॥

गायार्थ—जो समस्त भव्य जीव सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, बल और
बीर्य से निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होते हैं वे शीघ्र ही घातिया कर्मों से
रहित हो उत्कृष्ट ज्ञानी होते हैं अर्थात् केवलज्ञान प्राप्त कर तीर्थकर
होते हैं ॥६॥

विशेषार्थ—जिनवचन अर्थात् जिनागम में श्रद्धा रखना सम्यक्त्व
है । जिनागम का पठन-पाठन आदि करना ज्ञान है । पदार्थ की सामान्य
सत्ता का अवलोकन होना दर्शन है । अपनी शारीरिक शक्ति को नहीं
छिपाना बल है । और आत्मा की शक्ति को बीर्य कहते हैं । जो भव्य
बीर्य इन सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, बल और बीर्य गुणों से वर्धमान हैं अर्थात्
जिनके ये गुण निरन्तर वृद्धि को प्राप्त हो रहे हैं; अथवा 'वहूदमाण' के
स्थान पर 'वटुमाण' पाठ होने के कारण जो इन सम्यक्त्व आदि गुणों से

कथेभूताः ? (कलिकलुषपापरहिता) कलिष्य कर्मस् यानि कलुषाणि दुर्लानि पापानि
मोहनीय-शानावरणीय-दर्शनावरणीयान्तरायलक्षणानि दुरितानि, तं रहिताः—
क्षयंनोत्थातिकरणं इत्यर्थः । अथवा काली पञ्चमकाले कलुषाः कलिनः
शौचधर्मरहिताः वर्णात् लोपयित्वा यत्र तत्र भिक्षायाहिणः मांसभक्षिगृहेष्वपि
प्रासुकमन्नादिकं गृह्णन्तः कलिकलुषाः, ते च ते पापाः पापमूर्तयः इवेताम्बराभासाः
लौकायकापरनामानो म्लेच्छामशानाम्पदेष्वपि भोजनादिकं कुर्वणास्तद्वर्मरहिताः
कलिकलुषपापरहिताः श्रीमूलसंघे परमदिमम्बरा मोक्षं प्राप्नुवन्ति लौकास्तु नरकादौ
पतन्ति, देवगुरु-शास्त्रपूजादिविलोपकल्पादित्यर्थः ॥६॥

सम्मतसलिलप्रब्रह्मो णिच्चं हियए पबद्वै जस्त ।

कर्म वालुयवरणं बंधुचिन्तय णासए तस्य ॥७॥

सम्यक्त्वसलिलप्रब्रह्मो नित्यं हृदये प्रवर्तते यस्य ।

कर्म वालुकावरणं बद्धमपि नश्यति तस्य ॥८॥

युक्त हैं वे कलि अर्थात् कर्मों में अतिशय दुष्ट पाप प्रकृतिरूप मोहनीय,
शानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय इन चार चातिया कर्मों से रहित
हो शीघ्र ही अर्थात् उसी भवमें अथवा दूसरा भव देव पर्याय में व्यतीत
कर त्रुतीय भव में उत्कृष्ट ज्ञानी होते हैं अर्थात् केवलज्ञान प्राप्त कर
तीर्थंकर पद प्राप्त करते हैं ।

यहाँ संस्कृत टीकाकार श्री श्रुतसागर सूरि ने 'कलि-कलुषपापरहिताः'
इस पद का दूसरा अर्थ ऐसा किया है कि जो कलि अर्थात् पञ्चम काल
में कलुष हैं—मलिन हैं, शोचवर्म से रहित हैं, आहुणादि वर्णों का लोप
कर चाहे जहाँ भिक्षा ग्रहण करते हैं, मांसभोजी लोगों के घरों में भी
प्रासुक अन्न आदि ग्रहण करते हैं, पापरूप हैं, म्लेच्छों तथा इमशानवासी
लोगों के घर भी भोजन करते हैं तथा घर्म से रहित हैं, ऐसे इवेताम्बरा-
भास लौकायक नामधारी लौक कलिकलुषपाप कहलाते हैं । उन्हें लोड
परम दिगम्बर मुद्रा के धारी मनुष्य ही केवलज्ञानो होकर मोक्ष प्राप्त
करते हैं, किन्तु लौका देव गुरु शास्त्र की पूजा का विलोप करने के कारण
नरकादि कुरुतियों में पड़ते हैं ॥६॥

गाथार्थ—जिसके हृदय में सम्यक्त्वरूपो जल का प्रवाह निरन्तर
प्रवाहित रहता है उसका कर्मरूपी बालू का वाँध बढ़ होने पर मो नष्ट
हो जाता है ॥७॥

(सम्बन्धसलिलप्रवाहः) सम्बन्धसलिलप्रवाहः सम्बन्धसलिल निर्मल-
शीतल-सुगन्ध—सुस्वादुपानीयं संसारसंनापनिवारकत्वात् पापमलकलच्छ्रुत्रक्षालक-
त्वाच्च सम्बन्धसलिलम्, तस्य प्रवाहः प्रवाहः पूरः । (णिञ्चं हियए पद्महृषे
जस्ता) नित्यं हृदये वर्तते यस्य, जलपूरवद्वहतीत्पर्यः (कर्म वालुयकरणं) हिसादि
पञ्चपातकाणां वालुकापाली । (बंधुचित्तय) बद्धमपि । (जामाण तस्स) नव्यति
तस्य । सम्पर्यदृष्टेलेनमपि पापं 'बन्धनं न याति कीरघटे स्थितं रज इव न बन्धं
याति । 'परदेवकृतनमस्कारोऽपि पापमायाति । उक्तम्य—

‘सङ्कडारे नमस्कारे परदेवकृते सति ।

परदारेषु लक्षेषु तस्मात्पापं चतुर्गुणम् ॥

जे दंसणेसु भट्टा णाणे भट्टा चरितभट्टाय ।

एदे भट्टविभट्टा सेसं पि जणं विणासंति ॥८॥

ये दर्शनेषु भ्रष्टा जाने भ्रष्टाश्चरित्रभ्रष्टाश्च ।

एते भ्रष्टविभ्रष्टाः शोषमपि जनं विनाशयन्ति ॥९॥

विशेषार्थ——संसारहृषी संताप का निवारक तथा पापमलहृषी कलच्छ्रुत-
का प्रक्षालक होने से सम्पर्यदर्शन, निर्मल शीतल सुगन्धित और स्थादिष्ट
पानी के समान है। जिस मनुष्य के हृदय में जलपूर के समान सम्पर्यदर्शन
सदा प्रवाहित रहता है—निरन्तर विद्यमान रहता है, उसका हिसादि
पाँच पापों से उत्पन्न कर्महृषी बालू का बौध चिर काल से निबद्ध होने
पर भी नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार कोरे घड़े पर स्थित धूलि बन्धन
को प्राप्त नहीं होती है उसी प्रकार सम्पर्यदृष्टि जोव के लगा हुआ पाप
कर्म बन्ध को प्राप्त नहीं होता। परदेव को नमस्कार करना भी पाप है,
क्योंकि कहा है—सङ्कटिति—

लाख परस्त्रियों के सेवन से जो पाप होता है कुदेव को एक बार
नमस्कार करने पर उससे चौगुना पाप होता है। अर्थात् मिथ्यात्व,
हिसादि पाँच पापों की अपेक्षा, भर्यकर पाप है ॥७॥

गाथार्थ——जो मनुष्य सम्पर्यदर्शन से भ्रष्ट है, ज्ञान से भ्रष्ट है, और
चारित्र से भ्रष्ट हैं वे भ्रष्टों में विशिष्ट भ्रष्ट हैं अर्थात् अत्यन्त भ्रष्ट हैं
तथा अन्य मनुष्यों को भी भ्रष्ट कर देते हैं ॥८॥

(जे दूसणेसु भट्ठा) ये पुरुषा दर्शनेषु सम्यक्त्वेषु डिविध-प्रिविध-दर्शविषेषु अष्टाः पतिताः, अथवा दर्शने सुष्टु उष्टाः^१ । तथा (जाणे भट्ठा) अष्टविधाचारज्ञानादपि अष्टाः । (चरिसभट्ठाय) ब्रयोदशप्रकाराच्चारित्राद् अष्टाः । (एदे भट्ठविभट्ठा) एते अष्टा विशेषेण अष्टास्त्रिभष्टत्वात् । (सेसं पि जणं विणासंति) क्षेषमपि जनमअष्टमपि लोकं विणासंति विनाशयन्ति अष्टं विकुर्वन्ति ॥८॥

जो को यि धर्मसीलो संज्ञमत्वणियमजोयगुणधारी ।

तस्य य दोषं कहन्ता भग्ना भग्नत्वं दिति ॥९॥

यः कोऽपि धर्मशीलः संयमतपोनियमयोगगुणधारी ।

तस्य च दोषान् कथयन्ता भग्ना भग्नत्वं ददति ॥ ९ ॥

विशेषार्थ—निसर्गज और अधिगमज अथवा निश्चय और व्यवहार के भेद से सम्यग्दर्शन दो प्रकारका है; औपर्यामिय, सांघिक और काम्पो-पश्चात्यिक के भेद से तीन प्रकारका है; तथा आज्ञा, मार्ग, उपदेश, सूत्र, बीज, संक्षेप, विस्तार, अर्थ, अवगाढ़ और परमावगाढ़ के भेद से दश प्रकारका होता हैं। शब्दाचार, अर्थाचार, तदुभयाचार, कालाचार, उपवासाचार, विनाशाचार, अनिह्वाचार और बहुमानाचार के भेद से ज्ञान के आठ भेद हैं। पाँच महाव्रत, पाँच समिति तथा तीन गुप्ति के भेद से चारित्र के तेरह भेद हैं। जो मनुष्य उपर्युक्त भेदों से युक्त सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के विषय में अष्ट हैं अर्थात् उनसे रहित हैं वे अष्टों में अत्यन्त अष्ट हैं तथा अन्य अभष्ट मनुष्यों को भी अष्ट कर देते हैं।

तात्पर्य यह है कि जो सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय में से किसी एक दो गुणों की अपेक्षा अष्ट है वह कारण पाकर शीघ्र सुधर जाता है, पर जो तीनों की अपेक्षा अष्ट हो चुका है अर्थात् मिथ्यादृष्टि बन कर अपने लक्ष्य से च्युत हो चुका है वह स्वयं तो अष्ट हुआ ही है, साथ में रहने-वाले अन्य लोगों को भी अष्ट कर देता है ॥८॥

गाथार्थ—जो धर्मशील—धर्मके अस्यासी संयम, तप, नियम, योग और चौरासी लाल गुणों के धारो महापुरुषों के दोष कहते हैं—उनमें मिथ्या दोषों का आरोप करते हैं वे चारित्र से पतित हैं तथा दूसरों को भी पतित करते हैं ॥ ९ ॥

१. अस्तिसन् पक्षे ददते सुअष्टा इति छाया योजनीया ।

(जो को वि धर्मयोलो) यः कोऽपि धर्मशीलो धर्मे आत्मस्वरूपे उत्तमक्षमादिदशलक्षणे च धर्मे, पञ्चप्रकारे ऊदेशप्रकारे चारित्रे च प्राणिनां रक्षणलक्षणे वा धर्मे शीलमस्यासः समाविरस्यासो यस्य स धर्मशीलः । उक्तं च—

‘धर्मो वत्थुसहायो खमादिभावो य इसविहो धर्मो ।

चारित्रो खलु धर्मो जीवाणुं रक्षणं भास्मो !!

(संजमतविषयमजोयगुणधारी) सथा यः कोऽपि संयमन्तपोनियम—योग-गुण-धारी वर्तते । संयमशब्द षड्निदय-षट्प्रकारप्राणिरक्षणलक्षणः । तपश्च ग्रावण-प्रकारम् । नियमशब्द नियतकालक्षत्वारणम् । उक्तं च—

‘नियमो यमश्च विहिती द्वेषा भोगोपभोगसंहारात् ।

नियमः परिमितकालो यादज्ञीवं यमो नियते ॥

दिशेषार्थ——वस्तुस्वभाव को धर्म कहते हैं, इस लक्षण के आधार पर आत्मा की बीतराग परिणति धर्म कहलाती है। अथवा उत्तम, क्षमा, मादेव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य ये दश धर्म कहलाते हैं। अथवा चारित्र ही धर्म है, इस लक्षण के अनुसार सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथास्थापन के भेद से पाँच प्रकार का; अथवा पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति के भेद से तेरह प्रकार का चारित्र धर्म कहलाता है। अथवा जीवों की रक्षा करना धर्म है, इस लक्षण के अनुसार जीवदया को धर्म कहते हैं। इन सब लक्षणों का संग्रह करनेवाली निम्नलिखित प्राचीन गाथा प्रसिद्ध है—‘धर्मो वत्थु’ इत्यादि । वस्तु का स्वभाव धर्म है, क्षमा आदि दश धर्म हैं, चारित्र धर्म है, अथवा जीवों की रक्षा करना धर्म है। पाँच इन्द्रियों एवं मन को वश में करना तथा पाँच स्थावर और एक त्रस इस तरह छह काथ के जीवों की प्राणरक्षा करना संयम है। अनशन, ऊनोदर, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशश्यासन और कायकलेश ये छह प्रकार के बाह्य; तथा प्रायदिवत, विनय, वैद्यावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये छह प्रकार के अन्तर्ज्ञ; दोनों मिला कर बाह्य प्रकार के तप हैं। किमी निश्चित काल तक व्रत धारण करना—भोगोपभोग की वस्तुओं का त्याग करना नियम है। जैसा कि कहा गया है—

नियमो इत्यादि—भोग (एक बार भोग में आनेवाले भोजन आदि) और उपभोग (बार बार भोग में आनेवाले वस्त्र आदि) के त्याग में नियम

१. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षायाम् । २. रत्नकरण्डधारकाचारे समाप्तप्रदस्य ।

योगश्च वर्षादिकालस्थितिः । अथवात्मध्यानं योग उच्यते । उक्तं च वीर-
नन्दिक्षिण्येण पश्चानन्दिना—

‘साम्यं स्वास्थ्यं समाधिश्च योगदत्तेतोनिरोक्तम् ।

शुद्धोपयोग इत्येते भवन्त्येकार्थंवाचकाः ॥

गृणाएत्तुरषीतिलक्ष्मसंख्याः । के ते चतुरशीतिगृणा इति चेदुच्यन्ते हिंसानूत-
स्तोय-मैथुन-परिग्रह-क्रोध-मान-माया-लोभ-जुगुप्सा-भय-रत्यरतय इति व्योदय
षोडशः, मनोवचन-कायदुष्टत्वमिति षोडश, मिथ्यात्मं प्रमादः पिशुनत्वमज्ञान-
मिन्द्रियाणामनिग्रह एते: पञ्चभिर्मैलिता एकविशतिदोषा भवन्ति । तेषां त्यागा
एकविशतिगृणा भवन्ति । अतिक्रम-व्यतिक्रमातिचारानाचारत्यागेऽत्यनुभिगृणित-

और यम ये दो विधियाँ बतलाई गई हैं । जो किसी निश्चित समय तक
त्याग होता है उसे नियम कहते हैं और जीवन पर्यन्त के लिये जो धारण
किया जाता है उसे यम कहते हैं ।

योग का अर्थ—वर्षयोग—वर्षा ऋतु में वृक्षों के नीचे बैठकर आत्मा
का ध्यान करना, शिविरयोग—शीत ऋतु में खुले मैदान अथवा नदियों
के बिनारे बैठकर ध्यान करना, अथवा ग्रीष्मयोग—गर्मि में पर्वत की
चट्टानों पर बैठकर ध्यान करना; ये तीन योग कहलाते हैं । अथवा
(आत्मध्यान को योग कहते हैं) जैसा कि बोरनन्दो के शिष्य पद्मनन्दी ने
कहा है—

साम्य, स्वास्थ्य, समाधि, योग, देतोनिरोब और शुद्धोपयोग ये एकार्थ-
वाचक शब्द हैं ॥

गुण चौरासी लाख होते हैं जो इस प्रकार हैं—हिंसा, असत्य, चोरो,
मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, जुगुप्सा, भय, रति और अरति;
ये तेरह दोष हैं । इन तेरह में मनोदुष्टता, वचनदुष्टता और कायदुष्टता
ये तीन दोष मिला देने से सोलह दोष होते हैं । इन सोलह में मिथ्यात्म,
प्रमाद, पिशुनता—चुगलो, अज्ञान और इन्द्रियों का निग्रह नहीं करना ये
पाँच मिला देने से इक्कीस दोष होते हैं । इन इक्कीस दोषों का त्याग
करना इक्कीस गुण हैं । वह त्याग अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और
अनाचार के त्याग से चार प्रकार का होता है । अतः उन इक्कीस में चार
का गुण करने पर चौरासी (८४) भेद होते हैं । इन चौरासी में पुणिवी-

१. एकत्रसंपत्ताती परमम्भावात्मनः ।

स्वतुरशीतिगुणा भवन्ति । ते पृथिव्यादिषतजीवसमासेनुग्णितास्वतुरशीतिशतानि
गुणा भवन्ति । ते दशशीलविराधनेनुग्णितास्वतुरशीतिसहकाणि गुणा भवन्ति ।
कास्ताः शीलविराधनाः ? (स्त्रीसंसर्गः १, सरसाहारः २, सुगन्धसंस्कारः ३,
कोमलशयनासनं ४, शरीरमण्डनं ५, गीत-वादित्रश्रवणं ६, अर्थग्रहणम् ७,
कुशीलसंसर्गः ८, राजसेवा ९, रात्रिसंचरणम् १०, इति दश शीलविराधनाः) । ते
आकमितादिदशालोचनादोषत्यागैर्दशभिग्नुग्णिताः चत्वारिंशतसहकाणिकाष्टलकाणि
गुणा भवन्ति । उत्तमक्षमादिदशधर्मगुणितास्वतुरशीतिलकाणि गुणा भवन्ति ।
अशासिकमाद्यस्वत्वारः के ? 'अतिक्रमस्तावविशिष्टमतित्यागः । अ्यतिक्रमः
शीलबृतिलङ्घनम् । अतिचारो विषयेषु प्रवर्तनम् । अनाचारो विषयेष्वत्यासन्तिः ।
के ते दशालोचनादोषाः ? तदर्थं निरूपिका गाथेयम्—

‘आकमिति अणुमाणित जं दिदुं बादरं च सुहृमं च ।

छन्नं सहाउलयं बहुणगमव्यत्त तस्मैवी ॥

अस्या अयमर्थः—आकमिति—आकमिति भर्यमन्पद्मते मा चक्षुष्णं बासीदाचार्यः

कायिकादि सौ जीवसमासों का गुणा करने पर ₹४०० गुण होते हैं । इनमें
शील की दश विराधनाओं का गुण करने पर ₹४००० गुण होते हैं ।
इनमें आकमिति आदि आलोचना के दश दोषों के त्याग का गुणा करने
से ₹४०००० आठ लाख चालीस हजार गुण होते हैं और इनमें उत्तम
क्षमा आदि दश धर्मों का गुणा करने पर ₹४००००० चौरासी लाख गुण
होते हैं ।

स्त्रीसंसर्गं १ सरसाहार २ सुगन्धसंस्कार ३ कोमलशयनासनं ४
शरीरमण्डन ५ गीत-वादित्रश्रवण ६ अर्थग्रहण ७ कुशीलसंसर्गं ८ राजसेवा
९ और रात्रिसंचरण १० । ये शील की दश विराधनाएँ हैं ।

विशिष्ट बुद्धि अर्थात् मानसिक शुद्धि का त्याग करना अतिक्रम है ।
शील रूपी बाढ़ का उल्लंघन करना अ्यतिक्रम है । विषयों में प्रवृत्ति
करना अतिचार है । और विषयों में अत्यन्त आसक्त हो जाना अना-
चार है ।

आलोचना के दश दोषों का निरूपण इस गाथा में किया गया है—

१. कर्ति मनःशुद्धिविषेरस्तिक्रम अ्यतिक्रमं शीलबृत्तेविलङ्घनम् ।

प्रभोऽस्तिचारं विषयेषु वर्तनं वदत्पनाचारमिहारिस्तत्त्वम् ॥१॥

—हार्षितिकायाम् अमितगतेः ।

२. मूलाराधनायां शिवकोट्याचर्यस्य ।

१, (अणुमाणिर्य) अनुभानं इत्येतावस्थाप॑ कृतं भविष्यति निदृश्यो नास्ति २, (अ-
विदुः) यत्केनचिद् दृष्टं तत्रकाशयति ३, (बादरं) स्थूलं पापं प्रकाशयति ४,
(सुहृष्म) अत्यं पापं कथयति, न महापापं प्रकाशयति ५, (छण्णं) प्रच्छन्नं
आचार्यग्रे कथयति, न प्रकटं ६, (सद्गुरुलय) संधादिकृतकोलाहुले सति कथयति
पापम् ७, (बहुजण्णं) बहुः सङ्ग्वी मिलति तदा पापं प्रकाशयति ८, (अव्यर्तं)
अव्यक्तं प्रकाशयति लकुटं न कथयति ९, (तस्मेवी) यत्कापं प्रकाशितं तत्रेव
पुनरपि करोति १०, इति दशालोचनादोषाः । दश कायसंयमाः के ? पञ्चेन्द्रिय-
निर्जयः पञ्चप्राणरक्षा इति दश । एतान् संयमन्तपोनियम-योग-गुणान् धरतीस्येव-

आकृपित इत्यादि—(१) गुरु के सम्मुख दोष प्रकट करने के पूर्व इस
बात का भय उत्पन्न होता कि कहीं आचार्य अधिक दण्ड न देवें अथवा
ऐसी मुद्रा बना कर दोष कहना कि जिससे शिष्य की दयनीय अवस्था
देख कर आचार्य कड़ा दण्ड न दे सकें । (२) दूसरे के द्वारा अनुभानित—
संभावना में आये हुए पाप का निवेदन करना । (३) जो दोष किसी ने
देख लिया हो उसी की आलोचना करना, बिना देखे दोष को आलोचना
नहीं करना । (४) स्थूल दोष की आलोचना करना, सूक्ष्म दोष की नहीं ।
साथ ही यह भावना रखना कि जब यह स्थूल—बड़े दोष नहीं छिपाता
तो सूक्ष्म दोष क्या छिपावेगा ? (५) सूक्ष्म दोष की आलोचना करना,
स्थूल की नहीं; और साथ ही ऐसा अभिप्राय रखना कि जब यह सूक्ष्म
दोषों को नहीं छिपाता तो बड़े दोषों को क्यों छिपावेगा ? (६) आचार्य
के आगे अपराध को स्वयं प्रकट नहीं करना । (७) संघ आदि के द्वारा
किये हुए कोलाहुल के समय अपने दोष प्रकट करना । (८) जिस समय
पाकिक-चातुर्मासिक आदि प्रतिक्रमणों के समय संघ के समस्त साधु
अपने अपने दोष प्रकट कर रहे हों उसी समय कोलाहुल में अपने दोष
प्रगट करना (९) अव्यक्त रूप से अपराध कहना अर्थात् स्वयं मुझसे यह
अपराध हुआ है, ऐसा न कह कर कहना कि भगवन् ! यदि किसी से
अमुक अपराध हो जाय तो उसका क्या प्रायशिच्छत्त होगा; इस तरह
अव्यक्त रूप से अपराध प्रकट कर प्रायशिच्छत लेना । (१०) और जिस
पाप को गुरु के सम्मुख प्रकट कर प्रायशिच्छत लिया है उस अपराध को
पुनः पुनः करना अथवा जो अपराध हुआ है उसो अपराध को करनेवाले

१. ऋषावरस्तु 'समात्स्वेवितं लंसी' । आत्मसदुशात्पादवैत्यात् यत्प्रायशिच्छत्-
प्रहृणं तत् तत्सेवितम्—इत्याहु ।

अवश्वं संयम-तपोनियम—योग-गुणधारी । (तस्य य दोस कहूता) तस्य च
दोषान् कथयतः आरोपयन्तः केचित्स्वापिष्ठः । (भग्ना भग्नतां विति) स्वयं

आचार्य से प्रायश्चित लेना और साथ ही यह अभिप्राय रखना कि जब
आचार्य स्वयं यह अपराध करते हैं तो दूसरे को दण्ड क्या देवेंगे ?

स्पृशन्, रसना, ध्वाण, चक्षु और कण्ठ इन पाँच इन्द्रियों को जोतना
तथा एकेन्द्रिय, द्विन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरन्द्रिय और पञ्चन्द्रिय इन पाँप,
प्रकार के जोबों की प्राणरक्षा करना; दश प्रकार का कायसंयम है ।

इस प्रकार जो कोई आत्मस्वभाव, उत्तम क्रमादि दशलक्षण, पाँच
अध्या तेरह प्रकार के चारित्र, अथवा प्राणिरक्षणरूप धर्म का निरन्तर
अभ्यास करता है, बारह प्रकार का संयम, बारह प्रकार का तप, यम
और नियम स्वरूप भोगोपभोग का परिमाण, वर्षादियोग अथवा आत्मध्यान
रूप शोग तथा चौरासी लक्ष उत्तरभुणों को धारण करता हुआ निर्दोष
चारित्र पालता है फिर भी मात्सर्यवश उसे यदि कोई दोष लगते हैं—
उसकी निन्दा करते हैं—तो वे चारित्र से स्वयं भ्रष्ट हैं और दूसरे लोगों
को भी चारित्र से भ्रष्ट कर देते हैं ।

[उपगृहन अङ्ग की रक्षा करता हुआ सम्यग्दृष्टि जीव जब किसी के
विकामान दोषों को भी नहीं कहना चाहता तब अविकामान—कलिपत
दोषों को कैसे कहेगा ? किसी के दोष कहने के पहले यदि मनुष्य आत्म-
निरोक्षण कर ले अर्थात् यह दोष मुक्तमें तो नहीं हैं, इस प्रकार का चिन्तन
कर ले तो उसकी परदोष कथन की प्रवृत्ति सहज ही छूट सकती है ।
आज दूसरे के दोष कहनेवाले मनुष्य अपनी ओर तो देखते ही नहीं हैं
मात्र दूसरे के ही दोष देखा करते हैं । आचार्य समन्ताभद्र ने ऐसे लोगों के
विषय में कितना अच्छा कहा है—

ये परस्तलितोनिङ्ग्रामः स्वदोषेभनिमीलिनः ।

तपस्विनस्ते किं कुमुरपात्रं त्वन्मत्तिष्यः ॥

अर्थात् जो दूसरों के छोटे छोटे से दोष छूँडने में सदा जागृत रहते हैं
और अपने हाथी जैसे बड़े बड़े दोषों के प्रति नेत्र बन्द कर लेते हैं वे
मोक्ष-मार्ग में क्या कर सकते हैं ? हे भगवन् ! ये आपके मत-वर्णको

यमाह्यारितात् पतिता भ्रष्टा अन्येषामपि भ्रष्टत्वमारोपयन्ति, ते निन्दतीया
इत्यर्थः ॥९॥

जह मूलमिम विणद्वे दुमस्त स परिवार णत्वं परिवद्धी ।

तह जिणदंसणभट्टा मूलविणद्वा ण सिङ्गांति ॥१०॥

यथा मूले विनष्टे दुमस्त स परिवारस्य नास्ति परिवद्धिः ।

तथा जिनदर्शनभ्रष्टा मूलविणद्वा न सिव्यन्ति ॥१०॥

(जह मूलमिम विणद्वे दुमस्त स परिवार णत्वं परिवद्धी) यथा मूले 'पाताले गतधारे विनष्टे विनाशो प्राप्ते दुमस्त वृक्षस्य परिवारस्य नास्ति परिवद्धिः शास्त्र-पञ्च-पूज्य-फलादेवृद्धिनास्ति वृद्धिनं सर्वतः । परिवार इत्यत्र वष्टोलुकु "लुकचेति" वचनात् । दृष्टान्तं दत्या दाष्टान्तं ददाति । (तह जिणदंसणभट्टा) तथा तेन दुममूलप्रकारेण जिनदर्शनभ्रष्टा आहंतभतात्पतिताः । (मूलविणद्वा) श्रीमूलसङ्कृत प्रश्नाः । (ण सिङ्गांति) न सिद्धधन्ति न मोक्षं प्राप्नुवन्ति—बन्मणसाहृद्देवयि संसारे परिभ्रमस्तीति भावर्थः ॥१०॥

लक्ष्मी के अपात्र हैं । जैनधर्म का अंश भी उनकी आत्मा में जागृत नहीं हुआ है ।] ॥९॥

✓ शास्त्रार्थ—जिस प्रकार जड़ के नष्ट हो जाने पर वृक्ष के परिवार की वृद्धि नहीं होती [उसी प्रकार सम्बद्धत्व के नष्ट हो जाने पर चार्सन्प-खण्डी वृक्ष की वृद्धि नहीं होती] । जो मनुष्य जिनदर्शन—अर्हन्त भगवान् के मत से भ्रष्ट हैं वे मूलविणष्ट हैं अर्थात् जड़ रहित हैं—सम्यग्दर्शन से शून्य हैं और ऐसे लोग मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते ॥१०॥

विद्वाशार्थ—पाताल—बहुत यहराई तक नीचे फैली हुई जड़ ही वृक्ष की वृद्धि का कारण है । उसके नष्ट हो जाने पर जिस प्रकार वृक्ष में न नई नई शास्त्राएँ निकलती हैं; न पत्ते, फूल, फल आदि की वृद्धि होती है उसी प्रकार जिनदर्शन-जिनमत अथवा जिनेन्द्र देव की गाढ़ अद्वा ही धर्म का जड़ है । जो मनुष्य इससे भ्रष्ट है—पतित है वे मूल से नष्ट हैं—जड़ रहित हैं । ऐसे जीव सिद्ध अवस्था को प्राप्त नहीं हो सकते—लाखों जन्मों तक संसार में ही भ्रमण करते रहते हैं । संस्कृत टीकाकार ने मूल का अर्थ मूलसंघ करते हुए लिखा है कि जो मूलसंघ से छ्युत हैं अर्थात् मूलसंघ की आभ्याय से भ्रष्ट होकर नये नये पन्थ चलाते हैं वे मोक्ष को प्राप्त नहीं होते, इसी संसार में लाखों जन्मों तक भटकते रहते हैं ॥१०॥

जह मूलाओं संघो साहापरिवार बहुगुणो होई ।
तह जिणदंसणमूलो णिदिद्वू भोक्षमगस्स ॥११॥

यथा मूलात् स्कन्धः शासापरिवारो बहुगुणो भवति ।

तथा जिनदर्शनं मूलं निदिष्टं मोक्षमार्गस्य ॥११॥

(जह मूलाओ) यथा मूलाद् वृक्षमूलात् कारणात् । (संघो) स्कन्धः शासापरिवारः । (बहुगुणो होइ) ब्रह्मगुणो वृद्धधात्रितिशयवान् भवति । तथा (साहापरिवार) शासापरिवारस्य लकास्त्रबलपी कटप्रश्व बहुगुणो भवति पश्च-पुष्प-फलादिभान् भवति । वृष्टात्मो गतः । इदानीं दाष्टन्तमाह—(तह मूलो णिदिद्वू भोक्षमगस्स) तथा तेनैव वृक्षमूलप्रकारेणैव मोक्षमार्गस्य मूलं सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रलक्षणस्य मोक्षमार्गस्य मूलं कारणम्, (जिणदंसण) जिनदर्शनं मूलं निदिष्टं श्रीगौतमस्वामिना कथितम् । श्रीमूलसंघो मोक्षमार्गस्य मूलं कथितम्, न तु जैनाभासादिकम् । कि तत् ? पञ्चते जैनाभासाः—

गोपुच्छिकः एवेत्वासा द्राविडो यापनीयकः ।

निष्पिञ्चलक्ष्मेति पञ्चते जैनाभासाः प्रकीर्तिताः ॥

ते जैनाभासा आहारदासादिकेऽपि योग्या न अवृत्ति । रुद्रं मोक्षस्य योग्या भवति ? गोपुच्छिकानां मतं यथा, उक्तस्य—

गाथार्थ—जिस प्रकार मूल अथात् जड़ से वृक्ष का स्कन्ध और शाखाओं का परिवार वृद्धि आदि अतिशय से युक्त होता है उसी प्रकार जिनदर्शन-आर्हत मत अथवा जिनेन्द्र देव का प्रगाढ़ श्रद्धान मोक्षमार्ग का मूल कहा गया है । इस जिनदर्शन से ही मोक्षमार्ग वृद्धि को प्राप्त होता है ॥११॥

विजेतार्थ—जिस प्रकार मूल से वृक्ष का तना वृद्धि को प्राप्त होता है और मूल से ही वृक्ष की शाखाओं और उपशाखाओं का समूह पत्र, पुष्प तथा फल आदि से युक्त होता है उसी प्रकार जिनदर्शन ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूपी मोक्षमार्ग का मूल कारण है—इसी से मोक्षमार्ग वृद्धि को प्राप्त होता है, ऐसा श्री गौतम स्वामी ने कहा है ।

संस्कृत टोकाकार ने मूलसंघ को मोक्षमार्ग का मूल कहा है तथा अन्य जैनाभासों का निषेध किया है । के जैनाभास कौन है ? इस प्रश्न

१. वृक्षस्य मूलात् म० ।

२. कि तज्जैनाभासं ? उक्तस्य म० ।

‘इत्थीणं पुण दिवसा खुल्लयलोयस्स वीरजरियत् ।

कवकसकेसगगहर्णं छट्टं च गुणम्बदं जाम् !!

श्वेताम्बरासः सर्वत्र भोजनं गृह्णन्ति प्रात्मुकम्, मांसभक्षिणां गृहे दोषो नास्तीति विणांलोपः इतः । तत्पूज्ये श्वेताम्बराभासा उत्पन्नास्ते त्वतोव पापिष्ठाः देवपूजा-विकं किल पापकमेवभिति कथयन्ति, मण्डलवत्सवंत्र भाष्णप्रक्षालनोद्बकं पित्रन्ति । इत्यादिवहुदीप्तवत्तः । (द्राविडः) सावधं प्रात्मुकं च न मन्यन्ते, उद्भभोजनं पिराकुर्वन्ति । यापनीयासु वेसरा गदंभा इवोभवं मन्यन्ते, रत्नश्च पूजयन्ति, कल्पं च बाचयन्ति; स्त्रीणां तदमवे मोक्षम्, केवलिजिनानां कवलाहारम्, परशासने

का उत्तर देते हुए उन्होंने 'गोपुच्छिक'-गोपुच्छिक, श्वेताम्बर, द्राविड, यापनीयक और निष्पिच्छु; इन पाँच को जैनाभास कहा है । ये जैनाभास आहारदान आदि के भी योग्य नहीं हैं, फिर मोक्ष के योग्य कैसे हो सकते हैं? गोपुच्छिकों के मत का दिवदर्शन करते हुए उन्होंने निम्न गाथा उद्धृत की है—

इत्थीणं—स्त्रियों को दीक्षा दी जाती है, खुल्लक लोग भी वीरचर्या करते हैं, कड़े केशों की ग्रहण किया जाता है, और छठबाँ गुणवत होता है ॥

श्वेताम्बरों की समीक्षा करते हुए कहा है कि श्वेताम्बर सब जगह प्रात्मुक भोजन ग्रहण करते हैं । 'मांसभक्षियों के घर में भी भोजन करने में दोष नहीं है' ऐसा कह कर श्वेताम्बरों ने वर्णव्यवस्था का लोप किया है । उन्हों श्वेताम्बरों में श्वेताम्बराभास उत्पन्न हुए हैं । वे अत्यन्त पापी हैं । वे देवपूजा आदि पापकार्य हैं, ऐसा कहते हैं तथा इवान के समान सर्वत्र सब घरों में बर्तन धोने का पानी पीते हैं, इत्यादि अनेक दोषों से युक्त हैं ।

द्राविड़ों की समीक्षा में उन्होंने लिखा है कि वे सचित्त और अचित्त के भेद को नहीं मानते हैं तथा खड़े होकर भोजन करने का निषेध करते हैं ।

यापनीयों की समीक्षा में लिखा है कि यापनीय खच्चरों के समान दोनों को मानते हैं । वे रत्नश्च की पूजा करते हैं, कल्प का बाचन करते

[१. दर्शनसारे ।

२. वेसरा इवोभवं म० ।

सम्बन्धानां मोक्षं च कथयन्ति । निष्पिञ्जिका मयूरपिच्छादिकं न मन्यन्ते । उक्तं
च ढाढ़सीगाथासु—

पिञ्जे ण हु समरां करणहिए मोरचमरडदरये ।

अप्या तारह अप्या तम्हा अप्या वि गायब्बे ॥

तथा च सिवपटमतम्—

सेयबरो य बासंबरो य बुङो य तह य अणो य ।

समभावभावियप्या लहेय मोक्षं ण संवेहो ॥

जैमिनि—कपिल—कण्ठर—चार्वाक—शाक्य—मतानि तु प्रमेयकमलमातृष्णादिशा-
स्त्रात् ज्ञात्वानि ॥११॥

✓ जे दंसणेसु भट्टा पाए ण पर्हति दंसणधराणं ।

ते हुंसि लहत—गूँगर वोही दुण डुल्लहा तेसि ॥१२॥

ये दशनिषु भ्रष्टाः पादे न पलन्ति दर्शनधराणाम् ।

ते भवन्ति लल्लमूका बोधिः पुन्दुल्लभा तेषाम् ॥१३॥

हैं, स्त्रियों को उसी भव में मोक्ष होता है, केवली भगवान् कबलाहार करते हैं तथा अन्य मत में परिप्रही मनुष्यों को मोक्ष होता है, ऐसा कहते हैं।

निष्पिञ्जिकों की आलोचना करते हुए कहा है कि निष्पिञ्जिक लोग मयूरपिच्छ आदि को नहीं मानते। जैसा कि ढाढ़सी गाथाओं में कहा गया है—

पिञ्जे—हाथ में लिये हुए मयूरपिच्छ अथवा सुरा गायके बालों में सम्यक्त्व नहीं है। आत्मा ही जीव को तार सकता है, इसलिये आत्मा का ही व्यान करना चाहिये ॥

सेयबरो—प्रवेताम्बर हो चाहे दिगम्बर, बुद्ध हो चाहे अन्य धर्मविलम्बी, जिसकी आत्मा समभाव—साध्यस्य भाव—से विभूषित है वह मोक्ष को प्राप्त होता है, इसमें संदेह नहीं है।

जैमिनि, सांख्य, कणाद, चार्वाक और बौद्धों के मत प्रमेयकमलमातृष्ण आदि शास्त्रों से जानना चाहिये ॥११॥

गाथाम्—जो सम्यगदर्शन से भ्रष्ट होकर सम्परदूषियों के चरणों में नहीं पड़ते हैं—उन्हें नमस्कार नहीं करते हैं—वे अव्यक्तभाषी अथवा गूँगी होते हैं तथा उन्हें रत्नत्रय की प्राप्ति दुर्लभ रहती है ॥१२॥

(जे दंसणेषु भट्टा) ये पुरुषा वर्णनेषु छट्टा निसर्गजाधिगमजलक्षणाद् द्विविभात् सम्यग्दर्शनात्, औपशमिक-वेदक-क्षायिकलक्षणात् त्रिविषात्सम्प्रक्षरत्नालक्ष्यताः ।

विद्वावार्थ—उत्पत्ति की अपेक्षा सम्यग्दर्शन के दो भेद हैं—निसर्गज और अधिगमज । पूर्वभव के संस्कार के कारण जो सम्यग्दर्शन स्वयं हो जाता है उसे निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं और जो पर के उपशम से होता है उसे अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं ।

अन्तरङ्ग कारण की प्रधानता से सम्यग्दर्शन के तीन भेद हैं—
 १. औपशमिक, २. वेदक (क्षायोपशमिक) और ३. क्षायिक । मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यकत्व प्रकृति तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ इन सात प्रकृतियों के उपशम से जो सम्यकत्व होता है उसे औपशमिक सम्यग्दर्शन कहते हैं । यदि यह सम्यग्दर्शन अनादि मिथ्यादृष्टि के होता है तो मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ इन पाँच प्रकृतियों के ही उपशम से होता है, क्योंकि अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यकत्व प्रकृति की सत्ता नहीं रहती और सत्ता न रहने का कारण यह है कि दर्शनमोहकी मिथ्यात्व आदि तीन प्रकृतियों में से केवल मिथ्यात्व प्रकृति का ही बन्ध होता है, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यकत्व प्रकृति का नहीं । सम्यग्दर्शन के हो जाने पर उसके प्रभाव से मिथ्यात्व प्रकृति के तीन खण्ड होते हैं—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यकत्व प्रकृति । सादि मिथ्यादृष्टि जीव के ही सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यकत्व प्रकृति की सत्ता रहती है, अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के नहीं । सादि मिथ्यादृष्टि जीव के भी मिथ्यादृष्टि अवस्था में अधिक काल तक रहने पर संक्रमण आदि के हो जाने से सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यकत्व-प्रकृति की सत्ता समाप्त हो जाती है, अतः [सादि मिथ्यादृष्टि जीव के पाँच या सात प्रकृतियों के उपशम से सम्यग्दर्शन होता है]

[मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ हन छह सर्वधाती प्रकृतियों के वर्तमान काल में उदय आनेवाले निषेकों का उदयाभावी क्षय तथा उन्हों के आगामी काल में उदय आनेवाले निषेकों का सद्वस्थारूप उपशम और सम्यकत्व प्रकृति नामक देश-धाति प्रकृति का उदय होने पर जो तत्त्वशब्दान होता है उसे क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन कहते हैं । सम्यकत्व प्रकृति के उदय का वेदन—

'आजासमागंसमुद्भवमुपदेशात्सूत्रबोधसंक्षेपात् ।
विस्तारायाद्याभ्यां भवमव-परमावादिगाढे च ॥
इत्यायकिषिष्टदशविधसम्यक्त्व-रत्नात्पतिताः । अस्या आयर्ण्या अथसर्वे—
३१४४ सूक्ष्मं जिनोदितं वाक्यं हेतुभिन्नैव हृच्यते ।
अंशासम्यक्त्वमित्याद्बृन्नियावादिनो जिनाः ॥'

एवं जिन—सर्वश—बीतरागवचनमेव प्रमाणं क्रियते तदाजासम्यक्त्वं कथ्यते (१) । निर्णयलक्षणो मोक्षमार्गं न वस्त्रादिवेषितः पुमान् कदाचिदपि मोक्षं प्राप्त्यति, एवंविधो मनोभिप्राप्तो निर्णयलक्षणो मोक्षमार्गं लृचिमार्गसम्यक्त्वं

अनुभवत करने की अपेक्षा इसो क्षायोपशमिक सम्यगदर्शन को वेदक सम्यगदर्शन भी कहते हैं । यह सम्यगदर्शन सादि मिथ्यादृष्टि के हो होता है, अनादि मिथ्यादृष्टि के नहीं ।

मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति तथा अनन्तानुबन्धी कोध-मान-माया-लोभ इन सात प्रकृतियों के क्षय से जो तत्त्वश्रद्धान होता है उसे क्षायिक सम्यगदर्शन कहते हैं । यह केवली या श्रुतकेवली के सन्ति-धान में होता है अथवा स्वयं की श्रुतकेवली अवस्था होने पर होता है । इसका माहात्म्य सर्वोपरि है, यह होकर कभी नहीं छूटता । इसकी उत्पत्ति कर्मभूमि के मनुष्य के ही होती है । इस सम्यक्त्व का वारक जीव चार भव से अधिक भव धारण नहीं करता है ।

✓ बाह्य निमित्त की प्रधानता से सम्यगदर्शन के दस भेद होते हैं—

आजासमार्ग इत्यादि—१. आजासमुद्भव, २. मागंसमुद्भव, ३. उपदेश-समुद्भव, ४. सूत्रसमुद्भव, ५. बीजसमुद्भव, ६. संक्षेपसमुद्भव, ७. विस्तारसमुद्भव, ८. अर्थसमुद्भव, ९. अवगाढ और १० परमावगाढ । इनका स्वरूप निम्न प्रकार हैं—

'सूक्ष्मं—जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहा हुआ सूक्ष्म वाक्य हेतुओ द्वारा खण्डित नहीं होता, ऐसा श्रद्धान करना आज्ञा-सम्यक्त्व है; क्योंकि जिनेन्द्र भगवान् अन्यथा कथन नहीं करते ॥

मोक्षमार्ग निर्णयलक्षण है, वस्त्रादि से वेषित पुरुष कभी मोक्ष को

१. आत्मानुशासने गुणसङ्कार्यस्य ।

२. यही श्लोक अन्यत्र इस प्रकार उपलब्ध होता है—

सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं हेतुभिन्नैव हृच्यते ।

बाजासावेण तद् ग्राह्यं नात्यावादिनो जिनाः ॥

विद्युयमुच्यते (२)। विष्णुलक्षणमहापुराणसमाकर्णनेत् बोधि-समाधि-प्रदान-कारणेन यदुत्पन्नं श्रद्धान् तदुपदेशानामकं सम्यग्दर्शनं भव्यते (३)। मुनीनामाचारसूत्रं मूलाचारशास्त्रं श्रुत्वा यदुत्पद्यते तत्सूत्रसम्यक्त्वं कव्यते (४)। उपलभित्वशब्दं दुर-भिन्निवेशविष्वं सान्तिरूपमोषशास्त्रन्तरकारणादिकातदुव्यस्थेयजीवादिपदार्थबीजं भूतशास्त्राशदुत्पद्यते तद् बीजसम्यक्त्वं प्रस्त॑प्ते (५)। तत्त्वार्थसूत्रादिसिद्धान्त-निरूपितजीवादिभ्यानुयोगद्वारेण पदार्थान् संक्षेपेण ज्ञात्वा रुचि चकार यः संक्षेपसम्यक्त्वः पुमानुच्यते (६)। द्वादशाङ्गश्रवणेन यज्ञायते तदिस्तारसम्यक्त्वं प्रतिपाद्यते (७)। अङ्गशास्त्रश्रुतोक्तात् कुतस्त्रिवद्यदिङ्गशास्त्रश्रुतं विनापि यत्प्रभवति सत्सम्यक्त्वमर्थसम्यक्त्वं निराशते (८)। अङ्गान्यङ्गशास्त्रानि च शास्त्राण्य-धीर्थं यदुत्पद्यते सम्यक्त्वं तदवगाढ़मुच्यते (९)। यत्केवलज्ञानेनाथनिवलोक्य

प्राप्त नहीं होगा; ऐसा मन का अभिप्राय रखते हुए निर्गन्त्यलक्षण मोक्ष-मार्ग में रुचि रखना सो दूसरा मार्ग—सम्यक्त्व कहा जाता है।

रत्नब्रय एवं आत्मध्यान को प्रदान करनेवाले त्रेशठ शालाकापूरुष सम्बन्धी महापुराण के सुनने से जो श्रद्धान् उत्पन्न होता है वह उपदेश नाम का सम्यग्दर्शन कहा जाता है।

मुनियों के बाचार का निरूपण करनेवाले मूलाचार आदि शास्त्रों को सुन कर जो श्रद्धान् उत्पन्न होता है वह सूत्र-सम्यक्त्व कहा जाता है।

काललभिध वश मिथ्या अभिप्राय के नष्ट होने पर, दर्शनमोह के असाधारण उपशाम रूप आभ्यन्तर कारण से कठिनाई से व्याख्यान करने योग्य जीवादि पदार्थों के बीजभूत शास्त्र से जो उत्पन्न होता है वह बीज-सम्यक्त्व कहलाता है।

तत्त्वार्थसूत्र आदि सिद्धान्त ग्रन्थों में निरूपित जीवादि द्रव्यों के प्रस्त॑पक अनुयोग के द्वारा संक्षेप से पदार्थों को जान कर जो श्रद्धा करता है वह संक्षेप-सम्यक्त्व का धारक, पुरुष कहा जाता है।

द्वादशाङ्ग के सुनने से जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है वह विस्तार-सम्यक्त्व कहलाता है।

अङ्गप्रविष्ट और अङ्गशास्त्र श्रुत के बिना ही अङ्गशास्त्र श्रुत में कहे हुए किसी पदार्थ से जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है वह अर्थ-सम्यक्त्व कहलाता है।

अङ्ग और अङ्गशास्त्र शास्त्रों को पढ़ कर जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है वह अवगाढ़-सम्यदर्शन कहलाता है।

सद्वृष्टिमन्तव्यि तत्त्वं परमाकाशप्रस्थकर्त्ता कथयते (१०) तथा जीक्षा गुणभद्रेण
गणिना—

‘आकाशसम्यक्त्वमूकर्त्ता मदुत्त विश्वितं वीतरागाक्षयेव
त्यक्तश्चत्प्रस्थप्रपञ्चं शिवममृतपर्वं शद्वधममोहकान्ते ।
मार्गार्थदानमाहुः पुरुषवरपुराणोपदेशोपजाता
या संज्ञानागमालिङ्गप्रसुतिभिरुपदेशादिरावेशि दृष्टिः ॥१॥
‘वाक्पूर्वचित्तारसूत्रं’ मुनिचरणविधेः मृच्छनं शद्वधानः
सूक्ष्मासौ सूत्रदृष्टिदुर्बिगमगतेरर्थसार्थस्य वीजैः ।
कैदित्वज्जातोपलब्धेरसमशमवकाद् बोज दृष्टिः पदार्थान्
संक्षेपेणव दुष्कृता रुचिमृपगतवान् साधु संक्षेपदृष्टिः ॥२॥

केवलज्ञान के द्वारा समस्त पदार्थों को देख कर जो श्रद्धान होता है वह परमाकाश-सम्यक्त्व कहलाता है ।

जैसा कि गुणभद्राचार्य गणी ने कहा है—

आकाशसम्यक्त्व—दर्शनमोह के उपशान्त होने से ग्रन्थश्वरण के बिना मात्र वीतराग भवनात् की आक्षा से ही जो तत्त्वश्रद्धान होता है वह आकाश-सम्यक्त्व है । दर्शनमोह का उपशम होने से ग्रन्थविस्तार के बिना ही कल्याणकारी मोक्षमार्ग का जो श्रद्धान होता है उसे मार्ग-सम्यक्त्व कहते हैं । त्रेशठ शालकापुरुषों के पुराण के उपदेश से जो उत्पन्न होता है उसे सम्यग्ज्ञान उत्पन्न करनेवाले आगमरूपी समुद्र में अवगाहन करनेवाले गणघर देव ने उपदेश-सम्यक्त्व कहा है ॥

आकाशचित्तार—मुनियों के आरित्र की विधिको सूचित करनेवाले आचारसूत्र को सुन कर जो तत्त्वश्रद्धान करता है वह सूत्र-सम्यग्दृष्टि है । जिसका जानना अतिशय कठिन है ऐसे पदार्थसमूह को किन्हीं बीजपदों से जाननेवाले अव्य पुरुष को दर्शनमोह के असाधारण उपशम से जो तत्त्वश्रद्धान होता है वह बोज-सम्यग्दर्शन है । जो पुरुष संक्षेप से ही पदार्थों को जानकर अच्छी तरह श्रद्धा को प्राप्त हुआ है वह संक्षेप-दृष्टि पुरुष है ॥

१. आत्मानुषासने एलोकर्संख्या १२.

२. आत्मानुषासने एलोकर्संख्या १३.

यः अुत्ता द्वादशाङ्गी कृतरुचिरव तं विदि विस्तारदृष्टि
संज्ञाताथस्तुतदिचत्प्रवचनवचनान्यन्तरेणाथेदृष्टिः ।

दृष्टिः साङ्गाङ्गाह्यप्रवचनमवगाह्योत्थिता यावगाहा
केवल्यालोकितायै रुचिरिह परमावादिगाढेति रुदा ॥११॥

इदृशदर्शनेषु ऋष्टास्त्पक्तमयूरपिच्छ-कमण्डलु-परमागमपुस्तकाः सन्तो गृहस्थ-
वेषघारिणः संयमवराणां संयमिमां सद्दृढीनाम् । (पाए न पठति) पादे चरण-
युग्मे न पतन्ति नैव नमोऽस्त्विति कुर्वन्ति, अभिमानिखान्मुसलवसिष्ठन्ति । ते
कि भवन्ति ? (ते हींति लल्लमूरा) ते भवन्ति लल्ला अस्पृष्टवाचो मृका वक्तुं
शोलुमशिक्षिताः । (बोही पुण दुल्लहा) बोधिः खलु रत्नवयप्राप्तिः पुनर्जन्म-
शतसहस्रेष्टपि दुर्लभा कष्टेनापि लक्ष्मूसशक्या (तेसि) तेषां वैताभास-तदाभासानां
च मिष्टादृष्टीमालिति दोषः ॥१२॥

यः अुत्ता—जो पुरुष द्वादशाङ्गी को सुनकर तत्त्वअद्वानी होता है
उसे विस्तरदृष्टि जाने । अङ्गाह्य प्रवचनों को श्रवण किये बिना ही
किसी कारण से अद्वा उत्पन्न होती है वह अर्थदृष्टि—अर्थ-सम्यगदर्शन
है । अङ्ग तथा अङ्गाह्य प्रवचनों का अवगाहन करने से जो अद्वा
उत्पन्न होती है वह अवगाह-सम्यगदर्शन है और केवलज्ञान के द्वारा देखे
हुए पदार्थों की जो अद्वा है वह परमावगाह-सम्यगदर्शन नाम से
प्रसिद्ध है ।

✓इस प्रकार के सम्यगदर्शनों से जो ऋष्ट हैं तथा मयूरपिच्छ, कमण्डलु
और परमागम-शास्त्रों को छोड़कर गृहस्थवेष को धारण करते हुए संयम
के घारी सम्यगदृष्टि मुनियों के चरणों में नहीं पड़ते हैं, उन्हें नमोऽस्तु
नहीं करते हैं और अभिमान के दश मूसल के समान यों ही खड़े रहते हैं
वे 'अस्पृष्टभाषी गृ' गे होते हैं अर्थात् बोलने और सुनने में असमर्थ होते
हैं । ऐसे लोगों को लाखों जन्म में भी रत्नवय की प्राप्ति दुर्लभ,
रहती है ।

१. आत्मानुशासने इलोकसंस्था १४.

२. प० जयचन्द्रजी ने 'लल्ल' के स्वामपर 'लुल्ल' पाठ रख कर 'लुले—नहीं
अस सक्तेवाले' अर्थ किया है ।

जे पि पङ्क्ति च तेसि जाणंता लज्जानारबभयेण ।
तेसि पि जत्थि बोहि पावं अणुमोअमाणाणं ॥१३॥

येऽपि पतमित च तेषां जानन्तो लज्जानार्द्द भयेत ।
तेषामपि नास्ति बोधिः पापमनुमन्यमानानम् ॥१३॥

(जे पि पङ्क्ति च तेसि) मे सम्यग्दर्शनादभ्रष्टा अपि पुरुषः तेसि तेष-
परित्यक्तजिनमुद्राणां मयूरपिच्छ-शीतोपकरण-शानोपकरणरहितानां पावे कायधर-
मुगले पतन्ति नमस्कारे कुर्वन्ति पूर्वमुद्राधरा इति । (जाणंता) विद्वन्तोऽपि
जिनमुद्राविराघवा एते इत्यवगच्छत्तोऽपि । (लज्जा-नारब-भयेण) लज्जया अप्या,
गारबेण रसद्वि-सातगर्वण, भयेतायं राजमान्योऽस्माकं कमप्युपद्रवं कारयिष्यती-
त्यादिमीत्या च । (तेसि पि जत्थि बोहि) तेषामपि बोधिनास्ति ते रत्नकर्वं
प्रपालयन्तीऽपि रत्नवयाद् भ्रष्टा इति ज्ञातव्या इति भावः । कथंभूतानां तेषाम् ?
(पावं अणुमोयमाणाणं) जिनदर्शनञ्चाद्यदुत्पन्नं पावं पातकं तदनुमन्यमानाना
मिति क्षेपः । उक्तं च समन्तभद्रेण गणिना—

गाथार्थ—जो जानते हुए भी लज्जा, गर्व और भय के कारण उन
मिथ्यादृष्टियों के चरणों में पड़ते हैं उन्हें—‘नमोऽस्तु’ आदि करते हैं,
पाप की अनुमोदना करनेवाले उन लोगों को भी रत्नवय की प्राप्ति नहीं
होती ॥१३॥

विशेषार्थ—जो पूर्ण स्वयं सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट न होने पर भी, उन
जिनमुद्रा के त्यागी एवं मयूरपिच्छ, कमण्डलु और शास्त्र से रहित
कुलिङ्गियों के चरणयुगल में पड़ते हैं—उन्हें नमस्कार करते हैं और साथ
ही यह जानते भी हैं कि ये साधु होनेपर भी पूर्वमुद्रा—गृहस्थवेष को ही
धारण करनेवाले हैं तथा जिनमुद्रा—वीतराग निग्रन्थ मुद्रा का विद्यात
करनेवाले हैं, अतः नमस्कार के योग्य नहीं हैं; मात्र लज्जा; रस, ऋद्धि
और सात इन तीन गत्वौ से अथवा ‘यह राजमान्य है, नमस्कार न करने
पर कुछ उपद्रव करा देगा’ इत्यादि भय से नमस्कार करते हैं वे उनके
उस पाप की अनुमोदना करनेवाले हैं; अतः उनके रत्नवय की प्राप्ति नहीं
होती अर्थात् वे रत्नवय के पालक होकर भी रत्नवय से भ्रष्ट हैं । जैसा
कि स्वामी समन्तभद्र ने कहा है—

अथाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागमलिङ्गिनाम् ।

प्रणामं विनयं चैव न कुर्यात् शुद्धदृष्टयः ॥

तुविहं पि गंथचायं तीसु वि जोएसु संजभो ठादि ।

णाणमिम् करणसुद्धे उब्भसणे दंसणं होई ॥१४॥

द्विविधमपि ग्रन्थत्यागं त्रिष्वपि योगेषु संयमस्तिष्ठति ।

ज्ञाने करणसुद्धे उद्धशने दशनं भवति ॥१४॥

(तुविहं पि गंथचायं) द्विविषोऽपि ग्रन्थत्यागः । (तीसु वि जोएसु) त्रिष्वपि योगेषु यनोवचन-कायषुद्विषु । (संजभो ठादि) संयमश्चारित्रं तिष्ठति

भयाशा—सम्यग्दृष्टि मनुष्य भय, आशा, स्नेह अथवा लोभ से कुदेव, कुआगम और कुलिङ्गियों को न प्रणाम करें और न उनकी विनय करें ॥

[सम्यग्दृष्टि मनुष्य, बीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी रूप लक्षण से युक्त जिनेन्द्र देव को छोड़ किसी अन्य रागी-द्वेषी देव को; बीतराग-सर्वज्ञ जिनेन्द्र की आमनाय में लिखित, स्थाद्वाद सिद्धान्त से ओतप्रोत एवं अहिंसामय सिद्धान्त के समर्थक शास्त्र को छोड़ अन्य रागी-द्वेषी लोगों के हारा लिखित एकान्तरूप एवं हिंसादि पापों के समर्थक शास्त्र को; और विषयों की आशा से रहित एवं ज्ञान-ध्यान में लोन निर्वन्ध गुरु को छोड़ कर अन्य रागी-द्वेषी गुरु को; भय, आशा, स्नेह और लोभ के वशीभूत हो स्वप्न में भी नमस्कार नहीं करता । उसकी दृष्टि से मोहजन्य विकार दूर हो जाता है, अतः वह वस्तु के शुद्ध स्वरूप को समझ कर वास्तविक प्रवृत्ति करता है ।]

गाथार्थ—जो मुनि दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग करते हैं, तीनों योगों पर संयम रखते हैं अर्थात् मन वशन काय की प्रवृत्तिपर नियन्त्रण रखते हैं, ज्ञान को इन्द्रियों के विषयों से शुद्ध रखते हैं अर्थात् इन्द्रियों के वशीभूत हो ज्ञान को मलिनं नहीं करते अथवा कृत कारित अनुमोदना से ज्ञान को निर्भर रखते हैं और खड़े होकर भोजन करते हैं उन्हीं मुनियों के सम्बन्ध होता है ॥१४॥

विद्योदार्थ—बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग के भेद से परिग्रह के दो भेद हैं । मुनियों को उक्त दोनों परिग्रहों का त्याग करना आवश्यक है । मनोयोग,

भवति । (जाणमिस करणसुद्दे) सम्यग्वाने शुद्ध-कारितानुमोदनिर्मले सति । (उद्भवसंगे) उद्भभभोजने च सति । (वेसणं होदि) सम्यक्त्वं भवति । युनीवा-
मिति शेषः । अथ कोइसी द्विविधो ग्रन्थ इत्याह—बाह्यास्यन्तरमेव इति । तत्र
वाह्यः परिग्रहः कथ्यते—

क्षेत्रं वास्तु धनं धार्यं हिपदं च चतुष्पदम् ।

‘कुप्य भाष्टं हिरण्यं च सुवर्णं च बहिर्देश ॥

क्षेत्रं सस्याधिकरणम् । वास्तु गृहम् । धनं द्रव्यादि । धार्यं गोधूमादि ।
हिपदं दासी-दासादि । चतुष्पदं गो-महिषो-वेसर-गजाश्वादि । कुप्यं कार्पास-
चन्दन-कुड़-कुमादि । भाष्टं तैल-शृतादिभूतं पात्रम् । हिरण्यं ताङ्र-स्पृश्यादि ।

वस्त्रनयोग और काययोग के भेद से योगके तीन भेद हैं । इन तीनों योगों
में शुद्धि होने पर ही संयम अर्थात् चारित्र होता है; इसलिये मुनियों को
उक्त तीनों योगोंपर नियन्त्रण रखकर उनकी शुद्धि बनाये रखनो चाहिये ।
वस्त्रनयोग के कुरु कर्त्तव्य लगुणोदत्त से निर्वाक रहने पर तथा खड़ेखड़े
भोजन लेने पर मुनियों के सम्यक्त्व होता है अर्थात् सम्यदृष्टि मुनि
अथवे ज्ञान को सदा निर्भल रखते हैं और खड़े खड़े पाणि-पात्र में आहार
करते हैं ।

[यही आचार्य महाराज ने यह भाव प्रकट किया है कि जो साधु
होकर भी वस्त्रादि परिग्रह रखते हैं, जिनके मन द्वचन काय की प्रवृत्ति
में कोई प्रकार की शुद्धि नहीं है, जो इनिदियों के वशीभूत होकर अपने
ज्ञान को निर्भल नहीं रख पाते हैं अर्थात् उसे विषयसामग्री की प्राप्ति के
लिये आत्मस्वरूप को छोड़ अन्यत्र अमाते हैं अथवा यन्त्र-मन्त्र आदि
लौकिक कार्योंमें उसे प्रयुक्त करते हैं और गृहस्थ के घर खड़े खड़े
आहार न लेकर गोचरी द्वारा लाये हुए आहार को एक जगह बैठकर
सुख-मुक्तिर्थ से ग्रहण करते हैं उन्हें सम्यक्त्व नहीं है और सम्यक्त्व से
हीन होने के कारण वे बन्दनोय नहीं हैं]

वाह्य परिग्रह के दश भेद इस प्रकार हैं—

क्षेत्र—क्षेत्र, वास्तु, धन, धार्य, हिपद, चतुष्पद, कुप्य, भाष्ट, हिरण्य,
और सुवर्ण ये बहिरङ्ग परिग्रह के दश भेद हैं । जिसमें अनाज उत्पन्न
होता है ऐसे क्षेत्र को क्षेत्र कहते हैं; मकान को वास्तु कहते हैं, द्रव्य आदि
को धन कहते हैं, गेहूं आदि धार्य कहते हैं; दासी-दास आदि हिपद

१. ‘वावं सम्यात्वं कुप्यं भाष्टं चेति बहिर्देशं’ सूक्ति प्रस्तावनास्त् ।

चटिताचटिति सुवर्णे श्रीनिकेतन हाटकं कनकमिति यावत् । अम्यन्तरग्रन्थाद्य-
तुदंशभेदः—

‘मिद्यात्म-वेद-हास्यादिषट्-कषायचतुष्टयम् ।

राग-हेषी च सङ्गाः स्युरन्तरङ्गाशतुर्दश ॥

सम्मतादो णाणं णाणादो सब्बभाव उबलद्धी ।

उबलद्धपयत्थे पुण सेयासेयं वियाशेदि ॥१५॥

सम्यक्त्वात् ज्ञानं ज्ञानात् सर्वभावोपलब्धिः ।

उपलब्धपदार्थं पुनः श्रेयोऽश्रेयो विजानाति ॥१५॥

(सम्मतादो णाणं) सम्यक्त्वाङ्गानं भवति, यस्य सम्यक्त्वं नास्ति स
पुमानज्ञान एवेत्यर्थः । (णाणादो सब्बभावउबलद्धी) ज्ञानात् सर्वपदार्थानामू-
लब्धिः जीवाश्चास्त्रां जीवस्य परिज्ञानं भवति । (उबलद्धपयत्थे पुण) उपलब्ध-
पदार्थं पुनः उपलब्धपदार्थासौ पदार्थः साकलपदार्थस्त्रास्त्रिमनुपलब्धपदार्थं सहि । कि-

कहलाते हैं; गाय, भैंस, ऊंट, हाथी, घोड़ा आदि चतुष्टय कहलाते हैं;
बस्त्र, चन्दन तथा केशर आदि कुप्य कहे जाते हैं; तैल, धी आदि से भरे
हुए वर्तन पात्र कहलाते हैं, तैवा चाँदी आदि धातुर् हिरण्य कहलाती
हैं और जेवर रूप से धड़ा हुआ अदवा दिना धड़ा हुआ सुवर्ण कहलाता
है । इसी सुवर्ण को श्रीनिकेतन (लक्ष्मीका घर), हाटक और कनक भी
कहते हैं ।

आम्यन्तर परिप्रह के निम्नलिखित चौदह भेद हैं—

मिद्यात्म—मिद्यात्म एक, वेद एक, हास्यादि छह नोकषाय, कोष
आदि चार कषाय, राग और हेष एक-एक, इस प्रकार अन्तरङ्ग परिप्रह
के चौदह भेद हैं ॥

गायार्थ—सम्यक्त्व से ज्ञान होता है, ज्ञान से समस्त पदार्थों की
उपलब्धि होती है, और समस्त पदार्थों की उपलब्धि होने पर यह जीव
कल्याण और अकरुणाण को विशेष रूप से जगन्ता है ॥१५॥

विशेषार्थ—सम्यगदर्शन से ज्ञान होता है, जिसके सम्यगदर्शन महीं है
वह पुरुष अज्ञानी है । ज्ञान से हो मोक्षमार्गोपयोगी जीवादि तत्त्वों का
परिज्ञान होता है तथा पदार्थों का परिज्ञान होने पर यह मनुष्य पुण्य

१. मिद्यात्मवेदरागास्त्रवैद हास्यात्यवल्य यद् दोषाः । चलापरल्य चलायान-
तुदंशाभ्यन्तरा चलाः ॥१५॥ पुष्पकार्णिकापूलोम्बुद्धलक्ष्मार्गाम्बूल ।

भवति ? (सेयासेयं विद्याणेति) श्रेयः पुण्यं विद्याष्टसीधकरम्-नामकर्म, अश्रेयः पापं चतुर्गतिपरिज्ञमणकारणं विद्योषेण जानीते । उक्ताच्च—

१६ न सम्यक्त्वसम् किञ्चित् श्रीकाल्ये विजगत्यपि ।

श्रेयोऽश्रेयकच मिथ्यात्वं समं नान्यत्तनूभूताम् ॥

सेयासेयविद्यू उद्दुद्दुस्सील सीलवतो वि ।

सीलफलेणब्धुदयं तत्तो पुण लहुइ णिष्वाणं ॥१६॥

श्रेयोऽश्रेयोक्त्वा उद्भूतदुःशीलः शीलवानपि ।

शीलफलेनाभ्युदयं ततः पुनः लभते निवर्णिम् ॥१६॥

(सेयासेयविद्यू) श्रेयसः पुण्यस्य, अश्रेयसः पापस्य विद्यू वैत्ता पुमान् ।

(उद्दुद्दुस्सील) उन्मूलित दुःशील भवति । (सीलवतो वि) शीलवान् पुमान्

(सीलफलेण) शीलफलेन कृत्वा । (अभ्युदय लहुइ) अभ्युदयं सांसारिकं सुखं

प्राप्नोति । (तत्तो पुण णिष्वाणं लहुइ) ततः पुननिवर्णं लभते शोर्खं

प्राप्नोति ॥१६॥

अर्थात् सातिशाय तीर्थकर नामकर्म और पाप अथर्वां चतुर्गति के परिज्ञमण के कारण को विद्योषरूप से जानता है । जैसा कि कहा है—

✓ न सम्यक्त्व—तीनों काल और तीनों लोकों में सम्यग्दर्शन के समान प्राणियों का दूसरा हितकारी नहीं है और मिथ्यात्व के समान अहितकारी नहीं है ॥

गायार्थ—कर्त्त्वाण और अकर्त्त्वाण को जाननेवाला मनुष्य दुष्ट स्वभाव को उन्मूलित करता है तथा उत्तम शील—श्रेष्ठ स्वभाव से युक्त होता हुआ शील के फल स्वरूप सांसारिक सुख को प्राप्त होता है और उसके बाद मोक्ष प्राप्त करता है ॥१६॥

विद्योषार्थ—जिसने श्रेय—सम्यक्त्व और अश्रेय—मिथ्यात्व को समझ लिया है वह दुःशील-दुष्ट स्वभाव विषय-काषयादिरूप परिणति को उखाड़ कर दूर कर देता है और शील से—आत्मपरिणति से युक्त मनुष्य शील के फलस्वरूप पहले तो अभ्युदयदेव तथा चक्रवर्ती आदि के सांसारिक सुख को प्राप्त होता है और उसके बाद निवर्ण को प्राप्त होता है ॥१६॥

जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमिदभूयं ।

जर-मरण-वाहिहरणं खयकरणं सञ्चयुक्त्याणं ॥१७॥

जिनवचनमौषधमिदं विषयसुखविरेचनममृतभूतम् ।

जरामरण-व्यविहरणं इवात्ततः सर्वंतु सात्त्वम् ॥१७॥

(जिणवयणमोसहमिणं) जिनवचनमौषधमिदम् इदम् पूर्वोक्तलक्षणं जिन-
वचनं सर्वज्ञ-बीतरागभाषितं हेतु-हेतुमद्भावसहितं औषधं वर्तते । कथंभूतं जिन-
वचनं औषधम् ? (विसयसुहविरेयणं) विषयाणां पञ्चेन्द्रियाथनां स्पर्श-रस-
गन्ध-कर्ण-शब्दानां सम्बन्धित्वेन यत्सुखं विषयसुखं तस्य विरेचनं दूरीकरणम् ।
(अमिदभूदं) अमृतभूतं अविद्यमानं मृतं मरणं यत्र यस्माद्वा भव्यानां तदमृतभूतं

गाथार्थ—यह जिनवचनरूपी औषधि विषयसुख को दूर करनेवाली
है, अमृतरूप है, जरा और मरण को व्याधि को हरनेवाली है, तथा सब
दुःखों का क्षय करनेवाली है ॥१७॥

विशेषार्थ—कार्य-कारणभाव से सहित सर्वज्ञ-बीतराग की वाणी को
यही औषधि की उपमा दी गई है—जिस प्रकार उत्तम औषधि शारीर के
भीतर विद्यमान मल का विरेचन कर व्याधि को दूर करती है तथा
मनुष्य के असामयिक मरण को दूर कर उसके सब दुःखों का क्षय कर
देती है उसी प्रकार कार्य-कारणभाव—प्रिमिति-नेमित्तिकभाव से सहित
जिनवाणीरूपी औषधि मनुष्य की आत्मा में विद्यमान पञ्चेन्द्रियों के
विषयभूत स्पर्श, रस, गन्ध, कर्ण और शब्दों के सम्बन्ध से होनेवाले
विषयसुख का विरेचन करनेवाली है; अमृतरूप है—पीयूषतुल्य है,
बुड़ापा और मरण रूपी रोग को हरनेवाली है और शारीरिक, मानसिक
तथा बागन्तुक दुःखों का क्षय करनेवाली है अर्थात् जड़ से उखाड़ कर
उनका विध्वंस करनेवाली है ॥१७॥

[यही संस्कृत-टोकाकार ने जिनवचन की व्याख्या करते हुए उसे
'सर्वज्ञ-बीतरागभाषित' और 'हेतु-हेतुमद्भाव सहित' इन दो विशेषणों से
विभूषित किया है । तथा इन विशेषणों से यह अभिप्राय सूचित किया
है कि चूंकि जिनवचन सर्वज्ञ-बीतराग के द्वारा प्रतिपादित हैं, अतः
प्रमाणभूत हैं । अत्यथा कथन करने में अज्ञान और कषाय ये दो ही
कारण होते हैं, परन्तु जिनेन्द्र भगवान् के ज्ञानावरण कर्म का क्षय होने
से केवलशान प्रकट हो चुका है अतः अज्ञान के सद्ग्राव की ओर मात्र भी
कल्पना नहीं हो सकती तथा मोह कर्म का सर्वेषा क्षय हो जाने से कषाय

अमूलोपम् । अत एव (अरमरणवाहिहरणं) जरा-मरणव्याप्तिहरणं विनाशकम् । (क्षयकरणे सब्दुक्षाणं) क्षयकरणं मूलाकुन्मूलकं सर्वदुक्षानां शारोर-मान-चागन्तुदुक्षानां विभवंसक्तित्यर्थः ॥१७॥

एकं जिणस्स रूबं ब्रीयं उक्तिकहुसावयाणं तु ।
अवरद्वियाणं तदस्यं पुण लिङ्गदर्शनं णतिथ ॥१८॥

एकं जिनस्य रूपं द्वितीयमुक्तुष्टश्रावकाणां तु ।
अवरस्थितानां तृतीयं चतुर्थं पुणः लिङ्गदर्शनं नास्ति ॥१९॥

(एकं जिणस्स रूबं) एकमद्वितीयं जिनस्य रूपं नगरूपम् । (ब्रीयं उक्तिकदृठ सावयाणं तु) द्वितीयमुक्तुष्टश्रावकाणां तु । उक्तं च—

आत्मास्तु षड् जघन्याः स्पुर्मध्यमास्तदनु वयः ।
शेषी द्वावृत्तमावृत्ती जैवेषु जिनशासने ॥

भी—रागद्वेषरूप परिणति भी विद्यमान नहीं है, अतः कषायजन्य अन्यथाकथल की भी अल्पतम संभावना नहीं है । इस प्रकार जिनवचन प्रमाणरूप हैं—वस्तु के सत्यस्वरूप का प्रतिपादन करनेवाले हैं । दूसरे विशेषण से यह भाव सूचित किया है कि निमित्त को उपेक्षा कर मात्र उपादान की शक्ति से कार्य का समर्थन करनेवाले वचन जिनवचन नहीं हैं, क्योंकि कार्य की सिद्धि में उपादान और निमित्त दोनों साधक हैं ।] ॥१७॥

गाथार्थ—एक जिनेन्द्र भगवान् का नगर रूप, दूसरा उत्कृष्ट आवकों का, और तीसरा आविकाओं का; इस प्रकार जिनशासन में तीन लिङ्ग कहे गये हैं । चौथा लिङ्ग जिनशासन में नहीं है ॥१८॥

विशेषार्थ—सकल और विकल के भेद से चारित्र के दो भेद हैं । इनमें से सकलचारित्र मुनियों के होता है । उनका लिङ्ग अर्थात् वेष नगर दिग्म्बर मुद्रा है । परिग्रहत्याग महाक्रत के धारक होने से उनके शरीर पर एक सूत भी नहीं रह सकता है । विकलचारित्र के धारकों के दर्शनिक १, न्रतिक २, सामयिकी ३, प्रोष्ठोपदासी ४, सचित्तल्यागी ५, रात्रिभुक्तिविरत ६, ऋहाचारी ७, आरम्भविरत ८, परिग्रहविरत ९, अनुष्ठितिविरत १०, और उद्दिदष्टविरत ११; ये व्यारह भेद होते हैं । इनमें से प्रारम्भ के ६ आवक जन्मन्य आवक, उनके पश्चात् तीन मध्यम आवक, और शेष के दो उत्कृष्ट आवक कहे जाते हैं । जिनामग में दूसरा

तेन "दंसण-वय-सामाहय-पोसह-सचित्त-रायभते य" इति गाथाद्वयिताः श्रावकः षड् जघन्याः कथ्यन्ते । "बंशारभपरिगाह" इति गाथापादोक्तास्त्रयः श्रावका सम्यमा उच्यन्ते । शेषौ हायुतमावुक्तौ जीतेषु जिनशासने । "अणुमण-मुदिदटठेसविरहो य" अनुमतादुदिदटठादिरतो देशविरतश्च कथ्यसे—उत्कृष्टः श्रावकः उच्यते इति । (अवरदिठ्याण तइयं) अवरस्थितानामार्यिकाणां तृतीय दर्शनम् (चउर्थं पुण लिङ्गदर्शणं णत्यि) चतुर्थं पुनर्लिङ्गदर्शनं नास्ति । श्रीष्टेव जिनशासने लिङ्गदर्शनानि प्रोक्तानि, न भ्यूनानि नार्यविकानीति शेषः ॥१८॥

छहन्व णवपयतथा पञ्चतथो सत्त तच्च णिद्वा ।

सद्हहह ताण रुबं सो सहिद्वी मुणोयव्वो ॥१९॥

षड् द्रव्याणि नव पदार्थः पञ्चास्तिकायाः सप्त तत्त्वानि निर्दिष्टानि ।

शददधाति तेषां रुपं स सदूदृष्टिः मन्त्रव्यः ॥२०॥

(छहन्व) षड् द्रव्याणि जीव-पूर्वान्-वलीकर्म-कालान्तराः षड् द्रव्याणि भवन्ति । वर्तमानकाले द्रव्यन्तीति द्रव्याणि, भविष्यति काले द्रोष्यन्ति, अतीत-

लिङ्ग उत्कृष्ट श्रावकों का बतलाया गया है । दशम प्रतिमा के धारक अनुमतिविरत श्रावक एक धोती, एक चादर तथा कमण्डलु रखते हैं । एकादश प्रतिमा के धारक उदिदटठविरत श्रावकों के ऐलक और क्षुल्लक को अपेक्षा दो भेद हैं । ऐलक कीपीन, पिछो और कमण्डलु रखते हैं तथा क्षुल्लक एक छोटी चादर भी रखते हैं; इस तरह जिनागम में दूसरा लिङ्ग उत्कृष्ट श्रावकों का है । आर्यिकाएँ उपचार से सकलचारित्र की धारक कहलाती हैं । वे सोलह हाथ की एक सफेद धोती तथा पिछो रखती हैं । क्षुल्लिकाएँ आरहवीं प्रतिमा की धारक कहलाती हैं । वे सोलह हाथ की धाती के सिवाय एक चादर भी रखती हैं । इस प्रकार जिनागम में तीसरा लिङ्ग सकलचारित्र के द्वितीय भेद में स्थित आर्यिकाओं का होता है । इन तीन लिङ्गों के सिवाय जिनागम में चौथा लिङ्ग नहीं है—उसमें तीन ही लिङ्ग बतलाये हैं, होनार्थिक नहीं ।

[इस गाथा में श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने ख्वेताम्बर साधुओं के सब लिङ्ग को जिनागम से असम्मत बताया है जिसमें परिव्रहत्याग महाब्रत की प्रतिशा लेकर भी वस्त्र धारण किया जाता है] ॥१८॥

गाथार्थ—छह द्रव्य, नौ पदार्थ, पाँच अस्तिकाय और सात रुप कहे गये हैं । उनके स्वरूप का ओ श्रद्धाल करता है उसे सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये ॥१९॥

कालेजुद्रव्यस्थिति द्रव्यादि जीव-पुद्गल-धर्म-अधर्म-कालतन्त्रस्तथा निः । (एव परम्परा) नव पदार्थो जीवाजीव-पृथ्वी-पापास्त्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा-मोक्ष-नामानः । (पंचरथी) पञ्चास्तिकाया जीव-पुद्गल-धर्मधर्मकाशनामानः पञ्चास्तिकाया उच्चन्ते (सत्त तत्त्व णिदिदृढ़ा) सप्त तत्त्वानि निदिष्टानि कथितानि जीवा-जीवास्त्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा-मोक्षनामानि । (सद्वदहृत् ताण रूपं) अदृष्टाति तेषां स्वरूपम् । (सो सदिदृढ़ी मुण्डयच्छ्री) स पुमान् सद्वदृष्टिरिति मन्तव्यो ज्ञातव्यः । तेषु द्रव्यादिषु जीवः सचेतनः । पुद्गलो धर्मोऽधर्मः काल आकाशस्त्रव पक्ष्या-चेतनाः । षड्विषोऽपि पुद्गलो मृतः । इतरे पञ्चामृताः । जीव-पुद्गलभ्योर्गतिः कारणं धर्मः । सर्वेषां स्थितेः कारणमधर्मः सर्वेषामाघातमाकाशः । वर्त्तनालक्षणः कालः रत्नानां राशिवद् भिन्नपरमाणुकः । धर्मधर्मकाशा अखण्डप्रदेशाः । काल-पुद्गलयोर्जीवानां च प्रदेशेषु खण्डत्वम्, नस्वेकजीवस्य प्रदेशानां खण्डत्वम् । धर्मधर्म-कालाकाशाद्वत्वारो गमनागमनरहिताः । गमनागमने जीव-पुद्गल-

बिशेषार्थ—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश ये छह द्रव्य हैं। द्रव्य शब्द का निरूपत्थर्थ इस प्रकार है—जो वर्तमान काल में गुण और पर्यायों को प्राप्त हो रहे हों, जो भविष्यत् काल में गुण और पर्यायों को प्राप्त होंगे, और जो भूत काल में गुण तथा पर्यायों को प्राप्त होते थे वे द्रव्य हैं। जीव, अजीव, पृथ्वी, पाप, आस्त्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये नो पदार्थ हैं। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश ये पाँच अस्तिकाय कहलाते हैं। जीव, अजीव, आस्त्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व कहे गये हैं। उनके स्वरूप का जो अद्वान करता है वह सम्यगदृष्टि है। उन द्रव्यादिक में जीव सचेतन है; पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश ये पाँच अचेतन हैं। बादर-बादर, बादर, बादर-सूक्ष्म, सूक्ष्म-बादर, सूक्ष्म और सूक्ष्म-सूक्ष्म; यह छहों प्रकारका पुद्गल भूतिक है; बाकी पाँच द्रव्य अभूतिक हैं। जीव और पुद्गल द्रव्य की गति का कारण धर्म द्रव्य है। सब द्रव्यों की स्थिति का कारण अधर्म द्रव्य है। सब द्रव्यों का आवार आकाश द्रव्य है। काल द्रव्य वर्तना लक्षण से युक्त है तथा रत्नों को राशि के समान भिन्न भिन्न परमाणु रूप है। धर्म, अधर्म और आकाश अखण्डप्रदेशी हैं। नाना कालाणु, पुद्गलाणु और नाना जीवों के प्रदेश सखण्ड हैं; परन्तु एक जीव के प्रदेश सखण्ड नहीं है। धर्म, अधर्म, काल और आकाश ये चार द्रव्य गमनागमन से रहित हैं। गमनागमन सिद्ध जीवों को छोड़ कर सब संसारी जीवों और पुद्गल द्रव्यों में हो होते हैं, अन्य द्रव्यों में नहीं।

नामन्यत्र सिद्धजीवेष्यः । धर्म-धर्मकलीबानामसंख्येयाः प्रदेशाः । संख्येयासंख्येयानन्तप्रदेशः ज्ञानात्मकः [पुदगलः] । पुदगलो [आकाशो] अनन्तप्रदेशश्च [शः] । सर्वाणि द्रव्याण्येकतो मिलितान्यपि निज-निजगुणान् न जहति । एवं तत्प्राप्तिकाय-पदार्थ-नामपि स्वरूपं ज्ञातव्यम् ॥१९॥

✓ जीवादी सद्गुणं सम्मतं जिणवरेहि पण्ठतं ।

बवहारा णिच्छुद्यदो अप्याणं हवइ सम्मतं ॥२०॥

जीवादीनां श्रद्धानं सम्यक्त्वं जिनवरैः प्रणीतम् ।

व्यवहारात् निश्चयतः आत्मनो भवति सम्यक्त्वम् ॥२०॥

(जीवादीसद्गुण) जीवादीनां श्रद्धानं रूचिः (सम्मत) सम्यक्त्वमिति ('जिणवरेहि पण्ठत') जिनवरैः प्रणीतम् । तत्तु सम्यग्दर्शनं (बवहार) व्यवहाराज्ञानव्यम् । ('णिच्छुद्यदो अप्याणं हवइ सम्मत') निश्चयतो निश्चयनयादात्मैव भवति सम्यक्त्वं तत्त्वाभ्युत्त्वादित्यर्थः ॥

धर्म, अधर्म और एक जीव द्रव्य के असंख्यात प्रदेश हैं । पुदगल द्रव्य के संख्यात, असंख्यात, तथा अनन्त प्रदेश हैं; अवर्ति कोई स्कन्ध संख्यात-प्रदेशी हैं, कोई असंख्यातप्रदेशो है, और कोई अनन्तप्रदेशी हैं । आकाश अनन्तप्रदेशी है । यद्यपि सभी द्रव्य एकरूप से मिले हुए हैं तथापि वे अपने अपने गुणों को नहीं छोड़ते हैं । इसी प्रकार तत्त्व, अस्तिकाय और पदार्थों का भी स्वरूप जानना चाहिये ॥१९॥

✓ २०) गाथार्थ—व्यवहार नय से जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान करना सम्यक्त्व है और निश्चय नय से आत्मा का श्रद्धान करना सम्यक्त्व है अथवा गुण और गुणी को अभेद विवेका से आत्मा स्वयं सम्यक्त्व है, ऐसा जिनेन्द्र-देव ने कहा है ॥२०॥

विशेषार्थ—जीव आदि सात तत्त्वों, जीव आदि नौ पदार्थों, जीव आदि छह द्रव्यों अथवा जीव आदि पाँच अस्तिकायों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है । यह लक्षण गुण-गुणी की भेदविवेका से कहा गया है, अतः व्यवहार नय से जानना चाहिये; क्योंकि गुण-गुणी का भेद व्यवहार नय का विषय है । निश्चय नय अभेद को विषय करता है, अतः उसकी अपेक्षा पर पदार्थ से भिन्न आत्मा का ही श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है । अथवा 'आत्मा का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है' यहाँ भी गुण-गुणी का भेद दृष्टिगोचर होता है, इसलिये आत्मा ही सम्यग्दर्शन है । निश्चय नय से सम्यग्दर्शन का यही लक्षण मानना चाहिये, ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है ॥२०॥

एवं जिणपण्णतं दंसण-रथणं धरेह भावेण ।

सारं गुणरथणत्य सोवाणं पद्मम मोक्षस्य ॥२१॥

एवं जिनप्रणीतं दर्शनरत्नं धरत भावेन ।

सारं गुणरत्नश्रेष्ठं सोवाणं प्रथमं मोक्षस्य ॥२१॥

(एवं) पूर्वोक्तप्रकारेण । (जिणपण्णतं) जिनैः प्रणीतम् जिनैः कथितम् ।
(दंसणरथण) दर्शन-रत्नं सम्यग्मत्व-माणिक्यम् । (धरेह भावेण) धरत यूर्यं
भावेन बीतराग-सर्वज्ञस्य भक्ष्या । उक्ततत्त्व—

१११ एकापि समर्थेण जिनभक्तिरुदीर्ति निवारयितुम् ।

पुण्यानि च पूरयितुं दातुं मुक्तिश्चियं कुतिनः ॥

कथंभूतं दर्शन-रत्नं ? (सारम्) उत्कृष्टम् । केवु सारम् ? (गुण-रथणत्य)
गुणेषु उत्तमक्षमादिपु तथा रत्नत्रये सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रेषु । उत्कृष्टम्—

‘दर्शनं ज्ञान-चारित्रत् साधिमानमुपास्तुते’

दर्शनं^३ कर्णधारं तन्मोक्षमार्गं प्रक्षक्षते ॥

गाथार्थ—इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे हुए सम्यग्दर्शन-रूपी रत्न को हे भव्यजीवो ! भावपूर्वक धारण करो । यह सम्यग्दर्शन-रूपी रत्न उत्तम क्षमादि गुणों तथा सम्यग्दर्शनादि तीन रत्नों में श्रेष्ठ है और मोक्ष की पहली सीढ़ी है ॥२१॥

विशेषार्थ—इस प्रकार बीतराग सर्वज्ञ देव ने जिस सम्यग्दर्शनरूपी माणिक्य का निरूपण किया है वह उत्तम क्षमा आदि गुणों में तथा सम्यग्दर्शन, सम्यज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपो रत्नत्रयों में उत्कृष्ट है तथा मोक्षरूपी महल को पहली सीढ़ी है । इसे आप लोग बीतराग सर्वज्ञ देव की भक्ति से धारण करो, वयोंकि कहा है—

एकापि—हे कुशल जन हो ! यह एक ही जिनभक्ति कुगति का निवारण करने के, पुण्य को पूर्ण करने और मुक्तिरूपी लक्ष्मी को देने के लिये समर्थ है ॥

दर्शनं—चूंकि सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की अपेक्षा श्रेष्ठता को

१. रत्नकरण्डभावकाचारे समन्तभद्रस्य ३१ ।

२. प्राप्नोति-सेवते (क. टि.) ।

३. कीदूर्धा दर्शनं कर्णधारं ‘कर्णधारस्तु ताविकः’ इत्यमरवचनात् भवतारिष्ठो पारं प्राप्नयितुं अदः दर्शनम् । भाषायां ‘सेवतिया’ इति भातव्यम् । (क. टि.)

युग्मपि कथंभूतं दर्शन-रत्नम् ? (सोवाणं) सोपानं पावारोपणस्थानम् ।
कलिसंक्षेपितम् ? (पठम्) प्रथमं अद्वितीयम् । कस्य ? (मोक्षस्य) मोक्षस्य
परमनिवाणित्य ॥२१॥

जं सक्कइ तं कीरह जं च ण सक्केह तं च सद्गृहणं ।
केवलिजिषेहिं भणियं सद्गृहमाणस्स सम्मतं ॥२२॥

यत् शक्यते तत् क्रियते यच्च न शक्येत तस्य च श्रद्धानम् ।
केवलिजिनैभणितं अद्वदधानस्य सम्यक्त्वम् ॥२२॥

(जं सक्कइ तं कीरह) यच्छक्तित तत् क्रियते विधीयते । (जं च ण सक्केह)
यच्च न शक्यनुयात् यत् करुं न शक्तोति । (तं च सद्गृहणं) तस्य श्रद्धानं तस्य

प्राप्त है, अतः उसे मोक्षमाणं का कर्णधार कहते हैं । कर्णधार खेडटिया
का नाम है । अतः सम्यगदर्शन संसाररूपो सागर में पार लगाने-
वाला है ।

गाथार्थ—जो कार्य किया जा सकता है वह किया जाता है और
जिसका किया जाना शक्य नहीं है उसका श्रद्धान करना चाहिये । केवल-
शानी जिनेन्द्र भगवान् ने श्रद्धान करनेवाले पुरुषको सम्यगदर्शन
कहा है ॥२२॥

विशेषार्थ—जो ज्ञानाचार अथवा कारित्राचार किया जा सकता है
उसका पालन करना चाहिये, और जो नहीं किया जा सकता है अर्थात्
शारीरिक संहनन और ताल्कालिक परिस्थिति की अनुकूलता के अभाव
में जिसका किया जाना संभव नहीं है उसकी श्रद्धा करनी चाहिये;
क्योंकि श्रद्धान करनेवाले पुरुष के सम्यक्त्व होता है, ऐसा केवलशानी
तीर्थकर परम देव ने कहा है । तीर्थकर के साथ केवली विशेषण देने का
खास प्रयोजन यह है कि तीर्थकर भगवान् केवलशान के बिना उपदेश
नहीं करते हैं । दीक्षा लेने के बाद केवलशान की प्राप्ति पर्यन्त का काल
छद्यस्थ बाल कहलाता है । इस छद्यस्थ काल में तीर्थकर भगवान् मौन
से रहते हैं । वे केवलशान प्राप्त होने पर समवसरण में ही दिव्यध्वनि
द्वारा धर्मोपदेश करते हैं । तीर्थकर केवली के सिवाय जो अन्य मुनियों
का उपदेश है उसे 'अनुचाद रूप ही जानना चाहिये अर्थात् केवलशानी

आनाचारादे रोचनं कर्तव्यम् । (केवलिजिणेहि भणिये) केवलज्ञानेभिः जिनेभीणित प्रतिपादितम् । केवलज्ञानं विना तीर्थकरपरमदेवा बधोविषानं न कुर्वन्ति । अन्यमुलीभ्यमुपदेशस्त्वनुशास्त्रपौ ज्ञातव्यः । अथवा केवलिभिः समवसरण-मण्डित-केवलज्ञानसंयुक्त-तीर्थकर-परमदेवैभूणितं, जिनैरनगारकेवलिभिर्भूणितं । कि भूणितं ? (सद्दहमाणस्त सम्मतं) अद्वधानस्तु पुरुषस्य रोचमानस्य जीवस्य सम्यग्दर्शनं भवति ॥२२॥

तीर्थकर अपनी दिव्यध्वनि द्वारा जो उपदेश करते हैं अन्य मुनि उसीका कथन करते हैं । अथवा मूल गाथा में जो 'केवलिजिणेहि' पद है उसका 'केवलिनश्च ते जिनाश्च' ऐसा कर्म-धारय समाप्त न करके 'केवलिनश्च जिनाश्च' ऐसा द्वन्द्व समाप्त करना चाहिये उससे उक्त पदका यह अर्थ हो सकता है कि केवली अर्थात् समवसरणमें मुशोभित केवलज्ञानमें संयुक्त तीर्थकर परमदेव और जिन अर्थात् अनगार केवलियों—सामान्य केवलियों ने कहा है ।

(आज कल कितने ही मनुष्य चारित्र पालन करने में अपनी अशक्ति देख चारित्र को ढोंग या पाखण्ड आदि निन्दनीय शब्दों द्वारा व्यवहृत करते देखे जाते हैं तथा चारित्र के धारक जीवों की निन्दा करते हुए पाये जाते हैं उनके प्रति आचार्य कुन्दकुन्द महाराज का उपदेश है कि जितना आचार पालन करने की समता है उसे अपनी शक्ति न छिपा कर पालन करना चाहिये क्योंकि मोक्षमार्ग में अपनी शक्ति को छिपाना आत्मव्यञ्जना है और जिस चारित्र का पालन करना अशक्ति है उसकी श्रद्धा करना चाहिये तथा अपनी शक्तिहीनताका पश्चात्ताप करते हुए यह भावना रखना चाहिये कि हम में वह शक्ति कब प्रगट हो जिससे मैं भी इस चारित्रको धारण कर सकूँ । जो मनुष्य इस प्रकार चारित्र के प्रति अपनी श्रद्धा रखता है वह सम्यादृष्टि है—सम्यग्दर्शनका धारक है और उसका वह सम्यग्दर्शन उसे चारित्र को प्राप्ति में पूर्ण सहायता करता है । गाथा का उक्त भाव कविवर द्यानलराय जी ने एक सोरठा में भी व्यक्त किया है ।

कीजे शक्ति समान शक्ति विना सरथा धरे ।

द्यानत सरथावान अजर अभर पद भोगवे ॥

अर्थात् शक्ति के समान कार्य करना चाहिये और शक्ति के विना उसकी श्रद्धा करना चाहिये । क्योंकि श्रद्धा रखनेवाला पुरुष भी अजर-अभर पदको प्राप्त होता है ।) ॥२२॥

दंसणणाणचरित्ते तवविणये णिच्चकाल^१ सुपस्तथा ।

एवे तु बद्धनीया जे गुणवादी गुणधरणं ॥२३॥

दर्शन ज्ञान चारित्रे तपोविनये नित्यकाल सुप्रस्वस्था ।

ऐते तु बन्दनीया ये गुणवादिनो गुणधरणाम् ॥२३॥

(दंसणणाणचरित्ते) ^२दर्शनशास्त्राद्वितीये दर्शनं ग ज्ञानं च चारित्रं ग रथनज्ञानचारित्रं समाहारो द्वन्द्वः तस्मिन् दर्शनज्ञानचारित्रे एतत्रितये तथा (तवविणए) तपो विनये चतुर्विधाराधनायाभियेत्यर्थः (णिच्चकाल सुपस्तथा) नित्यकालसुप्रस्वस्था नित्यमेव प्रकर्षेण स्वस्था^३ एकलोल्लभावं प्राप्ताः । (१०१.२.१५)

गाथार्थ—जो मूर्ति दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपो विनय में सदा लीन रहते हैं तथा अन्य गुणी मनुष्योंके गुणोंका वर्णन करते हैं वे बन्दनीय हैं—नप्रस्कार करने के योग्य हैं ॥२३॥

विशेषार्थ—दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपके भेदसे आराधना के चार भेद हैं। जो मुनि इन चारों प्रकार को आराधनाओं में निरन्तर प्रकृष्टता से स्वस्थं रहते हैं अर्थात् भुख्यपने से इन्हीं में एक लोलीभाव सतुष्णता को प्राप्त रहते हैं अथवा स्थिरता को प्राप्त होते हैं तथा सम्यदर्शनादि आराधनाओं को आराधना करने वाले अन्य गुणी मनुष्योंके गुण वर्णन करते हैं—उनमें किसी प्रकारका मात्सर्यभाव नहीं रखते हैं, वे बन्दना के योग्य हैं ॥२३॥

[यहीं संस्कृत टीकाकार ने 'एक लोलीभावं प्राप्ताः' इस पदका प्रयोग किया है जिसका अर्थ 'किसी पदार्थमें अत्यन्त उत्सुकताके साथ लीन होना होता है।' इसी शब्दके स्थान पर 'क' प्रति की टिप्पणी में 'एकलोल्याभावं प्राप्ताः' इस पाठ का भी संकेत किया है और उसकी संगति बैठाते हुए लिखा है कि 'एकं लोल्यं चपलत्वं तस्य अभावः स एकलोल्याभाव सर्तं प्राप्ता इत्यर्थः' इसका अर्थ चपलता का अभाव अर्थात् स्थिरता प्राप्त करने वाले ऐसा होता है। वास्तव में लोल शब्दके कोष में चञ्चल-चपल और सतुष्ण उत्सुक दोनों अर्थ स्वीकृत किये गये हैं।

१. णिच्चकालपस्तथा म० ।

२. कोष्ठकालतर्गतः पाठः 'क' पुस्तके नास्ति, म पुस्तके त्वस्ति ।

३. एकलोल्याभावं प्राप्ताः कर्त्तं तद् दृश्यताम्—एकं लोल्यं चपलत्वं तस्य अभावः स एक लोल्याभावः तं प्राप्ताः ।

४. 'लोलस्थ सतुष्णयोः' इत्यमरः ।

(एवे दु वंदीया) एते पुरुषाः महामुनयो बन्दनीया नमस्कर्तव्याः । एते के ? (जे गुणवादीं गुणधराणं) ये मुनयः स्वर्यं सम्यगदर्शनादीनामाराषका अपेक्षा गुणधरणाभारवनाराष्ट्रानां । ये मुनयो गुणवादिनो गुणवर्णनशीला न मत्सरिणस्ते बन्दनीया नमस्कारणीया इत्यर्थः ॥२३॥

सहजुप्पणं रूपं दद्धुं जो मण्णए ण मच्छरिओ ।

सो संजमपदिवणो मिष्ठाइटु हवइ एसो ॥२४॥

सहजोत्पन्नं रूपं दृष्ट्वा यो मन्यते न मत्सरिकः ।

संयमप्रतिपन्नो मिथ्यादृष्टिर्भवत्येषः ॥२४॥

(सहजुप्पणं रूपं) सहजोत्पन्नं स्वभावोत्पन्नं रूपं नग्नं रूपं । (दद्धुं) दृष्ट्वा विलोक्य । (जो मण्णए ण) यः पुमान् न भन्यते नग्नत्वेऽहं इति-नग्नत्वे कि प्रयोजनं पशवः कि नग्ना न भवन्तीति वते । (मच्छरिओ) परेषा शुभं कर्माणि देवी । (सो संजम पदिवणो) स पुमान् संयम-प्रतिपन्नो दीक्षां प्राप्तोऽपि (मिष्ठाइटठी हवइ एसो) मिथ्यादृष्टिर्भवत्येष । अपवादबेषं धरन्नपि

इस गाथा में कुन्दकुन्द स्वामी ने व्यतिरेक रूपसे यह भाव प्रतिफलित किया है कि जो साधु, सम्यगदर्शनादि चार आराधनाओं में लीन न रहकर इधर उधर की बातोंमें संलग्न रहते हैं तथा ईर्ष्याच्च अन्य गुणों मनुष्योंकी प्रशंसा न करके उल्टी निन्दा करते हैं वे साधु बन्दना करने योग्य नहीं हैं] ॥२३॥

गाथार्थ—जो स्वाभाविक नग्न रूपको देखकर उसे नहीं मानता है, उलटा ईर्ष्याभाव रखता है वह संयम को प्राप्त होकर भी मिथ्यादृष्टि है ॥२४॥

विशेषार्थ—नग्न-दिगम्बर मुद्रा सहजोत्पन्न स्वाभाविक मुद्रा है उसे देखकर जो पुरुष उसका आदर नहीं करता है प्रत्युत नग्न-मुद्रा में अहंति करता हुआ यह कहता है कि नग्नत्व में क्या रखा है ? क्या पशु नग्न नहीं होते ? साथ ही दूसरोंके शुभं कार्यं में द्वेष रखता है वह दीक्षाको प्राप्त होने पर भी मिथ्यादृष्टि है । ऐसा पुरुष अपवाद वेष को धारण करता हुआ भी मिथ्यादृष्टि है । वास्तव में मुनिमार्ग में कोई भी अपवाद वेष स्वीकार्य नहीं है, परिस्थिति-वश उसे जो धारण करता है वह अपने गृहीतचारित्र से च्युत होने के कारण मिथ्यादृष्टि ही है । वह अपवाद वेष क्या है ? इसका जलार देते हुए संक्षेप टीकाकार ने व्यष्ट किया है

मिथ्यादृष्टिज्ञतिव्य इत्यर्थः । कोऽपवादवेषः ? कलो किल म्लेच्छादयो नन्तरं दृष्ट्वोपद्रवं पतीनां कुर्वन्ति तेन मण्डपदुर्गं श्री वसन्तकीर्तिना स्वामिना चर्यादिवेलायां तट्टीसादरादिकेन शारीरमाच्छाद्य चर्यादिकं कुत्ता पुन स्तन्मूङ्खनीत्युपदेशः कुतः संयमिनामित्यपवादवेषः । तथा नृपादिवर्गोत्पन्नः परमवैराग्यवान् लिङ्गशृङ्खिरहितः उत्पन्नमेहनपुट-दोषः लज्जावान् वा शोतादासहिण्युवा तथा करीति सोऽप्यपवाद-लिङ्गः प्रोच्यते । उत्सर्गवेषस्तु तत्त्वं एवेति ज्ञातव्यम् । 'सामान्योक्ती विविरुत्सर्गां विशेषोक्तो विधिरपवादः' इति परिभावणात् ॥२४॥

अमराण वंदियाणं रूपं ददूष्णं सोलसहियाणं ।

जे गारबं करन्ति य सम्मतविविवजिज्ञावा होति ॥२५॥

अमराणां वन्दितानां रूपं दृष्ट्वा शोलसहितानाम् ।

ये गर्बं कुर्वन्ति च सम्यक्त्वविविवजिता होति ॥२५॥

(अमराण वंदियाणं) अमराणां भवनवासित्यन्तर-ज्योतिष्क-कल्पवासि-कल्पातीतदेवानां वन्दितानां तथांस्मृत्यन्तर-भवनदेवानां (रूपं ददूष्णं) रूपं देष्यं पुष्ट्वा

कि कलिकाल में म्लेच्छ आदि पुरुष नान रूप देख कर मुनियों पर उपद्रव करते हैं इसलिये मण्डपदुर्ग में श्री वसन्तकीर्ति स्वामी ने संयमियों को यह उपदेश दिया कि चर्या आदि के समय चटाई आदिके द्वारा शारीरको ढक लें, बाद में चर्या आदि करके उसे छोड़ दें । दूसरा अपवाद वेष यह कि राजा आदि विशिष्ट वर्ग से उत्पन्न हुआ मनुष्य यदि उत्कृष्ट वैराग्य से युक्त होता है परन्तु लिङ्ग-शृङ्खि रहित होने अथवा लिङ्गके अग्रभागमें दोष होनेके कारण नग्न होने में लज्जा का अनुभव करता है तो वह वस्त्र धारण कर सकता है अथवा कोई शोत आदिके कष्टको सहन नहीं कर सकता है तो वह वस्त्र धारण करता है । इन अपवाद वेषोंको कुन्दकुन्द स्वामी सर्वथा अस्वीकार्य मानते हैं । उनका अभिप्राय है कि मुनिका वेष सहजोत्पन्न दिग्म्बर मुद्रा ही है जिसने हिंसादि पांच पापोंका नव कोटिसे त्याग किया है वह म्लेच्छादि दुष्ट पुरुषोंके उपसर्ग से भयभीत होकर किसी प्रकारके आवरणको स्वीकृत नहीं कर सकता । उपसर्ग आने पर समता भावसे उसे सहन करना ही मुनिका करन्तव्य है । इसा प्रकार जिसे शोत आदि का परिषह सहन नहीं होता तथा जो लिङ्गादि में विकार होने से दोक्षा धारण के योग्य नहीं है वह उत्कृष्ट आवक ऐलक धुल्लकके पद में रह कर ही संयम धारण करता है । भावनाके अतिरेक से चरणानुयोगकी व्यवस्था को भङ्ग कर

विशेष। कथंभूतानां ? (शोलसहियाणं) ब्रतरक्षासहितानां । (जे गारबं करन्ति वा) ये पुरुषा जैनाभासासत्यान्ये च गर्वं कुर्वन्ति अकारसत्येषां न कुर्वन्ति । (सम्यक्त्वविवेचितज्ञाहोति) सम्यक्त्वरहिता भवन्ति, मिथ्यादृष्टयो भवन्ति, अन्यत्वात्मत्वच्युता भवन्ति, महापात्रिको भवन्ति, दीर्घकाल संसारमध्ये पर्यटन्ति । उक्तं च—

ये गुरुं नैव भन्यन्ते तदुपास्ति न कुर्वते ।
अन्धकारो भवेत्तेषामुदितेऽपि दिवाकरे ॥

मुनिपद धारण नहीं करता और न अपने शिथिलाचारसे उसे कलङ्कित ही करता है । कुन्दकुन्द स्वामीने अपवाद वेषके रूप में पीछी कमण्डलु शास्त्र तथा शरोर की विवरताके निमित्त दिनमें एक बार शुद्ध आहार प्रहृण करना बतलाया है ॥ २४ ॥

गायार्थ—जो देवोंसे बन्दित तथा शोलसे सहित तीर्थकर परमदेवके (द्वारा आश्रित मुनियों के नग्न) रूपको देखकर गर्व करते हैं वे सम्यक्त्व से रहित हैं ॥ २५ ॥

विशेषार्थ—तीर्थकरका नमरूप भवनदासी, व्यन्तर, ज्योतिष और वैमानिक देवोंके द्वारा बन्दनीय है तथा शोल अर्थात् व्रतको रक्षासे सहित हैं । वैसे मुनियोंके नग्न रूपको देखकर जो जैनाभास अथवा अन्य-धर्मी लोग गर्व करते हैं तथा उनकी उपासना नहीं करते हैं वे सम्यग्दर्शन यानी सम्यक्त्वरूपी रत्नसे रहित हैं, मिथ्यादृष्टि हैं, सम्यक्त्वरत्नसे च्युत हैं, महापात्रकी हैं और दोषकाल तक संसारके मष्य भ्रमण करते हैं । कहा भी है—

ये गुरुं—जो गुरुको नहीं मानते हैं, और न उनकी उपासना करते हैं उनके सूर्योदय होने पर भी अन्धकार बना रहता है [यहाँ मिथ्यात्व को अन्धकार कहा है । सूर्योदय होनेपर लोक का बाह्य अन्धकार नष्ट हो सकता है पर मिथ्यात्व रूप अभ्यन्तर अन्धकार नष्ट नहीं हो सकता । उसे नष्ट करने के लिये सम्यक्त्व रूपी सूर्योदय की आवश्यकता रहती है और वह तब तक नहीं हो सकता जब तक नग्न-दिग्म्बर मुद्राधारी-निर्वाच्य गुरुओंके प्रति आस्था नहीं होती ।] ॥ २५ ॥

‘असंजदं ण वंदे वच्छविहीणोऽि सो ण वंदिज्ज ।

‘दुष्णिवि होति समाणा एगो वि ण संजदो होदि ॥२६॥

असंयतं न बन्देत वस्त्रविहीनोऽपि स न बन्द्येत ।

द्वावपि भवतः समानौ एकोऽपि न संयतो भवति ॥२६॥

(असंजदं ण) वंदे असंयतं गृहस्थवेषशारिणं संयमं पालयन्तपि न बन्देत ।
 (वच्छविहीणो वि सो ण वंदिज्ज) वस्त्र-विहीनोऽपि नग्नोऽपि संयमरहितो न
 बन्द्येत न नमस्कियेत् । (दुष्णिवि होति समाणा) द्वितोयेऽपि समाना संयमरहिता
 भवति । (एगो वि ण संजदो होदि) *एकोऽपि न संयतो भवति । गृहस्थः संयमं
 प्रतिपालयन्तप्यसंयमी ज्ञातव्य इति भावः ॥२६॥

गाथार्थ——असंयमी को नमस्कार नहीं करना चाहिये और जो वस्त्र-
 रहित होकर भी असंयमी है वह भी नमस्कार के योग्य नहीं है । ये दोनों
 ही समान हैं, दोनोंमें एक भी संयमी नहीं है ॥ २६ ॥

विशेषार्थ——जो संयम का पालन करता हुआ भी असंयत है अथात्
 सबस्त्र होनेसे गृहस्थ के वेष को धारण करता है उसे बन्दना नहीं करना
 चाहिये और जो वस्त्र-रहित अर्थात् नग्न होकर भी संयम से रहित है—
 मात्र द्रव्य-लिङ्ग को धारण करता है वह भी नमस्कार के योग्य नहीं
 है क्योंकि तत्त्व-दृष्टि से दोनों ही एक समान हैं, उनमें एक भी संयमी
 नहीं है ।

(जिनागम में पूज्यता संयमसे बतलाई गई है । संयम महावती के
 होता है और महावती निर्गन्ध होनेसे नग्न हो रहता है । जो साधु महा-
 वत रूप संयम का नियम लेकर भी वस्त्र धारण करता है, वह गृहस्थ
 है, अतः असंयमी होनेसे बन्दना के योग्य नहीं है । इसी प्रकार जो नग्न
 होकर भी वास्तविक संयम से रहित है वह भी असंयमी है, अतः नमस्कार
 करनेके योग्य नहीं है । यद्यपि संयमासंयम के धारक ऐलक क्षुल्लक
 ब्रह्मचारी आदि भी गृहस्थ के द्वारा बन्दनीय होते हैं तथापि यहाँ गुरु का
 प्रकरण होनेसे उनकी विवक्षा नहीं की गई है । यहाँ यह बात भी ध्यान
 देने योग्य है कि पंचम मुण्डस्थानवर्ती श्रावक अपने पदके अनुसार जो

१. असंजद क० ।

२. दुष्णिवि म० ।

३. अर्थ पाठः क पुस्तके नास्ति ।

ण वि देहो विजज्जइ ण वि य कुलो ण वि य जाइसंजुत्तो ।
को वंदमि गुणहीणो ण हु सवणो णेक सावओ होइ ॥२७॥

नापि देहो वन्द्यते नापि च कुलं नापि च जातिसंयुक्तः ।

कं वन्दे गुणहीनं न हि अमणो नैव श्रावको भवति ॥२७॥

(ण वि देहो विजज्जइ) नापि देहो वन्द्यते । (ण वि य कुलो) नापि च
कुलं पितृपक्षी वन्द्यते । (ण वि य जाइसंजुत्तो) न च जातिसंयुक्तो मातृपक्षशुद्धः
पुमान् वन्द्यते । (को वंदमि गुणहीणो) कं वन्दे गुणहीनम् अपितु गुणहीनं न

नियम लेता है उसका पालन करता है अतः वस्त्र-सहस्र होनेपर भी उसे
वसंयमी नहीं कहा जाता किन्तु संयमासंयमी कहा जाता है । पर जो
पंच महावत का नियम लेकर भी वस्त्र धारण करता है वह अपने गृहीत
संयम से च्युत होनेके कारण असंयमी कहा जाता है । इस गाथा में कुन्द-
कुन्द स्वामी ने द्रव्यसंयम और भावसंयम दोनों को उपादेय बतलाया
है । अपनी मान्यता के अनुसार कथित संयमका धारक होनेपर भी सबस्त्र
होनेसे जिसके द्रव्यसंयम नहीं है वह अवन्दनीय है, साथ ही वस्त्र-रहित
होनेसे द्रव्य-संयम का धारक होनेपर भी जिसके भाव-संयम नहीं है वह
भी अवन्दनीय है । मोक्षप्राप्तिके लिये द्रव्य-शुद्धि और भावशुद्धि दोनों
ही आवश्यक हैं ।] ॥२६॥

गाथार्थ—न शरीर की वन्दना को जाती है, न कुल की वन्दना की
जाती है किस गुणहीन की वन्दना करूँ ? क्योंकि गुण-हीन मनुष्य न
मुनि है और न श्रावक ही है ॥२७॥

दिशेषार्थ—न तो किसी का शरीर पूजा जाता है, न कुल—पितृपक्ष
पूजा जाता है और न जाति-मातृपक्ष पूजा जाता है किन्तु संयमरूप गुण
ही पूजा जाता है । जिसमें संयम नहीं है वह सुन्दर स्वस्थ शरीर, उच्च-
कुल और उच्चजातिवाला होकर भी अपूजनीय ही रहता है । कुन्दकुन्द
स्वामी कहते हैं कि मैं किस गुण-हीन की वन्दना करूँ ? अर्थात् मैं किसी
भी गुणहीन को वन्दना नहीं कर सकता । क्योंकि संयम गुण से अट्ट
पुरुष, न मुनि ही है और न श्रावक ही है । तात्पर्य यह है कि गुणवान्
मुनि ही वन्दनीय हैं—दमस्कार करते के दोष हैं ।

[इस गाथा में कुन्दकुन्द स्वामी ने प्रगट किया है कि मात्र सुन्दर
वस्त्र, शरीर, उच्चकुल और उच्चजाति से युक्त होनेके कारण ही किसी
मनुष्यकी पूजा नहीं होती किन्तु गुणों से युक्त होनेपर ही शरीरादि पूजा

^१किमपि बन्दे । (य हृ सवणो षेव साक्षो होइ) गुणहीनः पुमान् नै अभणो दिगम्बरो भवति नैव आवको भवति देशवती च न भवति । ^३ गुणवानैव मुनिर्वन्दनीय इति भाव ॥२७॥

बंदामि तवसमण्णा शीलं च गुणं च बंभचेरं च ।
सिद्धिगमणं च तेसि सम्मतेण सुद्धभावेण ॥२८॥

बन्दे तपः समापन्नान् शीलं च गुणं च ब्रह्मचर्यं च ।
सिद्धिगमनं च तेषां सम्यक्त्वेन शुद्धभावेन ॥२८॥

(बंदामि तवसमण्णा) बन्देऽहं कुन्दकुन्दाचार्यः । कान् ? मुनीनिरयुपस्कारः । कथंभूतान् मुनीन् ? (तवसमण्णा) तपः समापन्नान् । तथा तेसि तेषां मुनीनाम् (शीलं च) पूर्वोक्त-मष्टादश-सहस्र-संख्यं शीलं च बन्दे । (गुणं च) पूर्वोक्तं चतुरशोतिलक्ष-संख्यं गुणं जाहं बन्दे । तथा तेषां मुनीनां (बंभचेरं च) पूर्वोक्तं नवदिधं चतुर्चर्यं च बन्दे । तथा तेषां मुनीर्माणीं (सिद्धिगमणं च) आत्मोपलक्षित-लक्षणं सिद्धिगमनं मुक्तिप्राप्ति बन्दे । केन हृत्वा बन्दे ? (सम्मतेण) सम्यक्त्वेन

के निमित्त होते हैं इसलिये पूजा का मुख्य अङ्ग जो संयम है उसे प्राप्त करना चाहिये । उल्कुष्ट संयम की प्रतिज्ञा लेकर उससे ऋष्ट हुआ मनुष्य न मृति कहलाता है और न आवक । वह तो सोधा असंयमी है, अतः असंयमी होनेसे बन्दना के योग्य नहीं है ॥२८॥

गाथार्थ—मैं उन मुनियों को नमस्कार करता हूँ जो तप से सहित हैं । साथ ही उनके शीलको, गुणको, ब्रह्मचर्यं को और मुक्ति-प्राप्तिको भी सम्प्रबल्व तथा शुद्धभाव से बन्दना करता हूँ ॥२८॥

विशेषार्थ—अनशत-ऊनोदर आदि के भेदसे तपके बारह भेद हैं । शीलके अठारह हजार भेद होते हैं । गुणोंके चौरासी लाख भेद हैं और ब्रह्मचर्यं नवगाढ़ की अपेक्षा नौ प्रकारका है । जो तप शील, गुण और ब्रह्मचर्यसे सम्पन्न हैं उन मुनियोंको मैं नमस्कार करता हूँ । ऐसे मुनि ही अपनी साधना से सिद्धि—कर्म—नोकर्म और भावकर्म से रहित स्वस्वरूप

१. किमपि क० ।

२. अवणो म० ।

३. गुणवान् मुनिर् क० ।

शब्दया विचिह्नेण सम्बन्धानेन वन्दे । न केवल सम्मतेण वन्दे किन्तु (सुख-
भावेण) निर्मल परिणामेन अकुटिलतया निर्मायित्वेनेति तात्पर्यम् ॥२८॥

चउसद्विचमरसहितो चउतीसहि अइसएहि संजुत्तो ।
अणुवरबहुसत्तहितो कम्मक्षय कारणणिमित्तो ॥२९॥

चतुःषष्ठिचमरसहितः चतुःषिष्ठादिभरतिशयैः संयुक्तः ।
अनुवरबहुसत्तहितः कम्मक्षयकारणनिमित्ते ॥२९॥

(चउसद्विचमरसहितो) चतुःषष्ठिचमरसहितस्तीर्थकर-परमदेवो भवति तं
वन्दे इति विषमव्याख्या ज्ञातव्या (चउतीसहि अइसएहि संजुत्तो) चतुःषिष्ठादिभर-
तिशयैः संयुक्तस्तीर्थकर-परमदेवो भवति, तं वन्दे । (अणुवर-बहुसत्तहितो) अनुवर-
बहुसत्तहितः स्वाभिना सह ये पुष्टी गच्छन्ति सेऽमुचराः सेवकाः तथा बहुसत्ता
अपरेऽपि जीवास्तेभ्यो हितः स्वर्गमोक्षाद्यक इत्यर्थः । (कम्मक्षयकारणनिमित्ते)
कम्मणां क्षयकारणं शुक्लध्यानं तस्य निमित्ते प्राप्त्यर्थं वन्दे इति क्रियाकारक-
सम्बन्धः ॥२९॥

की उपलब्धि को प्राप्त होते हैं । यह स्वस्वरूपोपलब्धि ही जीवनका सर्वो-
परिलक्ष्य है, इसे मैं श्रद्धापूर्वक शुद्धभावसे नमस्कार करता हूँ ॥२८॥

गाथार्थ—जो चौसठ चमरों से सहित हैं, चौतीस अतिशयोंसे युक्त
हैं और विहार कालमें पीछे चलने वाले सेवक तथा अन्य अनेक जीवोंके
हित करने वाले हैं उन तीर्थकर परमदेव को मैं कम्मक्षय में कारणभूत
शुक्लध्यानकी प्राप्ति के लिये नमस्कार करता हूँ ॥२९॥

विशेषार्थ—तीर्थकर भगवान् 'चौसठ चमर रूप प्रातिहृत्य से सहित
होते हैं । दश जन्मके, दश केवलज्ञान के और चौदह देव रचित इस
प्रकार चौतीस अतिशयों से युक्त होते हैं । साथ ही विहार कालमें पीछे
चलने वाले सेवकों तथा अन्य अनेक जीवोंको स्वर्ग मोक्षके दायक हैं ।
उन तीर्थकर भगवान् को नमस्कार करनेमें उस शुक्लध्यान की प्राप्ति
होती है जो कि कम्मक्षयका साक्षात् कारण है । उस शुक्लध्यानकी प्राप्ति
के लिये ही मैं नमस्कार करता हूँ ॥ २९ ॥

१. भवभवासिनः २० व्यक्तिराः १६ कल्पवासिनः २४ चन्द्रौ सूर्यौ ४ इति
चतुःषष्ठि १४ (क० टिं०)

अथ कर्मि तानि कर्मक्षयकारणानि शुक्लव्यानहेतव इति प्रवने गाथामिमा
चकार श्रीकुन्दकुन्दाचार्यः—

णाणेण दंसणेण य तवेण चरियेण संजमगुणेण ।

चउहि पि समाजोगे मोक्षो जिणसासणे दिट्ठो ॥३०॥

ज्ञानेन दर्शनेन च तपसा चारित्रेण संयमगुणेन ।

चतुर्णामिपि समायोगे मोक्षो जिनशासने दृष्टः (दिष्टः) ॥३०॥

(णाणेण) ज्ञानेन । (दंसणेण य) दर्शनेन च (तवेण) तपसा । (चरि-
येण) चर्चितेन चरित्रेण । (तज्ज्ञानेण) हेतुमगुणेन एहाच्छुद्धां संयमगुण
उच्यते । (चउहि पि समाजोगे) चतुर्णामिपि समायोगे सति एकत्र सामग्रधाम्
(मोक्षो जिणसासणे दिट्ठो) मोक्षो जिनशासने दृष्टः कथितः । समस्तेन मोक्षो
भवति न तु अ्यस्तेन । उक्तान्व वीरतन्दिशिष्येण पश्यनन्दिना—

बनशिखिनि मृतोऽन्वः संचरन् बाहमहिं—(घ्र)

द्वितय-विकलमूर्तिर्क्षिमाणोऽपि लङ्घनः ।

अपि सनयनपादोऽधर्थानहच तस्माद्

द्वावगमचरित्रैः संयुतैरेव सिद्धिः ॥

अब आगे कर्मक्षय के कारण तथा शुक्लव्यान के हेतु क्या क्या हैं ?
यह प्रवन होने पर श्री कुन्दकुन्दाचार्य निम्नलिखित गाथा लिखते हैं ।

गाथार्थ—सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्तप और सम्यक्चारित्र ये
चारों संयमगुण कहलाते हैं । इन चारों के एकत्रित होने पर ही जिन-
शासन में मोक्ष कहा है ॥३०॥

विशेषार्थ—सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन सम्यक्तप और सम्यक्चारित्र
इन चारों के समायोग से ही जिन-शासन में मोक्ष की प्राप्ति बतलाई गई
है । इन चारों के समायोग को संयम गुण कहा जाता है, अतः संक्षेप से
संयम गुण के द्वारा मोक्ष होता है, ऐसा भी कहा जा सकता है । ज्ञान,
दर्शनादि मिलकर ही मोक्ष के मार्ग हैं, भिन्न भिन्न नहीं । जैसा कि श्री
वीरतन्दो के शिष्य पश्यनन्द मुनि ने कहा है—

बनशिखिनि—अन्धा मनुष्य अच्छो तरह चलता हुआ, दोनों पैरों से
रहित लैगड़ा मनुष्य देखता हुआ और 'यह अग्नि है' इस शब्द से रहित
मनुष्य नेत्र और पैरों से सहित होता हुआ भी चूँकि दावानल में जल कर

१. पश्यनन्दिशिष्यविशेषतिकायाम् ।

णाणं णरस्स सारो सारो वि णरस्स होइ सम्मतं ।

सम्मताओ चरणं चरणाओ होइ णिवाणं ॥३१॥

ज्ञानं नरस्य सारं सारमपि नरस्य भवति सम्यक्त्वम् ।

सम्यक्त्वतः चरणं चरणतो भवति निवाणम् ॥३१॥

(णाणं णरस्स सारो) ज्ञानं नरस्य जीवस्य सारः । (सारोवि णरस्स होइ सम्मतं) सम्यग्ज्ञानादपि जीवस्य सम्यक्त्वं सारतरं भवति । 'तस्मात् (सम्मताओ चरणं) सम्यक्त्वात् चरणं चारित्रं' भवति 'तस्मात् सम्यक्त्वं विना चारित्रं'

मरता है इससे सिद्ध होता है कि सम्यगदर्शनं, सम्यग्ज्ञानं और सम्याचारित्रं इन तीनों के मिलने पर ही मोक्ष प्राप्त होता है ।

[कार्य की सिद्धि के लिये दर्शन, ज्ञान और चारित्र तीनों का मिलना बाक्षयक है । इनके पृथक् पृथक् रहने पर कार्य को सिद्धि नहीं होती । एक बार बन में तोन मनुष्य पहुँचे—१. अन्धा, २. पंगु और ३ संशयालु । बन में आग लगने पर अन्धा मनुष्य भागने की चेष्टा करता है परन्तु सही सही मार्ग का ज्ञान नहीं होने से भाग नहीं पाता । पंगु मनुष्य यद्यपि सही सही रास्ता देखता है परन्तु दोनों पेरों से रहित होने के कारण भाग नहीं सकता और संशयालु मनुष्य यही निश्चय नहीं कर पाता कि यह आग लग रही है या पलाश-फूल रहे हैं अतः वह भागने की चेष्टा ही नहीं करता । इस तरह तोनों मनुष्य आग में जल कर मर जाते हैं । इस दृष्टान्त से दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीनों की उपयोगिता सिद्ध है । कुन्दकुन्द स्वामी ने दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन चारों के समायोग को मोक्ष का कारण माना है जब कि तत्कार्थ—सूत्रकार उमास्वामी तथा पद्मनन्दी आदि आचार्यों ने दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीन के समायोग को मोक्ष का कारण माना है । इसमें सिद्धान्तभेद नहीं है क्योंकि तप चारित्र का ही विशिष्ट अङ्ग है, अतः उमास्वामी आदि आचार्यों ने चारों सम्यक्चारित्र में ही अन्तर्निहित कर दिया है ।] ॥३१॥

गाथार्थ—ज्ञान जीव के सारभूत है और ज्ञान को अपेक्षा सम्यक्त्व सारभूत है क्योंकि सम्यक्त्व से ही चारित्र होता है और चारित्र से निवाण की प्राप्ति होती है ॥३१॥

१. तस्मात् म० ।

२. तस्मात् म० ।

श्रतिपालयन्नपि पुमानचारित्रो भवति । (चरणाबो होइ जिव्वार्ण) चरणाच्चा-
रित्रान्निवार्णं सर्वकर्मक्षयलक्षणो मोक्षो भवति । तेन सर्वेभ्यो दर्शनभुक्तृष्टमिति
ज्ञातव्यम् ॥३१॥

णाणमिम दंसणमिम य तवेण चरिएण सम्मसहिएण ।

'चउर्घुवि समाजोगे सिद्धा जीवा ण संदेहो ॥३२॥

ज्ञाने दर्शने च तपसा चारित्रेण सम्यक्त्वसहितेन ।

चतुर्णामिपि समायोगे सिद्धा जीवा न संदेहः ॥३२॥

(णाणमिम) ज्ञाने सति । (दंसणमिम य) दर्शने च सति (तवेण) तपसा
हुत्वा । (चरिएण) चरितेन चारित्रेण हुत्वा । (सम्मसहिएण) सम्यक्त्वमहि-
तेन । ज्ञाने तपसचारित्रं च व्यर्थं सम्यक्त्वं चिनात् । तेन (चउर्घुविं समाजोगे)
चतुर्णां समायोगे मेलापके सति । (सिद्धा जीवा ण संदेहो) जीवाः सिद्धा मुक्ति
गता अत्र सन्देहो नास्ति ।

विशेषार्थ—गाथा में आये हुए नर शब्द से मनुष्य वर्थं न लेकर जीव
सामान्य लिया है । जीवभाव के जीवन में ज्ञान एक सार-पूर्ण गुण है, उस
ज्ञान को अपेक्षा सारपूर्ण गुण सम्यक्त्व है क्योंकि सम्यक्त्व से चारित्र
होता है, बिना सम्यक्त्व के चारित्र का पालन करता हुआ भी पुरुष
चारित्र से रहित कहा जाता है और चारित्र से समस्त कर्म-क्षयरूप लक्षण
से युक्त मोक्ष होता है । इसलिये सम्यग्दर्शन सबसे उत्कृष्ट है, ऐसा
जानना चाहिये ॥३१॥

गाथार्थ—सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्त्वप और सम्यक्चारित्र इति
चारों के मिलने पर जीव सिद्ध होते हैं इसमें संदेह नहीं है ॥३२॥

विशेषार्थ—सम्यक्त्व वर्षति यथार्थता से सहित ज्ञान, दर्शन, तप
और चारित्र इन चारों का समायोग-मेल होने पर ही जीव सिद्ध होते हैं
मुक्ति को प्राप्त होते हैं । सम्यक्त्व से रहित ज्ञान दर्शनादि मुक्ति के
कारण नहीं हैं और न पृथक् पृथक् ही मुक्ति के कारण हैं किन्तु चारों का
मेल होने पर ही मुक्ति प्राप्त होती है, इसमें संदेह नहीं है । ऐसा ही
कहा है—

तथा चोकर्त—

हुतं ज्ञानं क्रिया शून्यं होता चाज्ञानिनः क्रिया ।

धावन्त्रयम्बको नष्टः पश्यन्तपि च पड़गुकः ॥

तथा चाहेता—

ज्ञानं पञ्चौ क्रिया चान्वे निःशब्दे नार्थकृदूद्यम् ।

ततो ज्ञान-क्रिया-श्रद्धात्रयं तत्पदकारणम् ॥

कल्याणपरंपरया लहंति जीवा विशुद्ध सम्पत्तं ।

सम्मर्द्दसण रथणं अग्निदि सुरासुरे लोए ॥३३॥

कल्याणं परम्परया लभन्ते जीवा विशुद्धसम्यक्त्वम् ।

सम्यग्दर्शन-रत्ने अर्घ्यते सुरासुरे लोके ॥३३॥

(कल्याणपरंपरया लहंति जीवा विशुद्ध सम्पत्तं) कल्याणानां गर्भावितार-जन्माभिषेक-निष्कर्मण-ज्ञाननिर्वाणानां परम्परया श्रेष्ठा सह जीवा भव्यप्राणिनो विशुद्ध-सम्यक्त्वं निरतिचार-सम्यक्त्वं प्राप्नुवन्ति । यदैव जीवः सद्दुष्टिर्भवति

हुतं ज्ञानं—क्रिया अर्थात् चारित्र से शून्य ज्ञान नष्ट है और अकार्य-कारी है और ज्ञान-शून्य मनुष्य की क्रिया नष्ट है—अकार्य-कारी है, अन्धा मनुष्य दौड़ता हुआ भी नष्ट होता है और लंगड़ा मनुष्य देखता हुआ भी अग्नि में नष्ट हो जाता है ।

ऐसा हो आहेत-जैन कहते हैं—

ज्ञानं पञ्चौ—लंगड़े मनुष्य का ज्ञान, अन्धे मनुष्य की क्रिया और श्रद्धा-न्हीन मनुष्य को दोनों ही-वस्तुएँ कायंकामी नहीं हैं । इसलिये क्रिया, ज्ञान और श्रद्धा इन तीनों को एकता ही मोक्षपद का कारण है ॥३२॥

गाथार्थ—भव्य जीव कल्याणों के समृह के साथ निर्दोष सम्यक्त्व को प्राप्त होते हैं । देव दानवों के भुवन में सम्यग्दर्शन रूप रत्न सबके द्वारा पूजा जाता है ॥३३॥

विशेषार्थ—गर्भावितार, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण ये पांच कल्याणक हैं । भव्य जीव निरतिचार सम्यक्त्व को प्राप्त होते हैं, और उसके साथ ही गर्भावितार आदि पांच कल्याणकों को भी प्राप्त होते हैं । उक्त कल्याणक तीर्थकर परम देव के होते हैं । तात्पर्य यह है कि जब जीव सम्यग्दृष्टि होते हैं तभी तीर्थकर परमदेव होते हैं । तीर्थकर बनने के लिये दशान-विशुद्धि का होता अत्यन्त आवश्यक है । देव और दानवों

तदेव तीयंकर-परमदेवो भवतीति भावः । (सम्यग्दर्शन-रत्नं (अष्टविंशति सुरासुरे लोह) अर्थात् पूज्यते बहुमूल्यं भवति देवदानवभूवने । एतद् रत्न-मूल्यं कोऽपि कतुं न शक्नोति करोति चेन्मूल्यं तथा सदा कुण्डी मुखे भवेत् ॥३३॥

वृद्धूण य मणुयत्तं सहितं तह उत्तमेण गुत्तेण ।

लद्धूण य सम्मतं अक्षय सुक्खं च मोक्खं च ॥३४॥

दृष्ट्वा च मनुजत्वं सहितं तथा उत्तमेन गोत्रेण ।

लब्ध्वा च सम्यक्त्वं अक्षयसुखं च मोक्खं च ॥३४॥

(वृद्धूण य) दृष्ट्वा च जात्वा । कि ? (मणुयत्तं) मनुजत्वं मनुष्य-जन्म अनेकदृष्टान्ते दुर्लभं विचार्य महासमुद्दे-करच्चुत-रत्नमिव । (सहितं तह उत्तमेण गुत्तेण) उत्तमेन गोत्रेण कुलेन सहितं संयुक्तं । (लद्धूण य सम्मतं) सम्यक्त्वं च लब्ध्वा । (अक्षय सुखं च मोक्खं च) एतत्सामग्र्यं प्राप्य अक्षयसौख्यं निज-शुद्ध-शुद्ध परमात्म-श्रद्धान-ज्ञानानुचरणस्वभावोत्तमं परमानन्दलक्षणं सुखं भवति, न केवलमक्षयसुखं भवति मोक्खं च द्रव्यकर्मनोकमंरहितं ऊर्जैगमनलक्षणं परमनिर्वाणं च चकास्ति ॥ ३४ ॥

से युक्त इस संसार में सम्यग्दर्शन, सधके द्वारा पूजा जाता है । इस रत्न का मूल्य कोई भी करने को समर्थ नहीं है । यदि उसका कोई मूल्य करता भी है तो वह सुहमें शीघ्र ही कुण्डो हो जाता है । अर्थात् अपने उपदेश के द्वारा जो सम्यग्दर्शन के महत्व को कम करता है उसके मुख में कुण्ड होता है ॥३५॥

गायार्थ—[जो उत्तम गोत्र से सहित मनुष्य जन्मको अत्यन्त दुर्लभ विचार कर सम्यक्त्व को प्राप्त होता है वह अविनाशी सुख तथा मोक्खको प्राप्त होता है ॥३५॥]

विशेषार्थ—जिस प्रकार हाथसे छूट कर महा समुद्रमें गिरा हुआ रत्न पाना अत्यन्त दुर्लभ हो जाता है उसी प्रकार उत्तम गोत्रसे युक्त मनुष्य जन्मका पाना अत्यन्त दुर्लभ है । इस तरह अनेक दृष्टान्तोंके द्वारा मनुष्य जन्मकी दुर्लभताका विचार करके जो सम्यक्त्व-सम्यग्दर्शनको प्राप्त होता है वह निज शुद्ध बुद्ध अर्थात् सर्वज्ञ बीतराग स्वभावसे युक्त परमात्माके श्रद्धान ज्ञान और चारित्र स्वभावसे उत्पन्न परमानन्द-लक्षण सुखको प्राप्त होता है । न केवल अविनाशी सुखको प्राप्त होता है किन्तु द्रव्यकर्म, नोकर्म और भावकर्मसे रहित ऊर्जैगमन लक्षणसे युक्त निवीणिको भी प्राप्त होता है ॥ ३५ ॥

विहरवि जाव जिणिंदो सहस्रदुषुलवजणोहि संजुलो ।
चौतीस अड्सवजुदो ता परिमा यावरा भणिया ॥३५॥

विहरवि गावजिनमेन्दः सहस्राष्ट्युलशणः संयुक्तः ।

ननुस्थितिशतामयुलः ता प्राप्तमा ल्यावरा भौणिता ॥३५॥

(विहरवि जाव जिणिंदो) विहरवि परिमा चार्यवज्ज्ञे यावलक्ष्मोदर्शन करोति जिने-प्रसीधिकरन्परमवेबः । स कथभूतः (सहस्रदुषुलवजणोहि संजुलो) वज्ज्ञानिक-सहस्राष्ट्युलशणः संयुक्तः । (चौतीस अड्सवजुदो) ननुस्थितिशतामयुलः (ता परिमा यावरा भणिया) ता प्रतिमाता प्रतिविस्वं प्रतिकृति, ल्यावरा भौणिता । इह मध्यलोके विषयतात् ल्यावरविस्तृत्यात् । [प्रोग्रमभ्रकाले एक स्मृत् गपये निन-प्रतिमा जन्मुना कम्पते] अनाहारेण तु यावरा तामी-सहस्राष्ट्युल-स्थानिकावि-वटिता प्रतिमा ल्यावरा । समयसरण-न्यगिक्षा जङ्गमा जिनप्राप्तिमा भौणितापापते ।

अथ कानि तानि जिन लक्षणानि अष्टाविंशत्युलसंख्यानीति चेदुच्यम्हे—

गायावे—एक हजार आठ सुभ लक्षणोंसे युक्त तथा चौतीस अतिशयों से सहित तीर्थकर आवान् जब तक यहाँ विहार करते हैं तब तक उनको स्थान व प्रतिमा कहा गया है ॥ ३५ ॥

विशेषावे—तीर्थकर परम देव श्रीकृष्ण आवि १०८ लक्षणों और लिल मसा आदि नी सी व्यञ्जनों से सहित होते हैं तथा वह जन्मके, वस केवलज्ञान के ओर चोदह देवकृत इस तरह चौतीस अतिशयों से सहित होते हैं । इन सब से युक्त तीर्थकर जिनेन्द्र जब तक आयंकण्ठ में जन्म-जीवों को संबोधते हुए निहार करते रहते हैं तब तक उन्हें स्थान व प्रतिमा कहा जाता है और जब वे स्वरूप कलोका छाप करके घुक समय में सुख-शिला की ओर यावर होते हैं तब उन्हें जङ्गम प्रतिमा कहते हैं । प्रतिमा, प्रतिमाता, प्रतिविस्व और प्रतिकृति ये सब प्रतिमाओं के नाम हैं । इवय-हार की विवेदा चन्द्रमा, सुखर्ण, बहुमर्णि तथा स्थानिक जावि से जिन्मित प्रतिमा ल्यावर भौणिता कहलाती है और समयसरण में सुखोभित विहार करने वालो निन-प्रतिमा-तीर्थकर परमदेव का एवीर जङ्गम प्रतिमा कहते जाते हैं ।

प्रथम श्रीकृष्णकर के एवीर में नामे जाने वाले एक हजार आठ लक्षण कीम-कीम हैं यह प्रकट करते हैं—श्रीकृष्ण, हृष्ण और ऐरोगी जन्म, एवं

‘श्रीवृक्षः । करचरणेषु शङ्खः । अम्बोजम् । स्वस्तिक । अकुलः । तोरणं ।
चामरं । ल्वेतातपत्रं । सिहासनं । ध्वजः । मत्स्यी । कुम्भी । कम्भयः । चक्रं ।
समुद्रः । सरोबरं । विमानं । भवनं । गंगः । नरनाथीं । सिंहः । वाणिजनुषीं । मेरः ।
इन्द्रः । पर्वतः । नदी । पुरं । गोपुरं । चन्द्रः । सूर्यः । जात्यस्वः । व्यजनं । वेणु ।
बीणा । मृदङ्गः । पुष्पमाले द्वे । पट्टकूलं । हृदटः । कुण्डलादि घोडशाभरणानि ।

स्वस्तिक, अंकुश, तोरण, चामर, सफेदछत्र, सिहासन, ध्वज, दो पञ्चल,
दो कलश, कच्छुआ, चक्र, समुद्र, सरोबर, विमान, भवन, हाथी, स्त्री पुरुष,
सिंह, धनुषवाण, मेर, इन्द्र, पर्वत, नदी, पुर, गोपुर, चन्द्र, सूर्य, उत्तम
घोड़ा, व्यजन, बाँसुरी, बीणा, मृदङ्ग, दो पुष्पमालाएँ, रेशमोवस्त्र, बाजार,
कुण्डल आदि सोलह आभूषण, फलोंसे युक्त उपवन, अच्छी तरह पका
हुआ धानका खेत, रत्नद्वौप, वज्र, पुष्पिवी, लक्ष्मी, सरस्वती, कामधेनु,
बैल, चूडामणि, महानिधि, कल्पबेल, सुवर्ण, जम्बूवृक्ष, गरुड, नक्षत्र,

१. विभुः कल्पतरात्मानां वभाद्रात्मानोऽनुवादः ।

षुभानि लक्षणात्मस्मिन् कुसुमानीव रेजिरे ॥ ३६ ॥

तानि श्री—वृक्षशङ्खाब्जस्वस्तिकांकुशतोरणम् ।

प्रकीर्णकसिद्धचक्रसिंहविष्टरकेतनम् ॥ ३७ ॥

अयौ कुम्भी च कूर्मश्च चक्रमिथः सरोबरम् ।

विमानभवने नारौ नरनाथीं भूगाधिपः ॥ ३८ ॥

वाणवाणासने मेरः सुरराद् सुरभिम्भगा ।

पुरं गोपुरमिन्दूकौ जात्यस्वस्त्रालवृत्तकम् ॥ ३९ ॥

वेणुर्दीणा मृदङ्गश्च लज्जौ पट्टांषुकापणौ ।

स्फुरन्ति कुण्डलादीनि विचित्राभरणानि च ॥ ४० ॥

उद्धानं फलितं शेषं सुपलवकलशाभितम् ।

रत्नद्वौपश्च वज्रं च मही लक्ष्मीः सरस्वती ॥ ४१ ॥

सुरभिः सौरभेयश्च चूडारत्नं महानिधिः ।

कल्पबल्ली हिरण्यं च जम्बूवृक्षश्च पञ्जिराद् ॥ ४२ ॥

उद्गुनि तारकाः सौव्र ग्रहाः सिंहार्थपाशपः ।

प्रातिहार्यात्महार्याणि मङ्गलात्मपराणि च ॥ ४३ ॥

लक्षणात्मेवमादीनि विभोरष्टोतरं शतम् ।

व्यञ्जनात्मपराण्यासन् शतानि नवं संस्कर्या ॥ ४४ ॥

फलिनमुखान् । सुपक्षकलमक्षेत्रं । रत्नदीपः । वज्रः । मही । लक्ष्मीः । सरस्वती ।
सूरभिः । वृषभः । चक्रादलं । प्रहृष्टिभिः । कल्पवल्लीः । हिरण्यं । जग्मूवृक्षः ।
गरुडः । नक्षत्राणि । तारका । राजसदनं ग्रहाः । सिद्धार्थपादपः । अष्टप्रातिहारीणि ।
अष्ट मञ्जुलानि । एवभादीनि अष्टोत्तरशतं लक्षणानि । तिलक मसकादीनि
नवशतव्यञ्जनानि तात्यपि लक्षणशब्देनोच्यते ।

अथ के ते चतुर्शिवशादतिशयाः ? निःस्वेदता, निर्मलता, क्षीरगौरहशिरता,
समचतुरसस्थानं, वज्रवृषभनाराचसंहननं, सुरूपता, सुगन्धता, सुखक्षणता,
अनन्तवीर्यं, प्रियहित-वादित्वम्, इत्येते दशातिशया जन्मन वारक्ष्य भवति, तथा
वातिकर्म-वयजा वशातिशयाः सन्ति, ते के ? गुण्युतिशतचतुर्ष्टय-मुभिक्षता, गगन-
गमनं, प्राणिकधामाव, भुक्तेरभावः उपसर्गभावः, चतुर्मुखत्वम्, सर्वविद्या प्रभुत्वम्,
प्रतिधिम्ब-रहितत्वम्, लोचनप्रसभिःस्पन्दः, नक्षकेशानामवृद्धिः, इति वातिकर्म-
वयजा वशातिशयाः, देवोपनीताऽननुदशातिशयाः, तथाहि-सर्वार्थमागधीका भाषा,
कोऽयमर्थः ? अर्द्धं भगवद्भाषा 'मगवदैशभाषात्मकं अर्द्धं च सर्वभाषात्मकं, कथमेवं

तारका, राजभवन, ग्रह, सिद्धार्थवृक्ष, अष्टप्रातिहार्य सधा अष्ट मञ्जुल
इत्य इन्हें आदि लेकर एकसी आठ लक्षण होते हैं और तिल, मसा
आदि तीनों व्यञ्जन होते हैं । ये सब मिलकर एक हृजार आठ लक्षण
कहतात हैं ।

अब चौतीस अतिशय कहते हैं—

पसीना नहीं आना, मलमूत्र रहित शरीर का होना, दूधके समान
सफेद रुधिर, समचतुरसरास्थान, वज्रदृष्टभनाराचसंहनन, सुन्दररूप,
सुगन्धता, उत्तम लक्षणों युक्तपना, अनन्त वीर्य और प्रिय तथा हितकारी
वचन बोलना ये हण अतिशय जन्म गे ही होते हैं । इनमें गिराय पाति
कमीके लघसे होनेवाले निम्नलिखित दशा अतिशय और होते हैं चारबी-
कोश लक्षणिय रहना, आकाश मे गमन होना, प्राणिकधका अभाव
होना, वज्रलाहार का अभाव, उपसर्ग का न होना, आरोदिशाजीते सुख
दिलना, सब विद्याओं का स्वासीपना, छायाका नहीं पड़ना, नेत्रोंके पलक
नहीं लगना, और नख सधा केशोंका नहीं बढ़ना; ये केवलशान के दशा
अतिशय हैं । अब देवोपनीत चौदह अतिशय कहते हैं—

सर्वार्थमागधी भाषाका होना । हसका अभिप्राय यह है कि विष्व-
भनिमें अर्ध भाग की भगवात् की भाषा है जो मगवदैशकी भाषा स्वरूप

देवोपनीतत्वमिति चेत् ? मागधदेवसन्निधाने तथा परिणामतया भाषया संस्कृत-भाषया प्रकर्तते ॥१॥ मैश्वी च सर्वजनता-विषया सर्वे जनसमूहाः मागधप्रीतिकर-देवास्तिशयवशात् भाषध-भाषया भाषन्ते परस्पर मित्रतया च बर्तन्ते इति द्वावति-शयौ ॥२॥ सर्वत्रूनां फलस्तवकाः, सर्वत्रूनां पल्लवाः, सर्वत्रूनां पुष्पाणि सर्वदीना भवन्ति ॥३॥ आदर्शसदृशी रत्नमयी भूमिर्भवति, वायुः पृष्ठत आगच्छति ॥४॥ सर्वलोकस्य परमानन्दे भवति ॥५॥ अप्रेऽप्य योजनमेकं सुगन्धगन्धकहा भूमिभागं प्रमार्जन्ति घूलिकण्टकखटकीटक ककंर पाषाणादिकं च दूरीकुर्वन्ति ॥६॥ तदमूम्यु-परि मेघकुमारा गन्धोदकं वर्षन्ति ॥७॥ सुवर्णप्रपदमरागमणिकेसर-विराजितं योजनमेकं कमलं तादृशाचतुर्दशकमलवेष्टितं स्वामिनः पादाभो भवति तादृशानि पदमानि सप्ताये भवन्ति सप्त पृष्ठतश्च भवन्ति ॥८॥ अष्टादश धान्यानि भूमौ निष्पद्धत्ते ॥९॥ दिश आकाशाश्च रजोधूमिकादिगदाहादिरहिता भवन्ति ॥१०॥

होता है और आधा भाग समस्त भाषाओंका रहता है इसलिये उनको भाषाको सर्वार्थमागधी भाषा कहते हैं। भाषामें वह उक्त प्रकारका परिणमन मागधदेवोंके सन्निधानमें होता है इसलिये उसमें देवोपनीतपना बन जाता है। दूसरा अतिशय सब जनतामें मैश्वीभाव का होना है मागध-देवोंके अतिशय के कारण सब लोग परस्पर भाषध भाषासे बोलते हैं और प्रोतिकर देवोंके अतिशय से सब लोग परस्परमें मित्रता से रहते हैं। इस तरह दोनों अतिशय देवकृत अतिशय सिद्ध हैं। सब ऋतुओंके फल और फूलोंके गुच्छे प्रकट होना यह तीसरा देवकृत अतिशय है इसमें वृक्ष आदि वनस्पतियोंके सब ऋतुओंके पल्लव और सब ऋतुओंके पृष्ठ आदि प्रगट होते हैं। चतुर्थ अतिशयमें पृथिवी दर्पणके समान रत्नमयी हो जाती है। पाँचवें अतिशयमें वायु पीठकी ओरसे बहतो है। छठवें अतिशयमें सब लागों को परम आनन्द होता है। सातवें अतिशय में सुगन्धित वायु आगे आगे एक योजन तककी भूमिको साफ करती रहतो है अर्थात् धूली कंटक आदिको दूर करती रहती है। आठवें अतिशय में उस साफकी हुई भूमि-पर मेघकुमार देव गन्धोदक-सुगन्धित जलकी वर्षा करते हैं। नौवें अतिशय में सुवर्णकी कलिकाऊं और पश्चरागमणिमय केसरसे सुशोभित एक योजन विस्तार वाला कमल ऐसे हो चौदह कमलोंके साथ भगवान्‌के पैरके नीचे होता है अर्थात् एक कमल भगवान्‌के पैरके नीचे और सात सात कमल आगे पीछे होते हैं। सात सात कमलों की ३२ पक्षितया होती हैं। तथा

१. सुगन्धगन्धा वहा म० ।

ज्योतिर्देवा अन्तरदेवा भवनवासिनश्च देवाः सौषमेन्द्राजया सर्वेषां देवादीनां
समाह्नानं कुर्वन्ति ॥१२॥ अयेऽप्ये वर्मचक्रं गगने गच्छति चक्रवतिचक्रवत् ॥१३॥
चतुर्दशोऽतिशयोऽष्टमङ्गलानि ॥१४॥ भूज्ञारः—सुवर्णलुका, ताली—मञ्जोरः,
कलशःकनककुम्भः, अजः पताका । सुप्रीतिका—विचित्रचित्रमयी पूजाइव्यस्था-
पनाही स्तम्भाधारकुम्भी, ईर्वतच्छब्दं, दर्पणः, चामरं च एतानि प्रत्येकमष्टोत्तर-
षतसंस्थानि । एवं चतुर्दशातिशया देवोपनीताः, अष्ट प्रातिहार्याणि च मवस्ति—

अशोकवृक्षः सुरफुल्लवृष्टिर्दिव्यज्ञनिश्चामरमासनं च ।

भाषण्डलं दुन्दुभिरतपत्रं सत्प्रातिहार्याणि जिसेवराणाम् ॥

वारसविहृतवज्रज्ञा कम्मं स्वविक्षणं विश्विवलेण ससं ।

योसदृच्छस्त्वेहा णिष्वाणमणुत्तरं पता ॥३६॥

द्वादशविधतपोद्युक्ताः कर्म क्षणयित्वा विधिवलेन स्वीयम् ।

व्युत्सर्ग-त्यक्त-देहा निवणिमनुत्तरं प्राप्ताः ॥ ३६ ॥

बीच का एक कमल । इस प्रकार $32 \times 7 + 1 = 225$ कमल कुल होते हैं । दशवें अतिशयमें पृथिवी पर अठारह प्रकारके अनाज उत्पन्न होते हैं । चारहवें अतिशयमें दिशाएँ और आकाश धूली, धूमिका तथा विद्याहृ आदि दोषोंसे रद्दित होते हैं । बारहवें अतिशय में ज्योतिर्षक, व्याप्ति तथा भवनवासी देव सौषमेन्द्राजयी भाजासे सम देवीका आत्मान करते हैं । तेरहवें अतिशय में चाक्षरीकी सुदृशीन चक्रके समान भणवासुके आगे आकाशमें वर्मचक्र चलता है और चौदहवें अतिशय में अष्ट मञ्जल-द्रव्य दृष्टिगोचर होते हैं । सुवर्ण-मय भारी, तालूपत्र, सुवर्ण कलश, पताका, सुप्रीतिका-ठीना, सफेद छत्र, दर्पण और चमर ये आठ मञ्जल द्रव्य हैं । प्रत्येक मञ्जल द्रव्य एकत्री आठ एक सौ लाठ रहते हैं । इस प्रकार चौदह अतिशय देवोपनीत है ।

अब आठ प्रतिहार्यं कहते हैं—

अशोक वृक्ष—अशोक वृक्ष, वेवकुरा पूलपवृष्टि, विश्ववनि, चामर,
सिंहासन, भाषण्डल, दुन्दुभि और छत्रत्रय ये जिसेत्तदेवके आठ प्रतिहार्य हैं ॥३५॥

गोवाची—बारह प्रकारके तपसे युक्त मुखि वारित्रिके बस्ते अपने
पानीका ध्वनि करको पर्याप्त और कायोत्पात्र इन दो पकारके अनुसारंगिति
सरीका व्याप करते हुए सर्वोल्लुप्ति निषीणको प्राप्त तुए है ॥३६॥

(वारस विह सवजुता) द्वादश—विषतपो—युक्ता मुनयः । (कम्म खविल्ग) कमल्लिखिं ऋषयित्वा । (वोमटूच्चत्तेहा) पद्मासनकायोस्सर्गलक्षण—द्विविष—
अ्युत्सर्गेण त्यक्तशरीरा मुनयः । (णिक्षणमणुत्तरं पत्ता) निर्बाणं भोक्षभनुत्तरं
सर्ववर्गेभ्य उत्तमं प्राप्ता गताः सिद्धा इत्यर्थः । सम्यक्त्व-माहात्म्यमेतज्ञात्ममिति
सिद्धम् ।

इति श्री पद्मनन्दि कुन्दकुन्दाचार्यं वक्त्रग्रीवाचार्येलाचार्यं गृद्धपिच्छाचार्यं नाम ।
पञ्चक-विराजितेन सीमधर स्वामिकान-सम्बोधितभव्यजनेन श्री जिनचन्द्र सूरि
भट्टारकपट्टाभरणभूतेर्भ कलिकाल सर्वज्ञेन विरचिते षट् प्राभूतग्रन्थे सर्वभुनिमण्डली
मणिकलेन कलिकाल-गौतम स्वामिना श्री मलिलभूषणेन भट्टारकेणानुमतेन सकल-
विद्वज्जन-समाज-सम्मानितेनोभय-भाषा-कविचक्रतातिना श्री विद्यानन्दि गुरुन्मेवासिना
सूरिवर श्री श्रुतसागरेण विरचिता दर्शनप्राभृत टीका सम्पूर्ण ।

विशेषार्थ—अनशन, ऊनोदर, वृत्ति-परिसंख्या, रस-परित्याग, विविक्त
शब्द्यासन और कायन्कलेश इन छह बाह्य तथा प्रायविचित, विनय, वैया-
वृत्त्य, स्वाध्याय, अ्युत्सर्ग और ध्यान इन छह अन्तरगते भेदसे बारह
प्रकारके तपों से पुक्त मुनि, परम यथारूप्यातचारित्र बलसे अपने
कभीका क्षय करके पश्चासन या सहेजासनसे शरीरका त्याग करते हुए
सब वर्गोंसे उत्तम निर्बाण को प्राप्त हुए हैं। यह सब सम्यगदर्शनका
माहात्म्य जानना चाहिये ॥३६॥

इस प्रकार श्री पद्मनन्दी, कुन्दकुन्दाचार्यं, वक्त्रग्रीवाचार्यं, एलाचार्यं
और गृद्धपिच्छाचार्यं इन पाँच नामोंसे सुशोभित, सोमन्धर स्वामीके ज्ञान-
से भव्य जीवोंको सम्बोधित करने वाले, श्री जिनचन्द्र सूरिमट्टारकके
पट्टके आभरण स्वरूप, कलिकाल सर्वज्ञ कुन्दकुन्दाचार्यके द्वारा विरचित
षट् पाहुडग्रन्थ से समस्त मुनियोंके समूहसे सुशोभित, कलिकाल के गौतम
स्वामी श्री मलिलभूषण भट्टारकके द्वारा अनुमत, सकल विद्वत्समाज के
द्वारा सन्मानित, उभय भाषा सम्बन्धी कवियोंके चक्रवर्ती, श्री विद्यानन्द
गुरुके शिष्य सूरिवर श्री श्रुतसागरके द्वारा रचित दर्शन पाहुडकी टीका
सम्पूर्ण हुई ।



चारित्र प्राभृतम्

चारित्र प्राभृत के प्रारम्भ में संस्कृत टीकाकार श्री शुतसागर सूरि
मञ्जलाचरण करते हए प्रतिज्ञा वाक्य कहते हैं—

मवर्थं-सिद्धिप्रदमहंदीशं विद्यादिनन्दं वृषसस्यकन्दम् ।

मन्दोऽपि नत्वा विदृगोमि भक्त्या चारित्रसारं शृणुतायेमुख्याः ॥

सम्बन्ध सब्बदंसी णिम्मोहा वीयराय परमेष्ठी ।

वदितु तिजगवंदा अरहंता भवजीवेहिं ॥ १ ॥

णाणं वंसण सम्मं चारितं सोहि-कारणं तेसिं ।

मुक्त्याराहण-हेउं चारितं पाहुडं बोच्छे ॥ २ ॥

सर्वज्ञान् सर्वदशिनः निर्मोहान् वीतरागान् परमेष्ठिनः ।

वन्दित्वा लिङ्गद्वितात् अर्हतः भज्जीवैः ॥ ३ ॥

जानं दशनं सम्यक्चारित्रं शुद्धिकारणं तेषाम् ।

मोक्षाराधन-हेतुं चारित्रं प्राभृते वक्ष्ये ॥ २ ॥

(सम्बन्ध) सर्वज्ञान् । (वदितु) वन्दित्वा । (चारितं पाहुडं बोच्छे)
चारित्र नाम प्राभृते चारित्रप्राभृतं चारित्रसारं नाम ग्रन्थं बक्ष्ये । कः कर्ता ? अहं

टीकाकारका मंगलाचरण—

अर्थ—हे आर्यजनों में प्रमुख पुरुष हो ! यद्यपि मैं मन्दबुद्धि हूँ
तथापि समस्त प्रयोजनोंकी सिद्धिके दाता अर्हन्त भगवान् को तथा घर्मसूपो
घान्यको उत्पत्तिके मूल कारण विद्यानन्द गुरुको भक्तिपूर्वक नमस्कार
करके चारित्रसार-चारित्रप्राभृत ग्रन्थ को टीका लिखता हूँ सो श्रवण
करो ।

अब श्री कुन्दकुन्दाचार्य ग्रन्थके प्रारम्भमें मञ्जलाचरण करते हुए
प्रतिज्ञावाक्य लिखते हैं—

गायार्थ—मवंज, सर्वदर्शी, निर्मोह वीतराग, परम-पदमें स्थित, तीनों
जगत के द्वारा वन्दित एवं भव्य जीवोंके द्वारा वन्दनीय अरहन्त भगवान्
को तथा उनकी विशुद्धताके कारण सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्-
चारित्रको नमस्कार करके मोक्ष प्राप्ति के कारणभूत चारित्र-पाहुडको
कहता है ॥ १-२ ॥

कुन्त्वकुन्दाचार्यः । कर्थभूतान् ? सर्वज्ञान् । (सर्वदंसो) सर्वदण्डिनो लोकालोक-
वलोकनशीलान्, अपरं किविशिष्टान् ? सर्वज्ञान् । (णिमोहा) निमोहान्
मोहनीय कर्म-रहितान् । भूयोऽपि किल्पान् ? (वीयराय) वीतरागान् वीतः कर्त्त
गतो रागो येषां ते वीतरागास्तान् । ['अज ज्ञेपणे' इति ताबद्धातु 'अजेवीः' इति
सूर्णेण वीयादेशः । निष्ठाकृत प्रत्यये वीत इति निष्पद्यते । वीयराय हस्यत्र शस
लोपः । भूयोऽपि कि विशेषान् तिष्ठान् ? (लरदेहठी) परमेष्ठीति । कीर्त्यः ।]
परमे हन्द्र चन्द्रनरेन्द्र-पूजिते पदे तिष्ठतीति परमेष्ठीति । व्युत्पत्तेः समवसरण-
सम्परमण्डितानित्यर्थः । अपरं कर्थभूतान् सर्वज्ञान् ? (तिष्ठाकृदा) तिष्ठाद्विद्व-
तान् तिभुवनस्थितमध्यजनपूजितानित्यर्थः । पुनरपि कर्थभूतान् (अरहंता) [अ]
अरिमोहः, रकारेण रजो लभ्यते तत् ज्ञानावरण-दर्शनावरण-कर्मदृष्ट्यं लभ्यते तथा
तैनैव प्रकारेण रहस्यमन्तरायः कथ्यते तेन धाति-कर्म-चतुष्टय-हृननादिन्द्रादि-

विशेषार्थं—जो समस्त द्रव्यों और उनकी कालवयवर्ती समस्त
पद्धियोंको एक साथ विशेषरूप से जानते हैं उन्हें सर्वज्ञ कहते हैं । जो समस्त
लोक और अलोक को सामान्य रूपसे जानते हैं उन्हें सर्व-दर्शी कहते हैं ।
जो मोहनीय कर्म से रहित हैं उन्हें निर्मोह कहते हैं । जिनके राग द्वेष
आदि दोष नष्ट हो गये हैं वे वीतराग कहलाते हैं । ['अज धातु का
ज्ञेपण-नष्ट करना अर्थ होता है, निष्ठा-संज्ञक 'कृत' प्रत्यय होने पर वज्ज-
धातुके स्थान में 'अजेवीः'] इस सूत्रसे वी आदेश हो जाता है, इस तरह
जिनके राग द्वेष आदि विकार नष्ट हो गये हैं वे वीतराग कहलाते हैं ।
जो हन्द्र चन्द्र नरेन्द्र आदिके द्वारा पूजित परम पदमें स्थित हैं उन्हें
परमेष्ठी कहते हैं । जो तीनों लोकोंके द्वारा चन्दनोय हैं उन्हें त्रिजग-
द्वन्द्वित कहते हैं । जिनके सम्यगदर्शनादि गुण प्रगट होने की योग्यता है
उन्हें भव्य कहते हैं / अरहन्त भगवान् सर्वज्ञ आदि विशेषणोंसे विशिष्ट
हैं । अरहन्त शब्द का अर्थ लगाते हुए संस्कृत टोकाकारने 'अ' से अरि
अर्थात् मोहनीय कर्मको लिया और 'र' से रज तथा रहस्य का ग्रहण
किया है । रजका अर्थ ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्म है और रहस्य से
अन्तरायका बोध होता है, इस प्रकार अर अर्थात् चार धातिया कर्मोंका
जिन्होंने धात किया है वे अरहन्त कहलाते हैं । अथवा प्राकृतका अरहन्त
शब्द संस्कृतको 'अहं' धातु से निष्पन्न होता है जिसका अर्थ पूजाके

१. विशेषेण इता गता नष्टा रागा यस्य स वीतरागः । वीत शब्दः 'वि' उपसर्व-
पूर्वकं 'हन् जती' धातुः निष्ठा प्रत्यये सत्यपि सिध्यति ।

कुलभ्रमन्दसम्भविनीमङ्गणा पूजामहेन्तीत्यहेस्तानर्जतः । तथा (शब्दार्थीवेदिः) भव्यजीवंवन्द्या हति सम्बन्धः । (णाणं देसर्णं सम्म चारितं शोहिकारणं तेऽमि) तेषां सर्वशानां धाति-संधातधातनलक्षणायाः शृङ्खेः कारणं हेतुजनिं ददर्शनं सम्यक्-चारितं च कारणं । सम्म इति शब्द एकत्र गृहीतोऽपि शिभियोऽयः तेनायमयः सम्यग्यानं सम्यदर्शनं सम्यक्-चारितं च सर्वेषामपि कर्मणां कायकारणं मूलादुन्मूल-नस्य हेतुरिति भावः । तेन (मुक्खाराहण हेतुं) तेन कारणेन मोक्षाराक्षनाहेतुं कारणं । किम् ? (चारितं) चारित्रं । पाहुडं प्राभृतं सारभूतं चास्त्रमहं वक्ष्ये हति किया कारकसम्बन्धः । युगलं एतद्गाथाद्वयं युगलं युग्मं वर्तते ॥ १-२ ॥

एए तिष्णि वि भावा हृवंति जीवस्स अक्षयामेया ।

तिष्णं पि सोहणत्थे जिणभणियं तुविहृ चारितं ॥ ३ ॥

ऐते श्रयोऽपि भावा भवन्ति जीवस्य अक्षया अमेयाः ।

त्रयाणामपि शोषनार्थं जिनभणितं द्विविधं चारित्रम् ॥ ३॥

(एए तिष्णि वि भावा) ऐते श्रयोऽपि भावा ज्ञान-दर्शनं चारित्र-प्राप्त्यास्त्रयः परिणामाः । (हृवंति जीवस्स) जीवस्यास्मनः सम्बन्धिनो भवन्ति न तु पुद्गल-

योग्य होता है । इस तरह चार धातिथा कर्मोंके नष्ट होनेसे जो अन्य पुरुषों में न पाई जाने वाली अहंकार-पूजाको प्राप्त हैं वे अरहन्त (अहंत) कहलाते हैं । कितनी ही जगह 'अरहन्त' के स्थान पर 'अरिहंत' पाठ भी बोला जाता है जिसका सोभा अर्थ कर्म रूप शत्रुओं का धात करने वाला होता है । अरहन्त भगवान्‌की इस विशुद्धता का कारण सम्यग्दर्शन, सम्यग्यान और सम्यक्-चारित्र है अर्थात् इनके प्रभाव से उनके धाति-चतुर्थ नष्ट होते हैं । चारित्र-पाहुडके प्रारम्भमें कुन्दकुन्द स्वामी अरहन्त परमेष्ठो तथा उक्त रत्नव्रयको नमस्कार कर मोक्ष प्राप्ति का प्रमुख कारण जो सम्यक्-चारित्र है, उसका निरूपण करने वाले भाव पाहुड स्त्री को कहने की प्रतिज्ञा करते हैं ॥ १-२ ॥

गायार्थ—ये तीनों भाव जोवके अद्विनाशी और अपरिमेय भाव हैं । इन तीनों भावों की शुद्धिके लिये जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा कहा हुआ दो प्रकारका चारित्र है ॥ ३ ॥

विशेषार्थ—ज्ञान, दर्शन और चारित्र ये तीनों भाव जीव अर्थात् आत्मा के परिणाम हैं, पुद्गलके नहीं हैं । ये तीनों भाव अक्षय-अद्विनश्वर और अमेय-अमर्यादित-अनन्तानन्त हैं । यदि यही कोई कहे कि ज्ञानमें अनन्तप्रमाण तो ठीक है क्योंकि वह लोक और अलोकमें व्याप्त है परन्तु

स्मीति भगवः । कर्यभूतास्त्रयोऽपि भावाः ? (अक्षयामेया) अक्षया अविनश्वराः
उन्मेया अभर्तीति पूरुषा धर्मतत्त्वा इत्यर्थः । अनन्त्य धाक्षदानन्तरं भवत्येव लोकालोक-
व्यापकल्पात् । सम्यक्त्वचारित्रयोः कथमनन्तरतः नियतात्मप्रदेश-स्थितत्वादिति
चेन्न तयोरपि तत्सहचारित्वात् । यावन्मात्रं ज्ञानं तावन्मात्रं सम्यग्दर्शनं सम्यक्-
चारित्रं च तेषामेकीभावनिष्ठ्यात् (तिष्ठं पि सोहणत्वे) व्याणामपि सम्यग्दर्शनं ज्ञान—
ज्ञान—चारित्राणां दोषनार्थे शोधननिमित्तं । (जिणभणियं दुष्विह चारित्तं)
जिनेभणितं प्रदिपादिते द्विविघ्नं चारित्रं दर्शनाचार-चारित्राचार लक्षणं तद्
वश्यते ॥ ३ ॥

जं जाणद्व तं णाणं जं पिच्छद्व तं च दंसणं भणियं ।

णाणस्स पिच्छद्यस्य य समवण्णा होद्व चारित्तं ॥४॥

यद जानाति तद् ज्ञानं यत् पश्यति तच्च दर्शनं भणितम् ।

ज्ञानस्य दर्शनस्य च समापन्नात् भवति चारित्रम् ॥ ४ ॥

(जं जाणद्व तं णाणं) [यज्जानाति तज्ज्ञानं] । (जं पिच्छद्व तं च
दंसणं भणियं) यत्पश्यति तच्च दर्शनं भणितं । "कृत्यपुटोऽन्यत्रापि च" इति

सम्यग्दर्शनं और सम्यक् चारित्र में अनन्तपता किस प्रकार हो सकता है ?
क्योंकि वे नियत आत्म-प्रदेशों में ही स्थित रहते हैं ? तो उसका यह
कहना ठीक नहीं है क्योंकि सम्यग्दर्शन और सम्यक्-चारित्र भी ज्ञान के
ही सहचारी हैं । जितना विस्तृत ज्ञान है उतने ही विस्तृत सम्यग्दर्शन
और सम्यक्-चारित्र हैं, इस तरह उनमें एकीभावका निष्ठ्य है अर्थात्
तीनों एक रूप हैं । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र को शुद्धिका
निमित्त जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा कहा हुआ दर्शनाचार और चारित्राचार
यह दो प्रकार का चारित्र है ।

(यहीं जो ज्ञानको लोकअलोक-व्यापी कहा है उसका तात्पर्य इतना
है कि ज्ञान लोक तथा अलोकके पदार्थोंको जानता है । प्रदेशों की अपेक्षा
ज्ञान आत्म-इच्छ्यके विस्तार के बराबर है, आत्माको छोड़कर वह लोक
अलोकमें व्याप्त नहीं हो सकता ।)

गाथार्थ—जो जानता है वह ज्ञान है और जो प्रतीर्ति करता है वह
दर्शन कहा गया है । इन दोनोंके संयोगसे सम्यक्-चारित्र होता है ॥४॥

विशेषार्थ—कृत्य संज्ञक प्रत्यय तथा युद् प्रत्यय कारण और अधि-
करण के सिवाय अन्य अर्थ में भी देखे जाते हैं इस नियमसे यहीं ज्ञान
और दर्शन का युट् प्रत्यय कर्ता अर्थ में हुआ है इसलिये ज्ञान सब्दका

वधनात् कर्त्तरि थूद् प्रत्ययः । (ज्ञानस्स दैसणस्सै य समवच्छा होइ चारित्र)
ज्ञानस्य दर्शनस्य च समापन्नात् समायोगाच्चारित्रं भवति ।

जिणणाणदिट्ठिसुद्धं पढमं सम्मतचरणचारित्रं ।

विदियं संज्ञमचरणं जिणणाणसदेशियं तं पि ॥५ ।

जिनज्ञानदृष्टिशुद्धं प्रथमं सम्यक्त्वचरणचारित्रम् ।

द्वितीयं संयमचरणं जिनज्ञानसदेशितं तदपि ॥५ ॥

(जिणणाण दिट्ठिसुद्धं पढमं सम्मतचरण चारित्र) जिनस्य सर्वज्ञ वीत-
रागस्य सम्बन्धि यज्ञानं दृष्टिदर्शनं च ताम्यां शुद्धं पञ्चविंशति—दोष-रहितं
प्रथमं तावदेवकं सम्यक्त्वचरणचारित्रं दर्शनाचारित्रं भवति । (विदियं
संज्ञमचरणं) द्वितीयं संयमचरणं चारित्राचारलक्षणं चारित्रं भवति (जिणणाण
सदेशियं तं पि) जिनस्य सम्बन्धि यत्सम्यग्ज्ञानं तेन सन्देशितं सम्यद् निरूपितं
तदपि चारित्रं भवति । उक्ततत्त्व—

मूढतयं गदाशब्दो तथानायतनानि पद ।

अष्टो शङ्कादयश्चेति दृष्टोषाः पञ्चविंशतिः ॥ ५ ॥

निरूपत अर्थ है जो पदार्थोंको जाने और दर्शन शब्दका निरूपत अर्थ है
जो पदार्थोंको प्रतीति करे । यही दर्शन शब्दसे प्रतीति अर्थ ही आता
है । जब सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानका समायोग होता है तब सम्यक्-
चारित्र प्रगट होता है ॥ ४ ॥

गाथार्थ—चारित्र के दो भेद हैं उनमेंसे पहला जिनेन्द्र—वीतराग
सर्वज्ञदेवके ज्ञान और दर्शन से शुद्ध सम्यक्त्वचरण चारित्र है और दूसरा
जिनेन्द्र देवके सम्यग्ज्ञान के द्वारा निरूपित संयम चरण चारित्र है ॥५॥

विशेषार्थ—सम्यक्त्वचरण चारित्रका दूसरा नाम दर्शनाचार चारित्र
है । यह दर्शनाचार चारित्र सर्वज्ञ वीतरागके द्वारा प्रतिपादित ज्ञान और
दर्शन से शुद्ध है अर्थात् आगे कहे जाने वाले पञ्चीस दोषोंसे रहित है ।
तथा संयमचरण चारित्रका दूसरा नाम चारित्राचार है । यह चारित्रा-
चार चारित्र जिनेन्द्र देव के सम्यग्ज्ञानके द्वारा अच्छी तरह निरूपित है ।
पञ्चीस दोष इस प्रकार हैं—

मूढ-ऋणम्—तीन मूढता, आठ मद, छह अनायतन और शङ्का आदि
आठ दोष व सम्यग्दर्शन पञ्चीस दोष हैं ॥५॥

एवं चिय णाऊण य सब्बे मिच्छत्तदोससंकाई ।

परिहरि सम्मतमला जिणभणिया तिविहजोएण ॥६॥

एवं चेव ज्ञात्वा च सवान्तु मिथ्यात्वदोषान् शङ्कादोन् ।

परिहर सम्यक्त्वमलान् जिनभणितान् त्रिविधयोगेन ॥

(एवं चिय णाऊण य) एव चेव ज्ञात्वा च । (सब्बे मिच्छत्तदोस संकाई)
सवान् मिथ्यात्वदोषान् शङ्कादीन् । (परिहरि) परिहर हे जीव ! त्वं नरित्यज ।
कथंभूतान् ? (सम्मतमला) सम्यक्त्वमलान् पूर्वोक्तसलोककथितान् पठ्य-
विषतिदोषान् । कथंभूतान् ? (जिणभणिया) सर्वज्ञभणितान् श्रीमद्भगवद-
हेत्सर्वज्ञवीतरागप्रतिपादितान् (तिविहजोएण) मनोवचनकायलक्षणकर्मयोगेन
कृत्वा । कि तन्मूढत्रयम् ? लोकमूढं, पाखण्डमूढं देवतामूढं घेति । तत्र लोकमूढं—

सूर्यार्थं प्रहणस्नानं संकान्ती इविषयः ।

सरूपासेवानिसत्कारो देहग्रहाचर्चना (ग्रेहदेहाचर्चना) विषिः ॥ १ ॥

गोपुष्टात्तनमस्कारस्तन्मूक्रस्य निषेवणम् ।

रत्नवाहनभूवृक्षशास्त्रशीलादिसेवनम् ॥ २ ॥

‘आपगासागरस्नानमुच्चयः सिकताइमनाम् ।

गिरिषातोऽग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते ॥ ३ ॥

गाथार्थ—ऐसा जानकर हे भव्य जीवो ! जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा
कहे हुए तथा सम्यक्त्व में मल उत्पन्न करने वाले शंका आदि मिथ्यात्व
के दोषोंका तीनों योगों से परित्याग करो ॥६॥

विशेषार्थ—श्रीमान् भगवान् अरहन्त सर्वज्ञ वीतराग देव ने पूर्व
इलोक में सम्यगदर्शनके जिन पञ्चीस दोषोंका निरूपण किया है उन्हें
मनोयोग, वचनयोग और काय योग इन तीनों योगोंसे छोड़ो । लोक
मूढता, पाखण्ड मूढता और देव-मूढताके भेदसे मूढताके तीन भेद हैं ।
उनमें से लोकमूढता का स्वरूप यह है—

सूर्यार्थ—सूर्य को अर्घं देना, ग्रहण के समय स्नान करना, संकान्ति
में धनका खर्च करना, सन्ध्या सेवा, अग्निका सत्कार करना, देहली की
पूजा करना, गाय के पृष्ठ भागको नमस्कार करना, उसके मूत्रका सेवन
करना, रत्न सबारो, पृथिवी, वृक्ष, शस्त्र तथा पर्वत आदि की सेवा करना,

१. रत्नकरणवशावकालारे सम्मतमद्रस्य ।

३ वरोपलिप्यथाशावान् रागदेवमलीमसाः ।
देवता यहुषासीरु लेदतामूदमुच्यते ॥१॥
४ सग्रन्थारम्भहितानां संसारावर्तवितिनाम् ।
पाषण्डिनां पुरस्कारो ज्ञेयं पाषण्डिमोहनम् ॥ ५ ॥

अष्टी मदाः के ते ?

६ ज्ञानं पूजां कुलं जाति बलमृदि तपो वपुः ।
अष्टावाष्टित्य मानित्वं स्मयमाद्युग्मतस्मयाः ॥ ६ ॥

अनायतनानि कानि तानि ?

कुदेवगुद्यास्त्राणां तदुभक्तानां गृहे गतिः ।
पठनायतनमित्येवं वदन्ति विदितागमाः ॥

प्रभाचन्द्रस्त्वेवं वदति—मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्राणि वीणि व्रश्च तद्वन्तः पुरुषाः पठनायतानि । अथवा असर्वज्ञः [१] असर्वज्ञायतनं २ असर्वज्ञानं ३

नदियों और समुद्र में स्नान करना, बालू और पत्थरोंका ढेर करना, पहर से पिरना और अग्नि में पड़ना आदि लोकमूढ़ता कहलाती है ।

सग्रन्था—परिग्रह तथा आरम्भसे सहित एवं संसार-रूपी भंवर में यहे हुए पाषण्डियों—कुगुरुओंका सत्कार करना पाषण्डमूढ़ता जानना चाहिये ।

अब आठ मद कीन हैं ? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं—

ज्ञानं—ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीर इन आठ को लेकर अहंकार करना सो आठ प्रकारका मद है ।

अब छह अनायतन कीन हैं ? इसका उत्तर कहते हैं—

कुबेब—कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र और उनके भक्तोंके घर जाना इन छहों आगम के ज्ञाता पुरुष छह अनायतन कहते हैं । परन्तु प्रभाचन्द्र छह अनायतनका इस प्रकार निरूपण करते हैं । मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र ये तीन तथा तीन इनके धारक पुरुष इस प्रकार छह अनायतन हैं । अथवा असर्वज्ञका आयतन, असर्वज्ञका ज्ञान, असर्वज्ञके ज्ञानसे युक्त पुरुष, असर्वज्ञका अनुष्ठान और असर्वज्ञके अनुष्ठानसे सहिते पुरुष ये छह अनायतन हैं ।

१. रत्नकरण्डधावकाचारे समन्तमद्वस्य ।

२. यहो ।

३. यहो ।

असर्वज्ञानसमवेतपुश्पः ४ असर्वज्ञानुष्ठानं ५ असर्वज्ञानुष्ठानसमवेतपुश्पश्चेति
६ शक्तादयोऽप्यै यथा—शक्ता १ कांक्षा २ विचिकित्सा ३ मूढदृष्टिः ४ अनुपगूहन
५ अस्थितीकरणं ६ अवात्सल्यं ७ अप्रभावना चेति ८ अष्टो शक्तादयः ॥ ६ ॥

✓ गिस्संकिय णिकंस्तिय णिविदिग्निधा अमूढदिद्वी य ।

उपगूहन ठिदिकरणं अच्छल्ल पहावणाय ते अटु ॥ ७ ॥

निःशक्तितं निःकांक्षितं निविचिकित्सा अमूढदृष्टिद्वच ।

उपगूहन स्थितीकरणं वात्सल्यं प्रभावना च ते अष्टी ॥ ७ ॥

(गिस्संकिय) इत्थादि । निःशक्तितं निर्भयस्वं परद्वयमि जैनाभासे चामूकित-
माननत्वं, अञ्जनचो रवजिज्ञनवचनमाननं च । (गिकंकिय) निकांक्षितं सम्यक्त्व-
व्रताशिक्षेन राज्यदेवत्वेहभव—सुखेष्टजन-मेलापक्त्वादिनिदानस्याकरण । सीता-
नम्भवतिसुतारादिवद् व्रतवाह्यं च (गिविदिग्निधा) निविचिकित्सा रत्नव्रय-

शक्तादिक आठ दोष निम्न प्रकार हैं—१. शक्ता २. कांक्षा
३. विचिकित्सा ४. मूढदृष्टिः ५. अनुपगूहन ६. अस्थितीकरण ७. अवात्सल्य
और अप्रभावना ॥ ६ ॥

गाथार्थ—निःशक्तिः १. निःकांक्षित २. निविचिकित्सा ३. अमूढदृष्टिः
४. उपगूहन ५. स्थितीकरण ६. वात्सल्य ७. और प्रभावना ८. ये आठ
सम्यक्त्व के गुण हैं ॥ ७ ॥

विशेषार्थ—सम्यक्त्वका पहला गुण निःशक्तित है । सप्तभयसे रहित
होना अथवा बौद्ध आदि अन्य दर्शन और जैनाभास मतसे मुक्तिको नहीं
मानना तथा अञ्जन चोरके समान जिनेन्द्र देवके वचनोंमें दूढ प्रतोति
रखना निःशक्तित गुण कहलाता है । दूसरा गुण निःकांक्षित है ।
सम्यक्त्व और व्रत आदिके फल स्वरूप राज्य, देवपर्याय, ऐहलौकिक
सुख तथा इष्ट जनोंके मिलने आदिका निदान नहीं करना एवं सीता,
भनन्नमति तथा सुतारा आदिके समान वलमें दूढता रखना निकांक्षित
गुण कहलाता है । तीसरा गुण निविचिकित्सा है । रत्नव्रयसे पवित्र मूति-
जनोंके शरोर सम्बन्धी मल आदिके देखने से उद्दायन महाराजके समान
गलानि नहीं करना निविचिकित्सा कहलाती है ।

चौथा गुण अमूढ दृष्टिः है । रेवती महादेवी के समान जिनेन्द्र भग-
वान् के वचनोंमें शिथिलता नहीं करना अमूढदृष्टि गुण कहलाता है ।

पवित्रपात्रजन—शरीरमलादिदानेन शूक्रापा अकरणं उद्यापन—महाराजवत् ।
 (अमूर्हदिष्टी य) अभूददृष्टिश्च जिनवचनेऽशिथिलत्वं रेवती महादेवीवत् । (उव-
 गूहण) उपगूहनं जिनघमस्य—बालाशक्तजनवोषश्चम्पनं जिनेन्द्रभक्त—थेष्ठिवत् ।
 (ठिकिरण) स्थितीकरणं सम्यक्तत्रादेभ्रंश्यज्ञैनस्य तत्र स्थापनं पुष्पदन्तविश्वस्य
 वारिषेणवत् । (वच्छल्ल) बालस्त्वं धर्मस्थजनोपसर्गनिवारणं अकम्पनादेविष्णु-
 कुमारमुनिवत् (पहावणा य) प्रभावना च जिनघमोद्योतनं परधर्मप्रभाव—
 विष्वसनं च दाश्मुक्तातिवाधरुनिवत् । { उठानु } ते सम्पर्कजग्नुना अष्ट
 अवल्ति ॥ ७ ॥

तं चेष्ट गुणविशुद्धं जिणसम्मतं सुमुक्खाणाय ।

जं चरद्व जाणजुतं पदमं सम्भस्त्वरणचारितं ॥ ८ ॥

तं चेष्ट गुणविशुद्धं जिनसम्यक्त्वं सुमोक्षस्थानाय ।

यच्चरति ज्ञानघुक्तं प्रथमं सम्यक्तवचरणचारित्रम् ॥ ९ ॥

(तं चेष्ट गुण विशुद्धं) तच्चेष्ट सम्यक्त्वं गुणविशुद्धं निःशङ्कुतादिभिरष्ट-
 गुणविशुद्धं निर्मलं । (जिणसम्मतं) जिन सम्यक्त्वं जगत्पतिश्रीमद्भगवद्गुरुत्स-

पांचवाँ गुण उपगूहन है । जिनेन्द्र भक्त सेठके समान जिनधर्म में स्थित
 बालक तथा वृद्ध आदि असमर्थ जनोंके दोष छिपाना उपगूहन गुण कह-
 लाता है । छठवाँ गुण स्थितीकरण है । जिस प्रकार पुष्पदन्त आद्याप को
 वारिषेण ने दृढ़ किया था उसी प्रकार सम्यक्त्व और व्रत आदि से अष्ट
 होते हुए मनुष्यको फिरान उसीमें स्थिर कर देना स्थितिकरण गुण कहा
 है । सातवाँ गुण बालस्त्व है । जिस प्रकार अकम्पन आदि मुनियों का
 उपसर्ग विष्णुकुमार मुनि ने दूर किया था उसी प्रकार धर्मात्मा मनुष्य का
 उपसर्ग दूर करना बालस्त्व गुण कहलाता है । आठवाँ गुण प्रभावना है ।
 वज्रकुमार नामक विद्याधर मुनिके समान जिनधर्मका उद्योत करना तथा
 अन्य धर्मके प्रभावका विष्वस करना प्रभावना गुण कहलाता है । इस
 तरह निःशङ्कुत आदि सम्यक्त्व के आठ गुण हैं ॥ ७ ॥

गाथार्थ—निःशङ्कुतादि गुणोंसे विशुद्ध वह सम्यक्त्व ही जिन-
 सम्यक्त्व कहलाता है तथा जिन-सम्यक्त्व ही उत्तम मोक्ष रूप स्थान की
 प्राप्तिके लिये निर्मितभूत है । ज्ञान सहित जिन-सम्यक्त्व का जो मुनि
 आचरण करते हैं वह पहला सम्यक्त्व-चरण नामका चारित्र है ॥ ८ ॥

विशेषार्थ—अमर के श्लोक में सम्यगदर्शन के जिन निःशङ्कुत आदि
 आठ गुणों का वर्णन किया गया है उनसे सम्यगदर्शन निर्मल होता है ।

शीतरागस्य सम्बन्धिनी श्रद्धा रुद्राविश्रद्धान्-रहितं जिनसम्यकत्वमुव्यते । रुद्रान्
दिसम्यक्त्वं किम् ? तदुक्तं—

अग्निवत्सवं भक्षोऽपि भूतभवितारायणः ।

भूक्ति जीवन्नवाप्नोति मुक्ति तु लभने भूतः ॥

भवभक्ति—परायणो रुद्रभवित्परायणः । (सुमुक्त्वाणाम्) तुमोऽहम् ताम्
तीर्थकरपरमदेवो भूत्वा सर्वकर्मक्षयलक्षणं मोक्षस्थानं प्राप्नोति सुमोक्त्वानं तस्मै
सुमोक्त्वानाय परमनिवाण-प्राप्त्यर्थमित्यर्थः । (जं चरङ्) यज्ञरति यज्ञतिपाल
यतिः । (ज्ञानजुत्तं) ज्ञानयुक्तं सम्यक्त्वं ज्ञान-सहितं सम्यक्त्वं । अथवा किया-
क्षिण्यरणमिदं । तेनाथर्थः ज्ञानयुक्तं यथा भवत्येवं चरति । (पद्मं सम्मत-चरण-
चारितां) द्वयोर्दर्शनाचारचारित्राचारयोर्मध्ये सम्यक्त्वाचारचारित्रं पहुमं प्रथमं
भवति ॥ ८ ॥

सम्मतचरणसुद्धा संजमचरणस्स जइ व सुपसिद्धा ।

णाणी अमूढ़द्विद्वी अचिरे पावन्ति णिड्वाणी ॥ ९ ॥

यह निम्नले सम्यग्दर्शन ही जिन-सम्यकत्व कहलाता है । जिन-सम्यकत्व में
बगत्पति-श्रीमान्-भगवान्-अरहन्त-सर्वज्ञ वीतराग देव की ही श्रद्धा रहती
है । रुद्र आदि देवोंकी श्रद्धा नहीं रहती । जिसमें रुद्र आदि देवोंकी श्रद्धा
रहती है वह रुद्रादि-सम्यक्त्व कहलाता है । रुद्र-सम्यक्त्वका धारक जीव
ऐसा मानता है—

अग्निवत्—भव अर्थात् रुद्रकी भक्तिमें तत्पर रहने वाला मनुष्य
अग्निके समान सर्वभक्षी होने पर भी जीवित रहता हुआ सब प्रकारके
भीगोंको प्राप्त होता है और मरने पर मुक्ति को प्राप्त होता है । जिन-
सम्यक्त्वका धारक पुरुष तीर्थकर परमदेव होकर समस्त कर्मोंके क्षय रूप
मोक्ष स्थानको प्राप्त होता है । सम्यक्त्वके साथ ज्ञान अवश्य होता है ।
उस ज्ञान सहित जिनसम्यक्त्व का जो आचरण होता है वह दर्शनाचार
और चारित्राचार इन दो प्रकारके चारित्रोंमें पहला सम्यक्त्वाचार नाम-
का चारित्र होता है । अथवा 'ज्ञानयुक्त' यह क्रियाविशेषण है । इस पक्ष
में गाथाके उत्तरार्थ का ऐसा अर्थ समझना चाहिये—जो ज्ञान-पूर्वक
जिन-सम्यक्त्वका आचरण करता है वह पहला सम्यक्त्वचारित्र है ॥ ८ ॥

गाथार्थ—जो सम्यक्त्व-चरण से शुद्ध हैं अर्थात् निर्दोष सम्यग्दर्शन
के धारक हैं, संयमचरण से अतिशय प्रसिद्ध हैं अर्थात् अत्यन्त निर्दोष

सम्यक्त्वचरणशुद्धाः संयमचरणस्य यदि वा सुप्रसिद्धाः ।

ज्ञानिनः अमूढदृष्टयः अचिरं प्राप्नुवन्ति निर्बाणम् ॥९॥

(सम्मतचरण सुद्धा) सम्यक्त्वचरणे सम्यक्त्वचारित्रे ये सूरयः शुद्धाः सम्यक्त्वदोषरहिताः सम्यक्त्वगुणसहिताद्य यवन्ति । (संजयचरणस्य जहौ व सुप्रसिद्धाः) संयमचरणस्य यदि वा सुप्रसिद्धाः चारित्राचारे च सुप्रसिद्धाः सुष्ठु अतिशयेन प्रकर्षेण सिद्धं चारित्रं येषां ते सुप्रसिद्धा सबलोक किंविता वा सम्यक्त्व-पूर्वकधारित्रप्रतिपालका हस्थर्थः (ज्ञानी अमूढविद्वा) ज्ञानिनोऽमूढदृष्टयस्त्र । (अचिरे पार्वति णिर्बाणी) अचिरे स्तोककाले निर्बाणी प्राप्नुवन्ति । अत्र चारित्रस्य मुख्यस्तेऽपि सम्यक्त्वज्ञानयोरपि सामयम्युक्तमिति भावः ॥९॥

वच्छुल्लं विष्णएण य अणुकंपाए सुदाणवच्छुलाए ।

मग्णगुणसंसाणाए अवगूहण रक्षणाए य ॥ १० ॥

एएहिं लक्षणेहिं य लक्षणेज्जह अउद्देश्यं आयेहिं ।

जीवो आराहतो जिणसम्मतं अमोहेण ॥११॥

वात्सल्यं विनयेन च अनुकम्पया सुदानवक्षया ।

माग्नगुणसंशानया उपगूहनं रक्षणेन च ॥१०॥

एतैः लक्षणैः च लक्ष्यते आर्जवैः भावैः ।

जीव आराधयन् जिणसम्यक्त्वममोहेन ॥११॥

चारित्र के धारक हैं, सम्यग्ज्ञानी हैं और अमूढदृष्टि है अर्थात् विवेकपूर्ण दृष्टिसे युक्त हैं, वे शीघ्र ही निर्बाण को प्राप्त होते हैं ॥९॥

विशेषार्थ—जो पुरुष ऊपर कहे हुए सम्यक्त्व के पञ्चोंस दोषोंसे रहित हैं तथा निःशङ्कित आदि आठ गुणों से सहित हैं । संयमाचरण अर्थात् चारित्राचार के विधयमें अतिशय प्रसिद्ध हैं अथवा सबलोकमें विस्त्रित हैं, सम्यग्दर्शन-पूर्वक चारित्रके पालन करने वाले हैं, ज्ञानी हैं अर्थात् स्वपर-मेद-विज्ञान से सहित हैं और अमूढदृष्टि है वे अल्प समय में निर्बाण को प्राप्त होते हैं । यद्यपि इस गाथामें चारित्र की मुख्यता बताई है तथापि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानकी समग्रता भी प्रकट की गई है । मोक्ष प्राप्ति के लिये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्त्वारित्र तीनोंकी अनिवार्यता आवश्यक है ॥९॥

गाथार्थ—अमोह-मोह रहित अथवा अमोघ यानी-सफल जन्मका धारक मनुष्य, वात्सल्य, विमय, उत्तमदान देनेमें समर्थ अनुकम्पा, मोक्ष-

(एहि लक्षणोहि य) एतैलक्षणैः । जिनसम्यक्त्वम् । (आराहतो) आरा-
धमन् । (जीवो लक्षणज्जइ) जीव आरमा लक्ष्यते ज्ञायते । न केवलमेतैभविरपितु
(अज्जबेहि भावेहि) आर्जवैभविचाकृटित्वपरिणामैचोपलक्ष्यते । केन कुत्वा
लक्ष्यते ? (अमोहेण) अमोहेनानज्ञानतया ज्ञानेन विचक्षणतया । विचक्षणं जिना
सम्यक्त्वारात्मकं पुरुषं कोडपि न जानाति सम्यक्त्वपरिणामत्यातिसूक्ष्मत्वात् ।
अथवा अमोहेण अमोघेन सफलजन्मना पुरुषेण । एतः कैरित्याह—(बच्छत्त्वं)
एकं तावद्वात्सत्यं ष मिठ्ठजनेषु स्नेहलत्वे सद्यः प्रसूतगौरिव बत्से बत्सलस्थेन सद्-
दृष्टिविचक्षणेऽन्यिते । (विणाएण य) विनयेन च विनयगुणेन गुरुजनेऽवमृत्यान-
समुख्यगमन—करमोट्नपात्रवन्दनःदिभिनुर्ज । सददृष्टिदिव्यसंज्ञायिते । (अणुकंपाए)
अनुकम्पया दुखितं जनं दुष्ट्वा कारणपरिणामोऽनुकम्पया तया सददृष्टिविचक्षणी-
ज्ञायिते । कथंभूतयाननुकम्पया ? (सुदाणदश्चाए) शोभनदान दक्षया दुःखितज्ञ-
योग्यदान-विशिष्टया । (मार्गगुण संसाराए) मार्गगुणशंसनया निर्यन्त्य—कक्षणो

मार्ग के गुणोंकी प्रशंसा, उपगूहन, स्थितोकरण और अकुटिल परिणाम;
इन लक्षणों के द्वारा जिनप्रतिपादित सम्यक्त्वकी आराधना करनेवाले
पुरुष को पहिचानता है ॥१०-११॥

विशेषार्थ—इन गाथाओं में कुन्दकुन्द स्वामी ने जिन-प्रतिपादित
सम्यक्त्व की आराधना करने वाले जीव को पहिचान बताते हुए लिखा
है कि सम्यक्त्वरूप परिणाम अत्यन्त सूक्ष्म हैं, अतः उन्हें अमोह—अज्ञान
से रहित विचक्षण—चतुर मनुष्य ही जान सकता है अथवा प्राकृत में ष
के स्थान में ह होजाने के कारण अमोहेन का पर्याय अमोघेन लिया जाता
है, अतः अमोघ—सफल जन्म वाला मनुष्य ही सम्यग्दृष्टि जीवको जान
सकता है । जिन लक्षणों के द्वारा सम्यग्दृष्टि जीव की पहिचान होती है
उनमें वात्सत्य, विनय, उत्समदान देनेमें दक्ष, अनुकम्पा, मार्गगुण प्रशंसा,
उपगूहन, रक्षण और आज्ञेव भावोंका उल्लेख किया है । इन वात्सत्य
आदिका स्वरूप इस प्रकार है—जिसप्रकार तत्काल प्रसूता गाय अपने
बछड़े पर स्नेह रखती है उसी प्रकार धर्मत्मा जीवों पर स्नेह रखना
वात्सत्य है । गुरुजनों के आनेपर उठ कर खड़े होना, सम्मुख जाना, हाथ
जोड़ना, चरण-न्वन्दना करना आदिको विनय कहते हैं । दुखी मनुष्यको
देखकर कहणाभाव उत्पन्न होना अनुकम्पा कहलाती है । यह अनुकम्पा
दुखी मनुष्योंके योग्य दान देनेमें तत्पर रहती है । निर्यन्त्रता ही मोक्षमार्ग
है, परियाह सहित एव बस्त्रादि से बेघित कोई भी मनुष्य मोक्षको प्राप्त

मोक्षमार्गः संयन्तो वस्त्रादिवेष्टितः क्षेत्रपि मोक्षं न गच्छति इति मोक्षमार्गस्तवनेन सद्‌दृष्टिविचक्षणैङ्गिते । (अवगृहण) उपगृहन बालाशनं जन जनित दोषाभ्यु-
वनेन सद्‌दृष्टिविचक्षणैङ्गिते (रक्खणार्थम्) मार्गादिभृष्यज्ञनस्थितिकरणेन सद्‌
दृष्टिविचक्षणैङ्गिते इति क्रियाकारकसम्बन्धः ।

उच्छाहभावणा संपर्शं संसेवा कुर्वन्ते सद्गुणा ।

अण्णाणमोहमग्ने कुर्वन्तो जहावि—जिणसम्म ॥ १२॥

उत्साहभावना संप्रशंसासेवा कुर्दशने श्रद्धां ।

अज्ञानमोहमार्गे कुर्वन् जहाति जिनसम्यक्त्वम् ॥ १२॥

(उच्छाहभावणा संपर्शं संसेवा) मिथ्यादृष्टिकथितान्वारे योऽस्तावुत्साह उच्चमस्तं,
संपर्शं—सम्यड्मनसा वचना च प्रशंसनं स्तुतिवचनं, सेवा-मिथ्यादृष्टिः करादिना
स्वर्णनं (कुर्दशने सद्गुणे) मिथ्यादशने श्रद्धां रुचि । (अण्णाणमोहमग्ने) न विद्यते
ज्ञानं येषां रुद्धानास्तेषां भोधां निष्कली माहीं वा संशयादि रूपं योऽस्ती मार्गः

नहीं होता; इस प्रकार मोक्षमार्गकी स्तुति करता मार्गगुण-प्रशंसा है।
बालक तथा असमर्थ मनुष्यों के द्वारा उत्पन्न दोषों को छिपाना उपगृहन
है, मार्गसे भ्रष्ट होते हुए मनुष्योंका स्थितीकरण करना रक्षण है और
सरल परिणामी होना आजीव भाव है। इन वात्सल्य आदि लक्षणों से
सम्यद्दृष्टि जीव की पहचान होती है ॥१०-११॥

गाथार्थ—जो मनुष्य मिथ्यात्वाचरण में उत्साह रखता है, उसीकी
भावना करता है, मन वचन से उसकी प्रशंसा करता है, हाथ आदिसे
मिथ्यादृष्टि की सेवा करता है, तथा अज्ञानी जोवोंके भोघ—निष्फल
अथवा मोह-संशयादि-पूर्ण मार्गमें श्रद्धा करता है वह जिन-सम्यक्त्व को
छोड़ देता है ॥१२॥

विशेषार्थ—कौन जीव जिनसम्यक्त्व को छोड़ देता है इसका निरू-
पण करते हुए कहा गया है कि जो मिथ्यादृष्टि के कथित आचार में
उत्साह अथवा उच्चम करता है, मन और वचन से उसकी स्तुति करता
है, मिथ्यादृष्टि गुरु आदि की हाथ आदि से सेवा करता है, मिथ्यादर्शन
में रुचि रखता है, तथा ज्ञान-हीन जीवोंके भोघ अर्थात् निष्फल अथवा
मोह अर्थात् संशयादिरूप मार्गमें श्रद्धा करता है, वह जिनसम्यक्त्व को

संसारदुःखकारी अर्थस्तस्मिन्नज्ञानमोहमार्गं श्रद्धां र्हचि कुर्वन् । (जहादि जिणसम्म)
जिनसम्यक्त्वं जहाति मुञ्चति ॥ १२ ॥

उच्छाहभावणा संपर्संससेवा सुदंसणे सद्धा ।
ए जहादि जिणसम्मतं कुव्वंतो णाणमगोण ॥ १३ ॥

उत्साहभावनासंप्रशंसारेवा: गुदर्थने श्रद्धाम् ।
न जहाति जिनसम्यक्त्वं कुर्वन् ज्ञानमार्गेण ॥ १३ ॥

(उच्छाहभावणासंपर्संससेवा सुदंसणे सद्धा ए जहादि जिणसम्मतं)—
उत्साह-उद्धामस्तं कुर्वन्निति सम्बन्धः । भावणा शरीरात्कर्मणश्चात्मा पृथग्वर्तते
इति भेदभावना तां । (संपर्स-सम्यक् प्रकारेण मनोवचनकर्मभिः प्रशंसामहंदा-
दीनां स्तुति कुर्वन् तथा सेवां स्नपनं पूजनं स्तवनं जपनादि गुरुदिपादं संवाहना-
दिकं च कुर्वन् सुदंसणे सम्यग्दर्थने रत्नवयलक्षणमोक्षमार्गं तत्वार्थं च श्रद्धां र्हचि
कुर्वन् जिनसम्यक्त्वं न जहाति न त्यजति उत्साहादिकं । केन कृत्वा कुर्वन् ?
(णाणमगोण) ज्ञानमार्गेण सम्यग्ज्ञानद्वारेण ॥ १३ ॥

छोड़ देता है । अर्थात् जिन प्रतिपादित सम्यक्त्वसे छाट हो जाता
है ॥ १२ ॥

गाथार्थ—जो ज्ञान-भाग्य अर्थात् सम्यग्ज्ञान के द्वारा सम्यक्त्व-वरणमें
उत्साह रखता है, उसीकी भावना करता है, आत्माको शरीर और कर्म-
से पृथक् समझता है, अहंत आदि की स्तुति करता है, सुगुरु आदिकी
सेवा करता है, और सम्यादशन में रुचि रखता है वह जिनसम्यक्त्वको
नहीं छोड़ता है ॥ १३ ॥

विशेषार्थ—कौन जीव जिनसम्यक्त्व को नहीं छोड़ता है इसकी चर्चा
करते हुए कहा गया है कि जो सम्यग्ज्ञानके द्वारा सम्यग्दृष्टि जीवके
आचारमें उत्साह रखता है, शरीर और कर्मसे बातमा पृथक् है, ऐसी
भावना करता है, सम्यक् प्रकारसे मन वचन और काम की चेष्टाके
द्वारा अहंत आदिकी स्तुति करता है, स्नपन, पूजन, स्तवन, जपन तथा
गुरु आदिके पादमर्दन आदिसे उनकी सेवा करता है और सम्यग्दर्शन,
रत्नवय रूप मोक्षमार्ग अथवा तत्वार्थको श्रद्धा करता है, वह जिन
सम्यक्त्व को नहीं छोड़ता है ॥ १३ ॥

अणार्ण मिच्छत्तं बज्जहि णाणे विशुद्धसम्मते ।

अह मोहं सारम्भं परिहर धर्मे अहिंसाए ॥ १४ ॥

अज्ञानं मिथ्यात्वं वर्जय ज्ञाने विशुद्धसम्यक्त्वे ।

वथ मोहं सारम्भं परिहर धर्मेऽहिंसायाम् ॥ १४ ॥

(अणार्ण मिच्छत्तं बज्जहि णाणे विशुद्धसम्मते) अज्ञानं वर्जय दुरीकुरु, कस्मिन् सति ? णाणे ज्ञाने सम्यग्ज्ञाने सति, अज्ञानस्य ज्ञानं प्रश्ननीकं ततः । मिथ्यार्थं वर्जय, कस्मिन् सति ? सम्यक्त्वे सति, मिथ्यात्वस्य सम्यग्दर्शनं प्रतिबन्धकं यतः । (अह) अथानन्तरं । (मोह परिहर) परित्यज । कर्त्तव्यभूतं मोहं ? (सारम्भं) सेवाकृषिवाणिज्याद्यारम्भसहितं । कस्मिन् सति ? (धर्मे) धर्मे धर्मि लक्षित्वे सहित । तत्त्वाम्भं प्रतिष्ठा । कलां उच्चारम् ? (अहिंसाए) अहिंसायां सत्यां पञ्चमहात्रतानि रात्रिभोजनवज्जनेष्ठानि, सर्वाणिप्रहिंसानिमित्तं कथितानि यतः ॥ १४ ॥

प्रबज्ज संगच्चाए पयदृ सुतये सुसंजमे भावे ।

होइ सुविशुद्धसार्ण णिम्मोहे बीतरायते ॥ १५ ॥

प्रबज्यायां सञ्ज्ञत्वागे प्रवर्तस्व सुतपसि सुसंयमे भावे ।

भवति सुविशुद्धस्यानं निम्मोहे बीतरागत्वे ॥ १५ ॥

गाथार्थ—हे भव्य ! सम्यग्ज्ञानके होने पर अज्ञानको, विशुद्ध सम्यग्दर्शनके होने पर मिथ्यात्वको और अहिंसा धर्मके होनेपर आरम्भ सहित मोहको छोड़ो ॥ १४ ॥

विशेषार्थ—सम्यग्ज्ञान अज्ञानका विरोधी है अतः सम्यग्ज्ञान के होने पर अज्ञान को दूर करो । सम्यग्दर्शन मिथ्यात्वका प्रतिबन्धक है अतः सम्यग्दर्शन के होने पर मिथ्यात्वका परित्याग करो और अहिंसा—धर्म चारित्र रूप है अतः उसके होने पर सेवा, कृषि, वाणिज्य आदिके आरम्भ से सहित मोहको छोड़ो । [अहिंसाके होने पर पांच महात्रत तथा रात्रिभोजन—त्वाग नामक छठवाँ अणुव्रत स्वयं हो जाते हैं क्योंकि ये सब अहिंसा के निमित्त कहे हैं ॥ १४ ॥]

गाथार्थ—हे जीव ! तू वस्त्रादि परिश्रहका त्वाग होने पर दोकामें प्रवृत्त हो और उत्तम संयम भावके होने पर सुतप में प्रवृत्ति कर । जो मनुष्य निम्मोह होता है उसीके बीतरागताके होने पर उत्तम विशुद्ध व्याच होता है ॥ १५ ॥

(पञ्चजन संज्ञाए पयदृ) है जीव ! त्वं प्रदर्ज्याद्या प्रबर्तस्व, कस्मिन् सति ? संगचाए—संगस्य वस्त्रादिपरिप्रहस्य त्यागे सति । तथा हे आत्मन् ! त्वं (सुलबे पयदृ) सुलभि प्रबर्तस्व । कस्मिन् सति ? (सुखमेभावे) जोभूम-संयमपरिणामे सति । असेथमिनो मासोपवासादि-युक्तस्यापि सुतपोऽसद्भावात् । तथा (होइ सुविशुद्ध्यानं णिम्मोहे बीतरागते) भवति सुविशुद्ध्यानं निम्मोहि पुत्रकल्पमित्रधनादिव्यामोहवजिते पुरुषे, यस्तु पुत्रादिमोहसहितो भवति तस्य विशिष्टं धर्म्यध्यानं शुक्लध्यानं लेखोऽपि न भवति यतः तथा बीतरागत्वे सति सुविशुद्ध्यानं भवतीति तात्पर्यम् । उक्तं च योगीन्द्रदेव नाम्ना भट्टारकेण—

जसु हरिणच्छी हियबढ़ा तासु न बंधु विचारि ।

एकहि केम समति बढ़ वै रुदा विधारि ॥

विशेषार्थ—यहीं दीक्षा, सुतप और विशुद्ध्यान की उत्पत्तिके मूल कारणों पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि हे जीव ! तू वस्त्रादि परिप्रहका स्थाग होनेपर मुनिदीक्षा में प्रवृत्त हो क्योंकि वस्त्रादिके रहते हुए मुनि दीक्षा संभव नहीं है । इसी प्रकार अन्तरङ्ग में उत्तम संयमरूप परिणामके होने पर ही सुतप धारण कर क्योंकि असंयमी पुरुषके मासोपवास आदिसे युक्त होने पर भी सुतपका सद्भाव नहीं रहता । सांसारिक भोगोंकी अद्यकांक्षासे रहित होकर केवल कर्मनिर्जरा के लद्देश से जो तप होता है वह सुतप कहलाता है । ऐसा सुतप संयम भावके प्रगट होने पर ही हो सकता है । विशिष्ट धर्म्यध्यान और शुक्लध्यानका ग्राहनिमिक जंश सुविशुद्ध्यान कहलाता है । यह निर्मोहपुत्र स्त्रो मित्र तथा घन आदिके व्यामोह से रहित पुरुषके होता है, इसके विपरीत जो पुरुष पुत्रादि के मोहसे सहित होता है उसके वह संभव नहीं है । निर्मोह मनुष्य के होने वाला वह सुविशुद्ध ध्यान भी बीतराग भावके होने पर ही होता है । यद्यपि पूर्ण बीतरागता दशम गुणस्थानके बादमें होती है तथापि आपेक्षिक बीतरागता छठवें गुण—स्थानसे हो स्वीकृत की गई है । रागी मनुष्यके सुविशुद्ध्यान नहीं होता । इस विषय में योगीन्द्र देव भट्टारक ने परमार्थ-प्रकाश में कहा है—

जसु—अरे मूर्ख ! जिसके हृदयमें मृगनयनी स्त्री विद्यमान है उसके बहु—आत्मध्यान नहीं हो सकता, ऐसा विचार कर, क्योंकि एक म्यानमें दो तलबारें कैसे रह सकती हैं ?

‘मूढस्य नालिय बढ़ौ’ इति प्राकृतव्याकरणसूत्रम् ।

मिच्छादंसणमग्ने मलिणे अण्णाणमोहदोसेहि ।

बज्जन्ति मूढजीवा मिच्छत्ता बुद्धिउद्धारण ॥१६॥

मिथ्यादर्शनमार्गे मलिनेऽज्ञानमोहदोषाभ्यास ।

बध्यन्ते मूढजीवाः मिथ्यात्वाबुद्धि-उदयेन ॥ १६ ॥

(मिच्छादंसणमग्ने मलिणे) मिथ्यादर्शनमार्गे मलिने पापरूपे सति । कै कुत्ता ? (अण्णाणमोहदोसेहि) अज्ञानं पञ्चमिथ्यात्व-लक्षणं, मोहः पञ्च जैनाभास-लक्षणः, अज्ञानं च मोहद्वाज्ञानमोही तावेव दोषी ताम्यामज्ञानमोहदोषाभ्यां (बज्जन्ति) बध्यन्ते पापैः बंध्यन्ते । केन ? (मूढ जीवा) अज्ञानिनः । केन कुत्ता ? (मिच्छत्ता बुद्धिउद्धारण) मिथ्यात्वस्याबुद्धेष्वाज्ञानस्योदयेन प्रादुभविन ॥ १६ ॥

सम्महंसण परसदि जाणदि जाणेण दब्बपञ्जाया ।

सम्मेण य सहहवि य परिहरदि चरित्तं जे दोसे ॥ १७ ॥

सम्यग्दर्शनेन पश्यति जानाति ज्ञानेन द्रव्यपर्यायाद् ।

सम्यक्त्वेन च श्रद्धाति च परिहरति चारित्रजान् दोषान् ॥ १७ ॥

दोहा में जो बढ़ शब्द आया है उसका अर्थ मूर्ख होता है क्योंकि ‘मूढस्य नालिय बढ़ौ’ इस प्राकृत व्याकरणके सूत्रसे मूढ़ शब्दके स्थान में नालिय और बढ़ आदेश होते हैं ॥ १५ ॥

गायार्थ—अज्ञान और मोहरूपी दोषों से मलिन मिथ्यामार्गमें विचरण करने वाले मूढजीव-अज्ञानी प्राणी, मिथ्यात्व और अज्ञानके उदयसे बन्धको प्राप्त होते हैं ॥ १६ ॥

विशेषार्थ—एकान्त, विपरीत, संशय, अज्ञान और वैनियिक वह पाँच प्रकारका मिथ्यात्व अज्ञान कहलाता है तथा पाँच प्रकारके जैनाभासों की प्रवृत्ति करनेवाले विकारभावको मोह कहते हैं। इन दोनों दोषों से मिथ्यादर्शन रूपी मार्ग मलिन हो रहा है। इसमें विचरण करनेवाले अज्ञानी जीव मिथ्यात्व और बुद्धि-अज्ञान रूप दोषों के उदय होनेके कारण पापोंसे बढ़ होते हैं ॥ १६ ॥

गायार्थ—सम्यग्दृष्टि मनुष्य, दर्शन और ज्ञानके द्वारा द्रव्य तथा उनकी पर्यायोंका अच्छो तरह देखता और जानता है। सम्यग्स्व गुणसे उनको अद्वा करता है और आरित्र सकलन्धी दोषोंको दूर करता है ॥ १७ ॥

(सम्मद्वयं पर्सवि) सम्यग्दर्शनेन सत्तावलोकन-रूपेण विशेषमहृत्वा । निराकाररूपेण पश्यति विलोकते । (जाणदिणाणेण) ज्ञानेन विशेषरूपेण साकार-रूपेण ज्ञानेतात्मा ज्ञानाति । कान् पश्यति ? कान् ज्ञानाति ? (दब्ब पञ्जाया) द्रव्याणि जीवपुद्गल-वर्मविभैर्कालाकाशस्तथा पर्यायांश्च । जीवस्य नरनारकादयः क्रोध, मान, माया, लोभ, सोह, स्नेह पुण्यपापादयश्च पर्यायास्तान् पश्यति ज्ञानाति च । तथा पुद्गलस्त्रै द्वयाणुकश्यणुकवतुरणुकपञ्चाणुकादिमहास्कन्दवर्त्तलोकय-पर्यन्ताः पर्यायास्तान् पश्यति ज्ञानाति च । धर्मस्य येन रूपेण जीवपुद्गलौ गति कुरुत्स्तद्रूपाः पर्यायाः । तथाऽधर्मस्य पर्यायाः स्थितिरूपा जीवादीनां ज्ञातव्याः । कालस्य समयावलिप्रभृतयः पर्यायाः, उक्तञ्च—

‘आवलिवसंखसगया संखेज्जावलिहि होइ उस्सासो ।

उत्तुस्सासा ओओ सत्तस्योओ लबो भणिओ ॥१॥

विशेषार्थ—इस गाथामें सम्यग्दृष्टि मनुष्यके दर्शन, ज्ञान और चारित्र गुणके कार्योंका उल्लेख किया गया है । यह घट है, यह पट है, इस प्रकारकी विशेषता न करके निराकार रूपसे सत्ता मात्रके अवलोकन को दर्शन कहते हैं । यह घट है, यह पट है इस प्रकार की विशेषता को लिये हुए साकार सविकर्षण रूपसे पदार्थको ज्ञानता ज्ञान है । सम्यग्दृष्टि मनुष्य अपने दर्शन और ज्ञान गुणके द्वारा जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश इन द्रव्योंको तथा उनकी पर्यायोंकी अच्छी तरह ज्ञानता है । जीव की नर नारकादिक तथा क्रोध मान माया लोभ मोह स्नेह पुण्य और पाप आदि पर्याय हैं । सम्यग्दृष्टि मनुष्य उन्हें सामान्य और विशेष रूपसे देखता तथा ज्ञानता है । द्वयाणुक, श्याणुक और पञ्चाणुक को आदि लेकर तीन लोकरूप महासकन्ध-पर्यन्त अनेक पर्याय हैं सम्यग्दृष्टि उन सबको अच्छी तरह देखता और ज्ञानता है । धर्मद्रव्यके जिस रूपसे जीव और पुद्गल गमन करते हैं, वह धर्म द्रव्यकी पर्याय है, सम्यग्दृष्टि उन्हें अच्छी तरह देखता और ज्ञानता है । जीव आदिक द्रव्योंका जो स्थिति रूप परिणमन है वह अधर्म द्रव्यकी पर्याय है । सम्यग्दृष्टि जीव उन्हें अच्छी तरह ज्ञानता है । समय तथा आवलि आदि काल द्रव्यकी पर्याय है । जैसा कि कहा गया है—

आवलि—असंख्यात समयकी एक आवलि होती है, संख्यात आवलियोंका एक उच्छ्रवास होता है, सात उच्छ्रवासका एक स्तोक होता है,

१. जीवकाश्च ५७३, ५७४ तमी श्लोको ।

‘अद्वितीयद्वलवा नालो दो नालिया मुहूर्तं सु ।
समझेण सं भिण्णं अंतमुहूर्तं अणेष्विङ् ॥२॥

एकेन समयेन च्छुनो मुहूर्तो भिन्नमुहूर्तः कथयते । अन्तमुहूर्तस्त्वं नेकप्रकारः । के तेऽनेकप्रकारा अन्तमुहूर्तस्येत्याह-आवल्युपरि एकः समयोऽधिको यदा भवति तदा जघन्याऽन्तमुहूर्तो भवति । एवमावल्युपरि द्वयादयः समयावचटन्ति ते सर्वेऽन्यन्तमुहूर्ती भवन्ति यदावसमयोनो मुहूर्तः । एवमहोरात्रपक्षमासत्त्वं यनवर्षं पूर्वपत्थोपमसागरो-पमावसपिण्डुत्सपिण्ड्यादयः कालस्य पर्याया ज्ञातव्याः । आकाशस्य तु पर्याया घटाकाशः पटाकाशः स्तम्भाकाश इत्यादम् । (सम्मेण सद्हरिति य परिहरिति चरित्यजे दोसे) सम्यक्त्वेन च श्रद्धाति रोचते, न केवलं अद्वते परिहरिति य-परिहरति च । कान् ? चरित्यजे दोसे-चारित्रजान् दोषान्तिति संबन्धः ॥१७॥

एए तिणिं वि भावा हृत्वा जीवस्स मोहरहियस्स ।
णियगुणमाराहतो अच्छिरेण वि कस्म परिहरइ ॥१८॥

सात स्तोक का एक लब होता है, साढ़े अड़तोस लबकी एक नाली होती है, दो नालियोंका एक मुहूर्त होता है, एक समय कम मुहूर्तको भिन्न-मुहूर्त कहते हैं । अन्तमुहूर्त अनेक प्रकार का होता है ।

वे अन्तमुहूर्तके अनेक प्रकार कौन हैं ? इस बातका स्पष्टीकरण करते हुए संस्कृत टीकाकार कहते हैं कि जब आवलि के ऊपर एक समय अधिक होता है तब जघन्य अन्तमुहूर्त होता है । इसी प्रकार आवलिके ऊपर दो आदि समय घटते हैं वे सभी अन्तमुहूर्त कहलाते हैं । यह कम एक समय कम एक मुहूर्त तक चलता रहता है । इस प्रकार दिन, रात, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष, पूर्व, पत्थोपम, सागरोपम, अवसपिणी तथा उत्सपिणी आदि काल द्रव्यके पर्याय जानना चाहिये । आकाश के पर्याय घटाकाश, पटाकाश तथा स्तम्भाकाश आदि हैं । सम्प्रदृष्टि जीव अपने सम्यक्त्व गुणके द्वारा इन द्रव्य तथा पर्यायों की अद्वा करता है तथा चारित्र में लगे हुए दोषोंका परिहार भी करता है ॥ १७ ॥

गाथार्थ—ये तीनों भाव-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र-रूप परिणाम भोग रहित जीवके होते हैं । निज गुणकी आराधना करने वाला पुरुष अल्प कालमें ही कमों का क्षय कर देता है ॥ १८ ॥

एते त्रयोऽपि भावा भवन्ति जीवस्य मोहरहितस्य ।
निजगुणमाराधयन् अचिरेणःपि कर्म परिहरति ॥ १८ ॥

(एए तिणि वि भावा हृतिं जीवस्स मोहरहितस्स) एते त्रयोऽपि भावाः सम्यदशंनज्ञानचारित्रस्त्राणाः परिणामा भवन्ति जीवस्यात्मनः । कथंभूतस्य जीवस्य ? मोहरहितस्य चारित्रमोहात्पञ्चविशतिभेदाद्रहितस्य विजितस्य । (णिय-गुणमाराहतो अचिरेण वि कर्म परिहरत) निजगुणं शुद्धबुद्धकस्वभावमात्मगुणं ज्ञानध्यानस्वरूपमाराधयन्नचिरेण स्तोककालेन कर्म परिहरति सिद्धो भवति ॥ १८ ॥

संखिज्जमसंखिज्जगुणं च संसारिभेदमिता र्ण ।

सम्मतमणुचरंता करति दुःखकल्यं धीरा ॥ १९ ॥

संख्येयामसंख्येयगुणां सर्वपर्मेष्ठमात्रां र्ण ।

सम्यक्त्वमनुचरन्तः कुर्वन्ति दुःखकल्यं धीरा ॥ १९ ॥

(संखिज्जं) संख्येयगुणां निर्जरा सम्यक्त्वं प्रतिपाल्यन्तो धीरो योगीश्वराः प्राप्नुवन्तीति । (असंखिज्जगुणं) असंख्येयगुणां निर्जरा (बणुचरंता) चारित्रं पालयन्तो धीरा योगीश्वराः । (करति) कुर्वन्ति तदनंतरं (दुःखकल्यं करति)

विशेषार्थ—सम्यदशंन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्त्वाचारित्र ये तीनों आत्माके स्वभाव हैं तथा तीन प्रकार के दर्शन-मोह और पञ्चीस प्रकारके चारित्र-मोहसे रहित जीवके होते हैं । जो पुरुष अपने एक शुद्ध बुद्ध स्वभावको लिये हुए आनन्द्यान स्वरूप आत्मगुण की आराधना करता है वह शोधकी कर्मांका क्षय करके सिद्ध होता है ॥ १८ ॥

गाथार्थ—सम्यक्त्वका पालन करने वाले धीर वीर योगीश्वर कमीकी संख्यात-गुणी निर्जरा करते हैं और चारित्रका पालन करनेवाले धीरवीर योगीश्वर कमीको असंख्यात गुणी निर्जरा करते हैं । इस निर्जराके बाद वे दुःखोंका क्षय करते हैं । संख्यात-गुणी निर्जरा सरसों के बराबर है तो असंख्यात गुणो निर्जरा मेर पर्वत के बराबर है ॥ १९ ॥

विशेषार्थ—गुणध्येणी निर्जराके कारण सम्यदशंन तथा चारित्र गुण हैं । सतिशय मिथ्यादृष्टि जीवके जितनी निर्जरा होती है उससे संख्यात-गुणो निर्जरा सम्यदशृष्टि जीवके होतो है और इससे असंख्यात गुणो निर्जरा चारित्र गुणके प्रतिपालक धीर वीर योगीश्वरोंके होती है । चारित्र गुणके प्रतिपालक जीवोंके शावक, विरत, अनन्तानुबन्धों की विशेषोजना करने वाले, दर्शनमोहका क्षय करनेवाले, उपकाम व्येषीवाले,

अर्थकर्मकथादनन्तरं मोक्षं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । कथंभूतां संख्येगुणामसंख्येगुणां च निर्जरा (सातारिमेह मित्ताणं) सर्वप्रमेहमात्राम् । सम्यक्त्वनिर्जरायाः सकाशाद् चारित्रनिर्जरा बहुतरेनि भावः । ए इति वाक्यालंकारे ॥ १९ ॥

दुविहं संजमचरणं सायारं तहं हवे णिरायारं ।

सायारं सग्रन्थे परिग्रहा—रहिय खलु णिरायारं ॥ २० ॥

द्विविधं संयमचरणं सागारं तथा भवेत् निरागारम् ।

सागारं सग्रन्थे परिग्रहाद्वहिते निरागारम् ॥ २० ॥

(दुविहं संजमचरणं) द्विविधं संयमचरणं द्विप्रकारश्चारित्राचारः । को तौ द्वौ प्रकारौ ? (सायारं तहं हवे णिरायारं) सागारं तथा भवेन्निरागारं । सागारं कुत्र भवति ? (सागारं सग्रन्थे) सागारं चारित्रं सग्रन्थे गृहस्थे भवति । तर्हि निरागारं चारित्रं कस्मिन् भवति ? (परिग्रहारहिय खलु णिरायारं) परिग्रहाद्वहिते निर्ग्रन्थे निरागारं चारित्रं वेदितव्यमित्यर्थः ।

उपशान्त मोह, क्षपकश्रेणी वाले, क्षीणमोह और जिन; इसप्रकार अनेक भेद हैं । इन सब स्थानों में उत्तरोत्तर असंख्यात् गुणी निर्जरा होती है । इस निर्जराके प्रभावसे योगीश्वर समस्त कर्मोंका क्षय कर दुःखोंका क्षय करते हैं अर्थात् मोक्ष प्राप्त करते हैं । संख्यातगुणी और असंख्यात् गुणी निर्जरा का अनुपात बतलाते हुए कहा है कि संख्यात् गुणी निर्जरा सरसों के बराबर है और असंख्यात् गुणी निर्जरा मेरुके बराबर है अर्थात् सम्पददर्शनके प्रभाव से होने वाली निर्जराकी अपेक्षा चारित्रसे होने वाली निर्जरा बहुत है । गाथामें आया हुआ 'ए' शब्द वाक्यालंकार में प्रयुक्त हुआ है ॥ १९ ॥

गाथार्थ—चारित्राचार के दो भेद हैं सागार और निरागार । सागार चारित्राचार परिग्रह-सहित गृहस्थ के होता है और निरागार चारित्राचार परिग्रह-रहित मुनिके होता है ॥ २० ॥

विशेषार्थ—हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँच पापोंसे विरक्ति होनेको संयम कहते हैं । यह विरक्ति एक देश और सर्व-देशके भेदसे दो प्रकार की होती है । एक देश विरक्तिसे विकल संयम प्रकट होता है और सर्व-देश विरक्तिसे सकल संयम । विकल संयम परिग्रहके धारक गृहस्थके होता है और सकल संयम परिग्रहके त्यागी मुनि के होता है ॥ २० ॥

बथ सागारचारित्राचारं निरूपयन्ति श्रीकुन्दकुन्दाचार्यीः—

✓ वंसण बथ सामाद्य पोसह सचित्त रायभत्ते य ।

बंभारंभ परिमग्न ह अणुमण उद्दिदु देशविरवो य ॥२१॥

दर्शनं ब्रतं सामायिकं प्रोषधं सचित्त रात्रिभुक्तिश्च ।

ब्रह्माचर्य आरम्भः परिग्रहः अनुमतिः उदिदष्टः देशविरतश्च ॥२१॥

अष्टो मूलगुणः । के ते ? वट 'फलानामभक्षणं १ पिप्पलफलवर्जनं २ 'प्लक्षी जटी पक्टी स्यात्' तत्फलनिवारणं ३ उदुम्बरो जघनेकलामलयुः 'गूलर' इति देश्यात् तत्फल-निषेधः ४ कठंजर कटुम्बर 'अंजीर' इति देश्यात् तत्फलानामभक्षणं ५ मद्य-मांस-मषुनिषेध ६-७-८ इत्यष्टी मूलगुणः । अथवा—

अब आगे श्री कुन्दकुन्दाचार्य सागार चारित्राचारका निरूपण करते हैं—

✓ गायार्थ—दर्शन १ ब्रत २ सामायिक ३ प्रोषध ४ सचित्त त्याग ५ रात्रिभुक्तित्याग ६ ब्रह्माचर्य ७ आरम्भ त्याग ८ परिगृहत्याग ९ अनुमतित्याग १० उदिदष्टत्याग ११ यह सब देशविरत अथवा सागार चारित्राचार हैं ॥ २१ ॥

विशेषार्थ—अप्रत्याख्यानावरण कथाय के क्षयोपशाम की हीनाधिकतासे देशविरत अथवा सागार चारित्राचारके दर्शन आदि ग्यारह भेद हैं । इन्हीं को श्रावककी ग्यारह प्रतिमाएँ कहते हैं । सामान्यरूपसे दर्शन प्रतिमा-धारी श्रावको आठ मूलगुण धारण करने पड़ते हैं, सात व्यसनोंका त्याग करना होता है और सम्प्रदर्शन की भले प्रकार रक्षा करनी होती है । आठ मूल गुण कौन हैं ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए संस्कृत टीकाकार ने दो मतोंका उल्लेख किया है प्रथम मतके अनुसार (बुड़, पीपल, पाकर, ऊमर और अंजीर इन पाँच फलोंका तथा मद्य, मांस और मषु इन तीन मकारोंका त्याग करना आठ मूलगुण हैं । और द्वितीय मतके अनुसार मद्यपानका त्याग १ मांसत्याग २ मषुत्याग ३ रात्रिभोजनत्याग ४ पञ्चफलीत्याग ५ पञ्चपरमेष्ठी की नुति-देवदर्शन ६ जीवदया ७ और पानी छानना ८; ये आठ मूल गुण बतलाये हुए । सात व्यसनोंका उल्लेख करते हुए लिखा है—

१. तेऽ केऽ ग्र० ।

२. भट्टछल नाशफलं क० ।

मद्यपलमधुनिशाषाषातपञ्चफली विरति पञ्चकालानुसीः ।
जीवद्याजलगालनमिति च क्वचिद्ब्रह्ममूलगुणः ॥ १ ॥
सप्तव्यसनवर्जनं । उष्टरं च—

शूतमासमुरावेष्याखेटचौर्यपराकृताः ।
महापापानि सप्तैव अप्सनानि स्थजेद् बुधः ॥ २ ॥
सम्यक्त्वप्रतिपालनं परेषास्त्राणामश्वणमिति विशुद्धमतिः । मूलकनालिका—
पचिनीकल्द^३ लशुनकन्द-तुम्बकफलकुमुम्भ-शाक-कलिङ्गफल-सूरणकल्द-त्यागबच ।
अरणी-दूष्यं वरणपुष्यं सोभाञ्जन कुसुमं करीरपुष्यं काञ्जनार पुष्यमिति पञ्च-
पुष्यत्यागः । ^४लवणटीलघृतयुक्तं फलं सन्धानकं मुहूर्तद्वयोपरि नवनीतं त्याज्यम् ।
मांसादिसेविनां भाष्टभाजनवर्जनं, चमंसितजल-सोहृ-हिंगुपरिहारः । अस्थि-

शूतमास—जुआ, मद्य, मांस, वेष्या, शिकार, चोरी और परस्ती सेवन ये महापाप रूप सात व्यसन हैं, विद्वान् को इनका त्याग करना चाहिये ।

सम्यक्त्वको रक्षा करने के लिये अन्य मत-मतान्तरों के शास्त्रोंका श्रवण न करके अपनी बुद्धिको विशुद्ध-निर्मल रखना चाहिये । ऊपर कहे हुए सामान्य आचरण के अतिरिक्त दर्शन प्रतिमा-बारो श्रावक को निम्नलिखित बातोंपर भी ध्यान रखना आवश्यक होता है—मूली, नाली, मृणाल, लहूशुन, तुम्बोफल, कुसुमभक्ति शाक, तरबूज और सूरण-कल्दका भी त्याग करना चाहिये । अरणी, वरण, सोहजना, करीर और कचनार, इन पाँच प्रकारके फलोंका त्याग होता है । नमक, तेल, और घृतमें रखे हुए फल, बाचार-मुरब्बा, दो मुहूर्तके बादका मक्खन, तथा मांसादिका सेवन करने वाले लोगोंके बनाने और खाने के वर्तनों का त्याग करना पड़ता है । चमड़े में रखे हुए जल, तेल और हींगका त्याग होता है । भोजन करते समय हड्डी, मदिरा, चमड़ा, मांस, खून, पीव, मल, मूत्र और मृत प्राणीके देखनेसे, त्यागी हुई वस्तुके सेवनसे, चाण्डालादि के देखने और उनके शब्द सुननेसे भोजन का त्याग करना चाहिये । छुने, मकूड़े (फूलनसे थुक्त) और चलित स्वादवाले अस्तका त्याग करना

१. गृहीत म० ।

२. कल्पो क० ।

३. लवणटीलघृतयुक्तप्रसादानामवपूर्वमहोपरि नवनीतोपादियेविवरणागाम-
वर्जनं म० ।

कुरुचर्ममोसरकतपूयमलभूताङ्गदर्शनतः प्रत्याक्षातन्त्रेवनाच्छाप्तालादिदश-
नात्तच्छब्दवणाक्च भोजनं त्यजेत् । सुलिलित-पुण्यित-स्वोदवलिङ्गमनं त्यजेत् ।
षोडश प्रहरादुपरि तकं दधि च त्यजेत् । द्विदलान्तमित्र दधि तकं स्वादित
सम्यकस्वमपि मलिनयेत् । लाम्बूलीषवजलं रात्रौ त्यजेत् । एष सर्वोऽपि (दंसण)
दर्शन-प्रतिमाचारः । (वय) द्वादशावतानि, अहिंसा स्थूलवधाद्विरमणं, सत्यं;
स्थूलसत्यवचनं, स्थूलमर्चीर्य, ब्रह्माचर्यं स्वदारसंतोषः परदारनिवृत्तिः, कस्यचित्
सर्वस्त्रीनिवृत्तिः, परिप्रहरपरिमाणद्रत्तं, दिविविक्षपरिमाणविरतिः, अनर्थदण्डपरि-
हारः, भोगोपभोगपरिमाणमिति गुणवत्तत्रयम्, सामायिकं प्रोषधोपवासः, अतिथि-
संविभागः, सल्लेखनामरणं तेति चित्तावृत्तगुणवृत्तम् । (उभाइय) विकालसामा-

चाहिये । सोलह प्रहरके बादके तक और दहीका त्याग करना चाहिये । द्विदलान्तके साथ मिलाकर खाये हुए दहो और तक सम्यगदर्शन को भी मलिन कर देते हैं अतः इनका त्याग करना चाहिये । पान, औषध और पानोंका भी रात्रि में त्याग करना चाहिये । यह सभी दर्शन प्रतिमाका आचार है ।

दूसरी प्रतिमाका नाम द्रूत प्रतिमा है इसमें निम्न-लिखित बारह व्रतोंका पालन करना होता है । पौच अणुव्रत—अहिंसाणुव्रत अर्थात् स्थूलहिंसा का त्याग करना, सत्याणुव्रत अर्थात् स्थूल सत्य वचन बोलना, अचौर्यणुव्रत अर्थात् स्थूल चोरीका त्याग करना, ब्रह्माचर्यणुव्रत अर्थात् अपनो एक स्त्रीमें संतोष रखना, अथवा अपनी अनेक स्त्रियोंमें संतोष रखते हुए परस्त्रीका त्याग करना, अथवा गृहविरत शावक की अपेक्षा सब प्रकार को स्त्रियोंका त्याग करना, परिप्रहरपरिमाणाणुव्रत अर्थात् आवश्यकतानुसार परिप्रहरकी सीमा निश्चित करना । तीनगुणव्रत—दिवदत अर्थात् दिशाओं और विदिशाओंमें आने जाने की सीमा निष्ठारित करना, अनर्थ-दण्ड-परिहार अर्थात् अपश्यान, दुःश्रुति, हिंसादान, पापोप-देश और प्रमाद—चर्या इन पौच निरर्थक कायोंसे विरत रहना और भोगोपभोग परिमाण अर्थात् भोग तथा उपभोग की संख्या निश्चित करना और चार शिक्षाव्रत—सामायिक, अर्थात् निश्चित समय तक पञ्च पापोंका त्याग करके समताभाव धारण करना, प्रोषधोपवास अर्थात् अष्टमी चतुर्दशीके दिन उपवास करना अतिथिसंविभाग अर्थात् अतिथियोंके लिये चार प्रकार का दान देना, और सल्लेखनामरण अर्थात् अन्तिम समय सल्लेखना धारण करना तथा निरन्तर उसकी भावना रखना ।

यिकं । (पीसह) पर्वोपकासः । (सचित) सचितस्याभक्षणं, (रायभृते य) रात्रिभोजनपरिहारो दिवा ब्रह्मचर्यं, (वंभ) सर्वथा ब्रह्मचर्यं । (आरम्भ) सेवाकृषिवाणिज्वादिपरिहारः । (परिग्रह) वस्त्रमात्रपरिग्रह-स्त्रीकारः सुवर्णादि-दर्जनं । (अणुमण) विवाहादिकर्मानुषदेशः । (उद्दिष्ट) उद्दिष्टाहारपरिहारः । (देस विरदो य) एवं सागार चारित्रम् ॥ २१ ॥

पंचेषणुब्ययाहै गुणव्ययाहै हृवति तह तिष्ण ।

सिक्खावय चत्तारि संजमचरणं च सायारं ॥ २२ ॥

पञ्चेषाणुब्रतानि गुणब्रतानि भवन्ति तथा त्रौणि ॥

शिक्षाब्रतानि चत्तारि संयमचरणं च सायारं ॥ २२ ॥

(पंचेषणुब्ययाहै) पंचेषाणुब्रतानि भवन्ति । (गुणव्ययाहै हृवति तह तिष्ण) गुणब्रतानि भवन्ति तथा त्रौणि । (सिक्खावय चत्तारि) शिक्षाब्रतानि

तीसरी सामायिक प्रतिमामें प्रतिदिन आतः मध्याह्न और सायंकाल सामायिक करना चाहिये ।

चौथी प्रोषध प्रतिमा में प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी को शक्ति-अनुसार उपदास करना चाहिये ।

पाँचवीं सचित्सन्ध्याग प्रतिमा में सचित-वस्तुओंके भक्षणका त्याग होता है ।

छठवीं रात्रिभुवित-विरति प्रतिमामें रात्रिके समय भोजन करनेका त्याग करना अथवा दिनमें ब्रह्मचर्यकी रक्षा करना आवश्यक है ।

सातवीं ब्रह्मचर्य प्रतिमामें स्त्री मात्रका त्याग होता है ।

आठवीं आरम्भ-त्याग प्रतिमा में सेवा, कृपि, तथा व्यापार आदिका परित्याग होता है ।

नौवीं परिग्रह-त्याग प्रतिमा में वस्त्रमात्र परिग्रह रखा जाना है तथा सुवर्णादिक धातुका त्याग होता है ।

दशवीं अनुमति त्याग प्रतिमा में विवाह आदि कार्यों को अनुमतिका त्याग होता है ।

एयारहवीं उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा में अपने उद्देश्यसे बनाये हुए आहारका परित्याग होता है ।

इस प्रकार यह देशविरत अर्थात् सागार चारित्रका दर्जन है ॥ २१ ॥

गाथार्थ—पाँच अणुब्रत, तीन गुणब्रत और आर शिक्षाब्रत ये आरहवत गृहस्थ के संयमाचरण हैं ॥ २२ ॥

चत्वारि भवन्ति । (संजमचरणं च सायारं) संयमचरणं च सागारं भवति । एतानि द्वादशाष्टतानि पूर्वमेव सूचितानि ॥ २२ ॥

थूले तसकायवहे थूले मोसे तितिक्षाथूले य ।

परिहारो परपिस्मे परिग्रहारम्भपरिमाणं ॥ २३ ॥

स्थूले त्रसकायवधे स्थलायां मृषायां तितिक्षास्थूले च ।

परिहारः परप्रेस्मिन् परिग्रहारम्भपरिमाणम् ॥ २३ ॥

(थूले तसकायवहे) स्थूले त्रसकायवधे । परिहार इति 'शब्दशब्दतुषु' सम्बद्धयते । (थूले मोसे) स्थूलमृषावादे परिहारः । (तितिक्षास्थूले य) तितिक्षा-स्थूले ज्ञोर्यस्थूले परिहारः । (परिहारो परपिस्मे) परिहारः क्रियते, कस्मिन् ? परप्रेस्मिन् परद्वारे । (परिग्रहारम्भपरिमाणं) परिग्रहाणां सुवर्णर्दीनामारम्भाणां सेवाकृष्ण-वाणिज्यादीनां परिमाणं क्रियते ।

विसिविदिसिमाण पहुमं अणत्यदंडस्स वज्जणं विदियं ।

भोगोपभोगपरिमा हयमेव गुणव्यया तिष्ण ॥ २४ ॥

विशेषार्थ—पाँच पापोंसे विरत होना चर्त है । वह चर्त एक देश और सर्व देशकी अपेक्षा दो प्रकारका होता है । लोक में जिन्हें पाप समझा जाता है ऐसे हिसा आदि स्थूल पापोंसे विरत होनेको अणुव्रत कहते हैं वे पाँच होते हैं । जो अणुव्रतोंका उपकार करें उन्हें गुणव्रत कहते हैं । गुणव्रत तीन होते हैं । जिनसे मुनिव्रत धारण करनेकी शिक्षा मिले उन्हें शिक्षाव्रत कहते हैं । सब मिलाकर गृहस्थ के बारह चर्त होते हैं इनका स्वरूप पहिले कह चुके हैं ॥ २२ ॥

गाथार्थ—स्थूल त्रसवध, स्थूल असत्य कथन, स्थूल चोरी और परस्त्रोंका परिहार तथा परिग्रह और आरम्भका परिमाण ये पाँच अणुव्रत हैं ॥ २३ ॥

विशेषार्थ—स्थूल रूपसे त्रस जोवों की हिसाका त्याग करना अहिसायुव्रत है । स्थूलरूपसे असत्य कथनका त्याग करना सत्याणुव्रत है । स्थूलरूपसे चोरीका त्याग करना अचौर्याणुव्रत है । परन्त्रियाका त्याग करना ब्रह्मचर्याणुव्रत है और सुवर्णर्दि परिग्रह तथा सेवा, लैती और व्यापार आदिका परिमाण करना परिग्रह परिमाणुव्रत है ॥ २३ ॥

गाथार्थ—दिशाओं और विदिशाओंका प्रमाण करना पहला गुणव्रत है । अनर्थदण्डका त्याग करना दूसरा गुणव्रत है और भोग तथा उपभोग

दिग्विदिग्माणं प्रथमं अनर्थदण्डस्य वर्जनं द्वितीयम् ।

भोगोपभोगपरिमाणं इदमेव गुणवत्तानि श्रीणि ॥२४॥

(दिसिविविसिमाण पदम्) दिग्विदिग्माणं परिमाणं प्रथमं गुणवत्तं शात्व्यम् ।
 (अणर्थदण्डस्स वज्ज्ञानं विद्वियं) अनर्थदण्डस्य वर्जनं द्वितीयं गुणवत्तं भवति ।
 (भोगोपभोग-परिमा) भोगोपभोगपरिमाणं तृतीयं गुणवत्तं भवति । भोजनादिकं
 भोगः । वस्त्रस्त्रीप्रमुखमुपभोग चत्यर्थः । (इयमेव गुणवत्ता , लिङ्गं) इदमेष्टा-
 चरणं श्रीणि गुणवत्तानि भवन्ति ॥ २४ ॥

सामाइयं च पहमं विवियं च तथेव पोसहं भणियं ।

तइयं अतिश्चिपुज्जं चउत्थ सल्लेहुणा अन्ते ॥२५॥

सामायिकं च प्रथमं द्वितीयं च तथेव प्रोषधो भणितः ।

तृतीयमतिथि-पूज्यं चतुर्थं सल्लेखना अन्ते ॥ २५ ॥

(सामाइयं च पहमं) सामायिकं च प्रथमं शिक्षावत्तं । चैत्यपञ्चगुरुभक्ति-
 चमाचिलक्षणं विन प्रति एक बारं द्विवारं त्रिवारं का प्रत-प्रतिमायाः सामायिकं भवति ।
 यत् सामायिकप्रतिमायाः सामायिकं प्रोक्तं तत्त्वीन् बारान् निश्चयेन करणीयभित्ति
 का परिमाण करना तीसरा गुणवत्त है । इस प्रकार ये तीन गुणवत्त
 हैं ॥ २५ ॥

विशेषार्थ—पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर ये चार दिशाएँ हैं
 तथा ऐशान, आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य, ऊर्ध्व और अधी ये छह विदिशाएँ
 हैं । इनमें आने जानेकी सीमा निश्चित करना सो पहला दिग्वत नामका
 गुणवत्त है । दूसरे गुणवत्तका नाम अनर्थदण्ड त्यागवत्त है इसमें
 अपघ्यान, दुःश्रुति, पापोपदेश, हिंसादान और प्रमादचर्या इन पाँच तिरथोंक
 कार्यों का त्याग करना होता है । भोगोपभोगपरिमाण नामका तीसरा
 गुणवत्त है । जो वस्तु एक बार भोगने में आती है उसे भोग कहते हैं जैसे
 भोजन आदिक तथा जो वस्तु बार-बार भोगनेमें आती है उसे उपभोग
 कहते हैं जैसे वस्त्र तथा स्त्री आदि । इनकी सीमाएँ निर्धारित करना
 भोगोपभोगपरिमाणवत्त है । ये तीन गुणवत्त हैं ॥ २५ ॥

गायार्थ—पहला सामायिक, दूसरा प्रोषध, तीसरा अतिथि-पूज्य और
 चौथा मरण कालमें सल्लेखना धारण करना ये चार शिक्षावत्त हैं ॥२५॥

विशेषार्थ—सामायिक नामका पहला शिक्षावत्त है । इसमें चैत्य-
 भक्ति, पञ्चपरमेष्ठी भक्ति और समाधि भक्ति करना चाहिये । बत

शातव्यम् । (विदियं च तवेह पोसहं भणियं) द्वितीयं च तथैव प्रोषधोपवासं शिक्षाद्वत् भणिते प्रतिपदादितं अष्टम्या चतुर्दश्या च । तद्धपि त्रिविधं, चतुर्विष्वाहारपट्टि-वर्जनमुत्कृष्टं, जल-सहितं मध्यमं, आचाम्लं जघन्यं प्रोषधोपवासं भवति वयाशक्ति कलंव्यम् । (तद्यं च अतिथिपूज्यं) तृतीयं चातिथिपूज्यं, न विद्यते तिथिः प्रतिपदादिका यस्य सोऽतिथिः अथवा 'संयम-यात्रार्थभवति गच्छति उद्ददण्डचर्या'

प्रतिमा में जो सामायिक होता है वह दिनमें एक बार, दो बार अथवा तीन बार होता है । परन्तु सामायिक प्रतिमामें जो सामायिक कहा गया है, वह नियमसे तीन बार करना चाहिये ।

दूसरा शिक्षाद्वत् प्रोषधोपवास कहा गया है । प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशीको यह द्वत करना पड़ता है । प्रोषधोपवास शिक्षाद्वत् उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्यके भेदसे तीन प्रकारका कहा गया है । अन्न-पात-खाद्य और लेश्वा इन चारों प्रकारके आहारका त्याग करना उत्कृष्ट प्रोष-धोपवास है । जिसमें पर्वके दिन जल लिया जाता है, वह मध्यम प्रोष-धोपवास है और जिसमें आचाम्लाहार किया जाता है वह जघन्य प्रोष-धोपवास है ।

तीसरा शिक्षाद्वत् अतिथिपूज्य अथवा अतिथि-संविभाग है । जिसे प्रतिपदा आदि तिथियोंका विकल्प न हो उसे अतिथि कहते हैं अथवा संयमकी प्राप्तिके लिये जो भ्रमण करते हैं अर्थात् अनुदिदण्ट आहार की प्राप्तिके लिये जो श्रावकोंके घर चर्चा करते हैं उन मुनियोंको अतिथि कहते हैं । जिसमें नवधार्म-भक्ति और सात गुणोंसे सहित श्रावक के ढारा उक्त अतिथि की पूजा की जाती है—उसे आहारादिसे सन्तुष्ट किया जाता है, वह अतिथि पूज्य नामका शिक्षाद्वत् है ।

चौथा शिक्षाद्वत् सल्लेखना है । मरण समय काय और कषायको कुश करना सल्लेखना है ।

[गुणवत् और शिक्षाद्वतके नामोंमें विभिन्न मत पाये जाते हैं । सबे प्रथम कुन्दकुन्द स्वामी ने दिग्द्वत्, अनर्थदण्डद्वत् और भोगोपभोगपरिमाण इन तीनको गुणवत् माना है । इसी मतका उल्लेख समन्वयभद्र स्वामी ने

१. संयमलाभार्यं म० ।

२. प्रतिग्रह, उच्चासन, अरणप्रकालन, पूजन, प्रणाम, मन-वचन-काय-भौजन की शुक्रि ।

करोतीत्यतिथिः यति स पूज्यो नव ॑पुण्य-सप्तमुण-समन्वितेन श्रावकेण पस्मिन्
शिक्षाद्वते तदतिथि-पूज्यं । (चउत्थ सल्लेहणा अन्ते) जतुर्थं शिक्षाद्वतमन्ते
मरणकाले सल्लेखना कायकवायतनूकरणमिति तात्पर्यम् ॥ २५ ॥

एवं सावधार्म्मं संजमचरणं उद्देसियं सयलं ।

शुद्धं संजमचरणं जडवमं णिक्कलं बोच्छे ॥ २६ ॥

एवं श्रावकधार्म्मं संयमचरणं उपदेशितं सकलम् ।

शुद्धं संयमचरणं यतिधर्मं निष्कलं बक्ष्ये ॥ २६ ॥

(एवं सावधार्म्मं संजमचरणं उद्देसियं सयलं) एवममुना प्रकारेण श्रावक-
धर्मलक्षणं संयमचरणं चारित्राचारः, उपदेशितं भवन्तः कुर्वन्त्विति प्रतिपादितं,
सकलं समग्रं परिपूर्णं, किञ्चिद् विशेषरूपं सु न प्रतिपादितमित्यर्थः । उक्तञ्च—

किया है परन्तु तत्काथ-सूत्रकार उमास्वामी ने दिग्ब्रत देशव्रत और अनथ-
दण्ड-व्रतको गुणव्रत माना है । प्रायः यही मान्यता उत्तरवर्ती आचार्योंने
स्वीकृत की है । श्री कुन्दकुन्द स्वामीके मतानुसार चार शिक्षाद्वतोंके नाम
इस प्रकार हैं—सामायिक-प्रोषधोपवास, अतिथि-संविभाग और सल्ले-
खना । समन्तभद्र स्वामी ने देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास
और वैयावृत्यको शिक्षाद्वत माना है । तथा उमास्वामी महाराज ने सामा-
यिक, प्रोषधोपवास, भागोपभोग परिमाण और अतिथि-संविभागको
शिक्षाद्वत कहा है । कुन्दकुन्द स्वामी ने देशव्रत का उल्लेख गुणव्रतों में
किया है और कुन्दकुन्द स्वामीकी भल्लेखनाको शिक्षाद्वत सम्बन्धी
मान्यता अन्य आचार्यों को सम्मत नहीं हुई क्योंकि सल्लेखना मरण काल
में ही धारण की जा सकती है और शिक्षाद्वत सदा धारण करना पड़ता
है । इस दृष्टिसे अन्य आचार्योंने सल्लेखना का बारह व्रतके अतिरिक्त
बण्णन किया है । इसके स्थान पर उमास्वामीने अतिथि-संविभाग को और
समन्तभद्र स्वामी ने वैयावृत्यको शिक्षाद्वत स्वीकार किया है । वैयावृत्य
शब्द अतिथि-संविभागका ही विस्तृत रूप है ।]

गायार्थ—इस प्रकार समस्त श्रावकधर्म-सम्बन्धी संयमाचरण चरित्रा-
चारका कथन किया, अब शुद्ध और निष्कलस्त्रू मुनिषसंसम्बन्धी चारित्रा-
चार का कथन करूँगा ॥ २६ ॥

विल्वालाकुफले च त्रिभुवनविजयी शिलीध्रकं न सेवेते ।

आ पञ्चदशतिथिम्यः पदोऽसि वत्सोद्भवात्समारम्य ॥१॥

तथा च—

दृतिश्रायेषु पानीयं लेहं च कुटुम्बिण्यु ।

व्रहस्पदो वर्जयेनित्यं योषितश्चावतोषितः ॥२॥

त्रिभुवनविजयीति भंगा तदुपलक्षणं सूक्ष्मकण्ठचाहिकेनावीनाम् । शिलीध्रकं गोमयच्छुत्रं केतकीपुष्पदण्डिका च । चर्मतुलादिवृतं गुडादिकं तादेयम् । अस्य-

विशेषार्थ—यहाँ श्रावकके बारह ऋतोंका सामान्य वर्णन किया है विशेषरूप से वर्णन नहीं किया है । श्रावक-सम्बन्धी विशेष क्रियाओं को इस प्रकार जानना चाहिये—

विल्वालाकु—श्रावकको बेल, तुम्बोफल, भींग, शिलीध्रक-बरसातमें गोबरके ऊपर उत्पन्न होने वाली छत्राकार बनस्पति जिसे कुकरमुत्ता कहते हैं, नहीं खाना चाहिये । इसी प्रकार बछड़ा उत्पन्न होनेके दिनसे पन्द्रह दिन तक भैंस आदिका दूष भी नहीं पीना चाहिये त्रिभुवन-विजयी भींगको कहते हैं उसे यहाँ उपलक्षण मात्र समझना चाहिये इसलिये लक्ष खस दानेके बकल तथा अपील आदि नशीली वस्तुओंका सेवन श्रावक को नहीं करना चाहिये । केतकी केवड़ा के फूल भी श्रावकको वर्जनीय हैं ।

दृति—चमड़ेकी मणक आदि में रखा हुआ पानी, और चमड़ेकी छोटी छोटी कुप्पियों में रखा हुआ तेल भी व्रती मनुष्यको छोड़ना चाहिये । व्रती मनुष्य अव्रती मनुष्यों के योग्य घर्महीन स्त्रियोंका सेवन भी नहीं कर सकता है । चमड़े की तराजूसे तोला हुआ मुड़ आदि भी व्रती मनुष्य को आहु नहीं है । व्रती पुरुष को सामायिक या पूजा आदिके प्रारम्भमें अन्य लोगोंके समान अभ्युक्तण अर्थात् अपने ऊपर जलके छीटि देना तथा आचमन अर्थात् चुरूलू में जल भर कर चाटना आदि कियाएँ नहीं करनो चाहिये । अभ्युक्तण और आचमन आदिका व्याख्यान विशेष शास्त्रोंसे जानना चाहिये ।

इस प्रकार श्रावक का धर्म—श्रावक-सम्बन्धी चारित्राचारका वर्णन करनेके बाद श्री कुन्दकुन्द स्वामी परिपूर्ण विशुद्धिसे सहित एवं निष्कलङ्घ-

१. सेवते म० ।

२. कुतपादितु क० म० 'कुतः इते: स्नेहपात्रं सैवात्मा कुतुपः पूमान्' इत्यमरः ।

काणाच मनादिकं च विशेषशास्त्रोक्तं शातव्यम् । (सुदूरं संजमचरणं जड्हषम्मै णिकलं बोच्छे) शूदूरं परिपूर्णविष्णुद्विसहितं पतिष्ठमं निष्कलकृतं वस्ये कथ-
यिष्यामि हति वचनाञ्छावकधमैस्य च तारतम्येनोक्ताष्टता सूचिता भवतीति
शातव्यम् ॥ २६ ॥

पञ्चदिव्यसंबरणं पञ्चवया पञ्चविंशकिरियासु ।
पञ्चसमिदि तयगुत्ती संजमचरणं निरायारं ॥ २७ ॥

पञ्चेन्द्रियसंबरणं पञ्चवत्रताः पञ्चविंशतिक्रियासु ।
पञ्चसमितयः तिस्रो गुप्तयः संयमचरणं निरागारम् ॥ २७ ॥

(पञ्चदिव्यसंबरणं) पञ्चानामिन्द्रियाणां संबरणं कूर्मवत्संकोचनं । (पञ्चवया)
पञ्चवत्रताः । इति शब्दस्य पुनर्लघुं सकल्पमुक्तमस्ति तेनात्र पुरुत्वं सूचितं । तांस्तु
विवरिष्यति । (पञ्चविंशकिरियासु) पञ्चविंशती क्रियासु सतीषु । ते पञ्च वत्रता
भवतीति भावः । (पञ्च समिदि) पञ्च समितयोः भवन्ति । (तयगुत्ती) तिस्रो
गुप्तयः (संजमचरणं निरायारं) निरागारभग्नगारं चारिनाचारो भवतीति द्वार-
वाया वेदितव्या ॥ २७ ॥

मुनिधर्मके कहनेको प्रतिज्ञा करते हैं। उनके इस कथनसे आवक तथा
मुनिधर्मका तारतम्य-हीनाधिकभाव अनायास प्रकट हो जावेगा ॥ २६ ॥

आगे पञ्चेन्द्रियसंबरका स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—पञ्चेन्द्रियोंको वश में करना, पञ्चोंस क्रियाओंके रहते हुए
पञ्च महाव्रत धारण करना, पञ्च समितियोंका पालन करना और तीन
गुप्तियोंको धारण करना मुनियोंका संयम-चारित्र है ॥ २७ ॥

विशेषार्थ—स्पर्शन आदि पञ्च इन्द्रियोंको कछुएकी तरह संकुचित
करना वर्थति जिस तरह विपत्ति देख कछुआ अपने सब अवयवों को
संकुचित कर पीठके नोचे कर लेता है उसी प्रकार मुनि भी अपनी स्पर्श-
नादि इन्द्रियोंको सब ओर से हटा कर आत्म-स्वरूप में संकुचित कर लेते
हैं। पञ्चोंस क्रियाओं, पाँच महाव्रत तथा तीन गुप्तियोंका वर्णन कुन्तकुन्द
स्त्रामी स्वयं आगेकी गाथाओं में करेंगे ॥ २७ ॥

अमणुण्णे य मणुण्णे सजीवदव्ये अजीवदव्ये य ।

ए करेह रायदोसे पञ्चेदियसंबरो भणिओ ॥ २८ ॥

अमनोजे च मनोजे सजीवदव्ये अजीवदव्ये च ।

न करोति रागद्वेषी पञ्चेन्द्रियसंबरो भणितः ॥ २८ ॥

(अमणुण्णे य) अमनोजे चासुन्दरे च (पाणुण्णे) जगीजे गोहरे । (जगीजे दव्ये) इष्टवनिलाक्षी । (अजीव दव्ये य) अजीव दव्ये चाचेतनदव्ये अशन-चसन-कनक काचादिके (ए करेह रायदोसे) न करोति रागद्वेषे । मनोजे रागं न करोति । अमनोजे द्वेषं न करोति । (पञ्चेन्द्रियसंबरो भणिओ) पञ्चेन्द्रियसंबरो भणितः प्रतिपादितः ॥ २८ ॥

अथ पञ्चवया इत्येतत्तदविवरणःर्थमाह—

हिंसाविरह अहिंसा असत्त्वविरह अदत्तविरह य ।

तुरियं अबंभविरह पञ्चमं संगम्मि विरह य ॥ २९ ॥

हिंसाविरतिरहिंसा असत्यविरतिरदत्तविरतिश्च ।

तुरीयमध्याविरतिः पञ्चमं संगे विरतिश्च ॥ २९ ॥

गायार्थ—मनोज और अमनोज चेतन तथा अचेतन पदार्थोंमें रागद्वेष नहीं करना पञ्चेन्द्रिय-संबर कहा गया है ॥ २८ ॥

विद्वावार्थ—स्पर्शनेन्द्रिय के विषय—आठ प्रकार के स्पर्श हैं—१ शीत २ उल्जन ३ स्तिराध ४ रुक्ष ५ कोमल ६ कडा ७ लघु और ८ भारी । रसना इन्द्रियके विषय पाँच प्रकारके रस हैं । १ लट्ठा २ मीठा ३ कडुआ ४ कथायला और ५ चर्पंरा । ब्राणेन्द्रियके विषय दो गन्ध हैं—१ सुगन्ध और २ दुर्गन्ध । चक्षुरिन्द्रियके विषय पाँच प्रकारके वर्ण हैं—१ काला २ पीला ३ नीला ४ लाल और ५ सफेद । कर्णेन्द्रियके विषय सात प्रकारके स्वर हैं—१ षड्ज २ छृष्टभ ३ गान्धार ४ मध्यम ५ पञ्चम ६ घंबत और ७ निषाद । ये सब विषय इष्ट अनिष्ट के भेदसे दो दो प्रकारके हैं । इष्ट विषयोंमें राग नहीं करना और अनिष्ट विषयोंमें द्वेष नहीं करना; पञ्चेन्द्रिय संबर अथवा पञ्चेन्द्रियदमत कहलाता है ॥ २८ ॥

आगे पाँचवतोंका वर्णन करते हैं—

गायार्थ—हिंसाविरति अर्थात् अहिंसा, असत्यविरति, अदत्तविरति, अध्याविरति और सञ्चाविरति ये पाँचवत हैं ॥ २९ ॥

(हिंसाविरह अहिंसा) हिंसाविरतिरहिंसा प्राणातिषातविरतिभवति । (अस-
च्चविरह) असत्यविरतिलङ्गीयं महाव्रतं भवति । (अदसदिरहं य) अदत्तविर-
तिश्चादत्ताद्विरतिरदत्तविरतिस्तुतीयं महाव्रतं भवति । (तुरियं अबंभविरह)
अब्रह्मविरति बेधुनद्विरमणं तुरियं—चतुर्थं महाव्रतं शातव्यम् । “चतुरो यदीयो
चलोपदचेति” सूक्ष्माधुलात् । (वंशमसंगम्मि विरहं य) वंशमं महाव्रतं भवति ।
का ? सङ्गे परिग्रहे विरतिश्च परिग्रहाद्विरमणमित्यर्थः ॥२९॥

✓ साहंति जं महल्ला आयरियं जं महल्लपुञ्चेहिं ।

जं च महल्लाणि तदो महल्लया इस्त्वा ताहं ॥३०॥

साधयन्ति यन्महान्तः आचरितं यन्महत्पूर्वेः ।

यच्च महान्ति ततः महाव्रतानि एतम्माद्वेतोः तानि ॥३०॥

(साहंति जं महल्ला) साधयन्ति यद्यस्मात्कारणात् प्रतिपालयन्ति । के ते ?
महल्ला—महान्तो गुरुणामनि गुरवः पुरुषः । (आयरियं जं महल्लपुञ्चेहिं) आय-
रितमादृतं वा यद्यस्मात् कारणात् महल्लपुञ्चेहिं—महाद्विः गुरुभिः पूर्वः विरत्त-
नाचार्यः वृषभादिभिमहादीर्घ्यन्ते । वृषभसेनादिगीतमारत—गणधरैश्च जम्बू-

✓ विशेषार्थ—ब्रह्म और स्थावर-दोनों प्रकारके जीवोंके प्राणवातसे
विरत होना सो अहिंसा महाव्रत है । असत्य वचन से विरत होना सो
सत्यमहाव्रत है । चिना दी हुई वस्त्रके ग्रहण से विरत होना वदत्तत्याग
अथवा अचौर्य महाव्रत है । स्त्रीसेवन से विरत होना सो अब्रह्मत्याग
अथवा लक्ष्म्यर्थ महाव्रत है और परिग्रह का सर्वथा त्याग होना सो परिग्रह-
त्याग महाव्रत है ॥२९॥

अगे महाव्रत नामकी सार्थकता बतलाते हैं—

✓ गाथार्थ—चूंकि महापुरुष इनका साधन करते हैं, पूर्ववर्ती महापुरुषों
ने इनका आनंदरण किया है, और स्वयं ही ये महान् हैं अतः उन्हें महा-
व्रत कहते हैं ॥३०॥

✓ विशेषार्थ—अहिंसा आदिको महाव्रत क्यों कहते हैं ? इस प्रश्नका
उत्तर देते हुए कुन्दकुन्दस्वामीने तोन हेतु दिये हैं । प्रथम हेतु में उन्होंने
कहा है कि चूंकि महापुरुष अर्थात् गुरुओं के भी मुख श्रेष्ठ जन इनका
साधन करते हैं इसलिये इन्हें महाव्रत कहते हैं । दूसरे हेतु में उन्होंने कहा
है कि चूंकि पूर्ववर्ती बड़े बड़े आचार्यों ने, भगवान् वृषभदेव को आदि

स्वामि-पर्यन्तैश्च । (जं च महलाणि) यच्च यस्मात्कारणात् महलाणि—स्वयं
भवन्ति गुणादिः । (तदे वहलय इत्तर्ही) उत्सवानांत्वयात् इत्तहे—
एतस्माद्देतोः (ताइ) तानि महावतानीत्पुच्यन्ते ॥३०॥

वयगुत्ती मणगुत्ती इरियासमिदी सुदाणणिकलेवो ।
अबलोयभोयणाए अहिंसाए भावना होति ॥३१॥

वचोगुप्तिः मनोगुप्तिः ईर्यासमितिः सुदाननिक्षेपः ।
अबलोक्य भोजने अहिंसाया भावना भवन्ति ॥३१॥

(वयगुत्ती) वचोगुप्तिरेका । (मणगुत्ती) मनोगुप्तिद्वितीया भावना ।
(इरियासमिदी) ईर्यासमितिस्तृतीया भावना । (सुदाणणिकलेवो) आदाननिक्षेपः
पुस्तककमण्डल्यादिकमुपकरणं पूर्वं विलोक्य भृदुना मयूरपिञ्चले विलिख्य भृष्टते
श्रियते च सुदान—निक्षेप उच्यते । (अबलोयभोयणाए) अबलोक्य पुनः पुनः
दृष्ट्या भोजनं क्रियते अबलोक्य भोजनं तेन विलोक्य भोजने । प्राकृते
लिङ्गभेदः नपुंसकस्य स्त्रीत्वं एता अहिंसामहाव्रतस्य पञ्चभावना भवन्तीति
वेदितव्यम् ॥३१॥

लेकर महावीर पर्यन्त तोथंकरों ने, बृषभसेन को आदि लेकर गौतमान्तं
गणधरों ने तथा जम्बूस्थामी पर्यन्त सामान्य केवलियों ने इनका आचरण
किया है, इनका आदर किया है इसलिये इन्हें महाव्रत कहते हैं । और
तीसरे हेतु में कहा है कि वे स्वयं महान् हैं—ग्रत्यन्त श्रेष्ठ हैं इसलिये
महाव्रत कहे जाते हैं ॥३०॥

गायार्थ—वचन—गुप्ति, मनो—गुप्ति, ईर्या—समिति आदान—निक्षेप
समिति और आलोकित—पान ये पाँच अहिंसाव्रत की भावनाएँ हैं ॥३१॥

विशेषार्थ—वचन गुप्ति अर्थात् वचनको रोकना, मनोगुप्ति अर्थात्
मनको रोकना, ईर्या समिति अर्थात् चार हाथ भूमि देखकर चलना,
सुदाननिक्षेप अर्थात् पुस्तक कमण्डलु आदि उपकरणों को पहले देख कर
तथा मयूरपिञ्चली से साफ कर उठाना धरना और अबलोक्य भोजन
अर्थात् बार बार देख कर भोजन ग्रहण करना ये पाँच अहिंसा महाव्रत
की भावनाएँ हैं ॥३१॥

जागे सत्य महाव्रत की पाँच भावनाएँ कहते हैं—

कोहभयहासलोहामोहा विधरीयभावणा चेव ।

विदियस्स भावणाए ए पञ्चेव य तहा होंति ॥३२॥

कोबभयहासलोभमोहा विपरीतभावना चेव ।

द्वितीयस्य भावना इमाः पञ्चेव च तथा भवन्ति ॥३२॥

(कोहभयहासलोहामोहा) कोधश्च भयं च हासश्च लोभश्च मोहश्च कोध-
भयहासलोभमोहाः । (विधरीय भावणा चेव) विपरीतभावनाश्चेव । एतेषां
पञ्चानां विपरीतभावनाः अकोधनः, अभयः, अहासः, अलोभः अमोहश्चेति ।
उक्तं च गौतमेन भगवता—

अकोहणो अलोहो य भयहस्सविवज्जिदो ।

अणुवीचीभासकुसलो विदियं बदमस्सदो ॥३॥

अत्रामोह—शब्देनानुवीचीभाषाकुशल इति लभ्यते । वीची वाग्महरी
तामनुकृत्य या भाषा बत्ते सानुवीचीभाषा, जिनसूत्रानुसारिणी भाषा अनुवीची-
भाषा पूर्वचायसूत्र परिपाटोभनुलकृत्य भाषणीयमित्यर्थः । उक्तं उमास्वामि-
मद्वारकेण—

गाथार्थ—अकोध, अभय, अहास, अलोभ और अमोह ये द्वितीय-सत्य
महाव्रत की पाँच भावनाएँ हैं ॥ ३२ ॥

विवेचार्थ—असत्य बोलनेके कारण निम्न प्रकार हैं—कोध, भय, हास्य
लोभ और मोह । इनसे विपरीत अकोध, अभय, अहास्य, अलोभ और
अमोह की भावना होना सत्य महाव्रत की पाँच भावनाएँ हैं । भगवान
गौतम ने भी ऐसा ही कहा है ।

अकोहणो—द्वितीय सत्य महाव्रत को धारण करने वाला पुरुष
अकोधन—कोध से रहित, अलोभ—लोभ रहित, भय-विवजित, हास्य
विवर्जित और अनुवीची-भाषा में कुशल होता है । मूल गाथा में जो
अमोह शब्द है उसोमे अनुवीची-भाषा-कुशल यह अर्थ प्राप्त होता है ।
वीची पूर्वचायोंकी वचन रूप तरङ्ग को कहते हैं उसका अनुसरण करते
हुए जो भाषा बोली जाती है वह अनुवीची भाषा कहलाती है । अनुवीचि-
भाषाका स्पष्ट अर्थ यह है कि जिनामगमके अनुसार वचन बोलता । सत्य
महाव्रत के धारक पुरुषको सदा पूर्वचायोंके द्वारा लिखित शास्त्र-परम्परा
का उल्लङ्घन न करके ही वचन बोलना चाहिये ।

“कोषलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याक्षानान्यनुवीचीभाषणं च पञ्च” (विद्यस्स भावनाए) द्वितीयस्य महाब्रतस्य भावना : । (ए पचेव) इत्थाः पञ्चभावनाः । (होति) भवन्ति ॥३२॥

आगे आचौर्यमहाब्रत की पाँच भावनाएँ कहते हैं—

सुण्णायारणिवासो विमोचितावास जं परोधं च ।

एसणसुद्धिसउत्तं साहम्मो संविसंवादो ॥३३॥

शून्यागारनिवासो विमोचितावासो यत् परोधं च ।

एषणाशुद्धिसहितं सधर्मसमविसंवादः ॥३३॥

(सुण्णायारनिवासो) शून्यागारेषु गिरिगुहातरुकोटरादिषु निवासः क्रियते तथा सति अचौर्यव्रतभावना प्रथमा भवति । (विमोचितावास) उद्दृश्यामादिषु विमोचितावासेषु जाट्यादिभिरुद्धसेषु कृतेषु निवासः क्रियते अचौर्यव्रतस्य भावना द्वितीया भवति । (जं परोधं च) परेषामुपरोधो न क्रियते भाटकाद्यधिकं स्वामिनोदत्ता स्वर्थं न निरुप्यते अचौर्यव्रत-भावना तृतीया भवति परोपरोधस्याकरणमित्यर्थः (एसणसुद्धिसउत्तं) एषणाशुद्धिसंयुक्तं सहित, आगमानुसारेण

उपास्वामी भट्टारक ने भी कहा है—

कोष—कोषस्याग, लोभत्याग, भयत्याग, हास्यत्याग, और अनुवीची-भाषण ये पाँच सर्वव्रत की भावनाएँ हैं ॥ ३२ ॥

गाथार्थ—शून्यागार निवास, विमोचितावास, परोपरोधाकरण, एषणाशुद्धि सहितत्व और सधर्मसमविसंवाद ये पाँच अचौर्य महाब्रत की भावनाएँ हैं ॥ ३३ ॥

विशेषार्थ—शून्यागार अर्थात् पर्वतों की गुफाओं और वृक्षों को कोटरों आदिमें निवास करना अचौर्यव्रत की पहली भावना है । जो गंवि राजाओंके आक्षमण आदिसे उजड़ हो जाते हैं—वहाँके निवासी लोग अपना स्वामित्व छोड़ अन्यत्र चले जाते हैं उन्हें विमोचितावास कहते हैं, ऐसे आवासोंमें निवास करना अचौर्यमहाब्रत को दूसरी भावना है । परोपरोधाकरण लहरते समय दूसरोंको रुकावट नहीं करना, मालिक को अधिक माझा आदि देकर स्वयं किसी स्थानको न बेरना यह अचौर्य महाब्रतकी तीसरी भावना है एषणाशुद्धिसे सहित होना अर्थात् चरणानुप्रयोग के अनुसार भिक्षा की शुद्धि रखना-उसमें किसी प्रकार के दोष नहीं काना अचौर्यमहाब्रत को चौथो भवन है । और सहधर्मियोंके सम्मुख

मैक्षशुद्धिरचौर्यक्षतभावना चतुर्था भवति । (साहस्रीसंविसंवादो) सधमणि संमुखो भूत्वा सम्यकप्रकारेण विसंवादो विवादो न क्रियते इच्छैयंक्षत-भावना एक्षमी भवति ॥३३॥

आगे ब्रह्मचर्यं महाब्रतकी पाँच भावनाएँ कहते हैं—

महिलालोयणपुब्वरङ्ग सरणसंसत्तवसहि विकहार्हि ।

पुष्टियरसेहिं विरओ भावण पञ्चावि तुरियमिम् ॥३४॥

महिलालोकनपूर्वरतिस्मरणसंसत्तवसति विकथाभिः ।

पुष्टिरसेः विरतः भावनाः पञ्चापि तुये ॥३४॥

(महिलालोयण) महिलाया बालोकनं स्त्री-मनोहराङ्ग—निरीक्षणं तस्माद्विरतः पराङ्गमुखः । (पुब्वरङ्गसरण) पूर्वरत स्मरणं पूर्वं पा स्त्रीभिः कीडा तस्याः स्मरणं चिन्तनं तस्माद्विरतः । (संसत्तवसहि) स्त्रीणां समीपतरे या वसति-निवासः तस्माद्विरतः निजशरीरसंस्कार—रहित इत्यर्थः । (विकहार्हि) विकथाया विरतः स्त्रीरागकथा विवजित इत्यर्थः (पुष्टियरसेहिं विरओ) पुष्टिकररसस्य सेवा-रहितः वृष्परसस्थानास्वादक इत्यर्थः यस्मिन् रसे सेविते वृषवत् काष्ठवत् कामी भवति स रसो वृष्यः कम्पते काजीकरणरसं न सेवते । (भावण पञ्चावि तुरियमिम्) एताः पञ्चापि भावनास्तुरीये असुर्य ब्रह्मचर्यवते भवन्ति ॥३४॥

होकर सम्यक् प्रकारसे विसंवाद का अभाव करना अर्थात् 'यह वस्तु हमारी है' 'यह तुम्हारी है' इस प्रकार विवाद नहीं करना अचौर्यमहाब्रत की पाँचवीं भावना है ॥३३॥

गाथार्थ—महिलालोकन विरति, पूर्वरतिस्मरणविरति, संसक्तवसति विरति, विकथा विरति और पुष्टिरस सेवन-विरति ये पाँच ब्रह्मचर्यं महाब्रतकी भावनाएँ हैं ॥३४॥

विशेषार्थ—स्त्रियोंके मनोहर अङ्गोंके देखने से विरत होना, पहले स्त्रियोंके साथ जो कीडा की थी उसके स्मरणसे विरत रहना, स्त्रियोंके अत्यन्त निकटवर्ती वसतिका में रहनेका त्याग करना और अपने शरीरकी सजावटसे दूर रहना, स्त्रियों में राग बढ़ाने वालों कथाओंका त्याग करना, और जिस रसके सेवन करने पर वृष अर्थात् सौडिके समान मलुष्य कामी हो उठता है ऐसे पुष्टि-कारक रस रसायन आदिके सेवनका त्याग करना ये पाँच ब्रह्मचर्यवत की भावनाएँ हैं ॥३४॥

आगे परिग्रह त्याग महाक्रत की पाँच भावनाएँ कहते हैं—

अपरिग्रह समणुष्णेसु सद्परिसरसरूपगंधेसु ।

रायद्वोसाईणं परिहारो भावणा होति ॥३५॥

अपरिग्रहे समनोज्ञेषु शब्दस्पर्शरसरूपगन्धेषु ।

रागद्वेषादीनां परिहारो भावना भवन्ति ॥३५॥

(अपरिग्रहसमण्णेसु) अपरिग्रहते, अत्र लुप्तविभक्तिक पदम् । समण्णेसु-समनोज्ञेषु मनोशसहितेषु अमनोज्ञेषु चेति शेषः । (सद्परिसरसरूपगंधेसु) शब्दस्पर्शरसरूपगन्धेषु पञ्चनिद्रियविषयेषु । (रायद्वोसाईणं) रागद्वेषादीनां रागस्य द्वेषस्य च । आदिशब्दात्पादपूरणमेव । मनोज्ञेषु निषयेषु रागो न क्रियते अमनोज्ञेषु विषयेषु द्वेषो न क्रियते । इति रागद्वेषपरिहारः पञ्च भावना भवन्तीति ज्ञातव्यम् ॥३५॥

आगे पाँच समितियोंका वर्णन करते हैं—

इरियाभासा एषण जा सा आवाण चेव णिक्खेवो ।

संजमसोषिणिमित्ते खंति जिणा तेव तरितीद्वे ॥३६॥

ईर्या भाषा एषणा या सा आदानं चेव निषेपः ।

संयमशोषिनिमित्तं ख्यान्ति जिनः पञ्च समितीः ॥३६॥

(इरिया) ईर्या समितिः चतुर्हस्तवीक्षितमागेगमनम् । (भासा) भाषा-समितिः आगमानुसारेण वचनं (एषण) एषणा समितिः चर्मणाऽस्यृष्टस्योद-

गाथार्थ—मनोज्ञ और अमनोज्ञ भेदसे युक्त शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्ध इन पञ्च इन्द्रियोंके विषयोंमें राग-द्वेषका त्याग करना परिग्रह त्यागक्रतकी पाँच भावनाएँ हैं ॥३५॥

विशेषार्थ—शब्द आदि पञ्च इन्द्रियोंके इष्ट विषयोंमें राग नहीं करना और अनिष्ट विषयोंमें द्वेष नहीं करना ये पाँच अपरिग्रह व्रतकी भावनाएँ हैं । गाथामें आया हुआ 'अपरिग्रह' शब्द लुप्तविभक्ति वाला पद है, इसलिये उसका सप्तम विभक्ति रूप अर्थ करना चाहिये । इसी प्रकार 'रायद्वोसाईण' में जो आदि पद है वह पाद-पूतिका ही कारण है ॥३५॥

गाथार्थ—जिनेन्द्र भगवान् ने संथम की जुदिके निमित्त ईर्या, भाषा, एषणा, अदान और निषेप इन पाँच समितियोंका वर्णन किया है ॥३६॥

गर्भोत्तिदिवोष—रहितस्य भोजनस्य पुनः पुनः शाधितस्य प्रासुकस्य भोजनस्य
ग्रहणं यों समितिर्भवति सा तृतीया समितिः । (आदाण चेष्ट) आदानं चैव
यस्तुस्तककरण्डन्तुपभूतिकं गृह्णते तन्त्रं निरीक्षयते इच्छालग्नुता गम्यूरपिच्छेत् प्रति-
लिप्यते पश्चात् गृह्णते अतुर्थी समितिर्भवति । (णिकबेवो) यत्किञ्चिद् वस्तु
पुस्तककमण्डलमुख्यं ववचिन्निशिष्यते मुच्यते श्रियते तनिक्षेपस्थानं दृष्ट्वा तथैव
प्रतिलिप्य च विषयते । मयूर-पिच्छस्यासन्निधाने मृदुवस्त्रेण कदाचित्तथा क्रियते
निक्षेपणा नास्नी पञ्चमी समितिर्भवति । (रज्जम सोहि णिमित्ते) एतत्स-
मितिपञ्चकं संयमस्य महाव्रत-पञ्चकस्य शोविनिमित्तं भवति । एष मयूरपिच्छ-
वजितः साधुः स मासोपवासादिकं कुर्वन्नपि न शुद्धभौतिं श्री कुन्दकुन्दभगवदभि�-
प्रायः । (लंति जिणा पञ्च समिदीओ) रूपान्ति प्रकृष्यति के ? जिणा-तीर्थकर
परमदेवाः सामान्यकेवलिनः श्रुतकेवलि नश्चैति भावः । कि इषान्ति ? पञ्च समि-

विशेषार्थ—चार हाथ तक देखे हुए मार्गमें गमन करना ईर्यासमिति है । आगमके अनुसार वचन बोलना भाषासमिति है । चमड़ेसे विवा छुए तथा उदगम और उत्पादादि दोषोंमें रहित प्रासुक आहारको बार बार शोधकर ग्रहण करना एवणासमिति है । पुस्तक कमण्डलु आदि जिस उपकरण को ग्रहण करना है उसे पहले अच्छी तरह देखा जाता है और फिर बादमें मयूर-पीछोंसे उसका मार्जन किया जाता है, यह चौथी आदानसमिति है । और पुस्तक कमण्डलु आदि जो वस्तु छोड़ी तथा रखी जाती है उसे रखनेका स्थान देखकर तथा मयूर-पीछोंसे मार्जन कर रखना पाँचवीं निक्षेपणासमिति है । कदाचित् मयूरपीछों पासमें न हो तो (समोपमें विद्यमान क्षुत्लक के) कोमल वस्त्रसे भी परिमार्जन होता है परन्तु यह कादाचित्क अर्थात् किसी खास परिस्थिति में है । सामान्य रूपसे साधुको मयूर पिच्छोंसे युक्त होना ही चाहिये । जो साधु मयूर पिच्छोंसे रहित है वह मासोपवास आदि करता हुआ भी शुद्ध नहीं होता है, यह कुन्दकुन्द भगवान् का अभिप्राय है । ये पाँच समितियाँ, पाँच महाव्रतों की शुद्धि के निमित्त हैं इसलिये जिन अर्थात् तीर्थकर परमदेव, सामान्य केवली और श्रुत केवली इनका कथन करते हैं । यहाँ पाँच समितियोंका संक्षेप से वर्णन किया है, इनका विस्तार श्री वट्टकेर तथा बीर्लदो आदि आचार्योंके हारा विरचित आचार चन्द्रोंमें—मूलाचार, आरित्रसार आदि प्रन्थोंमें जानना चाहिये ।

(आय ग्रन्थोंमें ईर्या १ आया २ एषणा ३ आदाननिक्षेपण ४ और
उत्सर्ग ५ इस प्रकार पाँच समितियाँ बतलाई हैं परन्तु यहाँ कुन्द कुन्द

दीक्षो पञ्चसमितोरिति तात्पर्यार्थः । विस्तरस्तु बहुकेर 'दीर्घनन्दादिविरचिता-
चार ग्रन्थेषु ज्ञातव्यः ॥३६॥

आगे 'ज्ञानरूप आत्मा है' यह कहते हैं—

भव्यजणबोहणत्थं जिणमरगे जिणवरेहि जह भणियं ।

णाणं णाणसरुचं अण्णाणं तं विवरणेहि ॥३७॥

भव्यजनबोधनार्थं जिनमार्गे जिनवरेह्यथा भणितम् ।

ज्ञानं ज्ञानस्वरूपं आत्मानं तं विजानोहि ॥३७॥

(भव्यजणबोहणत्थं) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-रत्नव्याप्तियोग्या ये से
भव्यजनास्तेषां बोधनार्थं सम्बोधननिमित्तं । (जिणमरगे) जिनस्य श्रीमद्भगवद्-
हृत्सर्वज्ञस्य मार्गे सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणोपलक्षिते मोक्षमार्गे । (जिणवरेहि
जह भणियं) श्रीमद्भगवद्हृत्सर्वज्ञर्थां भणितं प्रतिपादितं । कि तद्भणितम् ?
(णाणं णाणसरुचं) ज्ञानं व्यवहारनयेन सम्यग्ज्ञानं तथा ज्ञानस्य स्वरूपं स्वभावः ।
उक्तं च समन्तभद्रेण १कविना ज्ञानस्य स्वरूपम्—

स्वामी ने आदान और निक्षेप को पृथक् पृथक् समिति मानकर उत्तरां
समिति को निक्षेप समितिमें गर्भित कर दिया है ।

गाथार्थ—भव्य जीवोंको समझानेके लिये जिन-मार्गमें जिनेन्द्र देवने
ज्ञानका जैसा स्वरूप कहा है उस ज्ञानस्वरूप आत्माको जाने ॥३७॥

विशेषार्थ—जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्ररूप रत्न-
त्रयकी प्राप्ति के योग्य होते हैं, वे भव्य कहलाते हैं । उन भव्य जीवोंको
समझानेके लिये श्रीमान् भगवान् अर्हन्त सर्वज्ञदेव के मार्गमें अर्थात्
सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप लक्षणसे युक्त मोक्षमार्गमें
श्रीमान् सर्वज्ञ भगवान् ने व्यवहार नयसे सम्यग्ज्ञानका जैसा स्वरूप कहा
है उस ज्ञानस्वरूप आत्मा का है भव्य ! तू अच्छी तरह विचार कर ।

सम्यग्ज्ञानका स्वरूप कवि श्री समन्तभद्र स्वामी ने कहा है—

१. बहुकेरल म० ।

२. महाकविना म० ।

‘अन्यूनमन्तिरिक्तं यामातर्थं विना च विषयीतात् ।
निःसन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः ॥

इदृशिवर्धं ज्ञानं आत्मकर्त्तव्यं च निश्चयन्ते (अथात् १५ विषयोह) आत्मानं
ज्ञानं ज्ञानस्वरूपं च हे भव्य । त्वं विजानीहि सम्यग्विचारयेति क्रियाकारक-
सम्बन्धः ॥३७॥

आगे सम्यग्ज्ञानी का लक्षण कहते हैं—

जीवाजीवविहृतो जो जाणद्व सो हवेइ सण्णाणी ।
रायादिदोषरहितो जिणसासणे मोक्षमगुत्ति ॥३८॥
जीवाजीवविभक्तिं यो जानाहि स भवेत्सञ्ज्ञानः
रागादिदोषरहितो जिनशासने मोक्षमार्गं इति ॥३९॥

(जीवाजीव विहृती) जीवस्यात्मद्रव्यस्य, अजीवस्य पुद्गल-पर्माणुमौकाला-
काशलक्षणस्य पञ्चभेदस्य विभक्तिं विभवत्तं विहृचन्नमिति देख्यात् । (जो
जाणद्व सो हवेइ सण्णाणी) यो जानाति स भवेत् सञ्ज्ञानः । (रायादिदोष
रहितो) स ज्ञानी कर्त्त्वभूतः ? रागद्वेषमोहादिदोषरहितः ।
(जिणसासणेमोक्षमगुत्ति) जिनशासने मोक्षमार्गं इति ॥३८॥

अन्यूनमन्तिरिक्तं—जो पदार्थको न्यूनता रहित, अधिकता-रहित, ज्योंका त्वयों
विपरोत् भाव तथा सन्देहके विना जानता है उसे आगमके ज्ञाता सम्य-
ज्ञान कहते हैं ।

निश्चय नयसे गुण और गुणीमें अभेद रहता है अतः आत्मा उक्त
सम्यज्ञान रूप ही है ऐसा जानना चाहिये ॥३७॥

गाथार्थ—जो जीव और अजीवके विभागको जानता है वह सम्य-
ज्ञानी है, रागादि दोषोंसे रहित है और जिन शासनमें मोक्षमार्ग रूप कहा
गया है ॥३८॥

विशेषार्थ—आत्मद्रव्यको जीव द्रव्य कहते हैं, पुद्गल तथा धर्म,
धर्मपाल, काल और आकाशके भेदसे अजीव पाँच प्रकार का है । जो इन
दोनोंके भेद-पार्थक्यको जानता है वह सम्यज्ञानी है । वह सम्यज्ञानी
राग, द्वेष और मोह आदि दोषोंसे रहित है तथा अभेद नयसे वह स्वयं
मोक्षमार्ग है ॥३८॥

दंसणणाणचरितं तिष्णवि जाणेह परमसद्गाए ।

जं जाणिऊण जोई अङ्गरेण लहंति णिव्वाणे ॥३९॥

दर्शनज्ञानचारित्रं वीष्यपि जानीहि परमथद्या ।

यद्गत्वा योगिनो अचिरेण लभन्ते निर्वाणम् ॥३९॥

(दंसणणाणचरितं) दर्शनज्ञानचारित्रं (तिष्णवि जाणेह परमसद्गाए) वीष्यपि जानीहि परमथद्या प्रकृष्टरूप्या । (जं जाणिऊण जोई) यद्गत्वा दर्शनज्ञान-चारित्रं जात्वा योगिनः । (अङ्गरेण लहंति णिव्वाणे) अचिरेण स्तोककालेन लभन्ते प्राप्नुवन्ति । कि तत् ? निर्वाणं सर्वकर्मक्षयलक्षणं मोक्षमिति ॥३९॥

पाठ्यण णाणसलिलं णिमलसुविशुद्धभावसंजुत्ता ।

होंति सिवालयवासी तिहुबणचूडामणी सिद्धा ॥४०॥

प्राप्य ज्ञानसलिलं निर्मलसुविशुद्धभावसंयुक्ताः ।

भवन्ति शिवालयवासिनः त्रिभुवनचूडामणिः सिद्धाः ॥४०॥

(पाठ्यण णाणसलिलं) प्राप्य हेत्यलिलं लभ्वा दर्शनज्ञानपानीयं (णिमल-सुविशुद्धभावसंजुत्ता) निर्मलो निरतिथारः, सुविशुद्धो रागद्वेषमोहादिरहितः, भावो निष्कामपरिणामस्तेन संयुक्ताः सहिताः पुरुषः । (होंति सिवालयवासी) भवन्ति शिवालयवासिनः सर्वकर्मक्षयलक्षणनिवाणपदनिवासिनो भवन्ति । (तिहुबणचूडा-

गाथार्थ——सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंको परमथद्गा से जानो । क्योंकि इन्हें जानकर योगी शीघ्र ही निर्वाणको प्राप्त हो जाते हैं ॥३९॥

विशेषार्थ—कुन्दकुन्द स्वामी भव्यजीवोंको प्रेरणा करते हैं कि हे भव्य जीवो ! सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंको उत्कृष्ट रूच-पूर्वक जानो क्योंकि इन्हें जानकर योगी-मुनिराज थोड़े ही समयमें सर्व कर्म क्षयरूप मोक्षको पा लेते हैं ॥३९॥

गाथार्थ——सम्यग्ज्ञान रूपी जलको पाकर निर्मल और विशुद्धभाव से सहित पुरुष मोक्ष-महलके वासी, त्रिभुवनके चूडामणि सिद्ध होते हैं ॥४०॥

विशेषार्थ—जो मनुष्य सम्यग्ज्ञान रूपी जलको पाकर निरतिथार एवं रागद्वेष मोहादिसे रहित स्वकीय आत्म परिणामसे युक्त होते हैं वे समस्त कर्मोंका क्षयकर निर्वाण रूपी प्राप्ताद में निवास करते हैं । तीन

मणी सिद्धा ।) निभुवनचूडामणयस्त्रैलोक्यशिरोरत्नानि ते पुरुषाः सिद्धा भवन्ति-
आत्मोपलिखिवलो भवन्ति ॥ ४० ॥

णाणगुणेण हि विहीणा ण लहंते ते सुइचिछयं लाहं ।

इय णाउं गुणदोसं तं सण्णाणं वियाणेहि ॥ ४१ ॥

ज्ञानगुणेविहीना न लभन्ते ते स्विष्टं लाभम् ।

इति ज्ञात्वा गुणदोषो तत् सज्जानं विजानाहि ॥ ४१ ॥

(णाण गुणेहि विहीणा) ज्ञानमेव गुणो जीवस्योपकारकः पदार्थस्तेन विहीना
रहिताः । (ण लहंते ते सुइचिछयंलाहं) न लभन्ते न प्राप्नुवन्ति ते सुष्टु इष्टं
लाहं गोदाः । उक्ताचल—

३४०. णाणविहीणहं मोक्षपद जीव म कासु वि जोइ ।

बहुयद्दं सलिलकिरोलियदं काल जोप्पहज न होइ ॥ १ ॥

(इय णाउं गुणदोसं) इतिपूर्वोक्तप्रकारेण गुणं दोषं च ज्ञात्वा ज्ञानस्य गुणं,
अज्ञानस्य दोषं विजाय । (तं सण्णाणं वियाणेहि) तत्समात्कारणात्, सत् समी-
चीनं, ज्ञानं विजानीहीति तात्पर्यार्थः ॥ ४१ ॥

लोकके अप्रभागमें तिवास करनेसे चूडामणिके समान ज्ञान पड़ते हैं और
आत्मोपलिखिसे युक्त होनेके कारण सिद्ध कहलाते हैं ॥ ४० ॥

गाथार्थ—ज्ञान गुणसे हीन जीव अत्यन्त इष्टं लाभको प्राप्त नहीं कर
सकते । इस प्रकार गुण और दोषको ज्ञानकर उस सम्याज्ञानको अच्छी
तरह जानो ॥ ४१ ॥

विशेषार्थ—ज्ञान गुण ही जीवका उपकारक पदार्थ है उससे रहित
मनुष्य अतिशय इष्ट जो मोक्ष रूपी लाभ है उसे नहीं प्राप्त कर सकते ।
जैसा कि कहा है—

णाण—ज्ञानसे हीन मनुष्य मोक्षको प्राप्त नहीं हो सकते सो ठीक हो
है क्योंकि पानीके बिलोने से हाथ चीकना नहीं होता ।

इस प्रकार ज्ञानके गुण और अज्ञानके दोष ज्ञानकर सम्याज्ञानको
अच्छी तरह जानो ।

१. 'सिद्धिः स्वात्मोपलिखः प्रगुणगुणगणोऽष्टादिदीर्घापहरात् । योगयोपादानयुक्त्या
द्वयव इह यता हेमभाषोपलिखः ।'—सिद्धभक्ती पूज्यपादः ।

२. परमात्मप्रकारसे योगीकृदेवस्य ।

✓ चारित्समारुद्धो अप्पासु परं ण ईहए जाणी ।

पावह अहरेण सुहं अणोवमं जाण णिच्छयदो ॥४२॥

चारित्समारुद्ध आत्मनः परं न ईहते जानी ।

प्राप्नोत्यचिरेण सुखमनुपमं आनीहि निश्चयतः ॥४२॥

(चारित्समारुद्धो) चारित्समारुद्धचारित्र प्रतिगालयन् पुमान् । (अप्पासु परं ण ईहए जाणी) आत्मनः सकाशात् परमिष्टे मन्त्रनितादिकं न ईहते न वाच्छति, कोप्सी ? जानी जानवान् पुमान् । उक्तक्व—

समसुख शोलितमनसामशनमपि द्वेषमेति किमु काभाः ।

स्थलमपि दहति इष्टाणां किमङ्ग पुनरङ्गमङ्गाराः ॥१॥

(पावह अहरेण सुहं) प्राप्नोत्यचिरेण स्तोककालेन सुखमनन्तसौख्यम् । (अणोवमं जाण णिच्छयदो) कर्वभूतं सुखम् ? अनुपमभूपमारहितं जानीहि हे भव्य ! त्वं णिच्छयदो—निश्चयतः निःसन्देहानिश्चयनयाद्वा ॥ ४२ ॥

✓ एवं संखेवेण य भणियं णाणेण वीयरायेण ।

सम्मत्संजमासयदुण्हं पि उवेसियं चरणं ॥४३॥

✓ गाथार्थ—जो जानी पुरुष चारित्र का पालन करता हुआ आत्मा के सिवाय अन्य पदार्थ की इच्छा नहीं करता वह शीघ्र ही अनुपम सुख को प्राप्त होता है, ऐसा निश्चय से जानो ॥ ४२ ॥

विवेचार्थ—चारित्र पर आरुद्ध हुआ अर्थात् चारित्रका पालन करता हुआ जानी पुरुष आत्मासे अतिरिक्त माला तथा स्त्री आदि अन्य इष्ट पदार्थों की इच्छा नहीं करता सो ठीक ही है क्योंकि कहा है—

समसुख—जिनका मन समता भावरूपी सुखसे सुवासित हो रहा है उन्हें भोजन भी रुचिकर नहीं होता फिर कामभोग कैसे रुचिकर हो सकते हैं। जैसे कि मछलियों के शरीरको जब खाली जमीन भी जलाती है तब अङ्गारोंका तो कहना ही क्या है ? ऐसा जानी जीव थोड़े ही समय में अनुपम सुख को प्राप्त होता है यह निश्चयसे—सन्देह रहित अथवा निश्चय-नयसे जानो ॥ ४२ ॥

गाथार्थ—इसप्रकार ज्ञानस्वभावसे युक्त सर्वज्ञ वीतराग देवने सम्ब्रह्मत्व और संयमके आश्रयसे सहित दोनों आचारों—दर्शनाचार और चारित्राचारका चारित्र संक्षेप से कहा है ॥४३॥

एवं संक्षेपेण च भणितं ज्ञानेन वीतरागेण ।

सम्यक्त्वसंयमाश्रयद्वयोरपिउद्देशितं चरणम् ॥४३॥

(एवं संखेपेण य) एवमभुता प्रकारेण संखेपेण च । (भणिते ज्ञागेण वीतरागेण) मणितं प्रतिपादितं ज्ञाणेण ज्ञानेन ज्ञानस्वभावेन केवलज्ञानिना सर्वज्ञेन वीतरागेण रागत्रेष्मोहादिभिरुटादशदोषरहितेन । कि भणितं ? (सम्मतसंज्ञमासय-द्वाहृते एव) सम्यक्त्वसंयमाश्रयद्वयोरपि दर्शनाचारित्राचारयोद्देश्योरपि । (उद्देशियं चरणं) उद्देशितमुद्देशमात्रं संखेपेण चारित्रं प्रतिपादितं । विस्तरेण-वद्वकेरादौ ज्ञातव्यम् ॥४३॥

भावेह भावसुद्धं फुडु रद्यं चरणपाहुडं चेव ।

लहु चतुर्गङ्गं चहुङ्गं अचिरेणऽपुणवभवा होई ॥४४॥

भावयत भावशुद्धं स्फुटं रचितं चरणप्राभृतं चेव ।

लघु चतुर्गतोस्त्यक्त्वा अचिरेणापुनर्भवा भवत ॥४४॥

(भावेह भावसुद्धं) भावयत भावनाविषयीकुरुत यूप हे भव्या । (फुडु रद्यं चरणपाहुडं चेव) स्फुटं प्रकटार्थं रचितं चरणप्राभृतं चारित्रसारं । चेव

विशेषार्थ—भारित्र-प्राभृतका उपसंहार करते हुए श्री कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि इस प्रकार ज्ञानस्वभावसे संपन्न केवलज्ञानी-सर्वज्ञ और राग द्वेष मोह आदि अठारह दोषोंसे रहित-वीतराग देवने यही सम्यक्त्व और संयमका आश्रय रखनेवाले दोनों आचारों का—दर्शनाचार और चारित्राचारका उद्देश रूप—नामोल्लेख रूप चारित्रका संक्षेपसे वर्णन किया है । इसका विस्तार वद्वकेर आदिके मूलाचार आदि ग्रन्थोंमें जानना चाहिये ॥४३॥

गाथार्थ—हे भव्य जीवो ! शुद्धभाव से स्पष्ट रचे हुए चरणप्राभृत तथा दर्शन प्राभृतका खूब चिल्तन करो और उसके फल-स्वरूप शीघ्र ही चतुर्गतियों का त्याग कर स्वल्प कालमें पुनर्भव से रहित सिद्ध हो जाओ ॥४४॥

विशेषार्थ—कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि हे भव्य जीवो ! हमने चरणप्राभृत ग्रन्थ को रचना शुद्धभाव से को है—रुपाति-लाभ-पूजादि की इच्छासे रहित होकर की है तथा इसमें प्रतिपाद्य पदार्थोंका स्पष्ट निरूपण किया है । अतः इसकी अच्छी तरह भावना करो—इसका खूब

शब्दाद्वर्णावरणं छोहेशितं । (लहु चउगइ चइकण) लघु शीघ्रं चतुर्गतीस्त्य-
वत्ता नरकतिर्यङ् मनुष्यदेवात्मीयत्वाः परिज्ञय । (अन्वितेन्द्रियज्ञवद्वा हैह)
अस्तिरेण स्तोककालेन इतस्तृतीये भवेऽपुनर्भवाः सिद्धा भवत यूयम् । सिद्धिगति
पञ्चमीं गति प्राप्नुत युयमिति भद्रम् ॥४४॥

इति श्री पथनन्दि कुन्दकुन्दाचार्यं वक्षीवाचार्यैलानायंगृद्पिच्छाचार्यं नाम-
पञ्चकविराजितेन सीमन्धरस्वामि ज्ञानमभ्योधित-भव्य-जीवेन श्री जिनचन्द्रसूरि
भट्टारक-पट्टाभरणभूतेन कलिकाल-सर्वज्ञेन विरचिते षट्प्राभृते ग्रन्थे सर्वमुनिमण्डली-
मण्डितेन कलिकाल गौतमस्थामिना श्रोमलिभूषणेन भट्टारकेणानुभवेन
सकलविद्वज्ञनसमाजसम्मानितेनोभयभाषा-कवि-चक्रवर्तिना श्रोविद्यानन्दि-
गुरुवन्तेवासिना सूरिवरश्रीश्रुतसागरेण विरचिता चरणप्राभृतटीका द्वितीया ।

सम्मूर्ण^१

चिन्तन-मनन करो और इसके फलस्वरूप नरक-तिर्यङ्च-मनुष्य तथा देव
हन चारों गतियोंको छोड़कर इस भवसे तोसरे भवमें ही पुनर्जन्मसे रहित
हो जाओ ॥४४॥

इस प्रकार श्री पथनन्दी, कुन्दकुन्दाचार्य, वक्षीवाचार्य, एलाचार्य
और गृद्धपिच्छाचार्य इन पाँच नामोंसे सुशोभित, सीमन्धर स्वामीके ज्ञानसे
भव्यजीवोंको सम्बोधित करने वाले श्री जिनचन्द्रसूरि भट्टारक के पट्टके
आभरणस्वरूप, कलिकाल सर्वज्ञ कुन्दकुन्दाचार्य के द्वारा विरचित षट्-
पाहुड ग्रन्थमें समस्त मुनियोंके समूहसे सुशोभित, कलिकालके गौतम-
स्वामी श्रो मल्लिभूषण भट्टारक के द्वारा अनुमत, सकल विद्वसमाजके
द्वारा सन्मानित, उभय-भाषा-सम्बन्धी कवियोंके चक्रवर्ती श्रो विद्यानन्द
गुरुके शिष्य सूरिवर श्रीश्रुतसागर के द्वारा विरचित चारित्र-पाहुड की
टीका सम्मूर्ण हुई ।



१. म प्रती 'द्वितीया' नास्ति ।

२. समाप्ता म० ।

सूत्राभृतम्

अरहंतभासियत्थं गणहरदेवेहि गंथियं सम्मं ।

सुत्तत्यमगणत्थं सवणा साहंति परमत्थं ॥१॥

अहंदमाधितार्थं गणधरदेवैर्घयितं सम्यक् ।

सूत्रार्थमार्गणार्थं श्रमणाः साधयन्ति परमार्थम् ॥१॥

(अरहंतभासियत्थं) अहंदिभरतीर्थंकरपरमदेवैर्भावितोऽर्थः सूत्रं भवति ।
 (गणहरदेवेहि गंथियं सम्मं) गणधरदेवैश्चसुभिज्ञानैः सम्पूर्णेरत्तमहाप्रातिहार्थं सहितेस्तीर्थकर-युवराजैः गंथियं-पदं रचित्, सम्म-सम्यक् पूर्वपिर-विरोधरहितं शास्त्रं सूत्रं भवति । (सुत्तत्यमगणत्थं) सूत्रार्थमार्गणं युत्रार्थविषादः सौऽर्थः प्रयोजनं यस्मिन् सूत्रे तत्सूत्रार्थमार्गणार्थं । तेन शुक्लध्यानद्वयं भवति । तेन (सवणा साहंति परमत्थं) सूत्रार्थेन श्रमणा (श्रमणाः) सद्बूष्टयो द्विगम्बराः

गारणार्थ——जिसका अर्थ अरहन्त भगवानके द्वारा प्रतिपादित है, गणधर देवों ने जिसका अच्छी तरह गुम्फन किया है तथा शास्त्र के अर्थका खोजना ही जिसका प्रयोजन है, उसे सूत्र कहते हैं । ऐसे सूत्रके द्वारा सम्यग्दृष्टि द्विगम्बर साधु अपने परमार्थको साधते हैं ॥१॥

विशेषार्थ——अरहन्त तीर्थकर परमदेव ने जिसका अर्थ रूपसे प्रतिपादन किया है और चार ज्ञानके धारी, आठ महाकृद्धियों से सहित, तीर्थकुरोंके युवराज-स्वरूप समस्त गणधरों ने जिसकी द्वादशाङ्क रूप रचना की है उसे सूत्र कहते हैं । यह सूत्र अर्थात् शास्त्र पूर्वा-पर विरोधसे रहित होता है । सूत्र-प्रतिपादित अर्थ की खोज करना ही शास्त्रका प्रयोजन है । इसके चिन्तन से पृथक्त्व-वितर्क-वीचार और एकत्व-वितर्क ये दो शुक्लध्यान होते हैं । सूत्रार्थके चिन्तन से सम्यग्दृष्टि निर्णय साधु परमार्थ रूप मोक्षको साधते हैं, अपने वश करते हैं । इस तरह सूत्र मोक्षका कारण है । यद्यपि इस गाथा में 'यूत्र' इस विशेष्य पदका ग्रहण नहीं है तथापि ऊपर से उसकी योजना कर लेनी चाहिये ॥ १ ॥

(भाव-सूत्र और द्रव्य-सूत्रकी अपेक्षा सूत्रके दो भेद हैं, इस गाथामें कुन्दकुन्द स्वामी ने दोनों के लक्षण कहे हैं । तीर्थकुर परमदेव के द्वारा प्रतिपादित जो अर्थ है वह भावसूत्र अथवा भावश्रुत है और गणधर देवोंके

परमार्थ मोक्ष साधयन्ति—आत्मवशे कुर्वन्ति, तेन कारणेन सूत्रं मोक्ष हेतुरिति भावार्थः ॥१॥

सुत्तमिं जं सुविदुं आयरियपरंपरेण मार्गेण ।

णाञ्जन द्विविष्टसूत्रं बद्धं सिवमग्नं जो भव्यो ॥२॥

सूत्रे यत् सुदृष्टं आचार्यपरम्परेण मार्गेण ।

ज्ञात्वा द्विविष्टसूत्रं वर्तते शिवमार्गं यो भव्यः ॥२॥

(सुत्तमिं जं सुदृष्टं) सूत्रे यत् सुषु अतिशयेनात्माधिततया वा दृष्टं प्रतिपादितं । (आहरियं परम्परेण मार्गेण) आचार्याणां परम्परा थोणियंत्र मार्गं स आचार्यपरम्परः आचार्यप्रवाहसुक्लो मार्गस्तेन मार्गेण । कोऽसौ मार्गं इति चेदूच्यते—श्रीमहावीरादनन्तरं श्रीगौतमः सुधर्मो जग्नाश्वेति ऋषः केवलिनः । विष्णुः नन्दिमित्रः अपराजितः गोवर्धनः भद्रबाहुश्वेति पञ्चश्रुतकेवलिनः । तदनन्तरं, विशाखः प्रोणिलः क्षत्रियः जयसेनः नागसेनः सिद्धार्थः शृतिषेणः विजयः बुद्धिलः गङ्गादेवः घर्मसेनः इत्येकादश दशपूर्विणः । नक्षत्रः जयपालः पाण्डुः घुवसेनः कांसापचेतिपञ्चवैका दशाङ्गवराः । सुभद्रः यशोभवः भद्रबाहुः लोहाचार्यः एसे चत्वार एकाङ्गधारिणः । जितसेनः अहूद्विलः

द्वारा द्वादशाङ्ग रूप जो रचना हुई है वह द्रव्य सूत्र अथवा द्रव्यश्रुत है । दोनों प्रकारके श्रुतोंका प्रयोजन परमार्थ साधन अर्थात् मोक्ष प्राप्ति है ।)

गायार्थ—आगम में जिसका अच्छी तरह प्रतिपादन किया गया है ऐसे द्विविष्ट सूत्र—द्रव्यश्रुत और माद-श्रुतको जो आचार्योंकी परम्परा से युक्त मार्गके द्वारा जान कर मोक्ष—मार्गमें प्रवृत्त होता है, वह भव्य है ॥२॥

विशेषार्थ—शास्त्रमें अत्यन्त अवाधितरूप से जिस द्रव्य—श्रुत और भावश्रुत का प्रतिपादन किया गया है उसे आचार्य—परम्परासे प्राप्त मार्गके द्वारा अच्छी तरह जानकर जो मोक्षमार्गमें प्रवृत्त होता है वह भव्य है । आचार्यं परम्परासे प्राप्त मार्ग क्या है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि भगवान् महावीर स्वामीके अनन्तर तीन केवली हुए १ श्री गीतम् स्वामी २ सुधर्मचार्य और जग्नु स्वामी । इनके बाद १ विष्णु, २ नन्दिमित्र, ३ अपराजित ४ गोवर्धन और ५ भद्रबाहु ये पाँच श्रुत-केवली हुए । तदनन्तर १ विशाख २ प्रोणिल ३ क्षत्रिय ४ जयसेन ५ नागसेन ६ सिद्धार्थ ७ शृतिषेण ८ विजय ९ बुद्धिल १० गङ्गादेव और

माघनन्दी वरसेनः पुण्यदन्तीः भूतबलिः जिनचन्द्रः कुन्दकुन्दाचार्यः उमास्वामी
समन्तभद्रस्वामी शिरोटीठि शिवायनः पूज्यपादः एलाचार्यः बीरसेनः जिनसेनः
नेमिचन्द्रः रामसेनदचेति प्रथमाङ्गपूर्वभागज्ञाः । अकलङ्कः अनन्तविद्यानन्दी
माणिक्यनन्दो प्रभाचन्द्रः रामचन्द्र एते सुताकिर्ता । वासवचन्द्रः गुणभद्र एतौ
नानौ अन्ते वीराङ्गजहच । (णाऊण दुविहमुत्त) ज्ञात्वा द्विविधं सूत्रं अर्थतः
शब्दतत्त्वं द्विविधं सूत्रं । (वहूङ् सिवमणे जो भज्जो) वर्तते शिवमार्गं वो मुनिः
स पव्यो रत्नत्रययोग्यो भवति मोक्षं प्राप्नोतीति भावः ॥ २ ॥

सुतं हि जाणमाणो भवस्स भवणासणं च सो कुण्डि ।
सूई जहा असुत्ता णासदि सुते सहा णोवि ॥३॥

सूत्रं हि जानानोऽभवस्य भवनाशनं च स करोति ।

सूत्री यथा असूत्रा नश्यति सूत्रेण सह नापि ॥ ३ ॥

(सुतं हि जाणमाणो भवस्स) सूत्रं शास्त्रानुक्रमं हि निश्चयेन जानानो
जानन्, कस्य सूत्रं, (अ) भवस्स-अभवस्य सर्वज्ञवीतरागस्य । (भवणासणं च

११ धर्मसेन ये ग्यारह दशपूर्वके धारक हुए । तदनन्तर १ लक्ष्मि
रे जयपाल ३ पाण्डु ४ ध्रुवसेन और ५ कंस ये पाँच ग्यारह अंष के
धारक हुए । तदनन्तर १ सुभद्र २ यशोभद्र ३ भद्रबाहु और ४ लोहाचार्य
ये चार एक ओम धारक हुए । तदनन्तर जिनसेन, अहैद्वलि, माघनन्दी,
वरसेन, पुण्यदन्त, भूतबलि, जिनचन्द्र, कुन्दकुन्दाचार्य, उमास्वामी,
समन्तभद्रस्वामी, शिवकोटि, शिवायन, पूज्यपाद, एलाचार्य, बीरसेन,
जिनसेन, नेमिचन्द्र और रामसेन ये प्रथम अंगके पूर्वभागके ज्ञाता हुए ।
अकलङ्क, अनन्त विद्यानन्दो, माणिक्यनन्दी, प्रभाचन्द्र और रामचन्द्र
ये सब उत्तम ताकिक अर्थात् त्यायशास्त्रके उच्च कोटिके विद्यान
हुए हैं । वासवचन्द्र और गुणभद्र ये दो दिगम्बर साधु हुए और अन्तमें
बीरांगज नामक साधु हुए* । जो अर्थ और शब्दकी अपेक्षा दो प्रकारके
सूत्रको जानता है तथा मोक्षमार्गमें प्राप्ति करता है वह मुनि भव्य है
रत्नत्रय के योग्य है तथा मोक्ष प्राप्ति करता है ॥ २ ॥

गाथार्थ—जो मनुष्य यथार्थमें सर्वज्ञ देवके शास्त्रको जानता है वह
संसारका नाश करता है । जिस प्रकार सूत्र अर्थात् द्वीरासे रहित सुई
नष्ट हो जाती है—गुम जाती है, उसो प्रकार सूत्र अर्थात् शास्त्रसे

* न विद्यते भवो जन्म यस्य तस्य । *आचार्यों के ये नाम कालक्रम से नहीं हैं ।

सी कुण्डि) भद्रस्य संसारस्य नाशनं विनाशं स पुमान् करोति विद्वधति तीर्थकरो
भूत्वाऽत्मानं प्रकटगति मुक्तो भवतीत्यर्थः । अमुमेषार्थं दृष्टान्तेन दृढयति—(सूई
जहा असुत्ता णासदि) सूची लोहसूचिका वस्त्रदरकारिका असूत्रा द्वरकरहिता
नश्यति न लम्यते । (मुत्ते सहा णो वि) सूत्रेण सह वर्तमाना सूत्रेण दोर्खण
सहिता णो विनायि नश्यति हस्ते चटति ॥ ३ ॥

पुरिसो वि जो ससुत्तो ण विणासइ सो गओ चि संसारे ।

सच्चेयणपञ्चकलं णासदि तं सो अदिस्समाणो वि ॥४॥

पुरुषोऽपि यः ससूत्रः न विनश्यति स गतोऽपि संसारे ।

स्वचेतनाप्रत्यक्षेण नाशयति तं सोऽदृश्यमानोऽपि ॥ ४ ॥

(पुरिसो वि जो ससुत्तो) पुरुषोऽपि जीवोऽपि यः समूत्री जिनसूत्रसहितः ।
(ण विणासइ सो गओ वि संसारे) न विनश्यति स पुमान् गतोऽपि नष्टोऽपि
संसारे पतितोऽपि पुनरुत्त्वीवति मुक्तो भवति । (सच्चेयणपञ्चकलं) आत्मानुभव-
प्रत्यक्षेण । (णासदि तं सो अदिस्समाणो वि) णासदि-नश्यति, अन्तरनर्थोऽथं

रहित मनुष्य सी नष्ट हो जाता है—घटुर्गति रूप संसार में गुम
जाता है ॥ ३ ॥

दिशेषार्थ—जो भव अर्थात् पुनर्जन्म से रहित है वे अभव अर्थात्
सर्वज्ञ जिनेन्द्र कहलाते हैं । उन सर्वज्ञ-वीतरण जिनेन्द्रके सूत्र-आगमको
जो जानता है वह भव अर्थात् संसारका नाश करता है—तीर्थङ्कर होकर
अपने आपको प्रगट करता है—मोक्ष को प्राप्त होता है । इसी बातको
सुईके दृष्टान्तसे दृढ़ करते हैं । जिस प्रकार वस्त्रमें छेद करने वाली लोहे-
की सुई असूत्रा-डोरासे रहित होनेपर नष्ट हो जाती है उसी प्रकार सूत्र-
शास्त्रसे रहित मनुष्य नष्ट हो जाता है ॥ ३ ॥

गाथार्थ—जो पुरुष ससूत्र है—जिनागमसे सहित है वह संसारमें पढ़
कर भी नष्ट नहीं होता है—शीघ्र मुक्तिको प्राप्त हो जाता है । वह स्वयं
अप्रसिद्ध होनेपर भी आत्मानुभवके प्रत्यक्षसे उस संसारको नष्ट कर
देता है ॥ ४ ॥

दिशेषार्थ—जो जीव ज्ञानगम की श्रद्धा और ज्ञानसे युक्त है वह
यदि कदाचित् बद्धायुज्ज होनेसे नरक तिर्यक्ष आदि गति रूप संसारमें पढ़
भी जाता है अथवा सम्यक्, दशान्तसे च्छट होकर अष्टपुद्गत्यरिक्तन
काल तक नाना गतियोंमें परिभ्रमण भी करता रहता है तो भी वह नष्ट

प्रयोगः तेनायमर्थः नाशयति तं संसारं स आसन्नभव्यजीवः । कथंभूतः ? अदिस्त-
माणोवि-अदृश्यमानोऽपि चतुर्विधसंबन्धयेऽप्रकटोऽप्यप्रसिद्धोऽपि ॥ ४ ॥

‘सुत्तत्थं जिण भणियं जीवाजीवादि बहुविहं अत्थं ।
हेयाहेयं च तहा जो जाणइ सो हु सहिती ॥५॥

सूत्रार्थं जिनभणितं जीवाजीवादि बहुविधं अर्थम् ।
हेयाहेयं च तथा यो जानाति स हि सद्गृष्टः ॥ ५ ॥

(सुत्तत्थं जिणभणियं) सूत्रस्थार्थं जिनेन भणितं प्रतिपादितं । (जीवाजी-
वादि बहुविहं अत्थं) जीवाजीवादिकं बहुविधमर्थं कर्मतापन्नं वस्तु । (हेयाहेयं च
तहा) हेयं पुद्गलादिकं पञ्चवकारं, अहेयमादेयं निजात्मानं तथा तेनैव षट्प्रस्तु-
प्रकारेण । (जो जाणइ सो हु सहिती) याः पृथग् “जानाति वैति स पुमान् हु-
स्फुटं सद्गृष्टः सम्यग्दृष्टिर्भवति ॥ ५ ॥

जं ‘सुत्तं जिणउत्तं बवहारो तह य जाण परमत्थो ।
तं जाणिङ्ग जोई लहइ सुहं खचइ भलपुंजं ॥६॥

नहीं होता, पुनः सुमार्गपर आकर मोक्षको प्राप्त करता है । जो मनुष्य
अदृश्यमान है—चतुर्विध संघमें अप्रकट अथवा अप्रसिद्ध है वह भी आत्मा-
नुभवके प्रत्यक्ष द्वारा उस संसारको नष्ट कर देता है ॥ ४ ॥

गाथार्थ—जो जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे हुए सूत्रके अर्थको, जीव
अजीव आदि नाना प्रकारके पदार्थं को तथा हेय और उपादेय तत्वको
यथार्थरूपसे जानता है वह सम्यग्दृष्टि है ॥ ५ ॥

किळेवार्थ—सर्वज्ञ वीतराग जिनेन्द्र ने आगम का जैसा अर्थ प्रति-
पादित किया है, जीव अजीव आदि पदार्थोंका जैसा स्वरूप बतलाया है
तथा हेय-छोड़नेयोग्य पुद्गलादि पाँच द्रव्योंका सथा अहेय-ग्रहण करने
योग्य निज-आत्माका जैसा स्वरूप कहा है उसे जो ऐसा ही जानता है
वह स्पष्ट ही सम्यग्दृष्टि है ॥ ५ ॥

गाथार्थ—जिनेन्द्र भगवान् ने जो सूत्र कहा है उसे ब्यवहार और
निश्चय रूप जानो । उसे जानकर योगी आत्मसुख को प्राप्त होते हैं तथा
पाप-नुञ्जको नष्ट करते हैं ॥ ६ ॥

१. सूत्तत्थं ।

२. सूत्तं म० ।

यत् सूत्रं जिनोक्तं व्यवहारं तथा च जानीहि परमार्थम् ।

तत् जात्वा योगी लभते सुखं क्षिपते मलपुञ्जम् ॥ ६ ॥

(न् युनं विषदत्तं) वत्सूत्रं जिनोक्तं । (अहारं तद् यज्ञणं परमत्थो) तत्सूत्रं व्यवहारं जानीहि तथा परमार्थं निश्चयरूपं च जानीहि हे भध्य ! त्वं चेत्यं “जानीहि । (त जाणिङ्गं जोई) तत्सूत्रं व्यवहारं निश्चयरूपं जात्वा योगी व्यानी पुमान् । (लहड़ सुहं स्ववह मलपुञ्जं) लभते सुखं निजात्मोत्थं परमानन्द-लक्षणं क्षिपते—३निमूलकाखं कषते भलस्य पापस्य पुञ्जं राशि त्रिषष्ठिप्रकृति-समूहं । वातिसंघातधात्मं कुल्वा केवलज्ञानमुत्पादयतीति भावः । [यथा [नटो] वंशावष्टमं कृत्वाऽम्यात्मवशेन रज्जूपरि चलति पश्चादत्यम्यास वशेन वंशा त्यक्त्वा निराधारतया रज्जूपरि गच्छति तथा व्यवहारावष्टमेन निश्चयनयमवलम्बते । तदनन्तरं व्यवहारमणि त्यक्त्वा निश्चयमेवालम्बते इति भावः ॥ ६ ॥

विशेषार्थ—जिनेन्द्र भगवान् ने जिस आगमका वर्णन किया है वह व्यवहार और निश्चयनय रूप है अर्थात् दोनों नयोंके हारा पदार्थका निरूपण करने वाला है । जो योगी उस उभयनयात्मक आगमको जानता है वह निजात्मा से उत्पन्न होने वाले परमानन्दरूप सुखको प्राप्त होता है तथा चेसठ प्रकृतियों के समूह को नष्ट कर केवलज्ञानको उत्पन्न करता है । ३जिस प्रकार नट पहले बांसका सहारा लेकर अभ्यास करता हुआ रस्सीके ऊपर चलता है पीछे पूरा अभ्यास हो जाने पर वह बांस छोड़कर निराधार हो रस्सीपर चलने लगता है, उसी प्रकार से यह मनुष्य पहले व्यवहार नयके आलम्बन से निश्चयनयका आलम्बन करता है, पीछे व्यवहार को भी छोड़कर एक निश्चयका ही आलम्बन करता है ॥६॥

[जिनागमका उपदेश व्यवहार और निश्चय दोनों नय-रूप है, अतः पात्रकी योग्यताको देखते हुए जहाँ जिसकी आवश्यकता दीखे उसको मुख्य करके उपदेश देना चाहिये । जिस समय एक नयको मुख्य किया जाता है उस समय दूसरे नयको गोण तो किया जा सकता है परन्तु अपरमार्थ समझ कर सर्वथा त्याज्य नहीं माना जा सकता ।]

१. वेत्य म० ।

२. निमूल म० ।

३. सूत्रस्य

'सुत्तत्यपयविणद्वो मिच्छादिट्टी हु सो मुणेयव्वो ।
खेडेवि ण कायव्वं पाणिष्पत्तं सचेलस्य ॥ ७ ॥
धूपाद्यस्त्रिविनाष्टः मिच्छादुष्टिः हि स शातव्यः ।
खेलेऽपि न कर्तव्यं पाणिपात्रं सचेलस्य ॥ ७ ॥

(सुत्तत्य पय विणद्वो) सूत्रार्थपदविनाष्टः पुमान् । (मिच्छादिट्टी हु सो मुणेयव्वो) मिच्छादुष्टिरिति हु स्कुटं स पुमान् मुनितव्यो (?) शातव्यः । (खेडे)

गायथ्री—जो आगमके पद और अर्थसे बिनष्ट है अर्थात् द्रव्यशुत की शद्वासे रहित है उसे मिथ्यादुष्टि जानना चाहिये । वस्त्रधारी-गृहस्थको कोडामें भी पाणि-पात्रसे आहार नहीं करना चाहिये और न साधु समझ-कर उसे पाणिपात्र आहार देना चाहिये ॥७॥

विद्वेषार्थ—जो जिनागमके अर्थ और पद दोनोंसे भाष्ट है अर्थात् उनकी शद्वासे रहित है वह स्पष्ट ही मिथ्यादुष्टि है । जिनागम की आज्ञा का अनादर कर इच्छानुसार वस्त्रादि धारण करते हुए भी अपने आपको जो भुनि मानता है वह आगम की शद्वासे रहित तथा गृहस्थके तुल्य है ।

१. 'व्यवहारो हि व्यवहारिणां म्लेच्छभाषेव म्लेच्छानां परमार्थ-प्रतिपादकस्त्वाद-परमार्थोऽपि तीर्थप्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयितु' न्याय एव । तमन्तरेण तु शरीरा-ज्ञीवस्य परमार्थतो भेद-दर्शनात् वस-स्थावराणां भस्मन इव निःशङ्कमुप-मर्दनेन हिसाऽभावादभवत्येव बन्धस्याभावः । तथा रक्तो द्विष्टो किमूढो जीवो बध्यमानो मोचनीय इति रागदेषमोहम्यो जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनेन मोक्षोपायपरिप्रहणाभावात् भवत्येव मोक्षस्याभावः' ।

—आत्मक्षयाति समयात्म, गाया ४६ ।

'यद्यप्य व्यवहारनयो वहित्र्यवलम्बनत्वेनाभ्रुतार्थस्तथापि रागादिवहित्र्य-व्यावलम्बनरहितविशुद्धानदर्शनस्त्रभावस्त्रावलम्बनसहितस्य परमार्थस्य प्रति-पादकस्त्रादर्शायितुमुचितो भवति । यदा पुनर्व्यवहारनयो न भवति तदा शुद्ध-निष्ठव्यनयेन वसस्थावरजोवा न भवतीति भस्मा निःशङ्कोपमदनं कुर्वन्ति जनाः । ततश्च पुण्यरूप-वर्मभाव इत्येकं दूषणं, तथैव शुद्धनयेन रागदेष-मोहरहितः पूर्वमेव मुक्तो जीवस्तिष्ठतीति मुक्ता भोक्षार्थमनुष्ठानं कोऽपि न करोति ततश्च मोक्षाभाव इति द्वितीयं च दूषणं । तस्माद् व्यवहारनयव्याप्त्या-नमुचित भवतीत्यभिप्रायः ।

—श्री वयस्सेनार्थार्थ-कृत लात्पर्यवृत्ति दीक्षा समयात्म, गाया ४६ ।

खेलेऽपि कीड़ायामपि (ए कायव्वं पाणिष्ठते) न कर्तव्यं पाणिपात्रेण भोजनं न
विधातव्यम् । कस्य ? (सचेलस्य) गृहस्थस्य ॥७ ॥

हरिहरतुल्लो वि णरो स्वर्गं गच्छेद्द एह भवकोडी ।
तहवि ए पावइ सिद्धि संसारत्थो पुणो भणिदो ॥ ८ ॥

हरिहरतुल्योऽपि नरः स्वर्गं गच्छति एति भवकोटीः ।
तथापि न प्राप्नोति सिद्धि संसारस्यः पुनर्भणितः ॥ ९ ॥

(हरिहरतुल्लो वि णरो) हरिष्च नारायणो हरस्व रुद्रस्ताम्यां तुल्यः समानः
ऋद्धिमानित्यर्थः । नरः प्राणी मनुष्यः । (स्वर्गं गच्छेद्द एह भवकोडी) दानपूजो-
पवासादिके फूल्वा स्वर्गं देवलोकं गच्छति पश्चाद्भवान्तराणां कोटीरसंख्यानि
भवान्तराणि अनन्तानि वा भवान्तराणि प्राप्नोति दुखो भवति संसारी स्थान् ।
(तह वि ए पावइ सिद्धि) तथापि भवकोटीः पर्यटनप्रकारेणापि न प्राप्नोति सिद्धि
मोक्षं न लभते । कि तहि भवतीत्याह (संसारत्थो पुणो भणिदो) संसारस्यः
संसारी पुनर्भणितः मिद्वान्ते प्रतिपादितः । जिनसूत्रानामादिग्रन्थानुज्ञिः अत् तेहार-
दुर्खं सहते सुखी न भवतीति भावः ॥८॥

उसे पाणिपात्रसे आहार नहीं करना चाहिये और न विवेकी मनुष्यों-
को उसे मुनि समझकर—कौतूहल बुद्धिमे भी पाणिपात्र आहार देना
चाहिये ॥ ९ ॥

गाथार्थ——सूत्रके अर्थ और पदसे भ्रष्ट हुआ मनुष्य विष्णु और रुद्रके
तुल्य होने पर भी—उनके समान ऋद्धिमान् होनेपर भी स्वर्गं जाता है
वहाँसे आकर करोड़ों भव धारण करता है परन्तु मोक्षको प्राप्त नहीं कर
सकता, वह संसारी ही कहा गया है ॥९॥

बिशेषार्थ——जिनागमकी धद्वासे रहित मनुष्य हरि हर आदिके समान
कितनी ही ऋद्धियों-सम्पत्तियोंका स्वामी क्यों न हो वह इन पूजा
उपवास आदि करके पहले स्वर्गं जाता है पीछे असंख्यात अथवा अनन्त
भवोंको धारण करता हुआ संसार में दुखी होता रहता है । यद्यपि वह
असंख्यात या अनन्त भवोंको प्राप्त कोता है तथापि मोक्षको प्राप्त नहीं हो
सकता, संसारी ही कहलाता रहता है ॥९॥

उक्तिदृसीहचरियं बहुपरियम्भो य गुरुयभारो य ।
 जो विहरइ सच्छन्दं पावं गच्छेदि होदि मिच्छत्तं ॥ ९ ॥

उल्कृष्टसिहचरितः बहुपरिकर्मा च गुरुकभारश्च ।
 यः विहरति स्वच्छन्दं पापं गच्छति भवति मिथ्यात्वम् ॥ ९ ॥

(उक्तिदृसीहचरियं) उल्कृष्टं सर्वयतिभ्योऽधिकं सिहवन्निर्भयस्वेन चरितं चारितं यस्य स पुमानुल्कृष्टसिहचरितः । प्राकृतत्वादत्र नपुंसकस्वं । अथवा विहरतीति कियाविशेषणत्वाद् द्वितीयेकवचनं नपुंसकत्वं च । (बहुपरियम्भो य गुरुयभारो य) बहुपरिकर्मा चानेकतपोविधान-मण्डित-शरीरसंस्कारश्च मुनिमुख्यरभारश्च राजादिभयनिवारकः शिष्याणां पठनपाठनसमर्थो यात्रा-प्रतिष्ठादीक्षादानायुर्वेदज्योतिष्ठकशास्त्रनिर्णयकारकः घडावश्यककर्मनकर्मठो धर्मोपदेशनसमर्थः सर्वेषां यतीतां एव नैहित्याद्यात्मो चुल्लार उच्छृङ्खले इत्युविष्णोऽपि गच्छनायको यतिः । (जो विहरइ सच्छन्दं) यो यतिः स्वच्छन्दं विहरति-जितसूत्रं त प्रमाणयति (पावगच्छेदि होइ मिच्छत्तं) स मुनिः पापं गच्छति प्राप्नोति—मिथ्यात्वं तस्य भवतीति वात्पर्यार्थः ॥ ९ ॥

पापार्थ—जो मुनि सिहके समान निर्भय रह कर उल्कृष्ट चारित्र धारण करते हैं, अनेक प्रकारके परिकर्म-क्रत उपवास आदि करते हैं, तथा आचार्य आदिके पदका गुरुतर भार संभालते हैं परन्तु स्वच्छन्द प्रवृत्ति करते हैं, आगम की आज्ञा का उल्लङ्घन करके मनवाही प्रवृत्ति करते हैं, वेष्मापको प्राप्त होते हैं एवं मिथ्यादृष्टि कहलाते हैं ॥ ९ ॥

विषेषार्थ—जो सिहके समान निर्भय रहकर सब मुनियोंसे उल्कृष्ट चारित्र धारण करते हैं, अनेक प्रकारके तपोंसे जिनका शरीर मण्डित है, जो गुरुतर भारको धारण करते हैं, अर्थात् राजा आदिके भयका निवारण करते हैं, शिष्योंके पठन पाठनमें समर्थ हैं, यात्रा-प्रतिष्ठादीक्षादान आयुर्वेद और ज्योतिष शास्त्रके निर्णय करने वाले हैं, छह आवश्यक कायोंमें कर्मठ हैं, धर्मोपदेश देनेमें समर्थ हैं, सब मुनियोंको निश्चिन्तता प्रदान करने वाले हैं । ऐसे गच्छके नायक होकर भी जो मुनि स्वच्छन्द विहार करते हैं अर्थात् जितसूत्रको प्रमाण नहीं प्राप्ति, वे पापको प्राप्त होते हैं तथा उनकी मिथ्यात्व अवस्था होती है ॥ ९ ॥

णिच्छेलपाणिपत्तं उवद्दृष्टं परम जिणवर्दिवेहि ।

एको हि मोक्षमग्नो सेसा य अमग्नया सव्ये ॥ १० ॥

निश्चेलपाणिपात्रमुषदिष्टं परमजिनवरेन्द्रैः ।

एको मोक्षमार्गः शेषाश्च अमार्गः सर्वे ॥ १० ॥

(णिच्छेलपाणिपत्तं) निश्चेलस्य मुनेः पाणिपात्रं करयोः सुटे भोजनमुक्तं ।
 (उवद्दृष्टं परम जिणवर्दिवेहि) उषदिष्टं परमजिनवरेन्द्रैस्तीर्थकरपरमदेवैः ।
 (एको हि मोक्षमग्नो) एक एक मोक्षमग्नो, निप्रान्त्यलक्षणः (सेसा य अमग्नया सव्ये) शेषा मृग चमं बल्कल-कपासिपटू कूल-रोमवस्त्र-तट्ट-गोणीतृण-प्रावरणादिः, रत्नवस्त्रःपि दीता-धराव्यवर्ष्य पितॄवं, अभाणां संसारपर्वटन हेतुत्वान्मोक्षमार्गं न भवतीति भव्यजनैर्जातिक्षम् ॥ १० ॥

जो संजमेषु सहितो आरंभपरिग्रहेषु विरक्तो वि ।

सो होइ वंदणीओ ससुरासुरमाणुसे लोए ॥ ११ ॥

यः संयमेषु सहितः आरंभपरिग्रहेषु विरतः अपि ।

स भवति वन्दनीयः ससुरासुरमानुषे लोके ॥ ११ ॥

(जो संजमेषु सहितो) यो मुनिनं तु गृहस्थः संयमेषु सहितः इन्द्रियप्राप्त-संथमवान् भवति । (आरंभपरिग्रहेषु विरक्तो वि) आरंभाः सेकाहृषिवाणिज्ञ-

गाथार्थ—तीर्थकर परमदेव ने नगनमुद्राके बारी निर्यन्त्र मुनिको ही पाणिपात्र आहार लेनेका उपदेश दिया है । यह एक निप्रान्त्य-मुद्रा ही मोक्षमार्ग है, इसके सिवाय सब अमार्ग हैं-मोक्षके मार्ग नहीं हैं ॥ १० ॥

विशेषार्थ—तीर्थकर परमदेव ने निश्चेल-वस्त्र मात्रके त्यागी-निर्यन्त्र मुनिको ही करपुटमें आहार लेनेका उपदेश दिया है । जिसमें मुनि नग्न रहकर करपुट में ही आहार करते हैं, वह एक निर्यन्त्र-वेष ही मोक्षमार्ग है । इसके सिवाय मृगचर्म, वृक्षोंके बल्कल, कपास, रेशम और रोमसे बने वस्त्र, टाट तथा तृण आदिके आवरण (चटाई आदि) को धारण करने वाले सभी साधु, तथा लाल वस्त्र और पीले वस्त्रको धारण करने वाले सभी लोग अमार्ग हैं—संसार, परिभ्रमणके हेतु होनेसे मोक्षमार्ग नहीं हैं, ऐसा भव्य जीवों को जानना चाहिये ॥ १० ॥

गाथार्थ—जो मुनि संथम से सहित है तथा आरंभ और परिग्रह से विरत है वही सुर अमुर और मनुष्यों से युक्त लोकमें वन्दनीय है ॥ ११ ॥

प्रमुखाः परिष्ठाः क्षेत्रवास्त्वादयस्तेषु विरती विरक्तो भवति । अपि शब्दः समुच्चये वसंते । तेन ब्रह्मचर्यादियो गृहान्ते तस्माद् 'ब्रह्मचर्यं वरो यति' रिति वचनात् । (सो होइ बंदणीओ) स मुनिवर्णनीयो भवति । क्व वन्दनीयो भवति ? (समुरामुरमाणुसे लोग) लोके विभुवने वन्दनीयो भवति । क्यंभूते लोके ? समुरामुरमाणुषे देवदानवमानवसहिते ॥११॥

जे वाक्षीसपरीसह सहंति सत्तीसएहि संजुता ।

ते होंति बंदणीया कर्मकल्यणिजज्ञरासाहू ॥ १२ ॥

ये द्वार्तिष्ठातिपरीष्ठान् सहन्ते शक्तिशतैः संयुक्ताः ।

ते भवन्ति वन्दनीयाः कर्मकल्यनिर्जरासाधवः ॥१२॥

(जे वाक्षीसपरीसह सहंति) ये द्वार्तिष्ठाति परीष्ठान् सहन्ते । (सत्तीसएहि संजुता) शक्तीनां शर्तैः संजुताः । (ते होंति बंदणीया) ते भवन्ति बंदणीया नमोऽस्तु शब्द-योग्याः । (कर्मकल्यण निर्जरासाहू) कर्मकल्यनिर्जरासाधवः ये कर्मकल्ये निर्जरायां च साधवः कुशला भवन्ति योग्या भवन्तीति भावः ॥१२॥

विशेषार्थ—इन्द्रिय-संयम और प्राण-संयमके भेदसे संयमके दो भेद हैं । सेषा, कृषि, वाणिज्य आदिको आरम्भ कहते हैं तथा क्षेत्र, मकान आदिको परिष्ठाह कहते हैं । जो मुनि/इन्द्रियसंयम और प्राणो-संयम से सहित है तथा आरम्भ और परिष्ठाहों से विरत है । साथ ही ब्रह्मचर्य आदि गुणों से युक्त है वही देव दानव और मनुष्यों से सहित लोक में वन्दना करने के योग्य है । इसके सिवाय असंयमी, आरम्भ और परिष्ठाह के जालमें फँसे हुए क्वन्य साधु सम्यादृष्टि के द्वारा वन्दना करने योग्य नहीं है ॥११॥

गायार्थ—जो बाईस परिष्ठाह सहन करते हैं, सैकड़ों शक्तियोंसे सहित हैं, तथा कर्मोंके क्षय और निर्जरा करने में कुशल हैं, ऐसे मुनि वन्दना करने योग्य हैं ॥ १२ ॥

विशेषार्थ—भूधा-तृष्णा-शोत-उष्ण-दशमशक नारन्त्य-अरति-स्त्रं-चर्वा-निषद्या-शब्द्या-आक्षोश-वथ-याचना-अलाभ-रोग-तृणस्पर्श- मल-सत्कारपुरस्कार-प्रश्ना-अज्ञान और अदर्शन ये बाईस परिष्ठाह हैं । जो मुनि समता भावसे इन बाईस परिष्ठाहों को सहते हैं, पक्षोपवाम मासोपवास आदि उग्र तृपद्वरण की शक्ति से युक्त हैं और कर्मोंके क्षय तथा निर्जरा में कुशल हैं, वे मुनि वन्दनीय हैं अर्थात् उन्हें 'नमोऽस्तु' कहकर नमस्कार करना चाहिये ॥१२॥

अवसेसा जे लिगी दंसणणाणेण सम्मसंजुत्ता ।
चेलेण य परिगहिया ते भणिया इच्छणिज्जाय ॥१३॥

अवशेषा ये लिङ्गिनो दर्शनज्ञानेन सम्यक्संयुक्ताः ।

चेलेन च परिगृहीतास्ते भणिता इच्छाकारयोग्याः ॥१३॥

(अवसेसा जे लिगी) अवशेषा ये लिङ्गिनः क्षुल्लकगुरुर्वाः । (दंसणणाणेण सम्मसंजुत्ता) दर्शनज्ञानेन सम्यक्संयुक्ताः । (चेलेण य परिगहिया) वस्त्रैकवराः सकीपीभाद्वच, वस्त्रमपि सीवित न भवति, कि तहि ? खण्डवस्त्रै घरन्ति ते वस्त्रपरिगृहीताः । (ते भणिया इच्छणिज्जाय) ते भणिता इच्छाकारयोग्या नमस्कारयोग्याः ॥१३॥

इच्छायारमहत्यं सुत्तिभ्यो जो हु लंडाए कम्मं ।

ठाणे द्वियसम्मतं परलोयसुखकरो होई ॥१४॥

इच्छाकारमहार्थं सूत्रस्थितः यः स्फुटं त्यजति कर्म ।

स्थाने स्थितसम्यक्त्वः परलोकसुखकरो भवति ॥१४॥

(इच्छायार महत्यं) इच्छावान्देन नम उच्चते । कारशाब्दस्तु अष्टःस्वः क्रियते तेन नमस्कार इति भवति । क्षुल्लकानां वन्दनम् । (सुत्तिभ्यो जो हु

गाथार्थ—मुनिमुद्राके सिवाय जो अन्य लिङ्गी हैं, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे सहित हैं, तथा वस्त्रके धारक हैं ऐसे क्षुल्लक-ऐलक इच्छाकारके योग्य कहे गये हैं अर्थात् उन्हें 'इच्छामि' कहकर नमस्कार करना चाहिये ॥ १३ ॥

दिग्नोषार्थ—दिगम्बर मुनि मुद्रा के सिवाय अन्यलिङ्गधारी-ऐलक क्षुल्लक, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे संयुक्त हैं । ऐलक एकवस्त्र-कोपीनके धारक हैं और क्षुल्लक कोपीनके सिवाय एक वस्त्र अतिरिक्त भी रखते हैं । इनका यह वस्त्र सिला हुआ नहीं होता, खण्डवस्त्र कहलाता है अर्थात् इतना छोटा होता है कि शिर ढके तो पैर नहीं ढकें और पैर ढकें तो शिर नहीं ढके । ऐसे ऐलक और क्षुल्लक इच्छाकर के योग्य कहे गये हैं अर्थात् उन्हें नमस्कार करते समय 'इच्छामि' या 'इच्छाकार' शब्द का उच्चारण करना चाहिये ॥ १३ ॥

गाथार्थ—जो इच्छाकार के महान् वर्थको जानता है, सूत्र-आगममें स्थित होता हुआ आगमको जानता हुआ गृहस्त्रके आसन्ने आविष्कारी

संदर्भ कर्म) सुकृतिद्वयो—सूक्ष्मस्थितः समयं जानन् यः पुमान् कर्म स्थिति-
गृहस्थकर्म न करोति-वैयाकृत्य विना स्वयं रन्बनादिकं न करोति । (ठाणे
('दिव्यसम्मत') एकादशास्वपि स्थानेषु सम्यकत्वपूर्वको भवति । (परलोकसुहंकरो
होइ) स्वर्गसौख्यं साधयति-योषश्च सु स्वर्गेष्वन्यतमस्वर्गे उत्पद्यते तत्पञ्चूत्का
निर्गम्यो भूत्वा मोक्षं गच्छति ॥१४॥

अहं पुण अप्या णिच्छदि घम्माइं करेदि निरब्देसाइं ।

तह्वदि ण पावदि सिद्धि संसारत्यो पुणो भणिदो ॥१५॥

अथ पुनरात्मानं नेच्छति धर्मनि करोति निरबद्धेषाधान् ।

तथापि न प्राप्नोति सिद्धि संसारस्यः पुनर्भणितः ॥१५॥

(अहं पुण अप्या णिच्छदि) अथ अथवा पुनरात्मानं नेच्छति आत्मभावाना
न करोति । (घम्माइं करेइ निरब्देसाइं) धर्मनि करोति निरबद्धेषान् दानपूजा

को छोड़ता है और श्रावकके ग्यारहवें स्थानमें सम्यकत्व-पूर्वक स्थित है
वह परलोकमें सुखको करने वाला होता है ॥१४॥

विशेषार्थ—इच्छा शब्द से नभः अर्थ कहा जाता है । कार शब्द
उससे नीचे प्रयुक्त होता है अर्थात् कार शब्दका प्रयोग इच्छा शब्दके
आगे किया जाता है, इसलिये समस्त इच्छाकार शब्दका अर्थ नमस्कार
होता है । इसप्रकार गाथा का अर्थ यह हुआ कि जो इच्छाकार शब्दके
महान् अर्थको आनता हुआ क्षुलक-ऐलक आदिको इच्छाकार करता है—
इच्छामि या इच्छाकार करता हुआ बन्दना करता है, शास्त्रको जानता
हुआ पद के विश्व आरम्भ आदि कार्यों का स्पष्ट रूपसे त्याग करता है
अर्थात् वैयाकृत्यको छोड़कर स्वयं रसोई आदि नहीं बनाता, तथा श्रावक-
के ग्यारहवें स्थानमें सम्यगदर्शन के साथ स्थित है अर्थात् सम्यगदर्शन-पूर्वक
श्रावकके ग्यारह स्थानोंका पालन करता है, वह स्वर्गके सुखको साधता
है अर्थात् सोलह स्वर्गोंमें से किसी एक स्वर्गमें उत्पन्न होता है और वहाँ
से च्युत हो निर्गम्य होकर मोक्षको प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

गाथार्थ—जो आत्मा को नहीं इच्छता अर्थात् आत्मा को भावना
नहीं करता है, वह भले ही समस्त धर्म कार्योंको करता हो तो भी मुकित
को प्राप्त नहीं होता । वह संसारी हो कहा गया है ॥ १५ ॥

विशेषार्थ—'इच्छाकार' शब्द का प्रधान अर्थ आत्मा को इच्छा
करना है अर्थात् पर पदार्थसे मिन्न शुद्ध आत्म-स्वकी उपलब्धि मूळे हो
ऐसो भावना करना है । जो पुरुष उक्त प्रकारसे आत्माको इच्छा नहीं

तपःशीलादिकानि निरवेषोषाणि समस्तानि पुण्यानि करोति । (तह वि च पादिदि सिद्धि) तथापि पुण्य कर्म प्रकारेणापि सिद्धि मुक्ति न प्राप्नोति । (संसारत्थो पुणो भविष्यते) संसारस्यः पुनर्भवितः संसारी भवतीति सिद्धान्ते प्रतिपादितम् । उक्ततत्त्वं देवसेनैन भगवता—

बहु कुणउ तवं पालेउ संजमं पद्म समलसत्याह ।

जाम ण ज्ञावई अप्या लाम ण मोक्षं जिणो भणई ॥ १ ॥

एएण कारणेण य तं अप्या सद्गहेह तिविहेण ।

जेण य लहेह मोक्षं तं जाणिज्जइ पयत्तेण ॥ १६ ॥

एतेन कारणेन च तमात्माने शद्गत त्रिविधेन ।

येन च लभेद्यं मोक्षं तं जानीत प्रयत्नेन ॥ १६ ॥

(एएण कारणेण य) एतेन प्रत्यक्षीभूतेन कारणेन हेतुना । चकार उक्तसमुच्चयार्थः, बहिस्तत्वमूतपञ्चपरमेष्ठिकारणसूचनार्थं इत्यर्थः । (तं अप्या सद्गहेह तिविहेण) तमात्मानं शुद्धबुद्धैकस्वभावमात्मतत्वं शद्गत यूपं रोचत पूर्यम्

करता वह दान पूजा तप शील आदि समस्त पुण्य कार्य करता हुआ भी सिद्धिको प्राप्त नहीं होता । उसे आगम में संसारी ही कहा गया है । ऐसा ही भगवान् देवसेन ने कहा है—

बहु कुणह—अतिशाय तप करो, संदर्भ पालो और समस्त शास्त्र पढ़ो परन्तु जब तक आत्माका ध्यान नहीं किया जाता है तब तक मोक्ष प्राप्त नहीं होता, ऐसा जिनेत्रदेव कहते हैं ।

(आत्म श्रद्धानके बिना दान पूजा तप शील आदि समस्त पुण्य कार्य शुभबन्धके कारण हैं जिनके फलस्वरूप यह जीव देव आदि गतियों में परिभ्रमण करता है । गतः मुक्ति प्राप्त करनेके लिये सर्वप्रथम आत्म-स्वरूपकी ग्राहित्या पुरुषार्थ करना चाहिये) ॥ १५ ॥

गाथार्थ—इस कारण उस आत्माका मन वचन काष्ठसे शद्गान करो तथा उसीको प्रयत्न पूर्वक जानो जिससे कि मोक्ष प्राप्त कर सको ॥ १६ ॥

विशेषार्थ—गाथामें आये हुए 'एएण कारणेण' इस पदसे पूर्व गाथाओं में प्रयूक्त संसारभ्रमण आदिका उल्लेख किया गया है । तथा चकारसे आद्य तत्वभूत पञ्चपरमेष्ठी रूप कारण की सूचना दी गई है इसलिये गाथाका अर्थ यह हुआ कि चूंकि आत्म श्रद्धान के बिना दान पूजा आदि समस्त पुण्य कार्य करने पर भी तथा पञ्चपरमेष्ठी आदि बाह्य निमित्त मिलने पर भी यह जीव सिद्धिको प्राप्त नहीं होता, संसारी ही अद्वितीया

विविधेन मनोवचनकायप्रकारेण । (जेण य लहेह मोक्षं) येन चात्मतत्वेन लभेष्वं मोक्षं सर्वं-कर्म-शय-लक्षणं परमनिवाणं प्राप्नुत् पूयम् । अत्रापि चकार उक्तं समुच्चयार्थं । तेन स्वर्गसौख्यं पथासंभवं सर्वार्थसिद्धिक्यंतं पूर्वं लक्ष्या पश्चान्मोक्षं लभेष्वम् । (त जाणिजज्ञह पपत्तेण) तमात्मानं त केवलं अद्भुतं अपि तु जानीत विद्याकुरुत चेति । कथम् ? प्रयत्नेन साक्षान्तत्या सर्वतात्मर्थेत्यर्थः ॥ १६ ॥

वालग्नकोडिमित्तं परिग्रहग्रहणं ण होइ साहूणं ।

भुजेइ पाणिपात्रे विष्णुणं इककठाणमि ॥ १७ ॥

वालग्नकोडिमित्तं परिग्रहग्रहणं ण होइ साहूणं ।

भुज्जीत पाणिपात्रे दत्तमन्नं एक स्थाने ॥ १७ ॥

(वालग्नकोडिमित्तं) वालस्य रोमणोऽप्यकोटिमात्र श्रीग्रामान् अतीवाल्पमपि ।
(परिग्रहग्रहणं ण होइ साहूणं) परिग्रहस्य ग्रहणं स्त्रीकारो न भवति साधुनां

रहता है, अतः शृद्धन्वीतराग और बुद्ध-सर्वज्ञ रूप प्रमुख स्वभावसे युक्त उसी आत्मा की मन वचन कायसे अद्वा करो, तथा पूर्ण प्रयत्नसे सावधानता-पूर्वक पूर्ण लगनसे उसी आत्माको जानो जिससे सर्वं कर्म-शय रूप लक्षणसे युक्त परम निर्वाणिको प्राप्त कर सको । यहीं जेण य-येन च शब्दके साथ जो चकारका प्रयोग किया है वह ऊपर कही हुई बातका समुच्चय करनेके लिये है । उससे यह अर्थ ध्वनित होता है कि पहले सर्वार्थसिद्धि तकके स्वर्गं मुख्यको प्राप्त कर पश्चात् मोक्षको प्राप्त कर सको ।

[आत्म-श्रद्धान् होने पर भी जब तक चारित्र मोह-जन्य रागका सद्भाव रहता है तब तक यह जीव देवायुका बन्ध करके प्रथम स्वर्गसे लेकर सर्वार्थ-सिद्धि तकके मुख भोगता है और पीछे कर्मभूमिज मनुष्य पर्यायमें उत्पन्न होकर चारित्र मोह-जन्य रागका अभाव होने पर समस्त कर्मोंका क्षय करके मोक्ष प्राप्त करता है] ॥ १६ ॥

गाथार्थ—नियन्त्य साधुओंके रोमके अश्रमाग की अनीके बराबर भी परिग्रह का ग्रहण नहीं, अतः उन्हें योग्य आवकके द्वारा दिये हुए अन्तका दृष्टस्तरपूर्व पात्र में भोजन करना चाहिये और वह भी एक ही स्थान पर ॥ १७ ॥

निरम्बर यतीनाम् । (भुजेह पाणिपते) मुक्त्योत भोजनं कुर्वति कुर्यात् पाणि-
पाने निजकरपुटे । (दिष्णाण्णं इक्कठाणमिम्) श्रावकेण दत्तं नत्यस्तीता दत्तं
भुक्त्योत, प्रासुकभोजनं किल सर्वत्र गृह्णते इति जैनाभासा शु वन्ति तद्देन
विशेषव्याख्यास्यानेन ॑परित्यक्तं भवतीति भावितव्यम् । इक्कठाणमिम्-उदभो भूत्वा
एकवारं भुक्त्योतेति, यो बहुवारं भुक्त्यते स वन्दनोयो न भवतीति भावार्थः ॥१७॥

जहजायरुचसरिसो तिलतुसमित्तं ण गिहवि हृथेसु ।

जह लेह अप्पबहुयं तत्तो पुण जाह णिगोदं ॥१८॥
यथाजातरूपसदृशः तिलतुषमात्रं न गृह्णाति हस्तयोः ।
यदि लाति अल्पबहुकं ततः पुनर्याति निगोदम् ॥१८॥

(जहजायरुचसरिसो) यथाजातरूपः सर्वज्ञवीतरागस्तस्य रूपसदृशो नग्न-
शरीरः । (तिलतुसमेतं ण गिहवि हृथेसु) तिलस्य पितृप्रियकणस्य तुषस्तवहृ-
मात्रं न गृह्णाति हस्तयोरित्युत्सर्गव्याख्यास्यानं प्रभाणमेव किन्तु—

विशेषार्थ—दिग्म्बर मुद्राके धारी साधुओंके बालके अग्रभाग की
अनीके बराबर अस्यन्त अल्प भी परियह नहीं होता, अतः उन्हें अपने
कर-पुटमें ही आहार ग्रहण करना चाहिये । वह आहार भी श्रावक के
द्वारा दिया हुआ, न कि अवती मनुष्य के द्वारा दिया हुआ, और वह भी
एक स्थान पर खड़ा होकर एक ही बार, न कि अनेक बार । इतेताम्बर
कहते हैं कि प्रासुक आहार सब जगह लिया जाता है, चाहे वह वन्ती-
श्रावक के द्वारा दिया हुआ हो और चाहे अवती के द्वारा । परन्तु इस
विशेष व्याख्यान से ऐसे आहार का त्याग होता है, ऐसा समझना
चाहिये । मुनि खड़े होकर एक ही बार भोजन करते हैं, बार-बार नहीं ।
जो जैनाभास घर-घर से मिथा लाकर अनेक बार खाता है वह वन्दना
के दोगु नहीं है ॥ १७ ॥

गाथार्थ—नग्न-मुद्राके धारक मुनि तिलतुष मात्र भी परियह अपने
हाथोंमें ग्रहण नहीं करते । यदि थोड़ा बहुत ग्रहण करते हैं तो निगोद
जाते हैं ॥ १८ ॥

विशेषार्थ—'यथा-जात' तत्काल उत्पन्न हुए बालक को कहते हैं
उसके समान जिनका रूप है वे सर्वज्ञ वीतराग हैं । उनके सदृश नग्न
शरीरको धारण करने वाले निर्गन्ध साधु अपने हाथोंमें तिलकी भुसी

क्षचिल्कालानुसारेण सूरिद्रव्यमुपाहरेत् ।

गच्छपुस्तकबुद्धर्थमयाचित्तमथाल्पकम् ॥

इतीन्द्रनन्दिभगवतोक्तं त्वपवाद व्याख्यानम् । तत्रापि स्वहस्तेन न स्पृश्य
किन्तु शावकादिहस्तेन स्थापनीयम् । (जह लेइ अप्पबहुयं) यदि लाठि

बराबर भी परिग्रह नहीं रखते । यदि कदाचित् अपने उदर पोषण की
बुद्धिसे योद्धा बहुत रखते हैं तो उसके फलस्वरूप निगोद को प्राप्त
होते हैं ।

यहाँ संस्कृत टीकाकार ने लिखा है कि यह उत्सर्व व्याख्यान-
सामान्य कड़ीन प्रमाण रूप हो है किन्तु इन्द्रनन्दी भगवान् ने जो यह
उल्लेख किया है कि—

कथित—“कहीं आचार्य कालकी परिस्थिति के अनुसार गच्छ सथा
पुस्तकों की बृद्धिके लिये उस द्रव्यको भी ग्रहण करते हैं जो बिना वाचना
के प्राप्त हुआ हो तथा अत्यन्त अल्प हो ।”

यह अपवाद व्याख्यान है । इस अपवाद मार्गका कथन करते हुए
उन्होंने कहा है कि आचार्य उस अद्याचित और अल्प द्रव्यको अपने हाथ
से न छुएं, श्रावक वादि के हाथ में ही रखें । अर्थात् उसके स्वामित्व
के भागी न बनें ॥ १८ ॥

[ग्रन्थ—जब कि मूनि के शरीर है, आहार है, कमण्डल है, पीछी
है, शारन है, तब तिल-तुष मात्र परिग्रह का अभाव किस प्रकार संभव है ?

समाधान—मिथ्यात्व—सहित रागभाव से, अपना मानकर विषय
कषायको पुष्टि के लिये जिस वस्तुको रखा जाता है उसे परिग्रह करते
हैं । ऐसे परिग्रह का अल्प या बहुत रखनेका निषेध किया है । संयम,
शुचि और ज्ञानके उपकरणों का निषेध संभव नहीं है । शरीर, इच्छा
करने पर भी आयुर्धर्यन्त छूट नहीं सकता है इसलिये उसके ममत्व भावके
त्यागका ही उपदेश दिया है । यही शरीर रूप परिग्रह का छोड़ना है ।
जब तक शरीर है तब तक उसकी स्थिरता के लिये आहार आवश्यक
है, अतः उसका सर्वथा त्याग नहीं हो सकता । संयम का साधन शरीर
से होता है और शरीर की स्थिरता आहार से होती है, अतः चरणा-
नुयोगके अनुसार शुद्ध आहार मूनि ग्रहण करते हैं । मयूर-पिङ्चु संयमका
उपकरण है उसके बिना जीव जन्मत्रों की रक्षा नहीं हो सकती, अतः
उसे ग्रहण करना आवश्यक बताया है । कमण्डल शुचिता का कारण है
उसके बिना मल मूत्रादि विसर्जन के समय शरीर की शुद्धि नहीं हो सकती

गृह्णात्यर्थवद्वकं वा निजोदरपोषणबुद्धया च । (ततो पुण जाइ निगोदं) ततः पुनर्याति निगोदं प्रशंसनीयगति न गच्छतीत्यर्थः ॥ १८ ॥

और शारीरकी शद्दि के बिना शास्त्रका स्पर्श वर्जित होने से स्वाध्याय भी नहीं बन सकता, अतः कमण्डल रखना मुनिके लिये आवश्यक है । अब रहा शास्त्र सो यह ज्ञानका उपकरण है, अतः इसे मुनि साथ रखते हैं इतना अवश्य है कि स्वाध्याय पूर्ण हो जाने पर वे उसे बिना किसी ममत्व भावके छोड़ देते हैं तथा एक दो-सोमित शास्त्र ही साथ रखते हैं । विशिष्ट अध्ययन के लिये मन्दिर या सरम्बती भवन आदिके अनेक शास्त्रोंका भी उपयोग होता है परन्तु उनके प्रति स्वामित्वका भाव न होने से वे परिग्रह की कोटि में नहीं आते ।

प्रश्न—मुनि के लिये परिग्रह त्यागका जो उपदेश है, वह उत्सर्ग मार्ग है परन्तु अपवाद मार्गमें वस्त्रादिक उपकरण रखे जा सकते हैं, ऐसा जैनाभास का कहना है । वे कहते हैं कि जिस प्रकार पीछी कमण्डल और शास्त्र धर्मोपकरण हैं उसी प्रकार वस्त्रादिक भी धर्मोपकरण हैं । जिस प्रकार आहारके द्वारा क्षुधाकी बाधा मेटकर शरीर द्वारा संयमका साधन किया जाता है उसी प्रकार वस्त्रादिके द्वारा शीत आदिकी बाधा दूर कर संयमका साधन किया जाता है, अतः वस्त्र और आहारादि परिग्रहमें कोई विशेषता नहीं है ?

समाधान—विशेषता क्यों नहीं है ? शरीर को स्थिरताके लिये जिस प्रकार आहार अपरिहार्य है उस प्रकार वस्त्रादि अपरिहार्य नहीं है । वस्त्रादिके बिना मनुष्य जीवित रह सकता है परन्तु आहार के बिना नहीं रह सकता, अतः वस्त्रादिक और आहारको समानता नहीं है । वस्त्रका ग्रहण मनुष्य अपना विकार भाव छिपाने के लिये करता है, अतः जिसके विकार भावकी संभावना है उसे वस्त्र धारण कर गृहस्थके वेषमें ही रहना चाहिये परिग्रह-त्यागीका उत्कृष्ट वेष रख कर अपनी दुर्बलता को छिपाने के लिये अपवाद मार्ग की कल्पना करना उचित नहीं है । फिर अपवाद मार्ग तो वह है जिसके अपनाने पर भी मुनिपद की रक्षा नहीं रहे किन्तु इसके विपरीत जिसके अपनाने पर मुनि पद ही छूट जाय वह अपवाद मार्ग कैसा ? जिनागम में सब प्रवृत्ति को छोड़ व्यानस्थ हो शुद्धोपयोग में लौन होने की उत्सर्ग मार्ग कहा है और दिग्म्बर मुद्रा रख कर पीछी कमण्डल सहित आहार विहार तथा उपदेशादिक में प्रवृत्ति

जस्त परिग्रहग्रहणं अप्य बहुयं च हवइ लिगस्त ।

सो गरहित जिणवयणे परिग्रहरहिओ निरायारो ॥१९॥

यस्य परिग्रहग्रहणमल्पं बहुकं च भवति लिगस्य ।

स गहणीयो जिनवचने परिग्रहरहितो निरायारः ॥१९॥

(जस्त परिग्रह ग्रहण) यस्य मुनेः श्वेताम्बरादिः परिग्रहग्रहणं शासने भवति (अप्य बहुयं च हवइ लिगस्त) अल्प—अद्वैफालिकादिकं 'बहुयं—चतुर्विशत्या-वरणादिकं भवति लिङ्गस्य कपटकपटसितपटादेवये । (सो गरहित जिणवयणे) वल्लिङ्गं स वेषो निन्दितोऽप्रशंसनीयो भवति । क्व ? (जिणवयणे)—श्रीवद्घमान-गौतमादिप्रतिपादितसिद्धान्तशास्त्रे । तथा चोक्तं समन्तभद्रेण गुरुणा—

त्वमसि सुरासुरमहितो ग्रन्थिकसत्वाशयप्रणामामहितः ।

लोकत्रयपरमहितोऽनावरणज्योतिरुज्ज्वलधामहितः ॥

करने को अपवाद मार्ग बताया है । इसके विपरीत अन्य अपवाद मार्गकी कल्पना करता शास्त्र-सम्पत्त नहीं है ।] ॥१८॥

ग्राहणं—जिस वेषमें थोड़ा या बहुत परिग्रह का ग्रहण होता है वह निन्दनीय है क्योंकि जिनवचन में परिग्रह रहित को ही मुनि बताया है ॥ १९ ॥

विशेषार्थं—जिस श्वेताम्बर आदि मुनिके परिग्रहका ग्रहण बताया है तथा जिस कपट कपट या श्वेताम्बर आदिके वेष में अद्वैफालादिक अल्प तथा चतुर्विशतिआवरणादिक अधिक परिग्रह पाया जाता है वह वेष श्री भगवान् महावीर और गौतम आदि गणधरों के द्वारा प्रतिपादित शास्त्रमें निन्दनीय कहा गया है । जैसा कि समन्तभद्र गुरु ने कहा है ।

स्वमसि—हे वीर जिन ! आप सुरों तथा असुरोंसे पूजित हैं, किन्तु परिग्रही प्राणियों के हृदय से प्राप्त होने वाले प्रणाम से पूजित नहीं हैं । आप तीनों लोकोंके प्राणियोंके लिये परम हित रूप हैं, आवरण—रहित केवलज्ञान रूप ज्योति से सहित हैं तथा दैदोष्यमान तेज से हितकारी हैं ।

यही 'ग्रन्थिकसत्व' शब्दसे श्वेताम्बरों का ग्रहण करता चाहिये क्योंकि प्रभाचन्द्र ने क्रियाकलाप की टीका में ऐसी ही व्याख्या की है । उन श्वेताम्बरों में श्वेताम्बराभास लीका गच्छ के साथ अत्यन्त निन्द्य हैं

१. बहुयं च म० ।

२. स्वयंभूसोत्रे समन्तभद्रस्य ।

अत्र यन्थिकसत्त्वा: सितपटा: प्रभ इच्छेण क्रियाकलापटीकायां व्याख्याताः, सितपटाभासास्तु -लोकायतिका अतीव नित्या। अशौचश्चवहारोऽधिष्ठानभो-जित्वात् । (परिग्रहरहितो निरायारो) परिग्रहरहितो हि मुनिनिरागारोऽनगाते यतिभवति यस्मात्कारणादिति शेदः ॥१९॥

पञ्चमहव्ययजुत्तो तिर्हि गुर्जिर्हि जो स संजदो होई ।

णिर्गन्धमोक्षमभगो सो होदि हु बंदणिज्जो य ॥२०॥

पञ्चमहाव्रतयुक्तः तिसृभिगुण्ठभिर्यः स संयतो भवति ।

निर्गन्धमोक्षमार्गः स भवति हि बन्दनोयश्च ॥२०॥

(पञ्चमहव्ययजुत्तो) पञ्चमहाव्रतयुक्तः प्राणातिपातानृतादत्तपरिग्रहरहितः पुमान् पञ्चमहाव्रतयुक्त उच्यते । यस्तु स्तोकमणि परिग्रहीत करोति सोऽणुवतः

क्योंकि वे नीच लोगोंके भी उच्छिष्ट अन्नको ग्रहण कर लेते हैं । यथार्थ में परिग्रहरहित मुनि ही मुनि कहलाते हैं ।

[भगवान् महावीर स्वामी स्वयं निर्गन्ध थे तथा साधुओंके लिये उन्होंने निर्गन्ध वेषका ही प्रतिपादन किया था परन्तु कालदोष से मुनियों के निर्गन्ध वेष में धीरे-धीरे ग्रन्थ-परिग्रह का प्रवेश होता गया । सर्व प्रथम अद्विकालिक रूप से मुनियोंमें परिग्रहका प्रवेश हुआ अर्थात् कुछ मुनि आहार के लिये जब नगरोंमें जाते थे तब कटिसे नीचे का भाग एक वस्त्र से आच्छादित कर लेते थे, आहार के बाद उसे अलग कर देते थे । इन साधुओं को कपटकर्णट कहा है । इसके अनन्तर कुछ मुनि स्पष्ट रूप से श्वेत वस्त्र धारण करने लगे, वे सितपट या श्वेताम्बर कहे जाने लगे । ये साधु होकर भी वस्त्र पात्र तथा दण्ड आदि परिग्रह रखने लगे । आगे चल कर इन्हीं श्वेताम्बरोंमें लौका गच्छ के साधु हुए जो सितपटा-भास या श्वेताम्बराभास कहलाते थे इनका आचार प्रशस्त नहीं था । श्री कुल्दकुन्द स्वामी ने परिग्रही जीवों का सामान्य उल्लेख करते हुए कहा है कि जिस लिङ्ग-साधु के वेष में थोड़ा या बहुत परिग्रहका ग्रहण है वह वेष गर्हणीय है अप्रशंसनीय है क्योंकि जिनागम में साधु को परिग्रह रहित ही बताया है ।] ॥ १९ ॥

गायार्थ—जो पाँच महाव्रत और तीन गुप्तियोंसि सहित है वही संयत-सयमी-मुनि होता है और जो निर्गन्ध मोक्षमार्ग को मानता है वही बन्दना करनेके योग्य है ॥ २० ॥

सगारोऽप्तो या कर्यते । तेन वस्त्रादी परिग्रहे सति तत्र युकालिकावयस्त्रीमित्या
जीवा उत्पद्यते । यदि ततोऽपनीयान्यत्र क्षिप्यन्ते ततो छियन्ते कावं प्राणातिपात-
करहितो निरागारो भवति । अलमिति विस्तरेण, परिग्रहवान् भवावती न भवति ।
(तिहि गुतिहि जो संजदो होइ) तिसुभिगुप्तिभियुक्तो यो मुनिः संयतः
संयमवान् भवति । (णिग्रथ मोक्षमार्गो) निर्गन्धमोक्षमार्गं या मन्यते । (सो
होडि हु वंदणिज्जो) स भवति हुस्कुटं वत्वनीयः । (यः) सगन्धमोक्षमार्गं मन्यते
स मिथ्यादृष्टिर्जनाभासश्चावन्दनीयो भवतोति भावार्थः ॥ २० ॥

तुइर्यं च उत्तलिगं उष्मिकदुःखिरसावयाणं च ।

भिक्खुं भमेहु पत्तो समिदिभासेण मोणेण ॥ २१ ॥

द्वितीयं चोक्तं लिङ्गमुत्कृष्टमवश्चावकाणात्तच ।

भिक्षां भ्रमति पात्रः समितिभाषेण मौनेन ॥ २१ ॥

विशेषार्थ—जो पुरुष, प्राणातिपात-हिसा, अनुत-जसस्यभाषण,
अदत-बोरी, सुरत-स्त्रोतमोग और परिग्रह-अन्तरञ्ज बहिरञ्ज परिग्रह
इन पाँच पापों से सर्वथा विरत होता है वह पञ्चमहावतका धारी
कहलाता है । इसके विपरीत जो थोड़ा भी परिग्रह स्वीकृत करता है
वह अणुवती गृहस्थ अथवा अद्रता कहलाता है । जब साधु वस्त्र आदि
परिग्रहको स्वीकृत करता है तब उन वस्त्र आदि में चीलर तथा जुए
आदि त्रिनिदिय जीव उत्पन्न हो जाते हैं । यदि उन जीवोंको वस्त्र आदि
से अलग करके दूसरे स्थान पर डाला जाता है तो वे मर जाते हैं और
उनके मरने पर साधु हिसासे रुहित कैसे हो सकता है ? अधिक विस्तार
से क्या लाभ है, संक्षेपसे यही समझना चाहिये कि परिग्रही मनुष्य भवा-
दती नहीं हो सकता । कायगुप्ति, वचनगुप्ति और मनोगुप्ति ये तीन
गुप्तियाँ हैं । जो मुनि ऊपर कहे हुए पाँच महावतों तथा तीन गुप्तियोंसे
युक्त होता है वह संयमी कहलाता है । साथ ही जो मुनि निर्गन्ध-
निष्परिच्छ ह अवस्था को ही मोक्षमार्ग मानता है वह स्पष्ट रूप से वन्दना
करनेके योग्य है । इसके विपरीत जो सगन्ध-सपरिग्रह अवस्थाको
मोक्षमार्ग मानता है वह मिथ्यादृष्टि है, जीनाभास है तथा वन्दना के
अयोग्य है ॥ २० ॥

गाथार्थ—दूसरा लिङ्ग उत्कृष्ट आवकोंका कहा गया है । यह
उत्कृष्ट श्रावक भिक्षाके लिये भ्रमण करता है, पात्र सहित होता है
१. पंडित जगद्वन्दजी ने अपनी गाथा वचनिकामें परो पाठ स्वीकृत किया है ।

(दुइं पूर्वलिङ्गं) छितीयं चोक्तं लिङ्गं वेषः । (उक्तिकृष्टं अवरशाव्यार्णं च) उत्कृष्टं लिङ्गमवरशाव्यावकाणां चागृहस्थश्चावकाणाम् । सोजवशावकः । (भिक्षकं भमेह पत्तो) भिक्षां भ्रमति पाशसहितः कम्भोजी वा । (समिदिभासेण मोणेण) ईयासमितिसहितः मौनवार्षिच, उत्कृष्टश्चावको दशमैकादशप्रतिमा: प्राप्तः । उक्तञ्च 'समन्तभद्रेण यतिना ।

आद्यास्तु बहुजाधार्याः स्फुर्मध्यमास्तदनु ऋयः ॥ १ ॥
शेषी द्वावुत्तमावुक्ती जेनेषु जिनशासने ॥ १ ॥
एकावशके स्थाने ह्युत्कृष्टः श्चावको भवेद् द्विविधः ।
वस्त्रैकधरः प्रथमः कौपीनपरिग्रहोऽन्यस्तु ॥ २ ॥

अथवा हाथ में भी भोजना करता है और भिक्षाके लिये ऋमण करते समय भाषासमिति रूप बोलता है अथवा मौन रखता है ॥ २१ ॥

विशेषार्थ—मुनिलिङ्ग के सिवाय दूसरा लिङ्ग उत्कृष्ट श्चावकका कहा गया है । प्रतिमाओंकी अपेक्षा श्चावकोंके धारक भेद हैं उनमें प्रारम्भ की छह प्रतिमाओं के धारक मनुष्य गृहस्थ श्चावक कहलाते हैं और आगे की पाँच प्रतिमाओंके धारक अगृहस्थ श्चावक माने जाते हैं । अगृहस्थ श्चावकोंमें दशवीं और ग्यारहवीं प्रतिमाके धारक उत्कृष्ट श्चावक कहलाते हैं । परन्तु दशमप्रतिमाधारी श्चावकका कोई लिङ्ग-वेषनहीं होता अतः यहीं उत्कृष्ट श्चावक से ग्यारहवीं प्रतिमा के धारक का ही प्रहृण समझना चाहिये । ग्यारहवीं प्रतिमा का धारक उत्कृष्ट श्चावक-सुलक्षक अथवा ऐलक भिक्षा के लिये ऋमण करता है यह पात्र से सहित होता है अथवा पात्र में भोजन करता है और ऐलक की अपेक्षा हस्त पुटमें ही भोजन करता है । मूल गाथा के अनुसार भाषा समितिसे बोलता है अथवा मौन पूर्वक ऋमण करता है । परन्तु संस्कृत टीका के अनुसार यह उत्कृष्ट श्चावक ईर्यां समिति से चलता है और मौन रख कर ही ऋमण करता है । श्चावकोंके भेदों-का वर्णन करते हुए श्री महाकवि समन्तभद्र (?) सोमदेव ने कहा भी है—

आद्यास्तु—जिन शासन में प्रारम्भ के छह श्चावक जघन्य, उसके बादके तीन श्चावक मध्यम तथा अन्त के दो श्चावक उत्तम कहे गये हैं ॥ १ ॥

एकावशके—ग्यारहवीं स्थान में जो उत्कृष्ट श्चावक है वह दो प्रकार

कीपीनोऽसी रात्रिप्रतिमायोगं करोति नियमेन ।

सोङ्ग पिञ्जं धूत्वा भुड्क्ते हुपविषम पाणिपृष्ठे ॥ ३ ॥

बीरचर्चर्या च सूर्यप्रतिमा त्रैकाल्ययोगनियमश्च ।

सिद्धास्तरहस्यादिष्वद्ययनं नास्ति देशविरतानाम् ॥ ४ ॥

लिंगं इत्थीणं हवदि भुजइ पिङ्डं सुएयकालमिम् ।

अज्जिय चि एकवत्त्वा वस्त्रावरणेण भुजइ ॥ २२ ॥

लिङ्गं स्त्रीणां भवति भुड्क्ते पिङ्डं स्वेककाले ।

आर्यापि एकवस्त्रा वस्त्रावरणेन भुड्क्ते ॥ २२ ॥

(लिंगं इत्थीणं हवदि) तृतीयं लिङ्गं वेषः स्त्रीणां भवति । (भुजइ पिङ्डं सुएयकालमिम्) भुड्क्ते पिण्डमाहारं सुषु निष्वलत्या एककाले दिवसमध्ये एकवारण् । (अज्जिय चि एकवत्त्वा) आर्यापि एकवस्त्रा भवति अपि शब्दात्

का होता है १ क्षुल्लक और ऐलक । पहला एक वस्त्र तथा कीपीन को धारण करता है और दूसरा कीपीनमात्र ही रखता है ॥ २ ॥

कीपीनोऽसी—मात्र कीपीन को धारण करने वाला ऐलक रात्रि में प्रतिमा योग धारण करता है, नियम से केशलोच्च करता है, पीछी रखता है और बैठ कर हस्तभृष्टमें आहार करता है ॥ ३ ॥

बीरचर्चर्या—बीर चर्चर्या-मुनियों की तरह चर्चकि लिये तिकलना, सूर्य प्रतिमा-दिन में तगन होकर प्रतिमायोग धारण करना, शीत, उष्ण और ग्रीष्म ऋतुमें योगधारण करना और सिद्धान्त तथा प्रायशिच्छा आदि शास्त्रोंका अध्ययन करना श्रावकों के लिये निषिद्ध है ॥ ४ ॥ ॥ २१ ॥

गायार्थ—तीसरा लिङ्ग स्त्रियों का है इस लिङ्ग को धारण करने वाली स्त्री दिनमें एक ही बार आहार प्रहृण करती है । वह आयिका भी हो तो एक ही वस्त्र धारण करे और वस्त्र के आवरण सहित शोजन करे ॥ २२ ॥

विशेषार्थ—स्त्रियोंमें उत्कृष्ट वेषको धारण करने वाली आयिका और क्षुल्लिका दो हैं । दोनों ही दिन में एक बार आहार लेती हैं । आयिका मात्र एक वस्त्र-सोलह हाथ की एक सफेद साढ़ी रखती है और अपि शब्दसे ज्वनित होता है कि क्षुल्लिका एक साढ़ी के सिवाय एक बोढ़ने की चददर भी रखती है । शोजन करते समय एक साढ़ी रख कर

क्षुलिकापि संव्यानवस्त्रेण सहिता भवति । (वस्त्रावरणे भुजेह ।) अोजनकाले एक शाटकं घृता भुज् बते संव्यानमुपरिसनवस्त्रमुतार्य भोजनं कुर्यादित्ययः ॥२२॥
ण वि सिज्जइ वस्त्रधरो जिणसासणे जह वि होइ तित्ययरो ।
णग्गो विमोक्षमग्गो सेसा उम्मग्या सध्ये ॥२३॥

नापि सिद्धति वस्त्रधरो जिनशासने यद्यपि भवति तीर्थकरः ।

नग्गो विमोक्षमाग्गः शेषा उन्मार्गकाः सर्वे ॥२३॥

(ण वि सिज्जइ वस्त्रधरो) नापि सिद्धति तैव सिद्धिमात्मोपलब्धिलक्षणं मुक्तिं लभते वस्त्रधरो मुनिः । (जिणसासणे वह कि होइ तित्ययरो) जिनशासने श्रीवर्धमान-स्वामिनो भते यद्यपि भवति तीर्थकरः तीर्थकरपरमदेवोऽपि यदि भवति । गर्भावितारादि-पञ्चकल्याणकानपि सिद्धो न भवति, आस्तां तावदन्यो-जनगार केवल्यादिकः । (णग्गो विमोक्षमग्गो) नग्गो वस्त्राभरणरहितो विमोक्ष-

हो दोनों भोजन करती हैं । अर्थात् आर्यिका के पास तो एक साड़ी है पर क्षुलिका ऊपर का वस्त्र (चद्दर) उतार कर भोजन करती है ॥२२॥

गाथार्थ—जिन शासन में कहा है कि वस्त्रधारी पुरुष सिद्धि को प्राप्त नहीं होता भले हो वह तीर्थकर भी क्यों न हो ? नग्ग वेष ही मोक्ष-मार्ग है शेष सब उन्मार्ग हैं, मिथ्या मार्ग हैं ॥२३॥

विशेषार्थ—श्री अन्तिम तीर्थकर श्रीवर्धमान स्वामी के मत में कहा गया है कि यदि तीर्थकर भी हो अर्थात् गर्भावितरण आदि पञ्च कल्याणकों के धारक तीर्थकर परम देव भी हों तो भी वस्त्र के धारक मुनि स्वात्मोपलब्धि रूप लक्षणसे मुक्त-सिद्धि को प्राप्त नहीं हो सकते । जब तीर्थकर भी सबस्त्र अवस्था में सिद्ध नहीं हो सकते तब अन्य अन्तगार केवली आदिकी बात तो दूर ही रही । वस्त्राभूषणसे रहित नग्ग वेष ही विशिष्ट मोक्षका मार्ग है ऐसा जानना चाहिये । शेष इवेताम्बरादिकों के मत उन्मार्ग रूप हैं, निन्दनीय हैं और मिथ्यारूप हैं, ऐसा विद्वानोंको जानना चाहिये ॥२३॥

[तीर्थकर भगवान् नियम से मोक्षगामी हैं परन्तु जब तक वे गृहस्थ अवस्था में रहते हैं—वस्त्राभूषण आदि परिग्रह धारण करते हैं तब तक मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकते । जब तीर्थकर-जैसे महापुरुषों को भी मोक्ष-प्राप्ति के उद्देश्य से नग्ग होना पड़ता है—समस्त परिग्रह का त्याग करना पड़ता है, तब साधारण पुरुषों की तो बात ही क्या है ? नग्ग होना बाह्याभ्यन्तर परिग्रह के त्याग का उपलक्षण है, बतः परिग्रह के रहते

मार्गः शातव्यः । (सेसा उम्मग्या सब्दे) शीषाः सितपटादीनां मार्गः सर्वेऽपि
उम्मार्गकाः कुत्सिता मिष्याद्यपा भागी—जानीया विद्वद्भिः रित्यर्थः ॥ २३ ॥

लिङ्गमिम् य इत्थीणं यथाणंतरे णाहिकक्षादेसेसु ।

भणिओ सुहुमो काओ तासं कहु होइ पञ्चज्ञा ॥२४॥

लिङ्गे च स्त्रीणां स्तनान्तरे नाभिकक्षादेशेषु ।

भणितः सूक्ष्मः कायस्तासां कर्त्त भवति प्रवञ्चया ॥२४॥

(लिङ्गमिम् य इत्थीणं) लिङ्गे धूनिमध्ये स्त्रीणां योषिताम् । (यथाणंतरे णाहिकक्षादेसेसु) स्तनान्तरे द्वयोः स्तनयोमध्ये वक्षः प्रदेशे, नाभिकक्षादेशेषु नाभो
सुन्दिकायां, कक्षादेशयोदीशाः_मूलयोदीयोः_स्थानयाः (भणिओ सुहुमो काओ)
भणित आगमे प्रतिपादितः, कोऽसी भणितः ? सूक्ष्मः कायः सूक्ष्मजीवशरीर
जोचनाद्यगोचरः सूक्ष्मः पञ्चेन्द्रियपर्यन्तो जीववर्गः (तासं कहु होइ पञ्चज्ञा)
तासां स्त्रीणां कर्त्त भवति प्रवञ्चया दीक्षा अपि तु न भवति । पदि प्रवञ्चया न
भवति तहि कर्त्त पञ्च महावतानि दीपते ? सत्यमेतत् सज्जाति शापनार्थं महा-
वतानि उपचर्यन्ते स्थापना न्यासः क्रियते इत्यर्थः । तथा चोक्तं शुभ्रचन्द्रेण
महाकविना—

हुए मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं है । इतना स्पष्ट होते हुए भी जो द्वेता-
म्बर, सबस्त्र सुवित मानते हैं उनका बैसा मानना उन्मार्ग ही है ।]

गाथार्थ—स्त्रियों की योनि में, स्तनों के बीच में, नाभि और काँख
में सूक्ष्म शरीर के धारक जीव कहे गये हैं अतः उनके दीक्षा कैसे हो
सकती है ॥२४॥

चित्तोषार्थ—स्त्रियों के लिङ्ग अर्थात् योनि में, दोनों स्तनोंके बीच
वक्ष-स्थलमें, नाभि और बहुमूल में सूक्ष्म-दृष्टि-अगोचर पञ्चेन्द्रिय पर्यन्त
तक के जीव आगम में कहे गये हैं । अतः उनके दीक्षा नहीं हो सकतो है ।

प्रश्न—यदि स्त्रियोंके दीक्षा नहीं होती तो उन्हें पञ्च महावत क्यों
दिये जाते हैं ?

उत्तर—यह सत्य है किन्तु सज्जाति को बतलाने के लिये महावतोंका
उपचार होता है, यथार्थ में महावत न होने पर भी उनकी स्थापना की
जाती है ।

—‘मैयुनावरणे मूढ़ ! ज्ञियन्ते जन्तुकोट्यः ।
योनिरक्षसमुत्पन्ना लिङ्गसंबृद्धीवित्ताः ॥१॥

किमन्तो जन्तुओ ज्ञियन्ते इति चेत् ? वाते वाते असंख्येयाः कोट्यः । “वाए
वाए असंख्येज्ञा” इति वचनात् ।

‘जइ दंसणेण सुद्धा उत्ता मरणेण सा वि संजुत्ता ।
घोरं चरिय चरित्तं इत्थोसु ण पद्धया भणिया’ ॥२५॥

यदि दर्शनेन शुद्धा उक्ता मार्गेण सापि संयुक्ता ।
घोरं चरित्वा जास्तिं द्वीषु न इत्यथा गणिता ॥२६॥

जेसा कि महाकवि शुभचन्द्र ने कहा है—

मैयुनावरणे—अरे मूळं प्राणो ! स्त्रियों के साथ मैयुन करने में उनके
योनिरूप छिद्र में उत्पन्न हुए करोड़ों जीव लिङ्ग के आघात से पीड़ित
होकर मरते हैं ।

प्रश्न—कितने जीव मरते हैं ?

उत्तर—प्रत्येक आघात में असंख्यात करोड़ । क्योंकि आगमका
वचन है ‘वाए वाए असंख्येज्ञा’ अर्थात् लिङ्ग के प्रत्येक आघात में असं-
ख्यात करोड़ जीव मरते हैं ॥२४॥

गाथार्थ—यदि स्त्री सम्यगदर्शनसे शुद्ध है तो वह भी मार्ग से युक्त

१. ज्ञानार्थे शुभचन्द्रस्य ।

२. ग प्रती एवं ठिष्णी वतते—‘यदि दर्शनेन सम्यक्त्वेन शुद्धा निर्मला सा स्त्री
मार्गे संयुक्ता उक्ता कथिता घोरं उपा चरित्रं चरित्वा आशयित्वा, स्त्रीषु
निःपापा भणिता’ ।

पं० जयचन्द्र जी ने भी हिन्दी वचनिकामें ‘पावया’ की छाया ‘पापका’
स्वीकृत कर गाथाका यह अर्थ किया है—

स्त्रीनि विषें जो स्त्री, दर्शन कहिये परायं जिनमत की श्रद्धा करि शुद्ध है
सो भी मार्गकर संयुक्त कही है । जो घोर चारित्र तीव्र तपश्चरणादिक
आचरण कर पापतीं रहित होय है ताते पाप-युक्त न कहिये । भावार्थ-
स्त्रीनि विषें जो स्त्री सम्यक्त्व करि सहित होय और तपश्चरण करे तो
पाप-रहित होय स्वर्ग कूँ प्राप्त होय ताते प्रशंसा प्रोग्य है अर स्त्री पर्याप्त
है मोक्ष नाहीं ।

(यश दंषणेण सुदा) यदि वर्णनेन सम्यक्त्वरत्नेन शुदा निर्भला भवति ।
 (उत्ता यमोण सा वि संजुता) तदा मार्गेण सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणेम सापि
 स्त्री च संयुक्ता भवति-पञ्चमगुणस्थानं प्राप्नोति, स्त्रीलिङ्गं छित्ता स्वगर्थे
 देवो भवति, तत्रच्चपुत्रा भनुष्यभवमृतमं प्राप्य मोक्षं लभते । उक्तं च
 सम्यग्दर्शनसंशुद्धमपि मातङ्गदेहजम् ।
 देवा देवं विदुर्भेस्यगूडाङ्गारात्तरौर्जसम् ॥
 अविय वशो जीवाणं मेहृणसण्णाए होदि बहुगावं ।
 तिलणालीए तत्त्वायसम्बवेसो व्य जोणीए ॥३५॥

त्रैलोक्यप्रज्ञनि ४ अ०

हिस्यन्ते तिलनात्यां तप्तायसि दिनिहिते तिला यद्यत् ।

बहुवो जीवा योनी हिस्यन्ते मैथुने तद्यत् ॥१०८॥

पृष्ठार्थ०

कही गई है । वह कठिन चारित्रका आचरण करके स्वर्ग में उत्पन्न होती है, अतः स्त्रियों के दीक्षा नहीं कही गई है ॥२५॥

विदोवार्थ—यदि स्त्रो सम्यग्दर्शन स्त्री रत्न से शुद्ध है तो वह सम्यग्दर्शन-सम्यक्ज्ञान और सम्यक्त्वारित्र स्त्री मार्ग से युक्त होती हुई पञ्चमगुणस्थान को प्राप्त होती है तथा स्त्रीलिङ्गं छेद कर स्वर्ग के अग्रभाग में देव होती है, वहां से च्युत होकर उत्तम मनुष्य भव प्राप्त कर मोक्ष को प्राप्त होती है । जैसा कि कहा है—

सम्यग्दर्शन—सम्यग्दर्शन से शुद्ध चाण्डालको भी गणधरादिक देव, भस्म से छिपे हुए अङ्गार के समान अस्यन्तर तेजसे युक्त देव कहते हैं ।

स्त्री यदि स्वर्ग भी जाती है तो स्त्री लिङ्गं को प्राप्त नहीं होती । यह मी महाकवि समन्तभद्र ने कहा है—

३. 'यमिभिर्जन्म निविष्णीदूषिता यद्यपि स्त्रियः ।

तथाप्येकान्तरस्तासा विद्यते नाथसंभवः ॥५६॥

ननु सन्ति लोकलोके कारित्यच्छुमशीलसंयमोपेताः ।

निजवशालिककभूताः शूतसत्यसमान्विता नार्यः ॥५७॥

सतीत्वेन महत्वेन वृत्तेन विनयेन च ।

विवेकेन स्त्रियः करस्तिदृ भूषयन्ति भरातरलम् ॥५८॥

शास्त्रार्थके शुभवन्दिस्य

स्वर्गेऽपि गताः पुनः स्त्रीलिङ्गं न लभते । तदप्युक्तं समन्तभद्रेण महाकविना—
 'सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिथंडनपुंसक स्त्रीस्तानि ।
 दुष्कुलविकृताल्पायुर्दित्तां च द्रजस्ति नाप्यव्रतिकाः ॥१॥'

(घोरं चरितं चरितं) घोरं कातरजनभीतिजनकं चरितं चरित्या बोद्धासु
 स्वर्गेष्वन्यतम स्वर्गं यान्ति अहमिन्द्रकमपि स्त्रीभवे न लभन्ते कथं मोक्षं स्त्रीभवे
 प्राप्नुवन्ति । तेन कारणेन (हत्यासु ण पादया भणिया) स्त्रीषु न प्रवृत्या
 निवणियोग्या दीक्षा भणिता । हत्यनया गाथया सितपटानां मते स्त्रीमुक्तिप्राप्ति-
 लक्षणं —ैपरित्यक्तं भवति । मरुदेवी-आह्मी-सुन्दरी-यशस्वती-सुनन्दा-सुलोचना
 सीता-राजीमती-चन्दना-अनन्तमति द्रोपदीत्यादिकाः स्त्रियः स्वर्गं गता न सु
 शोषयिति ।

चित्तासोहि ण तेसि छिल्लं भावं तहा सहावेण ।

दिज्जदि मासा तेसि इस्थीसु ण संक्षया ज्ञाणं ॥२६॥

चित्ताशोधिनं तासां शिखिलो भावस्तथा स्वभावेन ।

दिवन्ते मासास्तासां स्त्रीषु नाशङ्क्या ज्ञानम् ॥२६॥

सम्यग्दर्शन शुद्धा—सम्यग्दर्शन से शुद्ध मनुष्य व्रत-रहित होने पर भी
 नरक, तिथंडन नपुंसक, स्त्री-पर्याय, नीच-कुल, विकलाङ्ग-बवस्था, अल्प
 आयु और दरिद्रता को प्राप्त नहीं होते ।

स्त्री, भोर—मनुष्य को मध्य उत्पन्न करने वाले चारित्रका
 आचरण करके सोलह स्वर्गों में से किसी स्वर्गं को प्राप्त होती है । स्त्रियों
 स्त्रीभव में जब अहमिन्द्रपद को प्राप्त नहीं कर सकतीं तब मोक्ष केसे
 प्राप्त कर सकती हैं ? इसी कारण से स्त्रियों में निर्वाण प्राप्ति के दोग्य
 दीक्षा नहीं कही गई है । इस गाथा से वेताम्बरीय स्त्री-मूक्तिमत का
 निराकरण हो जाता है । मरुदेवी, आह्मी, सुन्दरी, यशस्वती, सुनन्दा,
 सुलोचना, सीता, राजीमति, चन्दना, अनन्तमति तथा द्रोपदी आदि
 स्त्रियां स्वर्ग गई हैं, मोक्ष नहीं गई हैं ॥२५॥

गाथार्थ—स्त्रियोंके चित्तकी शुद्धता नहीं है, उनके परिणाम स्वभावसे
 ही शिखिल रहते हैं, प्रत्येक मासमें उनके शधिरस्त्राव होता है और निर्भयता
 पूर्वक उनके ज्ञान नहीं होता ॥२६॥

१. एलकरण्डआवकाशारे ।

२. प्रत्युक्तं म० क० ।

(चित्तासोहि णे तेसि) चित्तस्य ममसः वा समन्ताश्छोषितिमंलता न विद्यते ताथो स्त्रीणाम् । (छिल्ल भावं तदा सहावेष) शिथिलो भावः परिणामस्तथा स्वभावेन प्रकृत्यैव, कस्मिद्विच्छ्रुतावतिदार्ढ्यं न वर्तते । (विज्ञदि मासा तेसि) विद्यन्ते मासा—मासे मासे शब्दिरजावस्तासां स्त्रीणाम् । (इत्थीसु ण संक्या आण) स्त्रीषु न वर्तते, किं तत् ? अशाङ्क्या निर्भयतया व्यानमेकापचिन्तानिरोशलक्षण-मिति भावः । “लुक्ष” इति प्राकृतव्याकरणम् त्रेणाकारलोपः ।

गाहेण अप्पगाहा समूद्रसलिले सच्चेलअत्थेण ।

इच्छा जाहु णियत्ता ताह णियत्ताहं सध्यवुक्त्वाहं ॥२७॥

गाहेण अप्पगाहा समूद्रसलिले सच्चेलार्थेन ।

इच्छा येभ्यो निवृत्ता तेषां निवृत्तानि सर्वदुःखानि ॥२७॥

(गाहेण अप्पगाहा) गाहेण आहारादिना ये मूनयोऽस्पगाहाः स्तोकं गृह्णन्ति ।

(समूद्रसलिले सच्चेलअत्थेण) यथा समूद्रसलिले प्रचुरजलाशये सत्यपि सच्चेल-

विशेषार्थ—यहाँ स्त्रीको दीक्षा क्यों नहीं है । इसके कुछ अन्य कारणों पर प्रकाश डाला गया है । स्त्रीके मनमें सब और से शुद्धता का अभाव रहता है अर्थात् निर्मलता का पूर्ण अभाव रहता है । उसके परिणामोंमें स्वभाव से ढोलापन रहता है अर्थात् किसी वत आदि में उसके अत्यन्त वृद्धता नहीं रहती है । प्रत्येक मासमें शब्दिरजाव होता है तथा भीरुप्रकृति होनेके कारण निःशाङ्कूरूपसे एकापचिन्तानिरोध रूप लक्षणसे युक्त व्यान भी नहीं होता । गाथा में जो ‘ण संक्या’ पाठ है वहाँ ण अशाङ्क्या ऐसा पाठ समझना चाहिये क्योंकि ‘लुक्ष’ इस प्राकृत व्याकरण के अनुसार ‘असंक्या’ यहाँ पर अकारका लोप हो गया है ॥२६॥

गाथार्थ—जिस प्रकार समूद्रके समान बहुत भारी जलके विचामान रहने पर भी अपने वस्त्रको घोने की इच्छा करने वाला मनुष्य योद्धा ही जल ग्रहण करता है उसी प्रकार मुनि भी गृहस्थों के घर बहुत भारी सामग्री रहने पर भी अवश्यकताके अनुसार आहारादिकी अपेक्षा अल्प ही ग्रहण करते हैं । यथार्थ में जिनकी इच्छा दूर हो गई है उनके सब दुःख दूर हो गये हैं ॥२७॥

विशेषार्थ—जिस प्रकार प्रचुर जलाशयके रहते हुए भी अपने वस्त्र-को घोनेके लिये योद्धा ही जल लिया जाता है, अधिक जल ग्रहण से क्या प्रयोक्तन है ? अर्थात् कुछ नहीं । उसी प्रकार मुनि भी शावकों से आहार

प्रकालनार्थमलमेव जरु गृह्णते कि क्रियतेऽधिकजलग्रहणं । (इच्छा जाहु णियत्ता) इच्छा तृष्णा सोभलक्षणां येम्यो मुनिश्चो निवृत्ता गता । (ताह णियत्ताई सब्द-दुःखाइं) तेषां निवृत्तानि नष्टानि सर्वदुःखानि शारीरमानसागन्तुनि कष्टानि नष्टान्येव समीपतरसिद्धि-सुखसंभवादिति भावः ॥२७॥

इति श्री पद्मनन्दि कुन्दकुन्दाचार्यं वक्षथीवाचार्यैलाचार्यं गृद्धिच्छाचार्यं नामपञ्चकदिराजितेन श्री सीमन्धरस्वामि-ज्ञानसम्बोधित-भव्यजनेन श्री जिनचन्द्र-सूरि-भट्टारकपट्टारभरणभूतेन कलिकालसर्वज्ञेन विरचिते पद्माभृत ग्रन्थे सर्व-मुनिमण्डल-मण्डितेन कलिकालमीतस्वामिना श्री मल्लभूषणेन भट्टारकानुमतेन सकलविद्वज्जनसमाजसमानितेनोभयभाषाकविचक्रवितिना श्री विद्यानन्दि-गुरुवन्ते-पात्राना सूरिवर श्री श्रुतसागरं विरचिता सूत्रप्राभृतटीका समाप्तः ।

आदि अल्प पदार्थ ही प्रहण करते हैं, अधिक नहीं । वास्तव में जिनकी लोभ रूप इच्छा नष्ट हो चुकी है उनके शारीरिक, मानसिक और आगन्तुक समस्त दुःख नष्ट हो हो जाते हैं तथा मोक्ष मुखको प्राप्ति अत्यन्त समोप हो जातो है ॥२७॥

इस प्रकार श्री पद्मनन्दी, कुन्दकुन्दाचार्यं, वक्षथीवाचार्यं, एलाचार्यं और गृद्धिच्छाचार्यं इन पाँच नामोंसे सुशोभित, सीमन्धरस्वामीके ज्ञानसे अव्यजीवोंको सम्बोधित करने वाले, श्री जिनचन्द्रसूरि भट्टारकके पद्टके आमरणभूत, कलिकालके सर्वज्ञ कुन्दकुन्दाचार्यके द्वारा विरचित पद्माहुड ग्रन्थमें समस्त मुनियोंके समूह से सुशोभित कलिकाल के गौतमस्वामी श्री मल्लभूषण भट्टारक के द्वारा अनुपत, सकल विद्वत्समाज के द्वारा सम्मानित, उभय भाषा सम्बन्धी कवियों के चक्रवर्तीं श्री विद्यानन्द गुरुके द्विष्य सूरिवर श्री श्रुतसागर के द्वारा विरचित सूत्रप्राभृत की टीका सम्पूर्ण हुई ।



बोधप्राभृतम्

बहुसत्थ अत्थजाणे संज्ञससम्मतम् शुद्धतपश्चरणे ।

वंवित्ता आयरिए कसायमलवज्जिदे सुद्धे ॥१॥

सयलजणबोहणत्थं जिणमग्गे जिणवरेहि जह भणियं ।

बुच्छामि समासेण य - छक्कायहियंकरं सुणसु ॥२॥

बहुशास्त्रार्थायकान् संयमसम्यक्त्वशुद्धतपश्चरणान् ।

वन्दित्वाचायनि कषायमलवर्जितान् शुद्धान् ॥३॥

सकलजनबोधनार्थं जिनमार्गे जिनवैर्यथा भणितम् ।

वक्ष्यामि समासेन च षट्कायहितकरं शूणु ॥४॥

(बुच्छामि) वक्ष्यामि कथयिष्यामि । कः ? कसी अहे श्री कुरुकुन्दाचार्यः ।

कि तत् कमंतापन्नं ? (षट्कायहितकरं) षट्कायहितकरं पृथिव्यलेजोवायुवनस्प-

तिवसकायहितकारकं शास्त्रं बोधप्राभृताभिधानं शास्त्रं । केळ कृत्वा वक्ष्यामि ?

(समासेण) संक्षेपेण । (मुण्डु) शूणु त्वं हे भक्त ! “विष्यादिसु त्रयाणामेकत्र

गाथार्थ—मैं अनेक शास्त्र तथा उनके अर्थके ज्ञाता, सयम सम्यक्त्व और शुद्ध तपश्चरण के धारक, कषाय रूपो मलसे रहित तथा निर्मल आचार्यों को नमस्कार करके समस्त मनुष्यों को संबोधने के लिये जिनमार्ग में जिनेन्द्रभगवान् के द्वारा कहे अनुसार संक्षेप से छह कायके जीवोंका हित करने वाला “बोधप्राभृत” नामक ग्रन्थ कहूँगा, हे भव्य जीवो ! उसे सुनो ॥१-२॥

विशेषार्थ—बोधप्राभृत नामक ग्रन्थके मञ्जुलाचरण और प्रतिज्ञा—
वाच्यको कहते हुए कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि मैं उन आचार्योंको

दुसुयुश्च” इत्यनेन प्राकृतव्याकरणसूत्रेण हि स्याने सुरादेशः, बहुवचने तु पञ्चम्याः सुणह इत्येवं भवति मठ्यमस्य । कथंभूतं बोधप्राभूतं ? (जिनमार्गे जिनवरेहि जह भणियं) जिनमार्गे जिनशास्त्रे जिनवरैः केवलिभियंष्टा येन प्रकारेणायतनादि-भिर्भिर्णितं प्रतिपादितं । किमयं जिनैभिर्णितं ? (सयलज्जणबोहणत्वं) सर्वंभव्यजीव-सम्बोधननिमित्तं । कि कृत्वा पूर्वं वृच्छामि ? (वंदित्ता आपरिए) वग्नित्वाऽऽचार्यान् लृतीयपरमेष्ठिपदस्थान् गुरुन् । कथंभूतानाचार्यान् बहु सरण अत्य जागे अनेक शास्त्र ज्ञायकान् । पुनः कथंभूतानाचार्यान् (संज्ञम सम्मतंसुद्ध तवयरणे) संयमस्त्र चार्यत्वं, सम्यक्त्वं च सम्यग्दर्शनं, क्षुद्रं निरतिचारं, तपस्त्ररणं च द्वादशविधं तपो येषां ते संयमसम्यक्त्वशुद्धतपश्चरणास्तान् संयमसम्यक्त्वशुद्धत-पश्चरणान् । भूयोऽपि कथंभूतानाचार्यान् ? (कसायमलबजिज्ञे) क्रोष, मान, भाया, लोभ, लक्षणचतुर्भुक्त्यायमलबजिज्ञान् कषायोत्प्रपापरहितानित्यर्थः । अपरं कथंभूतानाचार्यान् ? (सुद्धे) शुद्धान् षट्क्रियशद्गुणप्रतिपालनेन निर्मलान् निष्पा-पात् । के ते षट्क्रियाद्गुणा इत्याह—

नमस्कार करके जो कि अनेक शास्त्र तथा उनके अर्थके ज्ञाता हैं, सम्यक्चारित्र, सम्यग्दर्शन और निरतिचार बारह प्रकारके तपके बारक हैं, कोष मान माया लोभ नामक चार कषाय रूपी मलसे रहित हैं और छत्तीस गुणोंके पालक होनेसे निर्मल हैं—निष्पाप है; समस्त भव्य जीवों को संबोधने के लिये बोधप्राभूत नामक ग्रन्थको संक्षेप से कहूँगा । यह ग्रन्थ पृथिवी, जल, अग्नि वा और बनस्पति इन पांच स्थानों तथा एक त्रस इस प्रकार छहकाय के जीवोंके लिये हितकारी है, तथा जिनमार्ग—जिनशास्त्र में केवलज्ञान से युक्त जिनेन्द्रभगवान् ने जैसा कहा है उसीके अनुसार कहा गया है । आचार्योंके छत्तीसगुण इस प्रकार हैं—

‘आचारवत्वादि आठ, स्थितिकल्प दश, तप बारह और आवश्यक छह, इस प्रकार कुल मिलाकर आचार्यके छत्तीस गुण माने गये हैं । संस्कृत टीकाकार ने ‘आचारवान्’ आदि इलोकोंमें उन्हों का नामोल्लेख किया है—

१. अष्टावाचारवत्वाद्यास्तपांसि द्रावश स्थितेः ।

कल्पा वशावस्यकानि षट् षट्क्रियशद्गुणः गुराः ॥७६॥

आचारवात् श्रुताधारः प्रायशिच्चत्तासनादिदः ।
आयापायकथी दोषाभाषकोऽशावकोऽपि च ॥१॥

आचारवात्—‘आचार्य’ को आचारवात्, श्रुताधार, प्रायशिच्चत्तद, आसनादिद, आयापाय-कथी, दोषाभाषक, अस्त्रावक और संतोषकारी होना चाहिये अर्थात् आचार्य में आचारवत्त्व, श्रुताधारत्त्व, प्रायशिच्चत्त-दातृत्त्व, आसनादि-दातृत्त्व, आयापायकथित्त्व, दोषाभाषकत्त्व, अस्त्रावकत्त्व और संतोषकारित्त्व ये आठ गुण होते हैं । इनका खुलासा इस प्रकार है—

१. **आचारवत्त्व**—दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य इन पाँच आचारों का स्वयं पालन करना तथा दूसरों से करना आचारवत्त्व गुण है ।

२. **श्रुताधारत्त्व**—जिसकी श्रुतज्ञान रूपी संपत्ति को कोई तुलना न कर सके उसे श्रुतधारी अथवा श्रुतज्ञानी कहते हैं । नौ पूर्व, दशपूर्व या छोटह पूर्वतकके श्रुत ज्ञानको अथवा कल्प व्यवहार के धारण करने को आधारवत्त्व कहते हैं ।

३. **प्रायशिच्चत्तद**—प्रायशिच्चत्त अष्टव्यक ज्ञानके रखने वाले को प्राय-शिच्चत्तद कहते हैं जिन्होंने अनेकबार प्रायशिच्चत्त को देते हुए देखा है और जिन्होंने स्वयं भी अनेक बार उसका प्रथोग किया हो, स्वयं प्रायशिच्चत्त ग्रहण किया हो अथवा दूसरेको दिलवाया हो वह प्रायशिच्चत्तद अर्थात् प्रायशिच्चत्तको देते वाला है । दूसरे ग्रन्थोंमें इस गुणको व्यवहारपट्टा कहा है ।

४. **आसनादिद**—प्रायविभूति-मरण करने में प्रवृत्त हुए साधक साधुओं को आसन आदि देकर जो उनकी परिचया करते हैं वे आसनादिद-आस-नादिको देनेवाले कहलाते हैं । इन्हें परिचारी अथवा प्रकारो कहते हैं ।

५. **आयापायकथी**—आलोचना करने के लिये उत्थात हुए क्षपक-समाधि-मरण करने वाले साधु के गुण और दोषों के प्रकाशित करने वाले को आयापायकथी कहते हैं । अर्थात् जो क्षपक किसी प्रकार का अतिचार आदि न लगाकर सरल मार्गोंसे अपने दोषों की आलोचना करता है उसके गुण को प्रशंसा करते हैं और आलोचना में दोष लगाने वाले के दोष बतलाते हैं, वे आय-लाभ और अपाय-हानि का कथन करने वाले हैं ।

६. **आचारी सुरिराधारी व्यवहारी प्रकारकः ।**

आयापायविभूतीङ्गोऽपरिशारी सुस्तावहः ॥७७॥

सन्तोषकारी साकुनां नियपिक इमेऽस्त च ।
‘दिगम्बरवेष्यनुहिष्टभोजी (जय) शश्वाशनीति च ॥२॥

६. दोषाभावक—दोष छिपाने वाले शिष्य से दोष कहलवाने की सामर्थ्य रखने वाले आचार्य को दोषाभावक कहते हैं। इसका दूसरा नाम उत्पीडक है। जिस प्रकार चतुर चिकित्सक ब्रण के भीतर छिपे हुए विकार को पोड़ित कर बाहर निकाल देता है उसी प्रकार आचार्य भी शिष्यके छिपाये हुए दोषको अपनी कुशलतासे प्रगट करा लेता है।

७. अस्त्रावक—जो किसी के गोप्य दोष को कभी-प्रगट नहीं करता वह अस्त्रावक है। जिस प्रकार संतप्त तबे पर यड़ी पानी की बैंद वहीं शुष्क हो जाती है इसी प्रकार शिष्य द्वारा कहे हुए दोष जिसमें शुष्क हो जाते हैं अर्थात् जो किसी दूसरे को नहीं बतलाते हैं, वे अस्त्रावक हैं।

८. संतोषकारी—जो साकुओं को संतोष उत्पन्न करने वाला हो अर्थात् क्षुधा, तृष्णा आदि की वेदना के समय हितकर उपदेश देकर साकुओं को संतुष्ट करता हो उसे संतोषकारी कहा है। इसका दूसरा नाम सुखा-वह भी है।

इस प्रकार नियपिक अर्थात् सल्लेखना करनेवाले आचार्यमें ये आठ गुण होते हैं। अब अगे स्थितिन्कर्त्य रूप दश गुणों को कहते हैं—

९. दिगम्बर—आचेलक्य—अथवा नगन मुद्राको धारण करने वाले हों उन्हें दिगम्बर कहते हैं। यह निष्परिश्रहता और निर्विकारता की परिचायक मुद्रा है।

१०. अनुहिष्ट भोजी—मुनियों के उद्देश्य से बनाये हुए भोजन पान को जो ग्रहण नहीं करता है वह अनुहिष्ट-भोजी है।

११. अशाद्यपादानी—वसतिका बनवाने वाला और उसका संस्कार करने वाला तथा वहाँ पर व्यवस्था आदि करनेवाला ये तीनों ही शास्त्र-

१. दिगम्बरोऽत्यनुहिष्ट म० ग० ।

२. आचेलक्यहेशिकश्यव्याघरराजकीयपिष्ठोजहाः ।

कुत्सिकशीतारोपणयोग्यत्वं ज्येष्ठता प्रतिक्रमणम् ॥८०॥

पासैकथासिता स्थितिकाम्पो योगश्व वार्षिको दशाभः ।

तन्त्रिष्ठः पृषुकोर्त्तिः क्षपर्क नियपिको विशेषयति ॥८१॥

—अनगारेषम्भूत लघ्वाय ९

^३अरागभुक् [वराजभुक्] क्रियायुक्ती वतवान् ज्येष्ठसदृगुणः ।

प्रतिक्रमी च पण्मासयोगी तदृढिनिष्ठकः ॥३॥

धर शब्द से कहे जाते हैं। जो शब्दा अर्थात् शब्दाधारके अशन-भोजनको ग्रहण नहीं करते उन्हें अशब्दाशनों कहते हैं।

१२. ^३अराजभुक्—जो राजाओं के धरमें भोजन ग्रहण न करता हो अथवा राजपिण्ड का त्यागी ^३हो उसे अराजभुक् कहते हैं।

१. आरोगभुक् म० ।

२. आरोगभुक् म० । आरागभुक् क० ।

३. राजपिण्ड त्यागका अभिप्राय अनगारथमीमुत में इस प्रकार स्पष्ट किया है—

—ऐसे वरोंमें यहां नाना प्रकार के भयंकर कुत्ते आदि जानवर स्वच्छन्त्र रूपसे फिरते रहते हैं उनके द्वारा उन वरों में प्रवेश करने पर संयमी का अपवात हो सकता है। मुनि के स्वरूप को देखकर वहां के थोड़े गाय भैस आदि पशु विजुक सकते हैं और विजुक कर स्वयं त्रासको प्राप्त हो सकते हैं अथवा दूसरों को भी त्रास दे सकते हैं। यद्वा संयमी को भी उनसे श्रास हो सकता है। गवं से उद्भत हुए वहां के नौकर चाकरों के द्वारा सावुका उपहास हो सकता है। अथवा महलों में रोककर रखी हुई और मैथुन संज्ञा—रमण करने को इच्छा से पौडित रहने वाली, यद्वा पुन आवि संतति की अभिलाषा रखने वाली स्त्रियां अपने साथ उपमोग करने के लिये उस संयमी को बद्धवस्ती अपने वरमें ले जा सकती हैं। सुवर्ण रत्न अथवा उनके बने हुए भूषण जो इधर उधर पड़े हों उनको कोई स्वर्य चुराकर ले जाय और हल्ला कर दे कि यहां पर मुनि आये ये और तो कोई आया नहीं। ऐसी अवस्था में मुनिके ऊपर चोरी का आरोप उपस्थित हो सकता है। यहां पर ये साधु आते हैं को कहीं ऐसा न हो कि महाराज इन पर विश्वास कर दें और इनको बातों में आकर राज्यको नष्ट कर दें, ऐसे विचारों से कोषादिक के वशीभूत हुए दीवान-मंत्री आदिके द्वारा संयमीका वष बंधादिक भी हो सकता है। इनके विवाय ऐसे स्थानों में आहारको विसृद्धि मिलना कठिन है, दूध आदि विकृति का तेवन और लोभवश अमूल्य रत्न आदि की चोरी तथा पर-स्त्रियों को देखकर रागभाव का उद्गेक एवं वहां की लोकोत्तर विभूतिको देखकर उसके लिये विदान भावका हो जाना भी संभव है इत्यादि अनेक कारण हैं। कि विनके निमित्त से राजपिण्डको बज्यं बताया है। अत एव यहां पर ये थोड़े संभव न हों अथवा दूसरी जगह आहार का

१३. क्रियायुक्त—जो कृतिकर्मसे युक्त हो उसे क्रियायुक्त कहते हैं। छह आवश्यकों का पालन करना अथवा गुरुजनोंका विनय कर्म करना कृतिकर्म कहलाता है।

१४. व्रतवान्—जो व्रत धारण करने की योग्यता से सहित हो उसे व्रतवान् कहते हैं। 'जो आचेलक्ष्य-नगन-मुद्रा को धारण करने वाला हो, औदेशिक आदि दोषों को दूर करने वाला हो, गुरुभक्त हो तथा अथवात् नम्र हो वही साधु व्रत धारण के योग्य माना जाया है।

१५. ज्येष्ठ सदगुण—जिनमें उत्कृष्ट सदगुणों का निवास हो उन्हें ज्येष्ठ-सदगुण कहते हैं। जो जटि और कुरुक्षेत्र के अपेक्षा महान् हों, जो वैभव, प्रताप और कीर्ति की अपेक्षा गृहस्थोंमें भी महान् रहे हों, जो ज्ञान और धर्या आदिमें उपाध्याय तथा आर्यिका आदि से भी महान् हों एवं क्रिया-कर्म के अनुष्ठान द्वारा भी जिनमें श्रेष्ठता पाई जाती है वे ज्येष्ठता गुण से युक्त हैं।

१६. प्रतिकमी—जो विविषुर्वंक देवसिक, राजिक, पालिक, चान्तु-मासिक और वार्षिक प्रतिकमण करते-कराते हों उन्हें प्रतिकमी कहते हैं।

१७. चतुमासयोगी—जो वसन्त आदि छह ऋतुओंमें एक एक मास तक एक स्थान पर योग धारण करते हैं, अन्य समय विहार करते हैं वे चतुमास-योगी कहलाते हैं। इसका दूसरा नाम मासिक-चासिता भी है। जो वर्षमें दो बार सिद्धक्षेत्रका यात्रा करने वाला हो।

१८. तत्त्वद्विनिष्ठवक—इसका दूसरा नाम अन्यत्र पाश दिया है जिसका अर्थ वर्षा ऋतु के चार मास में एक स्थान पर चतुमास योग धारण करना होता है।

काम संभव न हो, तो भूत में विष्णेव न गड़े इसके लिये राजपिण्ड का भी गहण किया जा सकता है अपर्ति ऐसी अवस्था में संघमी जन अपने तप संयम और ध्यान स्वाध्याय आदि के साधन को कायम रखने के लिये राज-पिण्ड को भी गहण कर सकते हैं क्योंकि उसको वर्ज्य जो माना है सो उपर्युक्त दोषोंकी संभावना से ही माना है। अध्याय ९ श्लोक ८०-८१।

१. आचेलक्ष्यके य ठिदो उद्देशदीय परिहरदि दोसे।

गुरुभत्तिम् विषीदो होदि चदानं स अरिहो दु।

—अनगार० अ० ९

२. वर्ष वर्ष द्वो वारी तिद्विक्षेत्रपात्रां करोति (अ० टि०)

द्विषद्वत्पास्तथा षट् चाक्षयकानि गुणा गुरोः ।
 आयदणं चेदिहरं जिणपदिमा दंसणं च जिणविवं ।
 भणियं सुवीयरायं जिणमुद्दा जाणमदत्थं ॥३॥
 अरहतेण सुदिट्ठं जं देवं तित्थमिह य अरहतं ।
 पावज्ज गुणविसुद्धा हय णायव्या जहाकमसो ॥४॥
 आयतनं चेत्यगृहं जिनप्रतिमा दर्शनं च जिनविम्बम् ।
 भणितं सुवीतरागं जिनमुद्दा जानमात्मस्थम् ॥५॥
 अहंता सुदिष्टं यो देवः तीर्थमिह च अहंच ।
 प्रब्रज्या गुणविशुद्धा इति ज्ञातव्या पथाकमषाः ॥६॥

(आयदण) आयतनं ज्ञातव्यम् । (चेत्यगृह) चेत्यगृह द्वितीयं ज्ञातव्यम् ।
 (जिणपदिमा) जिन प्रतिमा तूलीयोऽधिकारो बोधप्राभृते ज्ञातव्यः । (दंसणं च)
 दर्शनं च चतुर्थोऽधिकारो बोधकरो मन्त्रव्यः । (जिणविवं) जिनविम्बं पञ्चमो-
 ऽधिकारो बोधजनको विज्ञेयः । कर्णमूर्तं जिनविम्बं ? (भणियं सुवीयरायं)
 भणितमागमे प्रतिपादितं सुष्ठु अस्तिष्ठयेन वीतरागं न तु लक्ष्मीनारायणवदाम-
 सहितम् । (जिणमुद्दा) जिनमुद्दा बोधकरी षष्ठोऽधिकारो वेदितव्यः । (जाण-
 मात्मस्थं) ज्ञानमात्मस्थं सप्तमी नियोगो बोधप्राभृतस्य बोधव्यः । (अरहतेण)

१९-२०. द्विषद्वत्पाः—अनशन, कनोदर, वृत्तिपरिसंरुपान, रसपरि-
 त्याग, विविक्त शास्त्राशन और कायकलेश ये छह बाहु तथा प्रायशिवल,
 विनय, वैयाकृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये छह अन्तरङ्ग इस
 प्रकार बारह तप धारण करने वाला हो ।

२१-२६. षडावश्यक—समता, कन्दना, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय
 और कायोत्सर्ग इन छह आवश्यकों का पालन करने वाला हो ।

आगे बोधप्राभृत के भ्यारह अधिकारों के नाम लिखते हैं ।

गाथार्थ—आयतन, चेत्यगृह, जिनप्रतिमा, दर्शन, अरथन्त वीतराग
 जिनविम्ब, जिनमुद्दा, आत्मसम्बन्धी ज्ञान, अरहन्त भगवान् के द्वारा
 प्रतिपादित देव, तीर्थ, अरहन्त और गुणोंसे विशुद्ध प्रब्रज्या ये भ्यारह
 अधिकार क्रमसे इस बोधप्राभृतमें जानना चाहिये । २१-२४ ।

विदोषार्थ—पहला आयतन, दूसरा चेत्यगृह, तीसरा जिनप्रतिमा,
 चौथा दर्शन, पांचवाँ आगम में प्रतिपादित अस्त्यन्त वीतराग जिनविम्ब,
 छठवाँ जिनमुद्दा, सातवाँ आत्मस्थ ज्ञान, बाठवाँ अरहन्त-वीतराग सर्वांग

‘सुदिष्ट’ जं देवं अहंता सर्वशक्तिरागेण — ‘सुदिष्टमवाऽपि प्रतिपादितं च देवः यो देवः प्राकृते लिङ्गभेदस्वावत्र देवशास्त्रस्य नपुंसकत्वं, सोऽयं देवाधिकारो बोधजनकोऽष्टमोऽवगत्तव्यः । (तिर्थमिह य) तीर्थमिह च न वस्त्रेऽधिकारस्तीयमिह बोधप्राभृते-इवेतव्यः । (अरहतं) अहंत्स्वरूप-निरूपकोऽधिकारो दशमः प्रत्येतव्यः । (पावज्जगुणविशुद्धा) प्रब्रज्या एकावशोऽधिकारो बोधप्राभृतस्य स्मर्तव्यः । कथंभूता प्रब्रज्या ? गुणविशुद्धा गुणंशुज्ज्वला । (इय जायव्वा जहाकमसो) एते एकादशाधिकारा बोधप्राभृतस्य चिन्तनोयाः ।

गाथात्र येन द्वारे बोधप्राभृतस्य कृतम् । इदानीं तद्विवरणं कुर्वन्ति श्रीभन्तो गृदपिच्छाचार्यस्त्रायतनं निरूपयन्ति—

मणवयणकायदव्या ‘आसत्ता जस्स इंदिया विसया ।

आयदणं जिणमगे णिदिष्टं संजयं रूपं ॥५॥

मनोवचनकायदव्याणि आसत्ता यस्य ऐन्द्रिया विषयाः ।

आयतनं जिनमार्गं निर्दिष्टं सायतं रूपम् ॥५॥

(मणवयणकायदव्या) मनोवचनकायदव्याणे हृदयम-येऽष्टदलकमलाकारं
३ मानसद्रव्यं यस्य मनो भवति । उत्तरप्रभृत्यस्त्रायतनं यस्य वचनं वचन-
शक्तिकं वापद्रव्यं भवति । अष्टावज्ञानि अनेकोपाङ्गानि यस्य भुनेः कायदव्यं

देवके द्वारा अच्छी तरह प्रतिपादित देव, नौका तीर्थ, दशर्ता अहंत्स्वरूप का निरूपण करने वाला अरहत, और यारहर्वा गुणोंसे उज्ज्वल प्रब्रज्या इस प्रकार इस बोध प्राभृत में रथारह अधिकार जानना चाहिये ॥३-४॥

गाथार्थ—मन वचन काय रूप द्रव्य तथा इन्द्रियोंके विषय जिससे सम्बन्ध को प्राप्त हैं अथवा जिसके अधीन हैं, ऐसे संयमी मुनि का शरीर जिनागम में आयतन कहा गया है ॥५॥

१. सुदृह म० क० ।

२. प० जयचन्द्रजी ने अपनी भाषा वचनिका में ‘आयत्ता’ पाठ स्वीकृत किया है । ग० ।

३. कमलाकारे मानस-द्रव्यं म०, कमलाकारं मांसद्रव्यं ख० ।

४. अकुहृविसर्जनीयानो कणः, इच्छुयशानो तालुः, उपूपाष्माभीयानभोष्ठौ,
कट्टरणां मूर्चा, लृतुलतामां दलाः, जिह्वामूलीयस्य जिह्वामूलम्, अनुस्का-
रस्य नासिका, एहतीः कण्ठतालु, ओरीतोः कण्ठौष्ठम्, वकारस्य दस्तीष्ठौ
(क० टि०)

मवति । (आसत्ता वस्तु इदिया विषया) आसक्ताः सम्बन्धमाधाता यस्य मुने
ऐदिया विषयाः, इन्द्रियेषु स्थर्णनरसनशाश्वतक्षुःशोत्रलक्षणेषु हृषीकेषु भवा
ऐन्द्रिया, ते च ते विषयाः स्थर्णरसगन्धरूपशब्दलक्षणा यथासंभवं शक्तिरूपा व्यक्तित-
रूपाश्च भवन्ति । (आयदर्ण जिनमागे) आयतनं जिनमार्गं । (णिदिट्टं संजयं
रुवं) निदिट्टमागमे प्रदिपादितं सांयतं रूपं संयमिनः सचेतनं शरीरम् ॥५॥

मय राय दोस मोहो कोहो लोहो य जस्त्य आयत्ता ।

पञ्च महाकाशारी आयदणं महरिसी भणियं ॥६॥

मदो रागो द्वेषो मोहः कोधो लोभश्च यस्यायत्ताः ।

पञ्चमहाद्रवद्धरा आयतनं महर्षयो भणिताः ॥७॥

(मय राय दोस मोहो) मदोऽप्तविषः । उक्तं समन्तभद्रेण महाकविना—

शानं पूजां कुलं जाति बलभृदि तपो वपुः ।

अष्टावाश्रित्य मानित्वं समयमाहुर्गतस्मयाः ॥८॥

विशेषार्थ—हृदय के मध्य में आठ पांखुरी के कमल के आकार वस्तु-
स्वरूपके विचार में सहायक जो मानस द्रव्य है वह मन कहलाता है ।
हृदय आदि आठ स्थानोंके आश्रित जो वचन हैं अथवा वचन-शक्ति से
युक्त जो पुद्गल है वे वचन द्रव्य कहलाते हैं आठ अङ्ग और अनेक
उपाङ्गों से युक्त मुनिका जो शरीर है वह काय द्रव्य है । स्थर्णन, रसना,
श्वास, अक्षु और कर्ण ये पाँच इन्द्रियाँ हैं इनके स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और
शब्द ये पाँच विषय हैं । ये विषय यथासंभव शक्ति-रूप तथा व्यक्तिरूप
होते हैं । इस प्रकार मन वचन काय रूप द्रव्य तथा स्पर्श आदि इन्द्रिय-
सम्बन्धी जिनके अपने आपके सम्बन्ध को प्राप्त हैं अर्थात् पर-पदार्थ से
हट कर आत्मा से सम्बन्ध रखते हैं अथवा 'आयत्ता' पाठ की अपेक्षा ये
सब जिनके स्वाधीन हैं, ऐसे संयत अर्थात् संयमी मुनिका सचेतन शरीर
जिनागम में आयतन कहा गया है ॥५॥

गाथार्थ—मद रागद्वेष मोह कोध और लोभ जिसके अधीन हैं तथा
जो पञ्च महाद्रवोंको धारण करने वाले हैं, ऐसे महर्षि आयतन कहे
गये हैं ॥६॥

विशेषार्थ—मद आठ प्रकारका होता है जैसा कि श्री समन्तभद्र
महाकविने कहा है—

कान—शान, पूजा, कुल, जाति, बल, कृदि, तप और शरीर इन
आठका आश्रय कर अर्हकार करने को निर्मद ऋषि मद कहते हैं । राग

रागः प्रीतिलक्षणः । दोषोऽप्रीतिस्वभावः । मोहः कलशपुत्रमित्रादि-स्नेहः । (कोहो लोहो य जस्स आयसा) क्रोधो रोषस्वभावः लोभो मूर्छा परिग्रहयहण-स्वभावः, चकारात्परवृच्छमप्रकृतिभावो । एते पदार्थो यस्य महर्णेस्त्रिविषमुनि समूहस्यायता निग्रहपरिग्रहनाधवन्तो भवन्ति । (पञ्च महाव्याधारा) पञ्चमहाव्यत-वरा अहिसा सत्याचौर्यंवह्नाचयर्किञ्चन्यानि रात्रिभोजनवर्जनवषष्ठानि प्रतिपाल-यन्तः । (आयदण्ण महरिसी भणियं) आयतनं महर्णयो भणिताः । एतेभिमगमन-योग्या भवन्ति दर्शनस्यर्थान-वन्दनाहृष्ट भवन्ति । अन्ये विलिङ्गिनो जटिनः पात्रपता:, एकदण्डप्रिदण्डवरा मिथ्यादृष्टिमुञ्जिनः शिखिनः पञ्चखूलाः भस्मो-खूलना नगनाष्टका चरकनामानो दिग्म्बरसंज्ञकः हृसपरमहंसामिधानाः पशुया-गिकाः दीक्षिता अष्वर्वदः उद्गातारो होतार आथवैषाः व्यासाः स्मार्तं जैना-भासाश्च नाभिगम्या न दर्शनीया नाभिवादनीयाश्च भवन्ति । अष्ट के ते जैना-भासाः ? पूर्वमप्युक्ताः

प्रीतिको कहते हैं । द्वेष अप्रीति स्वभावको कहते हैं । स्त्री पुत्र तथा मित्र आदि के स्नेह को मोह कहते हैं । रोष रूप स्वभावको क्रोध कहते हैं, मूर्छा रूप परिणाम अर्थात् परिग्रह को ग्रहण करनेका जो स्वभाव है उसे लोभ कहते हैं । चकार से माया का ग्रहण होता है, दूसरे को छानेका जो स्वभाव है, उसे माया कहते हैं । ये सब मद आदि विकार जिस महर्णि के—आचार्य, उपाध्याय और साधु इन तीन भेद रूप मुनिके अधीन हैं—स्वीकार अथवा अस्वीकार करनेके योग्य हैं । जो अहिसा, सत्य, अचौर्य ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँच महावतोंको अथवा रात्रिभोजन स्थान के साथ छह महावतों को धारण करने वाले हैं, ऐसे महर्णि आयतन कहे गये हैं । ये महर्णि ही संमुख-गमन करने के योग्य हैं, तथा दर्शन, स्पर्शन, और वन्दना के योग्य हैं ।

इनके सिवाय अन्य लिङ्गों को धारण करने वाले जटाधारी, पात्रपत, एकदण्ड अथवा तीन दण्डको धारण करनेवाले, मिथ्यादृष्टि होकर शिर मुड़ानेवाले, एक शिखा रखने वाले, पाँच चोटियाँ रखने वाले, शरीर में भस्म रमाने वाले, अष्टकोषोंको खुला रखने वाले, चरक नामधारी, दिग्म्बर नामधारी, हंस, परमहंस नामके धारक, पशुयज्ञ करनेवाले, दीक्षित, अष्वर्यु, उद्गाता, होता, अर्थवैदके जाता, व्यास, स्मार्त तथा जैनाभास आदि साधु न सामने जानेके योग्य हैं, न दर्शन करनेके योग्य हैं और न अभिवादन नमस्कार करने योग्य हैं—

गोपुच्छिकः प्वेत बासी शाविदो यामनीयकः ।

निष्पिच्छुद्धचेदि वर्णीते जैनाभासा एकोलिताः ॥५॥

एते मधूरपिच्छुधरा अपि न वन्दनीयाः संशयमिथ्यादृष्टिस्तात् । तथा च बौद्धमते आयतनलक्षणम्—

पञ्चेन्द्रियाणि शब्दाद्या विषयाः पञ्च मानसम् ।

धर्मायतनमेतापि द्वादशायतनानि च ॥६॥

धर्मायतनं शरीरम् ।

सिद्धं जस्त सदर्थं विशुद्धशाणस्त णाणजुहस्तस्त ।

सिद्धायवणं सिद्धं सुणिवरवसहस्तस्त मुणिवत्थं ॥७॥

सिद्धं यस्य सदर्थं विशुद्धध्यानस्य ज्ञानयुक्तस्य ।

सिद्धायतनं सिद्धं सुनिवरवृषभस्य ज्ञानार्थम् ॥७॥

(सिद्धं जस्त सदर्थं) सिद्धं लक्षितमायातं यस्य सुनिवरवृषभस्य । कि सिद्धम् ? सदर्थं—निजात्म—स्वरूपम् । कथं सूक्तस्य ? (विशुद्धशाणस्त णाण-

प्रश्न—जैनाभास कौन है ?

उत्तर—यद्यपि इन्हें पहले कह आये थे, तथापि फिर भी कहते हैं—

गोपुच्छिक—गोपुच्छिक, शेतवासस्, द्राविड, यामनीयक और निष्पिच्छु—ये पौच जैनाभास कहे गये हैं ।

यद्यपि ये मधूर-पिच्छु के धारक हैं तो भी संशय मिथ्यादृष्टि होनेके कारण नमस्कार करनेके योग्य नहीं हैं । क्योंकि संशय मिथ्यादृष्टि होनेके कारण मिथ्यादृष्टि ही माने जाते हैं । बौद्धमत में आयतन का लक्षण इस प्रकार है—

पञ्चेन्द्रियाणि—स्पर्शन आदि पौच इन्द्रियाँ, शब्द आदि पौच विषय, मन तथा धर्मायतन—शरीर ये बारह आयतन कहे जाते हैं ॥६॥

आयतन—इत्यायतनस्वरूपं समाप्तम् ॥७॥

गाथार्थ—विशुद्धध्यान से सहित एवं केवलज्ञानसे पुक्त जिस श्रेष्ठ मुनिके निजात्मस्वरूप सिद्ध हुआ है, अथवा जिन्होंने छहद्वय, साततत्व, नवपदार्थ अच्छो तरह जान लिये हैं उन्हें सिद्धायतन कहा है ।

विशेषार्थ—विशुद्धध्यान से सहित अर्थात् आत्म और रौद्र इन दो ध्यानोंसे रहित और धर्म तथा शुक्ल इन दो ध्यानों से सहित, एवं ज्ञानसे

वृत्तस्य) विशुद्धव्यानस्य आतेरौद्रव्यानहयरहितस्य अर्थसुक्षम्यानहयसहितस्य गणधरकेवलिनो 'मूढ़-केवलिनस्तीर्थकरपरमदेवकेवलिनो वा । कथंभूतस्यैतत्वयस्य ? जान युक्तस्य सकलविमलकेवलज्ञानयुक्तस्य । (सिद्धायदणं सिद्धं) सिद्धायतनं सिद्धं सिद्धायतनं प्रतिपादितम् । कस्य ? (मुणिवरवसहस्र) मुनिवरवृषभस्य मुनिवराणां मध्ये वृषमस्य श्रेष्ठस्य । कथंभूतमायतनम् ? (मुणिदत्यं) मुनिता(?) यथावद्विज्ञाता अर्थाः षड्द्रव्याणि पञ्चास्तिकायाः सप्ततत्वानि तत्र पदार्थाः । जोवयुक्तं लघमधिर्मकालाकाशा इति षड्द्रव्याणि । कालरहितानि षड्द्रव्याणि पञ्चास्तिकाया भवन्ति । जीवाजीवास्तवद्वन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्वानि । सत तान्येव पुण्यपद्मयसहितानि तत्र पदार्थी वेदितव्याः ।

युक्त अर्थात् समस्त पदार्थोंको विषय करनेवाले निर्मल केवलज्ञानसे युक्त गणधर केवली, सामान्य केवली अथवा तीर्थकर परम देव केवलीस्वरूप जिय श्रेष्ठ मुनिवर को सदर्थ—निजात्मस्वरूप सिद्ध हुआ है—उपलब्ध हुआ है, उसोके सिद्धायतन कहा गया है । श्रेष्ठ मुनिका यह सिद्धायतन रूप ज्ञातार्थ है अर्थात् छह द्रव्य, पञ्चास्तिकाय, सात तत्व और नव पदार्थोंको जाननेवाला है । जीव पुद्गुण धर्म धर्मज्ञानशास्त्र और ध्याल ये छह द्रव्य हैं । इन्हीं में से काल को छोड़कर शेष पाँच द्रव्य पञ्चास्तिकाय हैं । जोव अजीव आस्तव बन्ध संवर निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्व हैं । पुण्य और पाप इन दो को मिला देने पर सात तत्व ही नव पदार्थ कहलाते हैं । इसप्रकार आयतन अधिकार समाप्त हुआ ॥७॥

[यहीं तीन गाथाओं में आयतन का स्वरूप कहा है । पहली गाथामें मन, वक्तन, काय इन तीन योगों तथा पञ्च इन्द्रियों और उनके विषयों-को स्वाधीन रखनेवाले सामान्यमुनियों के रूप को आयतन कहा है । दूसरी गाथा में क्रोधादि विकारों पर पूर्ण विजय प्राप्त करने वाले, पञ्च महावतों के घारक महर्षियों-ऋद्धिषारक मुनियों को आयतन कहा है और तीसरी गाथा में निर्मलज्ञान से सहित केवलज्ञान से युक्त गणधर केवली, सामान्य केवली अथवा तीर्थकर केवली को सिद्धायतन कहा है । आयतन स्थानको कहते हैं । जो सद्गुणोंका स्थान है वही जितागम में आयतन नामसे प्रसिद्ध है । परम वैराग्य से युक्त सद्गुरुओंके सिवाय

१. मुण्ड-म०, मूढ़ क०, गणधरकेवलज्ञानयुक्तस्य क० अस्यां प्रती गणधर—हस्तम् (केवलिनो मूढ़—केवलिन स्तीर्थकरपरमदेवकेवलिमो वा, कथंभूतस्य-तत्वयस्य शान्त्युक्तस्य सकलविमल) इति पाठो नास्ति ।

अवेदानीं चैत्यस्वरूपं निरूपयन्ति श्री कुन्दकुन्दाचार्यः—

बुद्धं जं बोहृतो अप्याणं चेष्टयाइं अणं च ।

पञ्चमहव्ययसुद्धं जानमयं जाण चेदिहरं ॥ ८ ॥

बुद्धं पदं बोधयन् आत्मानं चैत्यानि अन्यच्च ।

पञ्चमहात्मतशुद्धं जानमयं जानीहि चैत्यगृहम् ॥ ८ ॥

(बुद्धं जं बोहृतो) बुद्धं कर्ममलकलेकरहितं केवलज्ञानमर्य, जं-पत्, बोहृतो बोधयन् । (अप्याणं चेष्टयाइं अणं च) आत्मानं शुद्धबुद्धेकस्वभावं निजजीव-स्वरूपं बोधयन्तयं आत्मा चैत्यगृहं भवति । हे जीव ! तं चैत्यगृहं जानीहि । न केवल आत्मानं बोधयन्तं आत्मानं चैत्यगृहं जानीहि किन्तु चेष्टयाइ-चैत्यानि कर्मयं ताप्तन्नानि भव्यजीवकुन्दानि बोधयन्तमात्मानं चैत्यगृहं निश्चयचैत्यालयं हे जीव । तं जानीहि निश्चयं कुरु न केवलमात्मानं चैत्यगृहं जानीहि किन्तु अणं च-व्यवहारमयेन निश्चयचैत्यालयप्राप्तिकारणभूतेनान्यच्च दृष्टिदिग्दिका—‘काष्ठादि-रचितं श्रीमद्भगवद्गीतास्वरूप—शीतरागप्रतिमाचित्तं चैत्यगृहं हे आस्मन् !

नाना वेषों को धारण करने वाले पाखण्डी साधु आयतन नहीं है, वे नमस्कारके योग्य नहीं हैं ।]

बब आगे श्रीकुन्दकुन्दस्वामी चैत्य-स्वरूपका तिरूपण करते हैं—

गायत्री—जो ज्ञानयुक्त आत्माको जानता हो, दूसरे भव्य जीवोंको उसका बोध कराता हो, पाँच महाब्रतोंसे शुद्ध हो तथा स्वयं ज्ञानमय हो ऐसे मुनिको चैत्यगृह जानो । ८ ।

विशेषार्थ—(कर्ममल कलश्चुक्ते रहित केवलज्ञानमय आत्माको बुद्ध कहते हैं) इस तरह एक शुद्ध बुद्ध स्वभाववाले निज स्वरूपको जाननेवाला आत्मा चैत्यगृह है, ऐसा है भव्य जीव ! तू जान । न केवल आत्मस्वरूप-को जाननेवाला चैत्यगृह है किन्तु भव्य जीवोंके समूहको भी जो निज आत्माका बोध कराता है उसे भी तू निश्चय चैत्यगृह जान । न केवल आत्माको चैत्य-गृह जान, किन्तु निश्चय चैत्यगृहको प्राप्तिके कारणभूत व्यवहार नयसे पत्थर हीट तथा काष्ठ आदिसे रचित श्रीमान् अहंत सर्वज्ञ शीतरागकी प्रतिमासे युक्त जो जिन मन्दिर हैं उन्हें भी तू चैत्यगृह जान । वह चैत्यभूह रूप आत्मा पञ्च महाब्रतोंसे शुद्ध है अर्थात् अहिंसा आदि

१. दृष्टिदिका म० ।

२. श्रीमद्भगवत्सर्वज्ञ म० ।

हे जीव ! त्वं जानीहि । कथंभूतं चेत्यगृहं ? (पञ्चमहृष्यसुदुः) पञ्चभिर्भूताप्तर्तः
शुद्धा शुद्धं समूलकार्यं कषितकर्ममलकलङ्कुसमृहं । अपरं कथंभूतं चेत्यगृहं ?
(ज्ञानमर्य) केवलज्ञान-केवलदर्शनाभ्यां निर्वृत्ते निष्ठन्मित्यर्थः । व्यवहारचेत्यगृहं
तु स्थापनान्यासेन पञ्चमहृष्यसुदुः स्थापनान्यासब्लेन केवलदर्शनमयमित्यर्थः स
व्यवहारनयो मुख्यो निष्ठयनयस्त गौण इति ज्ञातव्यम् । ये तु लोकायतिकादिभ-
त्तानुसारिणो दुरात्मानः श्वेतपटाभासा निष्ठयचेत्यमस्पृशन्तोऽपि व्यवहारचेत्यगृहं
न मानयन्ति ते उभयतोऽपि भ्रष्टाः सर्वत्र भोजनभिक्षाप्राहका जिनधर्मविराघकाः
पूर्वचार्योपदिष्टजिनपूजाआदिकमानयन्तो न जाने कां निन्दितां गति गमिष्यन्ति ॥८॥

पांच महाब्रतोंके द्वारा कर्ममल रूपी कलङ्कके समूहको समूल नष्ट कर
शुद्ध हुआ है तथा ज्ञानमय है केवलज्ञान और केवलदर्शनसे तन्मय है ।
व्यवहार नयके आलम्बनसे जब जिन मन्दिरको चेत्यगृह कहते हैं तब
'पञ्च महाव्रतशुद्ध' और 'ज्ञानमर्य' इन दोनों विशेषणोंकी संगति स्थापना
निष्ठेपके बलसे बैठानी चाहिये । इस पक्षमें व्यवहार नय मुख्य है और
निष्ठय नय गौण है । लोकगच्छकं भतका अनुसरण करनेवाले जो दुष्ट
श्वेताम्बराभास निष्ठय चेत्यका स्पर्श न करते हुए भी व्यवहार चेत्यगृह-
जिनमन्दिरको नहीं मानते हैं वे दोनों ओरसे झण्ट हैं, सब जातियोंके
घर भोजनके लिए मिक्का अहं करते हैं, जिनधर्मकी विराधना करते हैं ।
पूर्वचार्योंके द्वारा उपदिष्ट जिन-पूजा आदिको न माननेवाले ये लोग न
जाने किस दुर्गति को प्राप्त होंगे ? ॥ ८ ॥

१. निष्ठयमव्यमानो यो निष्ठयतस्तमेव संशयते ।
नायति नरणचरणं स बहुःकरणालसो बालः ॥

-युरुषाम० ।

णिच्छयमालम्बता णिच्छयदो णिच्छयं अयाणंता ।

णासति नरणकरणं नाहरिचरणलसा होई ॥

-पञ्चास्तिकाये उद्दृता प्रा० गा० ।

२. येऽपि केवलनिष्ठयनयाबलम्बिनः सन्तोऽपि रागागिविकल्पराहितं परमसमाप्ति-
रूपं शुद्धात्मानमलभमाना अपि तपोधना चरणयोर्यं वदावस्थकादनुष्ठानं
थावकाचरणयोर्यं दानपूजादानुष्ठानं च दूषयन्ते तेऽप्युमयभ्रष्टाः सन्तो
निष्ठयव्यवहारानुष्ठानयोर्यावस्थान्तरभजानन्तः पापमेव बद्धन्ति । पञ्चा-
स्तिकाये तात्पर्यवृत्तिः ।—गाया १७२ ।

चेत्य वंशं मोक्षं दुःखं सुखं च अप्ययं तस्म ।

चेत्हरं जिनमार्गे छेकाय हितकरं भणियं ॥ ९ ॥

चेत्यं बन्धं मोक्षं दुःखं सुखं च अप्ययतः ।

चेत्यगृहं जिनमार्गे षट्काय हितकरं भणितम् ॥ ९ ॥

(चेत्य वंशं मोक्षं) चेत्यं चेत्यगृहं बन्धं अष्टकमंबन्धं करोति । पापकर्म-पार्जनं कारयति । पुनरेच कि करोति ? मोक्षं सर्वकर्मान्तरलक्षणं मोक्षं च करोति । (दुःखं सुखं च अप्ययतस्म) चेत्यं चेत्यगृहं दुःखं शारीरमानसानन्दलक्षणं दुःखमसातं बन्धफलं करोति । सुखं च-सुखं च मोक्षफलं परमानन्दलक्षणं करोति कस्यैतद्वयं करोति ? अप्ययतस्म-अप्ययतः पुरुषस्य । यः चेत्यगृहस्य दुष्टं करोति तस्य पापबन्ध उत्पदातेयवचेत्यगृहस्य सुष्टु करोति शोभनं विदधाति तस्य पुरुष-मुत्पद्यते तदधारेण भोक्ता भवति, तत्फले यथासंशयं दुःखं सुखं च भवतीति नामनीयम् । (चेत्हरं जिनमार्गे) चेत्यगृहं जिनमार्गे श्रीमद्भगवद्गीता

गायत्री—जो चेत्यगृहके प्रति दुष्ट प्रवृत्ति करता है उसे वह बन्ध तथा उसके फल स्वरूप दुःख उत्पन्न करता है और जो चेत्यगृहके प्रति उत्तम प्रवृत्ति करता है उसे वह मोक्ष तथा उसके फलस्वरूप सुख प्रदान करता है । जिन मार्गमें चेत्यगृहको षट्कायिक जीवोंका हितकारी कहा गया है ॥ ९ ॥

विज्ञेयार्थ—अब व्यक्तिगत नयसे चेत्यगृहका अर्थ कहते हैं चेत्यका अर्थ उपलक्षणसे चेत्यगृह है । यह चेत्यगृह बन्ध अर्थात् अष्टकमार्गके बन्ध-को करनेवाला है । मोक्ष अर्थात् अष्टकमार्गके क्षयको करनेवाला है तथा उसके फलस्वरूप दुःख अर्थात् शारीरिक मानसिक और आमन्तुक इन तीन प्रकारके दुःखोंको करता है एवं सुख अर्थात् मोक्षके फलस्वरूप परमानन्दको उत्पन्न करता है । भाव यह है कि जो मनुष्य चेत्यगृहके प्रति दुष्टभाव करता है उसको पाप-बन्ध होता है और जो चेत्यगृहके प्रति उत्तम भाव रखता है उसके पुण्य उत्पन्न होता है तथा उसीके आधार पर वह मोक्षको प्राप्त होता है । बन्धके फलस्वरूप दुःख और मोक्षके फलस्वरूप सुखको प्राप्त होता है, ऐसी भावना करनी चाहिये । जिनमार्ग-भगवान् अरम्भ सर्वेषां वीतराग देवके मार्गमें चेत्यगृह-जिनमन्दिर है श्री, अत्यन्त पापी कीन मिथ्यादुष्टि उसका लोप करता है ? जो प्रतिमा

रागशासने बतते एव, को मिथ्यादृष्टिः पाणीयांस्तल्लोपयति ? [युक्त्वैत्य चेत्यगृहं च
न मानयति स भृगवातकी भवति] अतएव चोक्तं गौतमेन भगवता—

यावन्ति जिनचेत्यानि विद्यन्ते भुवनत्रये ।

तावन्ति सततं भक्त्या त्रिःपरोत्य नमाभ्यहम् ॥

(छक्काय हित्यकरं भणियं) चेत्यगृहं षट्कायानां हितकूरं स्वर्गमोक्षकारकं
भणितं जिनागमे प्रतिपादितम् । चेत्यगृहार्थं या भृत्तिका सन्यते सा काययोगेनो-
पकारं चेत्यगृहस्य कृत्वा द्युभ्युपार्जयति तेन तु पारम्पर्येण स्वर्गमोक्षं लभते ।
थज्जलं चेत्यगृहस्य कायंमायाति तद्वत्तदपि शुभभाग् भवति । यत्तेऽबोऽग्निः चेत्य-
गृहनिमित्तं प्रज्ञालयते तदपि तद्वक्तुभ्यं लभते । यो वायुस्चेत्यगृहनिमित्तं वल्क्षित्वा-
भगवान्यथं विराघते धूपाङ्गारहकिपाकार्यं चोक्तोपनिषेपणं प्राप्यते सोऽपि तद्वक्तुभ्यं
प्राप्नोति । यो वनस्पतिः पुष्टादिकरचेत्यगृहपूजार्थं लूपते सोऽपि काययोगेन
पुष्टमुपार्जयति तस्यापि चाभ्यं भवति । उक्ततत्त्व—

फूलक पुकारह बागियहि कहियो जिणह अहेसि ।

धम्मी को वि न आविघउ कंपिय धरणि पहेसि ॥ १ ॥

और जिनमन्दिर को नहीं जानता है वह सदानन् पापी है । हमलिये
भगवान् गौतम ने कहा है—

यावन्ति—तीनों लोकों में जितने चेत्यालय हैं मैं सदा अक्षित—पूर्वकं
तीन प्रदक्षिणा देकर उन्हें नमस्कार करता हूँ ।

चेत्यगृह—जिनमन्दिर को जिनागम से षट्कायिक जीवों का हित-
कारक-स्वर्ग और मोक्षको प्राप्त करने वाला कहा है । चेत्यगृह के
निर्माण के लिये जो मिट्टी खोदी जाती है वह काययोग के द्वारा चेत्यगृह
का उपकार करके पुण्य कर्मका उपार्जन करती है और उस पुण्यकर्म के
द्वारा परम्परासे स्वर्ग तथा मोक्षको प्राप्त होती है । जो जल चेत्यगृह के
काम आता है वह भी मिट्टीकी तरह पुण्यको प्राप्त होता है । जो अग्नि
चेत्यगृहके निमित्त जलाई जाती है वह भी उसी तरह पुण्यको प्राप्त
होती है । जो वायु चेत्यगृह के निमित्त अग्नि को प्रदोप्त करने के लिये
विराघित होती है अथवा धूपके अङ्गार और नैवेद्य के पाकके लिये
उत्क्षेप-निषेपको प्राप्त होती है ऊँची-नीची को जाती है वह भी उसी
तरह पुण्य को प्राप्त होती है । जो पुण्य आदि वनस्पति चेत्यगृह की पूजाके
लिये छेदी जाती है वह भी काय-योगके द्वारा पुण्य उपार्जन करती है,
अतः उसका भी भला होता है । कहा भी गया है—

फूल—बागवान् फूलसे कहुता है कि फूल ! तुम जिनेन्द्र भगवान्

अन्यजन्म—

केण्य वाडी जाईया केण्य वीणिय फुल ।
केणव जिणह चढाविया ए तिणि व समतुल ॥ २ ॥

‘तथा वसानामपि यथासंभवं पुण्योपार्जनममुया दिशा ज्ञातव्यम् ।
चैत्यगृहं—चैत्यगृहाधिकारः समाप्त इत्यर्थः ॥ ३ ॥

को कैसे चढाये जाओगे क्योंकि कोई धर्मात्मा जीव नहीं आ रहा है, तुम यू ही कपित होकर पृथिवी पर गिर जाओगे ।

और भी कहा है—

केण्य—किसी ने बाटिका लगवाई, किसी ने फूल चुने और किसी ने जिनेन्द्र भगवान् को चढाये । ये तीनों ही पुरुष एक समान हैं—एक समान ही पुण्यको प्राप्त होते हैं ।

इसी पद्धतिसे असजीवोंके भी यथासम्भव पुण्यका उपार्जन होता है ऐसा जानना चाहिये ।

इस प्रकार चैत्यगृह नामका दूसरा अधिकार समाप्त हुआ ।^१

षट् प्राभृत की एक संस्कृत टीका अन्य आचार्य कृत है, जो अत्यन्त संक्षिप्त है आदि अन्तके पश्च न होने से कर्ता का नाम विदित नहीं हो

१. म० प्रसी अयं पाठो नास्ति ।

२. इस गायत्रेके पूर्वार्थ में आये हुए ‘अप्यर्थतस्स’ पाठ को खाया प० जयचन्द्र जी ने ‘आत्मकं तस्य’ ऐसा स्वीकृत कर गायत्रा का अर्थ निभ्न प्रकार किया है—

‘जाकी वंश अर मोक्ष बहुरि सुख और दुःख ये आत्मा के होय, जाके स्वरूप में होय सो चैत्य कहिये जाते जेतना स्वरूप होय ताही के वंश भोक्ष सुख दुःख संभवै ऐसा जो चैत्य का गृह होय सो चैत्यगृह है । जो जिनमार्ग विधै ऐसा चैत्यगृह छह कायका हित करने वाला होय, सो ऐसा मुनि है, सो पाँच यावर अर प्रस में विकलब्रय अर असैनी पञ्चेन्द्रिय तार्हि केवल रक्षा ही करने योग्य है ताते तिनकी रक्षा करने का उपदेश करै है, तथा आप तिनिका शात न करै हैं तिनिका यही हित है, बहुरि सैनी पञ्चेन्द्रिय जीव हैं तिनिकी रक्षा भी करै हैं, तथा तिनकूँ संसार ते निवृति स्व मोक्ष होनेका उपदेश करै है, ऐसे मुनिराज को चैत्यगृह कहिये ।

आगे जिन-प्रतिमा का वर्णन करते हैं—

सपरा जंगमदेहा दंसणणाणेण सुदृचरणाणै ।

णिमांथ वीयराया जिनमगे एरिसा पडिमा ॥ १० ॥

स्वपराजङ्गमदेहा दर्शनजानेन शुद्धचरणानाम् ।

निर्गन्धवीतरागा जिनमार्गे ईदृशी प्रतिमा ॥ १० ॥

(सपरा जंगमदेहा) स्वकीया अहंचकामनसम्बन्धिनी । परा परकीयशासन-सम्बन्धिनी प्रतिमा भवति । स्वकीयशासनस्य या प्रतिमा सा उपादेया आत्म्या । या परकोया प्रतिमा सा हैया, न वन्दनोया । अथवा सपरा-स्वकीयशासनेऽपि या

सका है । श्री अतिशय क्षेत्र चांदखेड़ी की प्रति है, संपादन की प्रतियों में 'ग' नामसे उपयुक्त है । उसमें इस गाथा की टीका इस प्रकार दी हुई है—

'चैत्यं बधं मोक्षं दुःखं च पुनः सौख्यं अल्पकं तस्य जिनमार्गं चेत्यगृहं षट्कायहितकरं भणितं कथितं'

इसका अर्थ ऐसा जान पड़ता है कि जिस मुनि के बन्ध, बन्धन, मोक्ष-छूटना अल्प है अस्यन्त तुच्छ है, हर्ष विषादके कारण नहीं हैं, उस समभावी मुनि की आत्मा चेत्यगृह है यह चेत्यगृह जिनागम में छह काय के जीवों-का हितकारी कहा गया है ।

मेरी बुद्धिमें 'अध्यथ तस्य' की छाया 'अप्रयातः' आती है और उसके आधार पर गाथा का अर्थ ऐसा जान पड़ता है—

'बन्धन और मोक्षके प्रति विषाद और हर्ष को प्राप्त न होने वाले भुनि की आत्मा चेत्यगृह है । चेत्यगृह जिनागम में छह कायके जीवोंका हितकारक कहा गया है ।

गाथार्थ—सम्यगदर्शन और सम्यगज्ञानके द्वारा शुद्ध-निर्दोष चारित्रको धारण करनेवाले तीर्थकरकी प्रतिमा स्वशासन और परशासनकी अपेक्षा दो प्रकारकी है, अजङ्गम रूप है—गतिरहित है, निर्गन्ध तथा वोतराग है । जिनमार्गमें ऐसी प्रतिमा मानो गई है ॥ १० ॥

विशेषार्थ—व्यवहार नयसे जिन प्रतिमाका निरूपण करते हैं—सम्य-दर्शन और सम्यग्ज्ञान के द्वारा शुद्ध चारित्र को धारण करने वाले तीर्थ-

प्रतिमा परा उल्कुष्टा भवति सा वन्दनीया, न तु अनुल्कुष्टा । का उल्कुष्टा का
काजुल्कुष्टा इति चेतुम्यन्ते^१—या पञ्चजैनाभासंरञ्जलिकारहितापि नग्नमूतिरपि
प्रतिष्ठिता भवति सा न वन्दनीया, न चार्चनीया च । या तु जैनाभासरहितः
साक्षात्वाहृतसंघैः प्रतिष्ठिता चतुःस्तनादिषु विकार—रहिता नन्दिसंघ-सेनसंघ-देव-
संघ-सिहस्रं समुपन्यस्ता सा वन्दनीया । तथा ओकर्त हस्तान्मिदना भट्टारकेण—

चतुःसंघसंहिताया जैन—विम्बं प्रतिष्ठितम् ।

नमेषापरसंघीयै^२ यतो न्यासविपर्ययः ॥ १ ॥

कर परमदेव की प्रतिमा 'स्वपरा' स्व और परके नेत्रमें दो प्रकार की है ।
उनमें अहृत्ता भगवान् के शासनसे सम्बन्ध रखने वाली प्रतिमा स्व प्रतिमा
है और श्वेताम्बर आदि पर शासन से सम्बन्ध रखने वाली प्रतिमा पर-
प्रतिमा है । जो प्रतिमा स्व-शासन की है वह उपादेय है—भक्ति वन्दना
आदि करने के योग्य है और जो पर-शासन से सम्बन्ध रखने वाली है वह
हेय है—छोड़ने योग्य है, वन्दना करनेके योग्य नहीं है । अष्टवा स्वपरा
शब्दका यह भी अर्थ हो सकता है कि जो प्रतिमा स्व अहृत्तदेव के शासन
में परा उल्कुष्ट है, प्रतिष्ठा सिद्धान्त के अनुसार निर्मित है, वही वन्दना
करनेके योग्य है, अनुल्कुष्ट प्रतिमा वन्दना करने योग्य नहीं है । कौन
प्रतिमा उल्कुष्ट है और कौन अनुल्कुष्ट ? इसका उत्तर यह है कि पौच
प्रकारके जैनाभासों ने जो प्रतिमा प्रतिष्ठित की है वह अञ्जलिकालंगोटी
से रहित तरनरूप होने पर भी न वन्दनीय है और न अर्चनीय । किन्तु
इसके विपरीत जैनाभासों से रहित साक्षात् आहृतसंघ के लोगोंके हारा जो
प्रतिष्ठित है, नेत्र और स्तन आदि में विकार से रहित है अर्थात् इन
स्थानों में जिसमें कोई विकार नहीं किया गया है, नन्दिसंघ, सेनसंघ,
देवसंघ, और सिहस्रंघके हारा जो प्रतिष्ठापित है वह वन्दनीय है । जैसा
कि भद्रारक हन्दनन्दीने कहा है—

चतुः—चार संघ की संहिता से जिस जैनविम्ब की प्रतिष्ठा हुई है
उसे ही नमस्कार करना चाहिये अन्यसंघ की प्रतिमा को नहीं क्योंकि
उसके न्यास-स्थापना निष्पेपमें विपरीतता है ॥ १ ॥

१. दुर्म्यन्ते म० च० ।

२. चतुःसंघ म० ।

३. नापरसंवादा म० ।

‘चतुःसंघ्या न रो यस्तु विद्यादभेदभावनाम् ।
सम्यग्बर्द्धातीतः संसारे संसरत्यरम् ॥ २ ॥

न्यासविपर्ययस्तु गुरुवचनादेवावगत्तव्यः । तथा शोकलं श्री वीरनन्दशिष्यैः
षट्पदमन्त्रिदन्त्रित्वाच्चत्वेः ।

विम्बादलोलतियषोन्तिमेव भक्त्या
ये कारयन्ति जिनसद्ग्रं जिनाङ्कति च ।
पुण्यं तदीयमिह वाग्मि नैव शक्ता
वस्तुं परस्य किमु कारयितुं द्वयस्य ॥ १ ॥

चतुःसंघ्या—जो मनुष्य उक्त चार सबों में भेद भावना करता है वह सम्यग्दर्शन से रहित है तथा शोध्र ही संसार में परिभ्रमण करता है ॥२॥

न्यास—स्थापना-की विपरीतता गुरुके वचनसे जानना चाहिये । जैसा कि श्रीवीरनन्दिके शिष्य श्री पद्मनन्द आचार्य ने कहा है—

विम्बादलो—जो मनुष्य भक्तिपूर्वक [अधिक नहीं तो कम से कम] विम्बादल कुन्दरु के पत्रके समान ऊंचे जिन मन्दिर और जो के दरवार ऊंची जैन प्रतिमा को बनवाता है उसके पुण्यका कथन करने के लिये सरस्वती भी समर्थ नहीं हैं फिर जो अधिक ऊंचे जिन-मन्दिर और जिन-प्रतिमाको बनवाता है उसके पुण्यका तो अहना ही क्या है ।

१. श्री भद्रबाहुपट्टे गुणिगुप्ताचार्यस्तस्य त्रीणि नामानि गुणिगुप्ताचार्यः, अहं-
छत्याकार्यः विवाक्षाचार्यः । तस्य चत्वारः लिख्याः येन सिंहगृहायां वर्णयेनो
षुतः स सिंहकीतिः तेन सिंहसंघः स्थापितः । नन्दिवृक्षमूले येन वर्णयोगे
षुतः स मायनन्दी, तेन नन्दिसंघः स्थापितः । येन सेन नाम तृणतले वर्ण-
योगो षुतः स वृषसेनः सेन सेनसंघः स्थापितः । यो देवदत्ता वेश्यागृहे वर्ण-
योगं स्थापितवान् स देवचन्द्रः देवसंघं चकार । सिंहसंघे चन्द्रकनाटगच्छे
काणूरगणे चत्वारि नामानि-सिंहः कुम्भः आख्वः सागरः । नन्दिसंघे पारि-
जातगच्छे चलात्कारगणे चत्वारि नामानि-नन्दि, चन्द्रः, कीर्तिः, भूषणः, तथा
नन्दि-संघे सरस्वती-गच्छे सेनसंघे पुष्करगच्छे सूरस्कगणे चत्वारि नामानि-
सनः, राजः, वीरः, भद्रः, देवसंघे गुरुतकगच्छे देवीगणे चत्वारि नामानि-
देवः, दत्तः, माणः, तुङ्गः । (क० टि०)

२. कारयितुं स ॥

ये तु प्रतिमायां वस्त्राभरणादि कुर्वन्ति प्रतिष्ठावेलायां दधिसक्तुमुखे वज्जन्ति
तमसनिरासार्थं श्री गौतमेन महामुनिना पृथ्वीवृत्तमुक्तम्—

निराभरणभासुरं विगतरागवेगोदय—

निरम्बरं मनोहरं प्रकृतिरूपनिर्देषितः ।

निरायुषसुनिर्भयं विगतहित्य-हिसाक्रमा-

निरामिषसुतृप्तिमद्विवेदनार्ता क्षयात् ॥१॥

इक्कहि फुल्लहि माटिवेइ जु सुर नर रिछडी ।

एही करइ कुसाटिवपु भोलिम जिणवर तणी ॥ १ ॥

एक्कहि फुल्लहि फुल्लसज बीए फुल्ल सहासु ।

जिवनिब जिणवर पुजियह तिम्बतिम्ब दुरियह नासु ॥ २ ॥

तथा चोकतं समन्तभद्रस्वामिना मुनिवरेण आर्याद्विष्म्—

देवाधिदेवचरणे परिचरणं सर्वदुःखनिहंरणम् ।

कामदुहि कामदाहिनि परिचिनुयादादृतो नित्यम् ॥ ३ ॥

और जो प्रतिमा के ऊपर वस्त्र तथा आभूषणादि धारण करते हैं तथा प्रतिष्ठा के समय दही और सत्तू प्रतिमा के मुख में रखते हैं उनके मतका निराकरण करनेके लिये महामुनि श्री गौतम ने पृथ्वी छन्द कहा है—

निराभरण—रागके वेगका उदय दूर हो जानेसे जिनेन्द्र देवका शरीर आभरणोके बिना हो देवीप्यमान रहता है, स्वाभाविक रूपकी निर्दोषता के कारण वस्त्रके बिना हो मनोहर दिखता है, हित्य और हिसाका कम नष्ट हो जानेसे शस्त्रों के बिना ही अत्यन्त निर्भय है और नाना प्रकार की वेदनाओं का क्षय हो जानेसे भोग्य वस्तुओं के बिना ही तुष्टिसे युक्त रहता है। जैसा जिनेन्द्र देवका शरीर होता है वैसी ही उनकी प्रतिमा होती है।

इक्कहि—जिनेन्द्र भगवान् को एक फूल चढ़ाना देव और मनुष्यों की अद्वितीय को देता है तथा क्षुद्र-होनपर्यायों को दूर करता है ॥१॥

एक्कहि—जो भगवान् को एक फूल चढ़ाता है उसे समवशरण में अनेक फूल प्राप्त होते हैं अर्थात् वह पुष्पबृष्टि नामक प्रातिहार्य को प्राप्त होता है। यह जीव ज्यों-ज्यों जिनेन्द्र भगवान् की पूजा करता है त्यों-त्यों उसके पाप नष्ट होते जाते हैं ॥२॥

इसी प्रकार मुनिवर समन्तभद्र स्वामी ने दो आर्या कहे हैं—

देवाधिदेव—मनोरथों को पूर्ण करने वाले एवं कामको भर्त्य करने

अहंचरणसपुर्या महानुभावं महात्मनामवदत् ।

भेकः प्रभोदमस्तः कुसुमेनकेन राजगृहे ॥ २ ॥*

अजंगमदेह—सुवर्णमरकतमणिषटिता, स्फटिकमणिषटिता, इन्द्रनीलमणि-निमिता, पद्मरागमणिरचिता, विद्वम-कल्पिता, चन्दन-काष्ठानुषिता वा अजङ्गम प्रतिमा कथ्यते । ईदूशी प्रतिमा केवा भवति ? (दंसणणाणेण सुद्धचरणाण) दर्शनेन आनेन निर्मलचारित्राणां तीर्थकरपरभद्रेवानाम् । कर्णभूत्ता प्रतिमा ? (णिगंधवीयरात्रा) निर्घन्त्या वस्त्राभरणजटामुकुटायुधरहिता, वीतरागो-रागरहित-भावेऽवतारिता । (त्रिगमयो एरिपा गडिमा) जिनमार्गे सर्वज्ञवोतरागमते ईदूशी प्रतिमा भवति ॥ १० ॥

वाले देवाधिदेव—जिनेन्द्र देवके चरणोंकी शुश्रूषा समस्त दुःखोंको हरने वाली है, इसलिये निरन्तर उसे करना चाहिये ॥ १ ॥

अहंचरण—राजगृह नगर में हर्ष से मत्त हुए मैंदक ने महात्माओं के आगे एक फूल के द्वारा अहंत भगवान के चरणों की पूजाका माहात्म्य प्रगट किया ।

भगवानकी वह प्रतिमा अजङ्गमदेह होती है—चलने फिरने की क्रिया से रहित होती है । सुवर्ण और मरकतमणि से बनी स्फटिक मणिसे रचित, इन्द्रनीलमणि से निमित, पद्मरागमणि से रचित, मूर्गे से बनी तथा चन्दन की लकड़ी से निमित प्रतिमा अजंगम प्रतिमा कहलाती है । ऐसी प्रतिमा किनकी होती है ? इस प्रश्नका उत्तर कहते हैं—वह प्रतिमा दर्शन और ज्ञान के द्वारा निर्मल चारित्र को धारण करने वाले तीर्थकर परमदेव की होती है । यह प्रतिमा निर्घन्त्य अर्थात् वस्त्र आभूषण, जटा, मुकुट तथा शस्त्रोंसे रहित होती है और वीतराग अर्थात् राग रहित भावके उत्पन्न करने में समर्थ रहती है । सर्वज्ञ वोतरागके मत में ऐसी ही प्रतिमा होती है* ।

* रुलकरण आवकाशारे—

* श्री दै० जयचन्द्र जी ने इस गाथा को वचनिका इस प्रकार लिखी है—

दर्शन ज्ञान करि शुद्ध निर्मल है चारित्र जिनके तिन की स्वपरा कहिये अपनी अर परकी जालती देह है सो जिनमार्ग विषे जगम प्रतिमा है । अबवा स्व परा कहिये जात्मा ते पर कहिये मिन्त है ऐसी देह है, सो कैसी है निर्घन्त्य स्वरूप है, जाकै किलू परिभ्रहका लेश नाही ऐसी विगम्भरमुद्रा, वहुरि कैसी है—वीतराग

यागे ज़म्म प्रतिमा का बर्षत बनते हैं—

जं चरदि सुद्धचरणं जाणह पिच्छेइ सुद्धसम्मतं ।

सा होइ वंदणीया णिगंथा संजदा पडिमा ॥११॥

यश्वरति शुद्धचरणं जानाति पश्यति शुद्धसम्यक्त्वम् ।

सा भवति वन्दनीया निर्गन्धा सांयता प्रतिमा ॥११॥

(जं चरदि सुद्धचरणं) यो मुनिश्वरति प्रतिपालयति । किम् ? शुद्धचरणं निरतिचार-चारित्रम् । (जाणह पिच्छेइ सुद्धसम्मतं) जिनश्रुतं जानाति स्वयोग्यं वस्तु पश्यति च । शुद्धे पञ्चविंशति-दोष—रहितं पत्य सूरे: सम्यक्त्वं भवति । (सा होइ वंदणीया) सा भवति वन्दनीया नमस्करणीया । (णिगंथा संजदा पडिमा) निर्गन्धा चतुविशति-परिघ्रह-रहिता संयतामा मुनीनां दिग्म्बराणां प्रतिमा आकार, जंगमा प्रतिमा मुनयो भवन्तीत्यर्थः ॥११॥

गाथार्थ—जो निरतिचार चारित्र का पालन करते हैं, जिनश्रुत को जानते हैं, अपने योग्य वस्तुको देखते हैं, तथा जिनका सम्यक्त्व शुद्ध है, ऐसे मुनियोंका निर्गन्ध शरीर जंगम प्रतिमा है । वह वन्दना करनेके योग्य है ॥११॥

स्त्रिओषार्थ—जो चरणानुयोग के अनुसार शुद्ध निरतिचार चारित्रका पालन करते हैं । जो जिनेन्द्र-प्रणीत शास्त्र—जिनागम को जानते हैं, अपने योग्य वस्तुको देखते हैं और जिनका सम्यक्त्व पञ्चवीस दोषोँ से रहित है, ऐसे संयमी मुनियों के चौबीस प्रकार के परिघ्रह से रहित जो शरीर है वे जंगम-बलती फिरती प्रतिमा है । तथा वन्दना-नमस्कार करने के योग्य है ॥११॥

स्वरूप है, जाके काहू वस्तु सौं रागदेव मोह नाही, जिनमार्ग विषे ऐसी प्रतिमा कही है । दर्शन ज्ञान कर निर्मल चारित्र जिनके पाइये ऐसे मुनिनि की गुह शिष्य अपेक्षा अपनी तथा पर की चालती देह निर्गन्ध बीतराग भुद्वा स्वरूप है सो जिन-मार्ग विषे प्रतिमा है, अन्य कल्पित है । अर भालु-शाषाण आदि करि दिग्म्बर मुद्वा स्वरूप प्रतिमा कहिये सो व्यवहार है सो भी वास्य प्रकृति ऐसी ही होय सो व्यवहार में मान्य है ॥ १० ॥

१. शुद्ध आदि आठ दोष, जाठ भव, छह अनायतन और तीन मूढ़ताएँ वे सम्यक्त्वसंग के २५ दोष हैं ।

अब सिद्धप्रतिमा का वर्णन करते हैं—

दंसण अणंतणाणं अणंतवीरिय अणंतसुखाद्य ।

सासयसुखल अदेहा मुक्का कम्मटुबंधेहि ॥१२॥

दर्शनानन्तज्ञानं अनन्तवीर्या अनन्तसुखाइच ।

शाश्वतसुखा अदेहा मुक्ताः कम्बिटबन्धैः ॥१२॥

(दंसण अणंत णाणं) दर्शनमनन्तं केवलदर्शनं सत्ताविलोकनमाप्नुयाणं । काकाक्षिगोलकल्यायेनानन्तशब्द उभयत्राभिसम्बन्धते । तेनानन्तज्ञानं वस्तु यथा-कर्त्तव्यरूपप्राप्तके केवलज्ञानं लोकालोकव्याप्तकं द्वयम् । तथोगाद्वर्द्धानन्तज्ञानं अनन्त-दर्शनमनन्तज्ञानं च सिद्धा भवन्ति । उक्तं ज्ञानाधरेण महाकविना—

सत्तालोकनमात्रमित्यपि निराकारं मते दर्शन-

साकारं च विशेषं गोचरमिति ज्ञानं प्रवादीच्छया ।

ते तेने क्रमवर्तिनी सरजसां प्रादेशिके सर्वतः-

स्फूर्जन्ती युगपत्युनविरजसां युष्माकमञ्जातिगाः^१

तथा च नैमित्यग्रसिद्धानन्तचक्रवर्तिना चोक्तम्—

इंसणपुञ्चं णाणं छदुमस्थाणं च दोणि उवागा ।

जुगवं जम्हा केवलिणाहं जुगवं तु ते दो वि ॥१२॥

गायार्थ—जो अनन्त दर्शन तथा अनन्तज्ञानरूप है, अनन्तवीर्य और अनन्त सुख से युक्त हैं, अविनाशी सुखसे सहित हैं शरीर-रहित हैं और आठ कर्मोंके बन्धनसे छूट चुके हैं, ऐसे सिद्ध परमेष्ठी सिद्ध प्रतिमा हैं ॥१२॥

विशेषार्थ—वस्तुकी सत्तामात्रके अवलोकन को दर्शन कहते हैं । यही अनन्त दर्शन से केवल दर्शनका ग्रहण होता है । काकाक्षिगोलकल्याय से अनन्त शब्दका दर्शन और ज्ञान दोनोंके साथ सम्बन्ध होता है इसलिये अनन्त दर्शन और अनन्त ज्ञान ये दोनों शब्द सिद्ध होते हैं । यही अनन्त ज्ञानका अर्थ वस्तुके यथार्थ स्वरूप को ग्रहण करनेवाला केवलज्ञान है । केवलदर्शन और केवलज्ञान ये दोनों ही लोक तथा अलोक में व्यापक हैं । उन दोनों के साथ तादात्म्य सम्बन्ध होनेसे सिद्ध परमेष्ठी अनन्तज्ञान और अनन्त दर्शन रूप हैं । जैसा कि महाकवि ज्ञानाधर ने कहा है—

सत्ता—जो सत्तों मात्रका अवलोकन करता है ऐसा दर्शन निराकार-घटपटादिके विकल्प से रहित माना गया है और जो घटपटादि विशेषको

१. हे सिद्धाः (३० टि)

(अण्टंवीरिय अण्टंसुक्ष्मा य) अनन्तवीर्याश्च सिद्धा भवन्ति लोकालोक-स्वरूपावलोकने शातृखे च मा शक्तिस्तदनन्तवीर्यं शातृभ्यम् । अनन्तसौख्याश्च सिद्धा भवन्ति । सर्वदस्तु-स्वरूपरिज्ञाने सति तेषां सुखमुत्पद्यते । तथा घोकर्णं नेमिचन्द्रेण त्रिलोकसारग्रन्थे वैमानिकाधिकारपर्यन्ते—

एवं सत्यं सब्वं सत्यं वा सम्मेत्य जाणता ।

तिव्यं तु संतिष्ठाना कि ण समत्यत्य तच्छद्धा ॥१॥

अविककृशकणिसुरिदेसहमिदे जं सुहं तिकालमवं ।

सत्तो अण्टंसुर्णिदं सिद्धाणं स्फणसुहं होदि ॥२॥

विषय करता है ऐसा ज्ञान साकार-सविकल्पक माना गया है । ये ज्ञान और दर्शन नेत्रके समान हैं तथा छधस्थज्ञानावरण-दर्शनावरण से युक्त जीवों के क्रमसे प्रवृत्त होते हैं । छधस्थ जीवोंके ज्ञान और दर्शन प्रादेशिक हैं अर्थात् सीमित स्थान की बातको जानते हैं परन्तु हे शरीर रहित सिद्ध परमेष्ठी ! यतस्च आप ज्ञानावरणादि रज से रहित हैं अतः आपके ये दोनों लोक-अलोक में सर्वत्र व्याप्त हैं तथा एक साथ प्रकाशमान हैं ॥१॥

ऐसा ही श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीने कहा है—

बैसण—छधस्थ जीवोंका ज्ञान, दर्शन-पूर्वक होता है उनके दोनों उपयोग एक साथ नहीं होते परन्तु केवली जिनेन्द्र में दोनों एक साथ होते हैं ।

अनन्तज्ञान और अनन्तदर्शनके समान सिद्ध परमेष्ठी अनन्त वीर्य और अनन्त सुख से युक्त भी हैं । लोक और अलोकका स्वरूप देखने तथा जानने की जो शक्ति है उसे अनन्त वीर्यं जानना चाहिये । समस्त वस्तुओं के स्वरूपका परिज्ञान होनेपर सिद्ध परमेष्ठी को सुख उत्पन्न होता है इसलिये वे अनन्त सौख्य से युक्त कहे जाते हैं । जैसा कि श्री नेमिचन्द्राचार्य ने त्रिलोकसार ग्रन्थ के वैमानिकाधिकार के अन्तमें कहा है—

एवं सर्वं—जब कि लोक में एक शास्त्र अथवा समस्त शास्त्रों को यथार्थ रीति से जानने वाले मनुष्य अत्यधिक सन्तुष्ट होते हैं—सुखी होते हैं तब समस्त पदार्थोंके स्वरूप को जानने वाले मनुष्यों की तो बात ही क्या है ?

अस्ति—चक्रवर्तीं, भोगभूमिज्जार्यं, धरणेन्द्र, सुरेन्द्र तथा अहमिन्द्र

(साश्वत सुख अदेहा) शाश्वतसुखा अविनश्वरसुखाः, अदेहा देहरहिताः
ज्ञानमयमूर्तीय इत्यर्थः । (मुक्ता कम्भट्टवधेति) सुखाः कर्माद्यन्तज्ञाः ॥१२॥

आगे इन्हीं सिद्धोंका और भी वर्णन करते हैं—

णिरुद्धमसचलमखोहा निर्मितिया जंगमेण रूपेण ।

सिद्धठाणमिति ठिया षोसरपडिमा धुवा सिद्धा ॥१३॥

निरुपमा अचला अक्षोभा निर्मापिता अजञ्जमेन रूपेण ।

सिद्धस्थाने स्थिता व्युत्सर्गप्रतिमा ध्रुवाः सिद्धाः ॥१३॥

(णिरुद्धमसचलमखोहा) निरुपमा उपमारहिताः । इदूषः पुमान् कोऽपि
नास्ति येन सिद्धा उपमीथन्ते अचला: स्वस्थानादासुरीकोटितम् भागमपि न परतो
गच्छन्ति । अक्षोहा-अक्षोभा: न क्षोभं प्राप्नुवन्ति । उक्ता च समन्तभद्रेणोत्सर्पिणी-
काले वागामिनि भविष्यतीर्थकरपरमदेवेन—

काले कल्पशतेऽपि च गते शिवाना म विक्षिया लक्ष्या ।

उत्पातोऽपि यदि स्थात्रैलोक्यसंभ्रान्तिकरणपदुः ॥१४॥

को तीन काल में जितना सुख होता है सिद्धपरमेष्ठी के एक क्षणका सुख
उससे अनन्तगुणा होता है ।

सिद्ध परमेष्ठी शाश्वत-सुख हैं—अविनाशी सुख से सहित हैं, शरीर
रहित हैं ज्ञानमयमूर्ति के धारक हैं और आठ कर्मोंके बन्धन से युक्त हैं ।
ऐसे सिद्ध भगवान् सिद्ध प्रतिमा कहलाते हैं ॥१२॥

गाथार्थ—वे सिद्धपरमेष्ठी निरुपम हैं, अचल हैं, क्षोभ रहित हैं,
(संसारावस्था के अन्तिमक्षणरूप उपादान से) निर्मापित हैं, अजंगमरुप
से सिद्धस्थान में स्थित हैं, कायोत्सर्गं अथवा पश्यासन मुद्रा में स्थित हैं
और शाश्वत हैं ॥१३॥

विशेषार्थ—सिद्ध भगवान् निरुपम हैं—उपमारहित हैं । ऐसा कोई
पुरुष नहीं जिससे सिद्धोंकी उपमा की जा सके । अचल हैं—अपने स्थान
से सरसोंकी अनी के एक भाग भी इधर उधर नहीं जाते हैं । अक्षोभ हैं—
क्षोभसे रहित हैं । जैसा कि आगामी उत्सर्पिणी कालमें तीर्थकर परमदेव
होने वाले समन्तभद्राचार्य ने कहा है—

काले—यदि तीनों लोकों में हल-धल मचा देने में समर्थ उत्पात भी
हो तो भी सैकड़ों कल्पकाल व्यतीत हो जाने पर भी मुक्त जीवोंमें विकार
दृष्टिगोचर नहीं होता । वे सिद्ध भगवान् स्थिर रूपसे निर्मापित हैं,

(निम्मिविषा जंगमेण रूपेण) स्थिररूपेण निर्मापितः संसारान्त्यक्षणे निष्पादिता एकसमयेन त्रिलोकविशिखरं प्राप्ता धर्मास्तिकायाभावात्परतो न गच्छन्ति । अजञ्जमेन रूपेण स्थिररूपेण तिष्ठन्ति निश्चयस्थिरप्रतिमाभिघानाः । (सिद्धार्थमि उिः) विघाना नुस्त्रिमग्ना ध्याये दिनुवनामे तनुवातवलये स्थिताः मृक्तिशिलामीषद्वनग्नधूतिमधीं भुवत्वा आकाशे निराधाराः स्थिताः (बोसरपठिमा ध्रुवा सिद्धा) व्युत्सर्गप्रतिमाः कायोत्सर्गेण पद्मासनेन वा स्थिता ध्रुवाः शाश्वता सिद्धाः प्रतिमा भवन्ति । तेऽयि वन्दनोद्या भवन्ति ॥१३॥

पठिमा—प्रतिमाधिकारस्तृतीयः समाप्तः ॥३॥

अब श्री कुन्दकुन्दाचार्य दो गाथाओं द्वारा दर्शनाधिकार कहते हैं—

दंसेइ मोक्षमार्गं सम्मतं संजमं सुधर्मं च ।

जिन्मर्यं णाणमर्यं जिणमार्गे दंसणं भणियं ॥१४॥

दर्शयति मोक्षमार्गं सम्यक्त्वं संयमं सुधर्मं च ।

निर्धन्यं ज्ञानमर्यं जिनमार्गं दर्शनं भणितम् ॥१४॥

(दंसेइ मोक्षमार्गं) दर्शयति प्रकटयति मोक्षमार्गं सम्यग्दर्शन—ज्ञान चारिकलक्षणं यत्तदर्शनम् । “कृत्ययुटोऽन्यत्रापोति” वचनात् कर्त्तरि पृद् प्रत्ययः ।

संसारावस्था के अन्तिम क्षणरूप उपादान से सिद्ध अवस्था को प्राप्त हुए हैं और एक समय में तीन लोक का शिखर को प्राप्त हुए हैं, धर्मास्तिकाय का अभाव होने से आगे नहीं जाते हैं किन्तु अर्जगम-स्थिर रूपसे वहीं स्थिर हो जाते हैं । सिद्धशिला को कुछ कम गव्यूति प्रमाण नीचे छोड़कर आकाश में निराधार स्थित हैं । व्युत्सर्गप्रतिमा रूप है—कायोत्सर्ग अथवा पद्मासनसे स्थित हैं क्योंकि मोक्ष जाने वालों के यहीं दो आसन निश्चित हैं । ध्रुव हैं—अपनी इस सिद्धत्व-पर्याय से ध्रुव हैं, शाश्वत हैं । पूर्वं तथा इस गाथा में बताये हुए विशेषणों से युक्त सिद्ध परमेष्ठी सिद्ध प्रतिमायें हैं, इन्हीं को स्थिर प्रतिमा भी कहते हैं ॥१४॥

इस प्रकार प्रतिमा नामक तृतीय अधिकार समाप्त हुआ ॥३॥

पाठ्यर्थ—जो सम्यक्त्व, संयम और सुधर्म रूप मोक्षमार्गं को दिखलाता है तथा स्वयं निर्धन्य-परिग्रह-रहित और ज्ञानमय है वह जिनमार्गं में दर्शन कहा गया है ॥ १४ ॥

विशेषार्थ—जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप मोक्षमार्गं को दिखलाता है वह दर्शन है । यहाँ “कृत्ययुटोऽन्यत्रापि”

कोइसी मोक्षमार्गी ये दर्शन कर्तुतया दर्शयति । (सम्मतं) सम्यक्त्वं तत्त्वार्थशद्वानलक्षणं । तथा (संज्ञम्) चारित्रं पञ्चमहाव्रत-समिति-विगुणित-लक्षणं दर्शयति (सुधमसंच) सुधमं ज्ञानशानादिद्वादशविष्णं तपश्च दर्शयति । कर्त्तभूत दर्शनं ? (णिग्रांथं) बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहरहितं । भूयोऽपि कर्त्तभूत दर्शनं ? (णाणमध्यं) सम्यग्ज्ञानेन निर्वृतम् । (जिणगाणे असर्व उग्निः) जिणगाणे हर्षजीवीतरागप्रतिपादिते मार्गे दर्शनं मणित विज्ञावकाशारं प्रतिपादितं, अविरतसम्यग्दृष्ट्याधारभूतं च ॥१४॥

जह फुल्लं गन्धमयं भवदि हु खोरं स विषयमयं चावि ।

तह दंसणं हि सम्मं णाणमयं होइ रूपत्वं ॥१५॥

यथा पुष्पं गन्धमयं भवति स्फुटं खोरं तदघृतमयं चापि ।

तथा दर्शनं हि सम्यग्ज्ञानमयं भवति रूपस्थम् ॥१५॥

(जह फुल्लं गन्धमयं) यथा पुष्पं गन्धमयं भवति । (भवदि हि खोरं संविषयमयं चावि) भवति हु-स्फुटं खोरं बुधं, स—तद् घृतमयं घृतपुक्तं चापि ।

व्याकरण के इस वचन से कतु वाच्य में युट् प्रत्यय होकर दर्शन, शब्द मिछ हुआ है । वह मोक्षमार्ग कथा है जिसे दर्शन कर्ता बन कर दिखलाता है ? इस प्रश्न के उत्तर स्वरूप मोक्षमार्ग को दिखलाते हैं ।

तत्त्वार्थ-शद्वान रूप सम्यक्त्व, पौच महाव्रत, पौच समिति और तोन मुप्तियों रूप चारित्र, तथा अनशनादि बारह प्रकार के तुप रूप सुधमै, यह मोक्षमार्ग है । वह दर्शन निर्गन्ध है—बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह से रहित है, तथा ज्ञानमय है—सम्यग्ज्ञान से रचा हुआ है । जिनमार्ग-सर्वज्ञ जीवीतराग देवके द्वारा प्रतिपादित मार्गमें दर्शनको सम्यक्त्व रूप कहा है । यह सम्यक्त्व रूप दर्शन, मुनि और शावकों का तथा अविरत सम्यग्दृष्टि का बाधारभूत कहा गया है ॥ १४ ॥

गाण्डार्थ—जिसप्रकार फूल गन्धमय और दूध घृतमय होता है उसी प्रकार दर्शन भी निरचयसे सम्यग्ज्ञानमय होता है । यह सम्यग्दर्शन यति शावक और असंयत सम्यग्दृष्टिके रूप में स्थित है ॥ १५ ॥

विदोषार्थ—जिस प्रकार पुष्प गन्धमय होता है अर्थात् पुष्पके प्रत्येक कणमें गन्ध विद्यमान रहता है और दूध घृतमय होता है अर्थात् दूधके प्रत्येक कणमें घृत व्याप्त रहता है उसीप्रकार दर्शन अर्थात् सम्यक्त्व भी

अपि क्षम्बादव्येऽपि कनकपाषाण-काढागिन-प्रभूतयो दृष्टान्ता ज्ञातव्याः । (तह संसरण हि सर्वम्) तथा दर्शनं सम्यक्लवं हि निश्चयेन (णाणमयं होइ) सम्यग्ज्ञानमयं भवति । रूपत्थं पतिथावकासंयतसंष्टुप्तिमूर्तिस्थितं दर्शनं ज्ञातव्यमित्यर्थः ।

दर्शनाधिकार एकादशाधिकरेषु बोधप्राभृते चतुर्थः समाप्तः ॥ १५ ॥

ज्ञानविम्बं जिनविम्बस्वलूपं निश्चयन्ति श्रीगुद्धपिच्छाचार्या भगवत्तः—

जिणविम्बं णाणमयं संजमसुद्धं सुवीतरामं च ।

जं वेइ विकलसिक्षां कम्भक्षयकारणेऽसुद्धा ॥ १६ ॥

जिनविम्बं ज्ञानमयं संयमशुद्धं सुवीतरामं च ।

यद् ददाति दीक्षाशिक्षे कर्मक्षयकारणे शुद्धे ॥ १६ ॥

(जिणविम्बं णाणमयं) जिनस्य विम्बमाकारो ज्ञानमयं मतिज्ञानशुतज्ञान-यथा—संभवत्वधिकान यथासंभव-मनःपर्यव-ज्ञानमयं भवति, तृतीयः परमेष्ठी आचार्यसंक्षेपकी जिनविम्बं ज्ञातव्य इत्यर्थः । (संजमसुद्धं सुवीतरामं च) तदुक्तं लक्षणं जिनविम्बं कर्थसूतं भवतीत्याह—संयमशुद्धं संयमेन निरतिचारचारित्रेण शुद्धं निर्वैलं, सुद्धु अविशयेन वीतरामं वीतः क्षयगतो रामः प्रीतिलक्षणो यस्मादिति

निश्चय से सम्यग्ज्ञान होता है । यही 'वियमयं चावि' में जो अपि शब्द दिया है उससे सुबर्ण पाषाण तथा काढागिन आदि अन्य दृष्टान्त श्री जगन्नाथ योग्य हैं यह दर्शन रूपस्य है अर्थात् मुनि श्रावक और असंघत सम्यग्दृष्टिके रूप में स्थित है ॥ १५ ॥

इस प्रकार बोधप्राभृत के घ्यारह अधिकारों में दर्शनाधिकार समाप्त हुआ ॥ ४ ॥

अब इस समय श्री कुल्कुन्दाचार्य भगवान् जिनविम्ब का स्वरूप दिखलाते हैं—

गाथार्थ—जो ज्ञानमय है, संयम से शुद्ध है, अत्यन्त वीतराम है तथा कर्मक्षय में कारणभूत शुद्ध दोक्षा और शिक्षा देते हैं ऐसे आचार्य परमेष्ठी जिनविम्ब हैं ॥ १६ ॥

जिणविम्ब—तीसरे आचार्य परमेष्ठी जिनविम्ब हैं—जिनके आकारको धारण करने वाले हैं । वे मतिज्ञान श्रुतज्ञान और यथासंभव अवधिज्ञान तथा यथासंभव मनःपर्यंज्ञानसे युक्त होनेके कारण ज्ञानमय हैं । संयम—

बीतरागं । 'अज क्षेपणे' इति धातोः प्रयोगात् । "अजेवीः" इति अनाद्येवातो-
वर्णिरादेशः अकारासद्गुणाद्विकारोपणा निवेदिका च जिनविम्बं भवति । (जं देह
शिखसिद्धात्) यज्जनविम्बमाचार्यः ददाति दीक्षा द्रतारोपणलक्षणां, शिक्षा च
द्रादक्षानुप्रेक्षा लक्षणां ददाति । (कर्मकारण्यकारणे सुद्धा) कर्मकारण्यकारणे शुद्धा
निमिला । जीवन्मुक्तजिनवदाचार्योँ—माननीय इति भावार्थः । उक्ते च सोमदेवेन
सूरिणा—

ज्ञानकाण्डे क्रियाकाण्डे आतुर्वैष्णवपुरस्तः ।
सूरिदेव इवाराध्यः संसाराद्वितरण्डकः ॥ १ ॥

तस्य य करहु प्रणामं सब्वं पुज्जं च विषय ब्रह्मचल्लं ।

जस्त्य य दंसण याणं अस्थि ध्रुवं चेदणाभावो ॥ १७ ॥

तस्य च कुरुत प्रणामं सबौ पूजां विनयं वात्सल्यं ।

यस्य च दर्शनं ज्ञानं अस्ति ध्रुवं चेतनाभावः ॥ १७ ॥

(तस्य य करहु प्रणामं) तस्य य जिनविम्बस्तुराचार्यस्य
प्रणामं नमस्कारं पञ्चाङ्गमष्टाङ्गं वा कुरुत यूयं हे भव्यजीवा ! अकारादुपा-

निरतिचार चारित्रसे शुद्ध हैं और अतिशय बीतराग हैं—प्रीतिरूप रामसे
रहित हैं । यही 'सुवीथरायं च' पद में जो चकार दिया है उससे आचार्य
परमेष्ठो के मुण्डों को अधिक रूपसे बढ़ाने वाली सिद्ध भूमिको भी जिन-
विम्ब जानना चाहिये । आचार्यं परमेष्ठो कर्मकारण में कारण निमिल द्रत-
षारण रूप दीक्षा और बारहु अनुप्रेक्षा रूप शिक्षाको देते हैं । तात्पर्य यह
है कि आचार्ये जीवन्मुक्त हैं अतः जिनेन्द्रके समान माननीय हैं । जैसा कि
सोमदेव सूरि ने कहा है—

ज्ञानकाण्डे—जो ज्ञानकाण्ड और क्रियाकाण्ड में शिक्षा और दीक्षामें
ऋषि, यति, मुनि और अनगार इन चार प्रकारके मुनियों के अवसर हैं
तथा संसाररूपी समुद्रसे पार करने के लिये नौका के समान हैं ऐसे
आचार्यं परमेष्ठो देवके समान आराधना करने के योग्य हैं ॥ १ ॥

गाथार्थ—उन जिनविम्बरूप आचार्यं परमेष्ठो को प्रणाम करो, सब
प्रकार की पूजा करो उनके प्रति विनय और वात्सल्य माव प्रणट करो
जिनके कि सम्यगदर्शन तथा निश्चित रूपसे चेतनाभाव विद्यमान हैं ॥ १७ ॥

ददेषार्थ—यही जिनविम्ब शब्दसे जिनविम्बके समान मुद्दोंके धारक
आचार्यं परमेष्ठोका ग्रहण है । हे भव्य जीवो ! तुम उन्हें पञ्चाङ्ग-

व्यायस्य सर्वसाधोपच प्रणामं कुरुत तयोरपि जिनविष्वस्वरूपत्वात् (सबं पुजनं च विणय वच्छुद्दलं) सर्वे पूजामष्टविष्वमर्चनं च कुरुत यूयमिति, तथा विनयं हस्त-योटनं पादपतनं सम्मुखगमनं च कुरुत, वारसत्यं भोजनं पानं पादमर्दनं शुद्ध-तैलादिनाङ्गाभ्यङ्गनं तत्प्रकालनं चेत्यादिकं कर्म सर्वं तीर्थंकुर नाम कर्मोपार्जन-हेतुभूतं वैव्यावृत्यं कुरुत यूयम् । उक्तं च समन्तभद्रेण महामुनिना—

२३१०१

'व्यापात्तेष्यप्रत्यनोदः पदयाः सर्वैऽहमें च गुणरागात् ।

वैव्यावृत्यं पावानुपग्रहोऽन्योऽपि संयमिनाम् ॥ १ ॥

तथा चकारात्पाषाणादिवटितस्य जिनविष्वस्य पञ्चामृतैः स्नपनं, अष्टविष्वैः पूजाद्रव्यैङ्ग एवं पूजनं कुरुत यूयम् । वन्दनां भक्ति च कुरुत । यदि तथा भूतं जिन-विष्वं न मानविष्वयं गृहस्था अपि सन्तस्तदा कुम्भोपाकादिनरकादौ पलिष्यत्य यूयम् । तथा चोक्तं सोमदेवेन^३ स्वाभिना—

अथवा अष्टाङ्ग प्रणाम करो । 'च' शब्द से सूचित होता है कि उपाध्याय और सर्वं साधु को भी प्रणाम करो । क्योंकि वे दोनों भी जिनविष्व स्वरूप हो हैं । सब प्रकार की अथवा अष्ट द्रव्य से होने के कारण अष्ट प्रकार की पूजा करो, इसके सिवाय विनय-हाथ जोड़ना, पैर पड़ना तथा सम्मुख जाना आदि भी करो । वारसत्य स्नेह, भोजन, पान, पादमर्दन, शुद्ध तेल आदि के द्वारा शरीर का मालिश करना, तथा धोना आदि सब कार्य तीर्थंकर नामकर्म के बन्ध में कारणभूत वैव्यावृत्यं भावना में शामिल हैं सो इन्हें भी करो । जैसा कि महामुनि समन्तभद्र स्वामी ने कहा है—

व्यापत्ति—संयमी जनोंकी व्यापत्ति-विष्व बाधाको दूर करना, पैर दाढ़ना तथा गुणोंमें राग होनेके कारण उनका जितना भी उपकार है वह सब वैव्यावृत्य है ।

मूल गाथा में 'तस्स' पदके आगे जो चकार का ग्रहण किया है उससे यह अर्थ सूचित होता है कि आप लोग पाषाण आदि से निर्मित जिन प्रतिमा का पञ्चामृत से अभिषेक और आठ प्रकारकी पूजा सामग्रीसे पूजा करो, वन्दना तथा भक्ति भी करो । यदि तुम लोग गृहस्थ होते हुए भी तथा भूत जिनप्रतिमा की मान्यता नहीं करोगे तो कुम्भोपाक आदि नरकों में पढ़ोगे । जैसा कि सोमदेव स्वामी ने कहा है—

१. रत्नकरम्भश्रावकाचारः ।
२. सोमदेव सूरिस्वामिना क० ।

‘अपूजयित्वा यो देवान् मुनीननुपचर्यं च ।

यो भुञ्जीत गृहस्थः सत् स भुञ्जीत परं तमः ॥ १ ॥

परं तम् इति कोऽर्थः ? कुम्भीपाकनरकः, सप्तमे नरके पञ्च विलानि तेषां नामानि यथा—रीरवमहारीख्यासिपत्रकूटशालमलोकुम्भीयाका इति सप्तमे नरके यानि चतुर्दिक्षु चत्वारि विलानि वर्तन्ते तात्पर्यं रज्जुप्रमाणानि सन्ति, तेषां मध्ये यत्कुम्भीयाकसंज्ञकं पञ्चमे विलमस्ति तदेकयोजन-लक्ष-प्रमाणं वर्तते पञ्चभिर-पिरज्जुरेका भूमी रुद्धा वर्तते । (जस्त य देखण णाणं) यस्य पूर्वोक्तलक्षणस्य जितविम्बस्य दर्शनं ज्ञानं च वर्तते । (अस्तिथुं चेयणाभावो) अस्ति विद्यते श्रूतं निष्ठयेन चेतनाभाव आत्मस्वरूपं स्थापनान्यासेनापीति तात्पर्यम् ।

तदवयगुणेहि शुद्धो जाणवि पिच्छेहि शुद्धसम्मतं ।

अरहंतमुद्द ऐसा दायारी दिवखसिक्षा य ॥ १८ ॥

तयोव्रतगुणेः शुद्धः जानाति पश्यति शुद्ध सम्यक्त्वम् ।

अर्हन्मुद्दा ऐसा दाशी दीक्षा शिक्षाणां च ॥ १८ ॥

अपूजयित्वा—जो मनुष्य गृहस्थ होता हुआ भी देवों की पूजा और मूनियों की परिचर्या किये विना भोजन करता है वह परम तम को प्राप्त होता है ।

प्रश्न—परम तम, इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर—कुम्भीपाक नरक ।

सातवें नरक के पाँच बिल हैं उनके नाम इस प्रकार हैं १ रोरव २ महारोरव ३ असिपत्र ४ कूट शालमली और ५ कुम्भीपाक । सातवें नरक को चारों दिशाओं में जो चार बिल हैं वे आधी रज्जु प्रमाण हैं और उन चारों बिलोंके बीच में जो कुम्भीपाक नामका पाँचवाँ बिल है वह एक लाख योजन प्रमाण है । इन पाँचों बिलों के द्वारा एक राजु प्रमाण भूमि रुकी हुई है । जिसका लक्षण पहले कहा जा चुका है ऐसे जिन-विम्ब रूप आचार्य परमेष्ठी के दर्शनं तथा ज्ञान विद्यमान रहता है और निश्चय से चेतना भाव अर्थात् आत्मस्वरूपकी उपलब्धि रहती है । पाषाण आदि से निर्मित जिनविम्बमें चेतनाभाव स्थापना-निष्ठेप से होता है ॥ १९ ॥

गाथार्थ—जो तप व्रत और गुण से शुद्ध हैं, वस्तु स्वरूप को जानते

(तप वयगुणेहि सुद्धो) तपोभिर्द्विषमेदः, व्रतैरहसासत्यास्तेपवहा परिग्रहैः पञ्चमिः गुणैः पूर्वचित्तलक्षणैश्चतुरशीतिलक्षैः शुद्धो निष्कलङ्घौः । (जाणवि पिञ्चेहि सुद्धं सम्मतं) जानाति सम्यग्ज्ञानवान् पश्यति स्वरूपं वेत्ति, कस्य ? शुद्धसम्बवलस्य पञ्चविंशतिमलरहितस्य (अरहन्तमुद्द एसा) श्रीमद्भगवहंसवंज-वीतरागस्य मुद्धा आकार एषा अमर्त्यायैलक्षणा पाषाणघटित-विष्वस्वरूपा यन्त्र-मन्त्राराधनगम्या च जिनविम्बं भवति । (दायारी दिक्षसिक्षा य) कथंभूता मुद्धा ? दात्री दायिका, कासाम् ? दीक्षासिक्षाणाम् । अक्षराद्यात्राप्रतिष्ठादि-कर्मणां च प्रवत्तिका ।

जिनविम्ब—इति श्री बोधप्राभृतेः जिनविवादिकारः पंचमः समाप्तः ॥५॥

अथेदानीमेकया गाथया जिनमुद्धां निरूपयन्ति श्रीमद्देलाचार्यः—

ददसंजममुद्धाए इदियमुद्धा कसायददमुद्धा ।

मुद्धा इह णाणाए जिनमुद्धा एरिसा भण्या ॥१९॥

हैं, तथा शुद्ध सम्यक्त्व के स्वरूप को देखते हैं ऐसे आचार्य ही अरहन्त मुद्धा हैं—जिनविम्ब है । यह अरहन्त मुद्धा दीक्षा और शिक्षा को देनेवाली है ॥१८॥

विशेषार्थ—तपके अनशन आदि बारह मेद हैं, अहिंसा, सत्य, अचीर्य, ब्रह्माचर्य और अपरिग्रह के मेदसे व्रतके पांच मेद हैं तथा गुणोंके चौरासीलाल मेद पहले कहे जा चुके हैं जो इन तप आदिसे शुद्ध हैं—निष्कलङ्घौ है—जिनके तप आदिमें कभी दोष नहीं लगते, जो वस्तु-स्वरूपको जानते हैं—सम्यग्ज्ञान से युक्त हैं, तथा जो पञ्चोंस मल से रहित सम्यक्त्व के स्वरूप को देखते हैं—जानते हैं ऐसे आचार्य परमेष्ठी अरहन्त मुद्धा हैं, सर्वज्ञ वीतराग अरहन्त भगवान् की मुद्धा—आकृति को धारण करने वाले हैं । इनके सिवाय यन्त्र और मन्त्र से जिनकी आराधना होती है ऐसी पाषाण निर्मित प्रतिमाएँ भी जिनविम्ब कहलाती हैं । यह अरहन्त मुद्धा दीक्षा और शिक्षा को देनेवाली है और चकार से यात्रा तथा प्रसिष्ठा आदि कार्योंको प्रवत्तनि वाली है ॥१८॥

इसप्रकार बोधप्राभृत में जिनविम्ब नामका पांचवाँ अधिकार समाप्त हुआ ॥५॥

पाठार्थ—जो संघर्ष की दुर्दमुद्धा से सहित है, जिसमें इन्द्रियोंका

वृद्धसंयममुद्रय इन्द्रियमुद्रा कथायदृढमुद्रा ।
मुद्रा हह जानेन जिनमुद्रा ईदृशी भणिता ॥१९॥

(वह संजभमुहार) दृढया वज्रघटिकप्रायया संयममुद्रया षड्जीवनिकाय-रक्षण-लक्षणया एविन्द्रियसंकोचस्वरूपया च मुद्रया वेषेण जिनमुद्रा भवति । (ईदियमुहा कथायदृढमुहा) इन्द्रियाणां स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षुःश्रोत्राणां द्रव्येन्द्रियाणां यत्र मुद्रणं कूर्मवरकरणे—संकोचनमिन्द्रियमुद्रोच्यते सा जिनमुद्रा भवति । (कथायदृढमुहा) कथायाणां वृद्ध गाँड मुद्रणं कथायदृढमुद्रा । (मुहा हह णाणाए) मुद्रा हह जिनशासने जानेन भवति, अहूर्मिशं पठनपाठनादिना जिनमुद्रा भवति । (जिनमुहा एस्सा भणिथा) जिनमुद्रेदृशी भणिता । मुनीमासाकारो जिनमुद्रा । ब्रह्मचारिणामाकारचक्रवर्तिमुद्रा ते उभये अपि माननीये । यदि केशचदूरभिनिवेशेन तां न भानयति स पुष्टान् जिनमुद्राद्वाहो विशिष्टैर्दण्डनीय इति भावार्थः ।

मुद्रण—संकोच है, जिसमें कथायोंका दृढ़ मुद्रण-नियन्त्रण है और जो सम्यग्ज्ञानसे सहित है, ऐसो मुनिमुद्रा ही जिनमुद्रा है । जिन शासनमें यही जिनमुद्रा कही गई है ।

विशेषार्थ—छहकाव के जीवोंकी रक्षा करना तथा छह इन्द्रियोंको संकुचित करना संयम मुद्रा है । जिसमें यह संयममुद्रा वज्र से निर्मित के समान अत्यन्त दृढ़ होती है वह मुनि-मुद्रा जिन-मुद्रा कहलाती है । जिस मुनिमुद्रा में स्पर्शन रसन घ्राण चक्षु और श्रोत्र इन द्रव्येन्द्रियोंका कल्पुए के समान संकोच किया जाता है तथा कोवादि कथायोंका अच्छी तरह नियन्त्रण होता है वह जिनमुद्रा कहलाती है । जिस मुनिमुद्रा में रात दिन पठन पाठन आदि के द्वारा ज्ञान का प्रचार होता है वह जिनमुद्रा है । जिनशासन में जिनमुद्रा ऐसी कही गई है । मुनियों के आकारको जिन-मुद्रा और ब्रह्मचरियोंके आकारको चक्रवर्ति-मुद्रा कहते हैं । ये दोनों ही मुद्राएँ माननीय हैं—पदके अनुकूल आदर के योग्य हैं । यदि कोई दुष्ट अभिप्राय उस जिनमुद्राका सन्मान नहीं करता है तो वह जिनमुद्राका द्वाहो है तथा विशिष्ट जनों के द्वारा दण्डनीय है । शिर दाढ़ी और मूळ के केशोंका लोच करना, भयूर-पिच्छ धारण करना, कमण्डलु हाथ में रखना और नीचेके बाल रखना यह जिनमुद्रा मुनि-मुद्रा है ।

१. करचरणसंकोचनं म०, छ० ग्रती 'कूर्मवरकरणं संकोचनमिन्द्रियमुद्रोच्यते सा जिनमुद्रा भवति इति पाठो नास्ति' ।

शिरः—कूचेशमशुलोचा भयूरपिञ्चउपरः कमण्डलुकरोऽधिकेशरक्षणं इति जिनमुद्रा
सा मान्यते । तदुक्तमिन्द्रनन्दिना प्रतिष्ठाचार्येण—

मुद्रा सर्वत्रमान्या स्यान्तिमुद्रो नैव मान्यते ।

राजमुद्राधरोऽत्यन्तहीनवच्छास्त्रनिर्णयः ॥ १ ॥

जिनमुद्रा—इति श्री बोधप्राभृते जिनमुद्राचिकारः षष्ठः समाप्तः ।

अथेदानीं ज्ञानाधिकारः प्रारम्भते—

संजमसंजुलस्स य सुक्षाणजोयस्स मोक्षमगगस्स ।

णाणेण लहूदि लक्खं तस्मा णाणं च णायत्वं ॥ २० ॥

संयमसंयुक्तस्य च मुद्धानयोगस्य मोक्षमागंस्य ।

ज्ञानेन लभते लक्ष्यं तस्मात् ज्ञानं च ज्ञातव्यम् ॥ २० ॥

(संजमसंजुलस्स य) संयमेनेन्द्रियजपत्राणरक्षणलक्षणेन संयुक्तस्य सहितस्य ।
(सुक्षाणजोयस्स मोक्षमगगस्स) सुखु-ध्यान-योगस्य आत्म-रौद्रध्यानद्वयरहितस्य
ध्यानस्य धर्मध्यानशुचलध्यान-द्वयस्य योगेन संयोगेन सहितस्य, एवं विशेषणद्वय-
विशिष्टस्य मोक्षमागंस्य सम्बन्धितेन । (णाणेण लहूदि लक्खं) ज्ञानेन करण-

इसका सम्मान किया जाता है । जैसा कि इन्द्रनन्दी प्रतिष्ठाचार्य ने
कहा है—

मुद्रा—सब जगह मुद्रा माननीय होती है, मुद्रा-रहितका सम्मान नहीं
होता । जिस प्रकार राजमुद्रा को धारण करने वाला अत्यन्त हीन मनुष्य
भी मान्य होता है । धारणका यही निर्णय है ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्री बोधप्राभृत में जिनमुद्राचिकार नामका छठवाँ अधि-
कार समाप्त हुआ ।

अब आगे ज्ञानाधिकार प्रारम्भ किया जाता है ।

गाथार्थ—संयमसे सहित और उत्तमध्यान के योग से युक्त मोक्ष-
मागंका लक्ष्य ज्ञान से ही प्राप्त होता है, अतः ज्ञानको जानना
चाहिये ॥ २० ॥

विशेषार्थ—जो मोक्षमागं इन्द्रिय-संयम तथा प्राणिसंयम से युक्त है
एवं आत्मरौद्र रूप खोटे ध्यानों से रहित होकर धर्म और शुक्ल नामक
उत्तम ध्यानोंसे सहित है, उसके लक्ष्य-निजात्म-स्वरूपको यह उत्तम-

भूतेन लभते । कि कर्मतायनं ? लक्ष्यं निजात्म स्वरूपम् । (तस्मा याणं च पायब्दं) तस्मात्कारणाज्ञानं च ज्ञातव्यं, न केवलमायतनादि-षट्कं ज्ञातव्यं किन्तु ज्ञानं च ज्ञातव्यं । च शब्दः परस्परसमुच्चयाद्यः ॥ ॥

जहु णवि लहदि हु लबखं रहिओ कंडस्स बेजजयविहीणो ।
तहु णवि लबखदि लबखं अणाणी मोक्खमग्गस्स ॥ २१ ॥

यथा नापि लक्षयति स्फुटं लक्ष्यं रहितः काण्डस्य बेघ्यकावहीन ।
 तथा नापि लक्षयति लक्ष्यं अज्ञानी मोक्षमाग्गस्य ॥ २१ ॥

(जहु ण वि लहदि हु लबखं) यथा तेन प्रकारेण नापि नैव लभते, हु-स्फुटं, लक्ष्यं बेघ्यं । कोऽसो बेघ्यं न लभते ? (रहिओ कंडस्स बेजजयविहीणो) रहितोऽम्यासुरहितः, काण्डस्स वाणस्य, बेघ्यकविहीनोऽनम्यस्त्वेघ्यव्यवहनः पुमान् । (तहु ण वि लबखदि लबखं) तथा तेन प्रकारेण नापि लक्षयति ज्ञानाति लक्ष्यं परमात्मानं । (अणाणी मोक्खमग्गस्स) अज्ञानी ज्ञानरहितः पुमान् मोक्षमाग्गस्य सम्परदर्शनज्ञानचारित्रलक्षणस्य लक्ष्यं निजात्मस्वरूपं न लक्षयति ॥ २१ ॥

ज्ञानके द्वारा प्राप्त करता है इसलिये ज्ञानको जानना चाहये । साधुके मात्र आय-न आदि छह पदार्थोंको ही नहीं जानना चाहिये किन्तु ज्ञानको भी जानना चाहिये । च शब्द परस्पर समुच्चय करने वाला है ॥ २० ॥

गायार्थ—जिस प्रकार निशाना वेधने के अभ्यास से रहित पुरुष वाण के लक्ष्य निशानाको नहीं प्राप्त करता है उसी प्रकार अज्ञानी-आत्म-स्वरूप के चिन्तनके अभ्यास से रहित पुरुष मोक्षमार्ग के लक्ष्य-निज आत्म-स्वरूप को नहीं प्राप्त कर सकता है । मोक्षमार्ग सम्परदर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप है ॥ २१ ॥

बिद्धोषार्थ—निशाना वेधने के अभ्यास से रहित पुरुष जिस प्रकार वाणके निशाना को नहीं प्राप्त कर पाता है, उसी प्रकार अज्ञानी-आत्म-स्वरूप के चिन्तनके अभ्यास से रहित पुरुष मोक्षमार्ग के लक्ष्य-निज आत्म-स्वरूप को नहीं प्राप्त कर सकता है । मोक्षमार्ग सम्परदर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप है ॥ २१ ॥

णाणं पुरिसस्त हवदि लहूदि सुपुरिसो वि विणयसंजुत्तो ।
णाणेण लहूदि लक्ष्यं लक्ष्यतो मोक्षमगगस्त ॥ २२ ॥

ज्ञानं पुरुषस्य भवति लभते सुपुरुषोऽपि विनयसंयुक्तः ।

ज्ञानेन लभते लक्ष्यं लक्ष्यन् मोक्षमार्गस्य ॥ २२ ॥

(ज्ञानं पुरिसस्त हवदि) ज्ञानं श्रुतज्ञानं पुरुषस्यासम्भव्यजीवस्य भवति संतिष्ठते । (लहूदि सुपुरिसो वि विणयसंजुत्तो) लभते प्राप्नोति ज्ञानं सुपुरुषोऽस्यासन्भव्यजीवः । [अपि शब्दाद् ब्राह्मी-सुन्दरी राजमतिै चन्दनादिदत् एकादशाङ्कानि लभन्ते, मृगलोचना अपि स्त्रीलिङ्गं छिस्वा स्वर्गसुखं भुक्त्वा राजकुलादिपूरुषाद्य मोक्षं तृतीयेऽपि भवते लभन्ते । पुरुषास्तु । सकलं श्रुतं लब्ध्वा तद्भवेऽपि मोक्षं यान्ति । इदूर्णं ज्ञानं कः प्राप्नोति ? विणय-संजुतो-विनयसंयुक्तो गुरुवरणरेणु-रङ्गितमालस्वरूपं इति भावार्थः (णाणेण लहूदि लक्ष्यं) ज्ञानेन श्रुतज्ञानेन लभते लक्ष्यं निजात्मस्वरूपं । (लक्ष्यतो मोक्षमगगस्त) लक्ष्यन् व्यायन् लक्ष्यं लभते, कस्य लक्ष्यं ? मोक्षमार्गस्य रत्नत्रयस्य ॥ २२ ॥]

गाथार्थ—ज्ञान पुरुष के होता है, अर्थात् विनय से संयुक्त सत्पुरुष ही ज्ञान को प्राप्त होता है और ज्ञानके द्वारा चिन्तन करता हुआ वही सत्पुरुष मोक्षमार्गके लक्ष्य निजात्मस्वरूप को प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

विशेषार्थ—यहां ज्ञान से श्रुतज्ञान विवक्षित है वह श्रुतज्ञान निकट-भव्य जीवके होता है तथा विनय से संयुक्त निकट-भव्य जीव ही उस श्रुतज्ञानको प्राप्त होता है । 'सुपुरुषोऽपि' के साथ जो अपि शब्द दिया है उससे यह सूचित होता है कि ब्राह्मी, सुन्दरी राजमती तथा चन्दना आदिके समान स्त्रीर्थी भी ग्यारह अङ्ग तक श्रुतज्ञान प्राप्त करती हैं और वे भी स्त्रीलिङ्गं छेदकरं स्वर्गं सुखका उपभोग कर राजकुल आदि में उत्पन्न हो तृतीयभव में मोक्ष को प्राप्त होती हैं । परन्तु पुरुष सम्पूर्ण श्रुतज्ञान प्राप्त कर उसी भव में मोक्ष जा सकते हैं ।

प्रश्न—ऐसे ज्ञानको कौन पुरुष प्राप्त होता है ?

उत्तर—विनय से सहित अर्थात् गुरुओं की चरण-रज से जिसका भस्तक रंग द्वारा हुआ है ऐसा सत्पुरुष ही प्राप्त होता है । वह विनयी मनुष्य, श्रुतज्ञान के द्वारा रत्नत्रय रूप मोक्षमार्ग का चिन्तन करता हुआ लक्ष्य—निजात्मस्वरूपको प्राप्त होता है ।

मद्विष्णु जस्स थिरं सद्गुण बाणा सुअत्ति रयणते ।

परमत्यवद्वृलक्षो ण ति चूकुकदि मोक्षमस्तुत ॥२३॥

मतिधनुर्यस्य स्थिरं श्रुतगुणी वाणा सुतन्ति रत्नत्रयस् ।

परमार्थवद्वृलक्षो नापि स्वल्पत मोक्षमार्गस्य ॥२३॥

(मद्विष्णु जस्स थिरं) मतिर्भविज्ञानं वस्य मुनेधनुर्वचारं स्थिरं निश्चलं ।

(सद्गुण) श्रुतज्ञानं गुणः प्रस्थञ्चा । , (वाणा सुअत्ति रयणते) वाणा शराः

सुषु अतिशयवत्तः सत्ति विद्यन्ते, कि ? रत्नत्रयं भेदाभेदलक्षणं रत्नत्रयं ।

(परमत्यवद्वृलक्षो) परमार्थं निजात्म-स्वरूपे वद्वृलक्ष्यः । निश्चलीकृतात्म—

स्वाह्यो मुनिः । (ण ति चूकुकदि मोक्षमस्तुत) न स्वल्पत मोक्षमार्गस्य लक्ष्ये

इति सम्बन्धः । तथा चोक्त श्रीकीरतनिदिशिष्येण पद्मनन्दिनाचार्येण—

प्रेरिताः श्रुतगुणेन शेषुषीकामुकेन शरवद्वृशादयः ।

बाह्यवेध्यविषयेऽकृतश्रमाश्चिद्रणे प्रहृतकर्मशत्रवः ॥ १ ॥

तथा च सोमदेवस्वामिनापि श्रुतज्ञानस्य गुणस्तुतिः कृता—

शाखार्थ—मतिज्ञान जिसका मजबूत धनुष है, श्रुतज्ञान जिसकी डोरी है, रत्नत्रय जिसके वाण हैं और परमार्थ में जिसने निशाना बाँध रखा है, ऐसा पुरुष मोक्षमार्गमें नहीं चूकता है ॥ २३ ॥

विशेषार्थ—जिस मुनिके पास मतिज्ञान रूपी निश्चल धनुष है, श्रुतज्ञान रूपी डोरी है, भेदाभेद रत्नत्रय रूप वाण हैं, और निजात्मस्वरूप परमार्थमें जिसने अपना लक्ष्य बाँध रखा है, ऐसा मुनि मोक्षमार्गके लक्ष्य में कभी नहीं चूकता । जैसा कि श्री बोरनन्द के शिष्य पद्मनन्द आचार्य ने कहा है—

प्रेरिता—जिन्होंने श्रुतज्ञान रूपी डोरी से युक्त मतिज्ञान रूपी धनुष के ढारा वाणों की तरह सम्यगदर्दीन आदि रत्नत्रय को प्रेरित किया है— चलाया है और जो बाह्य पदार्थ रूप निशाने के विषय में अकृतश्रम-अनभ्यस्त है अर्थात् निजात्मस्वरूप रूपी लक्ष्य के बेधने में ही जिन्होंने श्रम किया है, ऐसे मुनि आत्मरण में कम-रूपी शक्तिशालीओं को नष्ट कर पाते हैं ।

इसा प्रकार सोमदेव स्वामोने भी श्रुतज्ञान के गुणोंकी स्तुति की है—

अत्यल्पायतिरक्षजा मतिरियं बोधोऽवधिः सावधिः,
साश्चर्यः क्वचिदेव योगिनि सच्च स्वल्पो मनःपर्ययः ।
दुष्प्राप्य पुनरत्य केवलमिदं ज्योतिः कथागोचरं,
माहात्म्यं निखिलार्थं तु सुलभे कि वर्णयामः श्रुते ॥ १ ॥

णाण—इति श्री बोधप्राभृते ज्ञानाधिकारः सप्तम समाप्तः । ७ ॥

अथेदानीं गायत्रयेन देवस्वरूपं निरूपयन्ति श्रीकुन्दकुन्दाचार्याः—

सो देवो जो अत्थं धर्मं कामं सुदेह णाणं च ।

सो देवेह जस्त अत्यि दु अत्थो धर्मो य पश्चज्जा ॥ २४ ॥

स देवो योऽर्थं धर्मं कामं सुददाति ज्ञानं च ।

स ददाति यस्य अस्ति तु अर्थः धर्मैव प्रश्चज्या ॥ २४ ॥

(सो देवो जो अत्थं) स देवो योऽर्थं धर्मं निधि—रत्नादिक ददाति ।

(धर्मं कामं सुदेह णाणं च) अर्थं चारित्रलक्षणं दयालक्षणं वस्तु-स्वरूपमात्रमो-
पलङ्घिलक्षणमुक्तमक्षमादिदक्षमेद सुददाति तु उड्हु अर्थात् यस्ति । प्रग-धर्म-
मण्डलिक मण्डलिक महामण्डलिक बलदेव वासुदेव चक्रवतीन्द्र-घरणेन्द्र योगं तीर्थकर-

अत्यन्ता—इन्द्रियोंसे होने वाला यह मतिज्ञान अत्यन्त अल्प है, अवधिज्ञान अवधि-सोमा से सहित है, आश्चर्य से युक्त मनःपर्ययज्ञान किसी मुनिके होता है फिर भी अत्यन्त अल्प है और यह केवल ज्ञानरूप ज्योति इस समय अत्यन्त दुलंभ होने से मात्र कथा का विषय है परन्तु श्रुतज्ञान समस्त पदार्थों को विषय करता है तथा सुलभ भी है अतः उसके माहात्म्य का क्या वर्णन करें? अर्थात् उसका माहात्म्य वर्णनातीत है ॥

इस प्रकार बोध-प्राभृत में सातवाँ ज्ञानाधिकार समाप्त हुआ ॥ ७ ॥

गायत्रार्थ—देव वह है जो अर्थं, धर्मं, काम और ज्ञानको अच्छी तरह देता है। लोक में यह त्याय है कि जिसके पास जो वस्तु होती है वही उसे देता है। देवके पास अर्थ है, धर्म है (चकार से) काम है और प्रश्चज्या-दीक्षा अथवा ज्ञान है ॥ २४ ॥

विशेषार्थ—अर्थ, निधि-रत्न आदि धर्मको कहते हैं। धर्मका लक्षण चारित्र, दया, वस्तु-स्वभाव, आत्मोपलब्धि, अथवा उत्तम क्षमा आदि दक्षमेद हैं। कामका अर्थ अर्धमण्डलिक, मण्डलिक-महामण्डलिक, बलभद्र,

भोगं च यो ददाति स देवः । सुष्टु ददाति ज्ञानं च केवलं ज्योतिः ददाति । (सो वेद जस्त अत्थि हु) स ददाति यस्य पुरुषस्य यदस्तु कर्तवे असत्कर्यं दातुं समर्थः । (अत्थो धर्मो य पञ्चज्ञा) यस्यार्थो वर्तते सोऽर्थं ददाति, यस्य धर्मो वर्तते स धर्मं ददाति, यस्य प्रद्वज्या दीक्षा वर्तते स केवलज्ञानहेतुभूतां प्रद्वज्यां ददाति, यस्य सर्वं सुखं वर्तते स सर्वं-सौख्यं ददाति । उक्तं च गुणभद्रेण गणिना—

‘सर्वं प्रेषति सत्युखाप्तिमचिरात्सा सर्वकर्मनात्
सद्वृत्तास्स च तच्च—बोधनियतं सोऽप्यागमात्स श्रुतेः ।
सा चाप्तात् स च सर्वदोषरहितो रागादयस्तेऽप्यत—
स्तं युक्त्या सुविचार्य सर्वसुखदं सन्तः श्रयन्तु विष्ये ॥ १ ॥

धर्मो दयाविशुद्धो पञ्चज्ञा सम्बसंगपरिच्छता ।
देवो व्यवग्रामोहो उदययरो भव्यजीवाणां ॥२५॥
 धर्मो दयाविशुद्धः प्रद्वज्या सर्वसञ्ज्ञप्रित्यवता ।
 देवो व्यवग्रामोहः उदयकरो भव्यजीवानाम् ॥२५॥

नारायण, चक्रवर्ती, इन्द्र, भरणेन्द्र और तीर्थकर के भोग हैं और ज्ञानका अर्थ केवलज्ञान रूप ज्योति है । जो इन अर्थं धर्मं आदि को देता है वह देव है । जिस पुरुषके पास जो वस्तु होती है उसे ही वह देता है । अविद्यमान वस्तु को देने के लिये कोई कैसे समर्थ हो सकता है । इस तरह यह सिद्ध इआ कि जिसके पास अर्थ—धर्म है वह देता है जिसके पास धर्म है वह धर्म देता है, जिसके पास प्रद्वज्या-दीक्षा है वह केवलज्ञान की प्राप्ति में कारणभूत प्रद्वज्या को देता है और जिसके पास सब सुख है वह सब सुख प्रदान करता है । जैसा कि गुणभद्रोचार्य ने कहा है—

सर्वः प्रेषति—समस्त प्राणी शीघ्र ही समीचीन सुख प्राप्तिकी इच्छा करते हैं, सुखकी प्राप्ति समस्त कर्मोंके क्षयसे होती है समस्त कर्मोंका क्षय सद्वृत्त-सम्यक्त्वारित्रसे होता है, सद्वृत्त-सम्यक्त्वारित्र ज्ञानके अधीन है, ज्ञान आगम से होता है, आगम श्रुतिसे होता है, श्रुति आससे होती है, आस समस्त दोषोंसे रहित होता है और दोष रागादि हैं अतः सर्वुरुष लक्षणोंके लिये युक्तिपूर्वक विचार कर सर्वं सुखदायी उस आसकी उपासना करें ।

गाथार्थ—दया से विशुद्ध धर्मं, सर्वपरिग्रह से रहित प्रद्वज्या

(षष्ठी दध्यविमुद्गो) षष्ठीं दध्या विशुद्धो निर्देशः, तो दहरं कुर्वन्ति दर्मबलं पितृति, अजिन-तैलमास्वादयति, कुन्तुष्यृतं भुक्ते, भूतनाशनमत्ति, तस्य पुंसो षष्ठीं विशुद्धो न भवति स—ैयतिवेषधार्यार्थं प्लेच्छो ज्ञातव्यः । (प्रवज्ज्या सव्यसंग-परिचत्ता) प्रवज्ज्या सर्वसञ्ज्ञ्यरित्युक्ता भवति, यो दण्डं करे करोति, कम्बलमुप-दधाति, शङ्कुकर्त्तनारीस्थृष्टमन्तमश्नाति स कथं प्रवज्यावान् भवति । (देवो यवगयमोहो) देवो व्यपगतमोहः, या देवोऽवर्गे वनितां दधाति, यो देवो हृदय-स्थले लक्ष्मीमुपवेशयति, यो देवो दण्डं घरति, यो देवो वेश्यां चोपभृक्ते, विशिष्ठ-पिता भवति स कथं देवः । (उदययरो भस्त्रजीवाणं) भव्य-जीवानामुदयकरः उल्कुष्टतीर्थकरनामशुभदायकः स देवो ज्ञातव्यः ॥२५॥

वेदं हति श्री बोधप्राभूते देवाधिकारोऽस्तमः समाप्तः ॥८॥

और मोह से रहित देव, ये तीनों भव्य जीवोंका कल्याण करने वाले हैं ॥२५॥

विशेषार्थ—षष्ठी दया से विशुद्ध-निर्मल ब्रोता है । जो दया करता हुआ भी चमड़े के पात्रका जल पीता है, चमड़े के पात्रका तैल खाता है, चमड़े के वर्तनका धी खाता है, तथा मांग खाता है उस पुरुषका षष्ठी विशुद्ध नहीं होता, उसे मुनिवेष का धारी होने पर भी प्लेच्छ जानना चाहिये । प्रवज्ज्या सर्वपरिग्रह से रहित हाती है, जो हाथ में दण्ड रखता है, कम्बल रखता है, तथा शूद्धा स्त्रीके हाथका छुआ अन्त खाता है वह प्रवज्या दीक्षाका धारक कैसे हो सकता है ?

देव मोहसे रहित होता है । जो देव अर्धाङ्ग में स्त्रीवों रखता है, जो देव हृदय स्थल पर लक्ष्मी को बैठाता है, जो देव हाथ में दण्ड धारण करता है, जो देव वेश्याका उपभोग करता है, और जो वसिष्ठका पिता होता है वह देव कैसे हो सकता है ? दयासे विशुद्ध षष्ठी, सर्वपरिग्रहसे रहित प्रवज्या और मोह से रहित देव ये तीनों भव्य जीवोंके उदयको करने वाले हैं अर्थात् उल्कुष्ट तीर्थकर नामक शुभ पदके देने वाले हैं ॥२५॥

इस प्रकार श्री बोधप्राभूत में देवाधिकार नामका आठवीं धिकार समाप्त हुआ ॥८॥

अथेदानीं गाथाद्वयेन तीर्थं निरूपयन्ति श्रीपद्मनन्दिदेवाः—

वयसम्भविसुद्धे पर्चिदियसंजदे णिरावेक्षे ।

ज्ञाएउ भुणी तित्थे दिक्खासिवखासुण्हाणेण ॥२६॥

नृतसम्यक्त्वविशुद्धे पञ्चेन्द्रियसंघते निरपेक्षे ।

न्नातु मुनिस्तीर्थं श्रीशाशकासुस्नातेन ॥२६॥

(वयसम्भविसुद्धे) प्रतैरहिंसासत्यास्तेयद्युग्मत्यहलक्षणः पञ्चमिमस्तावतः सम्यक्त्वेन च पञ्चरहिंशितिभलहरीहितेन तत्वार्थशदानलक्षणेन, विशुद्धे विशेषेण निर्मले चमंजलाद्यास्वादनरहिततयाक्षमले तीर्थे । (पर्चिदियसंजदे णिरावेक्षे) पञ्चेन्द्रियसंघते पञ्चेन्द्रियाणि सर्वानरसन्धाणचक्षुःश्रोत्रलक्षणानि संयुक्तानि बद्धानि

अब आगे श्री कुंदकुंद देव द्वा गाथाओं द्वारा तीर्थ का निरूपण करते हैं ।

गाथार्थ—मुनि, व्रत और सम्यक्त्व से विशुद्ध, पञ्चेन्द्रियों से नियन्त्रित और बाह्य पदार्थों की अपेक्षा से रहित शुद्धात्मस्वरूप तीर्थमें दीक्षा तथा शिक्षा रूप उत्तम स्नान से स्नान करे ॥२६॥

विजेत्वार्थ—यहाँ जिस शुद्ध बुद्धेक्त्वभाव रूप लक्षण से युक्त एवं संसार समुद्रसे तारनेमें समर्थं निजात्मस्वरूप तीर्थ—जलाशय में मुनिको स्नान करनेको प्रेरणा की गई है, वह व्रत तथा सम्यक्त्व से विशुद्ध है । अहिंसा, सत्य, अचौर्य, अहम्माचर्य और अपग्रिग्रह ये पाँच व्रत अथवा महाव्रत हैं शङ्का, कंका, विचकित्सा, मूढदृष्टि, अनुपग्रहन, वस्थितीकरण, अवास्मल्य और अप्रभावना नामक आठ दोष, ज्ञानमद आदि आठ मद, लोकमूढता आदि तीन मूढताएँ और कुदेव आदि छह अनायतन इन पञ्चोंस बलोंसे रहित तत्त्वार्थका शब्दान करना सम्यग्दर्शन है । इन दोनों के द्वारा वह तीर्थं विशुद्ध है—अत्यन्त निर्मल है, राथ ही चर्मपात्र में रखे हुए जलके सेवन आदि से रहित हानेके कारण अकशमल है—उज्ज्वल है । वह तीर्थं पञ्चेन्द्रियों से सयत है—स्पृशन रसन द्वाण चक्षु और श्रोत्र ये पाँचों इन्द्रियों जिसमें संयत हैं—बहु हैं—स्पृशन रस गन्ध रूप और शब्द इन पाँच विषयोंसे रहित हैं, इसके सिवाय वह तीर्थं निरपेक्ष है—बाह्य वस्तुओं की अपेक्षासे रहित है ल्याति, लाभ आदिकी आकांक्षाओंसे रहित है और माया मिथ्यात्व तथा निदान इन तीन शल्योंसे वर्जित है । इसों तीर्थमें प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान से युक्त, महात्मा, महानुभाव मुनि को स्नान

स्पष्टं-रसगम्भरूपशब्दलक्षणपूर्वविषयरहितानि यस्मिस्तीर्थं तस्योक्तास्तस्मिन् पञ्चेन्द्रियसंयते । पुनः कथंभूते तीर्थं ? निरपेक्षे वाह्यवस्तुत्वपेक्षा एहिते आकांक्षा-रहिते माया-मिथ्यानिदानं शत्यवद्याविवर्जिते । (यहाएउ मुणी तिरथे) स्नातु स्नानं करोतु-अष्ट-कर्ममेलकलङ्क-प्रकालनं करोतु-केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयं संयुक्तो भवतु । कोउतो ? मुनिः प्रत्यक्षपरोक्षज्ञानसंयुक्तो महात्मा महानुभावो जीवः, तीर्थे षष्ठ्यकुद्दैकस्त्रभावलक्षणे निजात्मस्वरूपे संसार-समुद्रतारणसमर्थे तीर्थे स्नातु विशुद्धो भवतु । कैन कुल्वा स्नातु ? (दिक्षा-सिक्षा-सुखागेण) दीक्षा पंच-महाव्रत-पञ्चमिति-पञ्चेन्द्रियरोषलोच-वडावश्यक-कियादरोऽष्टविशतिमूलगुणा उत्तम-क्रमाभद्रवार्जवसत्यचीचसंयमं तपस्यागाकिचन्यव्याप्त्यादर्थात्तर्मिति दशलक्षि को अर्जु-अष्टादशशीलसहजाणिचतुरशीलिलक्षणगुणास्त्रयोदशविवरं चारित्रं द्वावशविवरं तपश्चेति सकलसमूर्णदोक्षा भवति, स्त्रीप्रसङ्गकर्जनं द्वावशानुप्रेक्षाचित्तनं शिक्षा किननावस्थ, सुस्तानेन कर्मकिट्ठिकरण किट्टिनिर्लापिनलक्षणेन स्नानेन स्नातु ॥२६॥

करना चाहिये अथवा अष्ट कर्म मेल रूप कलङ्कका प्रकालन करना चाहिये अथवा केवलज्ञान आदि अनन्तचतुष्टय से संयुक्त होना चाहिये ।

प्रश्न—किसके द्वारा स्नान करना चाहिये ?

उत्तर—दीक्षा और शिक्षारूप उत्तम स्नान के द्वारा ।

प्रश्न—दीक्षा क्या है ?

उत्तर—पञ्चमहाव्रत, पञ्चमिति, पञ्चेन्द्रियरोष, लोच, तथा षड्व-वश्यक किया आदि अट्ठाइस मूलगुण, उत्तम क्षमा, सार्वद, आर्जव, सत्य, शोच, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य ये दश घर्म, अठारह हजारशीलके भेद, चौरासीलाख गुण, तेरह प्रकारका आरित्र और बारह प्रकार का तप ये सब मिलकर दोक्षा कहलाती है ।

प्रश्न—शिक्षा क्या है ?

उत्तर—स्त्री प्रसङ्गका त्याग करना और अनित्य आदि बारह भावनाओंका चिन्तन करना जिनेन्द्रदेव को शिक्षा है ।

प्रश्न—सुस्तान क्या है ?

उत्तर—जिसमें कर्म रूपी किट्टिकालिमाका वभाव हो जाय ॥२७॥

जं णिम्मलं सुधमं सम्मतं संजमं तवं णाणं ।
तं तित्यं जिनमगे हवेह जवि संतिभावेण ॥२७॥

यन्निम्मलं सुधमं सम्यक्त्वं संयमस्तपः ज्ञानम् ।
तत्तीर्थं जिनमार्गे भवति यदि शान्तभावेन ॥२७॥

(जं णिम्मलं सुधमं) यज्ञिमलं निरतिचारं सुधमं सुखु शोभमं धारित्रं
तत्तीर्थं शातभ्यम् । (सम्मतं संजमो तवं णाणं) सम्यक्त्वं तत्त्वार्थशद्वानलक्षणं
तीर्थं भवति । संयम इन्द्रियाणां मनसश्च मंकोचने पृथिव्यज्ञेजीवायुवनस्पतिकाय-
स्थावस्त्रीव-रक्षणमविराघनम् । ^३द्वीन्द्रियादिपञ्चेन्द्रियत्रसर्वीवदया-करणं क्वचित्

गाथार्थ—जो निरतिचार, धर्म, सम्यक्त्व, संयम, तप और ज्ञान है
वह जिनमार्ग में तीर्थ है, वह भी यदि शान्तभाव से सहित हों । [यदि
यह धर्म सम्यक्त्व आदि भाव कोष से सहित हैं तो तीर्थ नहीं
कहलाते हैं ।]

विशेषार्थ—निर्मल—अतिचार से रहित जो उत्तम धर्म—धारित्र है
वह तीर्थ है, तत्त्वार्थ-शद्वान रूप सम्यक्त्व तीर्थ है, इन्द्रियों और मन को
बश में करना, पृथिवी जल अग्नि वायु और बनस्पति इन पाँच स्थावर
जीवोंकी रक्षा करना अर्थात् निराधना नहीं करना और द्वीन्द्रियादि
पञ्चेन्द्रियान्त त्रिस जीवोंकी दया करना, यदि कहीं प्रमाद के दोष से
विराघना हो भी जाय तो शास्त्रोक्तविधि से प्रायशिच्छत करना संयम
कहलाता है । यह संयम भी संसार समुद्रसे तारने वाला होनेसे तीर्थ है ।
तपका लक्षण इच्छाओं का निरोध करना है, वह अनशन, अवग्रोहर्य,
वृत्ति-परिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शब्द्यासन, कायकलेश, प्रायशिच्छत,
विनय, वेयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान के भेद से बारह प्रकारका
होता है । तत्त्वार्थसूत्र-मोक्षशास्त्र के नवम बध्याय में विस्तार से तप का
निरूपण किया गया है वहसि उसे जानना चाहिये । यह तप तीर्थ है ।
इसके सिवाय ज्ञान भी तीर्थ है । जिनमार्ग में निश्चयनयसे यहाँ सब
तीर्थ कहलाते हैं । व्यवहार नयसे जगत् प्रसिद्ध, निश्चयतीर्थ की प्राप्तिमें
कारण तथा मुक्त-अवस्थाको प्राप्त हुए मुनियों के चरणों से स्पृष्ट-
ऊंजंयन्त (गिरनार) शत्रुघ्नजय, लाटदेशका पाषाणिरि आमीर देशकी

१. निम्मलं क० घ० म० ।

२. द्वीन्द्रियादि (?) क० घ० द० ।

प्रभाद्येष विराघनां रास्तोऽस्तु तदलिपदः—इति संयम उच्चते सोऽपि संसारसमुद्भारक्त्वातीर्थं भवति । तप इच्छा-निरोधलक्षणं द्वादशविंश्ट तत्कार्थ-मोक्ष-कास्त्र—नवमाध्याये विस्तरेण निरूपितत्वाज्ञातम्यम् । ज्ञानं च तीर्थं भवति । (तं तिथं जिणमणे) तज्जगत्प्रसिद्धं निश्चयतीर्थप्राप्तिकारणं मुक्त-मुनिपादस्फृष्टं तीर्थं ऊर्जयन्त शत्रुघ्नयलाटदेश-पावागिरि-आभीरदेशतुंगोगिरि-नासिक्यनगर समीपवर्तिगजम्बजगजपत्य-सिद्धकूट-तारापुर-कैलाशाष्टापद-चम्पापुरी-पावापुर—बाराणसी—नगरक्षेत्र—हस्तिनाग पत्तन सम्मेदपवर्त—सह्याचल-भेदगिरि—हिमाचल ऋषिगिरि-अयोध्या—कौशाम्बी विषुलगिरि-वैभारगिरि-रुद्धगिरि-सुवर्णगिरि—रत्नगिरि-शौर्यपुर—चूलाचल—नर्मदातट-द्वोणगिरि-कुन्धु-गिरि-कोटिक-शिलागिरि जम्बुकबन चलनानदीसट तीर्थकरणवचकल्याणस्थानानि चेत्यादि । जिनमणे यानि तीर्थानि वस्तीसे तानि कर्मक्षयकारणानि वन्दनीयानि ये न बन्दन्ते ते मिष्यादृष्टयो ज्ञातम्यः । तीर्थभ्रमणं दिनाङ्गन्ते संसारे भ्रमिष्यन्ति, अनुमोदनान्व तं तरन्ति । उक्तं च पूज्यपादेन भगवता—

इक्षोविकार रसपृष्ठ गुणेन लोके

पिण्डोऽधिकं मधुरतामुपयाति यदत् ।

तदुच्च पुण्यपुहृष्टैरुपितानि नित्यं

॥ ११ ॥ जातानि तानि जगतामिह पावनानि ॥ १ ॥

तुङ्गीगिरि नासिक नगर के समोप में स्थित गजकी पताकाओंसे युक्त गजपत्या, सिद्धवरकूट, तारापुर, कैलाश, अष्टापद, चम्पापुरी, पावापुर, बाराणसी नगरका क्षेत्र, हस्तिनागपुर, सम्मेदशिखर, मुक्तागिरि, हिमाचल, ऋषिगिरि, अयोध्या, कौशाम्बी, विषुलगिरि, वैभारगिरि, रुद्धगिरि, सुवर्णगिरि, रत्नगिरि, शौर्यपुर, चूलगिरि, नर्मदानदीका तट, द्वोणगिरि, कुन्धुगिरि, कोटिशिलागिरि, जम्बुकबन, चेलना नदीका तट, तथा तीर्थकरोंके पञ्चकल्याणकों के स्थानको आदि लेकर जिनमणे में जो तीर्थ क्षेत्र प्रसिद्ध हैं वे कर्मक्षय के कारण हैं तथा बन्दना करनेके योग्य हैं, जो इन तीर्थोंकी बन्दना नहीं करते हैं उन्हें मिष्यादृष्टि जानना चाहिये । तीर्थ-भ्रमणके बिना वे अनन्त संसारमें भ्रमण करेंगे और तीर्थ-भ्रमणकी अनुमोदनासे संसारको पार करेंगे । जैसा कि भगवान् पूज्यपादने कहा है—

इक्षोर—जिस प्रकार लोकमें गुड़ या शक्कर के रससे चूर्ण अधिक

जिनमार्गं बाहु यतीर्थं जलस्थानादिकं तन्न माननीयं । तत्किम् ? गङ्गा-
य सुना-सरयू-नर्मदातापी-मागधीगोमतीकपीकतीरवस्यांभीराकालतोया कौशिकी
कालमहीतोयाऽरुणा^१ निभुरा लोहित्य समुद्र कन्धुकाशोणनद वीजामेलालोदुम्बरी
पनसात्मसा प्रभृशा शुक्लिमती पम्पासरेष्ठवती चित्रवती माल्यवती वेणुमती
विशालानालिका सिन्धुपारा निष्कुल्दरी बहुवज्ञारम्या सिकतिनीकुहासमतोया-
कञ्जा कपिवती निविन्ध्या जम्बूमती-वसुमत्यस्वगामिनी-शर्करावती-सिप्राकुलमाला
परिज्जापनसाऽवन्तिकामा हस्तपानीका गच्छुनी व्याघ्री चर्मण्वती शतभागानन्दा-
करभवेगिनी-क्षुल्लतापीरेवा--सप्तपारा-कौशिकी पूर्वदेशनदाः । उक्तं च ब्राह्मणमसे—

प्रागुदीच्छौ विमषते हंसः क्षीरोदकं यथा ।

विद्युषां शब्दसिद्धिर्थं सा तः पातु शरावती ॥

अथ दक्षिणे—तैला-हथुमती नक्तरवा चङ्गा स्वसना वैतरणी मायवती
महिंद्रा शुष्कनदी सप्तगोदावरं गोदावरी भानसप्तरः सुप्रयोगा कुण्डवर्णा सन्नीरा
प्रवेणी कुञ्जा धैर्या चूर्णा वेला शूकरिका अम्बर्णा ।

मधुरता को प्राप्त होता है उसी प्रकार पुर्ण पुरुषों से निरन्तर अधिक्षित
तीर्थ जगत् को पवित्र करने वाले होते हैं ।

जिनमार्गसे बाहु जो जलस्थान-नदी सरोवर आदि तीर्थस्थान हैं वे
माननीय नहीं हैं । जैसे गङ्गा, यमुना, सरयू, नर्मदा, ताप्ती, मागधी,
गोमती, कपीवती, अवस्या, गम्भीरा, कालतोया, कौशिकी, कालमही,
तोया, अरुणा, निभुरा, लोहित्य, समुद्र, कन्धुका शोणनद, वीजा, मेलला,
उदुम्बरी, पनसा, तमसा, प्रभृशा, शुक्लिमती, पम्पासरोवर, छत्रवती,
चित्रवती, माल्यवती, वेणुमती, विशाला, नालिका, सिन्धु पारा,
निष्कुल्दरी, बहुवज्ञा, रम्या, सिकतिनी, ऊहा, समतोया, कञ्जा, कपीवती,
पिविन्ध्या, जम्बूमती, वसुमती, अश्वगामिनी, शर्करावती, सिप्रा, कृत-
माला, परिज्जा, पनसा, अवन्तिकामा, हस्तपानी, कांचुनी, व्याघ्री,
चर्मण्वती, शतभागा, नन्दा करभवेगिनी, क्षुल्लतापी, रेवा, सप्तपारा,
कौशिकी आदि पूर्वदेश की नदियाँ । ब्राह्मणमत से कहा भी है—

प्रागु—जिस प्रकार हंस दूध और पानीका विभाग करता है उसी
प्रकार जो पूर्व और उत्तर देशोंका विभाग करतो है तथा जो विद्वानों की
शब्दसिद्धिका कारण है वह शरावती नदी हम सबकी रक्षा करे ।

अथ पश्चिमे देशो—भैमरथी दार्ढेणा नीरा मूला बाणा केता स्वाकरीरी
प्रहरा मुररा मदना गोदावरी तापी लाङ्गुला खातिका कावेरी तुङ्गभद्रा साग्रवती
महीसागरा सरस्वतीत्यादयो नद्यो न तीर्थं भवति पापहेसुत्वात्, सन्मतेऽपि
विशद्वत्वात् ।

गङ्गाद्वारे कुशावर्ते विल्वके नीलपर्वते ।

स्नात्या कनखले तीर्थे संभवेन पुमध्ये ॥ १ ॥

किमत्र विरोधः ?

दुष्टसम्मतर्गतं चित्तं तीर्थैऽनानान्न षुद्धयति ।

शतशोऽपि जलैषौलं सुराभाण्डमिवाशुचि ॥ १ ॥

तीर्थं हति श्रीबोधप्राभृते तीर्थाधिकारो नवमः समाप्तः ॥ ९ ॥

अब दक्षिण दिशाको नदियाँ बतलाते हैं—तैला, इक्षुमती, नक्रवा,
चम्भा, श्वसना, वैतरणी, माषधती, महिन्द्रा, शुष्कनदी, सप्तगोदावर,
गोदावरी, मानससर, सुप्रयोगा, कृष्णवर्णा, सन्लीरा, प्रवेणी, कुब्जा, धैर्या,
चूणी, लेणा, शूक्रिणी, अम्बार्गी ।

अब पश्चिम देशाकी नदियाँ कहते हैं—भैमरथी, दार्ढेणा, नीरा,
मूला, केता, स्वाकरीरी, प्रहरा, मुररा, गोदावरी, तापी, लाङ्गुला,
खातिका, कावेरी, तुङ्गभद्रा, साग्रवती, महीसागरा, सरस्वती आदि
नदियाँ तीर्थं नहीं हैं क्योंकि ये पापके कारण हैं। साय ही इस विषय को
लेकर बाह्यण मतमें विशद् कथन भी पाया जाता है। जैसे एक स्थान पर
कहा है—

गङ्गा—गङ्गाद्वार, कुशावर्ते, विल्वक, नीलपर्वत, और कनखल तीर्थ-
में स्नान कर मनुष्य पुनः संसार में उत्पन्न नहीं होता अर्थात् मुक्त हो
जाता है ।

तो दूसरे स्थान पर कहा है—

दुष्ट—जिस प्रकार मदिरा का वर्तन सैकड़ों बार जलसे धोने पर भी
अशुद्ध ही रहता है उसी प्रकार मनुष्य का अन्तर्वर्ती चित्त दुष्ट ही रहता
है, तीर्थं स्नानसे शुद्ध नहीं होता ॥२७॥

इस प्रकार श्री बोध-प्राभृते में तीर्थाधिकार नामका नौवां अधिकार
समाप्त हुआ ॥५॥

अदेदागीं चतुर्वर्णभिर्गण्याभिरहृत्स्वरूपमहाधिकारं प्रारम्भते श्रीकुन्दकुन्दा-
चार्यः—

णामे ठबणे हि य संदव्ये भावेहि सगुणपञ्जाया ।

चउणागदि संपदिम् भावा भावति अरहंतं ॥२८॥

नाम्नि स्थापनायां हि च संदव्ये भावे च स्वगुणपयथिः ।

च्यवनमागतिः संपदिम् भव्या भावयन्ति अहंतम् ॥२८॥

(णामे) नामन्यासे सति । (ठबणे) स्थापनान्यासे सति । (हि) स्फुटं ।

धकारः पादपूरणार्थः । (संदव्ये) समीक्षीने इष्टपन्यासे सति (भावे) य भाव-
न्यसे च सति (सगुणपल्लवाम्) स्वगुणं ब्रह्मतापानां तपीविनिरसुखसंज्ञा अहंतो
भवन्तोत्युपस्कारः । स्वपयथिः दिव्यपरमीदारिकणरोगष्टमहाप्रातिहार्यं समवशार-
णलक्षणाः पर्माण्या अहंतो भवन्तोत्युपस्कर्तव्यः । (चउणे) स्वगन्तरकाद्वा च्यवने ।
(आगदि) भरतादिसेवेष्वागमनं (संपत्) गभविक्षारात्पूर्वमेव षष्ठासात् रत्न-

अब आगे चौदह गाथाओं द्वारा श्री कुन्दकुन्दाचार्य अहंत्स्वरूप नामक
महाधिकारका प्रारम्भ करते हैं—

गाथार्थ—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव ये चार निषेप, स्वकीय-
गुण, स्वकीयपयथिय, च्यवन, आगति, और संपदा इन ती बातोंका आश्रय
करके भव्य जीव अरहंत भगवान् का चिन्तन करते हैं ॥२८॥

विशेषार्थ—गुण जाति किया और द्रव्य की अपेक्षा न रखकर किसी
बस्तु के नाम रखने को नाम निषेप कहते हैं । तदाकार और अतदाकार
बस्तु में किसी की कल्पना करनेको स्थापना निषेप कहते हैं । भूत भविष्यत्
कालकी मुख्यता से पदार्थ के वर्णन करनेको द्रव्य निषेप कहते हैं और जो
पदार्थ बर्तमान में जिसरूप है उसी रूप उसके कथन कहने को भाव निषेप
कहते हैं । इन चारों निषेपों की अपेक्षा अरहन्तका कथन होता है । अनन्त-
ज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य और अनन्तसुख ये अहंत के स्वकीय गुण
हैं । दिव्य परमीदारिक शरीर, अष्टमहाप्रातिहार्य और समवशारण ये
अरहंत भगवान् को स्वकीय पर्याय हैं । अहंत भगवान्—तोर्थकर
भगवान् स्वर्ग अथवा नरक गतिसे च्युत होकर उत्पन्न होते हैं । भरत,
ऐराचत और विदेहसेत्र में उनका आगमन होता है अर्थात् स्वर्ग या नरक
से च्युत होकर इन स्थानों में उत्पन्न होते हैं । उनके गभवितरण के छहमास

सुवर्णपुण्यगच्छोदकवर्णं सातुरङ्गे भवति, अवतीर्ण सति नवमासपर्यन्तं सुवर्ण-
रत्नवृष्टिं सातुरङ्गे सौधर्मेन्द्रादेशात्कुवेरः करोति कनकमय-पत्तनं भवति । एत-
त्तत्वं महापुराणात्यमद्विवरणमहंतो ज्ञातव्यम् । (हम) अहंते । (भावा) भव्य-
जीवा अनन्तरभव्यवर-पुण्डरीकाः । (भावंति) भावयन्ति निजहृदय-कमले
निश्चलं भरन्ति । कम् ? (अरहंतं) श्रीमद्भगवत्सर्वज्ञोत्तराम । तथा चोक्तं—

गामजिणा जिणणामा ठवणजिणा तह य साह पडिमाओ ।

दब्बजिणा जिणजीवा भावजिणा समवसरणतथा ॥१॥

दंसण अणंतणाणे मोक्षो णटुकम्मबंधेण ।

णिरुपमगुणमारुढो अरहंतो एरिसो होई ॥२९॥

दर्शने अनन्तज्ञाने मोक्षो नष्टाष्टकर्मबन्धेन ।

निरुपमगुणमारुढः अहंत्र ईदुशो भवति ॥३०॥

पूर्व लगातार माता के अङ्गण में सुवर्ण और रत्नों की वर्षा होती है तथा
गभीरतरण हो चुकते पर ती यास वर्णीय भगवानके अङ्गण में सौधर्मेन्द्र की
आज्ञासे कुवेर सुवर्ण और रत्नोंकी वर्षा करता है तथा उनका नगर
सुवर्णमय हो जाता है, अरहंत भगवान् को इस समस्त संपत्तिका वर्णन
महापुराण से जानना चाहिये । इन नौ बातों का आश्रय लेकर अत्यन्त
निकट श्रेष्ठ भव्य जीव अरहंत भगवान् की भावना करते हैं अथवा उन्हें
अपने हृदय-कमल में निश्चल रूपसे धारण करते हैं ।

जैसा कि कहा है—

गामजिणा—अरहंतभगवान् के जो नाम हैं वे नामजिन हैं, उनकी
प्रतिमाएँ स्थापना जिन हैं, अहंत भगवानका जोव द्रव्य जिन है । और
समवशरण में स्थित भगवान् भावजिन हैं ॥१॥

इस श्लोक में नामादि चार निष्ठोंकी अपेक्षा अरहंत का वर्णन
किया गया है ॥२८॥

गायार्थ—जिनके अनन्तदर्शन और अनन्तज्ञान विद्यमान हैं, 'आठों
कर्मोंका बन्ध नष्ट हो जाने से जिन्हें भावमोक्ष प्राप्त हुआ है तथा जो
अनुपम गुणोंको प्राप्त हैं ऐसे अरहंत होते हैं ॥२९॥

१. अरहंत भगवान् के सातावेदनीय का कन्य विद्यमान रहने से यद्यपि आठों
कर्मोंके बन्धका असाव सिद्ध नहीं होता तथापि सातावेदनीय में स्थित जनु-
भाग बन्ध न पड़ने से अबन्ध की ही विकला की गई है ।

(दंसण अण्टणाणे मोक्षो) अनन्तदर्शने सप्तावलोकनमात्रलक्षणे सति । तथा अनन्तज्ञाने विशेषगोचरसाकारे सति मोक्षो भवतोति तावद्वेदितव्यम् । कैन कृत्वा ? (णटुटुकम्बन्धेण) नष्टाष्टकमंबन्धेन । ननु 'मोहक्षयाज्ञानदर्शनावरणां-तरायक्षयाच्च केवलम्' इत्युमास्वामिषचत्वात् चत्वार्येव कर्मण्यहर्ते नष्टानि कर्य नष्टाष्टकमंबन्धेनेत्युच्यते ? साधूवर्तं भवता, यथा सैन्यनायके पतिते सति जीव-त्यपि शक्युन्मे तन्मृतवस्त्रतिभासते विकृतिकारकत्वभावाभावात्था सर्वेषां कर्मणां नुस्खभूते मोहनीयकर्मणिं नादे सति वेदनीयाद्युनांगोत्रकर्मचतुष्टये सत्यपि भगवतो विविष-फलोद्ययाभावादवातीन्यपि कर्मणि नष्टानीत्युच्यते । (णिरुम गुणमालूहो) निष्पमं गुणमनन्तचतुष्टय-रूपणमारुहोऽहुष्ट-कर्मरहित उच्यते । (अरहतो एरिसो होइ) अहंसीदृशो भवतीति मुक्त एवोपचर्यत इति भावार्थः ॥२९॥

विशेषार्थ—पदार्थकी सत्ता मात्रका अवलोकन होना दर्शन है और विशेषताको लिये हुए विकल्प-सहित जानना ज्ञान कहलाता है । ज्ञान-वरण के क्षय से अनन्तज्ञान और दर्शनावरण के क्षय से अनन्तदर्शन अरहन्त भगवानके प्रगट होता है । इन दोनों गुणोंके रहते हुए उनके आठों कर्मोंका बन्ध नष्ट हो जाने से मोक्ष-भावमोक्ष होता है ।

प्रश्न—'मोहक्षयाज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्' मोहनीय सत्था ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय के क्षय से केवलज्ञान होता है—उमास्वामी के इस वचन से सिद्ध है कि अरहन्त भगवान के चार कर्म ही नष्ट हुए हैं फिर उन्हें 'नष्टाष्टकमं-बन्ध' क्यों कहा जाता है ?

उत्तर—आपने ठीक कहा है, परन्तु जिस प्रकार सेनापति के नष्ट हो जाने पर शत्रुसमूह के जीवित रहते हुए भी वह मृत के समान जान पड़ता है क्योंकि विकार उत्पन्न करने वाले भाव का अभाव हो जाता है उसी प्रकार सब कर्मों के मुख्यभूत मोहनीय कर्म के नष्ट हो जाने पर यद्यपि अरहन्त भगवान के देदनीय आद्यु नाम और गोत्र ये चार अधाति कर्म विद्यमान रहते हैं तथापि जाना प्रकार के फलोदय का अभाव होने से वे भी नष्ट हो गये, ऐसा कहा जाता है । उपमा-रहित अनन्त-चतुष्टय रूप गुणोंको प्राप्त हुए अरहन्त अष्ट कर्म से रहित कहे जाते हैं । कमर कही विशेषताओं से युक्त पुरुष होता है तथा उपचार से उसे मुक्त ही कहते हैं ॥२५॥

जरवा हिजम्ममरणं चाडगाहगमणं च पुण्णपावं च ।
हंतूण दोसकम्मे हुंड णाणमयं च अरहंतो ॥३०॥

जरव्याधिजन्ममरणं चतुर्गतिगमनं च पुण्णपापं च ।
हत्वा दोषकम्मिण मूतः शानमयोऽहंत् ॥३०॥

(जर) जरो हत्वा । (वाहि) व्याधि हत्वा, एतेन पदेन यत्महावीरस्वामिनः पर्मासिकमतीसारं रोग केषलिनः कथमन्ति तन्मर्त निरस्तं भवति । (अम्म) जन्म गर्भवासं हत्वा, इदमपि पदमेवत् सूचयति यदेवमग्नाया ब्राह्मण्या उदराद्वीरं निष्काश्य क्षत्रियाया उदरे प्रदेशितवानिन्द्रस्तवृत्ययुक्तं । गतिवाता इन्द्रेवेति (चेत् ? न) जीवस्य कर्मधीनत्वं दृश्य भवतीति जीव-सद्भावात् । तथा (मरण) हत्वा । (चउगङ्ग मरणं च) चतुर्गतिगमनं च हत्वा । (पुण्णपावं

गाथार्थ—बुढापा, रोग, जन्म, मरण, चतुर्गति-गमन, पुण्णपाप, अठारह दोष, तथा धातिया कर्मों को नष्ट करके जो शानमय हुए हैं वे अरहन्त हैं ॥३०॥

विशेषार्थ—जरा का अर्थ बुढापा है, व्याधि बीमारी को कहते हैं । इन्हें नष्ट करने से ही अरहन्त-अवस्था प्राप्त होती है अर्थात् अरहन्त भगवान के परमीदादिक शरीर में न बुढापा प्रगट होता है और न कोई बीमारी हो । यही सास कर व्याधि को नष्ट करके अरहन्त होते हैं, इस कथन से श्वेताम्बरोंके उस मतका खण्डन हो जाता है जिसमें ये कहते हैं कि भगवान् महावीर स्वामीको केवलज्ञानी अवस्थामें छह मासके लिये अतीसार नामक बीमारी हो गई थी । जन्मका अर्थ गर्भवास है, अरहन्त भगवान् इसे नष्ट करके अरहन्त होते हैं अर्थात् अरहन्त भगवान् अरहन्त बनने के बाद मोक्ष ही प्राप्त करते हैं, गर्भवासको प्राप्त नहीं करते । इस पद से भी यह सूचित होता है कि “भगवान् महावीर पहले तो देवनन्दा नामकी ब्राह्मणीके गर्भमें अवतीर्ण हुए थे बाद में इन्द्र ने उन्हें ब्राह्मणी के उदर से निकाल कर क्षत्रिया के मर्भ में प्रविष्ट कराया था” श्वेताम्बरों का यह कथन अयुक्त है । यदि यह कहा जाय कि इन्द्र ही जीव को गति देता है तो यह कहना ठोक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर जीव की कर्मधीनता व्यर्थ हो जाती है । अरहन्त भगवान् मरण को तथा चारों गतियों के गमनको नष्ट कर अरहन्त बनते हैं अर्थात् अरहन्त भगवान् का न मरण होता है और न नरकादि चारों गतियों में उम्रका

क) पुण्यं पापं च हत्ता । (हंसुण दोषकम्बे) हत्ता विनाशय दोषानष्टा यथा-
दोषान् । के ते ?—

—‘कुरुतिपासाजरातस्त्रूजन्मात्सकभयस्मयः ।

न रागद्वेषमोहात्म्य यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते ॥

चकाराचिचन्ताराति-निद्रा-विषादस्वेद-खेद-विस्मया गृह्णाते । कम्बे चाति-
कर्माणि हंसुण-हत्ता (हुउ णाणमध्यं च अरहतो) भूतः संजातः । कीदृशः ? णाण-
मध्य-ज्ञानमयः केवलज्ञानवान् । अहंत्, इन्द्रादिकृतामर्हणां पूजामन्त्यसंभविनीमहती-
त्पर्हन् सर्वज्ञः वीक्षरामः ॥३०॥

गमन होता है । वे पुण्य पापको भी नष्ट कर चुकते हैं, कषायोदय की
मन्दता में होने वाले शुभ परिणाम पुण्य और कषायोदय को नोकता में
होने वाले अशुभ परिणाम को पाप कहते हैं कषायोदयका अभाव होने से
अरहन्त भगवान के पुण्य और पाप दोनोंका अभाव रहता है । अरहन्त
भगवान दोषों तथा कमोंको नष्ट करके अरहन्त बनते हैं ।

प्रश्न—दोषसे क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—अठारह दोष । जैसे—

कुरुतिपासा—क्षुधा, प्यास, बुढापा, रोग, जन्म, मरण, भय, गर्व,
राग, द्वेष, मोह और चकारसे चिन्ता, अरति, निद्रा, विषाद, स्वेद, खेद,
और विस्मय ये अठारह दोष हैं जिस पुरुषमें ये अठारह दोष नहीं होते
हैं, वह आप्त कहलाता है ।

प्रश्न—कर्मसे क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—धातिया कर्म ।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार धातिया
कर्मों को नष्ट करने से हो अरहन्त अवस्था प्रगट होती है ।

इन सब जरा, व्याधि आदिको नष्ट करके जब यह जीव ज्ञानमय-
केवलज्ञान रूप हो जाता है तब अरहन्त कहलाता है । इसे प्राकृत भाषामें
'अरहत' और संस्कृत भाषा में 'अहंत्' कहते हैं । अहंत् शब्द 'अहं' धातु
से सिढ़ होता है । उसका निरुक्तार्थ है—जो दूसरे जीवोंमें न पाई जाने
वाली इन्द्रादिकृत अर्हणा- पूजाको प्राप्त करनेको योग्यता रखता हो वह
'अहंत्' है । समस्त पदार्थोंके ज्ञाता होने से इन्हें सर्वज्ञ तथा रागद्वेषसे
रहित होने के कारण वीक्षराग भी कहते हैं ॥३०॥

१. रत्नकाण्डभावकाचारे ।

गुणठाणमर्गणेहि य पञ्जसीपाणजीवठाणेहि ।

ठावण पंचविहेहि पणयव्या अरहुपुरिसस्त ॥३१॥

गुणस्थानमार्गणाभिश्च पर्याप्तिप्राणजीवस्थानैः ।

स्थापना पञ्चविधैः प्रणेतव्या अहंतुल्षस्य ॥३१॥

(गुणठाणमर्गणेहि य) गुणस्थानेनारहन् प्रणेतव्यो योजनीयः । कानि तानि गुणस्थानानि ? तन्निर्देशो गाथाद्वयेन क्रियते—

१मिच्छा सासाधन मिस्सो अविरयसम्मो य देसविरओ य ।

विरया प्रमत्त इयरो अपुडत्र अणियट्टि सुहमो य ॥३॥

उवसंतखीणमोहो सजोग केबलिजिणो अजोगी य ।

चउदस गुणठाणाणि य कमेण सिद्धाय जायका ॥३॥

मार्गणाश्चतुर्दश निर्देश्यति । (पञ्जसी) पदभिः पर्याप्तिभिरहम् प्रणेतव्यः । ता अपि निर्देश्यति । (पाणजीवठाणेहि) प्राणीदेशभिरहम् प्रणेतव्यः । तानपि निर्देश्यति । जीवस्थानानि चतुर्दशसु गुणस्थानेषु जीवा ये सन्ति तानि जीवस्थानानि । तानि गुणस्थाननिर्देशेन ज्ञातव्यानि । (ठावण पंचविहेहि) एवं गुणस्थानमार्गणा पर्याप्ति प्राणजीवस्थानस्थापना पंचविधैः स्थापना योजना

गाथार्थ—गुणस्थान, मार्गणा, पर्याप्ति, प्राण और जीवस्थान इन पांच प्रकारों से अरहन्त भगवान् की स्थापना करना चाहिये ॥३१॥

विशेषार्थ—गुणस्थान के द्वारा अरहन्त की योजना करना चाहिये । वे गुणस्थान कौन हैं ? इसका निर्देश दो गाथाओं द्वारा किया जाता है—

मिच्छा—१ मिथ्यादृष्टि २ सासादन ३ मिथ ४ अविरतसम्यग्दृष्टि ५ देशविरत ६ प्रमत्तविरत ७ अप्रमत्तविरत ८ अपूर्वकरण ९ अनिवृत्तिकरण १० सूक्ष्मसाम्पराय ११ उपशान्तमोह १२ क्षीणमोह १३ सयोगकेबलि जिन और १४ अयोगकेबलिजिन ।

मार्गणा के द्वारा अरहन्त की योजना करना चाहिये । मार्गणाएँ चौदह हैं उनका निर्देश आगे करेंगे । छह पर्याप्तयोंके द्वारा अरहन्त का निरूपण करना चाहिये । उन पर्याप्तयोंका भी आगे निर्देश करेंगे । दश प्राणोंके द्वारा अरहन्त भगवान् का वर्णन करना चाहिये । उन प्राणों का भी आगे निर्देश करेंगे । जीवस्थानों के द्वारा अरहन्तकी योजना करना चाहिये । चौदह गुणस्थानों में जो जीव रहते हैं वही जीवस्थान हैं ।

१. जीवकाण्डे लेपिचन्द्रस्य ।

पंचप्रकारैः । (पण्यव्या अरहु पुरिसस्य) प्रणेतव्या योजनीया अहंत्युरुषस्य अर्हज्ञी-
वस्येति ॥३१॥

तेरहमे गुणठाणे सजोइकेवलिय होइ अरहंतो ।

चउतीस अइसयगुणा होंति हु तस्सदु पडिहारा ॥३२॥

अयोदशे गुणस्थाने सयोगकेवलिको भवति अर्हन् ।

चतुर्स्त्रिशदतिशयगुणा भवन्ति हु तस्याष्ट प्रतिहार्याणि ॥३२॥

(तेरहमे गुणठाणे) अयोदशे गुणस्थाने । (सजोय केवलिय होइ अरहंतो)
सयोग-केवलिको भवत्यर्हन् । (चउतीसअइसयगुणा) चतुर्स्त्रिशदतिशयगुणाः ।
(होंति हु तस्सदु पडिहारा) भवन्ति हु—स्फुटं तस्याहंत्यरमेश्वरस्याष्टप्रातिहा-
र्याणि । के ते चतुर्स्त्रिशदतिशया हति चेदुच्यन्ते—नित्यं जिःस्वेदस्वं, निर्मलता
मलमूत्ररहितता, तत्पितृस्तन्मातुश्च मलमूत्रं न भवति । उक्तं च—

गुणस्थानोंका निर्देश ऊपर कर आये हैं उसीसे जोवस्थानोंको जानना
चाहिये । इसप्रकार गुणस्थान—मार्गणा—पर्याप्ति—प्राण—और जीव--
स्थान; स्थापनाके इन पाँच प्रकारों से अरहन्तको योजना करना
चाहिये ॥३१॥

अब आगे गुणस्थानकी अपेक्षा अरहन्त का बर्णन करते हैं—

गाथार्थ—तेरहवें गुणस्थान में विद्यमान सयोगकेवलि जिनेन्द्र अरहन्त
कहलाते हैं उनके चौंतीस अतिशय और आठ प्रतिहार्य होते हैं ॥३२॥

विशेषार्थ—इस जीवकी अरहन्त अवस्था तेरहवें गुणस्थानमें प्रकट
होती है । उस गुणस्थानका नाम सयोगकेवली है । यहाँ केवलज्ञान प्रकट
हो जाता है और साथ में योग विद्यमान रहते हैं इसलिये इस गुणस्थान-
वर्ती जीवको सयोग-केवली कहते हैं । जो मनुष्य तीर्थकर होकर अरहन्त
बनते हैं उनके चौंतीस अतिशय तथा आठ प्रतिहार्य होते हैं और जो
सामान्य अरहन्त होते हैं उनके यथा-संभव कम भी अतिशय होते हैं । अब
यहाँ चौंतीस अतिशय कौन है ? इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये उनका बर्णन
किया जाता है । चौंतीस अतिशयों में दश जन्म के, दश केवलज्ञान के और
१४ देवकुल अतिशय होते हैं । जन्मके दश अतिशय इस प्रकार हैं—

१ नित्य निःस्वेदता अर्थात् कभी पसीना नहीं आना । २ निर्मलता
अर्थात् मलमूत्रसे रहित शरीर का होना । न केवल तीर्थकर अरहन्तके
मलमूत्र का अभाव होता है किन्तु उनके माता पिता के भी मलमूत्र का
अभाव होता है । जैसा कि कहा गया है—

✓ तित्ययरा तप्तियरा हलहर चक्री य अद्वचक्री य ।

देवा य मूर्यमूरा आहारो अतिथि गतिथि गीहारो ।

तथा तीर्थकरणां इमशु पृथी कूर्चश्च न भवति, शिरसि कुन्तलास्तु भवन्ति ।
तथा ओकतम्—

देवा वि य नेरइया हलहरचक्री य तह य तित्ययरा ।

सन्वे केसवरामा कामा निकुंचिया होति ॥

श्रीरामौरुचिरमांसत्वं, समचतुरस्संस्थानं, वज्र्येभनाराच-संहृष्टं, सुरुपता,
सुगन्धिता, सुलक्षणत्वम्, अनन्तवीर्यं, प्रियहितवादित्वं, चेति दशातिक्षया जन्मदीडपि
स्वामिनः परीक्षय ।

गव्यूतिशत-प्रत्यक्ष्यसुभिक्षता । गणनगमनम् । अप्राप्तिवधः । कवलाहारो न
भवति-भोजनं नास्ति । उपसर्गो न भवति । केवलिनामुपसर्गं भुक्ति च ये कथयन्ति
ते—‘प्रत्यक्षता भवन्ति । चतुर्मुखत्वम् । सर्वदिवानां दरमेश्वरत्वम् । अक्षयत्वं—
दपाणे मुख-प्रतिविम्बं न भवति शरीरच्छाया च न भवति । चक्षुषि मेषोन्मेषो न
भवति । नखानां केशानां च दुष्कृत्तिं भवति । एते दशातिक्षया चातिकर्मक्षयवा
भवन्ति ।

तित्ययरा—तीर्थकर उनके माता पिता, बलभद्र, चक्रवर्ती, अद्व-
चक्रवर्ती, देव और मोगभूमिया इनके आहार तो होता है परन्तु नीहार
नहीं होता ।

इसी प्रकार तीर्थकरोंके ढाढ़ी और मूळ नहीं होती किन्तु शिर पर
चुन्धुराले बाल होते हैं । जैसा कि कहा गया है—

देवावि च—देव, नारकी, हुलधर-बलभद्र, चक्रवर्ती, अक्षयक्षयत्वी,
सर्व नारायण और कामदेव ये ढाढ़ी मूळ से रहत होते हैं ।

३ दूधके समान सफेद खून और मांसका होना ४ समचतुरस्स—संस्थान
का होना ५ वज्र्येभनाराच संहृष्टका होना ६ सुन्दर रूपका होना ७
सुगन्धित शरीरका होना ८ उत्तम लक्षणोंका होना ९ अनन्त बल होना
और १० प्रिय तथा हितकर वचन बोलना । ये दश अतिशय तीर्थकर
भगवान्के शरीर में जन्मसे ही होते हैं ।

अब केवलज्ञान-सम्बन्धी दश अतिशय कहते हैं—

१ चारसौ गव्यूति पर्यन्त सुभिक्षका होना २ आकाश में गमन होना
३ प्राणोंका वध नहीं होना ४ कवलाहार का न होना ५ उपसर्ग नहीं
होना ।

६. क प्रती ‘प्रत्यक्ष्यता’ इति संशोधित केनापि ।

सर्वार्थमागधीया भाषा भवति । कीर्त्यः ? अर्थं भगवद्गुणाया मगधदेशभाषा-त्मकं, अर्थं च सर्वभाषात्मकं, कथमेव देवोपनीतत्वं तदलिङ्गयस्येति ऐत् ? मगध देव-सन्निधाने तथा परिणामतया भाषया संस्कृतभाषया प्रवर्तते । सर्वजनतः—विषया मैथी भवति सर्वे हि जनसमूहा मागध-प्रीतिकर-देवालिङ्गपवशात्मागवभाषया भाष-न्तेऽन्योन्यं मिथुतया च वर्तन्ते द्वातिशयी । सर्वसूनां फलगलुच्छाः प्रवालाः पुष्टाणि च भूमी तरत्वे भवति । आदर्शतलसदृशो भूमिर्मोहरा रलमयी भवति । वायुः पृष्ठत आगच्छति शीतो भवतः सुरभिष्व । सर्वलोकानां परमानन्दो भवति । एकं योजनमयेऽप्येषायो मूर्मि सम्माजयन्ति स्वयं सुशन्व मिथ्रा शूलिकपटक-तृण-कोटकान् ककरान् पाषाणाद्य प्रमार्जन्ति । स्तनिलकुमारा गन्धीदकं वर्दन्ति । पाषाणोऽम्बुजमेहं, अप्रतः सप्तकमलानि, पृष्ठतश्च सप्तपद्मानि योजनैक-प्रमाणानि,

(जो मनुष्य केवलियों के उपसर्गी तथा कवलाहार का वर्णन करते हैं उनका इस कथन से निराकरण हो जाता है ।)

६ अरों दिशाओं में भुख दिखना ७ सब विद्याओं का ईश्वरपना ८ छायाका अभाव, (दर्पण में तीर्थकर के मुखका प्रतिविम्ब नहीं पड़ता है और न उनके शरीरकी छाया पड़ती है) ९ नेत्रोंके पलक नहीं शपकना और १० नस तथा केशोंकी वृद्धि नहीं होना; ये दश अतिशय चातिया कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न होते हैं ।

अब देवस्कृत औदहू अतिशय कहते हैं—

१ सर्वार्थमागधीया भाषा—भगवान् को सर्वार्थ मागधी भाषा होती है ।

प्रश्न—इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर—भगवान् की भाषा में आधा भाग भगवान् की भाषाका होता है जो कि मगध देवोंकी भाषा रूप होता है और आधा भाग सर्वभाषा रूप होता है ।

प्रश्न—यदि ऐसा है तो उस अतिशयमें देवोपनीतपना किस प्रकार सिद्ध होता है ?

उत्तर—मगध देवोंके सन्निधान में संस्कृत भाषा उस भाषा रूप परिणामन करती है इसलिये अतिशयका देवोपनीतपना सिद्ध हो जाता है ।

सब जनता में भैत्री-भाव होता है अर्थात् समस्त जनसमूह मागध और प्रीतिकर देवोंके अतिशय के बश मागधी भाषा में बोलते हैं और परस्पर में मिथुता से रहते हैं—ये दो अतिशय हैं । ३ पूषिदी पर ऐसे वृक्ष

प्रत्येक सहस्रप्रकाणि परारणमणिकेसराणि अध्योजनकानि भवन्ति । सर्वसत्य-
निष्ठतिमुला भूमिर्भवति । शरत्कालसरोबरसदृशमाकाशं निर्मलं भवति । दिशः
सर्वा अपि तिमिरकां धूम्रतां त्यजन्ति तमो मुञ्चन्ति शलभा अपि दिशो नाश्छाद-
यन्ति धूलिनीचृडीयने । ज्योतिष्कान् व्यन्तरान् कल्पवासिदेवान् भवनवासिन
आह्वयन्ति महापूजार्थं त्वरितमागच्छन्तु भवन्ति हति । भरसहस्रं रत्नमयं रवितेज-
स्तिरस्कारकं धर्मचक्रं अथेऽप्ये गग्ने निराधारं गच्छति । अष्ट मञ्जलानि भवन्ति ।
कानि कानि ? ४४-४५-४६-४७-कलशाचामर भूम्भार-ताल-सुप्रतिष्ठक इत्याष्टमञ्ज-
लानि चतुर्दशोऽतिशयाः । एते चतुर्दशातिशया देवोपनीता भवन्ति । तथाष्टप्राति-
हायाणि भवन्ति । कानि तानीत्यह—

प्रकट होते हैं जिनमें सब ऋतुओंके फलोंके गुच्छे, किसलय और फूल
दिखाई देते हैं । ४ भूमि दर्पणतल के समान भनोहर और रत्नमयी हो
जाती है ५ पीछेकी ओरसे शीतल मन्द और सुगन्धित वायु आती है । सब
लोगोंको परम आनन्द होता है । ७ आगे आगे एक योजन तक सुगन्ध से
मिश्रित वायु पृथिवी को स्वयं ज्ञाहती है और धूलि, कण्टक, तृण, कोडे,
कंकड़ और पत्थरोंको साफ करती रहती है । ८ स्तनित कुमार देव
गन्धोदक की वर्षा करते हैं, ९ भगवान् के पांवके नीचे एक, आगे सात
और पीछे सात । ये कमल एक योजन प्रमाण होते हैं । ये सब कमल पथ-
राग मणिमय केशरसे युक्त तथा आधायोजन विस्तार वाले होते हैं । १०
भूमि सब प्रकारके अनाजोंकी उत्पत्ति से सहित होती है । ११ आकाश
शरद ऋतुके सरोबरके समान निर्मल होता है । १२ सब दिशाएँ तिमिरिका-
षुन्द, ध्रुता और अन्धकार को छोड़कर निर्मल हो जाती है, टिड़ियाँ
भी दिशाओं को आच्छादित नहीं करतीं और न धूलि ही उड़ती है । सब
दिशाएँ ज्योतिष्क, व्यन्तर, कल्पवासी और भवनवासी देवोंको यह कहकर
बुलाती हैं कि आप लोग शीघ्र ही भगवान् की महापूजाके लिये आवें । १३
आगे-आगे आकाश में हजार आरोसे युक्त, रत्नमय, तथा सूर्यके तेजको
तिरस्कृत करनेवाला धर्म-चक्र आकाशमें निराधार चलता है । १४ छत्र,
ध्वजा, दर्पण, कलश, चामर, ज्ञारी, तालपत्र, और ठोना ये आठ मञ्जल
द्रव्य होते हैं, यह चौदहवी अतिशय है । ये चौदह अतिशय देवोपनीत
होते हैं । इनके सिवाय तीर्थकर-अरहन्त भगवान्के आठ प्रतिहार्य
होते हैं ।

प्रश्न—ये आठ प्रतिहार्य कौन हैं ?

उत्तर—कहते हैं—

अशोकवृक्षः गुणमूलद्विनिर्विद्यम् निश्चयम् आहारः ॥५॥
मामाहलं दुन्दुभिरातपत्रं सत्प्रातिहायर्णि जिनेश्वराणाम् ॥
अब मार्गणा की अपेक्षा अरहन्तका बर्णन करते हैं—

गद्विद्यियं च काए जोए वेए कसायणाये य ।

संजपदंसणलेस्सा भविया सम्मत सण्णि आहारे ॥३३॥

गती इन्द्रिये च काये योगे वेदे कषाये ज्ञाने च ।

संयमे दर्शने लेश्यायां भव्यत्वे सम्ब्रक्त्वे संज्ञिनि आहारे ॥३३॥

(गड) सारकतिर्यङ्गमनुष्यदेवगतीनां मध्येऽर्हतो मनुष्यगतिः । (इदियं च) स्पर्शन—रसन—ज्ञान चक्षुःश्रोत्र पञ्चेन्द्रिय—जातीनां मध्येऽर्हत् पञ्चेन्द्रियजातिः । (काय) पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसकायानां मध्येऽर्हत् त्रसकायः । (जोए) सत्य-मनोयोगासत्यमनोयोगीभयमनोयोगानुभयमनोयोगानामहंतः सत्यानुभयमनोयोगी, सत्यवचनयोगासत्यवचनयोगोभयवचनयोगानुभयवचनयोगानां मध्येऽर्हतः सत्यानु-

अशोक—१ अशोक वृक्ष, २ देवोंके द्वारा पूष्प—वृष्टि होना, ३ दिव्य-ध्वनि, ४ चामर, ५ सिंहासन, ६ भामण्डल, ७ दुन्दुभि बाजा ८ छत्रश्रव; ये जिनेन्द्रदेवके आठ प्रातिहार्य हैं ॥३३॥

गायार्थ—गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, संज्ञित्व, और आहारके इन चौदह मार्गणाओं में यथा-संभव अरहन्त की योजना करना चाहिये ॥३३॥

विशेषार्थ—गति मार्गणा की अपेक्षा गति के नारक, तिर्यङ्ग, मनुष्य और देव ये चार भेद हैं, इनमें से अरहन्त के मनुष्य गति है। इन्द्रिय-मार्गणा की अपेक्षा इन्द्रियों के स्पर्शन, रसन, ज्ञान, चक्षु और श्रोत्र इस प्रकार पाँच भेद हैं, इन पाँच जातियों में अरहन्त भगवान् पञ्चेन्द्रिय जाति है। कायमार्गणा के पृथिवी-कायिक, जल-कायिक, अग्नि-कायिक, वायुकायिक, वनस्पति-कायिक और वस कायिक इस प्रकार छह भेद हैं इनमें से अरहन्त भगवान् त्रसकायिक हैं। योगमार्गणामें मनोयोगके सत्य मनोयोग, असत्य मनोयोग, उभय मनोयोग, और अनुभय मनोयोग ये चार भेद हैं इनमें से अरहन्त के सत्य मनोयोग और अनुभयमनोयोग ये दो मनो-योग हैं। वचन-योगके सत्यवचनयोग, असत्य वचनयोग, उभयवचन योग और अनुभय वचन-योग ये चार भेद हैं, इनमें से अरहन्तके सत्यवचन धोग और अनुभय वचनयोग ये दो वचन योग हैं। काय-योगके औदारिक काय-योग, औदारिक मिश्रकाययोग, वैक्रियिक काययोग वैक्रियिकमिश्र काय-

भयवचनयोगो, औदारिककाययोगौदारिकमिथकाययोग—वैक्षिकिकाययोगवैक्षिकिमिथकाय—योगाहारके—काययोगाहारक—मिथकाययोग—कार्मणकाययोगानां—मध्येऽहंतः औदारिककाययोगौदारिकमिथकाययोग—कार्मणकाययोग इति क्रियोगाः । सत्यमनोयोगोऽनुभयमनोयोगः नत्यवचनयोगोऽनुभयदचनयोग औदारिककाययोग औदारिकमिथकाययोगः कार्मणकाययोगश्चेति सन्योगाः । (वैर) स्त्रीपूर्णपूर्सक—वेदवक्तव्यमध्येऽहंतः कोऽपि वेदो नास्ति । (कसाय) पञ्चविश्वतिकपापाणां मध्येऽहंतः कोऽपि कषायो नास्ति । (खाणे य) वज्चज्ञानानां मध्येऽहंतः केवलज्ञानमेकम् । (संज्ञ) संज्ञानां संयमानां मध्येऽहंतः संयम एक एव यथारूपातबाहितम् । (दंसण) चतुणी दर्ढीनानां मध्ये दशंनमेकमेव केवलदर्ढीनम् (लेसा) वण्णं लेश्यानां मध्येऽहंतो लेश्या एककशुक्ललेश्या । (भविया) भव्याभव्यद्वयमध्येऽहंत् भव्य एव । (सम्मत) वण्णां सम्यक्त्वात्नामहंतः सम्यक्त्वमेकमेव

योग, आहारक काययोग, आहारक मिथ काययोग और कार्मण काययोग ये सात भेद हैं इनमें से अरहन्त के औदारिक काययोग तथा समुद्धानकी अपेक्षा औदारिक मिथकाययोग और कार्मण काययोग ये तीन काययोग हैं। इस तरह अरहन्त के सब मिलाकर सातयोग होते हैं जो इस प्रकार है—१. सत्यमनोयोग २. अनुभयमनोयोग, ३. सत्यवचनयोग ४. अनुभयवचनयोग ५. औदारिककाययोग ६. औदारिकमिथकाययोग और ७. कार्मणकाययोग। वेदमार्गणाके स्त्री वेद, पुरुषवेद और नपुर्सक वेद ये तीन भेद हैं,, इनमें से अरहन्तके कोई भी वेद नहीं है। कषायके अनन्तानुबंधी आदि पञ्चीस भेद हैं उनमें से अरहन्तके कोई भी कषाय नहीं है। ज्ञानके मतिज्ञान आदि पाँच भेद हैं इनमें से अरहन्तके एक केवलज्ञान है। संयम मार्गणा के सामयिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्म-साम्पराय, यथारूपात, संयमाग्रंथम और असंयम को अपेक्षा सात भेद हैं, इनमें से अरहन्तके एक यथारूपत चारित्र है। दर्शन के चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन ये चार भेद हैं इनमें से अरहन्तके एक केवलदर्शन हो हैं। लेश्याके कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल ये छह भेद हैं इनमें से अरहन्त के एक शुक्ल लेश्या ही है। भव्यत्व मार्गणाके भव्य और अभव्य ये दो भेद हैं इनमें से अरहन्त भव्य ही है। सम्यक्त्व मार्गणाके औपशमिक सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, क्षायिक सम्यक्त्व, मिथ, यासादन और मिथ्यात्व इस प्रकार छह भेद हैं इनमें से अरहन्तके एक क्षायिक सम्यक्त्व ही होता है। संज्ञी मार्गणा के संज्ञी और असंज्ञी ये दो भेद हैं इनमें से अरहन्त एक संज्ञी ही हैं। और आहार मार्गणा के

ज्ञायिकसम्बन्धम् । (सणि) संजिद्वयमध्येऽहन् संशी एक एव । (आहारे) आहारकानाहारकद्वयमध्येऽहंत आहारकानाहारकद्वयम् ॥३३॥

आहारो य सरीरो तह इन्द्रिय आणपाणभासा य ।

पञ्जत्तिगुणसमृद्धो उत्तमदेवो हवह अरहो ॥३४॥

आहारश्च शरीरं तथा इन्द्रियानप्राणभाषाश्च ।

पयाप्तिगुणसमृद्धः उत्तम देवो भवति अहन् ॥३४॥

(आहारो य सरीरो) आहार समयं समयं प्रत्यनन्तः परमाणुवोऽनन्यजन-
साधारणाः शरीरस्थिति हेतवः पुण्यरूपाः शरीरे सम्बन्धं याति, नोकमैल्ला अहंत
आहार उच्यते नस्तितरपनुष्यवदभगवति कवलाहारो भवति तस्मालिद्वा म्लानि-
रूपवते कथं भगवानहन् देवता कथ्यते । कवलाहारं भुज्जामो मनुष्य एव । तथा
चोक्तं समन्तभद्रेण भगवता—

आहारक अनाहारक की अपेक्षा दो भेद हैं इनमें से अहंत के दोनों भेद
सम्भव हैं । तेरहवें गुणस्थान में सामान्यरूप से आहारक हैं और सम्भ-
वात की अपेक्षा अनाहारक हैं तथा छोड़हवे गुणस्थान में अनाहारक
होते हैं ॥ ३५ ॥

आगे पर्याप्ति की अपेक्षा अरहन्त का वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—आहार, शरीर, इन्द्रिय, इवासोच्छ्वास, माथा और मन ये
छह पर्याप्तियाँ हैं । अरहन्त भगवान इन पर्याप्तियों के गुण से समृद्ध तथा
उत्तम देव हैं ॥ ३५ ॥

विशेषार्थ—दूसरे मनुष्यों में न पाये जाने वाले शरीर की स्थिति के
कारण, पुण्य रूप, नोकमं कर्णा के अनन्त परमाणु प्रतिसमय अरहन्त
भगवान् के शरीर के साथ सम्बन्धको प्राप्त होते हैं वही आहार कहलाता
है, ऐसा आहार ही अरहन्त भगवान के होता है अन्य मनुष्यों के समान
कवलाहार नहीं होता क्योंकि उससे निद्रा और ग्लानि उत्पन्न होनी है ।
यदि भगवान अरहन्त कवलाहार ग्रहण करते हैं तो वे देवता कैसे कहे
जा सकते हैं क्योंकि कवलाहार खाने वाला मनुष्य ही होता है । जैसा कि
भगवान् समंतभद्र ने कहा है—

३. सरीरो इन्द्रियमण आण ग० ।

१०८० प्रकृतिसम्यतीतवान् देवतास्वपि च देवता यतः ।
तेन नाथपरमाऽसि देवता थेयमे जिनवृष्टि । प्रसीद नः ॥

शुद्धेदनायां कवलाहारं मुञ्जानो भगवान् कथमनन्तसौरुण्यवानुभ्यते वेदनायां
सुखच्छेदत्वादित्यादि प्रमेयकमलमार्तण्डादिषु कवलाहारस्य निविद्वित्तात्, स्त्री-
मुक्तेरपि । शरीर-पर्याप्तिः । (तह इदिय आणपाण भाषा य) तथा इन्द्रिय-
पर्याप्तिः, आनप्राण पर्याप्तिः, कोऽर्थः ? उच्छ्रवास निष्क्रासपर्याप्तिः भाषा,
पर्याप्तिः चकारान्मनपर्याप्तिः, एवं कायवाङ्मनसां सत्त्वायां सत्यामनि भगवतः
कर्मबन्धो लालित जीवन्मुक्तत्वात्तस्य । तथा चोकतम्—

१०८१ कायवाक्यसन्मयो इवृत्तपदे नामकोहत्वं मुरोदिग्नीर्वया ।
नाममीक्ष्य भवतः प्रवृत्तयो धीर । तावक मचिन्त्यमीहितम् ॥

मानुषों—हे नाथ ! हे जिनेन्द्र ? आप चूंकि (आहार आदि के विषय
में) मनुष्य की प्रकृति का उल्लंघन कर चुके हैं, अतः देवताओं में भी
देवता हैं । आप उत्कृष्ट देवता हैं, इसलिये हमारे कल्याण के लिये प्रसन्न
हूजिये ।

शुधाकी वेदना होने पर यदि भगवान् कवलाहार करते हैं तो वे
अनन्तसुखसे सहित व्यों कहे जाते हैं ? क्योंकि वेदना होने पर सुख का
घात हो जाता है । इत्यादि रूपसे प्रमेय-कमल-मार्तण्ड आदि ग्रन्थों में
कवलाहार का निषेध किया गया है तथा स्त्रीमुक्ति का भी खण्डन किया
गया है ।

आहार पर्याप्ति, के सिवाय शरीर पर्याप्ति, इन्द्रिय पर्याप्ति, इवासो-
च्छ्रवास पर्याप्ति, भाषा पर्याप्ति और चकार से मनःपर्याप्ति भी अरहन्तके
होती हैं । इस प्रकार काय वचन और मनकी मता रहते हुए भी भगवान् के
कर्मबन्ध नहीं होता क्योंकि वे जीवन्मुक्त हो चुके हैं । जैसा कि कहा
गया है—

कायवाक्य—हे मुनीन्द्र ! आपके शरीर वचन और मनकी प्रवृत्तियाँ
करने को इच्छा से प्रवृत्त नहीं होती हैं, किन्तु स्वर्य होती है, यह ठोक
है, फिर भी आपकी प्रवृत्तियाँ वस्तुरूपको यथावत् जाने बिना नहीं होती ।
इस तरह हे धोर धीर भगवत् ! आपकी चेष्टा अचिन्त्य है ।

१. बृहत्स्वर्यम्भूस्तोषे ।
२. बृहत्स्वर्यम्भूस्तोषे ।

(पञ्जतिगुणसमिद्धो) षट्पर्याप्तिगुणसमृद्धः संयुक्तः । (उत्तमदेवो हवह अरहो) उत्तमदेवो भवस्यहन् न तु हरिहरहिरण्यगर्भादय उत्तमदेवा मृष्णित तेषां दोषसद्भावात् । उक्तच्च—

त्रुहिणाधोशजेशानवाक्यमूरपुरस्त्राणः ।
यदि रागाद्यविष्टान कर्य तत्राप्तता भवेत् ॥ १ ॥
रागादिवीषसंभूतिज्ञेयामीष सदागमात् ।
अमृतः परदोषस्य गृहीती पातकं महत् ॥ २ ॥
अजस्तिलोत्समाचित्तः श्रीरतः श्रीषतिः स्मृतः ।
अर्थनारीलबरः शम्भुस्तथाप्येषु किलाप्तता ॥ ३ ॥

आगे प्राणों की अपेक्षा अरहन्त का बर्णन करते हैं—

पञ्चात्मे इन्द्रियप्राणा भणवयकाएण तिष्ठन्ति ऋत्याणा ।

आणप्राणप्राणा आउगपाणेण होति दह पाणा ॥३५॥

पञ्चात्मे इन्द्रियप्राणा मनोवचः कामैः त्रयो बलप्राणाः ।

आनप्राणप्राणाः आयुष्कप्राणेन भवन्ति दश प्राणाः ॥३५॥

(पञ्च च इन्द्रियप्राणा) इन्द्रियप्राणाः पञ्च भवन्ति । (भणवयकाएण तिष्ठन्ति बलप्राणा) मनोवचः-कामैर्बलप्राणासत्रयो भवन्ति । (आणप्राणप्राणा)

अरहन्त भगवान् ऊपर कही हुई आहार आदि छह पर्याप्तियों के गुणसे समृद्ध हैं—संयुक्त हैं तथा उत्तम देव हैं । हरिहर ब्रह्मा आदि उत्तम-देव नहीं हैं क्योंकि उनमें दोषोंका सद्भाव है । जैसा कि कहा है—

त्रुहिणा—ब्रह्मा, विष्णु, महेश बृद्ध तथा सूर्य आदि देव यदि राग आदिके आधार हैं अर्थात् इनमें यदि राग आदि दोष पाये जाते हैं तो उनमें आप्तपता कैसे हो सकता है ?

रामादि—इन सबमें राग आदि दोषोंका सद्भाव उनके शास्त्रों से जानने योग्य है क्योंकि दूसरे के अविद्यमान दोष के ग्रहण करने में महान् पाप है ।

अजस्त्र—ब्रह्मा का चित्त तिलोत्समा में लगा था, विष्णु लक्ष्मी में आसक्त थे और धाम्भु अर्थनारीश्वर थे फिर भी इनमें आप्तपता है—इन्हें आप्त पाना जाता है यह आश्चर्य की बात है ॥३६॥

गाथार्थ—पाँच इन्द्रिय प्राण, मन, वचन और कायके भेदसे तीन बल प्राण, श्वासोच्छ्वास प्राण तथा आयुप्राण ये दश प्राण हैं । अरहन्त के ये दशों प्राण होते हैं ॥३५॥

ब्रह्मप्राप्तप्राणा । उच्छ्वासनिःश्वसलक्षणं एकः प्राणः । (आउरपाणेण होति दह-
प्राण) आयुकप्राणेन कृत्वा दश प्राणा भवन्ति । यथा जायुःशब्दः सान्तो नपुंसक-
लिंगे वर्तते तथा आयु इत्युकारान्तोऽपि नपुंसके वर्तते । एवं दश प्राणा भवन्तीति
ज्ञातव्यम् ॥ ३५ ॥

आगे जीवस्थान की अपेक्षा अरहन्तका वर्णन करते हैं—

मणुयभवे पञ्चिदियं जीवद्वाणेषु होइ चउदसमे ।

एवे गुणगणजुत्तो गुणमारुद्धो हवह अरहो ॥ ३६॥

मनुजभवे पञ्चेन्द्रियो जीवस्थानेषु भवति चतुर्दशे ।

एतद्गुणगणयुक्तो गुणमारुद्धो भवति अर्हन् ॥ ३६॥

(मणुयभवे पञ्चिदिय) मनुजभवेऽर्हन् कथ्यते पञ्चेन्द्रियोऽर्हन्तुच्यते ।

(जीवद्वाणेषु होइ चउदसमे) जीवस्थानेषु मध्ये चतुर्दशे स्थानेऽर्हन् भवति ।

विशेषार्थ—इन्द्रिय प्राण पाँच हैं । मन-चन्द्रन-कायके अंदरमें बल इष्ट
तीन होते हैं । चबास का खोंचना और छोड़ना यह आनप्राण नामका प्राण है । इन सबको आयुप्राण के साथ मिलाने पर दश प्राण होते हैं । जिस प्रकार सकारान्त आयुष् शब्द नपुंसक लिङ्गमें विद्यमान है उसी प्रकार 'आयु' यह उकारान्त शब्द भी नपुंसक लिङ्ग में विद्यमान है । इस प्रकार अरहन्त के दश प्राण होते हैं, यह जानना चाहिये ॥ ३५ ॥

गायार्थ—'जीवस्थान की अपेक्षा अरहन्त, पञ्चेन्द्रिय यनुष्य कहलाते हैं । अरहन्त पद चौदहवें जीवस्थान-गुणस्थान में भी होता है । इन सब गुणों के समूह से युक्त मनुष्य जब तक गुणस्थानों में आरुद्ध रहता है तब तक अरहन्त कहलाता है, गुणस्थानों से पार होने पर सिद्ध कहलाता है' ॥ ३६ ॥

विशेषार्थ—मनुष्य भव में ही अरहन्त कहलाता है और वह भी पञ्चेन्द्रिय ही । जीवस्थान के जो चौदह भेद पहले बताये गये हैं उनमें से चौदहवें जीवस्थान में भी अरहन्त होता है । अर्थात् तेरहवें गुणस्थान में विद्यमान सयोगकेवली तो अरहन्त हैं ही चौदहवें गुणस्थान—वर्तीं

१. मनुष्यभवे पञ्चेन्द्रियजीवे चतुर्दशमं गुणस्थानं भवति । एतैर्गुणगणैः समूहैः
सुक्तो गुणं आरुद्धोऽर्हन् भवति (३ × ३) ।

२. इस गायार्थ का वर्द्ध पण्डित जयचन्द्र जी को बचनिकामें अन्य प्रकार किया
कर्या है ।

अयोगकेवल्यप्यरहन् भवतीति भावः । (एदे गुणागणजुत्तो) एतद्गुणगणयुक्तः । (गुणामाल्डो हवह अरहो) गुणस्थानमाल्डोऽरहन् भवति गुणस्थानात्परतः सिद्ध उच्चते इति भावः ॥ ३६ ॥

आगे द्रष्टव्य की अपेक्षा अरहन्त का वर्णन करते हैं—

जरवाहिदुखरहियं आहारणिहारवज्जियं विमलं ।

सिहाण खेल सेऽमो णत्थ दुर्गंछा य दोसो य ॥३७॥

जराव्याधिदुःखरहितः आहारनोहारवज्जितो विमलः ।

सिहाणः खेलः स्वेदो नास्ति दुर्गन्धश्वच दोषश्च ॥३७॥

(जरवाहिदुखरहियं) जरारज्जितो व्याधिरहितः शारीराहस्यानुदुःख-
रहितोऽरहन् भवति । प्राकृते लिङ्गभेदत्वात् जरवाहिदुखरहियं इति नषुंसकलिङ्ग-

अयोग—केवली भी अरहन्त होते हैं । इन सब गुणोंके समूह से युक्त मनुष्य यदि गुणस्थान में आलूड़ है अर्थात् तेरहवें चौदहवें गुणस्थान में विद्यमान है तो अरहन्त होता है और यदि गुणस्थानोंसे परे हो गया है तो सिद्ध कहलाने लगता है ।

[थो प० जयचन्द्र छावड़ा ने इस गाथाका अर्थ यों किया है—

अर्थ—‘मनुष्य भव विवें पञ्चेन्द्रिय नामा चौदमां जीवस्थान कहिये जीवसमास ता विवें इतने गुणनि के समूह करि युक्त तेरहमें गुणस्थान कू प्राप्त अरहन्त होय है ।

भावार्थ—जीव समास चौदह कहे हैं एकेन्द्रिय सूक्ष्म, वादर, २ वे द्वन्द्विय तेद्वन्द्विय चौद्वन्द्विय ऐसे विकलनय इ, पञ्चेन्द्रिय असैनी, सैनो २ ऐसे सात भये ते पर्याप्त अपर्याप्त करि चौदह भये तिनि में चौदहमां सैनी पञ्चेन्द्रिय जीवस्थान अरहन्त के है । गाथा में सैनो का नाम न लिया अर मनुष्य भवका नाम लिया सो मनुष्य सैनो ही होय है, असैनी न होय ताँसे मनुष्य कहने तें सैनी ही जानना ॥३६॥]

गाथार्थ—अरहन्त भगवान् बुद्धापा व्याधि और दुःख से रहित हैं, आहार और नीहारसे रहित हैं, मल-रहित हैं । अरहन्त भगवानमें नाक का मल, थूक, पसोना, ग्लानि उत्पन्न करने वाली घृणित वस्तु तथा वात विल कफ आदि दोष नहीं हैं ॥३७॥

विशेषार्थ—अरहन्त भगवान् बुद्धापा से रहित हैं, श्वास कास आदि धीमारियों से रहित हैं, शारीरिक मानसिक और आगन्तुक दुःखों से

निर्देषो ज्ञातव्यः, एवमुत्तरत्राणि । (आहारणिहारवज्जियं) आहारनिहारवज्जित, कवलाहाररहितोऽहन भवति नीहार-रहितो बहिभूमिवाधारहितः । अनेन वाक्येन स्वेतपटमस्तु निराकृतम् । (विमलं) शरीरे मलमहन्तो न भवति । (सिहाण खेल सेषो) रिहाणः नामाचां मलो न भवति । खेलो निष्ठीवनमहन्ति नास्ति, स्वेदश्च शरीरे प्रस्वेदोऽहनि न वर्तते । (गत्यु तुर्गाणा य दोषो य) अन्यदग्धि जुगुप्तमा-हेतुभूतं किमपि पिटकाग्निकं अहन्ति न वर्तते दोषहर वातपित्तश्लेषाणोऽहनि न वर्तते ॥३७॥

दस पाणा पञ्जत्ती अदुसहस्राय लक्खणा भणिया ।
गोखीरसंखधबलं मांसं रुहिरं च सब्बंगे ॥३८॥

दश प्राणाः पर्याप्तियाऽष्टाविकमहस्ताणि च लक्खणानि भाणतानि ।
गोक्षीरशङ्खधबलं मांसं रुहिरं च सब्बंगः ॥३८॥

(द पाणा पञ्जत्ती) दश प्राणाः पूर्वोक्तलक्खणा अहन्ति भवन्ति, पद् पर्याप्ति-यश्चाहन्ति भवन्ति । (अदुसहस्राय लक्खणा भणिया) अष्टाविकं सहस्रमेकं

रहित हैं । प्राकृत में लिङ्ग भेद होने से 'जरवाहि दुक्खरहियं, यहाँ नगु-सकलिङ्गका निर्देश जानना चाहिये । इसी प्रकार का लिङ्ग भेद आगे भी जानना चाहिये । अरहन्त भगवान आहार और निहार में रहित हैं अर्थात् उनके कवलाहार नहीं होता और न नीहार-मलमूत्र की वाधा होती है । इस वाक्य से एवेताम्बर मतका निराकरण हो जाता है । अरहन्त के शरीर में मैल नहीं होता है । नाकका मल, थूक तथा पसोना उनके शरीर में नहीं होता है । इसके मिवाय ग्लानि के कारण भूत अन्य पात्र आदि भी अरहन्त के नहीं होते हैं । वात पित्त और कफ ये दोष भी अरहन्त में नहीं रहते हैं ॥३८॥

गत्थार्थ—अरहन्त भगवान के दश प्राण, छह पर्याप्तियाँ और एक हजार आठ लक्षण कहे गये हैं । उनके समस्त शरीर में गाय के दूध और शङ्ख के समान सफेद मांस और रुक्षिर होता है ॥३८॥

विशेषार्थ—अरहन्त भगवान के पाँच इन्द्रिय, तीन बल, आयु और श्वासोच्छ्वास इस प्रकार दश प्राण, आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन ये छह पर्याप्तियाँ तथा एक हजार आठ लक्षण कहे गये हैं । इन एक हजार आठ लक्षणों में तिल मसक आदि तो सी

लक्षणानां भणितम् । तथा नवशतानि सिलसकादीनि व्यक्तजनानि भवन्ति, अष्टाधिकं शतं लक्षणानां भवति । तथा चोक्तम्—

प्रसिद्धाष्टसहस्रेद्दलक्षणं त्वां गिरां पतिम् ।

नाम्नामष्टसहस्रेणतोष्टुमोऽभीष्टसिद्धये ॥१॥

तेषां लक्षणानां मध्ये कानिचिदुच्यन्ते । तथाहि-श्रीवृक्षः, शङ्खः, अर्जुनः, स्वस्तिकः, अंकुशः, तोरणं, चामरं, इवेतच्छत्रं, सिहासनं, ध्वजः, झघौ, कुम्भौः, कूर्मः, चक्रं, समुद्रः, सरोवरं, विमानं, भवनं, नागः, नर-नार्यौ, सिहः, बाणः, घनुः, मेरुः, इन्द्रः, गङ्गा, पुर, गोपुर, चन्द्रसूर्यौ, जात्यश्वः, अंजनं, वेणुः, वीणा, मृदञ्ज़ी, लज्जी, गदांशुकं, आवणः, कुण्डलादीनि विचित्राभरणानि, उद्यानं फलिनं, मुपक्वकलमधेशं, रत्न द्वीपः, वज्रः, मही, लक्ष्मीः, सरस्वती, सुरभिः, सौरभेवः, चूडारत्नं, महानिधिः, कल्पवल्ली, हिरण्यं जम्बूवृक्षः, गरुडः, नक्षत्राणि, तारकाः, सौधः, ग्रहाः, सिद्धार्थपादगाः, प्रातिहार्याणि, मञ्जुलानि एवमादीनि अष्टोत्तरं शतं लक्षणानि । (गोक्षोर संख ध्वरं) गोक्षीरवच्छुद्धधवलमुज्ज्वले । (मंसं रुहिरं च सव्वये) मांसं गोक्षीर वद्ववलं, रुधिरं गोक्षीर वद्ववलं रावर्जुने सर्वस्मिन् शरोरे ॥३८॥

व्यवजन होते हैं और एक सौ आठ लक्षण होते हैं । जैसा कि कहा गया है—

प्रसिद्धाष्ट—हे भगवन् । आपके एक हजार आठ देवीव्यमान लक्षण प्रमिद्ध हैं तथा आप वचनों के स्वामी हैं । अभीष्ट सिद्धि के लिये हम एक हजार आठ नामोंके द्वारा आपकी स्तुति करते हैं ।

उन लक्षणों के मध्यमें कुछ लक्षण कहे जाते हैं । जैसे श्रीवृक्ष, शङ्खः, कमल, स्वस्तिक, अंकुश, तोरण, चामर, सफेदचत्र, सिहासन, ध्वजा, दो मोत, दो कलश, कछुआ चक्र, समुद्र, सरोवर, विमान, भवन, नाग, स्त्रीपूरुषका दुगल, सिह, बाण, घनुष, मेरु, इन्द्र, गङ्गा, पुर, गोपुर, चन्द्रमा और सूर्य, कुलोन घोड़ा, पह्ला, बांसुरी, वीणा, मृदञ्ज़ी, दो मालायै पाटका वस्त्र, दुकान, कुण्डल आदि जाना आभृषण, फला हुआ बगोचा, पके धान का खेत, रत्नद्वीप, वज्र, पृथिवी, लक्ष्मी, सरस्वती, चामधेनु, बैल, चूडामणि, महानिधि, कल्पवल्ता, सुवर्ण, जम्बूवृक्ष, गरुड, नक्षत्र, तारा, पका महल, ग्रह, सिद्धार्थवृक्ष, प्रातिहार्य और मञ्जुलद्रव्य इत्यादि एकसी आठ लक्षण होते हैं । भगवान के समस्त शरीर में गाय के दूध और शङ्ख के समान सफेद मांस और रुधिर रहता है ॥३८॥

१. महापुराणान्तर्गते सहस्रनामस्तोत्रे ।

**एरिसगुणोहि सञ्चं अइसयवंतं सुपरिमलामोयं ।
ओरालियं च कायं णायचं अरहपुरिसस्स ॥३९॥**

ईदृशगुणोः सञ्चः अतिशयवान् सुपरिमलामोदः ।

ओदारिकश्च कायः ज्ञातव्यः अहंतुरुषस्य ॥३९॥

(एरिसगुणोहि सञ्चं) ईदृशगुणोः संयुक्तः सञ्चं कायोऽहंतुरुषस्य ज्ञातव्य हति सम्बन्धः । (अइसयवंतं सुपरिमलामोयं) अतिशयवान् सुषु अतिशयेन परिमलेन विमर्दोत्थगन्धेन कर्पूरमदिना सदृश आमोदो गन्धविशेषो यत्र काये स सुपरिमलामोदः । (ओरालियं च कायं) परमीदारिकः कायः शरीरमहंतुरुषस्य भवति स्थिरः स्थूलरूपवचसुगन्ध्य ओदारिक उच्चयते । (णायचं अरहपुरिसस्स) ज्ञातव्यो वेदितव्यः कायोऽहंतुरुषस्य श्रीमद्भगवदहंतसवंशब्दीतरागस्य शरीरं ज्ञातव्यमित्यर्थः ॥३९॥

आगे भाव-निक्षेप की अपेक्षा अरहन्त का वर्णन करते हैं—

मथरायदोसरहिओ कसायमलवज्जिजओ य सुविसुद्धो ।

चित्तपरिणामरहिवो केवलभावे मुणेयव्वो ॥४०॥

मदनामदोसरहिओ कसायमलवज्जितश्व सुविसुद्धः ।

चित्तपरिणामरहितः केवलभावे ज्ञातव्यः ॥४०॥

गाथार्थ—अरहन्त भगवान् का ओदारिक शरीर ऐसे गुणोंसे युक्त, अतिशयों से सहित और उत्तम सुगन्धि से परिपूर्ण जानना चाहिये । द्रव्य-निक्षेप की अपेक्षा उक्त गुणविशिष्ट ओदारिक शरीर ही अरहन्त है ॥३९॥

विशेषार्थ—श्रीमान् भगवान् अरहन्त सर्वज्ञ वीतराग देवका परमोदारिक शरीर पूर्वोक्त गुणोंसे संयुक्त, अतिशयों से सहित तथा संमदेन-मोड़ने से उत्पन्न होने वाली कपूर आदि के समान उत्तम गन्ध से परिपूर्ण जानना चाहिये । उनका यह शरीर स्थिर, स्थूलरूप तथा नेत्रोंके द्वारा गम्य होता है—दिखाई देता है ।

[३७, ३८ और ३९ वीं गाथा में अरहन्त भगवान के शरीर का वर्णन किया गया है । यहीं द्रव्यनिक्षेप की अपेक्षा शरीर का ही अरहन्त कहा है ।] ॥३९॥

गाथार्थ—भाव-निक्षेप की अपेक्षा अरहन्त भगवान् को मदरहित, राग-रहित, दोष-रहित, कषाय-रहित, नो-कषाय-रहित अतिशय विशुद्ध, मनोव्यापार-रहित और क्षायिक भावोंसे युक्त जानना चाहिये ।

(ममरायदोसरहितो) भद्रहितो रामरहितो दोषरहितः । (कषायमल-वज्जिक्षी य सुविशुद्धो) कषायाः क्रोधमानमायालोभाः, मला हास्यरत्यरति—शोक-भयजुगुप्सास्त्रीपून्नपुसक—लक्षणा नोकषायास्तीवज्जितो रहितः, सुविशुद्धः शान्त-मूर्तिः । (चित्तपरिणामरहितो) मनो—व्यापार रहितः । (केवलभावे मुणेयव्यो) क्षायिकभावे मुनितव्यो (१) ज्ञातव्योऽहंनिति ॥४०॥

सम्महंसणि पस्सइ जाणदि णाणेण द्रवपञ्जजाया ।

सम्मतगुणविशुद्धो भावो अरहस्स णायव्यो ॥४१॥

सम्यगदर्शनेन पश्यति ज्ञानाति ज्ञानेन द्रवपञ्जयान् ।

सम्यकस्यगुणविशुद्धो भावः अहंतः ज्ञातव्यः ॥४१॥

(सम्महंसणि पस्सइ) सम्यगदर्शनेन पश्यति सम्यङ्गनिस्तुष्टवतया दर्शनेन सत्तारूपलक्षणेन पश्यति वस्तुस्वरूपं गृह्णाति । (जाणदि णाणेण द्रवपञ्जजाया) ज्ञानाति ज्ञानेन केवलज्ञानेन विशेषगोचरेण साकाररूपेण सम्यग्ज्ञानाति इव्याणि जीवपुद्गलघर्षियंकालाकाशलक्षणानि । (सम्मत गुणविशुद्धो) सम्यकस्यगुणेन

विशेषार्थ—अरहन्त भगवान् ज्ञान आदि आठ मदोंसे रहित हैं, ममता परिणाम रूप रामसे रहित है, अथा तुष्णा आदि अठारह दोषोंसे रहित हैं, कोध मान माया लोभ रूप कषायों तथा हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा स्त्रीवेद पुरुषवेद नपुसक वेद रूप नोकषायों से रहित हैं, अत्यन्त विशुद्ध-शान्तमूर्ति है, मनके व्यापार से रहित हैं और केवलज्ञान आदि क्षायिकभावोंसे युक्त हैं, ऐसा जानना चाहिये ॥४०॥

गाथार्थ—जो केवलदर्शन के द्वारा समस्त द्रव्य और उनकी पर्यायों को अच्छी तरह देखता है, केवलज्ञान के द्वारा उन्हें भलीभांति जानता है, तथा सम्यकत्व गुणसे विशुद्ध है। उस आत्माको ही अरहन्त का भाव-स्वरूप जानना चाहिये अथवा भाव निष्क्रेप की अपेक्षा वह आत्मा ही अरहन्त है, ऐसा जानना चाहिये ॥४१॥

विशेषार्थ—जो सत्ता मात्र रूप पदार्थ को ग्रहण करने वाले दर्शन—केवल दर्शन गुण के द्वारा निष्टुष्टरूपसे—निर्मल रूपसे वहनु—स्वरूपको ग्रहण करता है, जो विशेषको ग्रहण करने वाले साकाररूप केवलज्ञान के द्वारा जोव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश द्रव्यों को अच्छी तरह जानता है और क्षायिक सम्यगदर्शन से जो विशुद्ध है—निर्मल है

कायिकेसम्यक्त्वेन दिशुन्तो गिरीजः । (उच्चो अथुस्तु गायाचे) भविः सद्भयः
अहंतः सर्वज्ञस्य जातव्यो देवितव्यः ॥४१॥

अरहंत—इति श्री ब्रोधप्राभूतेऽहंदधिकारो दशमः समाप्तः ॥५०॥

अब आगे श्रीकुन्दकुन्दाचार्यं सत्तरह गायाओं द्वारा प्रश्नव्या—शीक्षाके स्वरूप-
का निरूपण करते हैं—

सुण्णहरे तरुहिट्ठे उज्जाणे तह मसाणवासे वा ।

गिरिगुहगिरिसिहरे वा भीमवणे अहव वसिते वा ॥४२॥

शुण्णगृहे तरुमले उद्याने तथा इमशानवासे वा ।

गिरिगुहागिरिशिखरे वा भीमवने अथवा वसतौ वा ॥४२॥

(सुण्णहरे तरुहिट्ठे) शूभ्रगृहे निवासः कर्तव्यः प्रव्रज्यावतेत्युपस्कारः ।
तरुहिट्ठे-वृक्षमूले स्थातव्यम् (उज्जाणे) उद्याने कृत्रिमवने स्थातव्यम् । (तह
मसाणवासे वा) तथा इमशानवासे वा गिरिवनस्थाने स्थातव्यम् । (गिरिगुहगिरि-
सिहरे वा) गिरिगुह गिरिगुहावां स्थातव्यम्, गिरिशिखरे वा पर्वतोपरि स्थातव्यम् ।
(भीमवणे अहव वसिते वा) भीमवने भयानकायामदव्यां स्थातव्यम् । अथवा
वसिते वा ग्रामनपरादी वा स्थातव्यं, नगरे पञ्चरात्रे स्थातव्यं, ग्रामे विशेषेण न
स्थातव्यम् ॥ ४२ ॥

वह आत्मा ही अरहन्त सर्वज्ञ देवका भाव स्वरूप है अथवा भावनिकेप
से वह आत्मा ही अरहन्त है, ऐमा जानना चाहिये ॥ ४१ ॥

इस प्रकार ब्रोधप्राभूतमें अहंदधिकार नामका दशवाँ अधिकार
समाप्त हुआ ॥ १० ॥

गाथार्थ—शीक्षा के धारक मुनिको शून्यघर में, कृक्षके मूलमें, उद्यान-
में, इमशानमें, पर्वत की गुफा में, घर्वनकी शिखर पर, भयंकर बनमें
अथवा वसतिका में निवास करना चाहिये । ४२ ॥

विशेषार्थ—गाथा में ‘प्रव्रज्यावता निवासः कर्तव्यः’ इन पदोंका
ठपर से सम्बन्ध मिलाना चाहिये । इस तरह गाथाका यह अर्थ हुआ कि
प्रव्रज्या—दोक्षा के धारक मुनिका शून्यगृह में—स्वामिहीन उजड़े मकान-
में, कृक्षके नीचे, उद्यान—कृत्रिमवन-बगीचा में, इमशानवास-मरघट में,
पर्वत की गुफा में, अथवा पर्वत की शिखर पर, भयानक अटबी में, अथवा
वसतिकामें-नगरक बाहर बने हुए मठ आदिमें या ग्राम नगर आदिमें
रहना चाहिये नगरमें मुनिको पाँच रात तक रहना चाहिये । ग्राममें
अधिक निवास न करना चाहिये ॥ ४२ ॥

सत्त्वसा सत्त्वं तित्थं लक्ष्मद्वालत्तयं च चुतेर्हि ।

जिणभवणं अहं वेज्ञं जिणमग्गे जिणदरा विति ॥४३॥

स्ववशाः सत्त्वं तीर्थं वचश्चैत्यालयश्च उवतैः ।

जिनभवनं अथ॑ वेज्ञं जिनग्गार्गे जिनवरा विदन्ति ॥४३॥

(सत्त्वसा सत्त्वं तित्थं) एवे प्रदेशाः स्ववशाः परार्थैनल्वरहिताः स्वाध्याय-
ध्यानयोग्याः । तत्र स्थित्वा किं कन्त्रमित्याह-सत्त्व-छिन्नमाने भिद्यमानेऽपि शत-

गाथार्थ—शून्यघर आदि स्थान स्ववश हैं—बाधोन हैं । इनमे रह कर मुनिको सत्त्व, तीर्थ, जिनग्गम और जिनभवन इनका ध्यान करना चाहिये; ऐसा जिनमग्गे से जिनेन्द्रदेव जानते हैं—कहते हैं ॥ ४३ ॥

विशेषार्थ—१२ वाँ गाथा ने शून्य घर आदि स्थानोंमें मुनियों की निवास करने का आदेश दिया गया है, उसका कारण वत्ताते हुए कहते हैं कि ये प्रदेश स्ववश हैं पराधोनता से रहित हैं, मुनिके स्वाध्याय और अध्ययन के योग्य हैं । इस गाथा में कहते हैं कि उन्हें स्थानोंमें स्थित रह कर क्या करना चाहिये? मुनियोंको उन्हें स्थानोंमें स्थित रह कर सत्त्व, तीर्थ, वचश्चैत्यालय-जिनग्गम और जिनभवन-अकृत्रिमचैत्यालयों का ध्यान करना चाहिये । अब सत्त्व आदि का स्वरूप स्पष्ट करते हैं—अपने शरीर के छिद्राने भिद्याने अथवा सौ टुकड़े किये जाने पर भोव्रतको खण्डित नहीं करना, चारित्र को निश्चल रखना और ब्रह्मार्थ की रक्षा रखना हमारा कर्तव्य है, इस प्रकारके साहस को सत्त्व कहते हैं । द्वादशाङ्क को तीर्थ कहते हैं अथवा ऊर्ज्यन्त-गिर्जार आदि क्षेत्र तीर्थ कहलाते हैं । वचश्चैत्यालय का अर्थ परमाग्गम, शब्दाग्गम और

१. अहवेज्ञं ग० । (अहव उज्ज्ञं त्याज्यं विति कथयन्ति, यत् स सर्वेऽपि कुमतिकैः आसक्तं व्याप्तं) ग० दि०

२. व० जयचन्द्रजी ने 'वच च अद्वा लत्तयं च' की लाप्ति 'वचश्चैत्यालयिकं च' मानकर ऐसा अर्थ किया है—'वहुरि वच, चैत्य, आलय ऐसा त्रिक जे पूर्व उक्त कहिये आयतन आदिक परमार्थस्त्र, मन्त्रमी मुनि अरहन्त भिद्य स्वरूप तिनिका नामके अशर रूप मन्त्र तथा तिनिकी आज्ञा रूप वाणी सो तो वच, अर तिनिके आकार वातु पाषाण को प्रतिमा स्थापन सो चैत्य, अर सो प्रतिमा तथा अशर मन्त्र वाणी जामें स्थापिये ऐसा आलय मन्दिर मन्त्र पूस्तक ऐसा वच चैत्य आलय का त्रिक' ।

स्वप्नं क्रियमाणेऽपि निजकारीरे सखमङ्गण्डतवतत्वं निश्चलचारित्रं ब्रह्मचर्यत्वं
रक्षणीयमिति सर्वं माहसः वेद्यं भवति, तथा तीर्थं द्वादशाङ्कं ऊर्जयन्तादिवा-
वेद्यं ध्यानोंयं ध्यातव्यं ज्ञातव्यम् । (वच च इदालत्यं च बुत्तेहि) वचश्चत्या-
लयश्च परमागम—शब्दागमयुक्त्यागमपुस्तकं च वेद्यं ध्यातव्यं भवति । तथा
चोक्तं—

वारह अंगिङजा दंसणलिलया चरित्त वच्छहरा ।

चउदस पुञ्चाहरणा ठाकेदव्या य सुभकेदी ॥

उक्तं—जिनवचनप्राणतथा । (जिणभवणं अहवेज्जं) जिणभवनं जिनचत्या-
लयः, अथ मंगलभूतं मर्दभव्यजोवमङ्गलकरं कृत्रिममाङ्गुष्ठिम च वेद्यं ध्यातव्यम् ।
तथा चोक्तं नेमिचन्द्रेण चामुण्डरायराजमल्ल-देवगुरुणा त्रिलोकसारप्राप्ते—

भवणविवतरजोइस विभाणणरतिरियलोय जिणभवणे ।

सम्बामरिदणरवद्द संपूर्णिय वदिए वदे ॥

सर्वकृतिमचत्यालयसंख्यावस्थानार्थ श्री पूजयदेवरार्थी चक्रे—

युक्त्यागम रूप जिन शास्त्र है । (सिद्धान्त शास्त्रको परमागम, ध्याकरण
साहित्यको शब्दागम और न्यायशास्त्र को युक्त्यागम कहते हैं ।) जैसा
कि कहा है—

वारह—द्वादशाङ्कं जिसका शरीर है, सम्यगदर्शन जिसका तिळक है,
चारित्र जिसका वस्त्र है, और चौदह पूर्वं जिसके आभरण हैं, ऐसी श्रृत
देवीकी स्थापना करना चाहिये ।

जिनभवन शब्द से मङ्गलभूत तथा समस्त भव्य जीवोंका मङ्गल
करने वाले कृत्रिम अकृत्रिम चैत्यालय समझता चाहिये । जिन वचन
प्रमाण हैं और उनमें अकृत्रिम चैत्यालयोंका वर्णन है इसलिये वर्तमान में
दृष्टिगोचर न होते हुए भी उनका अस्तित्व स्वीकार्य है जैसा कि चामु-
ण्डराय और राजमल्ल देवके गुह नेमिचन्द्राचार्य ने त्रिलोकसार प्रथा में
कहा है—

भवण—भवन-वासी, व्यन्तर, ज्योतिषी, वैमानिक देव तथा निर-
तिर्यग्लोक-मध्यग्लोक में समस्त इन्द्रों और राजाओंके द्वारा पूजित और
वंदित जो जिनभवन हैं, मैं उनकी वन्दना करता हूँ ।

समस्त अकृत्रिम चैत्यालयों की संख्याका परिक्षान करानेके लिये श्री
पूज्यपाद स्वामीने आर्या छन्द लिखा है—

नवनवच्छुशतानि च सत्त्वं च नवतिः सहस्रागुणिता षट् च ।
पञ्चाशत्पञ्चविष्टप्रहुताः पुनरत्र कोटयोऽष्टौ ग्रोक्षाः ॥

बङ्गुत्रिम चेत्यालयानां संख्या मग्ना—एकाशीष्ठिक चत्तारि शतानि सत्त्व-
नवतिसहस्राणि षट्पञ्चाशत्पञ्चाणि अष्टौ कोटयो भवन्ति । एवंकचेत्यालयेऽष्टात्रिमं शतं प्रतिमानां भवति । तासा संख्या यथा—

णवकोदिस्या पणवीसा लक्खा तेष्ण गद्यसंगवीसा ।
नवतिसय तह अड्याला जिणपद्मि अकिंद्विमं वदे ॥

नवशतकोटयः पञ्चविंशति कोटयस्च शिशलक्षा सप्तविंशतिसहस्राश्च-
त्वारि शतानि अष्टपञ्चत्वारिंशदविकानि भवन्ति । उयोतिषां व्यन्तराणां च चेत्या-
लयानां संख्या नाहित । (जिणपणे जिग्वरा विति) जिनमार्गे जिनशासने जिन-
वरा विदन्ति जानन्ति । सत्त्वं, तीर्थं, शास्त्रं, पुस्तकं, जिनभवनं, प्रतिमाश्च एत-
त्सर्वं वेष्यं मुनीनां श्रावकाणां च सम्यग्दृष्टीनां वेष्यं ध्यानादलम्बनीयं वस्त्वहैन्तः
कथयन्ति । तये न मानयन्ति ते मिथ्यादृष्टयो भवन्तीति भावार्थः ॥ ४३ ॥

पञ्चमहव्ययजुत्ता पञ्चिद्वियसंजया णिरादेक्षा ।

सज्जायमाणजुत्ता मुणिवरवसहा णिद्वच्छन्ति ॥ ४४ ॥
पञ्चमहाब्रतयुक्ता पञ्चेन्द्रियसंयता निरपेक्षा ।
स्वाध्यायध्यानयुक्ता मुनिवरवृषभा नोच्छन्ति ॥ ४४ ॥

नवनव—आठ करोड़ तिरेपन लाख संतानवे हजार चारसौ इक्यासी
बङ्गुत्रिम चेत्यालयों को संख्या है । एक एक चेत्यालय में एकसौ आठ,
एकसौ आठ प्रतिमाएं होती हैं सब चेत्यालयोंको प्रतिमाओं को संख्या इस
प्रकार है—

णवकोडि—नौ सौ पञ्चोस करोड़ छापन लाख सत्तार्द्दिस हजार चार
सौ अड़तालीस । उयोतिषी और व्यन्तर देवोंके चेत्यालयोंकी संख्या नहीं
है कथोंकि उनके यहाँ असंख्यात चेत्यालय आगममें बतलाये हैं । जिन-
मार्ग—जिनशासन में अरहन्त देव ऐसा कहते हैं कि सत्त्व, तीर्थ, शास्त्र,
पुस्तक, जिनभवन और जिन प्रतिमा ये सब, मुनियों, श्रावकों और
अविरत सम्यग्दृष्टि जीवोंके ध्यानके आलम्बन हैं अथवा वे इनका ध्यान
करते हैं । जो इन्हें नहीं मानते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं ॥ ४४ ॥

गाथार्थ—जो पाँच महान्नतोंसे सहित हैं, जिन्होंने पाँच हन्द्रियोंको
वश कर लिया है, जो प्रत्युपकार की वाञ्छासे रहित हैं और जो स्वा-

(पञ्चमहस्यजुत्ता) पञ्चमहाव्रतयुक्ताः पूर्वोक्तपञ्चमहाव्रतयुक्ताः सर्व-
जीवदया-प्रतिषालका ऋष्यः सत्यवच्चसोऽचौर्यव्रतव्यापारिणः ब्रह्मचर्यव्रतोपेता निष्परि-
ग्रहा 'आश्रवण-प्रायोग्य—परियहपरित्यक्ता रजनिभोजतवज्जिन एतद्वेष्यं वस्तु
निश्चयेनेच्छन्ति मानवन्ति जिनवच्चनप्रमाण-कारित्वात् (पांचद्विषय संज्ञा णिरा-
वेक्षा) पञ्चनिद्रियाणि मंयतानि बद्धानि निज-विषयेषु प्रवतितुं व्यावृत्तानि
निषिद्धानि यैरते पञ्चेन्द्रियसंयताः । निरपेक्षाः प्रत्युपकारवाङ्गम्भिरहिता भव्य-
जीव—सम्बोधनपरा एतद् वेष्यं नीच्छन्ति । (सज्जाय लाणजुत्ता) स्वाध्याय-
ध्यानयुक्ताः । स्वाध्यायः पञ्चप्रकारः, वाचना—शिष्याणां व्युत्पत्तिनिमित्तं
शास्त्रार्थकथनं, पृच्छना अनुयोगकरणं, अनुप्रेक्षा—पठितस्य व्याकृत्य च शास्त्रस्य
पुनश्चेतत्सि चिन्तनम्, आम्नायः-शुद्धपठनं, धर्मोपदेशः—महापुराणादिशास्त्रलय
मुनोनां श्रावकादीनामश्वतो व्याख्यानविवानं । ध्यान-आतंडियानरीद्व्यानहृणं परि-

ध्याय तथा ध्यानसे सहित हैं, ऐसे श्रेष्ठ मुनिराज उपर्युक्त मत्व-तीर्थ
आदि वेद्योंकी अत्यन्त इच्छा करते हैं ॥ ४४ ॥

विशेषार्थ—जो पहले कहे हुए पौच महाव्रतों से सहित हैं अर्थात् सब
जीवोंको दया पालते हैं, सत्य वचन बोलते हैं, अचौर्यव्रतको धारण करते
हैं, ब्रह्मचर्यव्रत से सहित हैं, निष्परिग्रह हैं, आस्त्रव के योग्य परियह से
रहित हैं और रात्रिभोजन के त्यागी हैं ऐसे ऋषि ध्यान करने योग्य सत्त्व
तीर्थ आदि वस्तुओं को निश्चयसे मानते हैं क्योंकि वे जिनवच्चनको प्रमाण-
भूत स्वीकृत करते हैं । जिन्होंने स्पर्शनादि पांच इन्द्रियों को संयत कर
लिया है अर्थात् अपने अपने विषयों में प्रवृत्त होनेसे रोक लिया है तथा
जो प्रत्युपकार की इच्छा से रहित हो भव्य जीवों के सम्बोधने में सदा
तत्पर रहते हैं ऐसे ऋषि उक्त वेद्यों की अत्यधिक इच्छा रखते हैं । इसी
प्रकार जो स्वाध्याय तथा ध्यान से युक्त हैं । स्वाध्याय पांच प्रकारका
होता है—१ वाचना, २ पृच्छना, ३ अनुप्रेक्षा, ४ आम्नाय और ५ धर्मोपदेश ।
शिष्यों की व्युत्पत्ति के लिये शास्त्रके अर्थका कथन करना वाचना है ।
अज्ञात वस्तुको समझनेके लिये अथवा ज्ञात वस्तुको दृढ़ करनेके लिये
प्रश्न पूछना पृच्छना है । पठित अथवा व्याख्यात शास्त्रका चित्तमें पुनः
पुनः चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है । शुद्ध पाठ करना आम्नाय है और
मूलियों तथा श्रावकों के आगे महापुराणादि शास्त्रों का व्याख्यान करना

१. अश्रवणप्रायोग्य क० म० क० प्रती विषि पञ्चात् केनचित् आश्रवण इति
संशोधितम्

हृत्य धर्म्यव्यानशुक्लध्यानद्वये प्रवर्तनं विधिनिषेच्छर्वं । (मुणिवरद्वयमः सर्वपाथिष्ठम्योऽधिकश्रेष्ठः सर्वलोक-प्रशंसनीयाः परमार्थप्रतयः दिगम्बरा नि-अतिशये नेष्ठन्ति वेद्यं वाङ्मत्तिं पूनः पुनरम्यासं कुर्वन्ति ॥४४॥

गिहगंथमोहमुक्ता वादीसपरीसहा जियकसाया'

पादारंभविमुक्ता पववज्ञा एरिसा भणिया ॥४५॥

गृहग्रन्थमोहमुक्ता द्वाविशतिपरीषहजितकषाया ।

पापारम्भविमुक्ता प्रब्रज्या इदृषी भणिता ॥४५॥

(गिहगंथमोहमुक्ता) गृहस्य निवासस्य, ग्रन्थस्य परिग्रहस्य बाह्यस्य दश-प्रकारस्य मोहेन मुक्ता भमेदभावरहिता प्रब्रज्या दीक्षा भवति । के ते दश बाह्य परिग्रहाः ? क्षेत्रं सम्याधिकरणं । वास्तु गृहं । हिरण्यं रूप्यं द्रष्ट्यादि । सुवर्णं काञ्चनं । घनं गोभहित्यादि । भान्यं त्रीहृषीदे । दासी कर्मकरो । दासः पुनरपुस-कर्वन् । कर्मकरः । कुर्यां क्षीम-कापीस-कीरीय-चन्दनागुवर्णि । चतुर्दशाम्यन्तरपरिग्रह-रहिताः ? के ते चतुर्दशाम्यन्तरपरिग्रहाः ?

धर्मो देश है । आत्मध्यान और रीढ़ध्यान को छोड़कर धर्म्यध्यान तथा शुक्लध्यान में प्रवृत्ति करना इस तरह विधि निषेध रूप ध्यान है । ऐसे दिगम्बर साधु, सब साधुओंसे अधिक श्रेष्ठ हैं, सब लोगों के द्वारा प्रशंसनीय हैं तथा परमार्थ यति हैं—वास्तविक साधु हैं, वे इन वेद्यों-ध्यान-योग्य वस्तुओं की अतिशय इच्छा रखते हैं—बार बार इनका अभ्यास करते हैं ॥ ४४ ॥

गाथार्थ—जो निवास स्थान और परिग्रह के माहसे रहत है, वाईस परीषहोंको जीतनेवाली है, कषायसे रहित है तथा पापके आरम्भ से अथवा पापपूर्ण लेती आदिके आरम्भ से मुक्त है ऐसी दीक्षा कही गई है ॥४५॥

विशेषार्थ—गृहग्रन्थमोहमुक्ता—गृह का अर्थ निवास-स्थान है, ग्रन्थ परिग्रह को कहते हैं, वह परिग्रह बाह्य और अभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार का है । उनमें बाह्य परिग्रहके दश भेद हैं—१ क्षेत्र-बहुं अनाज पैदा होता है, २ वास्तु-मकान, ३ हिरण्य-चाँदी से निर्मित पदार्थ, ४ सुवर्ण-सोना ५ धन-गाय भैंस आदि, ६ धान्य-धान गेहूं आदि अनाज ७ दासी-कर्म करने वाली स्त्री ८ दास कार्य करने वाला पुरुष अथवा नपुंसकों

१. परीसहजि अकसाया म० ।

२. रूप्यद्रम्मादि क० म० । रूप्यद्रम्मादि उ० ।

३. रहिता क० ख० ग० ध० ड० म० ।

मिथ्यात्वदेवी हास्यादिष्ट कथायचतुष्टयम् ।

रागद्वेषी च सज्जा स्युरत्तरज्ञानचतुर्दश ॥

(बाबीसपरीसहजियकथामा) द्वार्तिशति-परिष्ठहजित् प्रवच्या भवति । के ते द्वार्तिशति परिष्ठहः ? शुधाजयः, पिपासान्तुष्टाजयः, शीतजयः उष्णजयः, दंश-मणक सर्वोपघातसहनं, नगनत्वसहनं, अरतिजयः, स्त्रीपरिष्ठहजयः, चर्या-गमनं तस्य जयः, निषद्या-उपवेशनं तस्य जयः, शश्यासहनं, आक्रोशजयः, अनिष्टवचन-सहनं, वधसहनं, याचनसहनं—न किमपि याचते, अलाभसहनमन्तराय-सहनं रोगसहनं, तुणस्पर्श सहनं, मलसहनं, लोचसहनं च, सत्कारपुरस्कार-पूजाया

का वर्ण, ६. कुण्ड-रेशमी सूती कोशा आदिके वस्त्र तथा १० चन्दन अमृह आदि सुगन्धित पदार्थ । अभ्यन्तर परिष्ठह के छोदह भेद हैं—

मिथ्यात्व—मिथ्यादर्शन, वेद हास्यादि छह तो-कषाय, क्रोधादि चार कषाय-राग और द्वेष ये छोदह अन्तरज्ञ परिष्ठह हैं ।

जिन दीक्षा, निवास स्थान और बाह्याभ्यन्तर भेदवाले छोदीस प्रकारके परिष्ठह से रहित हैं । बाईस परीषहों को जीतने वाली है तथा कथाय से रहित है । वे बाईस परीषह कौन हैं ? इसके उत्तर में बाईस परीषहों के नाम गिनाते हैं—क्षुषाजय-भूखकी बाधाको जीतना, २ पिपासा-जय-प्यास की बाधाको जीतना, ३ शीतजय-शीतको बाधा को जीतना, ४. उष्णजय-गर्भी की बाधा को जीतना, ५. दंशमणक सर्वोपघात सहन-डांस मच्छर आदिके सब उपद्रव सहन करना, ६. नगनत्व-सहन-नगन रह कर बिकारीभाव नहीं लाना, ७ अरतिजय-अप्रीति को सहन करना, ८ स्त्रीपरिष्ठहजय-स्त्रियों के द्वारा किये हुए हाव भाव आदि उपद्रवों के होते हुए निर्विकार रहना, ९. चर्या-पैदल चलनेका दुःख सहन करना, १० निषद्या-बहुत देर तक एक ही आसन से बैठने का दुःख सहन करना, ११ शश्या-कक्करोली पथरीली शश्या पर शयन करने का दुःख सहन करना, १२ आक्रोश जय-अनिष्ट वचनोंको सहन करना, १३ वध सहन-मारपीट आदिका दुःख सहन करना, १४ याचन सहन—याचना नहीं करना, १५ अलाभ सहन—आहार आदि में अन्तराय आने पर दुःख नहीं करना, १६ रोग सहन—रोगोंकी पीड़ा सहन करना, १७ तुणस्पर्शसहन—कटि आदिका दुःख सहन करना, १८ मलसहन—लोचसहन—शरीरपर लगे हुए मलका सहन करना तथा केशलोच का दुःख उठाना, १९ सत्कारपुरस्कार-पूजा न करने और सम्मान पूर्वक अग्रासन न देनेका दुःख सहन करना, २० प्रक्षापरीषहजय-ज्ञानका गर्व दूर करना, २१ अज्ञानपरीषह वय-यह

अकरणस्य सन्मानाग्रासनादानस्य च सहस्रं सत्कार-पुरस्कारजयः, प्रशापरीष्टहजयो, शानभद्रनिरासः, अशानोऽवभिति वचनसहस्रमज्ञानपरीष्टहजयः, वदर्शनपरीष्टहजयोः लक्ष्यभावसहनं । तथा चोक्तमुमास्वामिना—

शुद्धिगात्राशीकोष्णदेशमशकनामन्यारतिस्त्रोचर्यानिषद्याशाव्याक्रोशवजया चनाम्भलाभरोगतृणस्यैमलसत्कारयुरस्कारप्रज्ञाज्ञानादर्शनानि ।

अकसाया—कषायरहिता प्रवज्या भवति । (पावारंभ विमुक्ता) पापारम्भ-विमुक्ता सेवाकृतिवाणिज्यादिपापारम्भस्तस्माद्विष्ट्वा ।

एतेन किमुक्तं भवति ? यद्द्राविडसंधा जैनाभासा वदन्ति तत्त्वत्युक्तम्—

बोएसु णतिथ जीजो उभसणं णतिथ फासुगं णतिथ ।

सावज्जे ण हृ मण्डे ण गण्डे गिह कण्डियं बद्धं ॥ १ ॥

कच्छं लेसं वसहि वाणिज्जं काच्छिणं जीवंतो ।

हंतो सोथलनीरे पावं पडरं समज्जेदि ॥ २ ॥

(एवज्जाएरिता भणिया) प्रवज्या—दीक्षा ईदूशी भणिता ॥ ४५ ॥

अज्ञानी है, इस प्रकारके वचनोंका सहन करना, और २२ वदर्शन परीष्टहजय-क्षम्भि आदिके न होने पर भी गुहीत मार्गके प्रति अश्वद्धा न होने देना । जैसा कि उमास्वामी महाराज ने कहा है—

कृत—अूधा, पिपासा, शोत, उष्ण, दंशमशक, नाम्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शथ्या, आकोश-वष, याचना, अलाभ, रोग, तुणस्पर्श, मल, सत्कार, पुरस्कार, प्रशा, अज्ञान और अदर्शन ये बाहेसं परीष्टह हैं । अकसाया-जिनदीक्षा कषायसे रहित होती है । इसके सिवाय पापारम्भ-विमुक्ता-सेवा, कृषि तथा व्यापार आदि पापके आरम्भसे रहित होती है । इस विशेषण से द्राविड-संघके जैनाभास जो यह कहते हैं कि—

बोएसु—बोजों में जीव नहीं है, खड़े होकर भोजन करना आवश्यक नहीं है, प्रासुक का विकल्प नहीं है, सावद्य-पापपूर्ण कियाके त्यागको धर्म नहीं मानते, गृह कार्यों में जो आतंव्यान होता है वह नहीं गिना जाता, इसका निराकरण हो जाता है ।

कच्छं—द्राविड संघीय जैनाभास कछवाड़ा, लेत, वसतिका तथा व्यापार कराकर जीवित रहते हैं, ठण्डे पानी में नहुते हैं, इस तरह प्रचुर पापका संचय करते हैं ।

जिन-शासन में दीक्षा ऐसी कही गई है ॥ ४५ ॥

अणधर्णवस्थदारं हिरण्यसयणासणाद् छत्तराद् ।
कुहाणविरहरहिया पञ्चज्ञा एरिला भणिया ॥४६॥

धनधात्यवस्त्रदानं हिरण्यसयणनासनादि छत्रादि ।
कुदानविरहरहिता प्रब्रज्या ईदृशो भणिता ॥४६॥

(अणधर्णवस्थदारं) घन गवादि, धान्यं गोधूमादि वस्त्रं पट्टम्बरादि, एतेषां दानं विश्वाणनं मुनयो न कुर्वन्ति । (हिरण्यसयणासणाद् छत्तराद्) हिरण्यं रूप्यघटितं नाणकं सुवर्णघटितं नाणकं ताम्ररूप्य मिश्र-घटितं नाणकं केवलताम्बादि-घटितं नाणकं हिरण्यमूच्यते, तददानं मुनयो न कुर्वन्ति । शयनं अष्टशल्या खट्का पस्त्रङ्कुः तदानं मुनयो न कुर्वन्ति । आसनं पीठं आदिशब्दात् पट्टलं, छत्रभातपवं आदिशब्दाद् अवजाचामरादिकं मुनयो न ददाति । (कुहाणविरहरहिया) कुत्सित-दानस्य विशेषेण रहस्यागस्तेन रहिता (पञ्चज्ञा एरिला भणिया) प्रब्रज्या दीक्षेदृशी भणिता श्रीगौतम-स्वामिना श्रीरेण तीर्थंकृता प्रतिपादिता । इत्यनेन येऽनन्त-सरस्वती-नरसिंह—भारती-वासुदेव-सरस्वती-प्रभृतयः सान्यासिका अपि सन्तः कुत्सितानि दानानि ददति तत्पतं निराकृतमिति भावः ॥ ४६ ॥

गाथार्थ—धन धात्य तथा वस्त्रका दान, चाँदी सोना आदिका सिक्का तथा शय्या आसन और छत्र आदि सोटी वस्तुओंके दानसे जो रहित है, ऐसी दीक्षा कही गई है ॥४६॥

विशेषार्थ—गाय आदिको धन कहते हैं, गेहुः आदि को धान्य कहते हैं, पाट आदि के वस्त्रको वस्त्र कहते हैं, मुनि इनका दान नहीं करते हैं । चाँदी से बना सिक्का, सुवर्ण से बना सिक्का, ताम्बा और चाँदीके मेल से बना सिक्का और केवल ताम्बा आदिसे बना सिक्का हिरण्य कहलाता है, मुनि इनका दान नहीं करते हैं । आठ लकड़ियों को सलाकर बनाई हुई खाट तथा पलंग को शय्या कहते हैं, मुनि इसका दान नहीं करते हैं । पाम से रक्षा करने वाला छत्र तथा आदि शब्द से अवजा और चामर आदिका दान मुनि नहीं देते हैं । इस प्रकार जो उपयुक्त सोटी वस्तुओंके नाना प्रकार के दान से रहित हैं, वह दीक्षा है, ऐसा श्री गौतम स्वामी तथा तीर्थंकर और भगवान ने कहा है । इस कथन से जो अनन्त सरस्वती नरसिंह, भारती, और वासुदेव सरस्वती आदि संन्यासी होते हुए भी कुत्सित दान देते हैं उनके मतका निराकरण हो जाता है ॥४६॥

सत्तुमिते च समा पसंसर्णिदा अलद्विलद्विसमा ।

तणकणए समभावा पञ्चज्ञा एरिसा भणिया ॥४७॥

शत्रुमिते च समा प्रशंसानिन्दाऽलब्धिलब्धिसमा ।

तृणकनके समभावा प्रवज्या ईदृशी भणिता ॥४७॥

(सत्तुमिते च समा) शत्री वैरिणि, मित्रे सुहृदि समा रागद्वेष-रहिता ।

(पसंसर्णिदा अलद्विलद्विसमा) प्रशंसायां गुणस्तुतौ, निन्दायामवर्णवादे, लब्धी निरन्तराय-भोजने, अलब्धी भोजनाचान्तराये च समा सदृशीं प्रवज्या भवति ।

(तणकणए समभावा) तृणे कनके सुवर्णे च समभावा अनादरादर-रहिता ।

(पञ्चज्ञा एरिसा भणिया) प्रवज्या ईदृशी भणिता चिरन्तनाचार्येः प्रहि-
ष्ठिता ॥ ४७ ॥

उत्तममज्जितमगेहे दरिद्रे ईसरे णिरावेक्षा ।

सत्त्वतथ गिहिदपिण्डा पञ्चज्ञा एरिसा भणिया ॥४८॥

उत्तममध्यमगेहे दरिद्रे ईश्वरे निरपेक्षा ।

सर्वत्र गृहीतपिण्डा प्रवज्या ईदृशी भणिता ॥ ४८ ॥

(उत्तममज्जितमगेहे) उत्तमगृहे उत्तम्भूतोरणादि-सहिते राजसदनादौ, मध्य-
मगेहे नीचैर्गृहे, तृणपणादिनिमिते, निरपेक्षा उचैर्गृहं गच्छामि नीचैर्गृहं अहं न

गाथार्थ—जो शत्रु और मित्र में सम है, प्रशंसा, निन्दा, अलाभ और
लाभ में सम है, तथा तृण और सुवर्ण में समभाव रखती है, ऐसी दीक्षा
कही गई है ॥४७॥

विशेषार्थ—शत्रु और मित्र में जो सम है अर्थात् राग द्वेष से रहित
है, प्रशंसा अर्थात् गुणों की स्तुति, निन्दा अर्थात् अवर्णवाद-मिद्यादोष
कहना, लब्धि निरन्तराय भोजन होना और अलब्धि अर्थात् भोजन आदि
में अन्तराय हो जाना इनमें जो सम है, तथा तृण और सुवर्ण में जो सम-
भाव है—अनादर और आदर से रहित है, ऐसी जिनदोषा प्राचीन
आचार्यों के द्वारा कही गई है ॥४७॥

गाथार्थ—जो उत्तम मध्यम घरों एवं निर्धन और धनवान् के विषय
में निरपेक्ष है, तथा जिसमें समस्त योग्य घरोंमें आहार ग्रहण किया जाता
है ऐसी दीक्षा कही गई है ॥४८॥

विशेषार्थ—ऊँचे तोरण आदि से सहित राजमहल उत्तमगृह कहलाते
हैं, और तृण तथा पत्ते आदिसे निर्मित गृह नीचरगृह कहलाते हैं । बोचके

क्षमामि, न प्रविशामीत्यपेक्षा रहिता प्रकल्पया भवति (दारिद्र्दे हसरे भिक्षावेक्षा) अतिस्य निर्बन्धस्य गृहं न प्रविशामि, ईश्वरस्य घनबद्धो गृहे प्रविशाम्यहु निषेद्धे प्रविशेकारहिता प्रकल्पया भवति । (सम्बन्ध गिहिद्विष्टा) सर्वत्र योग्यगृहे गृहीत-पिण्डा स्वीकृताहारा प्रकल्पया ईदृशी भवति । कि तद्योग्यं गृहं यत्र भिक्षा न गृज्यते इत्याह—

गायकस्य तलारस्य नीचकमोपजीविनः ।

मालिकस्य विलिङ्गस्य वेश्यायास्तैलिङ्गस्य च ॥ १ ॥

अस्यापमर्थः—गायकस्य गन्धर्वस्य गृहे न भूज्यते । तलारस्य कोटपालस्य, नीचकमोपजीविनः च मंजलशकटादेवहिकादेवः आवकस्यापि गृहे न भूज्यते । मालि-कस्य पुष्पोपजीविनः, विलिङ्गस्य भरटस्य, वेश्याया गणिकायाः, तैलिङ्गस्य चांचिकस्य ।

दीनस्य सूतिकायास्य छिप्पकस्य विवेषतः ।

मध्यविक्रमियोऽपि मध्यपायिसंसर्गिणश्च न ॥ २ ॥

मध्यम गृह हैं जो दीक्षा इनके विषय में निरपेक्ष रहती है अथात् साधु ऐसा विकल्प नहीं करता है कि मैं भिक्षा के लिये लुच्चगृह में जाता हूँ और नीचगृह में प्रवेश नहीं करता हूँ । जो दीक्षा दारिद्र्य और धन-सम्पन्नता के विषयमें निरपेक्ष रहती है अथात् कभी ऐसा अभिप्राय नहीं रखती है कि मैं भिक्षाके लिये दारिद्र्य-निर्धन के घर में प्रवेश नहीं करूँ और ईश्वर-धनाढ़ी के घर में प्रवेश करूँ, जो समस्त योग्य गृहोंमें आहार करती है वह प्रकल्पया-दीक्षा है ।

प्रश्न—वह अयोग्य गृह कौन हैं जिनमें भिक्षा नहीं ली जाती है ?

उत्तर—गायक-गाने बजाने वाले गंधर्व, तलार-कोटवार, नीचकमोपजीवी, चमड़े की मशक से जल भरने वाले, मालिक-फूलोंका काम करने वाले, बिलिंग-भरट-भाड़ चलाने वाले, वेश्या और तैलिक-तेली के घर मुनि भिक्षा छह्य नहीं करते हैं ॥ ३ ॥

दीनस्य—दीन-जो आवक होकर भी दीन भाषण करता है, सूतिका-जो बालकोंका जन्म कराती है, छिप्क-जो कपड़े छापता है, मध्यविक्रमी—

१. नीतिसारे इन्द्रनन्दिनः ।

२. नानिकस्य म० ।

३. नीतिसारे इन्द्रनन्दिनः ।

दीनस्थ श्रावकोऽपि सन् यो दीनं भवते । सूतिकायाः—या बालकानां जननं
कारयति । अन्यस्मुगमम् ।

‘कोलिको यालिकक्ष्येव कुम्भकारस्तिलंतुदः ।

नापितास्त्वेति विजेयाः पञ्चते पञ्चकारवः ॥ ३ ॥

रजकस्त्वाकक्ष्येव अयःसुवण्णकारकः ।

दृष्टकाराद्यक्ष्येति कारहे दृशः सृता ॥ ४ ॥

क्रियते भोजनं गेहे यतिना भोक्तुमिच्छुना ।

एवमादिकमप्यन्यच्चित्तमीयं स्वचेतसा ॥ ५ ॥

वरं स्वहस्तेन कृतः पाको नान्यत्र दुर्दृशाम् ।

मन्दिरे भोजनं यस्मात् सर्वसावचसंगमः ॥ ६ ॥

णिमांथा णिस्संगा णिम्माणासा अराय णिद्वोसा ।

णिम्मम णिरहंकारा पञ्चज्ञा एरिसा भणिया ॥४९॥

निश्चन्था निस्सङ्गा निमनिशा अरागा निर्देषा ।

निर्ममा निरहङ्कारा प्रब्रज्या ईदृशो भणिता ॥४९॥

जो मदिरा बेचता है, और मद्यपायीसंसर्गी—जो मदिरा पीने बालोंके साथ
संसर्ग रखता है, उसके घर खास कर साधु आहार नहीं लेते हैं ॥३॥

कोलिको—कोलिक—कपड़ा बुनने वाला—जुलाहा मालाकार, कुम्भ-
कार, तेली और नाई ये पाँच स्पृश्य काह कहलाते हैं ॥३॥

रजकस्—धोबी, बढ़ी, लोहार, सुनार और सिलाचट हत्यादि बहुतसे
काह माने गये हैं ॥४॥

क्रियते—मोक्षका अभिलाषी मूनि इनके घर भोजन नहीं करता
है। इन्हींके समान अन्य लोगोंका भी अपने मनसे विचार कर लेना
चाहिये ॥५॥

वरं स्वहस्तेन—अपने हाथसे रसोई पका लेना अच्छा है परन्तु मिथ्या-
दृष्टियों के घर भोजन करना अच्छा नहीं है क्योंकि उससे समस्त सावधां-
पापोंका संगम होता है ॥६॥

गाथार्थ—जो निश्चन्थ हो—परिग्रह से रहित हो अथवा निश्चन्थ हो
नि-अतिशयपूर्ण ग्रन्थों से सहित हो, निःसङ्ग हो—स्त्री आदिके संपर्क से

१. नीतिसारे इन्द्रनन्दिनः ।

२. शालिका म० ।

(णिग्नथा) परियह—रहिता, अथवा नि-अतिशयपदिभः ग्रन्थः शास्त्रैः सहिता निर्गन्था (णिस्संगा) स्त्रीप्रभुत्व-संगरहिता, अथवा निश्चितैः शोभनैः अंगैर्हादशांगैः संयुक्ता निस्सञ्जा, अथवा निश्चितैर्हीरष्टभिः वारीरेहयांगेष्ट सहिता ।

प्राक्षेत्रं ज्ञातलोकन्वद्वितिमतिना तेन मोहोजिष्ठतेन ।

प्रार्थित्वातः सुदेशो द्विजनृपतिवणिर्वर्णं वैवर्ण्योऽङ्गपूर्णः ॥

रहित हो अथवा निश्चितशोभमान बारह अङ्गों से सहित हो अथवा निश्चित आठ अङ्गों और उपाङ्गों से सहित हो, निर्मानशा हो—निर्मान-आठ में से रहित हो तथा निराशा आशासे रहित हो, अथवा निरक्षवा-घोड़ा हाथी बैल आदिके बाहन से रहित हो, अरागा-राग रहित हो अथवा अराजा-राजा आदिके साथ स्नेहसे रहित हो, निर्दोषा हो—द्वेषसे रहित हो अथवा दात पित्तादि दोषोंसे रहित हो, निर्संग हो—ममता भावसे रहित हो, अथवा मन्त्रीन मकार और मा-लक्ष्मी से रहित हो और निरहंकारा-अहंकार से रहित हो अथवा निष्पाप होकर निज शुद्ध स्वरूप के निकट हो—उसमें लीन हो वह दीक्षा कही गई है ॥४९॥

विशेषार्थ प्राकृत के 'णिग्नथा' शब्द की संस्कृत छाया निर्गन्था अथवा निर्गन्था होती है अतः दोनों रूपोंको दृष्टिमें रखकर अर्थ किया गया है कि जो ग्रन्थेभ्यो निर्गंता अर्थात् परियहों से रहित हो, अथवा नि-नितर्गा-अतिशयपूर्ण ग्रन्थों-शास्त्रों से सहित हो (नितरा अतिशय-पूर्णः ग्रन्थाः शास्त्राणि यस्यां सा) । प्राकृतके 'णिस्संगा' शब्दकी निस्सञ्जा, निस्वञ्जा अथवा निस्वाङ्जा छाया है उसोके आधार पर उसका अर्थ है कि जो निस्सञ्जा-स्त्री आदिके संसर्गसे रहित हो, अथवा निश्चित उत्तम अङ्गों-द्वादशाङ्गों से सहित हो—जिसमें द्वादशांगोंका पठन पाठन होता हो (निश्चितानि सुष्ठु-शोभनानि अंगानिद्वादशांगानि यस्यां सा) अथवा शरीर के निश्चित आठ अंगों और उपांगोंसे सहित हो (निश्चितानि स्वस्थ-स्वशरीरस्य अङ्गानि यस्यां सा) । दीक्षा कौन ले सकता है ? इसका वर्णन आचारसारमें श्री वीरनन्दो आचार्य ने इस प्रकार किया है—

प्राक्षेत्र—लोकव्यवहार और लोक-दुद्धिके ज्ञाता, निर्मोह आचार्य जिसे

१. आचारसारे ।

२. वर्षाङ्ग म० ।

भूमूलोकाविरुद्धः स्वजनपरिजनोन्मोचितो वीतमोह—
१ विचन्तापस्माररोग द्यगत इति च ज्ञातिसकीर्तनाद्यः ॥

इति वीरनन्दभिरुक्तवात् । अथ कानि सान्यष्टाबद्धानीति चेत् ?

३ णलया बाहू य तहा णियंबपुट्ठी उरं च सीरं च ।

अद्गेव दु अंगाहं सेस उवंगाह देहस्त ॥

कुरुपिणो हीनाधिकाङ्गस्य कुष्ठादिरोगिणश्च प्रवज्या न भवति ।

(णिम्माणासा) निर्माना अष्टमव रहिता, निराशा आशा रहिता ।

उक्तश्च—

३ आशागतः प्रतिप्राणि परिमन् विश्वमणूरमप् ।

कस्य कि कियदायाति वृथा दो विषयैविता ॥

पहले से जानते हों, जो उत्तम देशका रहने वाला हो, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णमें से किसी वर्णका हो, अङ्गोंसे पूर्ण हो—विकलाङ्ग अथवा अधिकाङ्ग न हो, राजाका अपराधी न हो, स्वजन और परिजन के लोगोंने जिसे छोड़ दिया हो—दीक्षा लेनेकी अनुमति दे दी हो, मोहरहित हो, चिन्ता तथा अपस्मार (मूर्च्छाविशेष) आदि रोगोंसे रहित हो । अब वे आठ अङ्ग कौन हैं जिनकी पूर्णता साधुको आवश्यक है । इसका उत्तर देते हैं—

णलया—दो पैर, दो भुजा, नितम्ब, पृष्ठ, छाती और शिर ये शरीरके आठ अङ्ग हैं और शेष उपाङ्ग कहलाते हैं ।

कुरुपी, हीनाङ्ग, अधिकाङ्ग और कुष्ठादिरोगसे युक्त मनुष्यकी दीक्षा नहीं होती है ।

प्राकृत के 'णिम्माणासा' शब्दकी निर्मानाशा और निर्मानाशा ये दो संस्कृत छाया होती हैं अतः दोनोंको दृष्टिमें रखते हुए अर्थ किया गया है कि जो निर्माना-आठ मदसे रहित हो, और निराशा-तृष्णासे रहित हो (मानश्च आशा च मानाशे, निरति मानाशे यस्याः सा निर्मानाशा) । आशा बहुत दुःखदायी है जैसा कि कहा गया है—

आशागतः—प्रत्येक प्राणीके सामने ऐसा आशा रूपी गद्दा खुदा हुआ है जिसमें समृद्ध संसार अणुके समान है । किर किसके लिये कितना

१. विचता म० ।

२. कर्मकाण्डे नैमित्तन्द्रस्य ।

३. आत्मानुशासने गुणमात्रस्य ।

अथवा—

आशा दासीकृत वेन तेन दासीकृत जगत् ।

आशाया यो भवेहासः स दासः सवदेहिनाम् ॥

निरश्वा अश्वरहिता तदुपलक्षणं गजवृषादीनाम् । (अराय) रागरहिता, अथवा प्रवृष्याम्यां राजभिः सह स्नेहादिकं न कर्तव्यम् । तदुपलक्षणं मन्त्र्यादीनां प्रत्यक्षन-रक्षपातवद्व्याख्यतत्वात् । केविच्च जिनष्वर्भभावनार्थं मुनीनां सुस्थित्यर्थं च तन्निषेधं न कुर्वन्ति, म्लेच्छादि पीडानिराकरणहेतुत्वात् । (णिदोसा) अप्रीति-

प्राप्त हो सकता है ? अर्थात् सबको मनोऽभिलाषा पूर्ण नहीं हो सकती, इसलिये हे ससारी प्राणियों ! तुम्हारी विषयोंकी इच्छा करना व्यर्थ है ।

और भी कहा है—

आशा—जिसने आशाको दास बना लिया उसने संसारको दास बना लिया और जो आशाका दास है, वह सब प्राणियोंका दास है ।

'निमनिश्वा' छायाके पक्षमें अर्थ इस प्रकार है कि जो निमनिश्वा-आठ मदसे रहित हो तथा निरश्वा-अश्व आदिसे रहित हो । यहाँ अश्व शब्द हाथी तथा बैल आदिका उपलक्षण है । दिग्म्बर साधुदीक्षा इन बोड़ा हाथी आदि बाहनोंके परिकरसे रहित होती है ।

'अराय' इस प्राकृत शब्दकी संस्कृत छाया अरागा और अराजा होती है । 'अरागा' का अर्थ है जो रागसे रहित हो और 'अराजा' का अर्थ है जो राजासे रहित हो । साधुदीक्षामें राजाओंके साथ स्नेह नहीं करना चाहिये । यहाँ राजा शब्द उपलक्षण है इसलिये मन्त्री आदिका भी गहण समझना चाहिये । साधुओंके लिये राजा तथा मन्त्री आदिका सम्पर्क प्रत्यक्ष नरकपातके समान बतलाया गया है । कोई लोग जिनष्वर्भकी प्रभावनाके लिये तथा मुनियोंकी अच्छी स्थिति बनी रहे इस द्वेषसे इसका निषेध नहीं करते हैं । क्योंकि म्लेच्छ आदिके द्वारा मुनियोंको पीड़ा पहुँचाई जानेपर उसके निराकरण करनेके लिये राजा तथा मन्त्री आदिका सम्पर्क बावश्यक होता है ।

'णिदोषा' प्राकृत शब्दकी संस्कृत छाया निर्दोषा और निर्दोषा होती है जिनका अर्थ इस प्रकार है—जो निर्दोषा-अप्रीति रूप द्वेषसे रहित हो अथवा निर्दोषा-बात पित कफ आदि दोषोंसे रहित हो ।

'णिमय' प्राकृत शब्दकी छाया निर्ममा है जिसकी व्याख्या इस प्रकार है 'मम' यह ममता वाली अव्यय शब्द है (निर्गतं मम यस्या सा निर्ममा)

लक्षण हेषरहिता अथवा वातपित्तालेघाशिवोषरहितस्य प्रद्रव्या भवतीति निर्देश । (णिम्मम) निर्ममा ममेति शब्दोऽव्ययः [निर्गतं ममेति यस्यां प्रद्रव्यायां सा निर्ममा, अथवा मश्च मा च ममे निर्गते ममे द्वेयस्याः सा निर्ममा मश्च मांसमधु मकारन्त्रय-रहिता लक्ष्मीस्वीकाररहिता चेत्यर्थः ।] तथा चोक्तम्—

अकिञ्चनोऽहमित्यास्त्वं श्रीलोक्याशिपतिगम्भेः ।

योगिगम्यं तत्र प्रोक्तं रहस्यं परमात्मनः ॥ १ ॥

(णिरहंकारा) अहंकाररहितः कर्मोदयप्रधाना सुखं वा दुःखं वा जीवस्य कर्मोदयेन भवति भयेद् द्रुतमित्यहङ्कारो न कर्तव्यं इत्यर्थः । तथाचोक्तं समन्त-भद्रेण ताकिकशिरोमणिना—

जिसमेंसे मम-ममता माव निकल गया हो वह निर्ममा है । जिन-दीक्षामें किसी बाह्य वृद्धार्थके साथ भमता नहीं रहता है । अथवा नामके एक देशसे सर्व-देशका ग्रहण होता है इसलिये 'म' से मध्यमांस और मधु इन तीनों मकारोंका ग्रहण होता है और 'मा' का अर्थ लक्ष्मी है इसलिये म और मा शब्दका दृन्द्र समाप्त कर निर् शब्दके साथ बहुद्वौहि समाप्त करने पर निर्ममाका अर्थ होता है कि जो तीन मकारके सेवन तथा लक्ष्मीके स्वीकार से रहित हो (मश्च मा च ममे, निर्गते ममे यस्याः सा निर्ममा) । जिन दीक्षामें रञ्जनमात्र लक्ष्मीका स्वीकार करना सर्वथा निषिद्ध है । जैसा कि कहा है—

अकिञ्चनोऽह—‘मैं अकिञ्चन हूँ’—मेरा कुछ परिग्रह नहीं, ऐसी भावना करता हुआ तू चुपचाप बैठ । इस भावनासे तू तीन लोकका अधिपति बन सकता है । हे साधो ! मैंने तेरे लिये परमात्माका वह रहस्य बतलाया है जिसे योगी ही जान सकते हैं ।

‘णिरहंकारा’ इस प्राकृत पदकी छाया ‘निरहङ्कारा’ और ‘निरर्थ कारात्’ की है इसलिये इसका अर्थ इस प्रकार है जो निरहङ्कारा-अहंकार से रहित है । जिन-दीक्षा कर्मोदयको प्रधान मानती है अर्थात् जीवको जो सुख अथवा दुःख होता है वह कर्मोदयसे ही होता है इसलिये ‘मैंने यह किया’ इस प्रकारका अहंकार नहीं करना चाहिये । जैसा कि ताकिक-शिरोमणि श्री समन्तभद्राचार्य ने कहा है—

१. आत्मानुषासने गुणभद्रस्य ।

२. कर्तव्यमित्यर्थः म० ।

'अलङ्घशक्तिभवितव्यतेर्य हेतुद्वयाविष्कृतकार्यैलङ्घा ।

अनीश्वरो जन्मुरहक्रियातः संहत्य कार्येष्विति साम्बस्वादि ॥१॥

संहत्य कार्येष्विति कोऽर्थः ? सुखादि-कार्येत्पादकेष मन्त्र-तन्त्रादि-सहकारि-पात्रम् भैलित्वा । अधृता पिरहंकारा-पिरहं-निरहं-निरवं निष्पापं सर्वसावद्य-योगरहितत्वं यथा भवत्वेवं-कारात् । कस्य शुद्धबृद्धैकस्वभावस्य निजात्मस्वरूपस्य आरात्मसमीपतो वर्तते कारात्, चिच्छमत्कार-लक्षण-ज्ञायकंक-स्वभावटङ्गोत्कीर्ण-निजारमनि तल्लीना प्रब्रज्या भवतीति ज्ञातव्यम् । 'पापक्रियाविरमणं चरणं

अलङ्घ्य—अन्तरंग और बहिरंग-उपादान और निमित्त दोनों कारणों से प्रगट हुए कार्य ही जिसकी पहिचान है, ऐसी यह भवितव्यता-होनहार अलङ्घशक्ति है, इसकी सामर्थ्यको कोई लोघ नहीं सकता है । अहंकार से पीड़ित हुआ यह प्राणी मिलकर भी कार्योंके विषयमें असमर्थ रहता है—जब तक जिस कार्यको भवितव्यता नहीं आ पहुँची है तब तक यह प्राणी अकेला नहीं अनेक के साथ मिलकर भी कार्य करनेमें असमर्थ ही रहता है । हे भगवन् ! ऐसा आपने ठीक ही कहा है ।

प्रश्न—'संहत्य कार्यैषु' इस पदका व्या अर्थ हे ?

उत्तर—सुख आदि कार्योंके उत्पादक मन्त्रतन्त्र आदि सहकारो कारणोंमें मिल कर ।

अब 'निरवं कारात्' छायाके अनुसार व्याख्या करते हैं । प्राकृत में 'वं' के स्थान में 'ह' हो जाता है इसलिये 'पिरहं' की छाया 'निरवं' की गई है । और कारात् शब्दके अन्त हल्का प्राकृतमें लोप कर कारा शब्द बना था उसे संस्कृतमें 'कारात्' स्वीकृत किया गया । इस तरह निरवं और कारात् ये दो शब्द हैं इनमें निरवं शब्द किया—विशेषण है जिसका अर्थ होता है निरवं अर्थात् निष्पाप । 'क' शब्दका अर्थ है शुद्धबृद्ध-वीत-राग और सर्वज्ञता स्वभावको लिये हुए निज आत्माका स्वरूप । आरात् अव्यय समीप अर्थमें आता है इसलिये 'कस्य आरात् कारात्' इस समास के अनुसार कारात् का अर्थ हुआ आत्मस्वरूपके समीप-वर्ती । इस तरह निरवं कारात् शब्दका सामूहिक अर्थ यह हुआ कि जो समस्त पाप सहित योगोंका त्यागकर आत्मस्वरूप के निकट है अर्थात् आत्मस्वरूप की प्राप्ति का प्रमुख कारण है । जिनदीक्षा, चिच्छमत्कार लक्षण मात्र ज्ञायक

१. वृहत्स्वयंभूस्तीक्रे ।

२. साम्बवादोः क० ।

किलेति' वचनहृत् । (पञ्चज्ञा) प्रवृत्त्या दीक्षा । (एरिसा) ईदृशी दक्षतलभूषा । (भणिया) गौतमस्वामिना प्रतिपादिता ॥४९॥

णिष्णेहा णिल्लोहा णिम्मोहा णिव्विधार णिक्कलुसा ।

णिब्भय णिरासभावा एवज्ज्ञा एरिसा भणिया ॥५०॥

निःस्नेहा निल्लोभा निर्भोहा निविकारा निष्कलुषा ।

निभया णिरासभावा एवज्ज्ञा ईदृशी भणिया ।

(णिष्णेहा) निःस्नेहा पुत्रकलशमिश्रादिस्नेहरहिता, अथवा तैलाद्यम्बूङ्ग-रहिता निःस्नेहा । (णिल्लोहा^१) हे मुने ! हे तपस्विन् ! तवेदं वस्तु वस्त्रादिकं दास्यामि मम गृहे भिक्षा गृह्णतां भवतेति लोभरहिता, अथवा सुवर्णरजतताम्ब्रायस्त्रपुरांगादिभाजनविधजिता निल्लोभा । (णिम्मोहा) दर्शनमोहो मिथ्यात्वं

स्वभाव से निरन्तर युक्त निजस्वरूप में लोन होती है । शास्त्रों में ऐसा कहा भी है कि 'पापक्रियासे विरत होना चारित्र है'^२ गौतमस्वामी ने जिन-दीक्षाका स्वरूप ऐसा कहा है ॥४९॥

गाथार्थ—जो स्नेह रहित हो, लोभ रहित हो, मोह रहित हो, अथवा निश्चित प्रमाण के तर्कसे सहित हो, विकार रहित हो अथवा निश्चित विचार से सहित हो, कलुषता-रहित हो, निर्भय हो और निराश भाव से सहित हो, आगामी आशा से रहित हो वह जिनदीक्षा कही गई है ॥५०॥

विशेषार्थ—स्नेहका अर्थ पुत्र स्त्री तथा मित्र आदिका प्रेम और तैल आदिका मर्दन है । जिनदीक्षा निःस्नेह होती है—पुत्र स्त्री मित्र आदिके स्नेह से रहित होती है अथवा तैल आदि सचिककण पदार्थोंके मालिशसे शून्य होती है । जिनदीक्षा निल्लोभ-लोभ रहित होती है अर्थात् हे मुनिराज ! हे तपस्विन् ! मैं तुम्हारे लिये यह वस्त्रादिक द्वृंगा आप हमारे घर पर भिक्षा ग्रहण कीजिये, इस प्रकार के लोभ से रहित है अथवा सोना, चाँदी, ताम्बा, लोहा रंगा आदिके पात्रोंसे हित होनेके कारण निल्लोभ है । जिनदीक्षा निर्भोह है—मोहसे रहित है । दर्शन-मोहको

१. निः टी० ।

२. हिसानृतस्त्रीर्थेभ्यो मैथुनसेवापरिप्रदाम्याऽन्व ।

पापप्रणालिकाभ्यो विरतिः संज्ञस्य चारित्रम् ॥

निविदं चारित्रमोहः पञ्चविष्णविष्वकारस्तद्वाभ्यामपि रहिता निर्मोहा, अथवा निश्चितापा अकलेकदेव समन्तभद्रविद्वानन्दिप्रभावद्विभिस्ताकिंनिधीरिताया भाया प्रत्यक्षपरोक्षलक्षणोपलक्षिताया प्रभागव्यस्य ऊहो विदेहो विचारणा यस्यां प्रवृत्त्यायां सा निर्मोहा । (निविद्यार) निविकारा वस्त्राभरणादिवेषविकार-रहिता निविकारा, अथवा निश्चितो विचारो विदेहो भेदज्ञानं यस्यां सा निविद्यारा आत्मा पृथक् कर्म पृथक् इति विवेकोपेता उक्तं च—

मानुष्यं सत्कुले जन्म लक्ष्मोबुद्धिः कृतशता ।
विवेकेन विना सबं सदप्येतत्त्वं किञ्चन ॥१॥

अन्यत्र—

आत्मा भिन्नस्तदनुगतिभक्तस्य गिर्वाणप्रयोगी
प्रत्यासत्तेभवति विष्णुतिः सापि भिन्ना तर्थीय ।
कालसेत्रप्रमुखभविते यत्तत्त्वं भिन्नं मतुं मे ।
भिन्नं भिन्नं निजगुणकलालंकृतं सर्वमेतत् ॥२॥

मिथ्यात्म कहते हैं उसके गृहीत अगृहीत और सांशयिकके भेदसे तीन भेद हैं अथवा मिथ्यात्म, सम्यक्मिथ्यात्म और सम्यक्त्व ग्रन्थिके भेद से तीन भेद हैं । चारित्र मोह पञ्चवीस प्रकारका है जिनदीक्षा दोनों प्रकारके मोहों से रहित है । अथवा 'निश्चिता भा निया, तस्या ऊहो यस्यां सा निर्मोहा' इस समास के अनुसार अकलेक देव समन्तभद्र, विद्वानन्द और प्रभावन्द आदि तार्किक विद्वानोंके द्वारा निधीरित प्रत्यक्ष परोक्ष भेदों से युक्त दोनों प्रभाणोंके ऊह-वितकं अथवा विचारणासे सहित है । निविद्यार है— वस्त्रआभूषण आदिसे निर्मित वेषके विकारसे रहित है अथवा 'निश्चितो विचारो यस्यां सा' इस समासके अनुसार निश्चित विचार-विवेक अथवा भेदज्ञानसे सहित है । क्योंकि जिन-दीक्षा 'आत्मा पृथक् है और कर्म पृथक् है ।' इस विवेक से सहित होती है । कहा भी है—

मानुष्य—मनुष्य पर्याय, उत्तमकुल में जन्म, लक्ष्मी, बुद्धि और कृतशता ये सब रहते हुए भी एक विवेक के बिना कुछ नहीं है ।

और भी कहा है—

आत्मा—आत्मा भिन्न है, उसके साथ लगा हुआ कर्म भिन्न है, दोनोंकी निकटता से जो विकार होता है वह भी भिन्न है, काल सेव आदि जो कुछ है वह भी भिन्न है, तथा वपने अपने गुणोंकी कला से बालकृत यह सब कुछ भिन्न-भिन्न है ।

(णिक्कलुषा) निष्कलुषा निष्पापा । (णिर्भय) निर्भया सप्तमवरहिता ।
 (णिराशभावा) निराशभावा आशारहितस्वभावा । (पञ्चज्ञा एरिसा भणिया)
 पञ्चज्ञा ईदृशी भणिता श्रीबृद्धभनाषेनेति शेषः ।

जहृजायरूपसरिसा अवलंबियभुञ्ज णिराउहा संता ।
 परकियणिलयणिवासा पदवज्जा एरिसा भणिया ॥५१॥
 यथाजातरूपसदृशा अवलंबितभुजा निरायुधा शान्ता ।
 परकृतनिलयनिवासा प्रबज्ञा ईदृशी भणिता ॥

(जहृजायरूपसरिसा) यथाजातरूपसदृशा नरनरूपा हत्यधनः । (अवलंबिय-
 भुञ्ज) अवलंबितभुजा प्रायेण कायोत्सर्गस्थिता पद्मासनादिस्थिता वा । पद्मा-
 सनं कि ?—

‘संन्यस्ताभ्यामधोऽहित्यामूर्वोरुपरि युक्तिः ।
 भवेच्च समगुलफाभ्यां पद्मवीरसुखासनं ॥१॥

जिनदीक्षा निष्कलुष है—पाप से दूरहित है । निर्भय है—ऐहलौकिक,
 पारलौकिक, वेदना, भरण, अन्नाण, अमृप्ति और आकस्मिक इन सात
 भयों से रहित है । और निराशभाव-आशारहित स्वभावसे युक्त है ।
 इस प्रकार भगवान् वृषभ नाथ ने जिन दीक्षाका स्वरूप कहा है ॥५०॥

जहृजाय—गाथार्थ—जो तत्काल उत्पन्न हुए बालक के समान नम्न
 सहित रूपसे है, जिसमें भुजाएँ नीचे की ओर लटकी रहती हैं, जो शस्त्र
 से रहित है अथवा प्रामुक प्रदेशों पर जिसमें गमन किया जाता है, जो
 शान्त है तथा दूसरे के द्वारा बनाये हुए उत्ताश्रय में जिसमें निवास किया
 जाता है, वह जिनदीक्षा कही गई है ॥५१॥

विशेषार्थ—जिस प्रकार तत्काल का उत्पन्न हुआ बालक निर्विकार
 और नगत रहता है उसी प्रकार जिन दीक्षामें निर्विकार नम्न रूप धारण
 किया जाता है । जिनदीक्षामें भुजाएँ नीचे की ओर लटकी रहती हैं
 अर्थात् ध्यानके लिये प्रायः कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ा हुआ जाता है और
 पद्मासन आदि आसनों से भी बैठा जाता है ।

प्रदन—पद्मासन क्या है ?

उत्तर—संन्यस्ताभ्यां पैरोंको जांघोंके नीचे रखने पर पद्मासन, जांघों

तत्र सुखासनस्येवं लक्षण—

‘मुल्कोत्तानकरांगुष्ठरेखारोमालिमासिकाः ।

समदृष्टिः समाः कुर्यान्नातिस्तत्त्वो न बामनः ॥१॥

(णिराउहा) निरायुधा दण्डाद्यायुष्मरहिता, अथवा निरायुही प्रासुकान् प्रदेशान् हन्ति गच्छतीति निरायुही । (संता) शान्तरूपा अक्रूरस्वभावा । (पर-

के ऊपर रखने पर बीरासन और उस तरह मिलाकर रखने पर जिसमें कि दोनों की गाँठें समभाग रहे सुखासन होता है ॥१॥

उनमें सुखासन का यह लक्षण है—

गुल्मोत्तान—सुखासन से बैठा हुआ मनुष्य न ज्यादा तानकर बैठे और न ज्यादा सूककर । किन्तु समदृष्टि होता हुआ पैरों की गाँठोंपर रखे हुए उत्तान (चित्त) हाथके अँगूठे की रेखाओं को नाभिके नीचे स्थित रोमावली को और नासिका को सम रखे अर्थात् हाथके अँगूठे को बक न करे, अधिक झुककर रोमावली को बक न करे और न ऊपर नीचे तथा आजू बाजू देख कर नासिका को विषम करे ॥१॥

जिन दीक्षा निरायुधा होती है—दण्ड आदि आयुधों से रहित होती है अथवा ‘निरायुही’ संस्कृत छाया मान कर यह अर्थ भी हो सकता है कि जिनदीक्षा निरायु-निर्जीव-प्रासुक स्थानों पर ही गमन करती है । संस्कृत व्याकरण में ‘हन्’ धातुका हिसा और गति इन दोनों अर्थों में प्रयोग होता है । जिन दीक्षा शान्त है—क्रूर स्वभावसे रहित है और जिनदीक्षा में किसी दूसरे के हारा बनाये हुए उपाश्रय में निवास किया जाता है । जिस प्रकार सर्व अपना बिल स्वयं नहीं बनाता, अपने आप बने हुए अथवा किसीके हारा बनाये हुए बिलमें निवास करता है उसी प्रकार जिनदीक्षा का धारक साधु अपना उपाश्रय स्वयं न बनाकर पर्वतकी

१. यशस्तिलकचम्पां सोमदेवस्य ।

२. आराघनासारटोकायां भासनानां लक्षणानि यथा—“स्याज्ज्ञहृष्यो रघोभागे पादोपरि कृते सति । पर्यहृषो नाभिगोत्तान दक्षिणोत्तरपाणिकः ॥” अयमेवैकं जंह्वाया अघोभागे पादोपरि कृतेऽर्धपर्यहृषः “वासोऽहृष्विदक्षिणोरुद्धर्व वामोरुपरि दक्षिणः । द्वियते यत्र सहीरोचितं बीरासनं स्मृतम् ॥” जंह्वायामध्यभागेषु संरेष्ठो यत्र जहृया । पद्मासनमिति श्रीकृतं तदासन-विचक्षणौ ॥”

किम्बिल्यनिवासा) परेण केऽचित्कृते निक्षये उपाधये निवासः स्थितिर्यस्या सा परकृतनिलयनिवासा सर्वेषत् । (पञ्चजा एरिसा भणिया) पञ्चजा दीक्षेदृशी भणिता प्रतिपादिता प्रियकारिणीपूर्वेणेति व्येषः ।

उवसमखमदभजुत्ता सरीरसंस्कारवज्जिता रुक्षा ।

मवरायदोसरहिता पञ्चजा एरिसा भणिया ॥५२॥

उपशमक्षमादमयुक्ता शरीरसंस्कारवज्जिता रुक्षा ।

मदरागदोषरहिता प्रवज्या ईदृशी भणिता ॥

(उवसमखमदभजुत्ता) उपशमेन कर्मक्षयेण निर्जरया संवरेण अकूरपरिगामेन वा युक्ता, क्षमया उत्तमखमया युक्ता । उक्तं च शुभचन्द्रेण योगिना—

'आकृष्टोऽहं हृतो नैव हृतो वा न द्विधाहृतः ।

मारिती च हृतो घर्मो मर्दीयोऽनेन बन्धुना ॥१॥

दमेन युक्ता जिसेन्द्रिया प्रतोपपन्ना वा । (सरीरसंस्कारवज्जिता) शरीर-संस्कारवज्जिता दन्तनखकेशमुखाद्वयशुङ्खाररहिता । (रुक्षा) तैलाद्यस्यग-

गुफा तथा वृक्षको कोटर आदि अपने आप बने हुए अथवा किसी अन्य वर्गमिमा के द्वारा बनवाये हुए भठ आदि में निवास करता है । प्रियकारिणी के पुत्र मणवान् महावीर ने जिनदीक्षा का स्वरूप ऐसा कहा है ॥ ५१ ॥

गायार्थ—जो उपशम, क्षमा और दम से सहित है, शरीरके संस्कार से रहित है, रुक्षा है, और मद, राग, द्वेष अथवा दोषोंसे रहित है, वह जिनदीक्षा कही गई है ॥५२॥

विशेषार्थ—जिन दोक्षा, उपशम अर्थात् कर्मोंके क्षय, निर्जरा, संवर अथवा दया रूप परिणाम तथा उत्तम क्षमा से युक्त है । जैसा कि शुभचन्द्र योगी ने कहा है—

आकृष्टोऽहं—किसी दूसरेके द्वारा उपसर्ग किये जानेपर मुनिराज इस प्रकार विचार करते हैं कि इस भाईने मुझे खींचा ही तो है मारा नहीं है, अथवा मारा ही तो है मेरे दो टुकड़े तो नहीं किये, अथवा दो टुकड़े कर मारा ही तो है मेरा घर्म तो नहीं नष्ट किया ॥१॥

दमका अर्थ इन्द्रियोंको जीतना अथवा द्रवत धारण करना है । जिन दोक्षा दमसे सहित है—इन्द्रियों को जीतने वाली अथवा अहिंसा आदि

१. यषस्ति लक्ष्म्याम् ।

रहिता । (मध्यायदोसरहिता) मदरहिता मायारहिता वा, प्रीतिलक्षणराग-
रहिता, अप्रीतिलक्षणद्वेष^१ रहिता दोषो वा व्रतादिष्वतीचारस्तेन रहिता ।
(पञ्चज्ञा एरिसा भणिया) पञ्चज्ञा दोषेदृशी भणिता प्रतिपादिता सिद्धार्थनन्दने-
नेति शेषः ।

विवरीयमूढभावा पण्डुकम्मटु णटुमिच्छत्ता ।

सम्भतगुणविसुद्धा पञ्चज्ञा एरिसा भणिया ॥५३॥

विपरीतमूढभावा प्रणष्टकमष्टा नष्टमिथ्यात्वा ।

सम्यक्त्वगुणविशुद्धा प्रब्रज्या ईदृशो भणिता ॥

(विवरीयमूढभावा) विपरीतमूढभावा विशेषेण परि समन्तात् इतो गतो
नष्टो मूढभावो जडतास्वरूपं यस्याः सा विपरीतमूढभावा । (पण्डुकम्मटु
णटुमिच्छत्ता) प्रणष्टानि कर्माण्यष्टौ यस्यां सा प्रणष्टकमष्टा नष्टमिथ्यात्वा
पंचमिथ्यात्वरहिता । उक्तं च—

३एथं चुद्वरिसी विवरीओ बंभ तावसो विणओ ।

इदो वि य संसिद्धो मक्कडियो वेत्र अण्णाणी ॥५४॥

ब्रतों से युक्त है । जिनदीक्षा, शरीर के संस्कार से रहित है अर्थात् दन्त,
नख, केश और मुख आदि अवयवों को सजावट से रहित है । तेल आदिके
मर्दन से रहित होनेके कारण रुक्त है, मद अथवा माया से रहित है,
अप्राप्ति रूप द्वेष से रहित है अथवा व्रत आदिमें अतिचार लगने रूप दोष
से रहित है । राजा सिद्धार्थ के पुत्र—भगवान् महावीर ने जिनदीक्षा का
ऐसा स्वरूप कहा है ॥५३॥

गाथार्थ—जिसमें मूढताएँ नष्ट हो चुकती हैं, जिसमें आठ कर्म नष्ट
हो जाते हैं, जिसमें मिथ्यात्व नष्ट हो चुकता है और जो सम्यक्त्वरूप
गुणसे विशुद्ध है, वह जिनदीक्षा कही गई है ॥५३॥

विशेषार्थ—जिनदीक्षा में मूढभाव—जडता विशेष रूप से नष्ट हो
चुकती है, ज्ञानावरणादि आठ कर्म नष्ट हो जाते हैं और एकान्त आदि
पांच प्रकारका मिथ्यात्व नष्ट हो चुकता है । पांच प्रकार के मिथ्यात्व
और उनमें प्रसिद्ध पुरुषों का उल्लेख करते हुए कहा गया है—

एथं—एकान्त मिथ्यात्व में बौद्ध, विपरीत मिथ्यात्व में ब्रह्मवादी,

१. दोष म० ।

२. जीवकाल्पे मेमिचन्नस्य ।

बस्या अयमर्थः— सर्वथा क्षणविनाशवादी मुद्दः । ब्रह्मवादी विपरीतः आत्मने शाश्वतमेवैकान्तोन मन्यते । तापसो वैनयिकः सर्वविनयेन मोक्षं मन्यते गुणदोषविचारणा तन्मते नास्ति । इन्द्रचन्द्रनागेन्द्रवादी संशयभिष्ठादृष्टिः अतुरपरजैनाभासारच । संशयवादी किलैवं मन्यते—

‘सर्वं बरो य आसं बरो य बुद्धो य लहू य अण्णो य ।

समभावभावियष्टा लहैइ लैलं य पर्वहै ॥१॥

मस्करपूरणः स्त्रिवेदं कदति—

‘अण्णाणादो मोक्षं णाणं णत्यिति मुक्तजीवाणं ।

पुणरागमणं भग्नं भवे भवे णत्य जीवाणं ॥१॥

(सम्यक्त्वगुणविशुद्धा) सम्यक्त्वमेव गुणस्तेन विशुद्धा निर्मला, अथवा सम्यक्त्वगुणं निःशक्तिनिष्कांक्षितनिर्विचिकित्सामूढदृष्टिउपगृहन् स्थितीकरणवात्सल्यप्रभावनालक्षणंरक्षितः सम्यक्त्वगुणंविशुद्धा विशेषेण निर्मला पञ्चविशिष्टोषरहिता वैनयिक मिथ्यात्व में तापस, संयम मिथ्यात्व में इन्द्र नामका श्वेताम्बर गुरु और अज्ञान मिथ्यात्व में मस्करो प्रसिद्ध हुआ है ॥१॥

इस गाथाका स्पष्ट अर्थ यह है—‘समस्त पदार्थों का सब प्रकार से क्षणक्षण में विनाश हाता है’ इसप्रकार एकान्तसे समस्त पदार्थोंको क्षणिक मानने वाला बुद्ध एकान्त मिथ्यादृष्टिः है । ब्रह्मवादी विपरीत मिथ्यादृष्टिः है वह आत्माको एकान्त से निय हो मानता है । तापस वैनयिक मिथ्यादृष्टिः है वह सब की विनय से मोक्ष मानता है उसके मतमें गुण दोषका विचार नहीं है । इन्द्रचन्द्र ‘नागेन्द्र’ नामका वादी संशय मिथ्यादृष्टिः है, इसी प्रकार श्वेत चार जैनाभास भी संशय मिथ्यादृष्टिः हैं । संशयवादी मिथ्यादृष्टिः ऐसा मानता है कि—

सेर्वं बरो—श्वेताम्बर हो चाहे दिगम्बर, बुद्ध हो चाहे अन्य कोई, यदि उसको आत्मा समभावसे सुसंस्कृत है तो वह मोक्ष प्राप्त कर सकता है, इसमें संशय नहीं है ॥१॥

मस्करपूरण ऐसा कहता है—

अण्णाणादो—अज्ञान से मोक्ष होती है, मुक्त जीवोंके ज्ञान नहीं है । मुक्त जीवों का पुनरागमन और भवभव में भ्रमण नहीं होता है ।

जिन दोक्षा सम्यक्त्व रूप गुणसे विशुद्ध रहती है अथवा सम्यादशन के निःशक्तिनिःकांक्षित, निर्विचिकित्सत, अमूढदृष्टिः, उपगृहन्, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना इन आठ गुणोंके द्वारा विशुद्ध-विशेषरूप

१-२. वीक्षकाओंके वैचिक्त्वस्थ ।

सम्भवस्तुष्टिविशुद्धा । (पञ्चज्ञा एरिसा भणिया) प्रश्नज्ञा दीक्षा ईदूसी भणिता
प्रतिपादिता चतुर्विशितमेन तीर्थकृतेति शेषः ।

जिणमग्गे पञ्चज्ञा छहसंधयणेसु भणिय णिगीथा ।

भावंति भञ्जपुरिसा कम्मक्षयकारणे भणिया ॥५४॥

जिनमार्गे पञ्चज्ञा षट्संहननेषु भणिता निर्ग्रन्था ।

भावयन्ति भव्यपुरुषाः कर्मक्षयकारणे भणिता ॥

(जिणमग्गे पञ्चज्ञा) जिनमार्गे आहंतशासने प्रञ्चज्ञा दीक्षा । (छहसंधयणेसु)
षट्संहननेषु वज्ज्वर्षभनाराच्चनाराचनाराचनाराचकीलिकाप्राप्तासूपाटिक-
नामसु षट्सु संहननेषु । (भणिय णिगीथा) भणिता प्रतिपादिता श्रीड्वृति-
नामगणधरदेवेनेति शेषः । कर्यमूला भणिता, - 'निर्ग्रन्था यवाजातलुपवारिणो
यतोऽस्मिन् क्षेत्रेऽन्यो जिग्रन्थो वीराङ्गनो यो भविष्यति पञ्चमकालस्यान्ते स
किलप्राप्तासूपाटिको संहननो भविष्यति तेन बलेऽपि संहनने निर्ग्रन्थप्रञ्चज्ञा
हात्या । (भावंति भञ्जपुरिसा) भावयन्ति मानवन्ति एतद्वचनं, के ? भव्यपुरुषा
अत्सुन्मव्यजीवाः । (कम्मक्षयकारणे भणिया) पारम्पर्येण कर्मक्षयकारणे मोक्ष-
प्राप्तिनिमित्त भणिता प्रतिपादिता ।

से निमंल होती है । तीनमूढता, छह अनायतन, शास्त्रादि आठ दोष और
आठमद इन पञ्चवीस दोषों से रहित होनेसे विशुद्ध है । चौबीसवें तीर्थकर
श्री महावीरस्वामी ने जिन दीक्षाका इस प्रकार स्वरूप बतलाया है ॥५३॥

गाथार्थ—अरहन्त भगवान् के शासन में जिनदीक्षा छहों संहननों में
कही गई है । जिनदीक्षा निर्ग्रन्थ है—परिग्रह-रहित है और कर्मक्षय के
कारणों में कही गई है, ऐसा भव्य पुरुष चिन्तन करते हैं ॥५४॥

विशेषार्थ—जिन मार्ग—अरहन्त भगवान् के शासन में जिनदीक्षा
वज्ज्वर्षभनाराच, वज्जनाराच, नाराच, अवनाराच, कीलक और असंप्राप्ता-
सूपाटिका इन छह संहननोंके धारक जीवोंके कही गई है । क्योंकि इस
क्षेत्र में पञ्चम कालके अन्तमें जो वीराङ्गन नामका अन्तिम निर्ग्रन्थ-
मुनि होगा वह असंप्राप्तासूपाटिका संहनन का धारी होगा इससे छठे
संहनन में भी निर्ग्रन्थ-दीक्षा होती है, यह जानना चाहिये । जिन दीक्षा
निर्ग्रन्थ होती है समस्त परिप्रहों से रहित हातो है, तथा कर्मक्षय कारणों
में कही गई है अर्थात् जिनदीक्षा परम्परा से मोक्ष प्राप्तिका निमित्त है,
ऐसा निकट-भव्य जीव मानते हैं ॥५४॥

तिलओसस्तनिमित्तं समवाहिरगंधसंगहो णस्ति ।
पावज्ज रुद्ध एसा जह भणिया सब्बदरिसीहि ॥५५॥

तिलकोशत्वमात्रं समवाह्यग्रन्थसंगहो नास्ति ।
प्रबज्या भवति एषा यथा भणिता सर्वदर्शिभिः ॥

(तिल ओसतनिमित्तं) तिलस्य पितृप्रियबीजस्य कोशत्वमात्रं तिलतुष्मात्र-
भणि अथग्रन्थपरिग्रहः । (समवाहिरगंधसंगहो णस्ति) तिलतुष्मात्रसमोऽपि बाह्य-
ग्रन्थस्य संगहो नास्ति न विद्यते । (पावज्ज रुद्ध एसा) प्रबज्या भक्तयेषा ।
(जह भणिया सब्बदरिसीहि) एषा ग्रन्थिः तर्तुदर्शिभिः चर्वन्प्रदेवीरिति ।

उपसर्गपरिसहस्रा णिज्जणदेशे हि णिज्ज अत्येह ।
सिल कट्टे भूमितले सब्बे आरुह्य सब्बत्य ॥५६॥

उपसर्गपरीषहस्रा निजनदेशे हि नित्यं तिळठसि ।

शिलायां काष्ठे भूमितले सर्वाणि आरोहति सर्वैत्र ॥५६॥

(उपसर्गपरिसहस्रा) उपसर्गश्च तियंगमानवदेवाचेतमभवाष्टुःशकाराः,
परीषहस्रच पूर्वोक्ता द्वाविक्षतिः उपसर्गपरीषहास्तान् सहते तेषु वा सहा समर्था
उपसर्गपरीषहस्रा । (णिज्जणदेशे हि णिज्ज अत्येह) निजनदेशे मनुष्यरहित-

गाथार्थ—जिसमें तिल तुष्के अग्रभागके बराबर भी बाह्य परिग्रह
का संग्रह नहीं है वही जिन दीक्षा है, ऐसा सर्वदर्शी—जिनेन्द्र भगवान
ने कहा है ॥५५॥

विशेषार्थ—तिलका दाना अत्यन्त छोटा होता है उसके तुष्के अग्र-
भागके बराबर भी बाह्य परिग्रह का संग्रह मुनिके नहीं होता है ऐसा
सर्वज्ञ देखने कहा है ॥५५॥

गाथार्थ—जिन दीक्षा उपसर्ग और परीषहों को सहन करती है,
इसके धारक निरन्तर निर्जन स्थान में रहते हैं तथा सर्वैत्र शिला, काष्ठ
अथवा भूमितल पर आरुह्य होते हैं—वैठते अथवा शयन करते हैं ॥५६॥

विशेषार्थ—तियंगच, मनुष्य, देव और अचेतन पदार्थोंसे उत्पन्न
होनेके कारण उपसर्गके घार भेद हैं । परीषहके बाईस भेद पहले कहे जा
सके हैं । जिन दीक्षा उन उपसर्ग और परीषहोंके सहन करनेमें समर्थ हैं ।
जिन दीक्षा—जिन दीक्षाके धारक मुनि निश्चयसे निरन्तर निर्जन देश-
मनुष्यरहित बनमें रहते हैं और सर्वैत्र शिला काठके पाटे, भूमितल अथवा
तुम्ब-समूह पर आरुह्य होते हैं—वैठते हैं तथा शयन करते हैं । यहाँ

प्रदेशे बने हि स्फुटं नित्यं तिष्ठति । (सिल कट्टे भूमितले) शिलायां दृष्टिं, काष्ठे दारुफलके, भूमितले भूमी तृणायां वा । (सब्जे आशहृ सब्जत्व) एतानि सर्वाणि, आरोहति उपविषति शेते च सर्वं त्र बने ग्रामनगरादौ वा ॥ ५६ ॥

पशुमहिलसंदसंगं कुशीलसंगं ण कुण्ड विकाहाओ ।

सज्जायशाणजुत्ता पञ्चज्ञा एरिसा भणिया ॥ ५७ ॥

पशुमहिलाषण्डसंगं कुशीलसंगं न करोति विकथाः ।

स्वाध्यायध्यानयुक्ता पञ्चज्ञा ईदृशी भणिता ॥ ५७ ॥

(पशुमहिलसंदसंगं) यत्र पशाथो भवन्ति तत्र न स्थोयते, यत्र महिला भवन्ति, यत्र वृंदा न पुंसकानि भवन्ति तत्र न स्थीयते । (कुशीलसंगं ण कुण्ड विकाहाओ) कुशीलस्य कुत्सिताचारस्य साधुलोकशिक्षापराङ्मुखस्य संगं न करोति—^३ तत्संगतो दुर्ध्यानिमुख्यते, न करोति विकथाएव राजकथास्त्रीकथाभोजन-कथाचौरकथास्वते । (सज्जायशाणजुत्ता) स्वाध्यायेन वाचनाप्रच्छनानुप्रेक्षाम्नाय-घर्मोपदेशालक्षणेन पञ्चविषेन युक्तं पञ्चज्ञा भवति, घ्यानेन घर्म्यध्यानशुक्लध्यानद्वयेन युक्ता आर्तरौद्रदुर्ध्यनिद्यरहिता । (पञ्चज्ञा एरिसा भणिया) प्रज्ञज्ञा

सब्जत्वं (सर्वंत्र) शब्दसे सूचित होता है कि मुनियोंका निवास वन अथवा ग्राम नगर आदिमें भी होता है ॥ ५६ ॥

गायार्थ—जो पशुओं, महिलाओं, न पुंसकों और कुशील मनुष्योंका संग नहीं करती है, विकथाएँ नहीं करती हैं तथा स्वाध्याय और ध्यानमें युक्त रहती है वह जिन दीक्षा कही गई है ॥ ५७ ॥

विशेषार्थ—जिसमें, जहाँ पशु होते हैं वहाँ नहीं बैठा जाता है, जहाँ स्त्रियाँ तथा न पुंसक रहते हैं वहाँ भी नहीं बैठा जाता है, खोटे आचारके धारक अथवा मुनिजनोंकी शिक्षासे पराङ्मुख मनुष्यकी संगति नहीं की जाती है क्योंकि उसकी संगति में खोटा ध्यान उत्पन्न होता है । जिसमें राजकथा, स्त्री कथा, भोजन कथा और चोर कथा ये विकथाएँ नहीं की जाती हैं और जो वाचना, प्रच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और घर्मोपदेश इन पांच प्रकारके स्वाध्याय से युक्त रहती हैं तथा घर्म्यध्यान और शुक्लध्यान इन दो ध्यानोंसे सहित एवं आर्त और रोद्र इन दो खोटे

१. तृणायां म० ।

२. कर्त्तव्यते म० ।

जीन दीक्षा ईदृशी एतलक्षणविराजमानां भणिता प्रतिपादिता अकलद्वदेवेनेति
शेषः ॥ ५७ ॥

तववयगुणेहि सुद्धा संजमसमस्तगुणविशुद्धाय ।
सुद्धा गुणेहि सुद्धा पञ्चज्ञा एरिसा भणिया ॥५८॥

तपोक्त्रतगुणेः शुद्धा संयमसम्यक्त्वगुणविशुद्धा च ।

शुद्धा गुणेः शुद्धा प्रवृज्या ईदृशो भणिता ॥५८॥

(तववयगुणेहि सुद्धा) तपोभिरिच्छानिरोधलक्षणैहीन्दिशभिः, ऋतैरहिसाद्विभिः
पञ्चभिः रात्रिभोजनपरिहारक्तव्यष्टैः, गुणेश्चतुरशोतिलक्षलक्षणैः शुद्धा उच्चला ।
(संजमसमस्तगुणविशुद्धाय) संयमा इन्द्रियप्राणसंयमलक्षणा द्वादशा, सम्यक्त्वानि
दशप्रकाराणि द्वित्रिप्रकाराणि च, ते च ते गुणा आत्मोपकारकाः परिणामविशेषा-
स्तैविशुद्धा निर्मला प्रवृज्या भवति । निसर्गजमधिगमजं सम्यक्त्वं द्विविधं, उपशम-
वेदकारायिकसेदास्तसम्यक्त्वं त्रिविधं ।

ध्यानोंसे रहित होती है वह जिन दीक्षा है, ऐसा अकलद्व, देव-बोतराग
जितेन्द्र देवने कहा ॥ ५७ ॥

गाथार्थ—जो तप, ऋत और गुणोंसे शुद्ध है, संयम और सम्यक्त्व
रूपी गुणोंसे विशुद्ध है और मूलगुणों से निर्दोष है वही शुद्ध दीक्षा कही
गई है ॥५८॥

विशेषार्थ—इच्छा-निरोध रूप लक्षण से युक्त तपके अनशन-अवमोदर्य-
आदि बारह भेद हैं, ऋतके अहिसा आदि पांच और रात्रिभोजन त्याग
नामका छठवाँ इस प्रकार छह भेद हैं, गुणोंके चौरासी लाख भेद हैं।
संयमके छह इन्द्रिय-संयम और छह प्राणसंयम इस प्रकार बारह भेद हैं।
सम्यक्त्व के दश, दो अध्यवा तीन भेद हैं। निसर्गज और अधिगमज की
अपेक्षा सम्यक्त्व दो प्रकारका है। उपशम, वेदक और क्षायिक के भेदसे
तीन प्रकारका है तथा 'आज्ञामार्ग' इस आर्थमें कहे हुए १ आज्ञासमुदभव,
२ मार्गसमुदभव, ३ उपदेशभव, ४ सूत्रभव, ५ वीजभव, ६ संक्षेपभव, ७
विस्तारभव, ८ अर्थभव, ९ अवगाढ और १० परमावगाढके भेदसे दश
प्रकारका है। इन दश भेदोंके स्वरूप का वर्णन करने वाले तीन पद्य इस
प्रकार हैं—

“आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात्सूचीजर्जोपात्” ।

विस्तारार्थाभ्यां भवमवपरमावादिगाङ्कं च”

इत्यार्थकथिताः सम्यक्त्वस्य दण्डप्रकारा ज्ञातव्याः । तद्विवरणं बृत्तश्च यथा—
 “आज्ञासम्यक्त्वमुक्तं यदुत विद्वित वीतरागाज्ञयैव
 त्यक्तप्रत्यप्रवर्चं शिवमभूतपर्यं अद्वधन्मीत्यात्मः ।
 मार्गश्रद्धानमाहुः पुरुषवरपुराणोपदेशोपज्ञाता-
 या सद्ग्रानागमाभिप्रसूतिभिरुपदेशादिरादेशि दृष्टिः ॥ १ ॥
 आकर्ष्याचारसूत्रं मुनिचरणविधेः सूत्रनं अद्वानः
 सूक्तासौ सूत्रदृष्टिर्द्वयिगमगतेरर्थसार्थस्य बोजैः ।
 कैदिवज्ञातोपलब्धेरसमक्षमवशाद्बोजदृष्टिः पदार्थान्
 सक्षेपेणैव बृद्ध्वा रुचिमुपगतवान् साधु संक्षेपदृष्टिः ॥ २ ॥
 यः श्रुत्वा द्वादशाङ्गी छत्रशिरिह तं विद्वि विस्तारदृष्टि
 संजातार्थात्मुत्तिवरप्रवक्ष्यत्वन्वचनान्यन्तरेणार्थदृष्टिः ।
 दृष्टिः साङ्गाङ्गवाहुप्रवचनमवगाहुत्पत्तिता याऽन्वादा
 कैवल्यालोकितार्थं रुचिरिह परमावादिगाङ्केति रुदा ॥ ३ ॥

आज्ञासम्यक्त्व— १ बीतराग सर्वज्ञ देव की आज्ञा मात्रसे जो श्रद्धा होती है उसे आज्ञा सम्यक्त्व कहते हैं । २ ग्रंथोंके विस्तार को छोड़कर दर्शनमोह-कर्मके उपशमसे आनन्ददायी भोक्त्रमार्ग की जो श्रद्धा होती है उसे मार्ग-सम्यक्त्व कहते हैं । ३ शालाका पुरुषोंके पुराणके उपदेश से जो सम्यक्त्व होता है उसे सम्यगज्ञानके वर्षक आगम रूप सागरका प्रसार करने वाले मुनि उपदेश सम्यक्त्व कहते हैं । ४ मुनियों के चारित्र की विधिका वर्णन करने वाले आचार सूत्रोंसे सुनकर जो श्रद्धा होती है उसे सूत्र सम्यक्त्व कहते हैं । ५ अनुपम प्रशम गुणके कारण किन्हीं बोजोंके द्वारा दुर्जय अर्थ की जो श्रद्धा होती है उसे बोज दृष्टि कहते हैं । ६ संक्षेप से ही पदार्थों को जानकर जो श्रद्धाको प्राप्त होता है वह संक्षेप दृष्टि है । ७ द्वादशाङ्गी को सुनकर जो श्रद्धाको प्राप्त होता है उसे विस्तार दृष्टि कहते हैं । ८ जो शास्त्रके वचनके बिना किसी अर्थसे श्रद्धान होता है वह अर्थ सम्यक्त्व है । ९ अङ्ग तथा अङ्ग वाहु शास्त्रोंका अवगाहन करनेसे जो श्रद्धा उत्पन्न होती है उसे अवगाह सम्यक्त्व कहते हैं और १० केवलज्ञानके द्वारा देखे हुए पदार्थों में जो श्रद्धा होती है उसे परमावगाह सम्यक्त्व कहते हैं ।

१-१०. आज्ञासम्यक्त्वमें मुख्यमत्त्व ।

(सुदा गुणेहि सुदा) या प्रवृज्या गुणैः कुला सुदा सा सुदा कर्षते न तु वेषमात्रेण शुद्धत्वते । (पञ्चज्ञा एरिसा भणिया) प्रवृज्या दीक्षेवृशी भणिता प्रतिपादिता शान्तिनावेनेति वेषः ॥५८॥

एवं आयत्तणगुणपञ्जसा बहुविशुद्ध सम्मते ।

गिर्गांथे जिणमार्गे संखेवेण जहांखार्थ ॥५९॥

एवं आत्मतत्त्वगुणपर्याप्ता बहुविशुद्धसम्यक्त्वे ।

निर्घन्ये जिनमार्गे संखेवेण यथारूप्यात्म ॥५९॥

(एवं) पूर्वोक्तप्रकारेण । (आयत्तणगुणपञ्जसा)^१ आत्मतत्त्वगुणपर्याप्ता परिपूर्णा, आत्मगुणभावनारहितेयं प्रवृज्या परिपूर्णा न भवति, आत्मगुणभावनासहिता तु स्तोकापि प्रवृज्या पर्याप्ता सम्पूर्णा भवतीति भावार्थः । (बहुविशुद्ध-सम्मते) बहुविशुद्धसम्यक्त्वे मुनो प्रवृज्या पर्याप्ता भवति मिथ्यात्वद्विषिते तु नग्नेऽपि मुनो दीक्षा अदीक्षा भवति संसारविष्टेदरहितत्वात् । उल्कुष्टतया

इस प्रकार जो अनशनादि बारह तरों, अहिंसा आदि छह द्रतों और चौरासीलाख उत्तर गुणोंसे शुद्ध है । बारह संयमों, तथा दो तीन अथवा दश प्रकारके सम्याददर्शन रूपों गुणोंसे विशुद्ध है और अट्ठाईस मूलगुणोंसे शुद्ध है—निरतिचार है वही जिनदीक्षा है ऐसा श्री शान्तिनाथ भगवान् ने कहा है । यहाँ यह भाव स्पष्ट किया गया है कि जो दीक्षा गुणोंसे शुद्ध है वही शुद्ध दीक्षा कहलाती है, मात्र वेषसे दीक्षा शुद्ध नहीं कही जाती ॥ ५८ ॥

गाथार्थ—इस प्रकार अत्यन्त विशुद्ध सम्यक्त्वसे युक्त मुनि में प्रवृज्या आत्मगुणों की भावना से परिपूर्ण होती है । [कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि मैंने] निर्घन्य जैन मार्ग के विषय में जो कहा है वह संखेप से ही कहा है ॥५९॥

विशेषार्थ—पूर्वोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जो प्रवृज्या आत्मतत्त्व के गुणोंसे परिपूर्ण है वही पूर्ण प्रवृज्या है । जो प्रवृज्या आत्म-गुणोंकी भावना से रहित है वह परिपूर्ण नहीं होती । इसके विपरीत जो प्रवृज्या आत्मगुणों की भावना से सहित है वह छोटी होनेपर भी परिपूर्ण होती है । यह प्रवृज्या अत्यन्त विशुद्ध सम्यक्त्व से युक्त मुनि में पूर्णताकी प्राप्ता

१. आत्मतत्त्व म० च० ।

२. आत्मभावना गुण क० म० ।

‘नवमयैवेयकपदं लक्ष्मापि मिथ्यादृष्टयस्तपस्तिवनः पुनः संसारे पतलीर्ति ज्ञात्वा पुनः पुनः भणामि सम्यक्त्वकर्ता मुनिना भवितव्यं । उक्तं चानेनैव भगवता कुन्दकुन्दाचार्येण—

सम्मं चेव य भावे पिच्छाभावे तहेव बोद्धवा ।

चहूण मिच्छभावे सम्ममिम उवदिठदे बदे ॥ १ ॥

(गिन्मार्ग) निश्चन्दे । (जिणमग्रो) जैनमार्गे नग्ने जिनमार्गे, वस्त्रसहितस्तु मोक्षं प्राप्नोतीति मिथ्यादृष्टिमार्गः । (संखेवेण) संक्षेपेण समाप्तेन । (अहास्तार्दयथा मया कथितं प्रवज्यालक्षणं स सर्वोऽपि संक्षेप इति ज्ञातव्यमिति भावः । विस्तारस्तु गौतमस्वामिसूत्रे बोद्धव्यः ।

प्रब्रज्या—प्रवज्यास्त्वरूपं निरूपितम् ।

प्रवज्या कोऽर्थः ? परिद्राव्यं तत्त्वं सूत्रपदानि सप्तविषतिजिनसेनाचार्येण वतानि । तथा हि—

होती है । मिथ्यात्वसे दूषित मुनि भले ही नग्न रहता हो उसको दीक्षा दीक्षा नहीं होती क्योंकि वह संसारके विच्छेद से रहित है । यद्यपि मिथ्यादृष्टि मुनि उत्कृष्ट रूपसे नवम ग्रैवेयके पदको मी प्राप्त करलेते हैं तो भी पुनः संसार में ही पड़ते हैं ऐसा जानकर मैं बार-बार कहता हूँ कि मुनिको सम्यग्दृष्टि होना चाहिये । जैसा कि इन्हीं भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है—

सम्मं—जिस प्रकार सम्यक्त्वरूप भाव हैं उसी प्रकार मिथ्यात्वरूप भी भाव होते हैं । उनमेंसे मिथ्यात्वरूप भावोंको छोड़कर जो सम्यक्त्वभाव को प्राप्त हुए हैं, मैं उन्हें बन्दना करता हूँ ।

जिनमार्गं परिग्रहं से रहित है—नग्न रूप है । ‘वस्त्र सहित मनुष्यमोक्षको प्राप्त होता है’ यह मिथ्यादृष्टियों का मार्ग है । इस जैनमार्ग में जैसा कुछ प्रवज्या का लक्षण मैंने कहा है वह संक्षेप से ही कहा है, ऐसा जानना चाहिये । इसका विस्तार श्री गौतमस्वामीके परमागम में जानना चाहिये ।

इस प्रकार प्रवज्या के स्वरूपका निरूपण किया ।

प्रश्न—प्रवज्या इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर—प्रवज्याका अर्थ पारिवज्य है । उसके सत्तार्द्देस सूत्र श्री जिनसेनाचार्यने कहे हैं । जो इस प्रकार हैं—

जातिमूर्तिक्षण तत्रस्यं लक्षणं सुन्दराङ्गता ।
 प्रभामण्डलचक्राणि तथा अभिष्वनायते ॥१॥
 सिहासनोपधाने च छवचामरधीषणाः ।
 वशोकवृभनिधयो गृहशीभवगाहने ॥२॥
 क्षेत्राङ्गे तत्सभा कीर्तिबैष्ट्रता वाहनानि च ।
 भाषाहारसुखानीति जात्यादिः सत्त्विशतिः^३ ॥३॥

इति त्रिभिः इलोकोः सत्त्विशतिः प्रवज्यासूत्रपदानि ज्ञानव्यानि । एतेषां विवरणं तैरेव कृत वर्तते तथा हि—

जात्यादिकानिमान् सप्तर्विशतिं परमेष्ठिनाम् ।
 गुणानाहुभंजेद्वीक्षां स्वेषु तेष्वकृतादरः ॥१॥
 जातिमानप्यनुत्सिक्तः संभजेद्वैतां क्रमो ।
 यसो जात्यन्तरे जात्यां याति जाति चतुर्षट्योऽ ॥२॥

जाती भवा जात्या तां जात्यां लक्षणं जातिं पुनिर्णीति । कस्तित् जात्यन्तरे चतुर्षट्योऽप्यकारजातिभेदे । कि कुर्वणः ? अहंकरो मनमानः ।

जातिर्—जाति, मूर्ति, उसमें रहने वाले लक्षण, शरीरकी सुन्दरता, प्रभा, मण्डल, अङ्ग, अभिषेक, नाथता, सिहामन, उपधान, छत्र, चामर, घोषणा, वशोक वृक्ष, निधि, गृहशीभा, अवगाहन, क्षेत्रज्ञ, आज्ञा, सभा, कीर्ति, वन्दनीयता, वाहन, भाषा, आहार और सुख ये जाति आदि सत्ताईस सूत्रपद कहलाते हैं ॥१-३॥

इन तीन इलोकोंके द्वारा प्रवज्या के सत्ताईस सूत्र पद जानना चाहिये । इनका वर्णन उन्हीं जिनसेनाचार्य ने किया है जो इस प्रकार है—

जात्यादिका—ये जाति आदि सत्ताईस सूत्र पद परमेष्ठियों के गुण कहलाते हैं । उस भव्य पूरुष को अपने जाति आदि गुणोंसे आदर न करते हुए दीक्षा धारण करना चाहिये । (ये जाति आदि गुण जिस प्रकार परमेष्ठियों में होते हैं उसी प्रकार दीक्षा लेने वाले शिष्य में भी यथा-संभव रूपसे होते हैं परन्तु शिष्यको अपने जाति आदि गुणों का सम्मान

१. क्षेत्रज्ञाजासभाः महापुराणे ।
२. महापुराणे पर्व १९ ।
३. स्तेषु म० ।
४. महापुराणे १६६-१६७ पर्व ३९

जातिरैन्द्री भवेद्विष्णु चक्रिणो विजयाश्रिता ।
 परमा जातिराहस्ये स्वरमोत्त्वा सिद्धिभीयुषाम् ॥ ३ ॥
 मूल्यर्थिव्यपि नेत्रव्या कल्पकेयं चतुष्टयी ।
 पुराणज्ञरसंमीहात्क्वचिच्छ त्रितयी भवता ॥ ४ ॥
 कर्षयन् मृतिसात्सीयां रक्षन् भूर्भुः जरीरिणां ।
 तपोऽधिलिष्ठेदिव्यादिमूर्तीराप्नुमता मुनिः ॥ ५ ॥
 स्वरक्षणमनिर्देश्यं मन्यमानो जिनेशिनां ।
 लक्षणात्यभिसंघाय तपस्येत्कृतलक्षणः ॥ ६ ॥
 स्वापयन् स्वाङ्गसोन्दर्यं मृतिरुद्धरं तपश्चरेत् ।
 वाञ्छन् दिव्यादिसौन्दर्यं पनितायं यरं परं ॥ ७ ॥

नहीं कर परमेष्ठियों के ही जाति आदि गुणोंका सन्मान करना चाहिये क्योंकि ऐसा करने से वह शिष्य अहंकार आदि दुरुणों से बचकर अपने आपका उत्थान शीघ्र ही कर सकता है)। स्वयं उत्तम जाति वाला होने-पर भी अहंकार-रहित होकर अरहन्त देवके चरणों की सेवा करनी चाहिये क्योंकि ऐसा करनेसे वह भव्य दूसरे जन्म में उत्पन्न होनेपर दिव्या, विजयाश्रिता, परमा और स्वा इन चार उत्तम जातियों को प्राप्त होता है ॥१-२॥

✓ जातिरैन्द्री—इन्द्रके दिव्या जाति होती है, चक्रवर्तियों के विजयाश्रिता, अरहन्त देवके परमा और मोक्षको प्राप्त हुए जोवोंके अपने आत्मा से उत्पन्न होनेवाली स्वा जाति होती है ॥३॥

इन चारों की कल्पना मूर्ति आदि में कर लेनी चाहिये अथवा जिस-प्रकार जातिके दिव्या आदि चार भेद हैं उसी प्रकार मूर्ति आदिके भी समझ लेना चाहिये। परन्तु पुराणों को जानने वाले आचार्य योह-रहित होनेसे किसी-किसी जगह तीन ही श्रेदोंकी कल्पना करते हैं अथवा सिद्धोंमें स्वा मूर्ति नहीं मानते हैं ॥४॥ जो मुनि दिव्य आदि मूर्तियोंको प्राप्त करना चाहता है उसे अपना शरीर कृश करना चाहिये तथा अन्य जीवों के शरीरों की रक्षा करते हुए तपश्चरण करना चाहिये ॥५॥ इसी प्रकार अनेक लक्षण धारण करने वाला वह पुरुष अपने लक्षणों को निर्देश करने के अपोग्य मानता हुआ जिनेन्द्र देवके लक्षणोंका चिन्तवन कर तपश्चरण करे ॥६॥ जिनकी परम्परा अनिवार्य है ऐसे दिव्य आदि सौन्दर्यों की

मलीभसाङ्गो व्युत्सुष्टस्वकायप्रभवप्रभः ।
 प्रभोः प्रभो मुनिध्ययिन् भवेत्किंत्रं प्रभास्वरं ॥ ८ ॥
 सर्व भणिस्नेहदीपादितेजोऽग्रास्य जिन्न भजन् ।
 तेजोमयमर्यं योगी स्यात्तेजोवलयोज्वलः ॥ ९ ॥
 त्यक्षत्वाऽस्त्रवस्त्रशस्त्राणि प्राप्ततनानि प्रशान्तभाक् ।
 जिनमारात्म्य योगीन्द्रो धर्मचक्रधिष्ठो भवेत् ॥ १० ॥
 त्यक्षतस्त्रानादिसंस्कारः संश्रितम् स्नातकं जिनं ।
 मूर्छिन् मेरोरवाप्नोति परं जन्माभिषेचनं ॥ ११ ॥
 सर्व स्वाम्यमहिक्तं त्यक्षत्वा परमस्वामिनं जिनं ।
 सेविला सेवनीदशनेश्वरेष्व जन्मजन्मैः ॥ १२ ॥
 स्वोचितासदभेदानां त्यागात्यक्ताम्बरो मुनिः ।
 सिंह विष्टरमध्यास्य तीर्थं प्रस्थापको भवेत् ॥ १३ ॥
 स्वोपघानाधनादृत्य योग्यमिष्टगधिमुनिः ।
 शयानः स्थणिहङ्के बाहुभान्नापितशिरस्तटः ॥ १४ ॥

इच्छा करता हुआ वह मुनि अपने शरीर के सौन्दर्य को मलिन करता हुआ कठिन तपश्चरण करे ॥७॥ जिसका शरीर मलिन हो गया है, जिसने अपने शरीरसे उत्पन्न होनेवाली प्रभाका त्याग कर दिया है और जो अरहन्त देवकी प्रभा का ध्यान करता है ऐसा साधु श्रीघड़ी देवीप्रयमान हो जाता है अर्थात् दिव्य-प्रभा आदि प्रभाओं को प्राप्त करता है ॥८॥ जो मुनि अपने मणि और तेल के दीपक आदिका तेज छोड़कर तेजोमय जिनेन्द्र भगवान् की आराधना करता है वह प्रभामण्डल से उज्ज्वल हो उठता है ॥९॥ जो पहले के अस्त्र, वस्त्र और शस्त्र आदिको छोड़कर अत्यन्त शान्त होता हुआ जिनेन्द्र भगवान् की आराधना करता है वह योगिराज धर्मचक्रका अधिष्ठित होता है ॥१०॥ जो मुनि स्नान आदिका संस्कार छोड़कर केवली जिनेन्द्र का अश्रव लेता है अर्थात् उनका चिन्त्यवन करता है वह मेरु पवातके मर्स्तक पर उत्कृष्ट जन्माभिषेक को प्राप्त होता है ॥११॥ जो मुनि अपने इस लोक-सम्बन्धी स्वामीपनेको छोड़कर परमस्वामी श्री जिनेन्द्र देवको सेवा करता है वह जगत् के जीवोंके द्वारा सेवनोय होता है अर्थात् जगत् के सब जीव उसको सेवा करते हैं ॥१२॥ जो मुनि अपने योग्य अनेक आसनों के भेदोंका त्याग करके दिग्म्बर हो जाता है वह सिंहासन पर आरूढ़ होकर तीर्थोंको प्रसिद्ध करने वाला अर्थात् तीर्थकर होता है ॥१३॥ जो मुनि अपने तकिया आदिका अंशादर

स महाम्युदयं प्राप्य जिनो भूत्वाऽप्तसत्क्रियः ।
देवैविरचितं दीप्रमासकन्दत्युपवानकं ॥ १५ ॥
त्यक्तशीतिगतपत्राणसकलात्मपरिच्छदः ।
त्रिभिरुचिरैः समुदभासिरत्लंरुदभासते स्वयं ॥ १६ ॥
विविष्यजनत्यागादनुष्ठितपोविधिः ।
चामराणां चतुष्पद्धत्वा वीज्यते जिनपर्यं ॥ १७ ॥
उज्जितानकसंगीतघोषः कृत्वा तपोविधि ।
स्याद्युदुन्दुभिनिर्विष्वाप्यमाणजयोदयः ॥ १८ ॥
उद्यानादिकृतां छायामपात्य स्वां तपो व्यवात् ।
यतोऽयमत एवात्य स्यादशोकमहाद्युमः ॥ १९ ॥
स्वं स्वापतेयमुच्चितं त्यक्त्वा निर्ममतामितः ।
स्वयं निषिभिरभ्येत्य सेव्यते द्वारि दूरतः ॥ २० ॥
गृहशोभां कुताराणां दूरीकृत्य तपस्यतः ।
श्रीमण्डपादिशोभात्य स्वतोऽम्येति पुरोगता ॥ २१ ॥

कर परिश्रहरहित हो जाता है और केवल अपनी भुजा पर शिरका किनारा रक्खकर पूथियो के ऊंचे नीचे प्रदेश पर शयन करता है वह महा-अभ्युदय को पाकर जिन होजाता है । उस समय सब लोग उसका आदर-सल्कार करते हैं और वह देवोंके द्वारा बने हुए देवीप्यमान तकिया को प्राप्त होता है ॥१४-१५॥ जो मुनि शीतल छत्र आदि अपने समस्त परिश्रह का त्याग कर देता है वह स्वयं देवीप्यमान रहनोंसे युक्त तीन छत्रोंमें सुखोभित होता है ॥१६॥ अनेक प्रकारके पहुँचोंके त्यागसे जिसने तपश्चरण की विधिका पालन किया है ऐसा मुनि जिनेन्द्र पर्याय में चौंसठ चमरोंसे बीजित होता है अर्थात् उस पर चौंसठ चमर ढुलाये जाते हैं ॥१७॥ जो मुनि नगाड़े तथा संगीत आदि की घोषणा का त्यागकर तपश्चरण करता है उसके विजयका उदय स्वर्ग के दुन्दुभियोंके गंभीर शब्दोंसे घोषित किया जाता है ॥१८॥ चूंकि पहले उसने अपने उद्यान आदिके द्वारा की हुई छाया का परित्याग कर तपश्चरण किया था इसलिये ही अब उसे (अरहन्त अवस्था में) महा अशोक वृक्ष की प्राप्ति होती है ॥१९॥ जो कपना योग्य धन छोड़कर निर्ममत्वभाव को प्राप्त होता है वह स्वयं आकर दूर दरवाजे पर लड़ी हुई निषियोंसे सेवित होता है अर्थात् समव-सरण भूमि में निषियाँ दरवाजे पर लड़े रहकर उसकी सेवा करती हैं ॥२०॥ किसकी रक्षा सब ओरसे की गई थी ऐसी घरकी खोआओ लोह-

तपोऽविगाहनादस्म गहनात्परितिष्ठतः ।
 त्रिजगच्छनतास्थानसहं स्थादवगाहनं ॥ २२ ॥
 क्षेत्रवास्तुसमुत्सर्गात्क्षेत्रज्ञत्वमुपेयुषः ।
 स्वाधीनं त्रिजगत्क्षेत्रमेश्यमस्योपजायते ॥ २३ ॥
 आज्ञामिमानमूल्यु उय मौनमात्प्रियत्वानयं ।
 प्राप्नोनि परमामाङ्गां सुरासुरशिरोवृतां ॥ २४ ॥
 स्वामिष्टभृत्यबन्धवादिसभामुत्सृष्टवानयं ।
 परमात्मपदप्राप्नावद्यास्ते त्रिजगत्सभां ॥ २५ ॥
 क्षेत्रप्रेक्षीतर्म लग्नवा त्रिजगत्सभां भवान्वयः ।
 स्तुतिनिन्दासमो भूपः कीर्त्यते भूवनेष्वरैः ॥ २६ ॥
 वन्दित्वा वन्द्यमहन्त यतोऽनुष्ठितवांस्तपः ।
 ततोऽयं वन्द्यते वन्द्यैरनिन्दगुणसन्निधिः ॥ २७ ॥

कर इसने तपश्चरण किया इसोलिये श्रीमण्डप की शोभा अपने आप इसके सामने आती है ॥२१॥ जो तप करनेके लिये सधन बनमें निवास करता है उसे तीनों जगत् के जीवोंके लिये स्थान दे सकनेवाली अवगाहन शक्ति प्राप्त होजाती है अर्थात् उसका ऐसा समवसरण रचा जाता है जिसमें तीनों लोकोंके जीव सुखसे स्थान पा सकते हैं ॥२२॥ जो क्षेत्र मकान आदिका परित्याग करके शुद्ध आत्माको प्राप्त होता है उसे तीनों जगत्के क्षेत्रको अपने अधीन रखनेवाला ऐश्वर्य प्राप्त होता है ॥२३॥ जो मुनि आज्ञा देनेका अमिमान छोड़कर मौन धारणा करता है उसे सुर और असुरोंके द्वारा शिर पर धारण की हुई उत्कृष्ट आज्ञा प्राप्त होती है अर्थात् उसकी आज्ञा सब जीव मानते हैं ॥२४॥ चूंकि इस मुनिने अपने इष्ट सेवक तथा भाई आदिकी सभाका त्याग किया था इसलिये उत्कृष्ट अरहन्त पदकी प्राप्ति होनेपर वह तीनों लोकों की सभा अर्थात् समवसरण भूमिमें विराजमान होता है ॥२५॥ जो सब प्रकार की इच्छाओं का परित्याग कर अपने गुणोंकी प्रशंसा करना छोड़ देता है और महातपश्चरण करता हुआ स्तुति तथा निन्दा में समान भाव रखता है वह तीनों लोकोंके इन्द्रों-के द्वारा प्रशंसित होता है अर्थात् सब लोग उसकी स्तुति करते हैं ॥२६॥ चूंकि इस मुनिने वन्दना करने योग्य अरहन्त देवकी वन्दनाकर तपश्चरण किया था इसीलिये यह वन्दना करने के योग्य पूज्य पुरुषोंके द्वारा वन्दना किया जाता है तथा प्रशंसनीय उत्तम गुणोंका भण्डार हुआ है ॥२७॥

तपोऽयमनुपातकः पादचारी विषाहमः ।
 हतवान् पद्मगर्भेषु चरणन्यासमर्हति ॥ २८ ॥

वाग्मुखो हितवान्वत्या यतोऽयं तपसि स्थितः ।
 ततोऽस्य विष्णवाभाषा स्यात्त्रीणमन्त्यमस्तिर्लो सभां ॥ २९ ॥

अनाश्वान्नियताऽहारपारणोऽजपत्यसापः ।

तदस्य दिव्यविजयपरमामृततुप्तयः ॥ ३० ॥

त्यक्षतकामसुखो भूत्वा तपस्यस्यान्वितं यतः ।
 ततोऽयं सुखसादभूतः परमानन्दधु भजेत् ॥ ३१ ॥

किमनवहुतोक्तेन यथादिष्टं यथाविधे ।
 त्वजेऽमुनिरसंकल्पसत्तत् शृणुहय तत्त्वाः ॥ ३२ ॥

प्राप्तोल्कर्यं तदस्य स्यात्तपदिच्छामणे फलं ।
 यतोऽहंज्ञातिमूर्यादिप्राप्तिः सेषानुबर्णिता ॥ ३३ ॥

जीनेश्वरी परमाक्षां सुन्नोदिष्टां प्रमाणयन् ।
 तपस्यां यदुपादते पारिद्वाज्यं तदाव्ज्जसं ॥ ३४ ॥

जो जूला और सवारीका परित्याग कर पैदल चलता हुआ तपश्चरण करता है वह कमलोंके मध्यमें चरण रखनेके योग्य होता है अर्थात् अरहन्त अवस्था में देवलोग उसके चरणोंके नीचे कमलोंकी रचना करते हैं ॥ २८ ॥ चूंकि यह मुनि बचन गुणितको धारण कर अथवा हित मित बचन रूप भाषा समितिका पालन कर तपश्चरण में स्थित हुआ या इसलिये ही इसे समस्त सभा को संतुष्ट करने वाली दिव्यध्वनि प्राप्त हुई है ॥ २९ ॥ इस मुनिने पहले उपवास धारणकर अथवा निर्यामित आहार और पारणाएं कर तप तपा या इसलिये ही इसे दिव्य तूप्ति, विजय तूप्ति परमतृप्ति और अमृत तूप्ति ये चारों ही तृप्तियाँ प्राप्त हुई हैं ॥ ३० ॥ चूंकि यह मुनि काम अनित सुखको छोड़कर चिर काल तक तपश्चरण में स्थिर रहा या इसलिये ही यह सुखस्वरूप होकर परमानन्द को प्राप्त हुआ है ॥ ३१ ॥ इस विषय में बहुत कहनेसे क्या लाभ है ? संक्षेपमें इतना ही कह देना ठीक है कि मुनि संकल्प-रहित होकर जिस जिस वस्तुका परित्याग करता है उसका तपश्चरण उसके लिये वही वही वस्तु उत्पन्न कर देता है ॥ ३२ ॥ जिस तपश्चरण रूपी चिन्तामणिका फल उत्कृष्ट पद-की प्राप्ति आदि मिलता है और जिससे अरहन्त देवकी जाति तथा मूर्ति आदिकी प्राप्ति होती है ऐसी इस पारिद्वाज्य नामकी क्रिया का वर्णन किया ॥ ३३ ॥ जो आगम में कही हुई जिनेन्द्रदेवकी आशाको प्रमाण भानता

अन्यस्य बहुवारजाके निबद्धं युक्तिवाचित् ।
परिव्रज्यं परित्याज्य ग्रास्य चेष्टमनुत्तरं ॥ ३५ ॥
पञ्चत्रिशत्त्वांश्चूलोके । प्रवच्या वणिता ।
इति श्रीबोधप्राभूते प्रवज्याधिकार एकादशः समाप्तः ॥ ११ ॥

अथेदानीं बोधप्राभूतस्य चूलिकां गाथात्रयेण निरूपयन्ति—
रुद्रतर्थं सुद्रुतर्थं जिणमग्ने जिणवरेहि जहु भणियं ।
भव्यजणबोहणतर्थं छक्कायहियंकरं उत्तं ॥ ६० ॥

हुआ तपस्या धारण करता है अथवि दीक्षा प्रहण करता है उसीके वास्तविक पारिव्रज्य होता है ॥ ३४॥ अनेक प्रकार के बच्चनों के जालमें निबद्धतया युक्तिसे बाधित अन्य लोगोंके पारिव्रज्य को छोड़कर इसी सर्वोत्कृष्ट पारिव्रज्य को प्रहण करना चाहिये ॥ ३५॥ इस प्रकार पैंतीस इलाकोंके द्वारा प्रवज्याका वर्णन किया गया है* ॥ ५९॥

इस तरह श्री बोधप्राभूतमें प्रवज्याधिकार नामका ग्राहहवाँ अधिकार समाप्त हुआ ।

आगे तीन गाथाओंके द्वारा बोधप्राभूतकी चूलिकाका निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—जिनमार्ग में जिनेन्द्र देवने जिस प्रकार वर्णन किया है उसी

* १० जयचन्द्रजी ने 'आयत्तण गुणपञ्जन्ता' की छाया 'आयनतगुणरयात्ता' स्वीकृत की है तथा 'बहुविमुद्ध सम्पत्ते' इसे 'जिणमग्ने' का विशेषण माना है । ऐसा मान कर उन्होंने इस गाथाका अर्थ निम्न प्रकार किया है—

ऐसे पूर्वोक्त प्रकार आयत्तन जो दीक्षा का ठिकाना निर्गन्ध मृति ताके गुण जे ते हैं तिनकरि पञ्चता कहिये परिपूर्ण, बहुरि अन्य भी जो बहुत दीक्षामें चाहिये ते गुण जामें होय ऐसी प्रवज्या जिनमार्ग में जैसे रुपात कहिये प्रसिद्ध है तैसे संक्षेप करि कही, कैसा है जिनमार्ग, विशुद्ध है सम्यक्त्व जामें अतिचार रहित सम्यक्त्व जामें पाइये हैं, बहुरि कैसा है जिनमार्ग निर्गन्धरूप है जामें बाह्य अन्तर परिप्रह नाहीं है । भावार्थ—ऐसो पूर्वोक्त प्रवज्या नियम सम्यक्त्व सहित निर्गन्ध रूप जिनमार्ग विये कही है, अन्य नेयायिक, वैशेषिक, सांख्य, वैदान्त, मीमांसक, पातंजलि बोद्ध आदिक मतमें नाहीं है, बहुरि काल दोष तैं जैनमत तैं अग्रत भये अर जैनी कहावें ऐसे स्वेताम्बर आदिक सिनिमें भी नाहीं हैं ॥ १५९ ॥

रूपस्थं शुद्धचर्यं जिनमार्गं जिनवरैयंथा भणितम् ।
भव्यजनबोधनार्थं पद्मायहितकरं उक्तम् ॥

(रूपस्थं सुद्धत्वं) रूपस्थं निर्ग्रन्थरूपस्थितमाचरणं भयोक्तमिति सम्बन्धः ।
किमर्थं भणिते, सुद्धत्वं शुद्धचर्यं कर्मधायनिमित्तं । (जिनमार्गे जिनवरैहि जह
भणियं) जिनमार्गं जिनशासने जिनवरैतीविकरपरमदेवैर्गीतमान्तगणधरदेवेष्व वथा
येन प्रकारेण भणितं । (भव्यजनबोधनत्वं) आसन्नभव्यजीवसम्बोधनार्थं ।
(छन्दकायहित्यकरं उक्तं) पद्मायहितकरं सर्वजीवदयाप्रतिष्ठालनार्थं उक्तं
निरूपितम् ॥६०॥

सद्दवियारो हूओ भासा^१ सुत्तेसु जं जिणे कहियं ।
सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्रबाहुस्स ॥६१॥

शब्दविकारो भूतः भाषासूत्रेषु यत् जिनेन कथितम् ।
तत् तथा कथितं ज्ञातं शिष्येण च भद्रबाहोः ॥

(सद्दवियारो हूओ) शब्दविकारो भूतोऽर्हद्विवितिः (भासासुत्तेसु जं
जिणे कहियं) सर्वधिमागधीभाषासूत्रेषु यज्जिनेन कथितं श्रीवीरेणार्थरूपं शास्त्रं

प्रकार छह काथ के जीवोंका हित करने वाला यह निर्ग्रन्थ रूपका आच-
रण कर्मक्षय के निमित्त मैंने भव्यजीवोंको संबोधने के लिये कहा
है ॥ ६० ॥

विशेषार्थ—जिन शासनमे तीर्थकर परमदेव अपना गीतमान्त गण-
धरों ने जिस प्रकार कहा है उसी प्रकार निकट-भव्य जीवोंको सम्बोधने
के लिये छहकाय के जीवोंका हित करने वाला यह निर्ग्रन्थमुद्राधारी
मुनिका आचरण मैंने कर्मक्षय रूप शुद्धिके प्रयोजन से कहा है ॥६०॥

गाथार्थ—शब्द विकार रूप परिणत भाषा सूत्रों में जिनेन्द्र भगवान्
ने जो कहा था भद्रबाहुके शिष्य ने उसे वैसा ही कहा तथा जाना
है ॥ ६१ ॥

विशेषार्थ—अरहत्त भगवान् की दिव्यध्वनि से जो पदार्थ निकला
था वह शब्द विकार रूप परिणत हुआ अर्थात् गणधरों ने उसकी शास्त्र
रूप रचना की । भगवान् की दिव्यध्वनि सर्वधिमागधी भाषा रूप थी ।
उसमें जिनेन्द्र भगवान् ने (वर्तमान की अपेक्षा अन्तिम तीर्थकर श्री महा-

१. सुत्तेसु प० ।
२. णायं प० ।

कथितं । (सो तह कहिये आर्य) तत्था कथितं ज्ञातभवगतं । (सीमण ग भद्रबाहुस्स) केन ज्ञातं ? शिष्येणान्तेवासिना भद्रबाहुशिष्येण अहंद्विलिङुप्ति-
गुज्ञानरनामद्वयेण विशाखाचार्यताम्ना दग्धुर्वेदारिणामेकाद्विज्ञानामाचार्याणि- मध्ये
प्रथमेन ज्ञातं ।

वारसअंगविद्याणं चउदसपुर्वगविउलवित्थरणं ।

सुयाणिभद्रबाहु गमयगुरुभयवओ जयओ ॥६२॥

द्वादशाङ्गविज्ञानः चतुर्दशपूर्वाङ्गवितुलविस्तरणः ।

श्रुतज्ञानिभद्रबाहुः गमकगुरुः भगवान् जयतु ॥

(वारसअंगविद्याणं) द्वादशाङ्गविज्ञानयूक्तः । चउदसपुर्वगविउलवित्थरणं
चतुर्दशानां पूर्वाङ्गानां विपुलं पृथु विस्तरणं यस्य स चतुर्दशपूर्वाङ्गवितुलविस्तरणः ।
(सुयाणिभद्रबाहु) पंचानां श्रुतकेवलिनां मध्येऽन्त्यो भद्रबाहुः । (गमय-
गुरुभयवओ जयओ) मादृशः सूत्रेऽर्थस्तादृशो वाच्यार्थस्तं ज्ञानस्तीति गमकास्तेषां
गुरुलाघ्यायो भगवान् इन्द्रादीनामाराव्यो जयतु सर्वोत्कर्षेण बन्तां तस्मायस्माकं
नमस्कार इत्यर्थः ।

वीर भगवान् ने) जो अर्थ लग शास्त्र जिसप्रकार कहा था उसे भद्रबाहुके
शिष्यने उसी प्रकार कहा तथा जाना है । यहीं भद्रबाहुके शिष्यसे विशाखा-
चार्य का ग्रहण है । इन विशाखाचार्य के 'अहंद्विलि' और 'मुप्ति गुप्त' ये
दो नाम और भी हैं, तथा ये दश पूर्वके वारक र्यारह आचार्योंके मध्य
प्रथम आचार्य थे ॥६१॥

गायार्थ—जो द्वादशाङ्ग के ज्ञानसे धुक्त थे, जिन्होंने चौदह पूर्वोंका
अत्यन्त विस्तार किया था तथा जो गमकों-ध्याल्याकारोंके गुरु थे वे
भगवान् श्रुतज्ञानी भद्रबाहु जयवंत हों ॥६२॥

विशेषार्थ—इस पद्य में श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने अन्तिम श्रुतकेवली
श्रीभद्रबाहुके प्रति विनय प्रगट करते हुए कहा है कि जो बारह अंगोंके
ज्ञाता थे, चौदह पूर्वोंका जिन्होंने बहुत विस्तार किया था, जो पूर्ण
श्रुतज्ञानी थे—पाँच श्रुत केवलियों में अन्तिम श्रुतकेवली थे, जो गमकोंके
गुरु अर्थात् उपाध्याय थे और इन्द्र आदिके द्वारा आराधना के योग्य होने
से भगवान् थे, वे भद्रबाहु महाराज जयवंत रहे उनके लिये हमारा
नमस्कार है । शास्त्रके शब्द और उसके अनुरूप अर्थों जो जानते हैं वे
गमक कहुलाते हैं ॥ ६२ ॥

इति शोषणनिविकुन्तकुम्हाचार्यवक्त्रोवाचार्येलाचार्यगृद्धपिच्छाचार्यनामपञ्चक
विरचितेन श्रीसीमन्धरस्वामिशानसंबोधितभव्यजनेन श्रीजिनचन्द्रसूरिभट्टारक-
भट्टारणभूतेन कलिकालसर्वज्ञेन विरचिते षट्प्राभूतग्रन्थे सर्वमुनिमण्डीमण्डितेन
कलिकालमीतमस्वामिना श्रीमलिलभूषणेन भट्टारकेणाद्युमतेन सकलोवद्विजयनसमाव-
समानितेनोभयभाषाकविचक्खत्वातिना श्रीविद्यानन्दिगुरुवन्तेवासिना सूरिवरषीश्रुत-
सागरेण विरचिता बोधप्राभूतस्य टीका परिसमाप्ता ।

इस प्रकार श्री पश्चनन्दो, कुन्दकुन्दाचार्य, वक्त्रोवाचार्य, एलाचार्य
और गृद्धपिच्छाचार्य इन पाँच नामोंसे विरचित, श्रीसीमन्धर स्वामीके
ज्ञानसे भव्यजनों को सम्बोधित करने वाले, श्रीजिनचन्द्र सूरि भट्टारक
के पटटके आभूषण, कलिकालसर्वज्ञ श्री कुन्दकुन्दके द्वारा विरचित षट्-
प्राभूत ग्रन्थ में समस्त मुनियों की मण्डली से सुशोभित, कलिकालके
गोतमस्वामी, श्रीमलिलभूषण भट्टारकके द्वारा अनुमत, समस्त विद्वज्जन-
के समूहसे समानित उभयभाषा के कवियों में श्रेष्ठ श्रीविद्यानन्द
गुरुके शिष्य सूरिवर श्री श्रुतसागर के द्वारा विरचित बोधप्राभूत की टीका
समाप्त हुई ।



भाव प्राभृतम्

अथेदानीं भावप्राभृतं कुर्वन्तः श्रीकुन्दकुन्दाचार्या इष्टदेवतां नमस्कुर्वन्ति—

णमिक्षण जिणवरिदे णरसुरभवणिदवंदिए सिद्धे ।

ओच्छामि भावपाहुडमवसेसे संजदे शिरसा ॥१॥

नमस्कृत्वा जिनवरेन्द्रान् नरसुरभवनेन्द्रवन्दितान् सिद्धान् ।

बह्यामि भावप्राभृतं-अवशेषान् संयतान् शिरसा ॥२॥

(णमिक्षण जिणवरिदे) नमस्कृत्य, कान् ? जिनवरेन्द्रान् सप्तप्रकृतिक्षमेण कृत्येकदेशेन जिनाः सदृष्टयः श्रावकादय एकादशगुणस्थानवर्तिनः श्रीष्कषायाइच संयोगकेवलियर्थंताँ जिना उच्यन्ते गणधरदेवाच्च तेषां मध्ये बराः श्रेष्ठा अपर-केवलिनश्च तेषामिन्द्राः स्वामिनस्तीर्थकरपरमदेवा जिनवरेन्द्राः कथ्यन्ते तान् मत्वा । कथंभूतान् जिनवरेन्द्रान्, (णर सुरभवणिदवंदिए) नरेन्द्रसुरेन्द्रभावने-वंदितान् । (सिद्धे) तादृग्विशेषणविशिष्टान् सिद्धांश्च तत्वा (ओच्छामि भावपाहुडं वक्ष्यामि) कथमिष्यामि, कि तद्वावप्राभृत । न केवलमर्हात्सद्वान्

अब इस समय भाव प्राभृत की रचना करते हुए श्रीकुन्दकुन्दाचार्य इष्ट देवताको नमस्कार करते हैं—

गाथार्थ—मनुष्य, देव और भवनकासियोंके इन्द्रोंसे बन्दित तीर्थकर परमदेव, सिद्ध परमेष्ठी तथा अन्य संयमी मुनियोंको शिरसे नमस्कार कर मैं भावप्राभृतको कहूँगा ॥१॥

विशेषार्थ—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व प्रकृति तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ-द्वन्द्व मात्र प्रकृतियोंके क्षय की अपेक्षा से अविरत मम्यगदृष्टि, श्रावक पञ्चम गुणस्थानको आदि लेकर ग्यारहूंवें गुणस्थान तक के जीव, क्षीणकषाय, संयोगकेवलो और गणधर देव जिन कहलाते हैं । इनमें वर-श्रेष्ठ अपर केवली हैं, उनके इन्द्रस्वामी तीर्थकर परमदेव जिनवरेन्द्र कहे जाते हैं । ये जिनवरेन्द्र नरेन्द्र सुरेन्द्र और भावनेन्द्रों के द्वारा बन्दित होते हैं । जिनके समस्त कर्मोंका क्षय हो चुका है वे सिद्ध कहलाते हैं, सिद्ध भी नरेन्द्र सुरेन्द्र और भावनेन्द्रों के द्वारा बन्दित हैं । इन अरहन्त और सिद्धके सिवाय आचार्य उपाध्याय और सर्वे साधु नामक तीन प्रकारके संयमी और हैं । इस तरह इन पाँचों परमेष्ठियों

वन्दित्वाऽपि तु (अबसेसे संजदे) अवशेषान् संयतान् आचार्योगाध्यायसर्वसाधून्
त्रिविधान् मुनीन् नत्वा केन, (मिरसा) उसमांगेन जानकूर्परशिरः पञ्चकेन
प्रणिपन्यत्यर्थः ।

भावो य पद्मलिङ्गं ण द्रव्यलिङ्गं च जाण परमार्थं ।

भावो कारणभूदो गुणदोषाणां जिना विति ॥२॥

भावश्च प्रथमलिङ्गं न द्रव्यलिङ्गं च जानीहि परमार्थम् ।

भावः कारणभूतः गुणदोषाणां जिना विदन्ति ॥३॥

(भावो य पद्मलिङ्ग) भावश्च प्रथमलिङ्गं दीक्षाचिन्हं भावो भवति ।
चकोगद्व्यलिङ्गं वृत्त्वा भावलिङ्गं प्रगटं क्रियते यथाऽप्यत्योत्पादनेन पुरुषशक्तिः
प्रकटीभवति तथा द्रव्यलिङ्गिनो मुने भविलिङ्गं प्रकटं भवति पुरुषशक्तेभवित्य च
लोचनामगोचरत्वात् । उक्तं चेन्द्रनन्दिना भट्टारकेण समयभूषणप्रवचने—

द्रव्यलिङ्गं समात्थाय भावलिङ्गी भवेद्वातिः ।

जिना तेन न वन्ध्यः स्यान्नानाकृतधरोऽपि सन् ॥१॥

को शिरसे अर्थात् दो घुटने दो कोहनीं और शिर इन पाँच अङ्गों से
नमस्कार कर मैं भावप्राभृत ग्रन्थको कहैगा । ऐसा श्रीकुम्दकुन्द स्वामी
ने मङ्गलाचरण के साथ प्रतिज्ञा-बाक्य को प्रगट किया है ॥१॥

आगे भाव-लिङ्गकी प्रमुखता का वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—भाव ही प्रथम लिङ्ग है, द्रव्य-लिङ्ग परमार्थ नहीं है,
अथवा भावके बिना द्रव्यलिङ्ग परमार्थ को सिद्धि करने वाला नहीं है,
गुण और दोषोंका कारण भाव हो है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान् जानते
हैं ॥ २ ॥

विजेत्वार्थ—भाव प्रथम लिङ्ग है अर्थात् दीक्षाका प्रथम चिह्न है ।
'भावो य'-'भावश्च' यही 'च' शब्द से यह सूचित किया है कि द्रव्य-लिङ्ग
धारण करके भावलिङ्ग प्रगट किया जाता है । जिस प्रकार सन्तान की
उत्पत्ति से मनुष्य की पुरुषत्व शक्ति प्रगट होती है उसी प्रकार दिव्य-
लिङ्गी मुनिके भावलिङ्ग प्रकट होता है क्योंकि मनुष्यकी पुरुषत्व शक्ति
और भाव नेत्रों के विषय नहीं हैं—आँखों से दिखाई नहीं देते हैं । जैसा
कि श्रीद्वन्द्रनन्दी भट्टारक ने समयभूषण प्रवचन में कहा है—

द्रव्यलिङ्ग—मुनि द्रव्यलिङ्ग धारण कर भावलिङ्गी होता है क्योंकि
नाना ग्रन्थों का धारक होने पर भी मुनि द्रव्यलिङ्ग के बिना वन्दनीय नहीं
है—नमस्कार करनेके योग्य नहीं है ॥ १ ॥ इस द्रव्यलिङ्गकी भावलिङ्ग-

द्रव्यलिंगमिष्टं श्रेयं भावलिंगस्य कारणं ।
तदव्यात्मकृतं स्पष्टं न नेत्रविषयं यतः ॥२॥
मुद्रा मर्वन्त्र मान्या स्थान्तिमुद्री नैव मान्यते ।
राजमुद्राघरोज्यन्तहीनवच्छास्यनिर्णयः ॥३॥

(ए द्रव्यलिंगं च जाण परमत्वं) द्रव्यलिंगे सति भावं विना परमार्थसिद्धिन्द्रियं भवति तेन कारणेन द्रव्यलिंगं परमार्थसिद्धिकरं न भवति मोक्षं न प्रापयति, तेन कारणेन द्रव्यलिंगपूर्वकं भावलिंगं वर्तव्यमिति भावायः । ये तु गृहस्थवेषषारिणोऽपि

का कारण जानना चाहिये क्योंकि भावलिङ्ग आत्मा के भीतर होनेसे स्पष्ट हो नेत्रोंका लिप्ति नहीं है ॥ २ ॥ इस जगह युक्त मान्य होती है, मुद्रा-हीन मनुष्यकी मान्यता नहीं होती । जिस प्रकार राजमुद्रा (चपरास) को धारण करने वाला अत्यन्त हीन व्यक्ति भी लोक में मान्य होता है, उसी तरह द्रव्यलिङ्ग नगदिगम्बर मुद्राको धारण करने वाला साधारण पुरुष भी मान्य होता है, यह शास्त्रका निर्णय है ॥३॥

द्रव्य-लिंग होनेपर भी यदि भाव-लिंग नहीं है तो वह द्रव्य-लिंग परमार्थ को सिद्धि करने वाला नहीं है इसलिये द्रव्य-लिंग पूर्वक भाव-लिंग धारण करना चाहिये । इसके विपरीत जो मृहस्थ वेषके धारक होकर भी ‘हम भावलिंगी हैं क्योंकि दोक्षाके समय हमारे अन्तःकरणमें मुनिवत धारण करनेका भाव था’ ऐसा कहते हैं उन्हें मिथ्यादृष्टि जानना चाहिये, क्योंकि वे विशिष्ट जिन लिंगके विरोधी हैं—उससे द्वेष रखनेवाले हैं । युद्ध को इच्छा करते हुए काथर की तरह स्वर्य नष्ट होते हैं और दूसरों को भी नष्ट करते हैं । मुख्य व्यवहार धर्मके लोपक होनेके कारण वे विशिष्ट पुरुषों द्वारा दण्डनीय हैं । केवल ज्ञान आदि गुणोंका और नरकपात आदि दोषोंका कारण भाव ही है । यदि कोई मुनि द्रव्यलिंग-नगद-मुद्रा को धारण करके राग द्वेष मोह आदि में पड़ता है तो उसका वह भाव संसार का कारण होता है । और यदि द्रव्यलिंग धारण कर मैं ‘तीराग हूँ’—राग रहित हूँ, निर्द्रेष हूँ—द्वेष रहित हूँ एवं निर्मोह हूँ—मोह रहित हूँ ऐसी भावना भाता है तो वह केवल ज्ञान आदि गुणोंको उत्पन्न करता है तथा मुक्तिको प्राप्त होता है । इस अर्थको केवली-जिनेन्द्र जानते हैं ॥ २ ॥

[यहाँ कुन्दकुन्द स्वामीने प्रकट किया है कि भावलिंग ही प्रमुख लिंग है । भावलिंग के बिना मात्र द्रव्य-लिंग परभार्थ नहीं है । जिसके भाव

वयं भावलिगिनो बतीमहे दीक्षायामन्तभवित्वाते मिथ्यादृष्ट्यो ज्ञातव्या । विशिष्ट-जिनलिंगविद्वेषित्वात्, योद्धुमिच्छुङ्कः कातरवत्स्वयं तप्यन्ति, अपरानपि नाशयन्ति, ते मुख्यव्यवहारधर्मलोपकत्वाद्विशिष्टेदंडनीयाः । (भावो कारणभूदो) भावः परमसुवित्कारणभूतः । (गुणदोसाणं) गुणानां केवलज्ञानादीनां, दोषाणां नरक-पातादीनां च कारणभूतो भाव एव । यदि द्रव्यलिंगं धूत्वा रागद्वेषमोहादिषु पतति

लिंग होता है उसके द्रव्य लिंग होता ही है पर जिसके द्रव्य-लिंग है उसके भावलिंग होता भी है और नहीं भी होता है । जिनेन्द्र भगवान् ने मोक्ष-प्राप्ति के लिये दोनों लिंगों को आवश्यक बतलाया है । द्रव्य-लिंग के बिना मात्र भावलिंग से मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता और भाव-लिंगके बिना मात्र द्रव्य-लिंग से आत्माका कल्याण नहीं हो सकता । यहाँ भाव-लिंग पहले होता है । इसका यह अर्थ नहीं ममना चाहिये कि सप्तम गुणस्थानका भाव पहले होता है और वस्त्र-त्याग रूप द्रव्यलिंग पीछे होता है क्योंकि ऐसा मानने से सबस्त्र अवस्थामें सप्तम गुणस्थान मानना पड़ेगा, पर ऐसा मानना यात्मन्तरमन्त नहीं है ; इसलिये प्रथम लालिंग होता है, इसका अर्थ यह है कि संसार की मोह-मत्तामें लीन प्राणी प्रथम उससे विरक्ति का दृढ़ निश्चय करता है—यैं परिग्रह त्याग कर दैमस्त्री दीक्षा धारण कर्त्ता, ऐसा भाव हृदय में उत्पन्न करता है । इस भावना से प्रत्याख्यानादरण कषाय का उदय उत्तरेतर मन्दसे मन्दतर होता जाता है, उसी मन्द मन्दतर अवस्थामें वह केशलोंच तथा वस्त्र-त्याग आदिकी क्रिया करता है और उसके बाद सप्तम गुणस्थान को प्राप्त होता है । तदनन्तर सप्तम गुणस्थान से गिरकर छठवें गुणस्थान में होता है । इसका यह छठवें मात्रवें गुणस्थानका क्रम हजारों बार चलता रहता है । संरक्षित टीकाकार से जो यह लिखा है कि 'द्रव्यलिंग धारण कर भाव-लिंग प्रकट किया जाता है' वह इसी अभिप्राय से लिखा है कि केशलोंच तथा वस्त्र-त्याग आदिकी क्रिया पहले हाती है, सप्तम गुणस्थान का भाव पीछे होता है । करणानुयोग की अपेक्षा भावों की गति का पहिजानना प्रत्येक व्यक्तिके लिये शक्य नहीं है, अतः मुनि या श्रावकके आचारकी व्यवस्था न रणानुयोगके आधार पर ही व्यवकारों ने की है, करणानुयोग के आधार पर नहीं । इस स्थिति में जो अन्य साधु वस्त्र धारण कर गृहस्थ के वेष में रहते हुए भी यह कहते हैं कि हम भाव-लिंग की अपेक्षा मुनि हैं, द्रव्य-लिंगकी अपेक्षा नहीं हुए तो क्या हुआ ? सो उनका वैसा

मुमिलतावा स तत्य भावः संसारकारणं भवति । यदि ब्रह्मलिंगं वृत्ता नीराग-
निदेवनिर्भौहभावनां भावयति तदा केवलज्ञानादीना गुणानुत्पादयति मुक्ति गच्छति :
एतदर्थं (जिन विति) केवलिनो जानन्ति ।

भावविशुद्धिणिमित्तं बाहिरगंथस्स कोरए चाओ ।

बाहिरचाओ विहलो अद्भैस्तरगंथजुत्स्स ॥३॥

भावविशुद्धिनिमित्तं बाह्यग्रन्थस्य क्रियते त्यागः ।

बाह्यत्यागो विकलः अभ्यन्तरग्रन्थयुक्तस्य ॥३॥

(भावविशुद्धिनिमित्तं) नामस्यात्मनो विशुद्धिनिमित्त करण । (बाहिर-
गंथस्स कीरए चाओ) बाह्यग्रन्थस्य क्रियते त्यागः वस्त्रादेमौचिनं विशीषते ।
(बाहिरचाओ विहलो) बाह्यत्यागो विकलाऽन्तर्गडुर्भवति । (अद्भैस्तरगंथजुत्स्स)
अभ्यन्तरग्रन्थयुक्तस्य नमस्यापि वस्त्रादेराकांक्षायुक्तस्येति भावः । तथा
चोक्त—

बाह्यग्रन्थविहीना दरिद्रमनुजाः स्वपापतः सन्ति ।

यः पुनरन्तरसंगत्यागी लोके स दुर्लभः साधुः ॥१॥

भावरहिओ वा सिङ्गइ जह कि तथं चरइ कोडिकोडीओ ।

जन्मतराइ बहुसो लंबियहृत्थो गलियहृत्थो ॥४॥

कहना ठीक नहीं है वे जिन-लिङ्ग के द्वेषी हैं तथा कर्म रूपी शत्रुओं से
युद्धके इच्छुक होते हुए भी कायर मनुष्यों को तरह स्वयं नष्ट होते हैं और
अपने शिथिलाचार से दूसरों को भी नष्ट करते हैं । विवेकी मनुष्य भाव-
लिंगके अनुसार व्यवहार धर्मका अवश्य पालन करते हैं ।]

**गाथार्थ—भावोंकी विशुद्धि के लिये बाह्य परिग्रहका त्याग किया
जाता है । जो अन्तरङ्ग परिग्रह से गहित है उसका बाह्य त्याग निष्फल
है ॥ ३ ॥**

**विशेषार्थ—भाव—आत्माकी विशुद्धता के निमित्त वस्त्र और बाह्य
परिग्रहका त्याग किया जाता है, पर जो बाह्यमें नग्न होकर भी अन्तरङ्ग-
परिग्रह से युक्त है—वस्त्र भाव की आकांक्षा रखता है उसका वह बाह्य-
त्याग निष्फल है । कहा भी है—**

**बाह्य—दरिद्र मनुष्य अपने पापके कारण बाह्य परिग्रह के स्वामी तो
स्वयं है परजो अन्तरङ्ग का त्यागी है, ऐसा साधु लोकमें दुर्लभ है ॥१॥**

गाथार्थ—भावरहित साधु यद्यपि कोटो-कोटी जन्मतक हाथोंको नोचे

भावरहितो—सिद्धिं यद्यनि सम्भवरति कोटकोटी ।

जन्मान्तराणि बहुशः लम्बितहस्तो गलितवस्तः ॥४॥

(भावरहितो न सिद्धाइ) भावरहित आत्मस्वरूपभावनारहितो विषय-कषायभावनासहितस्तप्त्वी अपि न सिद्धधति न सिद्धिं प्राप्नोति । (अह वि तवं चरह कोटिकोटीओ) यद्यपि तपश्चरति करोति कोटकोटी (जन्मान्तराह) जन्मान्तराणि । (बहुसो) बहुशोऽनेककोटीकोटीजन्मान्तराणि । कथंभूतः सन्, (लंबियहस्तो) अघोमुक्तवाहुदद्यः (गलियवस्तो) नम्नमुद्राघरोऽपि सन् ।

परिणाममिम अशुद्धे गंथे मुच्छेह बाहरे य जई ।

बाहिरगंथच्चाओ भावविहृणस्त कि कुणइ ॥५॥

परिणामे अशुद्धे ग्रन्थान् मुञ्चति बाह्यान् च यदि ।

बाह्यग्रन्थत्यागो भावविहीनस्य कि करोति ॥५॥

(परिणाममिम अशुद्धे) परिणामे मनोव्यापारेऽशुद्धेऽपि विषयकषायादिभिम-लिने सति । (गंथे मुच्छेह बाहिरे य जई) ग्रन्थान् मुञ्चति परिग्रहान् वस्त्रादीन् त्यजति यतिजिनलिङ्गधारी मुनिः । (बाहिरगंथच्चाओ) बाह्यग्रन्थत्यागो वस्त्रादित्यजनं । (भावविहृणस्त कि कुणइ) भावविहोनस्यात्मभावनारहितस्य दहि-

लटका कर तथा वस्त्रका परित्याग कर तपश्चरण करता है तो भी सिद्धि-को प्राप्त नहीं होता है ॥ ५ ॥

विशेषार्थ—भाव-आत्म-स्वरूपकी भावना से रहित और विषय कषाय की भावना से सहित साधु तपस्त्री होनेपर भी सिद्धि को प्राप्त नहीं होता है अले ही वह अनेक कोटी कोटी जन्म तक दोनों भुजाओंको नीचेकी और लटका कर तथा नग्न-मुद्राका धारी होकर तपश्चरण भी करता रहा हो ॥४॥

गाथार्थ—भावके अशुद्ध रहते हुए यदि कोई बाह्य परिग्रह का त्याग करता है तो उस भावविहीन मनुष्यका बाह्य परिग्रह त्याग क्या कर देगा ? अथवा कुछ नहीं ॥५॥

विशेषार्थ—परिणाम अथवा मनोव्यापार के अशुद्ध होनेपर भी विषय कषाय आदि से मलिन रहने पर भी यदि कोई जिन-लिङ्ग शारी मुनि वस्त्रादि बाह्य परिग्रहका त्याग करता है तो उसका वह बाह्य त्याग भाव-विहीन अथवा आत्मा की भावना से रहित बहिरात्मा जीवका क्या

रात्मनो जीवस्य कि करोति, न किमपि कर्मसंवरनिजंरालक्षणं कार्यं करोतीति
भावार्थः ।

जाणहि भावं पठमं कि ते लिगेण भावरहिएण ।
पंथिय सिवउरिपंथं जिणउबइहुं पयत्तेण ॥६॥

जानीहि भावं प्रथमं कि ते लिगेन भावरहितेन ।

पथिक ! शिवपुरीपथः जिनोपदिष्टः प्रयत्नेन ॥६॥

(जाणहि भावं पठमं) जानीहि भावमात्मस्वरूपभावानां प्रथमं मूल्यं । (कि ते लिगेण भावरहिएण) कि तत्र लिगेन भावरहितेन कि, न किमपि संवरनिजंराल-दिलक्षणं कार्यं, अपि तु न किमपि कार्यं भवति लिगेन वस्त्रादित्यजनलक्षणेनात्म-स्वरूपभावनारहितेन । (पंथिय) हे पथिक ! मोक्षमार्गमार्गंक ! (सिवउरिपंथ) मोक्षनगरीमार्गः । (जिणउबइहुं) जिनोपदिष्टः । (पयत्तेण) प्रयत्नेन यतः कारणादिति शेषः ।

भावरहिएण सउरिस अणाइकालं अणंतसंसारे ।
गहिउजिज्ञयाहं बहुसो बाहिरनिर्गंथरूपाहं ॥७॥
भावरहितेन सत्पुरुष ! अनादिकालं अनन्तसंसारे ।
गृहीतोजिज्ञताऽन बहुशः बाह्यनिर्गंथरूपाणि ॥७॥

कर सकता है ? अर्थात् कर्मोंके संवर और निर्जरा रूप कुछ भी कार्यं नहीं कर सकता है ॥५॥

गाथार्थ—भावको प्रमुख जान, भाव-रहित लिङ्ग से तुझे क्या प्रयोजन है—उससे तेरा कौनसा कार्यं सिद्ध होनेवाला है ? हे पथिक ! मोक्षनगरका मार्ग जिनेन्द्र भगवान् ने बड़े प्रयत्नसे बताया है ॥६॥

विशेषार्थ—भाव-आत्मस्वरूप की भावना को प्रमुख जानो अथवा उससे पहले भावको पहिचानो, भाव-रहित लिङ्ग से—मात्र द्रव्य-लिङ्गसे तुझे क्या प्रयोजन है ? उससे संवर निर्जरा आदि रूप कुछ भी कार्यं नहीं होता है । हे पथिक ! तू मोक्षमार्ग की खाज कर रहा है । सो मोक्षपुरी का मार्ग जिनेन्द्र भगवान् ने बड़े प्रयत्न से बतलाया है । तू उसी मार्ग पर चल ॥६॥

गाथार्थ—हे सत्पुरुष ! तू ने भाव-रहित होकर अनादि कालसे इस अनन्त संसार में बहुत बार बाह्य निर्गंथ मुद्रा को ग्रहण किया तथा छोड़ा है ॥७॥

(भावनारहितेण सउरिस) भावरहितेन सलुहृष्ट ! भावविवितेनात्मरूप-भावनारहितेन लया । (अणाइकालं अणेतसंसारे) अनादिकालमनन्तसंसारे । (गहिरज्ञियाइं बहुसो) गृहोत्तान्युजिज्ञतानि च बहुशोडनेकवारान् । (बाहिरनिष्ठेष्वरूपाणि) बहिनिष्ठेष्वरूपाणि आत्मरूपभावनारहितानीति भावादः ।

भीषणणरथगईए तिरियगईए कुदेवमणुगहए ।

पत्तोसि तिङ्कुदुखं भावहि जिणभावणा जीव ॥८॥

भीषणणरकगती तिर्यगती कुदेवमनुष्यगती ।

प्राप्तोऽसि तीव्रदुःखं भावय जिनभावनां जीव ॥८॥

(भीषणणरथगईए) भोषणा भयानका या नरकगतिस्तस्यां भीषणनरकगत्यां । (तिरियगईए) तिर्यगत्या (कुदेवमणुगहए) कुत्सितदेवकुत्सितमनुष्यगत्योविषये । (पत्तोसि तिङ्कुदुखं) प्राप्तोऽसि तीव्रदुःखं एकान्तेन दुःखं । (भावहि जिणभावणा जीव) यथा विना त्वं तीव्रं दुःखं प्राप्तश्चतुर्गतिषु तां भावय जिनभावनां जिनसम्यक्त्वभावनां हे जीव ! हे आत्मन ! बहिरात्मत्वं मिथ्यादृष्टित्वं परित्यज्य सम्यग्दृष्टिर्भव त्वं । तेन त्वं चतुर्गतिदुःखं विनाशयति स्तोकेन कालेनात्मभवान्तरेण तीर्थकरो भूत्वा मुक्तिं यास्यसि । तथा चोकर्त—

बिशेषार्थ—हे सत्पुरुष ! आत्मस्वरूप को भावना से रहित होकर तू ने अनादि कालसे इष अनन्त संसार में अनेकों बार बाह्य निर्णन्य मुद्रा को धारण किया तथा छोड़ा पर उससे तेरा कुछ भोक्त्याण नहीं हुआ ॥७॥

गाथार्थ—हे जीव ! जिस जिन भावना के बिना तू भयंकर नरकगतिमें, तिर्यञ्च गति में, कुदेवगति में और कुमानुष गति में तीव्र दुःख को प्राप्त हुआ है, अब उम जिनभावना का चिन्तन कर ॥८॥

बिशेषार्थ—भयानक नरक गति, तिर्यञ्च गति, भवतत्रिक आदि कुत्सित देवमति तथा कुत्सित मनुष्यमति में तू ने एकान्त रूप से तीव्र दुःख, जिस जिन-भावना—जिन सम्यक्त्व भावना ने बिना प्राप्त किये हैं, हे जीव ! हे आत्मन ! अब तो उस जिनभावना का चिन्तन कर अथर्ति बहिरात्मा-मिथ्यादृष्टि अवस्था का परित्याग कर, सम्यग्दृष्टि हो जा । उससे तेरे चतुर्गति के दुःख थोड़े ही समय में नष्ट हो जावेंगे और तू थोड़े ही भावों के बाद तीर्थकर होकर मोक्षको प्राप्त कर लेगा । जैसा कहा है—

एकापि समर्थं जिनभवितदुर्गंति निवारयितुं ।

पुण्यानि च पूरयितुं दातुं मृत्तिश्चिं कृतिनः ॥१॥

कासी जिनभावना ? लोकप्रसिद्ध दोषकमिदम्—

जिण पुज्जहि जिणवरु थुणहि जिणहे म स्वहि आण ।

जे जिणधमिसु रक्तमण ते जाणिज्जइ जाण ॥

एककहि फुल्हि माटिदेह जु मुरनररिद्धी । ॥२॥

एही करह कुसाटिवपु भोलिम जिणवरतणी ॥२॥

अन्यच्च—

‘सुखयतु सुखभूमिः कामिनं कामिनीव

सुतमिव जननी मां शुद्धशीला भुनक्तु ।

कुलमिव गुणभूषा कन्यका संपुनीता-

जिनपतिपदपद्मप्रेक्षिणी दृष्टिलक्ष्मीः ॥३॥

एकापि समर्थं—यह एक ही जिन-भवित, दुर्गति को दूर करने, पुण्य को पूर्ण करने तथा कुशल मनुष्यको मोक्ष-लक्ष्मी प्रदान करने के लिये समर्थ है ॥३॥

प्रश्न—वह जिन-भावना क्या है ?

उत्तर—इस लोक-प्रसिद्ध दोहा में जिनभावना का स्वरूप स्पष्ट है ।

जिणपुज्जहि—जिनेन्द्र भगवानुकी पूजा करो, जिनेन्द्र देव की स्तुति करो, जिनेन्द्र देवकी आज्ञा का खण्डन न करो । जो जिन धर्मके धारकोंमें रक्तवित्त है—सह-धर्मी जनों से बात्सल्य-भाव रखते हैं वे ही जानो हैं, ऐसा जान ।

एककहि—जो भगवानुको एक फूल छढ़ाता है उसे समवसरणमें अनेक फूल प्राप्त होते हैं अर्थात् वह पुष्पवृष्टि नामक प्रातिहार्य को प्राप्त होता है । वह जीव ज्यों ज्यों जिनेन्द्र भगवान् की पूजा करता है त्यों त्यों उसके पाप नष्ट होते जाते हैं ।

और भी कहा है—

सुखयतु—जिस प्रकार वैष्णविक सुखकी भूमि-स्वरूप स्त्री अपने पति को सुखो करती है उसी प्रकार आत्म-जन्य सुखकी भूमि, जिनेन्द्र देवके चरण कपलों का अदलोकन करने वाली सम्यग्दर्शन रूपी लक्ष्मी मुझे सुखी कौ । जिस प्रकार शुद्धशीला-पातिव्रत्य धर्मसे युक्त माता पुत्र की

एवमध्यं जात्वा ये जिनपूजनस्तपनस्तवननवजीर्णचैत्यचैत्यालयोदारणयात्रा-
प्रतिष्ठादिकं महापुण्यं^१ कर्मविध्वंसकं तोर्धकरनामकर्मदायकं विशिष्टं निदानरहितं
प्रभावनाङ्गुः गृहस्थाः सन्तोऽपि निवेशन्ति ते पापात्मनो मिथ्यादृष्टयो नरकादि-
दुःखं चिरकालमनुभवन्ति अनन्तवर्यसारिणो भवन्तीति भावार्थः ।

सत्तसु नरयावासे दारुणभीसाइं असहणीयाइं ।

भुत्ताइं सुइरकालं दुःखाइं निरंतरं सहियाइं ॥९॥

सन्तसुनरकवासे दारुणभीष्माणि अग्रहनीयानि ।

भुत्तानि सुचिरकालं दुःखानि गिरता रब्बहिता ॥१०॥

(सत्तसुनरयावासे) सप्तानां सुनरकाणा महानरकाणा वासे निवासे सति
हे जीव ! (दारुणभीसाइं) दारुणानि तीव्राणि, भीष्माणि भयानकानि । (अस-
हणीयाइं) असहणीयानि असहणानि सोदुमशक्यानि । (भुत्ताइं) भुत्तानि
अनुभूतानि । (सुइरकाल) सुल्जु अनीव चिरकालं दीर्घकालं एकसागरमारम्भं

रक्षा करती है उसी प्रकार शुद्धशीला निरतिचार शीलव्रतों से युक्त
सम्यग्दर्शन रूपी लक्ष्मी मेरी रक्षा करे और जिस प्रकार गुणभूषा-गुण-
रूपी आभूषणों से युक्त कन्या कुलको पवित्र करती है उसी प्रकार मूल-
गुण अथवा प्रशम संवेद आदि गुणोंसे युक्त सम्यग्दर्शनरूपी लक्ष्मी मुझे
पवित्र करो ॥१॥

इस तरह अर्थ को जानकर जो जिन पूजन, जिनाभिषेक, जिन-
स्तवन, नवोन अथवा जीर्ण भूति और मन्दिरों का निर्माण अथवा जीर्णों-
द्वार, यात्रा तथा प्रतिष्ठा आदि महान् पुण्य कर्मका और कर्मोंको नष्ट
करने वाले, तीर्थकर नाम कर्म के दायक, निदान रहित विशिष्ट प्रभावना
अङ्गका गृहस्थ होते हुए भी निषेध करते हैं, वे पापी मिथ्यादृष्टि चिर
काल तक नरकादि दुःख को भोगते हैं और अनन्त संसारी होते हैं अर्थात्
अनन्त कालतक संसारमें भ्रमण करते रहते हैं ॥१॥

गाथार्थ—हे स्वहित ! हे आत्म-हित के वाञ्छक भव्य-पुरुष ! तूने
सात नरकोंके निवास में अत्यन्त कठोर भयंकर असहनीय दुःख चिरकाल
तक निरन्तर भोगे हैं ॥१॥

क्षिणेषार्थ—हे जीव ! तूने सात महानरकोंके निवासमें तीव्र भयानक,
असहनीय दुःख दोषकाल तक अर्थात् उत्कृष्ट बायुकी अपेक्षा एकसागरसे

१. महापुण्यं कर्म म० ।

अथस्तिक्षेपत्वाग रोगमपर्यन्तमृत्कुण्डायत्कं । (दुःखादि निरन्तरं) दुःखान्यसातानि कष्टानि भुक्तानि निरन्तरमविच्छिन्नं । (अहिय) हे स्वहित ! हे आत्महित ! कि त्वया आत्मनो हितं कृतमित्याक्षेपः ।

खण्णुत्तरिणवालण्वेयणविच्छेयणागिरोहं च ।

पत्तोसि भावरहिओ तिर्यगद्वै चिरं कालं ॥१०॥

खननोत्तापमज्वालनव्यजनविच्छेदनानिरोधं च ।

प्राप्तोऽसि भावरहितः तिर्यगनौ चिरं कालम् ॥१०॥

(खण्ण) पृथिवीकायस्त्वं यदा जातस्तदा खननं कुदालादिनाऽवदारणदुःखं त्वया लोहं । (उत्तावण) अकायस्त्वं यदाभूतस्तदाऽम्युपर्युत्तापनदुःखं त्वया क्षमितं । (वालण) अनिकायिको जीवो यदा त्वं जातस्तदा ज्वालनदुःखं त्वया नुभूतं । (वेयण) वायुकायिको जीवो यदा त्वं जातस्तदा व्यज्ञनादिनावीजनदुःखं त्वया तितिथितं । (विच्छेयण) हे जीव ! वनस्पतिकायिको जीवो यदा त्वं उत्तरमनस्तदा विच्छेदना कुठारादिना एकतर्तनं दुःखं त्वया मृषितं । (णिरोहं च) यदुःखशुक्लिनवृश्चकगोमिभ्रमरमक्षिकावलीवदेभिष्यादिकस्त्वं समुत्पन्नस्तदा निरोधादिदुःखं त्वया भुक्तं । इति स्थावरव्रसदुःखानि अनुकरण सूचितानि भवन्तीति क्षमतव्यं । (पत्तोसि भावरहिओ) प्राप्तोऽसि भावरहितो जिनभवितभ्रष्ट आत्म-

लेकर तेतोस मागर तक निरन्तर-लगातार भोगे हैं । हे स्वहित ! हे आत्महितके अभिलाषो प्राणो ! तूने अपना हित क्या किया ? ॥१०॥

गाथार्थ—हे जीव ! तू भाव--रहित होकर तिर्यक्त्वं गतिमें चिरकाल तक बांदा जाना, तपाथा जाना, जलाया जाना, पहुँचाका झला जाना, छेदा जाना तथा रोका जाना आदिके दुःखको प्राप्त हुआ है ॥१०॥

विशेषार्थ—हे जीव ! जब तू पृथिवी-कायिक हुआ तब तूने कुदाली आदिके द्वारा लोदे जानेका दुःख सहा । जब जलकायिक हुआ तब अग्निके कपर तपाथे जानेका दुःख सहा । जब अग्निकायिक हुआ तब जलाये जानेका दुःख भोगा । जब वायुकायिक हुआ तब पंखा आदिके द्वारा प्रेरित होनेका दुःख सहा । जब वनस्पति कायिक जीव हुआ तब कुठार आदिके द्वारा छेदे जानेका दुःख सहन किया और जब शंख, शुक्ति, विच्छु, गोभी, भ्रमर, मक्खी, बैल तथा भैंसा आदिक व्रस में उत्पन्न हुआ तब निरोध-रोका जाना आदिका दुःख तूने भोगा है । इस प्रकार जिन-

भावनाद्वारीकृतश्च । (तिरियमईए चिरं कालं) तिर्यगतौ दीर्घं कालं असंख्यात्-
बल्यं यन्तं बनस्पति-कायपेक्षयान-न्तकालं चेत्याममानुसारेण ज्ञातव्यम् ।

आगन्तुक माणसियं सहजं सारीरियं च चत्तारि ।

दुःखाइ नण्यजन्मे पत्तोसि अणंतयं कालं ॥११॥

आगन्तुकं मानसिकं सहजं शारीरिकं च चत्तारि ।

दुःखानं मनुजजन्मनि प्राप्तोसि अनन्तकं कालम् ॥११॥

(आगन्तुक) आगन्तुकं दुःखं विद्युत्प्राप्तादिकं । (माणसियं) मानसिकदुःखं
स्त्रीकटाक्षादिताङ्गे सति तदप्राप्तौ भवति । तथा चोक्तं—

संसारे नरकादिषु स्मृतिपथेऽध्युद्गेकारीण्यलं,

दुःखानि प्रतिसेवितानि भवता तांयवमेवासताम् ।

ततावल्परमि स्मरस्मित्-सितापाञ्जीरनङ्गायुषे—

बीमाना हिमदग्धमुरुषत्स्वद्यत्प्राप्तवाज्ञिर्वनः ॥१॥

(रहन्) व्याख्यादिदेवतानं दुःखं (रूपेरियं) शैलभेदादिकं दुःखं ।

भक्ति से भ्रष्ट होकर अर्थात् आत्मा की भावना से दूर रहकर तूने तिर्यक्च
गतिमें दीर्घं काल तक—असंख्यात् वर्षों तक अथवा बनस्पति-कायिक
की अपेक्षा अनन्त कालतक दुःख प्राप्त किये हैं ॥१०॥

गाथार्थ—आगन्तुक, मानसिक, सहज और शारीरिक इस तरह चार
प्रकारके दुःख तूने मनुष्य जन्म में अनन्त काल तक प्राप्त किये हैं ॥११॥

विशेषार्थ—विजलो—वज्र आदिके गिरने से जो दुःख प्राप्त होता है
उसे बागन्तुक दुःख कहते हैं । स्त्री के कटाक्ष आदिसे ताङ्गन होने तथा
उसकी प्राप्ति न होनेपर जो दुःख होता है वह मानसिक दुःख है । जैसा
कि कहा गया है—

संसारे—संसार में, नरकादि गतियोंके काल में स्मरण आते ही
अत्यन्त उद्गेग करने वाले जो दुःख आपने सेवन किये हैं वे इसी तरह रहें
उनका इस समय स्मरण नहीं है किन्तु निर्धन अवस्था में स्त्रियोंके कामसे
खिले सफेद कटाक्ष रूपी कामके बाणों से तुषार से जलकर मूर्छित सड़े
वृक्षकी भाँति जो दुःख प्राप्त किया है उसका स्मरण तो है ।

बीमानी की वेदनासे जो दुःख उत्पन्न होता है वह सहज दुःख है और
छेदन भेदन आदिका दुःख शारीरिक दुःख है । यहाँ ‘चकार’ शब्द उक्त

चकार उक्तसमुच्चयार्थस्तेन सर्वनोक्तमिष्यावचनश्वर्णे यद्दुःखं भवति तत्
केनापि सोऽु न सकते । तदुक्तं रुद्गेन महाकविमा—

शल्यमपि रुद्गेन्तः सोऽु शक्येत् हालाहालविष्वं ।

घोरैर्न पुनरकारणकुपितस्तालीकदुर्बचनं ॥१॥

(चकार) एतानि चत्वारि । (दुःखाइ) दुःखानि । (मणुयजम्भे)
मनुजजन्मनि मनुष्यभवे । (पत्तोसि) प्राप्तोऽसि हे जीव ! र्व ग्राप्तवानसि
भवसि । (अण्टयं कालं) अनन्तकं कुत्सितमनन्तं कालं समयमिति ।

सुरनिलएसु सुरच्छरविओयकाले य भाषसं तिष्वं ।

संपत्तोसि महाजस दुःखं सुहभावणारहिओ ॥१२॥

सुरनिलयेषु सुराप्यरावियोगकाले च भाषसं तीक्ष्म् ।

संप्राप्तोऽसि महायशः ! दुःखं शुभभावनारहितः ॥१२॥

(सुरनिलएसु) स्वगेषु । (सुरच्छरविओयकाले) देवीवियोगावसरे (य)
चकारात्वं देवी जाता सहा देवावियोगकाले । (भाषसं तिष्वं) इन्द्रावभूते धृष्टका

समुच्चयार्थक है अर्थात् कहने से जो शेष रह गया है उसका संग्रह करने
वाला है, इसलिये दुष्ट मनुष्योंके द्वारा कहे हुए मिथ्यावचन सुनने से जो
दुःख होता है वह किसीके द्वारा नहीं सहा जा सकता । जैसा कि महाकवि
रुद्गेन ने कहा है—

शल्यमपि—धैर्यशाली मनुष्योंके द्वारा भीतर गढ़ी हुई विषलिप्त
शल्य भी-बाणकी अनो भी सही जा सकती है परन्तु अकारण कुद्दुष्ट
मनुष्योंका मिथ्या दुर्बचन नहीं सहा जा सकता । इन आगन्तुक आदि
चारों प्रकार के दुःखों को हे जीव ! तू मनुष्य भवमें अनन्त काल तक
प्राप्त हुआ है । यही नाना भवोंकी अपेक्षा अनन्त काल कहा है, एक भव
को अपेक्षा नहीं । अनन्तकं शब्दमें जो 'क' प्रत्यय हुआ है वह कुत्सित
अर्थमें हुआ है ॥११॥

गायार्थ—हे महायशके धारक जीव ! तूने शुभ-भावनासे रहित
होकर स्वगर्भमें देव अथवा देवाङ्गनाओंके वियोगके समय अथवा अन्य
कालमें तीव्र मानसिक दुःख प्राप्त किया है ॥१२॥

विशेषार्थ—स्वगर्भमें यदि देव हुआ तो देवीके वियोगके समय और
देवी हुआ तो देवके वियोगके समय है जीव ! तूने तीव्र मानसिक दुःख

मानसं मनसि भवं दुःखं त्वं प्राप्तः, तददुःखं तीव्रमत्युत्कृष्टं, हा ! मया मनुष्यभवे प्राप्तेऽपि निर्मलं चारित्रं न पालितं अनेन तु निरतिचारं चारित्रं प्रतिपालितं तेनार्थं मम किल्विषादेशादेशं ददाति स तु दुरतिक्रमः कथं मया नानुष्टीयते इत्यादि मानसं तीव्रं दुःखं हे जीव ! त्वं (संपत्तोऽसि) सम्यकप्रकारेण प्राप्तोऽसि अनुभूत-वानमि । (महाज्ञस) महत् ब्रैलोक्यव्याप्तवशीलं यशः पृष्ठगुणानुकीर्तनं यस्य म भवति महायशः तस्य सम्बोधनं क्रियते कुन्दकुन्दाचार्येण हे महायशः । (दुखं सुहभावणारहितो) इदंगिर्वं दुःखं कस्मात्प्राप्तमित्याह—सुहभावणारहितो-शुभस्य विशिष्टपृष्ठस्य भावनारहितः । कासो शुभभावना ? दर्शनविशुद्धयादयः छोड़ा-भावना : शुभास्तीर्थकरनामकर्मपिजनहेतुत्वात् । अलिशयेन शुभाऽत्र जिनसम्यकत्व-भावना, मिथ्यात्वभावना त्वतोव पापीयसी । तथा चोकतं समन्तभद्रेण महा-कविना—

प्राप्त किया है । इसी प्रकार यदि तू सामान्य देव हुआ तो इन्द्रकी विभूति देखकर तूने तीव्र मानसिक दुःख प्राप्त किया है । उस समय तू विचार करता है कि हाय मनुष्य भव प्राप्त होनेपर भी मैंने निर्मल चारित्र का पालन नहीं किया था और इस इन्द्रने निर्मल चारित्रका पालन किया इसीलिये यह इस समय मुझे किल्विष आदि हीन देवोंका आदेश दे रहा है । इसका यह आदेश अनुलङ्घनीय है, मैं इसका किस तरह पालन करूँ इत्यादि तीव्र मानसिक दुःखको हे जीव ! तूने अच्छी तरह प्राप्त किया है—भोगा है । यहाँ थांकुन्दकुन्दाचार्य इस जीवको 'महायश' पदसे सम्बोधन करते हुए उसके स्वरूप की स्मृति दिलाते हैं—हे जीव ! तू तो महायश का धारक है, तेरा यश तीनलोकमें फैलने की क्षमता रखता है, तू तीर्थकर हो सकता है और तब तेरे पृष्ठगुणोंका वर्णन तीनों लोकों में व्याप्त हो सकता है, फिर शुभ भावना को छोड़कर कहाँ भटक रहा है ? यह सब दुःख तू शुभ भावनासे रहित होकर हो उठा रहा है । शुभका अर्थ विशिष्ट पृष्ठ है, तू उसकी भावनासे रहित हो रहा है । यह अर्थ 'शुभस्य भावना' इस षष्ठी तत्पुरुष समासको दृष्टिमें रखकर किया गया है । दर्शन विशुद्ध आदि सौलह भावनाएँ शुभ भावनाएँ हैं कि वे शुभ-तीर्थकर नामकर्म के वन्धुकी कारण हैं । इन सब भावनाओं में जिन सम्यकत्व भावना—दर्शन-विशुद्ध भावना अत्यन्त शुभ है और मिथ्यात्व भावना अत्यन्त पाप रूप है—अशुभ है । जैसा कि महाकवि समन्तभद्र ने कहा है—

न सम्यक्त्वस्य मं किञ्चित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि ।
श्रेयोऽश्रेयस्त्र भिश्यात्वसर्वं नान्यत्तत्त्वताम् ॥१॥

सम्यक्त्वभावनया एक्याग्नि तीर्थकरनामकर्म बद्धते पञ्चदशापरभावना विनापि । तथ्य सम्यक्त्वस्य शुद्धना नर्मजलशुततैर्लिङ्गुवर्जनेन भक्ति । अन्येनाप्युपासकाध्ययनादिगास्त्रेणोक्तेनाचारेण विस्तरेण जातव्या । तथा चोक्तं शिवकोटि-नाचार्येण—

चर्मपात्रमतं तोयं धूतं तैलं प्रवर्जयेत् । ॥१२॥ १२॥
१नवनीतं प्रसूनादिशाकं नाद्यात्कदाचन ॥१॥

कंदप्पमाह्याओ पञ्च वि असुहादिभावणार्द्ध य ।
भाऊण दृष्ट्वलिंगो प्रहीणदेवो विवे जाओ ॥१३॥
कान्दर्पीत्यादयः पञ्च अपि अशुभादिभावनादत्त्व ।
भावयित्वा दृष्ट्वलिङ्गो प्रहीणदेवः दिवि जातः ॥१३॥

(कंदप्पमाह्याओ) कान्दर्पी इत्येवमादिकाः । (पञ्च वि असुहादिभावणार्द्ध य) पञ्चापि अशुभशब्दादयो भावनादत्त्व कान्दर्पीप्रभृतयः पञ्चाशुभभावना इत्यर्थः ।

न सम्यक्त्व—तीनों काल और तीनों लोकोंमें जीवोंका सम्यक्त्वके समान कल्याण कारक और भिश्यात्वके समान अकल्याण-कारक दूसरा नहीं है ।

शेष पन्द्रह भावनाओंके न होनेपर भी एक सम्यक्त्व भावनासे ही तीर्थकर नाम कर्मका बन्ध हो जाता है । उस सम्यक्त्वकी शुद्धता चमड़ेके पात्रमें रखे हुए जल, धू, तैल तथा हींगके छोड़नेसे होती है, साथ ही उपासकाध्ययन आदि शास्त्रोंमें कहे गये अन्य विस्तृत आचारसे भी होती है ऐसा जानना चाहिये । जैसा कि शिवकोटि आचार्यने कहा है—

चर्मपात्र—चमड़ेके पात्रमें रखा हुआ पानी, धूत तथा तैलका त्याग करना चाहिये । नवनीत तथा फूल आदि का शाक कभी नहीं खाना चाहिये ॥१-१२॥

गाथार्थ—कान्दर्पी आदि पाँचों अशुभ भावनाओंका चिन्तवन कर तू दृष्ट्वलिङ्गो रहा और मरकर स्वर्गमें अत्यन्त हीन देव हुआ ॥१३॥

विशेषार्थ—कान्दर्पी आदि पाँच अशुभ भावनाएँ हैं इनका चिन्तवन

(भाऊण वर्षलिङ्गी) तास्त्वं भावमित्या हृष्णिंगः सन् । (पहोणदेवो दिके जीवो) प्रहोणदेवो-हीनदेवः प्रकर्षेण नीचदेवः किलिवषादिको देवः दिवेस्वर्गे हे जीव ! त्वंजात उत्पन्नः । कास्ताः पंचाशुभ्रभावना इत्याह-कान्दर्पी, कैलिवषी, आसुरी, सामोही, आभियोगिकी वेति एतासां नामानुसारेणार्थेविचलनीयः । उक्तं च शुभमन्त्रेण योगिना—

कान्दर्पीं कैलिवषीं चैव भावना आभियोगिकी ।

५.३८० च.पि सम्योहीं आवश्य देवतयो च सा ॥ १ ॥

पासत्वंभावणाऽओ अणाह्वकालं अणेयवाराओ ।

भाऊण दुहं पत्तो कुभावणाभावबोएहि ॥ १४ ॥

पाश्वर्वस्थभावना अनादिकालं अनेकवारान् ।

भावमित्या दुःखं प्राप्तः कुभावणाभावबोजे ॥ १४ ॥

(पासत्वंभावणाऽओ) पाश्वस्थभावनाः । (अणाह्वकालं अणेयवाराओ) अनादिकालमादिरहितकालपर्यन्तं अनेकवाराननन्तवारान् । (भाऊण दुहं पत्तो) भावमित्या दुःखं हे जीव ! त्वं प्राप्तवान् । (कुभावणाभावबोएहि) कुभावनालां

करके हे जीव ! तू द्रव्य-लिङ्गी रहा तथा अन्तमें मरकर स्वर्गमें किलिवषक अनादि जातिका अत्यन्त नीच देव हुआ ।

प्रश्न—ये पाँच अशुभ भावनाएँ कौन हैं ?

उत्तर—१ कान्दर्पी, २ कैलिवषी, ३ आसुरी, ४ सामोही और ५ आभि-योगिकी । इनका अर्थ नामके अनुसार चिन्तन करना चाहिये । शुभमन्त्र मुनिने भी कहा है—

कान्दर्पी—कान्दर्पी, कैलिवषी, आभियोगिकी, दानदो और सामोही ये पाँच प्रकार की भावनाएँ छोड़ने योग्य हैं ॥ १-१३ ॥

गाथार्थ—हे जीव ! तू अनादि कालसे अनेक बार पाश्वस्थ भावनाओंका चिन्तन कर खोटी भावनाओंके भावरूप बीजोंके द्वारा दुःखको प्राप्त हुआ है ॥ १४ ॥

बिजेवार्थ—हे जीव ! तूने अनादिकालसे अनन्तोंबार पाश्वस्थ भावनाओंकी भावना करके कुभावनाओंखोटी भावनाओंके परिणामरूपी बीजोंके द्वारा दुःख प्राप्त किया है ।

भावः परिणामास्त एव वीजान्यकुरोत्पत्तिहेतवस्तः कुभावनाभाववीजैः । कास्ताः पाश्वस्थपञ्चभावनाः ? यो वसतिषु प्रतिबद्ध उपकरणोपजीवी धवणानां पाश्वं तिष्ठति स पाश्वस्थः । क्लोधादिकषायकलुषितात्मा वतगुणशीलैः परिहीनः संघस्था-विनयकारी कुशील उच्यते । वैद्यकमंत्रज्योतिषोपजीवी राजादिसेवकः संसक्तः कथ्यते । जिनवचनानभिज्ञो मुक्ततचारित्रभारो ज्ञानवरणभ्रष्टः करणालसोऽवसन्न आभाव्यते । त्यवतगुरुकुल एकाकित्वेन स्वच्छन्दविहारी जिनवचनदूषको मृग-चारित्रः परिलिप्यते स्वच्छन्दं इति वा, एते पञ्चध्वणा जिनधर्माङ्गुष्ठा न वन्दनीयाः । तेषां कार्यवक्षात्^१ किमपि न देयं जिनधर्मोपकारार्थमिति ।

प्रश्न—ये पाश्वस्थ आदि पाँच भावनाएँ कीन हैं—

उत्तर—जो मुनि वसतिकाओं में नियमबद्ध निवास करता है तथा यन्त्र मन्त्र आदि उपकरणों से उपजीविका-आहारादि प्राप्त करता हुआ साधुओंके पाश्व-समीप में स्थित रहता है, वह पाश्वस्थ है । क्लोध आदि कषायोंसे जिसकी आत्मा कलुषित है, जो वत गुण और शीलसे रहित है तथा मुनिसंघकी अविनय करता है—अहंकार-वश उद्धण्ड आचरण करता है, वह कुशील कहलाता है । जो वैद्यक मन्त्र और उपोतिष द्वारा उपजीविका करता है तथा राजा आदिको सेवा करता है—अधिकतर उनके संपर्कमें रहता है वह संसक्त कहलाता है । जो जिन-वचन-जैन शास्त्रों से अनभिज्ञ है, चारित्रका भार छोड़ करके जो जान और चारित्रसे भ्रष्ट हो चुका है तथा क्रियाओंके करनेमें आलसी रहता है वह अवसन्न कहा जाता है और जो गुरुकुलको छोड़कर अकेला विहार करता है तथा जिनेन्द्र देवके वचनोंमें दोष लगाता है वह मृगचारित्र अथवा स्वच्छन्द कहलाता है । ये पाँच प्रकारके मुनि जिनधर्म से बाह्य हैं, अतः वन्दना करनेके योग्य नहीं हैं । जिनधर्मके उपकारके लिये इन्हें कार्यवश कुछ भी नहीं देना चाहिये क्योंकि भ्रष्ट मुनियोंको आहार आदि देने तथा उनकी भक्ति बन्दना आदि करनेसे जिनधर्मका अपवाद होता है । इन पाँच प्रकारके मुनियोंसे सम्बन्ध रखनेवाली पाश्वनाथ आदि पाँच भावनाएँ हैं । इस जीवने अनादि कालसे अनन्तों बार इनकी भावना की है तथा उसके फलस्वरूप बहुत दुःख प्राप्त किया है ॥१४॥

१. किमपि देयं म० घ० ।

देवाण गुणविहूई इङ्गी माहृष्य बहुविहं दद्धु ।

होक्षण हीणदेवो पत्तो बहुमाणसं दुकर्खं ॥१५॥

देवानां गुणविभूति ऋद्धि माहात्म्यं बहुविधं दृष्टवा ।

भूत्वा हीनदेवः प्राप्तो बहुमानसं दुःखस् ॥१५॥

(देवाण गुणविहूई) देवानां गुणान्—

अणिमा महिमा लघिमा गरिमा अन्तर्धानिकामधूपित्वं ।

प्राप्तिकाम्यवशित्वेशित्वाप्रतिहततत्त्वमिति वैक्रियिकाः ॥१॥

इत्यार्थोक्तलक्षणान् गुणान् दृष्टवा (इङ्गी) ऋद्धि इन्द्राणीप्रमुखपरिवारं ।

चक्रत् च—

शची पद्मा शिवा श्यामा कालिन्दी सुलसाज्जुका ।

भग्न्वास्या दक्षिणेन्द्राणां विष्वेषामयि कीर्तिताः ॥१॥

उदीचो श्रीमती रामा सुषीमा च प्रभावती ।

जयसेना सुषेणा च सुमित्रा च वसुन्धरा ॥२॥

गायार्थ—हे जीव ! तूने हीन देव होकर दूसरे देवोंकी गुण विभूति, ऋद्धि तथा बहुत प्रकारका माहात्म्य देखकर बहुत मानसिक दुख प्राप्त किया है ॥१५॥

बिशेषार्थ—देवोंमें अनेक गुण होते हैं जैसे—

अणिमा—अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, अन्तर्धानि, कामरूपित्व, प्राप्तिकाम्य, वशित्व, ईशित्व और अप्रतिहतत्व ये देवोंके विक्रिया जन्य गुण हैं। इनके सिवाय देवों का जो इन्द्राणी आदिका प्रमुख परिवार है वह सब ऋद्धि कहलाता है। जैसा कि कहा गया है।

शची—स्वर्गोंके इन्द्र दक्षिणेन्द्र तथा उत्तरेन्द्रके भेदोंमें विभाजित हैं। दक्षिणेन्द्रों की प्रमुख देवियाँ इस प्रकार हैं—

शची पद्मा—शची, पद्मा, शिवा, श्यामा, कालिन्दी, सुलसा, अज्जुका और भानु ।

उत्तरेन्द्रोंकी प्रमुख देवाङ्गनाएँ इस प्रकार हैं—

ओ उदीचो—श्रीमती, रामा, सुषीमा, प्रभावती, जयसेना, सुषेणा, सुमित्रा और वसुन्धरा ।

षोडशाये सहस्राणि विक्रियोत्त्वाः पृथक्च ताः ।
 द्विगुणा द्विगुणास्तस्मात्परत्र समसात्मना ॥३॥
 १६०००-३२०००-६४०००-१२८०००
 २५६०००-५१२०००-१०२४००० ।
 क्रमादद्वार्तिशादृष्टं हे सहस्राः पञ्चशत्यय ।
 अष्टधिरिच त्रिष्ठिष्ठ तत्त्वानेषु वल्लभाः ॥४॥

सप्तस्थानानि कानि ? सौधर्मेशानो १, सानलकुमारमाहेन्द्री २, ब्रह्मद्वीपतरी ३, लान्तवकाषिष्ठी, ४, शुक्रमहाशुक्री ५, शतारसहस्रारो ६, आनतप्राणतारणा-अच्युतारणाराम, स्वर्गी एव इवानिति इत्याद्यान्तानि, इत्यतिं देव्यादिकृद्धि दृष्ट्वा । (माहस्म बहुविर्ह दद्यु) इन्द्राचाचीर्थायुरपि प्रियते बल्पायुषोऽप्यायुर्वै त्रुट्यते इत्यादि माहात्म्यं बहुविर्धं दृष्ट्वा । (होङ्कण हीणदेवो) हीनदेवो भूत्वा । (पतो बहुमाणसं दुःखं) प्राप्तोऽसि बहुतरं प्रचूरं मनसि भवं मानसं दुःखं हे जीव ! त्वमिति कारणात् जिनभक्तिं कुर्विति भावार्थः ।

षोडशाये—प्रथम स्वर्ग में सोलह हजार देवियोंका परिवार है । विक्रियासे अनेक रूप बनाने वाली देवाङ्गनाएँ इनसे पृथक् हैं । आगे आगे के स्वर्गोंमें इनकी संख्या क्रमसे दूनी दूनी होती जाती है, जो इस प्रकार है १६०००, ३२०००, ६४०००, १२८०००, २५६०००, ५१२०००, १०२४००० क्रमाद् नीचे लिखे सात स्थानों में इन्द्रों के क्रमसे बत्तीस हजार, आठहजार, दोहजार, पाँचसौ, छाइसौ, सवासौ और तिरेशठ, बल्लभिकार्यानी-अत्यन्त प्रिय देवाङ्गनाएँ होती हैं । सप्त स्थान इस प्रकार हैं—

१ सौधर्मेशान, २ सानलकुमार माहेन्द्र, ३ ब्रह्मद्वीपतर, ४ लान्तवकाषिष्ठ, ५ शुक्रमहाशुक्र, ६ शतारसहस्रार और ७ आनत प्राणत आरण अच्युत इन चार स्वर्गोंका एक स्थान ।

देवोंका माहात्म्य भी नाना प्रकारका होता है जैसे इन्द्रके कहनेसे दीर्घायु भनुष्य भी मर जाता है और अल्प आयु वालेकी भी आयु जल्दी समाप्त नहीं होती । हे जीव ! अन्य हीन देव होकर देवोंकी मुण रूप विभूति, कृद्धि तथा बहुत प्रकारका माहात्म्य देख कर तूने बहुत मानसिक दुःख प्राप्त किया है इसलिये अब तू जिन-भक्ति कर, जिससे हीन देवकी अवस्था पुनः प्राप्त न हो ॥५॥

चतुर्विद्विकहासतो भयमतो असुहभावपयदत्थो ।
होङ्ग कुदेवतं पत्तोसि अणेकवाराओ ॥१६॥

चतुर्विद्विकथामत्तः मदमत्तः अशुभभावप्रकटार्थः ।

भूत्वा कुदेवतं प्राप्तोऽसि अनेकवारान् ॥१६॥

(चतुर्विद्विकहासतो) चतुर्विद्विकथामत्तः आहारकथा—स्त्रीकथा—राज-
कथा—चौरकथालक्षणामु विकथामु चतुर्विद्वासत्तः । (भयमत्तो) बड्डमदैर्मत्तो
गवितः । (असुहभावपयदत्थो) अशुभभावः पापारिणामः प्रकटः स्फुटीभूतोऽर्थः
प्रयोजनं यस्य स अशुभभावप्रकटार्थः । (होङ्ग कुदेवतं) अशुभभावप्रकटार्थो
भूत्वा कुदेवतं कुरिसतदेवतं । (पत्तोसि) प्राप्तोऽसि । हे जीव ! असुरादिकुदेव-
गतीरनेकवारान् प्राप्तोऽसि ।

असुईवाहत्थेहि य कलिमलबहुलाहि गवभवसहीहि ।

वसिओसि चिरं कालं अपेपञ्चगोज मुणिप्रवर ॥१७॥

अशुचिवीभत्पासु कलिमलबहुलासु गर्भवसतिषु ।

उषितोसि चिरं कालं अनेकजननीनां मुनिप्रवर ॥१७॥

(असुईवोहत्थेहि य) अशुचिषु अपविक्रासु वीभत्सासु, च विस्तकासु ।
(कलिमलबहुलाहि) पापवहुलासु । (गवभवसहीहि) गर्भगृहेषु उदरवसतिषु ।

गाथार्थ—हे जीव ! चार विकथाओं में आसक्त होकर, मदसे मत्त
होकर तथा अशुभ भावको ही प्रयोजन बनाकर तू अनेक बार कुदेव-नीच
देवकी पर्यायको प्राप्त हुआ ॥१६॥

विशेषार्थ—हे जीव ! तू आहार कथा, स्त्रीकथा, राजकथा और
चौर-कथा इन चार प्रकारकी विकथाओं में आसक रहा है । ज्ञान, पूजा,
कुल, जाति, बल, कृदि, तप और शरीर इन आठ पदार्थोंके मदसे सदा
मत्त रहा है । तथा पाप-रूपी परिणामको ही तूने अपना प्रयोजन बनाया
है । इसकारण तू कुदेव-असुर आदि नीच देवोंको गतिको अनेक बार प्राप्त
हुआ है ॥१६ ।

गाथार्थ—हे मुनिप्रवर ! तूने अनेक माताओंकी अपवित्र, घुणित
और पाप रूप मलसे परिपूर्ण गर्भ वसतिकाओं में चिरकाल तक निवास
किया है ॥१७॥

विशेषार्थ—यहाँ आचार्यने मुनियोंको उपदेश देते हुए उन्हें 'मुनि-
प्रवर' इस सम्बोधनसे सम्बोधित किया है जिसका अर्थ होता है हे

(वसिष्ठोऽसि चिरं कालं) उषितोऽसि स्थितोऽसि चिरं दीर्घकालमनन्तकालमनादि-
कालं (अणेयजणणीण मुणिपवर) गर्भवस्तिषु अनेका अनन्ता जनन्यो जाताः हे
मुनिप्रवर ! हे मुनीनामुक्तम ।

पीओसि थण्ड्छीरं अणंतजस्मंतराङ्मं जणणीणं ।

अणणणणाण महाजस सायरसलिलादु अहिययरं ॥१८॥

पीतोऽसि स्तनक्षीरं अनन्तजन्मान्तराणि जननीनाम् ।

अन्यासामन्यासां महायशः ! सागरसलिलादधिकतरम् ॥१८॥

(पीओसि वण्ड्छीरं) पीतोऽसि थोतवान् धयितवानांस स्तनक्षीरं अपवित्रं
वक्षोहृष्टीरं स्तनदुर्धं । (अणंतजस्मंतराङ्मं) अनन्तजन्मान्तराणि अनन्तभवान्तरेणु ।
(जणणीण) जननीनां अनन्तमातृणां । (अणणणाण) अन्यासामन्यासां (महा-
जस) महत् श्रेलोक्यव्याप्तकं यशो यस्य भवति महायशास्तस्य सम्बोधनं क्रियन् हे
महायशः । (सायरसलिलादु अहिययरं) सागरसलिलादधिकतरं अतिशये-
नाधिकतरमनन्तसागरजलसमानं ।

मुनियोंमें उत्तम । वे कहते हैं कि मुनिप्रवर ! तुम्हारा यह मुनि पद तो
कर्मक्षयका कारण था पर मात्र द्रव्यलिङ्ग धारण करके तुम संसारमें द्वी
भटकते रहे । पहले विकार आदि में आसक्त होकर हीन देव-पर्यायिकों
प्राप्ति किया तदनन्तर वहाँ से च्युत होकर मानुषी के अपवित्र एवं धृणित
गर्भवास में तुमने निवास किया है, वह भी एकाध बार नहीं किन्तु अनेक
बार । अनादि कालसे यहो करते आ रहे हो । इस बीचमें तुम्हारी अनेक
माताएँ हो चुकी हैं ॥१७॥

गायार्थ—हे महायश के धारक मुनि ! तूने अनन्त जन्मोंमें अन्य-
अन्य माताओंके स्तनका इतना दूध पिया है जो समुद्रके जलसे भी अत्यन्त
अधिक है—अनन्तगुणित है ॥१८॥

विशेषार्थ—हे महाशय ! हे व्रेलोक्य-व्यापक यशके धारक मुनि !
तूने द्रव्यलिङ्ग धारण करके, मनुष्यके अनन्त जन्म धारण किये और
उनमें अन्य अन्य माताओंके अपवित्र स्तन के दूधको इतना अधिक पिया
कि वह समुद्र के जलसे भी अतिशय अधिक है अर्थात् अनन्त समुद्रों के
जलके समान है ॥१९॥

✓ तुह मरणे दुःखेण अणणणाणे अणेयजणणीणं ।
रणणाण णयणणीरं सायरसलिलादु अहिययरं ॥१९॥

तव मरणे दुःखेन अन्यामामान्यासां अनेकजननीनाम् ।
रुदितानां नयननीरं सागरसलिलात् अधिकतरम् ॥२०॥

(तुह मरणे दुःखेण) तव मरणे सति दुःखेन कृत्वा “डसा दि दे इ ए तु ते उथ उब्न तुव्वध तम्ह तुमाइ सुमो तुमे तुव तुहं तइ तुहा :” इति प्राकृतव्याकरणसूत्रेण तव शब्दस्य तुहं इत्यादेशः । (अणणणाण) अन्यासामन्यासां मानुषीतिहीव्याघ्रो-माजरीरीमृगीगर्वीबडवाकरेणप्रभृतीनां । (अणेयजणणीणं) अनेकजननीनां प्रत्येकमनन्तमातुणां (रणणाण) रुदितानां । (णयणणीरं) लोचनबाष्पजलं । (सायरसलिलादु अहिययरं) सागरसलिलादधिकतरं प्रत्येकं समुद्रतोयदप्यधिकतर-मनन्तसागरसलिलपरिमाणं भवति ।

✓ भवसायरे अणंते छिण्णुज्जित्यकेसणहरणालट्ठी ।
पुंजेइ जह को दि जए हुवदि थ गिरिसमधिया रासी ॥२०॥
भवसायरे अनन्ते छिन्नोज्जित्यकेशनखरनालास्थीनि ।
पुञ्जयति यदि कश्चित् देवो भवति च गिरिसमधिका राशिः ॥२०॥
(भवसायरे अणंते) भावसायरेऽनन्ते संसारसमुद्रेऽन्तरहिते । (छिण्णु-ज्जित्यकेसणहरणालट्ठी) छिन्नानि उज्जितानि मुक्तानि शुरेण तखलुना छुरिकया

गाथार्थ—हे जीव ! तेरा मरण होनेपर दुःख से रोतो हुई अन्य अनेक माताओं का अश्रुजल समुद्रके जलसे अत्यन्त अधिक है ॥१९॥

विशेषार्थ—हे जीव ! तूने द्रव्य लिङ्गके कारण नानायोनियोंमें ऋगण करके मानुषी, सिंहो, व्याघ्रो, माजरी, मृगी, गी, भैंस, घोड़ी तथा हस्तिनी आदिको माता बनाया है तथा अपना मरण होनेपर दुःखसे इन अनन्त माताओंको इतना रुलाया है कि उनके आसू समुद्रके जलसे भी बहुत अधिक हैं अतिं अनन्त समुद्रोंके जलके बराबर हैं । गाथा में संस्कृत ‘तव’ शब्दके स्थानमें ‘डसादि दे’—आदि प्राकृतव्याकरणके सूत्रसे ‘तुह’ आदेश हो गया ॥१९॥

गाथार्थ—हे जीव ! तूने अनन्त संसार सागर में जिन केश, नख, नाभिनाल और हड्डियोंको कटने के पश्चात् छोड़ा है यदि कोई यक्ष उन्हें इकट्ठा करे तो उनकी राशि पर्वत से भी अधिक हो जाय ॥२०॥

विशेषार्थ—हे जीव ! इस अनन्त संसार सागर में मज्जनोन्मउज्जन

पूर्वे छिनानि पश्चाद्भूजिताति केशस्त्वरलालास्थोनि । (पुंजेऽ जह को त्रि जाए)
पूर्जयति राजीकरोति यदि चेत् कोऽपि ग्राक्षग्नानागतः कविचददेवः । (हवदि
य गिरिसमविवा रासी) भवति च गिरेमरोग्यि समधिका राशि: केशादीना
प्रस्येकमनल्लमेहममा राशयो भवन्तीति भावादः ।

जलथलसिहिपवणंबरगिरिसरिदरिकुरुवणाइं सब्बत्तो ।

वसिओसि चिरं कालं तिहुवणमज्ज्ञे अणप्वसो ॥२१॥

जलस्थलसिहिपवणंबरगिरिसरिदरिकुरुवणाइं सब्बत्तो ।

उषितोसि चिरं कालं त्रिभुवनमध्येऽनात्मवद्यः ॥२॥

हे जीव ! हे चेतनानाथ ! (जल) त्वं जले उसके उपितोऽपि निवासं चकर्थ ।
(थल) थले मूर्खाणां । (सिहि) विलिनि हृताशने । (पवण) पवने अंसामाल-
तादो (अंबर) अम्बरे विहायसि । (गिरि) पर्वते । (सरि) सरिति नदिं
दरि दर्शि गुहायां । (कुरुवणाइ) देवकुरुतरकुरुत्तमभोगभूमिकल्पवृक्षवने । आदि-
शब्दाद्भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहरम्यवत्तरावतादयो लम्यन्ते । (सब्बत्तो) कि
वहना सर्वतः सर्वत्र । (वसिओसि चिरं कालं) उषितोऽसि चिरं दीघंमनन्तं

करते हुए तूने इतने अधिक जन्म धारण किये हैं और उनमें केश, नस्त्र,
नाभिका नाल तथा हहियोंको इतना अधिक क्षुरा, नस्त्र-भृत्यिका तथा
क्षुरी आदिसे काट काट कर छोड़ा है—जहाँ तर्हा फेंका है यदि इन्द्रकी
आज्ञासे आया हुआ कोई देव उन्हें इकट्ठा करे तो केश आदिकी वह
रक्षा सुमेह पर्वतसे भी अधिक अर्थात् अनन्त सुमेह पर्वतोंके बराबर हो
सकती है ॥२०॥

गाथार्थ—हे जीव ! तूने अनात्मवश होकर-आत्मस्वभावसे भिन्न
वस्तुओंके वशीभूत होकर तीनों लोकोंके मध्य जल, स्थल, अग्नि, वायु,
आकाश, पर्वत, नदी, गुफा तथा देवकुरु उत्तरकुरु आदि स्थानोंमें सब
जगह चिरकाल तक निवास किया है ॥ २१ ॥

विशेषार्थ—हे चेतनानाथ ! तूने अनात्मवश होकर-नित शुद्ध बुद्ध
रूप एक स्वभाव से युक्त चंतन्यचमत्कार मात्र दण्डोत्कीर्ण एक जायक
स्वभाव वाले आत्म-तत्त्वको भावना अथवा जिनेन्द्र देवके द्वारा प्रनिपादित
सम्प्रकृत्यकी भावना से अट होकर जलमें, स्थलमें, अग्निमें, वायुमें,
आकाशमें, पर्वतमें, नदीमें, गुफामें, देव कुरु उत्तर कुरु नामक उत्तम भोग-
भूमि-सम्बन्धी कल्पवृक्षोंके वनमें तथा आदि शब्दसे भरत, हैमवत, हरि,

कालमनसोत्सपिष्यवसपिणीकालसमयपर्यन्तं । (तिहुदणमज्जे अणप्यवसो) त्रिभु-
वनमध्येऽनात्मवशः निजशुद्धबुद्धैकस्वभावचिच्चमत्कारलक्षणटकोल्लीणज्ञायकैक-
स्वभावात्प्रभावनाजिनस्वामिसम्यकत्वभावनाश्रव्य इत्यर्थः ।

गसियाइं पुण्गलाइं भुवणोदरवत्तियाइं सञ्चाइं ।

पत्तोसि तो ण तित्ति पुणरूपं ताइं भुजंतो ॥ २२ ॥

ग्रसिता: पुदगला भुवनोदरवत्तिनः सर्वे ।

प्राप्तोऽसि तन्न तृसि पुनारूपं तान् भुजानः ॥ २२ ॥

(गसियाइं पुण्गलाइं) ग्रसिता: पुदगला: सर्वेऽप्यणवः । (भुवणोदरवत्तियाइं सञ्चाइं) भुवनोदरवत्तिनः सर्वेऽपि । (पत्तोसि तो ण तित्ति) प्राप्तोऽसि तदपि न तृत्यं धृति । (पुणरूपं ताइं भुजंतो) पुनारूपं पुनर्नवमिति तान् पुदगलान् भुजानः । उक्तं च पूज्यपादेन गणिना—

भुक्तोऽजिक्षता मुहुर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुण्गलाः ।

चच्छुष्टेऽपिवक तेष्वदा मम विज्ञस्य का स्पृहा ॥

तिहुयणसलिलं सयलं पीयं तिष्ठाए पीडिएण तुमे ।

तो वि ण तिष्ठाछेओ जाओ चितेह भवमहर्ण ॥ २३ ॥

त्रिभुवनसलिलं सकलं पोतं तुष्णया पीडितेन त्वया ।

तदपि न तुष्णाछेदो जातः चिन्तयं भवमयनम् ॥ २३ ॥

विदेह, रम्पक, हैरण्यवत और ऐरावत आदि लोकोंमें अधिक क्या कहें तीनों लोकोंमें सर्वत्र चिरकाल तक—अनन्त उत्सपिणी और अवसपिणीके कालपर्यन्त निवास किया है ॥ २१ ॥

गाथार्थ—हे जीव ! तूने संसारके मध्य वर्तमान समस्त पुदगलोंको यद्यपि ग्रसा है—खाया है तथापि तृप्तिको प्राप्त नहीं हुआ । अब उन्हें नया समझ कर किसे खा रहा है ॥ २२ ॥

विशेषार्थ—हे प्राणिन् ! तीन लोकके अन्दर अनन्तानन्त परमाणु व्याप्त हैं तूने उन सब परमाणुओंको यद्यपि ग्रहण किया है तथापि तू संतोषको प्राप्त नहीं हुआ । पुनः उन्हीं गृहीतोऽजिक्षत पुदगल परमाणुओंको नवीन समझ कर ग्रहण कर रहा है । पूज्यपाद अचार्य ने कहा भी है—

भुक्तोऽजिक्षता—मैंने मोहके कारण सभी पुदगलोंको भोगकर छोड़ा है सो अब जूठे को तरह स्थित उन पुदगलोंमें मुझ जानोकी क्या इच्छा हो सकती है ? अथवा कुछ नहीं ॥ २२ ॥

गाथार्थ—हे जीव ! तूने ध्याससे पीड़ित होकर तीन लोकका समस्त

(तिष्ठयणसलिलं सयलं) तिष्ठयनसलिलं सकलं । पीडं पीतं त्वया । (तिष्ठाए) तुष्णामा । (पीडिपण) पीडितेनावगाढेन ! (तुषे) त्वया भवता । "तुमह तुमाइ तुमे तुमए तुमं तु इ तु ए ते दि दे मे दया" इति व्याकरणमूत्रेण दावचनेन सह युष्मदः तुमे आदेशः । (तो वि) तदपि । (ण) नैव । (तिष्ठाछेजो) तृष्णाच्छेदः । (जाओ) जातः । (चितेह भवमहण) हे जीव ! त्वं चिन्तय अन्वेषस्व भवस्य संसारस्य मथनं विनाशनं सम्यगदर्शनज्ञानं चारित्रशब्दमिति भावार्थः ।

गहिउज्जियाइ' मुणिवर कलेवराइ' तुमे अणेयाइ'

तार्ण णत्थि प्रमाणं अणन्तभवसायरे धीर ॥ २४ ॥

गृहीतोज्जितानि मुनिवर ! कलेवराणि त्वया अनेकानि ।

तेषां नाम्नि प्रमाणं प्रनन्तभावयागरे धीर ॥ २५ ॥

(गहिउज्जियाइ') गृहीतोज्जितानि । (मुणिवर) हे मुनिवर मुनिश्चेष्ट ! (कलेवराइ') कलेवराणि शारीराणि । (तुमे अणेयाइ') त्वयाइनेकान्यनन्तानि ।

पानो पो ढाला तो भो प्यास का नाश नहीं हुआ अतः संसार को नष्ट करने वाले रत्नशय का चिन्तयन कर ॥ २३ ॥

विशेषार्थ—हे आत्मन् ! तूने स्वरूप से अष्ट होकर अनन्त भव धारण किये हैं और उन भवोंमें तृष्णा-प्यास से पीडित होकर यद्यपि तूने तीन लोकका समस्त पानी पिया है तो भी तेरी तृष्णा-प्यासका नाश नहीं हुआ । यहाँ इलेषसे तृष्णाका दूसरा अर्थ अप्राप्य वस्तु 'की इच्छा भी है तो उस तृष्णासे पीडित होकर तूने तीन लोककी समस्त वस्तुओंको ग्रहण किया पर उनसे तेरी तृष्णा शान्त नहीं हुई, अब ऐसा प्रयत्न कर कि जिससे भव धारण हो न करना पढ़े । सम्यगदर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र भवको संसारको नष्ट करने वाले हैं अतः इन्हींका चिन्तयन कर । गाथा में आया हुआ 'तुमे' शब्द युष्मद् शब्दके स्थान में 'तुमइ तुमाइ' आदि प्राकृत व्याकरण के सूत्रसे 'तुमे' आदेश हुआ है ॥ २३ ॥

गाथार्थ—हे धीर धीर ! मुनिवर ! इस अनन्त संसार सागरके बीच तूने जिन अनेक शरोरों को ग्रहण कर कर छोड़ा है उनका प्रमाण नहीं है ॥ २४ ॥

विशेषार्थ—जो मुनियों में श्रेष्ठ है उसे मुनिवर कहते हैं तथा जो ज्येय-ध्यान करने योग्य पदार्थकी ओर बुद्धिको प्रेरित करे उसे धीर कहते

(ताणं णतिथं प्रमाणं) तेषां कलेवराणां नास्ति न विद्यते प्रमाणं गणनमनन्तत्वात् । (अनन्तमन्त्रसावरे वीर) अनन्तगवनागरेऽन्तानोत्संसारसमुद्रे है धीर ! ध्येयं प्रति धित्तमरिणनीति धीरस्तस्य सम्बोधनं क्रियते है धीर ! है योगीश्वर ! भावचारित्रं विनेति शेषः ।

विसवेयणरक्तकलयभयसत्थग्रहणसंकिलेशाणं ।

आहारस्सासाणं णिरोहणा खिजजए आऊ ॥२५॥

विषवेदनारक्तकलयभयशत्रग्रहणसंकिलेशानाम् ।

आहारोच्छवासानां निरोधमात् क्षीयते आयुः ॥२५॥

(विसवेयणरक्तकलयभयसत्थग्रहणसंकिलेशाणं) विषवेदनारक्तकलयभयशत्रग्रहणसंकिलेशानां । (आहारस्सासाणं) आहारोच्छवासानां । (णिरोहणा) निरोधमात् । (खिजजए आऊ) क्षीयते आयुः ।

हैं । गाथा में आचार्यने मुनिवर और 'धीर' दोनों पदोंका सम्बोधन में प्रयोग करते हुए कहा है कि हे धीर वीर ! मुनिश्चेष्ठ ! तूने भावचारित्र-के बिना मात्र द्रव्यलिङ्ग धारण कर अनन्त संसार सागर में जो अनेक शरीर धारण किये तथा छोड़े हैं उनका प्रमाण नहीं है अर्थात् तूने अनन्त शरीर धारण कर छोड़े हैं ॥२४॥

आगे आयु श्रीण होनेके कारण बतलाते हैं—

गाथार्थ—विषकी वेदना, रक्तक्षय, भय, शस्त्र की चोट, संक्लेश तथा आहार और श्वासोच्छ्वास के निरोधसे आयु क्षीण हो जाती है ॥२५॥

विशेषार्थ—हे जीव ! मात्र द्रव्यलिङ्गको धारण कर तूने ऐसे अनेक भव प्राप्त किये हैं जिनमें विषजनित वेदना, रक्तक्षय, भय, शस्त्र-ग्रहण, संक्लेश तथा आहार और श्वासोच्छ्वासके रुक जानेसे असमयमें ही आयु क्षीण हुई है अर्थात् अकाल-मरण हुआ है ।

[जहाँ आयु कर्मके निषेक, अपसी निषेक-रचना के स्वाभाविक क्रम-को छोड़कर एकदम खिर जाते हैं उसे अकाल-मरण कहते हैं । यह अकालमरण उपपाद जन्मवाले देव और नारकियोंके, चरमशरीरी मनुष्यों-के, भोगभूमिमें उत्पन्न हुए असंस्प्रात वर्यकी आयुवाले मनुष्य और तिर्यङ्गचों के नहीं होता है । कर्मभूमिके अवशिष्ट मनुष्य और तिर्यङ्गचोंके ही होता है । आज कल कुछ लोग ऐसा कहने लगे हैं कि केवलशानीके ज्ञान में जीवोंकी जितनो आयु दिखती है उतनी ही आयु पूरी कर उनका मरण होता है, अतः अकालमरण नामको कोई चीज नहीं है, सबका काल-

हिमजलणसलिलगुरुयरपव्ययतरुहणपडणभंगेहि ।

रसविज्जजोयधारणअणयपसंगेहि विद्यिहेहि ॥२६॥

हिमज्जलनसलिलगुरुतरपव्ययतरुहणपतनभञ्जे ।

रसविद्यायोगधारणनियप्रगनः विद्यिधैः ॥२६॥

(हिम) केषाचिज्जन्तुनां भानवानां च शीतेनापमृत्युभंवति । (जलण) केषाचिज्जवलनेनाग्निनापमृत्युभंवति (सलिल) कथाचित्सलिलेन समुद्रादिजलेन-पमृत्युभंवति । (गुरुयरपव्ययतरुहणपडणभंगेहि) गुरुतरुहणपतनभञ्जे । ते पर्वतास्तु गोगिर्यादियः, तथा तरबी वृक्षा गुरुतरपव्ययतरुहणस्तेषां रोहणेण पतनेन च कृत्वा ये भंगाः शरीरामदेनानि ते तथा तैः हिमज्जलनसलिलगुरुतरपव्ययतरु-

मरण ही होता है । परन्तु उनका ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि अकाल-मरण की परिभाषा ऊपर दी जा चुकी है, उसके अनुसार जिन जीवोंके आयु कर्मके निषेक अपने स्वाभाविक क्रमको छोड़ एक साथ खिरते हैं उनका अकाल-मरण कहलाता है । केवल ज्ञानभं भी यही बात आती है कि इस जीव की आयु इतनी है परन्तु उसके निषेक अमुक समय में अमुक कारण से एक दम खिर जावेगे । जिनागम में अपवर्त्यायुष्क और अनपवर्त्यायुष्क दोनों प्रकार के जीवों का उल्लेख है, अतः सबको अनपवर्त्यायुष्क कहना आगम-सम्मत नहीं है । [कोई कोई लोग यह कहते देखे आते हैं कि निष्वयनय से अकाल-मरण नहीं है, व्यवहार नयसे है, पर वे यह भूल जाते हैं कि निष्वय नयसे जीवका न मरण होता है और न जन्म होता है ।] जन्म और मरण दोनों का उल्लेख व्यवहार नयका ही विषय है ।]

आगे आयु क्षीण होनेके कुछ कारण और बताते हैं—

गाथार्थ—हे जीव ! हिम, अग्नि, पानी, बहुत ऊचे पर्वन अथवा वृक्षोंके ऊपर चढ़ने और गिरने के समय होने वाले अञ्ज भञ्ज से तथा रस-विद्याके योग धारण और अनीतिके नाना प्रसङ्गोंसे आयु क्षीण होती है ॥ २६ ॥

विशेषार्थ—कितने ही जन्तुओं और मनुष्यों की शोतसे अपमृत्यु होती है, किन्हीं की अग्निसे अपमृत्यु होती है, किन्हीं की समुद्रादि के जलसे अपमृत्यु होती है, किन्हीं की अत्यन्त ऊची शिखरवाले तुंगीगिरि आदि पर्वत तथा वृक्षोंके ऊपर चढ़ने और गिरनेके कारण उल्लंघन अञ्जभञ्जसे

रोहणपतनमर्गैः (रसविज्ञजोगधारणव्यप्रसंगेहि) रसस्य विषस्य मा विद्या
विज्ञानं तस्या योगोऽनेकौषधमेलनं तस्य धारणं सेवनमास्वादनं अनयप्रसंगशब्दात्म्या-
यकरणं ते रसविद्यायोगधारणानयप्रसंगास्ते रसविद्यायोगधारणानयप्रसंगैः । (विवि-
हेहि) विविधैर्निनाप्रकारैः । तथा चोक्ते लकडीचरेण भगवन्—

'अण्णाएण दालिद्वियह' अरे जिय दुहु आवग्नु ।

लकडियहं विणु खोडयहं मग्नु सक्षिक्षलु दुग्नु ॥ १ ॥

इय तिरियमण्यजस्मे सुद्धरं उच्चवज्जित्तण बहुवारं ।

अवमिच्छुमहादुखं तिष्वं पत्तोसि तं मित्त ॥ २७ ॥

इति तिर्यङ्गमनुष्यजन्मनि सुचिरं उपपद्य बहुवारम् ।

अपमृत्युमहादुःखं तीक्ष्णं प्राप्तोऽसि त्वं मित्र ॥ २७ ॥

(इय तिरियमण्यजस्मे) इति पूर्वोक्तप्रकारेण तिर्यङ्गमनुष्यजन्मनि । (सुद्धरं)
सुचिरं सुधु दीर्घकालं । (उच्चवज्जित्तण बहुवारं) उपपद्य उत्पद्य जन्म गृहीत्वा
बहुवारमनेककारं । (अवमिच्छुमहादुखं) अपमृत्युमहादुःखं (तिष्वं पत्तोसि)
तीक्ष्णं दुःखमसहनीयमसातं प्राप्तोऽसि । (तं मित्त) त्वं भगवन् हे मित्र ! हे
बन्धो ! हे सुद्धर् ।

और किन्हींको रस अर्थात् विषाविद्याके योगसे-अनेक औषधियों के मेलसे,
किन्हींकी विष निर्मित औषधियों के सेवनसे तथा किन्हीं की नाना प्रकार-
के अनय प्रसङ्गसे अर्थात् अन्याय करनेसे अपमृत्यु होती है । जैसा कि
भगवान् लकडोधरने कहा है—

बण्णाएण—हे जीव ! अन्याय के कारण दरिद्र पुरुषोंको सदा दुःख
ही दुःख प्राप्त हाता है, सो ठीक ही है क्योंकि खोटे पुरुषोंके तो लकड़ीके
सहारेके बिना कीचड़ वाला मार्ग दुर्गम ही होता है ।

गाथार्थ—हे मित्र ! इस प्रकार तिर्यङ्ग और मनुष्य जन्ममें विरकाल
तक अनेक बार उत्पन्न होकर तू अपमृत्यु के तीक्ष्ण महादुःखको प्राप्त
हुआ है ॥ २७ ॥

विद्वावार्थ—यहीं आचार्य जीवको प्रेमपूर्ण सम्बोधन द्वारा सम्बोधित
करते हुए कहते हैं कि हे मित्र ! तूने आत्मस्वभावसे च्युत हो तिर्यङ्ग
और मनुष्य गतिमें बार-बार उत्पन्न होकर दीर्घकाल तक अपमृत्युका
भारी दुःख उठाया है । अब तो आत्मरक्षभाक्षी और दृष्टि दे ॥ २७ ॥

छत्तीसं तिष्णि सया छावद्विसहस्रवारमरणानि ।

अन्तोमुहूर्तमज्ञे पत्तोसि निगोयवासम्मि ॥२८॥

षट्क्रिशतं त्रीणि शतानि षट्खण्ठिसहस्रवारमरणानि ।

अन्तमुहूर्तमध्ये प्राप्तोऽसि निकोतवासे ॥ २८ ॥

(छत्तीसं तिष्णक्षया) षट्क्रिशदधिकत्रिशतानि । (छावद्विसहस्रवारमरणानि) षट्खण्ठिसहस्रवारान् मरणानि ६६३२६ । (अन्तोमुहूर्तमज्ञे) अन्तमुहूर्तमध्ये । (पत्तोसि निगोयवासम्मि) प्राप्तोऽसि निकोतवासे ।

वियलिदिए असीदी सट्टी चालीसमेव जाणेह ।

पौच्छदिय उठवीसं खुदभवत्तो मुहूर्तस्स ॥२९॥

विकलेन्द्रियाणामशीति षष्ठिं चत्वारिंशदेव जानीत ।

पञ्चेन्द्रियाणां चतुर्विशति क्षुद्रभवान् अन्तमुहूर्तस्य ॥ २९ ॥

(वियलिदिए असीदी सट्टी चालीसमेव जाणेह) विकलेन्द्रियाणां द्वीन्द्रिय-
त्रीन्द्रियस्तुरिन्द्रियजीवेषु अनुक्रमेण मरणसंख्याभन्तमुहूर्तस्य करोति । तथाहि ।
द्वीन्द्रिया जीवा अन्तमुहूर्तेन अशीतिवारान् प्रियन्ते । त्रीन्द्रिया जीवा अन्तमुहूर्तेन

गाथार्थ—तू निकोत-बासमें अन्तमुहूर्तके भीतर छथासठ हजार
तीनसी छत्तीस बार मरणको प्राप्त हुआ है ॥२८॥

विशेषार्थ—गाथामें आये हुए 'निगोय वासम्मि' शब्द की संस्कृत
छाया निकोत वासे' है । निगोद शब्द एकेन्द्रिय वनस्पति कार्यिक जीवोंके
साधारण भेदमें रुद्ध है, जब कि निकोत शब्द पाँचों इन्द्रियोंके सम्मुच्छ्वान
जन्मसे उत्पन्न होनेवाले लब्ध्यपयप्तक जीवोंमें प्रयुक्त होता है । इस-
लिये यही जो ६६३२६ बार मरणकी संख्या है वह पाँचों इन्द्रियोंकी
सम्मिलित समझना चाहिये ॥२८॥

गाथार्थ—विकलेन्द्रिय जीवोंके अन्तमुहूर्तसम्बन्धी क्षुद्रमव क्रमसे
अस्सी, साठ और चालीस जानो तथा पञ्चेन्द्रियोंके चौबीस समझो ॥२९॥

विशेषार्थ—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुर्विन्द्रिय ये विकलाशय कहलाते
हैं । इनमें दो इन्द्रियोंके अस्सी, तीन इन्द्रियोंके साठ और चतुरिन्द्रियोंके
चालीस क्षुद्रमव होते हैं । पञ्चेन्द्रिय जीवोंके चौबीस होते हैं । तात्पर्य यह
है कि द्वीन्द्रिय जीव अन्तमुहूर्तमें अस्सी बार मरते हैं, तीन इन्द्रिय जीव
अन्तमुहूर्त में साठबार मरते हैं, त्री इन्द्रिय जीव चालीस बार और

षष्ठिवारान् नियन्ते । चतुर्निद्रिया जीवा अन्तमुहूर्तेन चत्कारिशतं बारान् नियन्ते । (पञ्चनिद्रिय चतुर्वीस) पञ्चनिद्रिया जीवा अन्तमुहूर्तेन चतुर्विशतिं बारान् नियन्ते । (सुद्धभवंतोमुहूर्तस्सं) सुद्धभवा अन्तमुहूर्तस्य क्रमेण ज्ञातव्याः ।

रथणत्ते सुअलद्वे एवं भस्मिओसि दीहूसंसारे ।

इयं जिणवरेहि भणियं तं रथणत्तं समाप्तरह ॥३०॥

पञ्चनिद्रिय जीव चौबीस जाह उत्ते हैं । उन्हें लोबोंके अन्तमुहूर्तं कालमें ऊपर बताए हुए मरण होते हैं और इतने ही सुद्ध भव होते हैं ॥२९॥

गाथार्थ—हे जीव ! रत्नश्रयके प्राप्त न होनेसे तू इस तरह दीर्घ

१—अन्तमुहूर्तमें किस जीवके कितने सुद्धभव होते हैं इसका स्पष्ट वर्णन गोमपटसार जीवकाण्डमें इस प्रकार दिया है—

तिणिणसया छत्तीसा छावट्टिसहस्तगणि मरणाणि ।

अन्तोमुहूर्तकाले तात्त्विद्या चैव सुद्धभवा ॥ १२२ ॥

अर्थ—एक अन्तमुहूर्तमें एक लक्ष्यपर्याप्तिक जीव छत्तीसठ हजार तीनसौ छत्तीस मरण और इतने ही भवों (जन्म) को भी धारण कर सकता है अर्थात् एक लक्ष्यपर्याप्तिक जीव यदि निरस्तर भवोंको धारण करे तो ६६३३६ जन्म और इतने ही भवणों को धारण कर सकता है, अधिक नहीं कर सकता ।

सोदी सद्गी तालं वियले चतुर्वीस होति पञ्चक्षे ।

छावट्टि च सहस्रा सर्य च बस्तीस देयक्षे ॥ १२३ ॥

अर्थ—विकलेनिद्रियोंमें द्रीनिद्रिय लक्ष्यपर्याप्तिकके ८० भव, श्रीनिद्रिय लक्ष्यपर्याप्तिकके ६०, चतुरनिद्रिय लक्ष्यपर्याप्तिक के ४० और पञ्चनिद्रिय लक्ष्यपर्याप्तिक के २४ तथा एकेनिद्रियोंके ६६१३२ भवों को धारण कर सकता है, अधिकको नहीं ।

पुढ़विदग्रामणिमादद साहारणशूल सुहुमपत्तेया ।

एदेसु अपुण्डेसु य एककेके वार द्वं छक्कं ॥ १२४ ॥

अर्थ—पृथिवी कायिक, जल कायिक, अग्नि कायिक, वायु कायिक और साधारण वनस्पति कायिक इन पाँचके स्थूल तथा सूक्ष्म की क्षेक्षा दो-दो भेद और एक प्रत्येक वनस्पति कायिक इन द्वारह प्रकारके लक्ष्यपर्याप्तिक जीवोंमें प्रत्येक के ६०१२ सुद्धभव होते हैं ।

इसप्रकार एकेनिद्रिय के ६६१३२, द्रीनिद्रियके ८०, श्रीनिद्रियके ६०, चतुरनिद्रियके ४० और पञ्चनिद्रियके २४, कुल मिलाकर ६६३३६ होते हैं ॥१२५॥

रत्नत्रये स्वलब्धे एवं भ्रमितोऽसि दीर्घसंसारे ।

इति जिनवरैर्भणितं तत् रत्नत्रयं समाचर ॥ ३० ॥

(रथणते मुखलद्धे) रत्नत्रये सुषुङु अलब्धे सति । (एवं भ्रमितोऽसि दीर्घ-
संसारे) एवमसूनाप्रकारेण भ्रमितोऽसि व्यंटिकान् दीर्घसंसारेऽनादी संसारे भवे ।
(इय जिणवरैर्हि भणियं) इत्येतद्वचनं जिनवरैस्तीर्थकरपरमदेवैर्भणितं प्रतिपादित ।
(तं रथणते समाप्तरह) तत्स्मात्कारणात् तज्जगत्प्रसिद्धं वा तत् त्वं वा रत्नत्रयं
वा समाप्तं हन्त्वा गत्रियस्त्वं वा ।

तं रथणत्यं केरिसं हवदि । तं जहा । तद्वलत्रयं कोदूर्धा मवति ? तद्वा-
तदेव निरूपयति—

अप्या अप्यम्मि रओ सम्माइद्वी हवेद कुडु जोबो ।

जाणद्व तं सण्णार्ण चरद्विह चारित्मग्गोति ॥ ३१ ॥

आत्मा आत्मनि रतः सम्यग्दृष्टिः भवति स्फुर्तं जीवः ।

जानाति तत् सङ्गानं चरतीह चारित्रमार्गं इति ॥ ३१ ॥

(अप्या अप्यम्मि रओ) आत्मा आत्मनि रत आत्मनः अद्वानपरः । (सम्माइद्वी

संपारमें भ्रमण करता रहा है ऐसा जिनेन्द्र देवने कहा है अतः रत्नत्रय
का आचरण कर ॥३०॥

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको रत्नत्रय
कहते हैं। रत्नत्रयके व्यवहार और निश्चयकी अपेक्षा दो भेद हैं इनमें से
व्यवहार रत्नत्रय तो इस जीवको कहिबार प्राप्त हुआ परन्तु निश्चय रत्न-
त्रय प्राप्त नहीं हो सका। उसी निश्चय रत्नत्रय की ओर संकेत करते
हुए गाथामें 'यु अलद्धो' लिखा गया है जिसका अर्थ होता है रत्नत्रयके
सम्यक् प्रकारसे प्राप्त न होने से अर्थात् निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति न
होनेमें यह जीव अनादि संसार में भटकता रहता है, ऐसा तीर्थकर परम
देवने कहा है असः हे भव्य प्राणो ! तू उस निश्चय रत्नत्रयका अच्छी
तरह आचरण कर अथवा उसका अच्छी तरह आदर कर ॥३०॥

आगे वह रत्नत्रय कैसा होता है ? वही निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—आत्ममें लीन हुआ जीव सम्यग्दृष्टि है, जो आत्माको
जानता है वह सम्यग्ज्ञान है और जो आत्मा में चरण करता है वह
चारित्र मार्ग है ॥३१॥

हवेद फूलु जीवो) सम्यग्दृष्टिमवति स्फुर्तं निश्चयनयेन, व्यवहारनयेन तु तत्त्वार्थ-
शद्वानं सम्यग्कर्षनं भवति, जीव आत्मा सम्यग्दृष्टिरिति शातव्यः । (जाणह तं
सम्यार्थ) जानाति तं आत्मानं तत्सद्वानं सम्यग्ज्ञानं भवति, व्यवहारेण तु सप्त-
तत्त्वानि जानाति तत्सम्यग्ज्ञानं भवति । (चरदिह चारित्रमग्नोति) तमात्मानं
जीवो यज्ञवरति तन्मयो भवति आत्मन्मेकलोलोभावो भवति, इहस्मिन् संसारे,
चारित्रमार्गं इति, व्यवहारेण तु पापक्रियाविरमणं चरणं भवति ।

अणो कुमरणमरणं अणेयजन्मान्तराइं मरिओसि ।

भावहि सुमरणमरणं जरमरणविणासणं जीव ॥३२॥

अन्यस्मिन् कुमरणमरणं अनेकजन्मान्तरेषु मृतोऽसि ।

भावय सुमरणपर्यं वन्मरणविनाशति जीव ॥३३॥

(अणो कुमरणमरणं) अन्यस्मिन् भक्तसमूहे कुमरणमरण-कुरित्सन्मरणमरणं
यथा भवत्येवं । तथा (अणेयजन्मान्तराइ) अनेकजन्मान्तराण्यनन्तभवान्तरेषु ।
“अन्यार्थं अन्या” इति प्राकृतव्याकरणसूत्रेण सप्तम्यर्थं द्वितीया । (मरिओसि)
मृतोऽसि मरणं प्राप्तोऽसि । (भावहि सुमरणमरणं) भावय सुमरणमरणं पण्डित-
पण्डितमरणं । कथंभूतं सुमरणमरणं (जरमरणविणासणं) जरामरणविनाशनं
परममोक्षदायकं । हे (जीव) जीव हे चेतनस्वभाव ! आत्मनिति ।

विशेषार्थ—आत्म-शद्वान में तत्पर जीव निश्चय से सम्यग्दृष्टि है
और व्यवहार नयसे जोवादि तत्वोंका शद्वान करने वाला सम्यग्दृष्टि
है । जो आत्माको जानता है वह निश्चयसे सम्यग्ज्ञान है और व्यव-
हारनय से जो सप्त तत्वोंको जानता है वह सम्यग्ज्ञान है । जो आत्मा में
चरण करता है अर्थात् उसीमें लोन होता है वह निश्चय से चारित्रका
मार्ग है और पापक्रियासे विरत होना व्यवहारसे चारित्रका मार्ग है ॥३१॥

गाथार्थ—हे जीव ! तू अन्य अनेक भवोंमें कुमरण करके मृत्युको
प्राप्त हुआ है, अब जन्म और मरणको नष्ट करनेवाले सुमरण मरण
पण्डितपण्डित मरणको भावना कर ॥३२॥

विशेषार्थ—हे आत्मन् ! तू अन्य अनेक जन्मान्तरों-भवान्तरों में आर्त
रोद्भवन से मरकर कुमरण को प्राप्त हुआ है, अतः अब जरा और मरण
को नष्ट करनेवाले परम मोक्षदायक सुमरण मरणको भावना कर ।
निरन्तर ऐसा ही चिन्तन कर कि मेरा पण्डितपण्डितमरण हो । ‘अणेय
जन्मान्तराइ’ यहाँ पर ‘अन्यार्थं अन्या’ इस प्राकृत व्याकरण के सूत्रसे
सप्तमोक्षके अर्थ में द्वितीया विभक्तिका प्रयोग हुआ है ।

समुद्रादिकल्लोलवरप्रतिसमयमायुस्तुद्यति तदावीचिकामरणं स्थितिप्रदेश-
वीचिकामेवात्तद्विविष्टमप्येकविचर्च । भवान्तरप्राप्तिरनन्तरोपसृष्टपूर्वभवविषमरणं
तद्भवमरणमुच्यते । तत्त्वनक्षत्रः प्राप्तं जीवेनेति ज्ञातव्यं, तेन तद्भवमरणं न
दुर्लभं । अवधिमरणं नाम कथ्यते-यो यादुहं मरणं साम्प्रतमुपैति तादृशमेव यदि
मरणं “भविष्यत् तदवधिमरणं, तद्विविष्टं देशावधिमरणं सर्वावधिमरणं चेति ।
तत्र सर्वावधिमरणं नाम यदायुर्यथाभूतमुद्देति साम्प्रतं प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशस्तथा-
भूतमेवायुः प्रकृत्यादिविषिष्टं पुनर्बन्धात्युद्देष्यति च यदि सर्वावधिमरणं । यत्साम्प्रत-
मुदेशयुर्यथाभूतं तथाभूतमेव बह्नाति देशतो यदि तद्वदेशावधिमरणं । एतदुक्तं

आगे मरण के सत्तरहृषि भेदों का संक्षिप्त स्वरूप कहते हैं—

१. आवीचिका मरण, २ तद्भव मरण, ३ अवधि मरण, ४ आनन्त मरण,
५ बालमरण, ६ पष्ठित मरण, ७ आसन्न मरण, ८ ध्वालपण्ठित मरण,
९ सशाल्य मरण, १० पलाय मरण, ११ ब्राह्मात्र मरण, १२ विप्राणस मरण,
१३ गृह्णपृष्ठ मरण, १४ भक्त-प्रत्याख्यान मरण, १५ प्रायोपगमन मरण,
१६ इंज्ञनी मरण और १७ केवलियरण । इनका स्वरूप इस प्रकार है—

१. आवीचिका मरण—समुद्रादि की लहरों के समान जो आयु प्रति-
समय कम होती जाती है वह आवीचिका मरण है । यह मरण स्थिति-
वीचिका और प्रदेश वीचिका के भेदसे यथापि दो प्रकारका है तथापि
सत्तरहृषि भेदों में एक सामान्य भेद ही लिया गया है ।

२. तद्भव-मरण—भवान्तर को प्राप्ति होना अर्थात् आगामी अनन्तर
शरीर के द्वारा उपसृष्ट होनेपर पूर्व भवका छूट जाना तद्भव मरण है ।
यह तद्भवमरण इस जीवने अनन्त बार प्राप्त किया है इसलिये दुर्लभ
नहीं है ।

३. अवधि-मरण—जो प्राणी जिस प्रकारका मरण वर्तमान कालमें
प्राप्त करता है वैसा ही मरण यदि आगामी कालमें हो तो उस मरण को
अवधि-मरण कहते हैं । यह अवधि-मरण १ देशावधि मरण और २ सर्वावधि-
मरण के भेद से दो प्रकारका है । जो आयु वर्तमान में प्रकृति-
स्थिति-अनुभाग और प्रदेश सहित जैसी उदय में आती है वैसी ही आयु
फिर प्रकृत्यादि विषिष्ट बैधकर यदि उदयमें आवेगी तो उसका सर्वावधि

१. भविष्यति म० ।

२. मरणाणि सत्तरस देसिदाणि तित्वंकरेहि जिषबयणे । तत्य वि य रूच शह
संगहेष भरणाणि वोच्यामि । —प्रथम भास्त्रात् भवकी आराधना ।

मरणिदेशतः सर्वतो वा सादृश्येनावधीकृतेन विशेषितं मरणमविमरणमिति । साम्प्रतीम् मरणेनासादृश्यभावित् यदि मरणभावान्तमरणमुच्यते । आदिशब्देन साम्यतं प्राक्षमिकं मरणमुच्यते, तस्यात्मो विनाशभावो यस्मिन्नुसरमरणे । तदेतदाद्यन्तमरणमुच्यते । प्रकृतिस्थित्यमुभवप्रदेशीर्थाभूतैः साम्प्रतमुपैति मृति तथाभूतां यदि सर्वतो देशतो वा नोपैति तदाद्यन्तमरणे । बालमरणमुच्यते बालस्य मरणं बालमरणं । स च बालः पंचप्रकारोऽव्यक्तबालो व्यवहारबालो ज्ञानबालो दशनबालस्वारित्रबालः । घमिणिकामकार्याणि न वेति न तदाचरणसमर्वशरोरोऽव्यक्तबालः । लोकवेदसमयव्यवहारान् न वेति शिशुर्वा व्यवहारबालः । भिध्यादृष्टयो दशनबालाः । वस्तुयावास्यप्राहिज्ञानहोना ज्ञानबालाः । अचारित्राश्वारित्रबालः । दशनबालमरणं द्विविधं

मरण कहते हैं और जो आयु वर्तमान कालमें प्रकृत्यादि विशिष्ट होकर जैसी उदय आती है, वैसी ही आयु यदि किसी अंश में सदृश होकर बैधेगी और भविष्यत् कालमें उदय आवेगी तो उसे देशावधि मरण कहते हैं । अभिप्राय यह है कि कुछ अंश में अथवा पूर्ण रूपसे सादृश्य जिसमें पाया जाता है ऐसा अवश्यसे विशिष्ट अर्थात् जिसमें पूर्ण सादृश्य भवान्तित हुआ है अथवा कुछ हिस्सेमें सादृश्यकी मरणादा है और कुछ हिस्सेमें नहीं है ऐसे मरणको अवधि मरण कहते हैं ।

४. आद्यन्त मरण—वर्तमानकालमें जैसा मरण जीवको प्राप्त हुआ है वैसा अर्थात् सदृश मरण आगे प्राप्त न होना आद्यन्त-मरण कहा जाता है । यही आदि शब्द से वर्तमानकालिक प्रथम कहा जाता है उसका अन्त अर्थात् विनाश जिस आगामी मरण में हो वह आद्यन्त मरण कहलाता है (आदेः अन्तो यस्मिस्तत् आद्यन्तं तत्त्वं तन्मरणञ्चेति आद्यन्तमरणम्) । तात्पर्य यह है कि वर्तमान में जीव, जिसप्रकारके प्रकृति, स्थिति, अनुभव और प्रदेशके हारा जैसी मृत्युको प्राप्त होता है वैसी मृत्युको एक-देश अथवा सर्व-देश रूपसे भविष्यत् में प्राप्त न हो तो वह आद्यन्त मरण कहा जाता है ।

५. बालमरण—अब बालमरण कहा जाता है । बालकका मरण सो बालमरण है । वह बाल पाँच प्रकार का है—१ अव्यक्त बाल, २ व्यवहार बाल, ३ ज्ञान बाल, ४ दशन बाल और ५ चारित्र बाल । जो भर्म अर्थ और कामके कार्यको नहीं जानता है और न उनके आचरण में जिसका शरीर समर्थ है वह अव्यक्त बाल कहलाता है । जो लोक वेद और सम्बन्धके व्यवहार को नहीं जानता है अथवा शिशु अवस्था बाला है

इच्छाप्रवृत्तमनिच्छाप्रवृत्तं चेति । तश्चेच्छाप्रवृत्तमनिच्छाप्रवृत्तं धूमेन शस्त्रेण विषेणोदकेन मरणपातेनोच्छ्रवासरोषेन शीतपातेनोषपातेन रज्या भुधा तृष्णा जिवहोत्पाटनेन विद्वाहारसेवनेन च मरणमिच्छामरणं । कालेऽकाले वाऽध्यवसानादिना विना जिजीविषोमरणमनिच्छाप्रवृत्तं । पंडितमरणमुच्यते-पंडितपञ्चतुर्वर्णं व्यवहारपंडितः सम्यक्त्वपंडितो ज्ञानपंडितश्चारिष्ठपंडितश्चेति । लोकवेद समयगतव्यवहारनिपुणो व्यवहारपंडितः, अथवानेकशास्त्रज्ञः शुश्रूषादिवृद्धिगृणसमन्वितो व्यवहारपंडितः । श्रिविद्यान्यतमसम्यक्त्वः दर्शनपंडितः । पञ्चविद्यज्ञानपरिणतश्चारिष्ठपंडितः । पञ्चविद्यचारित्रान्यतमन्तरिष्ठपरिणतश्चारिष्ठपंडितः । नरवेषुभवनेषु विमानेषु ज्योतिष्केषु वानव्यक्तरेषु द्वीपसमूद्रेषु च ज्ञानपंडितमरणं । ३मनःपर्यायमरणं मनुष्यलोक एव

उसे व्यवहार बाल कहते हैं । मिथ्यादृष्टि जीव दर्शन बाल है । जो बस्तु के यथार्थ स्वरूप की ग्रहण करने वाले ज्ञानसे रहित हैं वे ज्ञान-बाल हैं और जो चारित्रसे रहित हैं वे चारित्र-बाल कहलाते हैं । इनमें से दर्शन बालमरण दो प्रकारका है—१ इच्छा प्रवृत्त और अनिच्छा प्रवृत्त । उनमें इच्छा पूर्वक अग्नि, धुवी, शस्त्र, विष, पानो, पर्वतसे गिरना, श्वासरोकना, शीतमें पड़ना, उष्णमें पड़ना, रसी, मूख, प्यास, जिह्वाका उखाड़ना और विषद्व आहारके सेवन से जो मरण होता है, वह इच्छा मरण कहलाता है । योग्य काल अथवा अकाल नें मरनेके अभिप्राय के बिना जीवित रहनेके हच्छुक प्राणीका जो मरण है वह अनिच्छा प्रवृत्त मरण है ।

६. पण्डित मरण—अब पण्डित मरण कहा जाता है । पण्डित चार प्रकारके होते हैं—१ व्यवहार पंडित, २ सम्यक्त्व पण्डित, ३ ज्ञान पण्डित और ४ चारित्र-पण्डित । लोक, वेद और समयानुकूल व्यवहारमें जो निपुण है वह व्यवहार-पण्डित है अथवा जो अनेक शास्त्रों का ज्ञानकार है और शुश्रूषा-प्रवण करने को इच्छा आदि बुद्धिके गुणोंसे सहित है वह व्यवहार पण्डित है । जो औपशमिक, क्षायिक अथवा क्षायोपशमिक इन तीन सम्यग्दर्शनों में से किसी एक सम्यग्दर्शन से सहित है वह दर्शन-पण्डित है । जो भृति, श्रुति, अवधि, मनपर्याय और केवल इन पाँच प्रकारके सम्यग्ज्ञानों से परिणत है वह ज्ञान-पण्डित है और जो सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्म-साम्पराय और यथारूपात इन पाँच प्रकारके चारित्रों में से किसी एक चारित्रसे सहित है वह चारित्र पण्डित है । नरकोंमें, भवनवासी देवोंके भवनोंमें, स्वर्गके विमानोंमें

१. मनुष्यलोक एव केवलमनःपर्यायज्ञानपण्डितमरणं भवति-भगवत्सो भारोष्मा ।

मरणं । आसन्नमरणमुच्यते—निवर्णिमार्गं प्रस्तुतसंयतसाथात् प्रच्छ्रुतः आसन्न
मुच्यते, दुःखपलक्षणं पाश्वर्स्थस्वच्छन्दकुशीलसंसक्तानां । ऋद्धिप्रिया रतेष्वासक्ता
दुःखभीरवः सदा दुःखकातराः कषायपरिणताः संज्ञावशगाः पापै—श्रूताभ्यास-
कारिणः त्रयोदशक्रियास्वलक्षणाः सदा संक्लिष्ट चेतसः भक्ते उपकरणे च प्रतिबद्धा
निमित्तमेत्रीष्वधयोगोपजीविनः गृहस्थवैयाकृत्यकरा गुणहीना गुप्तिसमितिष्वनुद्यता
मन्दसंवेगा इष्वधमकृत्युद्यः शब्दलचारित्रा आसन्ना उच्यन्ते । ते यद्यन्ते आत्म-
शूद्धि कृत्वा अभियन्ते तदा प्रशस्तमेव मरणं । लालपंडितमरणं श्रावकाभ्यः इष्वान्य-
मरणं भुग्मन् । पलायमरणमुच्यते विनयवैयाकृत्यादावकृतादरः प्रशस्तक्रियोद्दृहनालसः
त्रयोदशचारित्रेषु वीर्यनिगृहनपरो धर्मेष्विभिरायां निद्राधूणित इव घ्याननमस्कारादेः
पलायते पलायमरणं । इन्द्रियवेदनाकषायाथनोकषायातंमरणं वशातंमरणं ३अप्रति-
सिद्धेनमुझाते च मरणे विष्णाणसमरणमुच्यते-गृहपृष्ठिमिति संज्ञिते

ज्योतिष्क देवोमें, व्यन्तर देवोमें तथा द्वोप समुद्रोमें ज्ञान-पण्डित मरण
होता है, परन्तु मनः पर्यय ज्ञान मरण मनुष्य लोक (अगाह द्वोपमें) ही
होता है ।

७. आसन्नमरण—अब आसन्न मरणका स्वरूप कहा जाता है ।
भोक्ताभागमें चलने वाले संयमीजनोंके समूहसे जो च्युत हो गया है, उसे
आसन्न कहते हैं । यह आसन्न शब्द उपलक्षण है, अतः पाश्वस्थ,
स्वच्छन्द, कुशील और संसक्त इन ऋष्ट मुनियोंका भी उसीसे ग्रहण
समझना चाहिये । जिन्हें ऋद्धियों प्रिय हों, जो रसोंमें आसक्त हों, दुःखसे
डरते हों सदा दुःखके समय दीनता दिखलाने वाले हों, कषाय भावसे
युक्त हों, आहारादि संज्ञाओंके वशीभूत हों, पापके समर्थक ज्ञास्त्रोंका
अभ्यास करने वाले हों, तेरह प्रकारकी क्रियाओंके पालन करने में आलसी
हों, जिनका चित्त सदा संबलेश से युक्त रहता है, जो आहार तथा उप-
करणोंमें सदा उपयुक्त रहते हैं, निमित्त ज्ञान, मन्त्र, औषध तथा विष-
शोधनकी कला आदिसे आजीविका करते हैं अथवा इन कार्योंके द्वारा
गृहस्थों को आहार देनेके निमित्त अपनी ओर आकृष्ट करते हैं, गृहस्थोंकी
वैयाकृत्य करते हैं, गुणोंसे हीन हैं अर्थात् मूलगुणोंका जो निर्दोष पालन
नहीं करते हैं, गुप्ति और समितिदोंके विषयमें अनुश्यमी हैं, जिनका संवेग

१. पापश्रुत्याभ्यास० म० ।

२. अश्रसिद्ध० म० ।

कहे प्रवर्तते । दुर्भिको कान्तारे दुर्लतरे पूर्वशनुभये दृष्टनूपभये स्तेनभये तिर्यगुपसर्गे
एकाकिनः सोहुमशक्ये ब्रह्मवतनाशादिचारित्रदृष्ट्ये च जाते संविग्नः पापभीरः

अल्प है अर्थात् जिन्हें संसारये पूर्ण भय नहीं है । अथवा जो धर्म और
धर्मके कलके विषयमें अनुत्साही हैं, जिनकी बुद्धि उत्तमक्षमादि दश धर्मों-
में नहीं लगती है । तथा जो दोषयुक्त चारित्रके धारक हैं वे आसन्न कह-
लाते हैं । 'वे आसन्न मृति यदि अन्तिम समय आत्मशुद्धि करके मरते हैं
तो उनका मरण प्रशस्त ही कहलावेगा ।

८. बालपण्डित मरण—बालपण्डित सम्यग्दृष्टि शावक को कहते हैं
क्योंकि कह पूर्ण चारित्रका धारक न होनेसे बाल है और सम्यग्दृष्टि ही जाने
के कारण पण्डित है । उसका जो मरण है उसे बालपण्डित मरण कहते हैं ।

९. सशाल्य मरण—सशाल्य मरणका स्वरूप सुगम है । [मिथ्यादर्शन,

१. एवंभूताः सन्तो भूत्वा वराका भवसहस्रेषु अमन्ति । दुःखानि भुक्त्वा भुक्त्वा
पाष्ठरूपेण सुचिरं विहृत्यान्त आसनः शूद्धि छृत्वा यदि मृत्युपैति प्रशस्तमेव
मरणं भवति । भगवतो आराधना ।

२. सशाल्यमरणं त्रिविधं यतो द्विविधं शाल्यं द्रव्यशाल्यं भावशाल्यमिति । मिथ्या-
दर्शन-माया-निदान-शाल्यानां कारणं कम द्रव्यशाल्यम् । द्रव्यशाल्येन सह मरणं
पड़नानां स्थावराणां भवति असंक्षिनां त्रसानां च । ननु द्रव्यशाल्यं सर्वंत्रास्ति
तत्किमुच्यते स्थावराणामिति । भावशाल्य-विनिमुक्तं द्रव्यशाल्यमपेक्ष्यते ।
एतदुक्तं—सम्यक्त्वातिचारणां दर्शनशाल्यत्वासम्यग्दर्दशीनस्य च स्थावरेषु
अभावात् त्रसेषु च विकलेन्द्रियेषु । इदमेव स्मादनागतकाले इति मनसः
प्रणिधानं निदानं । न च तदसंज्ञिष्ठिति । मार्गस्य दूषणं, मार्गनाशनं, जन्मार्गं
प्रस्तुप्णं, मार्गप्रिरूपणं, मार्गस्थानां भेदकरणं मिथ्यादर्शनशाल्यानि । तत्र
निदानं त्रिविधं प्रशस्तमप्रशस्तं भोगकृतं चेति । परिपूणसंयममाराषयितु-
कामस्य जन्मान्तरे पुरुषादि-प्रार्थना प्रशस्तं निदानं, मानकषाय-प्रेरितस्य
कुलरूपादि-प्रार्थनमनागतभवविषयं अप्रशस्तं निदानं । अथवा क्रोधाविष्टस्य
स्वशत्रुवध-प्रार्थना विशिष्टत्वेषोप्रसेतोऽमूलने । इह परत्र च भोगा अपि इत्यं
भूता वस्माद् ब्रतशोलाविकाद्भवन्त्वति मनः प्रणिधानं भोगनिदानं ।
असंक्षत-सम्यग्कृटेः संयतासयतस्य वा निदानशाल्यं भवति । पादवस्थादि-
रूपेण चिरं विहृत्य वशचादपि आलोचनामन्तरेण यो मरणमृपैति तन्मायाशाल्यं
मरणं तस्य भवति । एतत्संक्षते, संयतासंक्षते, अविरत-सम्यग्दृष्टावपि भवति ।
—भगवतो आराधना गात्रा २५ प्रथमास्त्रास विषयोत्तमा दीक्षा

कर्मणामुदयमुपस्थितं आत्मा सोहुमशक्तः तन्निस्तरणस्यासम्युपाये सावद्धकरणभीरुः
विराधनमरणभीरुऽहं त्वादिमन्—१। इति ज्ञाते कर्मेऽनुष्ठितं कि नवेत्कुशालनिति
गणयता वद्युपर्यगीतांसितोऽहं संयमावृत्त्वश्यामि ततः संयमञ्चष्टो वर्णनादपि न
वेदनासंक्षिलष्टः सोहुं प्रश्नज्यामुत्सहे । ततो रत्नत्रयाराधनाच्युतिमेति निश्चित-

निदान और मायाके भेदसे शल्यके तीन भेद हैं । शल्य सहित जीवका
मरण मशल्यमरण कहलाता है ।]

१०. पलाय मरण—जो विनय तथा वैयाकृत्य आदिमें आदर नहीं
करता है, प्रशस्त कियाओंके करनेमें आलसी रहता है, तेरह प्रकारके
चारित्र में अपनी शक्ति छिपाता है, धर्मके चिन्तन में मानो निद्रासे
झूमने लगता है और व्यान तथा नमस्कार आदिसे दूर भागता है, उसे
पलाय कहते हैं । पलाय के मरणको पलायमरण कहते हैं ।

११. बशार्त मरण—इन्द्रिय, वेदना, कषाय और नो कषायसे पीड़ित
व्यक्तिके मरणको बशार्त मरण कहते हैं ।

१२. विप्राणस मरण—विप्राणसमरण और गृध्रपृष्ठ मरण नामबाले
दो मरणोंका जैनागममें निषेध नहीं है और अनुज्ञा भी नहीं है । इनमें
विप्राणस मरणका स्वरूप कहते हैं—

दुष्कालके पड़ने पर, जिसका पार करना कठिन है ऐसे जङ्गल में
फँसजाने पर, पूर्वशशु का भय, दुष्टराजाका भय अथवा चोरका भय
उपस्थित होनेपर, जिसका अकेले सहन करना असम्भव है, ऐसा तिर्यङ्ग-
कृष्ट उपसर्ग उपस्थित होनेपर, तथा ब्रह्मचर्य व्रतका नाश आदि चारित्र
का दोष उत्पन्न होनेपर संसारसे भयभीत तथा पापसे डरनेवाला मुनि
विचार करता है कि मेरे कर्मका जो उदय आया है उसे सहन करनेके
लिये मैं असमर्थ हूँ, तथा इस उपद्रवसे पार होनेका कुछ उपाय भी नहीं
है, मैं पापकार्यके करनेसे डरता हूँ तथा चारित्र की विराधना कर असंयमी
अवस्था में मरनेसे भी भयभीत हूँ, ऐसे कारण उपस्थित होनेपर इस समय
मेरी कुशल किस तरह ही सकती है.....इस प्रकारका विचार करता हुआ
वह पुनः सोचता है कि यदि मैं उपसर्गसे भयभीत हों संयम से च्युत होता
हूँ तो संयमसे ऋष्ट कहलाऊँगा और संभव है सम्पर्दशीनसे भी ऋष्ट हो

१. करणे म० क० ।

२. वेदभालसंक्षिलष्टः म० ।

मतिभिमायः चरणदशानविषुद्धः घृतिमान् ज्ञानसहायोऽनिदानोऽहृष्टवन्तिके आलोचना-मासाङ्ग । **कृतशुद्धिलेश्यः** प्रायोपगमनिरोध करोति यत्तद्विष्णापाणसमरणमुच्यते । **शस्त्रग्रहणेन पद्मभवति तद्गृह्णशुद्धिमित्युच्यते ।** मरणविकल्पसंभवप्रदशानमिदम् सर्वत्र कर्तव्यतयोपदिश्यते । भक्तप्रत्याख्यानं, प्रायोपगमनमरणं, इंगिनीमरणं, **केबलि-मरणं** चेति । इत्येतान्येवोसमानि पूर्वपुरुषैः प्रवर्तितानि । सप्तदशसुमध्ये श्रीम्युस-मानि सुमरणानि । प्रायोपगमनं दर्शिते हितः स्वयमुपसर्गं न निवारयति,

जाऊँ, मैं वेदना से संकिळण होकर दीक्षाका निर्वाह करनेमें समर्थ नहीं हूँ, इन सब कारणों^१ मेरी रत्नत्रयकी आराधना छूटने वाली है ॥ इस प्रकार का जिसे निश्चय हुआ है जिसने अपराधको छिपाने रूप मायाका त्याग कर दिया है, जो चारित्र और दर्शनमें विशुद्धता रखता है, वैयसे सहित है, ज्ञान ही जितका सहायक है, और जो निदान से रहित है, अरहन्त मण्ड्यान् के समीप आलोचना को प्राप्त कर जिसने अपनी लेश्याको शुद्ध कर लिया है, ऐसा मुनि जो श्वासोच्छ्वासका निरोध करता है, वह विप्राणस मरण कहलाता है ।

१३. गृध्रपृष्ठमरण—उपर्युक्त कारण उपस्थित होनेपर शस्त्र ग्रहण करके जो मरण किया जाता है वह गृध्रपृष्ठ मरण है ।

इसप्रकार मरणके जितने विकल्प सम्भव होसकते हैं उनका प्रदर्शन किया गया है । अब सर्वत्र करने योग्य मरणोंका उपदेश किया जाता है । भक्त-प्रत्याख्यान, प्रायोपगमन, इंगिनीमरण और केबलि-मरण । ये मरण ही उत्तम-मरण हैं तथा पूर्व-पुरुषों के द्वारा प्रवर्तित हैं ।

१४. भक्त प्रत्याख्यानमरण—एक साथ जीवन पर्यन्तके लिये अथवा कम कमसे कुछ समयकी अवधि लेते हुए आहारका त्याग करके जो समाधिमरण किया जाता है, उसे भक्त-प्रत्याख्यान कहते हैं । उपर्युक्त सत्तरह भरणोंमें प्रायोपगमन, इंगिनीमरण और केबलि-मरण ये तीन मरण उत्तम मरण कहलाते हैं ।

१५. प्रायोपगमन मरण—प्रायोपगमन मरणमें कुशामन पर बैठा हुआ मुनि स्वयं उपसर्गका निवारण नहीं करता है, यदि कोई दूसरा करता है तो करने देता है ।

१. कृतशुद्धिलेश्य म० ।

२. केबलि म० ।

चेत्कोपि निवारयति तदा निवारयितुं ददाति । इंगिनोमरणे निवारयितुमपि न ददाति । केवलिमरणे तीर्थकरणधरानगारकेवलिमरणे ज्ञातव्यं । एतत्परणशब्दं सुमरणं हे जीव ! स्वं भावय ।

सो णत्य दद्व्यसवणो परमाणुपमाणमेतओ णिलओ ।
जत्य ण जाओ ण मओ तियलोयपमाणिओ सम्बो ॥३३॥

स नास्ति द्रव्यश्रमणः परमाणुप्रमाणमात्रो निलयः ।
यदं न जातो न भूतस्त्रिलोकप्रमाणकः सर्वः ॥३३॥

(सो णत्य) स नास्ति न विचारते । (णिलओ) गृहं स्थानं । कथंभूतो निलयः, (परमाणुपमाणमेतओ) परमाणुप्रमाणमात्रः अकिभागी परमाणुयाकर्त्तुं प्रदेशं रुणद्धि तन्मात्रोऽपि निलयो नास्ति । स कः प्रदेशः । (जत्य) यथ प्रदेशो । (दद्व्यसवणो) द्रव्यदिग्द्वयः यिथ्यादृष्टिस्तपस्वी । (ण जाओ) न जातो नीत्पन्नः । (ण मओ) न भूतो न मरणं प्राप्तः । स निलयः कियान्, (तियलोयपमाणिओ) त्रिभूतवेत मापितः । (सम्बो) समस्तोऽपि ।

१६. इङ्गिनो मरण—इङ्गिनी मरण में दूसरे को भी निवारण नहीं करने देता ।

१७. केवलि मरण—तीर्थकर, गणधर और अनगार—केवलियों का मरण केवलि मरण जानना चाहिये । यह तीन प्रकारका मरण सुमरण है । हे जीव ! तू इन्हीं की भावता कर ॥३२॥

गाथार्थ—ऐसा परमाणु प्रमाण भी स्थान नहीं है जहाँ द्रव्य-लिङ्गी मृति न उत्पन्न हुआ हो और न मरा हो । समूचा तीन लोक उसका स्थान है ॥३३॥

विशेषार्थ—द्रव्य-लिङ्गी मृतिका मृतिपद मुक्तिका कारण नहीं है किन्तु संसारका हो कारण है, यह बताते हुए श्रीकुन्दकुन्द स्वामी दरशाते हैं कि परमाणुके बराबर भी ऐसा स्थान नहीं है जहाँ द्रव्यलिङ्गी साधु-मिथ्यादृष्टि तपस्वी न उत्पन्न हुआ हो और न मरणको प्राप्त हुआ हो, उसका स्थान तो समूचा तीन लोक है अर्थात् तीनों लोकोंमें ऐसा एक भी प्रदेश नहीं है जहाँ द्रव्यलिङ्गी मृति न उत्पन्न हुआ हो और न मरा हो ॥३३॥

कालमण्ठं जीवो जन्मजरामरणपीडिओ दुःखं ।

जिनलिङ्गेण वि पत्तो परम्पराभावरहिएण ॥३४॥

कालमनन्तं जीवः जन्मजरामरणपीडितः दुःखम् ।

जिनलिङ्गेन अपि प्राप्तः परम्पराभावरहितेन ॥३४॥

(कालमण्ठं जीवो) कालं समयमनेहसमिति यावत्, अनन्तमन्तरहितं कर्मतापन्नं जीव आत्मा दुःखं प्राप्त इति क्रियाकारकसम्बन्धः । कालाध्वदेशभावानां कर्मसंज्ञा सिद्धेव वर्तते । कर्थमूतो जीवः, (जन्मजरामरणपीडितः) जन्मजरामरणपीडितः चक्षितः । (जिनलिङ्गेण वि) अहंदूषविशिष्टोपि । अपि शब्दाविशिष्टोपि कर्थमूतेन जिनलिङ्गेन (परम्पराभावरहिएण) परम्परा आचार्यप्रवाहस्तदुष्किष्टं शास्त्रं च परम्परा शब्देन लम्पते तत्र मावरहितेन प्रतीतिवजितेन

गायार्थ—इस जीवने जिनलिङ्ग भी धारण किया परन्तु आचार्यप्रवाहके द्वारा उपदिष्ट तत्व अथवा शास्त्र की प्रीतिसे रहित होकर धारण किया इसलिये अनन्त काल तक जन्म जरा और मरणसे पीडित होता हुआ यह दुःखको प्राप्त हुआ है ॥ ३४ ॥

विशेषार्थ—इस जीवने यद्यपि अनन्तवार जिनलिङ्ग भी धारण किया है—नग्न दिगम्बरमुद्रा रखकर घोर तपश्चरण भी किया है तथापि उसने वह जिनलिङ्ग परम्परा भावसे रहित होकर धारण किया । परम्पराका अर्थ आचार्यप्रवाह है । आचार्यप्रवाहने जो उपदेश दिया है वह तथा उनकी आम्नायमें जो शास्त्र लिखे गये हैं वे सब परम्परा शब्द से व्यवहृत होते हैं उस परम्परामें भाव अर्थात् प्रतीति-दृढ़ श्रद्धासे रहित होकर इसने जिनलिङ्ग धारण किया है, अतः जिनलिङ्ग धारण करके भी अनन्तकाल तक जन्मजरा और मरणसे पीडित होकर इसने दुःख प्राप्त किया है । जब जिनलिङ्ग धारण करके भी दुःख प्राप्त करनेकी तो बात ही क्या है ? काल, मार्ग देश और भाव-व्याचक शब्दोंकी कर्म संज्ञा व्याकरणसे सिद्ध है अतः ‘अण्ठं काल’ यही अन्यन्त संयोग अर्थमें कालशब्द की कर्मसंज्ञा हुई है और उसी कारण उसमें द्वितीया विभक्तिका प्रयोग हुआ है ।

प्रश्न—वह परम्परा क्या है ?

समाधान—इस अवसर्पिणी युगके तृतीय कालके अन्तमें श्री भगवान् बृहस्पताने अर्थ रूपसे शास्त्रका उपदेश दिया था और वृषभसेन गणधरने

मिथ्यादृष्टिना जीवेनेत्यर्थः । कासी परंपरा ? अस्यामवसर्षिण्यां तृतीयकालग्रान्ते
श्रीवृथभनाधेनार्थशास्त्रमुक्तं, तृष्णभसेनगणवरेण ग्रन्थः कृतः, तत्परम्परया वीरेण
भगवतार्थः प्रकाशितः गौतमेन गणिना ग्रन्थितः, तवनुक्रमेण वचनकाले प्रमाण-
भूतीनिरस्वराचार्यरातीर्थस्थितिं तच्छास्त्रं प्रमाणीकृतं विस्त्राविभिर्मिथ्या-
दृष्टिभिः कृतं शास्त्रं न प्रमाणनीयं । अथ के ते आचार्यां यैः कृतं शास्त्रं प्रमाणी-
क्रियते इत्याह—

श्रीभद्रबाहुः श्रीचन्द्रो जिनचन्द्रो महामतिः ।
गृध्रपिच्छलगुरुः धीमालकोहाचार्यो जितेश्वियः ॥१॥
एलाचार्यः पूजारचार्यः इन्द्रनन्दी महाकारिः ।
वीरसेनो जिनसेनो गुणनन्दी महातपाः ॥२॥
समन्तभद्रः श्रीकुम्भः शिवकोटिः शिवकरः ।
शिवायनो विष्णुसेनो गुणभद्रो गुणाचिकः ॥३॥
कल्पकूरो महाप्राप्तः सोमदेवो विश्वावरः ।
प्रभाचन्द्रो नेत्रिचन्द्र इत्याविष्णुनिसत्तमैः ॥४॥
यच्छास्त्रं रचितं तूर्णं तदेवाज्ञेयमन्यकैः ।
विसंवै रचितं नैव प्रमाणे साम्बिपि स्फुटं ॥५॥

उसे ग्रन्थरूपसे परिणत किया था, उसी परम्परामें भगवान् महाकीरणे
अर्थका प्रकाश किया और गौतम गणवरने उसे ग्रन्थ रूपमें परिणत किया
अर्थात् द्वादशाङ्क की रचना की । उसी अनुक्रमसे पञ्चम कालमें
प्रामाणभूत दिग्म्बर आचार्योंने उपदेश दिया है सो उन्हीं आचार्योंके
द्वारा उपदिष्ट शास्त्र को ही प्रमाण मानना चाहिये । मूलसंष्करणोंके विधिति-
करके विरुद्ध अथवा विविव संघोंकी स्थापना करने वाले मिथ्यादृष्टि-
लोगोंके द्वारा रचित शास्त्रको प्रमाण नहीं मानना चाहिये । अब वे
आचार्य कौन हैं ? जिनके द्वारा रचित शास्त्र प्रमाण किये जाते हैं ?
इसका उत्तर देते हुए कुछ आचार्योंके नाम प्रकट किये जाते हैं ।

श्रीभद्रबाहु—श्रीभद्रबाहु, श्रीचन्द्र, जिनचन्द्र, महामति, गृद्धपिच्छ-
गुरु, इन्द्रियोंको जीतनेवाले लोहाचार्य, एलाचार्य, पूज्यपाद, महाकवि
सिहनन्दी, वीरसेन, जिनसेन, महातपस्त्री गुणनन्दी, समन्तभद्र, श्रीकुम्भ,
कल्पाणकारी शिवकोटि, शिवायन, विष्णुसेन, अधिक गुणोंके धारक गुण-
भद्र, महाबुद्धिमान् अकलकृ, विद्वानोंमें श्रेष्ठ सोमदेव, प्रभाचन्द्र वीर-

पठिदेससमयपुण्यालआउगपरिणामणामकालहू' ।

गृहितजित्याहै बहुसो अणतभवसायरे जीव ॥३५॥

प्रतिदेशसमयपुद्गलायुपरिणामनामकालस्थम् ।

गृहीतोजितानि बहुशः अनन्तभवसायरे जीव ॥३५॥

(पठिदेस) यावन्तः प्रदेशा लोकाकाशस्य वर्तन्ते एककं प्रदेशं प्रति षट्टी-
जीति पूर्वोक्तमेव ग्राहूः गृहवोजितानि । तथा (सम्यपुण्य) प्रतिसमय-समय समय-

नेमिचन्द्रै इत्यादि श्वेष्ठमुनियोंने जो शास्त्र रचे हैं यथार्थमें वे ही शास्त्र
श्रहण करने देते हैं । वायु दिविधि अप्यधित्विष्ट उपर्युक्ति के द्वारा
रचित शास्त्र ठोक होनेपर भी प्रमाण नहीं मानना चाहिये ॥ १५ ॥

गाथार्थ—हे जीव ! तुने भाव-लिङ्गके बिना अनन्त संसार सागरमें
प्रत्येक देश, प्रत्येक समय, प्रत्येक पुद्गल, प्रत्येक आयु, प्रत्येक परिणाम,

१. यहीं आचार्योंकी जो नामावली दी है उसमें काल-क्रमकी अपेक्षा नहीं की गई है तथा अन्य जिन प्रामाणिक आचार्योंकी नाम रह गये हैं उनका 'इत्यादि मुनिसत्सर्मः' पदमें दिए हुए इत्यादि पदसे संकलन जानना चाहिये ।
२. ३४ वीं गाथाका भाव व० अथवन्द्रजीने अपनी भाषा वचनिकामें इसप्रकार स्पष्ट किया है—

अर्थ—यह जीव या संसार विष्ट जामें परम्परा भावलिङ्ग न भया संता अनन्तकाल पर्यन्त अन्मजरा मरण कर पीडित दुःख ही कू प्राप्त मया ।

भावार्थ—द्रव्यलिङ्ग धारणा अर तामें परम्परा करि भी भाव लिङ्ग-की प्राप्ति न भई याते द्रव्यलिङ्ग निष्फल गया, मुक्तिकी प्राप्ति नहीं भई, संसार ही में अस्या ।

यहीं आशय ऐसा जो द्रव्यलिङ्ग है सो भावलिङ्गका साधन है परन्तु काललभिं बिना द्रव्यलिङ्ग धारे भी भावलिङ्गकी प्राप्ति न होय यतै द्रव्यलिङ्ग निष्फल जाय है ऐसे भोक्तमार्ग प्रधानकरि भावलिंग ही है । यहीं कोई कही है ऐसे हैं तो द्रव्यलिंग पहले कहे कू धारणा ? ताकूं कहिये ऐसे मानें तो अबहारका लोप होय है ताते ऐसे मानना जो द्रव्यलिंग पहले धारणा, ऐसा न जानना जो थाही से सिद्धि है, भावलिंग कूं प्रधान मानि लिसकी सम्मुख उपयोग राखना, द्रव्यलिंग कूं थत्वं त साधना, ऐसा अद्भुत अस्त्र है ॥ ३४ ॥

प्रति प्रतिसमयं शरीराणि गृहीतोजिक्षतानि । प्रतिपुद्गलं प्रतिपरमाणु-परमाणुं परमाणुं प्रति प्रतिपरमाणुं अनन्तानि शरीराणि गृहीतोजिक्षतानि । (आडग) प्रत्यायु आयुः आयुः प्रति प्रत्यायुः अनन्तानि शरीराणि गृहीतोजिक्षतानि । (परिणाम) परिणामं परिणामं प्रति प्रतिपरिणामं क्षांखभानभः भालं भर्मिहराग-द्वेषदिवपरिणामान् प्रति प्रतिपरिणामं अनन्तानि शरीराणि गृहीतोजिक्षतानि । (णाम) नाम नाम प्रति प्रतिनामं नपुंसकं चेति वचनाद्वादशन्तो निपातः, यावन्ति नामानि गतिजात्यादीनि वर्तन्ते तावन्ति प्रति अनन्तानि शरीराणि गृहीतोजिक्षतानि । (कालहृष्ट) प्रतिकालस्थं उत्सप्तिष्ठवसपिणीकालस्थं यथा भवत्येवं तत्समयाद्वयं प्रति प्रतिकालस्थं अनन्तानि शरीराणि गृहीतोजिक्षतानि (गहिरजिक्षयाइ बहुसो) गृहीतोजिक्षतानि बहुशीऽनन्तवारान् । (अणांसभवसाधरे जीव) अनन्तभवसामरेऽनन्तानन्तसंसारसमुद्रे हे जोव ! हे आत्मन्ति ! जिनसम्यक्त्वं विनेति भावार्थः । जिनसम्यक्त्वभावेन स्वनन्तसंसार उच्छिष्टते स्तोककालेन मुक्तो भवति ।

प्रत्येक नामकर्म और प्रत्येक कालमें स्थित हो अनन्त शरीर धारण किये तथा छोड़े हैं ॥ ३५ ॥

विशेषार्थ—हे आत्मन् ! सम्यक्त्वरूप भावलिङ्गके विना तूने लोकाकाशके जितने प्रदेश हैं, एक एक कर उन सब प्रदेशों पर स्थित होकर अनन्त शरीर धारण किये तथा छोड़े हैं । प्रत्येक समयमें तूने अनन्त शरीर धारण किये तथा छोड़े हैं । पुद्गलके प्रत्येक परमाणु पर स्थित हो तूने अनन्त शरीर धारण किये तथा छोड़े हैं । प्रत्येक आयुमें तूने अनन्त शरीर धारण कर छोड़े हैं अर्थात् जघन्य आयुसे लेकर उक्षुष्ट आयु तक आयुके जितने विकल्प हैं उन सबमें उत्पन्न होकर तूने अनन्त शरीर धारण किये तथा छोड़े हैं । क्लोध, मान, माया, क्लोभ, मोह, राग, द्वेष आदि समस्त परिणामोंकी अपेक्षा तूने अनन्त शरीर धारण किये तथा छोड़े हैं । और उत्सपिणों तथा अवसर्पिणों कालमें स्थित हो उसके प्रत्येक समयकी अपेक्षा तूने अनन्त शरीर धारण किये तथा छोड़े हैं । इस तरह अनन्तानन्त संसार सागर के बीच हे जोव ! तूने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव इन पाँच परिवर्तनोंको अनन्तवार पूरा किया है । तेरे इस परिभ्रमणका कारण जिन-सम्यक्त्वका अभाव रहा है । जिनसम्यक्त्वरूप भावके द्वारा अनन्त संसारका छोद हो जाता है तथा अस्य कालमें जीव मुक्त हो जाता है ॥ ३५ ॥

तेयाला तिण्णिसदा रज्जूणं लोयलेतपरिमाणं ।

मुत्तूण्डृष्ट्यएसा जत्थ ण दुरदुलिलओ जीबो ॥३६॥

त्रिचत्वारिंशत् त्रीणि शतानि रज्जूनां लोकक्षेत्रपरिमाणं ।

मुक्त्वाऽष्टो प्रदेशान् यत्र न भ्रमितः जीवः ॥३६॥

(तेयाला तिण्णि सदा रज्जूण) श्रिचत्वारिंशद्विक्षितरज्जूणनाकार-
रज्जूनां 'च (लोयकवेत्सपरिमाणं) लोकक्षेत्रपरिमाणं भवति (मुत्तूण्डृष्ट्यएसा)
मुक्त्वाऽष्टी प्रदेशान् मेरुकंदे गोस्तनाकारेण येऽष्टप्रदेशा वर्तन्ते तत्प्रथ्ये जीबो नोरन्ती
न मृतः अन्यथा सर्वत्र जातो मुक्त्वचार्य जीवः । तेऽष्टी प्रदेशा निजात्मजाहैरप्रथ्ये

गाथार्थ—तीनसौ तेतालीस राजु लोक क्षेत्रका परिमाण है । इसके
आठ मध्य प्रदेशोंको छोड़ कर, ऐसा कोई प्रदेश नहीं जिसमें यह जीव नहीं
धूमा हो ॥३६॥

विशेषार्थ—यह लोक चौदह राजु औना है । लाखों नोचे पूर्व से
पश्चिम तक सात राजु चौड़ा है, फिर क्रमसे घटता घटना मध्य लोकोंके
यही एक राजु चौड़ा है, फिर क्रमसे बढ़ता बढ़ता पाँचवं ब्रह्मास्त्रं ने यही
पाँच राजु चौड़ा है, फिर क्रमसे घटता घटता अन्तमें एक राजु चौड़ा है ।
उत्तरसे दक्षिण तक सब जगह सात राजु विस्तार वाला है । इन ग्रन्थ का
क्षेत्रफल निकालने पर सम्पूर्ण लोकका क्षेत्र तीन सौ तेतालीस धन राजु
प्रमाण होता है । मेरु पर्वत की जड़में गोस्तनके आकार लोकोंके जा आठ
मध्य प्रदेश हैं उनमें यह जीव न उत्पन्न हुआ है और ज्ञानग्रह है, शेष मध्य
जगह उत्पन्न हुआ तथा मरा है । उन आठ प्रदेशोंका इस जीवने आने
शरीरके मध्य ग्रहण तो किया है परन्तु उनमें उत्पन्न नहा हुआ ऐसा
बहुजनों का कथन^१ है । इस तरह गाथाका अर्थ इस प्रकार होता है कि

१. अन्न 'च' शब्दोऽधिकः प्रतिभाति ।

२. जीवके सर्व जघन्य शरीरकी अवगाहना अनांगुलके असंख्येय भाग प्रमाण होती
है । यह अवगाहना लोकोंके आठ मध्यप्रदेशों से बहुत बड़ी होती है इपलिये
उनमें समूचे जीवकी न उत्पत्ति हो सकती है और न मरण हो सकता है
किन्तु क्षेत्र परिवर्तन को पूरा करते समय जीव उन आठ मध्यप्रदेशोंको
अपने शरीरके मध्य प्रदेश बनाकर अनन्त बार उत्पन्न हुआ तथा मरा है ।
जीकुमुकुन्दस्वामी ने इस गाथामें 'मुत्तूण्डृष्ट्यएसा'—आठ प्रदेशोंको छोड़-
कर अन्यथा सब जगह जनन करनेकी बात लिखी है परन्तु उन्हीं कुमुकुन्द-

गृहीतात्ममध्ये नोत्पन्न हति कृदा । (जरथ य दुर्घुलिलओ जीवो) यत्रात्मा न पर्यंटितः स कोऽपि प्रदेशो नास्ति । “पर परी दुस दुम कुम गुम भुम शंप रुट तलयंड भमाड भमड भमड चक्कम्म ठंडल दुहुल टिरिटिल दुरुदुलभमे ।” इति प्राकृतव्याकरणसूत्रेण भ्रमधाते, दुरुदुल इत्यादिः । घनपालदुरुदेश्वरजिह्वामयो तु “घालिय दुरुदुलिलयाइ भमियत्थे” सूत्रं ।

एषकेककंगुलिबाही छुण्णवद्वी होति जाणमण्णयाणं ।

अवसेसे य सरीरे रोया भण कित्तिया भणिया ॥३७॥

तीनसौ तेतालोस घनराजु प्रमाण लोकसेवमें आठ प्रदेशोंको छोड़कर ऐसा एक भी प्रदेश नहीं है जहाँ इस जीवने भ्रमण न किया हो । ‘दुरुदुलिलओ’ यहाँ पर ‘पर परी दुस दुम’—आदि प्राकृत व्याकरण सूत्रके द्वारा भ्रम धातुके स्थानमें ‘दुरु दुल’ आदेश हो गया है परन्तु घनपाल कृत देशी लक्ष्मीमें घोलिय दुरुदुलिलयाइ भमियत्थे’ यह सूत्र है ॥३६॥

गाथार्थ—हे जीव ! मनुष्योंके एक एक अंगुलमें छियानवें रोग होते हैं किर समस्त शरीरमें कितने रोग कहे गये हैं सो कह ॥ ३७ ॥

स्वामी ने वारसण्णपेक्खा की संसार भावना में निभन्नलिखित गाथा द्वारा समस्त लोकसेवमें भ्रमण करनेका निरूपण किया है—

सब्बम्हि लोमखेते कमसो तण्णतिथ बण्ण उष्पर्ण ।

उग्गाहणेण बद्दुसो परिभमिदो खेतसंसारे ॥३६॥

अर्थ—समस्त लोक सेवमें वह स्थान नहीं है जहाँ यह जीव कमसे उत्पन्न न हुआ हो । अपनी अवगाहन के द्वारा इस जीवने क्षेत्रमें अनेकबार भ्रमण किया है ।

यही गाथा थोपूज्यशाद् स्वामीने सर्वार्थसिद्धिमें भी ज्यों की त्यों उद्यृतकी है तथा लिखा है कि यह जीव लोकके आठ मध्य प्रदेशोंको अपने शरीरके मध्य प्रदेश करके उतनी बार उत्पन्न होता है जितने कि घनांगुलके असंख्यभाग प्रमाण अवगाहनाके प्रदेश होते हैं । संस्कृत टीकाकार श्री शुतसागर सूरिने दोनों कथनोंकी संगति बैठाने का प्रयत्न किया है ।

१. पंचेव य कोडीयो तह चेव अहसटिठलक्षाणि ।

२. णवणउर्दि च सहस्रा पचसया होति चुलसीदी ॥

अर्थ—समस्त शरीर में पाँच करोड़ अठसठ लाख विद्यानवें हजार पाँचसौ औरासी रोग हैं ।

एकैकाङ्गुली व्याघयः षण्वतिः शवन्ति जानीहि अनुष्याणाम् ।

अवशेषे च शरीरे रोग भण कियन्तो भणिताः ॥३७॥

(एकैकाङ्गुलिकाही) एकंकाङ्गुली व्याघयो रोगाः । (षण्वती होति जाण मणुष्याणां) षण्वतिभवन्ति हे जीव ! त्वं जानीहि मनुजानां मनुष्याणां शरीरे । (अवशेषे य सरीरे) अवशेषे च शरीरे एकाङ्गुले छूरितादवशिष्टे शरीरे । (रोग भण-कित्तिया भणिता) रोगः व्याघयस्त्वं भण कथय कियन्तो भणिता हति ।

ते रोया विय सथला सहिया ते परदसेण पुब्वभवे ।

एवं सहसि महाजस किया बहुएहि लविएहि ॥३८॥

ते रोगा अपि च सकलाः सोढा त्वया परवशेन पूर्वभवे ।

एवं सहसे महायशः । कि वा बहुभिः लपिते ॥

(ते रोया वि य सथला) ते रोगाः सकला अपि सर्वेऽपि । (सहिया ते परदसेण पुब्वभवे) सोढास्त्वया परवशेन कमच्चीनतया पूर्वभवे पूर्वजन्मान्तरसमूदे । (एवं सहसि महाजस) एवममुनाप्रकारेण त्वं सहसेज्ञभवसि हे महायशः । । (कि वा बहुएहि लविएहि) कि वा बहुभिलंपितैर्जंलिपतैः ।

विशेषार्थ—हे आत्मन् ! मनुष्योंका शरीर रोगोंका घर है उसके एक एक अंगुल में छियानवे छियानवे रोग होते हैं, तब समस्त शरीरमें कितने रोग होंगे, इसका अनुमान तू स्वयं लगा ॥३७॥

गाथार्थ—हे महायशस्वी मुनि ! तूने वे सब रोग पर-भवमें परन्वश होकर सहन किये हैं और इसी प्रकार इस समय भी सह रहा है, अधिक कहनेमें क्या लाभ है ॥ ३८ ॥

विशेषार्थ—यही आधार्य इस जीवको 'महाजस'—महायशके धारक पदसे सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि हे जीव ! तू तो महायशका धारक है अनन्तवीर्य आदि गुणोंका धारक है, फिर क्यों कर्मके चक्रमें फैस रहा है ? पूर्व भवमें तूने कर्मोंके अधीन ही पूर्वोक्त अनेक रोगोंको सहन किया है और वर्तमानमें भी सहन कर रहा है । अधिक क्या कहें ? इतना निश्चय कर कि यदि भावकी ओर दूषित न दी तो इसी तरह भविष्यमें भी अनेक दुःखोंको सहन करना पड़ेगा ॥ ३८ ॥

पित्तंतमूलफेफसकालिजयदहिरखरिस किमिजाले ।

उयरे बसिओसि चिरं नवदशमासेहि पत्तेहि ॥ ३९ ॥

पित्तात्रन्मूलफेफसयकुद्वधिरखरिसकुमिजाले ।

उदरे बसितोसि चिरं नवदशमासः पूर्णः ॥ ३९ ॥

(पित्त) च मायुः । अंत्राणि च परीतंति । (मूल) च प्रसावः ।
 (फेफसहच) प्लोहा । (कालिजय) यकृत् “उदयो जलाधारो हृदयस्य दक्षिणे
 यकृत् कालस्थण्डं कलोम वामे प्लोहा ‘पुष्पसुखेति’ वैद्याः । वरहल इति देश्यां ।
 (दहिर) उधिरं च । (खरिस) खरिसहच, अपक्वविटभित्राद्वधिरखरिस । खरिसः
 कम्यते । खरिस इति देश्यात् । (किमि) कुमयस्व द्वीन्द्रिया जोवास्तेषां
 (जाल) समूहो यत्रोदरे तत् पित्तात्रमूलपुष्पसकालियकरुधिर खरिसयकुमिजालं
 लस्मिन् । (उयरे बसिओसि चिरं) उदरे कुभिमध्ये उषितोडसि निवासं कृत-
 वानसि त्वं चिरं दीर्घकाल, अनन्तगर्भश्रहणायेषां चिरमिति विशेषणं । (नवद-
 शमासेहि पत्तेहि) नवमिदशभिर्वा मासः प्राप्तैः परिपूर्णजतिः तन्मध्ये तदुपरि ध-
 कियान् एव्वें जाग्रत्ते प्राप्तहत्तेनेति ।

गायार्थ—पित्त, आ॒त, मूल, प्लोहा, यकृत्, उधिर, खरिस और कुमि-
 के समूहसे युक्त माताके उदर में तूने पूरे नौ दस मास चिरकाल तक
 निवास किया है ॥ ३९ ॥

विद्वायार्थ—पित्त, आ॒त और मूलका अर्थ प्रसिद्ध है । फेफस प्लोहाको
 कहते हैं । यकृत् लीवर को कहते हैं यह पेटमें जलका आधार है तथा
 हृदयके दाहिनी ओर होता है, इसे यकृत्, कालस्थण्ड अथवा कलोम कहते
 हैं । हृदय के बाईं ओर जो जलाधार है उसे प्लोहा अथवा पुष्पस कहते
 हैं, ऐसा वेश्योंका कहना है । देशी शब्दोंमें उसे ‘वरहल’ कहते हैं (कहीं
 कहीं तिल्ली या बाउट भी कहते हैं) अपक्व मलसे मिला हुआ उधिर और
 कफ का जो समूह है उसे खरिस कहते हैं । देशी शब्दोंमें इसे ‘खउरिय’
 कहते हैं (कहीं कहीं बौव भी कहते हैं) सूख्म लटके आकार दो इन्द्रिय
 धीरोंको कुमि कहते हैं । इन सबसे भरे हुए माताके पेटमें इस जोवने
 चिरकाल तक निवास किया है अर्थात् अनन्तशार गर्भ धारण कर नी नी
 दश दश मास तक माताके गर्भमें निवास किया है इसलिये है मुनि ।
 यदि गर्भवासके इन दुःखोंसे बचना चाहता है तो भावलिङ्ग को धारण
 कर ॥ ३९ ॥

दिवसंगट्टियमस्तणं आहारियं मायभुतमण्णंते ।
छद्विखरिसाण मज्जे जठरे बसिओसि जणणीए ॥४०॥

दिवसञ्ज्ञस्थितमशनमाहृत्य मातृभुक्तमन्नान्ते ।

छद्विखरिसयोर्घ्ये जठरे उषितोऽसि जनन्याः ॥ ४० ॥

हे जीव ! र्व जनन्या मातुः । (जठरे) उदरे (बसिओसि) उषितोऽसि निवासं चकर्त्त । कर्वभूते जठरे, (छद्विखरिसाणमज्जे) छद्विखरिसाणं, खरिसाणं अपक्वं दर्दर मलं रुधिरलिप्तं तेषां छद्विखरिसाणं तयोः छद्विखरिसयोर्घ्ये मध्यविशिष्टे । अथवा जठरे उषितोऽसि कुत्रोषितोऽसि छद्विखरिसयोर्घ्ये स्वमुषितोऽसि । किं कृत्वापूर्वं, (असण आहारियं) अशनं भोजनं आहृत्य आहार कृत्वा । कर्वभूतमशनं, (दिवसंगट्टियं) डिलानां दलानां अस्त्यह्यकुराणां संगे स्थितं, अर्वणवेलायां मातृमुखे दलानां सभीये स्थितं अस्थिभिः स्पृष्टं उच्छिष्टीकृतं । क्व उषितोऽसि, (मायभुतमण्णंते) यन्मात्रा भुतं तस्यान्नस्यान्ते मध्ये उषितोऽसि । अथवा मात्रान्ते भुतं-भुतं तेत्यथा । तथा चोकतं—

गाथार्थ—हे जीव ! तूने माताके उदरमें उसके द्वारा खाये हुए अन्नके मध्य तथा बमन और अपक्व भलके बीच निवास किया है और माताके द्वारा खाये तथा उसके दौतोंके संगसे दले हुए भोजन को ग्रहण किया ॥ ४० ॥

बिदोषार्थ—हे जीव ! भाष-लिङ्गके बिना गभेवासके दुख उठाते हुए तूने माताके उदरमें निवास किया है वह भी बमन तथा आमाशय अथवा माताके द्वारा खाये हुए अन्नके मध्य निवास किया है और अबाते समय माताके दौतोंके संगमें स्थित अर्थात् दान्तोंसे छूकर जूठे हुए आहारको ग्रहण किया है । अथवा 'मायन्नं भुतं ते' ऐसा भी पाठ है उसका अर्थ होता है कि इस जीवने माताके द्वारा खाया हुआ तथा उसके दौतोंसे चवित जूठा अन्न ही खाधा है । जैसा कि कहा गया है—

हे प्राणी ! तूने कर्मोंके अधीन ही चिरकाल तक माताके उदरमें स्थित मलके मध्य निवास किया है । वहाँ भूख प्याससे पीड़ित होकर बड़ी तुष्णासे तूने मुख विवरमें भोतर पड़ते हुए अन्नको इच्छाकी है । गभिशयमें सिकुड़े रहनेके कारण तू निश्चेष्ट रहा है तथा कृमि-कुलके साथ तूने निवास किया है । इस तरह जन्मके समय जो वलेश उठाना पड़ता है उससे भयभीत होकर ही तू जन्मके कारणभूत मरणसे ढरता है ।

‘अन्तर्बन्ति वदनविवरे क्षुत्तवात् प्रतीच्छन्
कमयितः सुचिरमुदरावस्करे वृद्धगृहणा ।
निष्पत्त्वात्मा कुमिसहचरो जन्मनि क्लेशभीतो
पद्मे उन्निष्टादं क भरणात्मनिमित्ता द्विभेदि ॥ ३ ॥

सिसुकाले य अयाणे असुईमज्जमिम्म लोलिओसि तुमं ।
असुई असिया बहुसो मुणिवर बालत्वपत्तेण ॥४१॥

शिशुकाले च अज्ञाने अशुचिमध्ये लुठितोसि त्वम् ।
अशुचिः अशिता बहुशः मुनिवर ! बालत्वप्राप्तेन ॥४१॥

(शिशुकाले य अयाणे) गर्भरूपकाले स्तनन्धयावसरेऽज्ञाने निविवेके ।
(असुईमज्जमिम्म लोलिओसि तुमं) अशुचिमध्ये गूढमध्ये लोलितो लुठितस्त्वं भवान् ।
(असुई असिया भहुसो) अशुचिविष्टा अमेघ्यमशिता भक्षिता बहुशोऽनेकवारान् ।
(मुणिवर बालत्वपत्तेण) हे मुनिवर ! यतिकरणो ज्ञानिनां गम्ये श्रेष्ठ ! परम
प्रशस्य बालत्वप्राप्तेन अब्दक्षबालत्वं गतेन । तथा चौपत्त—

भावार्थ—यह जीव मरणसे इसीलिये ढरता है कि मरनेके बाद
फिर जन्म धारण करना पड़ेगा और उसके भारी दुःख सहन करने
पड़ेगे ॥४०॥

गाथार्थ—हे मुनिवर ! तू ज्ञान-रहित शिशुकालमें विष्टा आदि
अपवित्र वस्तुओं के मध्य लेटा है तथा उसी बाल्य-अवस्था की प्राप्तिके
कारण तूने अनेक बार अशुचि वस्तुका भक्षण किया है ॥४१॥

विशेषार्थ—बालककी स्तनन्धय-दूध पीनेके अवस्थाको शिशुकाल
कहते हैं । उस समय इसे पवित्र तथा अपवित्रका कुछ भी ज्ञान नहीं रहता
है । उस दशामें यदि बालक अशुचि करलेता है और माता पिता आदि
इष्ट जन नहीं देख पाते हैं तो वह उसी अशुचि पदार्थसे लिप्त पड़ा रहता
है इतना ही नहीं कदाचित् उस अशुचि का भक्षण भी करलेता है । हे
मुनिवर ! हे यतियों-ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ परम प्रशंसनीय ! साधो ! बाल्य-
अवस्थाके प्रसङ्गसे यह सब तुमने किया है । अथवा बालत्व-मिथ्यादर्शन
से युक्त द्रव्य-लिङ्गके प्राप्त होनेसे यह सब दशा तुमने भोगी है । जैसा
कि कहा है—

बाल्ये वेत्सि न किञ्चिदप्यपरिपूर्णाङ्गो हितं वाहितं ।
कामान्वः सलु फार्मीद्वयने आत्मन् वने यीवने ।
मध्ये बृद्धतुषाजितुं कसु पशुः किलश्नासि कृष्णादिभि—
वर्धिक्येऽघंमृतः क्व जन्मफलिते घर्मो भवेन्निर्मलः ॥१॥

मंसद्विसुकक्षोणियपित्तांतसवत्तकुणिमदुगांधं ।
खरिसवसापूयखिभिसभरियं चितेहि देहउडं ॥४२॥

मांसास्थिशुक्रशोणितपित्तान्तसवत्तकुणिमदुगांधस् ।
खरिसवसापूयकिल्बिषभरितं चिन्तय देहकुटम् ॥४२॥

हे जीव ! शुद्धबुद्धक्षवभाव आत्मन् ! त्वं (देहउडं) कायकुटं शरीरघटं ।
(चितेहि) चिन्तय विचारय पर्यालोचयस्व । कथंभूतं देहकुटं, भेत्यादि मांसे
च पिणित, अस्थीनि च हृद्धानि, शुक्रं च सप्तमो धातुः बीजं वीथं चेति यावत्,
शोणितं दधिर-रक्तं लोहितमिति यावत्, पित्तं च उष्णविकारो भायुरिति, अत्राणि
च पुरीतिः, एते खबद्वगलत् (कुणिमं) शटितमृतकं तददुगांधमसुरभि । पुनः
कथंभूतं देहकुटं त्वं चिन्तय, खरिसह्य अपक्वमलरुषिरमिति इत्यं । कसा च

बाल्ये—हे जीव ! बाल्य-अवस्थामें अङ्गोंकी पूर्णता न होनेसे तू
हित और अहितको कुछ भी नहीं जानता है । यौवन अवस्थामें कामसे
अन्धा होकर स्त्रीरूप वृक्षोंसे सघन वनमें भ्रमण करता है । मध्यअवस्थामें
बड़ीहुई तुष्णासे धन-उपार्जन करनेके लिये पशुकी तरह अज्ञानी हो खेती
आदिके द्वारा क्लेश उठाता है और बुद्धियेमें अर्धमृतकके समान होजाता
है फिर तेरा जन्म सफल हो तो कहाँ हो ? और तेरा धर्म निर्मल हो तो
कहाँ हो ॥४१॥

गाथार्थ—हे जीव ! तू ऐसा चिन्तन कर कि यह शरीर रूपी घड़ा
मांस, हृद्धी, वीर्य, रुधिर, पित्त और आंतोंसे निकलतो हुई सङ्गे मुरदे
की भाँति दुर्गांधसे युक्त है तथा खरिस, चर्वी, पोप और चिढ़ा आदि
वस्तुओंसे भरा हुआ है ॥४२॥

विशेषार्थ—हे जीव ! हे शुद्ध बुद्ध एक स्वभावके धारक आत्मन् !
तेरा यह शरीर रूपी घट कैसा है ? ओहा इसका चिन्तवन तो कर । यह
मांस हृद्धी वीर्य रुधिर, पित्त और आंतों से भरती हुई सङ्गे मुरदे जैसी

वपा भेद इति यावत् शुद्धमांसस्त्वेद् हत्यार्थः । तृथं च गिरामृतादिते दूष इति पाठेऽपवित्रं । किल्विषं च कश्मलं एतैर्भरितं पूरितं ।

भावविमुक्तो मुक्तो ण य मुक्तो बन्धवाइमित्तेण ।

इय भाविक्षण उज्ज्ञासु गन्धं अब्धंतरं धीर ॥४३॥

भावावमुक्तो मुक्तः न च मुक्तः बान्धवादिमित्तेण ।

इति भावयित्वा उज्ज्ञाय गन्धमभ्यतरं धीर ॥४३॥

(भावविमुक्तो मुक्तो) बान्धवादीना प्रेमलक्षणेन भावेन विमुक्तो रहितो मुनिविमुक्तः कथयते । (ण य मुक्तो बन्धवाइमित्तेण) न च नैव मुक्तो यतिरुच्यते, कीदृशः ? बान्धवादिकुटुम्बेन मुक्तस्त्वप्यतो मुक्त उच्यते बान्धवादिमात्रेण मुक्तो मुनिनिच्छिते-कि तहि उच्यते-गृहस्थ एवोच्यते इति भावार्थः । (इय भाविक्षण उज्ज्ञासु) इतीदृशमर्थं भावयित्वा सम्यग्विचार्य उज्ज्ञासु-परित्यज परिहर । क (गन्धं अब्धंतरं धीर) गन्धं परिमलं वासनां भावनां । कर्षभूतं गन्धं, अभ्यन्तरं मतसि स्थितं बान्धवादिस्तेहं । हे धीर ! हे योगीश्वर ! व्येषं प्रति विष बुद्धिभीरयति प्रेरयतीति धीर इति व्युत्पत्ते ।

दुर्गन्धसे युक्त है तथा खरिस-अपक्वमल और रुधिरसे मिश्रित द्रव्य-आँव, चर्दी, पूर्ण-बिगड़ा सून-पीप और कश्मल-विटा आदि पदार्थोंसे भरा हुआ है । ऐसे घृणित शरीरको प्राप्ति भावको पहिचान न होनेसे ही हुई है ॥४३॥

गाथार्थ—जो मुनि भावसे मुक्त है वही मुक्त कहलाता है, बान्धवादि हष्टजनोंसे मुक्त 'मुक्त' नहीं कहलाता, ऐसा विचार कर हे योगीश्वर ! तू आभ्यन्तर गन्ध-स्तेह को छोड़ ॥४३॥

विशेषार्थ—ध्येयके प्रति जो धी-बुद्धिको प्रेरित करे वह धीर है, इस व्युत्पत्तिसे धीरका अर्थ योगीश्वर होता है । योगीश्वरको सम्बोधित करते हुए आचार्य कहते हैं कि अहो योगीश्वर ! जो मुनि बान्धव आदि कुटुम्बी जनोंके प्रेमरूप भावसे छूटा है यथार्थमें वही छूटा हुआ कहलाता है, मात्र बान्धव आदि कुटुम्बी जनोंसे छूटा मुनि, छूटा नहीं कहलाता है किन्तु गृहस्थ ही कहलाता है । इस अर्थका अच्छो तरह विचार कर, तू आभ्यन्तर गन्धको-मनमें स्थित बान्धवादिके सम्बन्ध अथवा स्तेहको छोड़ ॥ ४३ ॥

**देहादिष्टसंस्कृतो माणकसाएण कलुषिओ धीर ।
असावणेण आदो बाहुबली कित्तिर्यं कालं ॥४४॥**

देहादिष्ट्यक्तसंस्कृतः माणकषायेन कलुषितो धीर ।

आतापनेन जातो बाहुबलिः किर्यते कालम् ॥४४॥

(देहादिष्टसंस्कृतो) देहः शरीर, आदिष्टवाद्यस्त्यद्वरथपदातिसमूहः पुत्रकल-
आदिवर्गस्त्वच उम्यते तस्मात्यक्तसंस्कृतो निष्परिश्रितः (माणकसाएण कलुषितो धीर)
संज्वलनभानेनेष्टकषायेण कलुषितो मलिनितः है धीर ! (असावणेण आदो)
आतापनेन योगेन उद्भकायोस्त्वर्णेण (बाहुबली कित्तिर्यं काल) श्रीबाहुबलिस्वामी
किर्यते कालं वर्षपर्यन्तं कालं कलुषित हति सम्बन्धः । तथा चोक्तं —

**'चक्र' विहाय निजवशिणवाहुसंस्थ
यत्प्राप्नुन्ननु तदेव स तेन मुचेत् ।
क्लेश किलाप स हि बाहुबली विराघ
मानो मनागपि हृति महसीं करोति ॥४॥**

गाथार्थ—अहो यतिवर शरीरादिसे स्नेह छोड़ देनेपर भी बाहुबली
स्वामी मान कषायसे कलुषित रहे, अतः आतापन योगके द्वारा उन्हें
कितने समय तक कलुषित रहना पड़ा ॥४४॥

विदोषार्थ—शरीर तथा आदि शब्दसे हाथी घोड़ा रथ पदातियोंका
समूह तथा पुत्र स्त्री आदिका वर्ग लिया जाता है उन सबसे स्नेहका द्व्याग
कर बाहुबली-भगवान् वृषभदेवके पुत्र यद्यपि भरत चक्रवर्तीके द्वन्द्वसे
विरक्त हो निष्परिश्रित बन चुके थे तथापि वे संज्वलन मान-सम्बन्धी
किञ्चित् कषायसे—(मैं भरतकी भूमि पर खड़ा हूँ) इसप्रकार को अव्यक्त
कषायसे कलुषित रहे, अतः कितने ही काल तक अर्थात् एक वर्ष तक
उन्हें आता पन योगसे कलुषित रहना पड़ा । जैसा कि कहा गया है—

'चक्र' विहाय—अपनी दाहिनी भुजा पर स्थित चक्र रत्नको छोड़कर
बाहुबलीने जो दीक्षा ली थी उससे वे उसो समय मुक्त हो सकते थे परन्तु
चिरकाल तक क्लेश पाते रहे । सो ठीक ही है क्योंकि थोड़ा भी मान
बहुत भारी हानि करता है ॥४४॥

महुपिंगो णाम मुणी देहाहारादिचत्तवावारो ।

सबणत्तणं ण पत्तो णियाणमित्तेण भवियण्युथ ॥४५॥

मधुपिंगो नाम मुनिः देहाहारादित्यक्तव्यापारः ।

श्रमणत्वं न प्राप्तः निदानमात्रेण भव्यनुत ॥ ४५ ॥

(महुपिंगो णाम मुणी) मधुपिंगो नाम मुनिः । (देहाहारादिचत्तवावारो) शरीराहारादित्यक्तव्यापारः । (सबणत्तणं ण पत्तो) श्रमणत्वं दिग्मन्त्ररत्नं न प्राप्तः द्रव्यलिङ्गी बभूवेत्यर्थः । (णियाणमित्तेण भवियण्युथ) निदानमात्रेण सगरं सकुट्टम्बं क्षयं नेष्यामीति निदानमात्रेणेति हे भविकनुत ! भव्यजीवस्तुतमुने ! इरुं कला महापुराणादिषु विश्वतः नहुते । तस्याः हि । उनेह भरतक्षेत्रे चारण-युगलनगरे राजा सुयोधनः, राजी अतिथिः, सुला सुलसा । तस्याः स्वयंवरे सर्वं दूता गवाः । सर्वे तृपा चारणयुगले पुरे मिलिताः । अयोध्यापतिस्तत्र सगर आगन्तुमुद्दम्बं चकार । पदचात्स्नाने सति तैलोपलेषिना सगरेण राजा पलित केर्त्त-

गाथार्थ—हे भव्य-नुत ! हे भव्य जीवोंके द्वारा स्तुत मुनिराज !
देखो, मधुपिङ्ग नामक मुनिने यद्यपि शरीर तथा आहार आदि समस्त व्यापारका परित्याग कर दिया था तथापि वे निदान मात्रके कारण श्रमणपनेको-भावसे मुनि अवस्था को प्राप्त नहीं हुए थे ।

विशेषार्थ—मधुपिङ्ग नामक मुनिने दीक्षा धारण कर शरीर तथा आहार आदि व्यापारका परित्याग कर दिया था फिर भी वे इस निदानसे कि 'मैं सगरको सकुट्टम्ब नष्ट कर दूँगा' भाव—मुनि अवस्थाको प्राप्त नहीं हुए अर्थात् द्रव्यलिङ्गो बने रहे । हे मुनि ! तू भव्य जीवोंके द्वारा स्तुत हो रहा है अर्थात् भव्य जीव तेरी स्तुति करते हैं सो इतने मात्र से तू अपने आपको कृत-कृत्य मत समझ, भाव शुद्धिकी ओर लक्ष्य दे यह क्या महापुराण आदिमें प्रसिद्ध है जो कि इस प्रकार है—

मधुपिङ्ग मुनिको कथा

अथानन्तर इसी भरत क्षेत्रके चारण युगल नगरमें एक राजा सुयोधन रहता था । उसकी स्त्रीका नाम अतिथि था । उन दोनोंकी सुलसा नामकी पुत्री थी । सुलसाका स्वयंवर निश्चित हुआ, अतः सब ओर दूत भेजे गये । सब राजा चारण-युगल नगरमें एकत्रित हुए । अयोध्याके राजा सगरने भी वही जानेका उच्छव किया । पीछे स्नान कर जब सगर राजा तैल लगा रहा था तब शिरमें सफेद बाल देखकर वह बहु-

हृष्ट्वा तत्र गमने विरक्तेन बभूवे । तद्रावसरे मन्दोदरी धात्री राजानमुवाच । देव ! नवं पल्लिमिदं तथापूर्वद्व्यलाभं कवति तत्रैव विष्वभःमंत्री कथयति । हे राजन् ! सुलसा परनृपान् मुक्त्वा त्वामेव वर्णिष्यति तथाहु कुशलतया करिष्यामि । तत्थुत्वा हृष्ट्वा राजा तत्र अनुरक्षसेन्येन चचाल । तत्र केषुचिदिष्वसेषु गतेषु मन्दोदरी सुलसान्तिकं गत्वा हे पुत्री ! कुलरूपसौन्दर्यविक्रमनपविनयविभवबन्धु-सम्पदादयो मे गुणावरे विलोक्यन्ते ते सर्वेऽपि साकेतपती सगरे सत्तीसुत्राच । तत्थुत्वा सा तत्र रक्ता बभूव । अतिथिस्तज्जात्वा युक्तिवचनैस्तं दूषित्वा हे पुत्रि ! सुरम्यदेशी पोदनापुरे बाहुबलिकुले सर्वं राजमु ज्येष्ठो मम आता तुण-पिङ्गलः राजी सर्वं यशास्तत्पुत्रो मधुपिङ्गलः सर्वं रागुणं राद्यो—^१ नवे वर्यति वर्तमे भ त्वया वरमालया मदाख्येण माननीयः । साकेतपतिना सपत्नोद्गःखदायिना कि-

जानेमें विरक्त हुआ । उसी समय मन्दोदरी नामक धायने राजासे कहा—देव ! यह नवोन सफेद बाल आगको अपूर्वं द्रव्यका लाभ बतला रहा है । वहीं विष्वभू नामका मन्त्री था, वह भी कहने लगा कि हे राजन् ! सुलसा सब राजाओं को छोड़कर तुम्हें ही वरेगी ऐसा में चतुराई के उद्यम करूँगा । यह सुनकर हृषित हो राजा अनुरक्ष सेनाके साथ घल पढ़ा । वहीं कितने ही दिन व्यतात हो जानेवर एक दिन मन्दोदरो सुलसा के पाय जाकर बोली कि हे पुत्रि ! कुल, रूप, सौन्दर्य, पराक्रम, राजनीति, विजय, विभव, भाई बन्धु और सम्पत्ति आदि जो गुण वरमें देखे जाते हैं वे सभी गुण अयोध्याके स्वामी सगरमें विद्यमान हैं । यह सुनकर सुलसा उसमें अनुरक्त हो गई ।

जब सुलसाकी माता अतिथिको इस बातका पता चल गया तब उसने युक्ति-पूर्ण वचनोंसे राजा सगरको दूषित कर अर्थात् उसमें अनेक दोष दिखाकर कहा कि हे पुत्रि ! सुरम्यदेशके पोदनापुर नगरमें बाहुबली-के कुलमें सब राजाओं में श्रेष्ठ तुणपिङ्गल नामका मेरा भाई है । उसकी स्त्रीका नाम सर्वयशा है । उन दोनोंका मधुपिङ्गल नामका पुत्र है जो वरके समस्त गुणोंसे सहित है तथा नई अवस्थामें विद्यमान है । तुझे मेरे कहनेसे वरमालाके ढारा उसे ही सन्मानित करना चाहिये । सीतके दुःखको देनेवाले अयोध्याके राजा सगरसे तू क्या करेगी ? माताने यह सब कहा परन्तु सुलसाने उसके अनुरोध को स्वीकृत नहीं किया । तदनन्तर अतिथिने किसी उपायसे सुलसाके पास मन्दोदरी धायका प्रवेश

१. मुख्य इति ४० पुस्तके ।

करिष्यति ? इत्थवद् । सुलसा तु तदुपरोधं नामन्यत । अतिथिरपमेन मंशोब्दरी-
प्रवैरां तत्र निकारयामास । सा निजस्वामिनं लठ्ठं कार्यं जगाद् । राजाह हे विश्वभू-
मन्त्रिन् ! इदं भम कार्यं त्वया सर्वथा कार्यं । तत्त्वस्त्रा तेन विश्वभूवा स्वयंवर-
विधानं नाम सामुद्रिकं शास्त्रं नवीनं रचयित्वा तत्पुस्तकं संजूषायां निक्षिप्य यथा
कोऽपि न जानाति तथा बनमध्ये भू-तिरोहितं निदधे । तत्रोष्टा न भूशोधनं कार-
यन् हलाह्ले लग्नां संजूषां समानीय मया लब्धेयं चिरन्तनशास्त्रसंयुक्ता मंजूषा ।
स्वयमज्ञाननिव राजपुत्राणामध्ये वाचितकान् । वरकदम्बके कन्या पिङ्गाकां मालया
न संभावयेत् । संभावयेच्चेत्तहि सा कन्या च्छियते । पिङ्गाकेण सभामध्ये न प्रवेष्ट-
त्वं । पापभयालज्जितत्वं च प्रधानान्म दिभेति च न लज्जते । तदा स पापी
निषट्टिनीयः । सत्सर्वं भूत्वा तदगुणत्वालज्जया निर्गत्य हरिषेणगुरुपादमूले
दीक्षा जगात् । तत्प्रात्वा रामो विश्वभूमूर्त्तुः । अन्ये च कुटिला मुदं

रोक दिया । मन्दोदरी ने अपने स्वामी राजा सगरसे कहा दिया कि कार्य
नष्ट हो गया है । राजा ने विश्वभूमत्री से कहा कि हे मन्त्रिन् ! तुम्हें
मेरा यह कार्य सब तरहसे सिद्ध करना चाहिये । यह सुनकर विश्वभू-
मन्त्री ने स्वयंवर-विधान नामक एक नवीन सामुद्रिक शास्त्र की रचना
कर उसकी पुस्तक को एक पेटीमें रखका और जिस तरह कोई न जान
सके इस तरह पेटीको बनके मध्य दृश्यवी के अन्दर छिपा दिया ।

तदतन्तर मन्त्रीने उसी स्थानपर बगीचाके लिये भूमिको साफ कराना
शुरू किया । वह पेटी हूल को नोंकमे आ लगी । मन्त्रीने उस पेटीको
लाकर प्रकट किया कि मुझे प्राचीन शास्त्रसे युक्त यह पेटी मिली है ।
तथा स्वयं अनज्ञान-जैसा बनकर राजपुत्रोंके आगे उसने वह पुस्तक
बैचबाई । उसमे लिखा था कि दरोंके समूहमें कन्या ऐसे वरको वर-
मालासे सम्मानित न करे जिसके नेत्र पाल हों । यदि करेगी तो वह कन्या
मर जाएगी । पीले नेत्र बालेको सभाके दीन प्रवेश नहीं करना चाहिये
तथा पापके भयसे उसे लज्जित होना चाहिये । इतने पर भी यदि वह
सभाके प्रधानसे भयभीत न हो तथा लज्जित न हो तो उस पापोंको
निकाल देना चाहिये । यह सुन कर अपनेमें वह गुण होनेसे अर्थात् पीले
नेत्र हीनेसे मधुपिङ्गल लज्जाके कारण सभासे स्वयं बाहर निकल गया
और वहाँ उसने हरिषेण गुरुके पादमूलमें दीक्षा ग्रहण कर ली । यह
जानकर सगर राजा तथा विश्वभूमन्त्री हर्षको प्राप्त हुए । इनके सिवाय
अन्य कुटिल परिणामी मनुष्य भी हर्षको प्राप्त हुए । ससुच्छ और उनके

प्रापुः । सत्पूर्वास्तदान्विवाच्य विषादं प्रापुः । वज्ञनाकृतं पापभूयिनो च पश्यन्ति । अष्टविनानि महापूजां जिनेशिनामभियेकं च कुत्वा स्नातालंकृतां शुद्धतिविवारादिसन्निधौ कल्यां पुरोहितो रथमारोप्य नीत्वा सुभट्परिवृतान् भ्रात्सनारुदान् पृपान् स्वयंवरमण्डपे मथाक्रमं पृथक्कुलजात्यादिकं विनिदिश्य विरराम । सा सु समाप्तता सगरं बरमालया बरयामास । निर्मत्सरं राजमण्डलं तु तुतीष । अनयोरमुरुपः संगमो विधात्रा कृत इति । विवाहविधौ च जाते सगरः सुलसासहितस्त्र कानिचिद्विनानि तत्र सुखेन विविक्षा साकेतं गतः । भोगसुखमतुभवन् स्थितः । मधुपिंगलस्तु साधुः कस्मिच्चत्पुरे भिक्षार्थं प्रविशन् केनचिज्जैनेन तैमित्तिकेन दृष्टः । राज्याहृलक्षणोऽयं भिक्षाक्षी किलक्षणशास्त्रेणेति निनिन्द । तदाकर्ष्यपर एवं बभाषे । राजलक्ष्मी भुजान एथ सगरमनिणा वृद्धा दूषितः कृत्रिमं सामुद्रिकं

इष्ट जन विषादको प्राप्त हुए । ठोक ही है स्वार्थी मनुष्य वज्ञनाके द्वारा किये हुए पापको नहीं देखते हैं ।

तदनन्तर लगातार आठ दिन तक जिनेन्द्र भगवान् की महापूजा और अभिषेक किया गया । तथा शुद्ध तिथि और शुद्ध वार आदिके उपस्थित होनेपर जिसे स्नान कराकर उत्तमोत्तम अलंकार पहिनाये गये थे और जो उत्तम थोड़ाओंसे घिरी थी ऐसी उस कल्यां को रथ पर बैठा कर पुरोहित स्वयंवर मण्डपमें ले आया और उत्तमोत्तम आसनों पर बैठे हुए राजाओंको लक्ष्य करके क्रम क्रमसे उनके अलग अलग कुल तथा जाति आदिका निर्देश करके चुप हो रहा । किन्तु कल्यां तो सगर राजामें आसक्त थी इसीलिये उसने बरमालासे उसे वर लिया । वहाँ जो राजा ईर्ष्या-रहित थे वे 'विधाताने इनका योग्य सम्बन्ध जुटाया है' यह कहते हुए सन्तुष्ट हुए । विवाह चिर्धिके हो जाने पर सगर सुलसाके साथ वहाँ कुछ दिन तक सुखसे रहकर अर्थोद्या चला गया और भोग सम्बन्धी मुख्का अनुभव करता हुआ रहने लगा ।

उधर मधुपिंगल मुनि भिक्षाके लिये किसी नगरमें प्रवेश कर रहे थे । प्रवेश करते समय किसी जैन निमित्त-ज्ञानीने उन्हें देखा । उन्हें देखकर वह यह कहकर सामुद्रिक शास्त्र की निन्दा करने लगा 'कि यह पुरुष तो राज्य-प्राप्तिके योग्य लक्षणोंसे सहित है परन्तु भिक्षा-भोजी हो रहा है लक्षण शास्त्र से क्या प्रयोजन है ? अर्थात् लक्षण शास्त्र मिथ्या है । निमित्त ज्ञानीको बात सुनकर दूसरा आदमी इस प्रकार कहने लगा कि यह तो राज्यलक्ष्मीका ही उपभोग करता था परन्तु सगर राज्यके मन्त्रीने

रचयित्वेति लिजितस्तपो जपाह, सुलसा सगरं च । तत्प्रत्यक्षा कोपाग्निदोपितो निदानं चक्री, तपः फलेन सगरकुलं सबं जन्मान्तरे निमूँलयिष्यामीति । ततोऽस्मै मूलाज्ञुरेन्द्रस्य प्रथमभिष्ठानीके चतुःषष्ठिसहस्रासुरस्वामी बभूव । स महाकाला-सुरतामा निजदेवैर्वैष्टितो विभगेन पूर्वाभवसम्बन्धं ज्ञात्वा पापी चेतसा मन्त्रिणि तत्प्रभौ सगरे च प्रलहवैरोऽपि तौ हनुमतिच्छन्तरयुगं पापं लयोरिच्छन् तदु पापं सहायांश्च संचिन्त्य स्थितः । मम महापापं भविष्यतीति नाचिन्तयत् धिमृढता । तदभिप्रायसाथनमिदमत्रान्यत्रप्रकृतं । तथा हि अत्र भरते धबलदेशे स्वस्तिकावतिपुरे हरिवंशजो राजा विश्वावसुः । देवी श्रीमती पुत्रो वसुः । तत्रैव क्षीरकदम्बनामा सर्वशास्त्रज्ञी ब्राह्मणोऽध्यापकोत्तमः पूज्यो विश्वासतक्ष । तस्युक्तः पर्वती देशान्तरागतो नारदो विश्वाससुपुत्रो वसुरच एते ऋषोऽपि विश्वार्वा पारं प्रापुः ।

कृत्रिम सामुद्रिक शास्त्र रचकर इसे व्यर्थ ही द्वृष्टित ठहरा दिया इसलिये लिजित होकर इसने तप ग्रहण कर लिया और सुलसा ने राजा सगरको । यह सुनकर मधुपिंगल मुनिने कोध-रूपी अग्निसे प्रदीप्त हो निदान किया कि मैं तपके फलसे अन्य जन्ममें सगरके समस्त कुलको निमूँल कर द्वैगा, जड़से नष्ट कर द्वैगा । तदनन्तर वह भरकर असुरेन्द्रकी प्रथम भिष्ठ सेनामें चौंसठ हजार असुरोंका स्वामी हुआ । वह महाकाल नामक असुर अपने देवोंसे परिदृत हो विभंगावधि ज्ञानसे पूर्व भद्रका सब सम्बन्ध जान गया । वह पापी यद्यपि हृदयसे मन्त्री और उसके स्वामी राजा सगर पर अत्यधिक वैर धारण कर रहा था तथापि उन्हें मारना नहीं चाहता था । वह उनसे किसी भर्यकर पापको कराना चाहता था इसलिये उसके योग्य उपाय और सहायकोंका विचार करता हुआ चुप रह गया । इस विचारसे मुझे महापाप लगेगा ऐसा उसने विचार नहीं किया । सो ठीक ही है क्योंकि मृढता को धिक्कार है । अब आगे जो कथा लिखी जाती है वह इसी अभिप्राय को साधने वाली है ।

इस भरत क्षेत्रके धबल देश-सम्बन्धी स्वस्तिकावती नामक नगरमें हरिवंशमें उत्पन्न हुआ राजा विश्ववसु रहता था । उसकी स्त्रीका नाम श्रीमती था और पुत्रका नाम वसु था । उसी नगरमें एक क्षीरकदम्ब नामका ब्राह्मण रहता था जो सब शास्त्रोंका ज्ञाता था, अध्यापकोंमें श्रेष्ठ था, पूज्य था और अतिशय प्रसिद्ध था । क्षीर कदम्बका पुत्र पर्वत, दूसरे देशसे आया हुआ नारद और राजा विश्ववसुका पुत्र वसु ये तीनों उसके पास पढ़कर विश्वाजोंके पारको प्राप्त हो चुके थे । उन तीनों

तेषु ११वर्तोऽकीतिविपरीतार्थग्राही वसुनारदौ यथोपदिष्टार्थग्राहिणी । ते ब्रह्मोऽपि सोपाध्याया इर्भादिकं चेतुं बनं गताः । तत्र गिरिशिलोपरि २४स्थितः ३श्रुतधर-गुरुः । मुनित्रयं तस्मादष्टाङ्गनिमित्तं पपाठ । तत्समाप्तौ स्तुति कृत्वा सुखं तस्थी तस्य निषुणतापरीआर्थं गुरुः प्रपञ्च । भो मुनित्रय ! अभीयानस्य आश्रवयस्यास्य कि नाम, कस्य कि कुलं को भावः प्रान्ते कस्य का गतिर्भ-विष्यतीत्युक्ते एकः प्राह—अस्मत्समीपयो वसुः, राज्ञः सुतः, लीब्ररागादि-

शिष्योंमें पर्वत की कीति ठीक नहीं थी, वह विपरीत अर्थको ग्रहण करता था परन्तु वसु और नारद जैसा उपदेश दिया गया था वैसा ही अर्थ ग्रहण करते थे । एक दिन वे तीनों शिष्य उपाध्याय के साथ कुशा आदि इकट्ठा करनेके लिये बनको गये थे । वहीं पर्वत की शिलाके ऊपर एक श्रुतधर गुरु विराजमान थे तथा तीन मुनि उनसे बहटांग निमित्त शास्त्र पढ़ रहे थे । पाठको समाप्ति होनेपर स्तुति करके तीनों मुनि सुखसे बैठे थे । उनकी चतुराई की परीक्षा करनेके लिये गुरुने पूछा— हे मुनित्रय ! ये जो तीन छात्र पढ़ रहे हैं इनमें किसका क्या नाम है, क्या कुल है, क्या भाव है, और अन्तमें किसकी क्या गति होगी ? गुरुके ऐसा कह चुकने पर एक मुनि बोला कि हमारे पास जो बैठा है इसका नाम वसु है, यह राजाका पुत्र है, तीव्र राग आदिसे दूषित है और हिंसा धर्म है, ऐसा निश्चय कर नारकी होगा । दूसरा मुनि बोला—जो बीच में बैठा है वह पर्वत है, ब्राह्मणका लड़का है, तुवुँद्धि तथा कूर परिणाम बाला है, महाकालके उपदेशसे धर्मवर्ण (अर्थवै वेद) नामक पाप शास्त्र-को पढ़कर खोटे मार्गका उपदेश करेगा, तथा 'हिंसा हो धर्म है' इस प्रकारके रीढ़ध्यानमें तत्पर हो बहुत जनोंको नरक भेजकर स्वयं भी नरक जावेगा । तीसरा मुनि बोला—यह जो पीछे बैठा है इसका नाम नारद है, यह ब्राह्मण है, बुद्धमान है, धर्मध्यानमें तत्पर रहता है, आश्रित मनुष्योंको अहिंसा धर्मका उपदेश देता है, यह गिरितट नगरका स्वामी होगा और अन्तमें दीक्षा लेकर सत्रार्थि सिद्धि जावेगा । उन तीनों मुनियोंके ढारा कहे हुए उत्तर को सुनकर श्रुतधर गुरु 'आपलोगोंने निमित्त शास्त्रको अच्छी तरह पढ़ा है' यह कहते हुए संतुष्ट हुए ।

१. अकीतिविपरीतार्थग्राही ३ ।
२. स्थितं मुनित्रयं क० ।
३. श्रुतधरमुनिः ३ ।

कूपितः, हिंसाधर्म विनिष्टित्य नारके भावी । द्वितीयो मुनिः प्राह-मध्यस्थितो पर्वतः, द्वितीयः, 'तुमुद्दिः कूरः, महाकालोपदेशादवर्णं पापशास्त्रं पठित्वा दुमगिंदेशको हिंसैव धर्मं इति रौद्रध्यानपरायणो बहून् नरके प्रवेश्य स्वयमपि नरकं पास्यति । तृतीयो मुनिरुद्वाष-एव पश्चात्स्थितो नारदः, द्विज, घीमान्, धर्म-ध्यानपरायणोऽहिंसालक्षणं धर्मं धितानां व्याकुबणी भावीगिरिताल्यपुरम्य स्वामी भूत्वा दीक्षित्वा सर्वर्थसिद्धिं पास्यति । तन्मुनिश्चयोक्तं ध्रुतघरः श्रुत्वा साधु पठितं निमित्तं भवदिभरिति तुष्टात् । श्रीरक्तदम्ब उपाध्यायः समीपतरतस्माश्च-स्तदाकर्णं तदत्थिधिच्छित्तमशुभं धिगिति भणित्वा किमत्र मया क्रियते इति विचिन्य तत्रस्थित एव मुनीनभिवन्न वैमनस्येन शिष्यैः सह नगरं प्रविवेश । तदनन्तरमेकवर्षेण ३शास्त्रे बालत्वे पूर्णे जाते विश्वावसुवेसुवे राज्यं बत्वा दीक्षा

श्रीर-कदम्ब उपाध्याय निकटवर्ती एक दृक्षके नीचे बैठा-बैठा वह सब मुन रहा था सुनकर 'थह सब विधिको चेष्टा है, विधिको इस अशुभ चेष्टाको धिक्कार है' ऐसा कहकर वह विचार करने लगा कि इस विषय में क्या कर सकता हूँ ? तदनन्तर वहाँ बैठे-बैठे ही मुनियोंको नमस्कार कर वह बेमनसे शिष्योंके साथ नगरमें प्रविष्ट हुआ ।

तदनन्तर एक वर्षमें जब वसुका शास्त्र विषयक बाल्य अवस्था पूर्ण हो गई अर्थात् उसका जब शास्त्राध्ययन समाप्त हो गया तब विश्ववसुने उसके लिये राज्य देकर दीक्षा ग्रहण कर ली । वसु निष्कण्टक राज्य करने लगा । एक दिन वह क्रीड़ा करनेके लिये बनमें गया । वहाँ कुछ पक्षी उड़ रहे थे । वे पक्षी अचानक उफककर नीचे गिर गये, उन्हें देख वसु विचार करने लगा कि पक्षी आकाशमें उड़ते-उड़ते गिर जाते हैं उसमें कुछ कारण अवश्य होगा, ऐसा विचार करके उसने उस स्थानपर अपना बाण छोड़ा । परन्तु वह बाण भी वहाँ रुक गया । तदनन्तर वसुने सारथिके साथ वहाँ स्वयं जाकर वहाँ का स्पर्श किया । यह आकाश स्फटिकका स्तम्भ है, यह जानकर वसु उसे ले आया तथा इसका किसीको हाल मालूम नहीं होने दिया । उसने उसके चार बड़े-बड़े पाये बनवाकर सिंहासनका निर्माण कराया । वह उस सिंहासन पर बैठा, राजा आदि उसकी सेवा करने लगे । राजा वसु सत्यके माहात्म्यसे अन्तरिक्ष सिंहासन पर बैठा है, इस प्रकार आश्चर्य करते हुए लोगोंने उसको उन्नति की घोषणा शुरू कर दी ।

१. मन्दुद्दिः क० ।

२. शास्त्रेण ग० ।

वग्राह । वसुर्निष्करणकरार्ज्यं कुर्वन्तेकदा वनं ऋषितुः गतः तत्राकाशे उड्डीयमानाः [उड्डीयमानान्] पश्चिमः स्खलित्वा पतितान् हृष्टवा चिन्तयामास । बाकाणे उड्डीयमाना यत्पश्चिमः पतन्ति तत्र किप्रपि कारणं अविष्टतोति तस्मिन् इदेष्व वाणं मुमोच । सोऽपि तत्र स्खलितः, तत्र स्वर्यं जगाम सारथिना सह तत्र पत्परां । आकाशरक्टिकस्तंभं विज्ञाय पर्वरविदितं तमानयामास । तत्य पादचतुष्पदं पृथु निर्माण्य तत्तिहासनमारुद्धु नृपादिभिः सेव्यमानः सत्यमाहात्म्यात् खे सिहासने स्थितो वसुरिति विस्मयमानेन लोकेन 'धोषितीन्नितिस्तस्यौ' । एवमस्य काले गच्छति पर्वतनारदावेकदा समित्युप्यार्थं वनं गती । तत्र नदीतटे मयूरा चलं पीत्वा गतास्तमार्गदर्शनात्मारदः प्राह-ये मयूराः पानीयं पीत्वा गतास्तेष्वेको मयूरः सन्त मयूरो वर्तन्ते । तत् श्रुत्वा पर्वतः प्राह-मृषा वार्तासी । मनस्यसहमानः पणित-

इस प्रकार वसुका समय व्यतीत हो रहा था । एक दिन पर्वत और नारद समिधा तथा फूलोंके लिये वन गये । वहाँ नदीके तटपर पानी पीकर कुछ मयूर जा चुके थे । उनका मार्ग देखकर नारदने कहा कि जो मयूर पानी पीकर गये हैं उनमें एक मयूर है और सात मयूरो हैं । यह सुन कर पर्वत ने कहा कि यह बात मिथ्या है । तथा मनमें सहन न करते हुए उसने एक शार्त बांधली । तदनन्तर कुछ दूर जाकर नारदके कथनको सत्य जानकर वह विस्मय करने लगा । पश्चात् आगे जानेपर उन्होंने हाथियोंका मार्ग देखा । उसे देख नारद ने कहा—यहाँसे जो हस्तनी गई है वह बायें नेक्से अन्धी थी, उसके ऊपर रेशमी बस्त्र पहिने हुए एक गम्भिणी स्त्री बैठी थी तथा आज उसने पुत्र उत्पन्न किया है । इसके उत्तर में पर्वतने कहा कि जिस प्रकार कभी अचानक अन्धा सर्वे अपने विलमें प्रवेश कर जाता है उसी प्रकार अचानक तुम्हारा पहलेका बचन सत्य होगया परन्तु यह तो मिथ्या है । मेरे द्वारा अविदित-अआत बया है ? ऐसा कौन पदार्थ है जिस में जान न सकूँ । इस प्रकार मन्द हास्य करके उसने दृष्ट्यकि साथ हृदयमें विस्मय प्राप्त किया और नारदके कथन को असत्य करनेके लिये हस्तनीके पीछे चलता हुआ वह नगर में जा पहुँचा । वहाँ जाकर नारदने जैसा कहा था वैसा ही पर्वतने देखा ।

धर आकर पर्वत ने माताके आगे कहा कि हे मात ! मेरे पिताने जिस प्रकार नारदको पढ़ाया है उस प्रकार मुझे नहीं पढ़ाया । इनके

१. धोषितीडनेति न० ।

क्षन्धनं बबन्ध । तब किंचिदन्तरं मरका नारदोक्तं सद्भूतं शास्त्रा विस्मित्याग्रे गत्वा करेणुमार्गं ददर्श । तं दृष्ट्वा नारद उवाच-एषा हस्तिनी गता, सा बामलोचने-नान्धा, तामारुढा गर्भिणी स्त्री, पट्टाम्बरसहिता, अद्य पुश्पमजोजनत् । अन्व-सर्पायिलप्रवेशावत् पूर्वोक्तं तब वचनं शादृच्छकं सत्यमभूत्, इदं तु मिथ्या मयाऽविदितं किमस्तीति स्मित्वा स शासुयं विस्मयं चित्ते प्राप्य तदसत्यं कर्तुं हस्तिनी-मनुगतः पुरं प्रविवेश । नारदोक्तं तथैव ददर्श । गृहमेत्य पर्वतो मातुरप्रे जगाद । कि जगाद ? मातः । मे पिता यथा नारदे शिक्षितवांस्तवा मां नामीपठत्, अस्य चेतसि नारदो वर्तते नाहमिति । तेन वस्तनेन विश्राया हृदयं विदारितं । पापीदया-विपरीतं तथा विचारितं । शोकं च ब्राह्मणी चकार । क्षीरकदम्बस्तु स्नात्वा अग्निहोत्रादिकं कुस्ता मुक्त्वा च स्थितः । तं प्रति ब्राह्मण्युवाच-त्वयोः पुश्पे न शिक्षितः, लोको व्युत्पादितः । क्षीरकदम्ब उवाच-प्रिये । अहं निर्विशेषोपदेशः

हृदयमें नारद है, मैं नहीं । पुत्रके इस वचनसे ब्राह्मणीका हृदय विदीर्ण होगया । पापके उदयसे उसने विपरीत विचार किया । ब्राह्मणीने शोक किया । जब क्षीरकदम्ब स्नान, होम तथा भोजन कर बैठा तब ब्राह्मणी बोली कि तुमने संसारको तो व्युत्पन्न बनाया, पर पुत्र को शिक्षित नहीं किया । क्षीरकदम्ब बोला—ऐ ! मैं एक लापाता लापाता देता हूँ इसन्तु प्रत्येक पुरुषमें बुद्धि भिन्न-भिन्न होतो है इसलिये नारद कुशल होगया । प्रिये ! तुम्हारा पुत्र स्वभावसे ही मूर्ख है तथा नारदसे ईर्ष्या रखता है, क्या किया जाय ? इतना कहकर उसने स्त्रीको विश्वास उत्पन्न करानेके लिये पर्वतके सामने नारदसे पूछा । हे नारद ! तुमने वनमें छूमते हुए किस कारण पर्वतको बहुत आश्चर्य में डाल दिया था ? नारद बोला—स्वामिन् ! पर्वतके साथ जाता हुआ मैं हास्य कर्या कर रहा था । उसी समय पानी पी चुकने वाले मयूरोंका एक सूणड नदीसे लौट रहा था । उनमें एक मयूर अपने चन्द्रक समूहको पानीके मध्य ढूबजाने से भारी होनेके कारण भयभीत हो लौटकर उल्टे पैर रखता हुआ गया था । शेष मयूर घोड़े जलसे भीगने के कारण पंखोंको फड़फड़ा कर गये थे । वह देखकर मैंने अनुमानसे कहा था कि उन मयूरोंमें एक तो पुरुष था और वाकी स्त्रियाँ थीं । तदनन्तर वनके मध्यसे आकर कोई पुरुष नगरके समीप हस्तिनी पर बैठी स्त्राको नगरकी ओर लिये जा रहा था । ठहरने के स्थान पर हस्तिनीने पेशाब की थी । वह पेशाब उसके पिछले धीरोंसे सट्टो हुई गिरी थी इसलिये मैंने उसे हस्तिनी कह दिया था । वह हस्तिनी जिस मारसि बाई थी उसके दोर्ये भागके बूँद तथा लताएँ भाज रुई थीं इस-

पुर्व पुर्व प्रति 'सतयस्तु भिन्नाः सन्ति । सेन नारदो कुशलो च भूत । प्रिये ! त्वं त्वं त्वं स्वभावेन भवो नारदेऽसूयते किं क्रियते । हत्युभला लिया विश्वास-
मृत्यादयितुं पर्वतसमीपे नारदं पश्यत्तु । हे नारद ! त्वं वने आम्यन् केन कारणेन
पर्वतस्य बहुविस्मयं कारितवान् । नारद उवाच-स्वामिन् ! पर्वतेन सह वनं गच्छन
नर्मकथापरः पीतवारां भयुराणां सधो नदा निवर्तने स्वचम्भकाकलापाम्बुजघ्यमजडन-
गीरवात् भीत्वा व्यावृत्य विमुखं कृतपश्चात्पदस्थितिः शिखी च गतवानेकः ।
शोषास्त्वोषउजलादिता पवभागं विमुद अगुः । तं दृष्ट्वाहमुखवान्-पुमानेकः शोषाः
स्थित्य इत्यनुभावात् । ततो वनान्तरात्कृष्णदागत्य पुरस्तमीपे करिष्यारुद्धां स्थित्य
नम्न् पुरं प्रति पविष्यमपादाम्यां प्रयाणके स्वमूढबहुनात् करिणीमक्षयर्य । इक्षिष्णे
भागे तरुदीरुद्दर्मेन वामलोचनेऽन्धां जगाव । भागात्प्रच्छस्य व्यावृत्य व्यावृत्य व्यावृत्य व्यावृत्य
शीतच्छायाभिलाषेण पुलिनस्थले सुप्ताया उवरस्पर्शमार्गेण गर्भिणीं गुल्मलन्नदशाया
स्थित्यं च २वेद । करेणुश्चित्पार्गं गृहोष्टिसितकेतुदर्शनेत पुत्रजन्मोक्तवान् । ततश्चुत्ता
विश्रो निजापराभाभावं भार्याया अक्षयत् । तदा पर्वतमाता प्रसन्ना जाता । प्रिये !

लिये मैंने उसे बायें नेत्रसे अन्धो कहा था । उसपर बेठी हुई स्क्रीने घकाघट के कारण मार्गसे कुछ दूर हटकर शीतल छाया की इच्छासे नदीके तटपर शयन किया था । उसके पेटका स्पर्श होनेसे वहाँ जो चिह्न अनग्रह्य थे उनसे उसे गर्भिणी तथा ज्ञाहीमें लगे हुए वस्त्रके छोरसे स्त्री जाना था । हस्तिनी जिस मार्गसे गई थी वहाँ गृहके ऊपर सफेद पताका फहरा रही थी इसलिये पुत्र-अन्नम हुआ है, ऐसा कहा था । नारद का उत्तर सुनकर आहुणने स्त्रीसे कहा कि इसमें मेरा अपराध नहीं है । जब पर्वत की माता प्रसन्न होगई तब आहुणने यह कहा कि प्रिये ! मुनिने कहा था कि पर्वत नरक जावेगा । मुनिके कथन की प्रतीतिके लिये भार्या तथा स्वयं आहुणने एकान्त में जाकर चून के दो बकरे बनाये और पुत्र तथा छात्र-के भावकी परोक्षाके लिये आहुणने एक बकरा पुत्रके लिये और दूसरा शिष्यके लिये दिया । साय ही यह आदेश दिया कि तुम लोग जहाँ कोई देल न सके ऐसे स्थानमें जाकर गन्ध, पुष्प तथा मञ्जुल द्रव्योंसे इनकी पूजा करो और कान काटकर दोनों बकरोंको आज ही वापिस लाओ ।

उन दोनोंमें पापी पर्वतने 'इस वन में कोई नहीं है' यह विचारकर बकरेके दोनों कान काट लिये और आकर वितासे कह दिया कि पूज्य !

१. श्रति-सतयस्तु भव्ये ददाति पाठः म० ।

२. व वेद क० च०, लितेव म० ।

मुनिना भाषितं यत्पर्वतो नरकं यास्यति । वल्लीत्यथं भार्या स्वयं च एकान्ते गत्वा पिष्टेन हौ वस्ती निर्माय पुक्षात्रभावपरीक्षणार्थं द्विजोत्तम एकं पुत्राय द्वितीयं छात्राम् ददी । पराबृक्षप्रदेशे गत्वा गन्धपृष्ठमंगलैरचित्काणंच्छेदं कृत्वा एतावद्वैवानय ते युवां । तत्र पर्वतः पापी अस्मिन् वने न कोऽपि वहंते इति कर्णो छेदशित्वा पितृसामागत्य पूज्य ! यथा त्वयोक्तं मया तथैव कृतमित्यवदत् । नारदस्तु वनं गत्वा विचारयति गुरुणोक्तमदृश्यप्रदेशोऽत्य कर्णो छेदनीयादिति । चन्द्रः पश्यति । रविनिरीक्षते । नक्षत्राणि विलोकन्ते । यहास्तारकाश्च पश्यन्ति । देवता निरीक्षन्ते । सन्निहिताः पक्षिणो मृगजातयश्च निषेद्धु न शक्यन्ते इति विचाय कर्णयोऽस्तेदमकृत्वा गुरुसमीपमागतो नारदः । यतोऽर्यं भव्यात्मा वनेऽदृष्टदेशस्यासंभवात्, नामस्यापनाप्रकृत्यभावानां विचारचतुरः पापापूर्णातिकारणक्रिपणाम-कर्तव्यत्वावद्युमिमं छार्भं विचित्रकृत्वावयवं नाकार्बभित्युवाच । तत्भुत्वा खीरकदम्बः

आपने जैसा कहा था वैसा मैंने कर दिया है । परन्तु नारद वनमें जाकर विचार करता है कि गुरु ने कहा था—अदृश्य स्थान में जाकर इसके कान काटना चाहिये । यहीं चन्द्रमा देख रहा है, सूर्य देखता है, नक्षत्र देखते हैं, पक्षी और नामा प्रकारके मृगोंको नहीं रोका जा सकता, यह विचार कर नारद कानोंको बिना काटे ही गुरुके पास आगया क्योंकि वह भव्य जीव था । उसने कहा कि वनमें ऐसे स्थानका मिलना असम्भव था जिसे कोई नहीं देख रहा हो । मैं नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव निष्केपके विचार करनेमें चतुर हूँ, पाप और अपकोर्तिको कारण जो क्रियाएँ हैं उन्हें नहीं करना चाहिये, इस विचारसे मैंने इस बकरेको छिनांग नहीं किया है अर्थात् इसके कान नहीं काटे हैं । नारदका उत्तर मुनकर खीरकदम्ब वापने पुत्रकी मूर्खता को जान गया । वह विचारने लगा कि मिथ्यादृष्टि एकान्त से कहा करते हैं कि कार्यकी सिद्धि कारण से होती है, वह असत्य है । यहीं कारण गुरु है और शिष्यकी बुद्धिका उत्कर्ष होना कार्य है परन्तु वह नियमसे नहीं होता क्योंकि मेरे पढ़ाने पर भी मेरा पुत्र मूर्ख है । इसलिये एकान्त मतको धिक्कार है । आखिर वह कुमत ही है । कारण के अनुसार कार्य कहीं होता है और कहीं नहीं होता है 'ऐसा अनेकान्त मत ही सत्य है' इस तरह उसने अनेकान्त मतकी अनेक बार स्तुति की । नारद को योग्यता को जानकर खीरकदम्ब ने कहा—हे नारद ! तुम्हों सूक्ष्म-बुद्धि और यथार्थ ज्ञाता हो, आजसे मैं तुम्हें उपाध्याय पद पर स्थापित करता हूँ, तुम्हें सब शास्त्रोंकी व्याख्या करनी

स्वपुत्रस्य जडत्वभावं ज्ञात्वा विचारयामास । यन्मिष्यावृष्टय एकान्तेन तुवत्ति कारणात्कार्यसिद्धिरिति तदसत्यं अत्र कारणं गुरुः कार्यं शिष्यबुद्धयुक्तार्थः तस्वेकान्तेन न भवति यतो मयि पाठ्यस्थपि मत्युत्रो जड हति तेन विमेकान्तं भवते तत्कुमतमेव । कारणानुगतं कार्यं क्वचिद्भवत्येव क्वचिन्त भवत्येवेत्यनेकान्तमतं सत्यमित्यनेक-शास्त्राब्दाव । नारदस्य योग्यत्वं ज्ञात्वा नारद ! त्वमेव सूक्ष्मबुद्धिर्यथार्थंज्ञाता । अस्य प्रभूरयुपाध्यायपदे त्वं मया स्थापितः । सर्वज्ञास्त्राणि त्वया व्याकरणानि इति तं प्रपूज्य प्रावर्षयत् । धीमतां सर्वेन्म गुणैरेव ग्रीतिः । निजसन्मूलं स्थितं पुनः जगाद-त्वं विवेकमन्तरेणीव एतद्विलेपकं चकर्त्त्वा, ज्ञास्त्रादपि तत्र कार्याकार्य-विवेको नास्ति, मञ्चदक्षुपरोमे च तत्रे चक्ष्य जीविष्यसि मूर्खः । एवं शोकेम दत्तशिक्षो नारदे वसुष्वैरो वशूः । कुधियामोहशी गतिर्भवति ।

ज्ञाहिये । इस प्रकार उसका गत्कार कर उसे खूब बढ़ावा दिया । बुद्धि-भानों को सब जगह गुणोंसे ही प्रेम होता है । अपने सामने बैठे हुए पुनः से उसने कहा कि तूने विवेक के बिना ही यह विरुद्ध कार्यं किया है । ज्ञास्त्रसे भी तुझे कार्यं तथा अकार्यं का विवेक नहीं हुआ । अरे मूर्ख ! मेरे नेत्रोंके पीछे अर्थात् मेरे मरने के बाद तू कौसे जीवित रहेगा ? इस प्रकार पिता ने तो उसे शिक्षा दी परन्तु शोक के कारण वह नारद पर बैर बौध बैठा । सो ठीक ही है क्योंकि दुर्बुद्धि मनुष्यों की ऐसी ही गति होती है ।

एक दिन क्षीरकदम्ब गृह आदिका त्याग करता हुआ वसुके पास आकर बोला कि यद्यपि पर्वत और उसकी माता दोनों ही मन्द-बुद्धि हैं तथापि भद्र ! मेरे पीछे उनकी सब तरह से रक्षा करना । वसुने कहा— हे पूज्यपाद ! आपके उपकार से मैं प्रसन्न हूँ । यह कार्यं तो बिना कहे ही सिद्ध था, इस कार्यमें मुझसे यह क्या कहना था ? इसमें सन्देह नहीं करना ज्ञाहिये । आप यथायोग्य अपना परलोक सुधारिये । इस प्रकार की मनो-हर बातीं रूपी अम्लान मालाके द्वारा राजा वसुने जाह्नव की पूजा की । क्षीरकदम्ब उपाध्याय ने समीचीन संयम को प्राप्त कर अन्तमें संन्यास-मरणके द्वारा उत्तम स्वर्गं लोक प्राप्त किया । इधर पर्वत पिताका स्थान प्राप्त करके सब दिशाओंसे आगत शिष्योंके लिये ज्ञास्त्रोंका व्याख्यान करने लगा । सूक्ष्म-बुद्धि नारद भी उसी नगरमें स्थान बनाकर विद्वानोंके साथ रहने लगा और व्याख्यासे यशको धारण करने लगा अर्थात् ज्ञास्त्रों-की व्याख्या से उसका यश सब ओर फैलने लगा ।

उवाच्यापस्तेक्ष्या गृहाचिरं त्वचन् वसुं गत्वोवाऽपर्वतस्तम्भाशा च द्वाकपि
मन्त्रविद्यो तदापि यत्पशोके ख्यात सर्वतो भद्र ! पालनीवाचिति । वसुस्वाद—
हे पूज्यपाद भवदनुभवाद्यर्हं प्रीतोऽस्मि ! एतदनुकृतमेव सिद्धं । अस्मिन् कार्ये
मनेदं कि वक्तव्यं । अत्र सन्देहो न कर्त्तव्यः । यथोचित् परलोकं कर्तुमहृति
भवान् । इति मनोहरकमाैम्लानमालया डिजोतमं नृप वासवं । क्षोरकदम्ब उपा-
च्यायस्तु सम्यक्त्यमं प्राप्य संचारं कृत्योत्तमं स्वर्गलोकमवत्य । पर्वतस्तु पितृस्थान-
मध्यास्य विकविदिक्षिण्याणां व्याकर्तुं रति चकार । तस्मिन्नेव नगरे नारदो
विद्वान्नामिति॒ सूक्ष्मवृद्धिविहृतस्थानो व्याख्याया यशो बभार । एवं तयोः काले
गच्छति सत्येकाहा विद्वस्थाय “अजैर्द्दर्शयिति” वाक्यस्थाधप्रलयणे महान्
विवादो बभूव । नारदः प्राह—प्रकुरुताकितरहितं यदकीर्त्तं त्रिवर्षस्य अजमिति
कथ्यते तद्विकारेण वन्हिमूले वेवार्चनं विद्वासो यज्ञं वर्तति । पर्वत उपन्यसति स्म
वनकम्बेन पशुवेदस्त्रिकारेण हिरण्यरेतसि होतं यशो विषीयते । इति तयोः

इस तरह पर्वत और नारद दोनोंका समय बीत रहा था । एक दिन
विद्वानोंकी सभामें “अजैर्द्दर्शयम्” इसका वर्ण निरूपण करनेमें विवाद
उठ खड़ा हुआ । नारद कह रहा था कि अंकुर की शक्तिसे रहित तोन
वर्षके पुराने जी 'अज' कहलाते हैं । उनसे बने हुए साकल्यके द्वारा अग्नि-
कुञ्ज में देव पूजा करनेको विद्वान् लोग यज्ञ कहते हैं और पर्वत कहता था कि अज शब्दसे पशुका एक भेद अर्थात् बकरा लिया जाता है उसके द्वारा
निर्मित सामग्रीसे अग्नि में होम करना यज्ञ कहलाता है । इस प्रकार उन
दोनों विद्वानोंकी व्याख्यान को सुनकर साथु स्वभाववाले श्रेष्ठ ब्राह्मण
बोले कि आगि-बवसे वर्ण नहीं होता । नारदके ऊपर इत्यहि होनेके
कारण यह दुष्ट पर्वत पूषिवी पर अवभै जलानेके लिये ऐसो व्याख्या कर
रहा है । यह पापी है तथा साथ साथ वातलिप करने आदि कार्योंके
अधोग्रह्य है अर्थात् इस पापीके साथ वातलिप भी नहीं करना चाहिये ।
ऐसा कह कर लोगोंने उसे चौटों से पीटा और अपमानित कर लोकमें
घोषित कर दिया कि यह पापी है । दुबु॑दिका यही ऐसा फल होता है ।

१. म्लानं मालया ३० ।

२. विकविदि॒ विकालो म० विश्व विकाणो ३० ।

३. व्याकर्तु॑मिति चकार ३० ।

४. (यथोऽविद्योऽसे)

सुप्तोप्रब्लेष्टन्यासं श्रुत्वा ब्राह्मणमुक्त्याः साधवः प्राप्तः प्राणिवधाद्वर्मो न भवति । नारदे मत्सरित्वात् पर्वतोऽथन्यामधर्मं प्रवर्तयितुं दुरात्मोपन्यास्तत् । पतितोऽथग्योग्यः सहस्राषणाचिषु, इत्युत्त्वा चपेटाभिस्ताडितः निर्भृत्सतोऽर्थं पापात्मा लोके ओषितः १ दुर्बुद्धेः फलमन्त्रैवेवृष्टा भवति । एवं सर्वेरपि बहिष्कृतो मानभ्रग्नद्वन्न जगाम तत्र ब्राह्मणवेषेण कृताङ्कारेहणसन्नसोपानपदवीमिव बलीरुद्गृहा अन्व-
ज्ञायेव मुहुः स्वलता विरलेनां सितेन मृष्टजेन तत्र राजतं शिरस्त्राणं समीपयम-
जादेभ्यादिव दधता वराङ्गनासमासन्नसुखेनेव मीलञ्जवक्षुषा चलचिल्लन्करेण करि-
णेव कुपितसर्वेषां ऊर्ध्वंश्वासिनः राजवल्लभेनेवाऽप्यतो २ स्फुटं पश्यता भन्नपुष्टेन
अपट्टजल्पितेन ३ सभेन योग्यदण्डेन राजेव त्रिगुणीकृतमुपदोतंषारयता विश्वभूनुप-
सुलसासु निजं बद्धकोषं बन्तुमिव स्वाभिमतारभसिद्विग्वेषिणा पर्वते पर्यटन् पर्वतो
महाकालाद्युरेण दृष्टः सन् तमभिगम्यानन्यं चामिवावनमन्यथात् । महाकालस्ते

इस प्रकार सबके द्वारा बहिष्कृत होकर मान भंगके कारण पर्वत बनमें
चला गया ।

वहाँ बनमें मधुपिङ्गल मुनिका जीव महाकाल नामका असुर थूम
रहा था । वह ब्राह्मणके वेषमें था, यमराजके चढ़नेके लिये निकटवर्ती
सीद्वियोंके मार्गके समान अनेक बलियों-सिकुड़तोंको धारण कर रहा था,
अन्धे मनुष्य की तरह बार बार गिर रहा था । उसके शिर पर विरल
तथा सफेद बाल व्याप्त थे जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो समीपदर्ती
यमराज से होनेवाले भयके कारण चौदोका शिरस्त्राण ही धारण कर
रहा हो । उसके नेत्र कुछ कुछ बन्द थे उनसे ऐसा जान पड़ता था
कि मानों वृद्धावस्था रूपी स्त्रीके आलिङ्गनसे उत्पन्न मुखसे ही उसके
नेत्र बन्द हो गये थे । वह उस हाथीके समान जान पड़ता था जिसकी कटी
सूँड हिल रही हो । क्रुद्ध सौपके समान ऊपर को इवास खींच रहा था,
राजा के प्रिय मनुष्यके समान आगे स्पष्ट नहीं देखता था, उसकी पीठ
कुकी हुई थी वातालिप अस्पष्ट था, हाथमें योग्य दण्ड लिये हुए था
इसलिये योग्य दण्ड-सेनासे सहित राजाके समान जान पड़ता था ।
विश्वभू मन्त्रो, सगर राजा और सुलसा स्त्री पर अपने बद्ध क्षोधको प्रकट
करनेके लिये ही मानोंतीन लड़ का यज्ञोपवीत धारण कर रहा था और
अपने हृष्ट कायके आरम्भ-सम्बन्धी सफलता की खोज कर रहा था ।

१. अप्रतः स्फुट क० ।

२. असमेत योग्यदण्डेन क० ।

समाश्वास्य सादरं तव स्वस्त्यस्तिवस्युवाष । तमविज्ञातपूर्वत्वात्प्राह त्वं कुलस्त्यो धने पर्वतनं कस्मादिति । पर्वतस्तु निजवृत्तान्तमादितः । प्राह । तत्प्रश्नत्वा महाकाल-स्थित्यायामास । मम शत्रुं सगरं निर्विधीकर्तुं समर्थं एष स्मात् । भीः पर्वत ! तव पिता स्थानिलः 'अहं विष्णुरूपमन्युः । एतो द्वावपि भौमोगाद्याद्यशिष्यौ कास्त्राम्यासमकारिष्यातां । स्वतिष्ठत मम धर्मज्ञाता तमहं दृष्टुमागतः समा गमनत्वत्तर्गद्धु जातं । पुत्र पर्वत ! मा त्वं भैषीः तव शत्रुविज्वसेऽहं सहायो भविष्यामि । इति क्षीरकदम्ब पुत्रेष्टार्थस्यानुगता अथर्वणगतः 'षष्ठिसहस्रप्रमिताः पृथक् ऋचो वेदरहस्यानीति स्वयमुत्पाद्य पर्वतमध्याप्य शान्तिपृष्ठभिजारात्मकियाः पूर्वोक्तं-मन्त्रपूर्णनिशिताः पवनोपेतामिनज्ज्वालासमा इष्टेः कलमुत्पादयिष्यन्ति, पशुहिंसनात्य-

पर्वत भी वहीं एक पर्वत पर घूम रहा था । महाकाल असुरने उसे देखा । पर्वत ने संमुख जाकर तथा नमस्कार करके अभिवादन का उच्चारण किया । महाकाल ने उसे आश्वासन देकर कहा कि तुम्हारा कल्याण हो और पहलेसे परिचित न होनेके कारण कहा कि तुम कहासि आये हो और बनमें किस लिये घूम रहे हो ? पर्वतने प्रारम्भसे अपना सब वृत्तान्त कहा । उसे सुनकर महाकाल ने विचार किया कि मेरे शत्रु सगरको निर्वश करनेके लिये यह समर्थ हो सकता है । उसने कहा कि हे पर्वत ! तुम्हारे पिता स्थानिल (क्षीरकदम्ब) और मैं विष्णु रूप मन्यु, ये दोनों ही भौम नामक उपाध्यायके शिष्य थे तथा उनके पास शास्त्रका अभ्यास करते थे । तुम्हारे पिता मेरे धर्म भाई थे, इसलिए मैं उन्हें देखनेके लिये आ रहा था परन्तु मेरा आना व्यर्थ हुआ । बेटा पर्वत ! तुम डरो मत, तुम्हारे शत्रुके नाममें मैं सहायक होऊँगा । इस प्रकार क्षीरकदम्ब के पुत्र (पर्वत) के अभिलिष्ट अर्थसे सम्बन्ध रखनेवाली अथर्ववेद सम्बन्धी साठ हजार पृथक् ऋचाएँ पूर्वोक्त मन्त्रोंसे तोक्षण-शक्तिशालिनी होती हैं और 'ये वेदके रहस्यको बतलाने वाली हैं,' ऐसा कह कर उस महाकाल असुरने स्वयं बनाई तथा पर्वत को पढ़ाई और कहा कि शान्तिक, पौष्टिक तथा अभिचारात्मक (बलिदानात्मक) क्रियाएँ यदि पशु-हिंसाके साथ प्रयोगमें लायी जाती हैं तो वायु से युक्त अग्नि की ज्वालाके समान यज्ञका फल उत्पन्न करती है । इसके बाद उसने पर्वतसे यह भी कहा कि हम साकेस-अयोध्या

१. क्षीरकदम्बस्य द्वितीय नाम (क + दी) ।

२. षट्प्राभृते वर्तन्ते पूर्व । एका मेकां ऋचं प्रति शतं शतं ऋचः प्रक्षेपित-वान् तेन षष्ठिसहस्रप्रमिता ऋचो वाताः (क + दी) ।

युक्ता- सत्य इति । ततः साकेतपुरमध्यास्य शांतिकादिफलप्रदं हिंसायोगं सपारम्य प्रभावं वर्णं कुर्महे । इति पर्वतमुख्यत्वा वैरिविनाशार्थं निष्ठतीवदेत्पान् सगरराष्ट्रस्य वाधां ज्वराविभिन्नूम् कुरुष्वमिति सम्ब्रेष्य पर्वतेन युतः साकेतं महाकालासुरी गतः । पर्वतो मंत्रगमिताशोब्दिनालोकयं सगरस्य स्वप्रभावं प्रकाशितवान् । है राजन् ! स्वदृदेशशास्त्रं विषवमशिवं अहं १५ुमित्रग यज्ञेन लकु १६०विष्यामि ।

"यज्ञार्थं पशवः सुष्टाः स्वयमेव स्वयंसुवा ।

यज्ञे हि वृद्धर्थं सर्वेषां तत्पाद्यज्ञे वघोऽवघः ॥"

इति कारणात् स्वर्गमहासुखसाधनं पुण्यमेव भविष्यतीति पापी प्रत्याव्य तं जगाव । है राजन् यागसिद्धर्थं पशूनां षड्छिसहस्राणि तद्योग्यमन्यद्रव्यां च संगृहाण । सगरोऽपि सर्वं भेलयित्वा तस्मै समर्पितवान् । पर्वतो यागं प्रारम्य पशूनभिर्यत्यामास महाकालासुरस्तान् वषट्कृतान् शरीरेण सह स्वर्गं गतोऽप्य स्वर्गं गतोऽप्यमिति विमानारुद्धानकाशो नीयमानान् दर्शयामास । देशस्याविवोपसर्गं तदैव

तपरी में रह कर वहीं शान्तिक आदि फलको देनेवाला हिंसायज्ञ प्रारंभ करेंगे और उसका प्रभाव दिखलावेंगे । इस प्रकार पर्वतसे कह कर वैरियों का विनाश करनेके लिये उसने अपने तीव्र आज्ञा-कारी देत्योंको 'तुम लोग सगर के देशमें ज्वर आदि से बाधा करो' ऐसी आज्ञा देकर सगरके देशमें भेजा और स्वयं भी पर्वतके साथ अयोध्या जा पहुँचा । पर्वतने मंत्र-गमित आशीर्वाद देकर राजा सगरका दर्शन किया तथा उसके सामने अपना प्रभाव प्रकाशित करते हुए कहा कि हे राजन् ! तुम्हारे देशपर जो अहुत भारी अनिष्ट आया है, मैं उसे सुमित्र नामक यज्ञसे शोष्ण ही समाप्त कर दूँगा ।

यज्ञार्थ—यज्ञके लिये पशु विचाताने स्वयं बनाये हैं । चूँकि यज्ञ सबको वृद्धिके लिये है, इसलिये यज्ञमें हुई हिंसा, नहीं है ।

इस कारण यज्ञसे स्वर्गके महान् सुखको देनेवाला पुण्य ही होगा इस प्रकार विश्वास दिलाकर पापी पर्वत ने राजा सगरसे कहा—हे राजन् ! यज्ञकी सिद्धिके लिये साठ हजार पशु और उसके योग्य अन्य द्रव्यका संग्रह करो । सगर ने भी सब सामग्री इकट्ठी कर उसके लिये सौंप दी । पर्वत ने यज्ञ प्रारम्भ कर पशुओंको मन्त्रित किया । महाकाल असुर होमे

१. यस्मिन् यज्ञे चतुःषष्ठिसहस्राणां पशूनां वधः क्रियते स सुमित्रो यज्ञः कर्त्यते ।
२. शोषयिष्यामि म० ।

निराचकार ! तब दुष्टवा सुर्योः प्राणिमस्तर्षवनमा मोहिताः सन्तः स्वर्गतये
स्फूर्त्यन्तो यागमृति भृत्याकांक्षुः । सुमित्रयज्ञावसाने जात्यश्वमेकं विधिपूर्वकं
द्वावान् रथाज्ञां सुलसां च ललो वयद्वकार । प्रियकान्तावियोगदुःखदावानल-
ज्यालाभिः पूरुषकाषो राजा मगरं प्रविष्टः, शव्योपरि शरीरं निचिक्षेप । प्राणि-
हिसनं महूदिदं बूर्त किमवं धर्मः किमधर्मः इति संशयत्नः स्थितः अन्यस्मिन्नहनि
यतिवरनामानं मुनिमभिवन्द्य विज्ञप्तवान । भट्टारक ! मयारब्धं कर्मं पुण्यं पाप
वा सम्यक्कथय । यतिवरः प्राह॒ षर्मशास्त्रवाङ्मिदं कर्मं कर्तारं सप्तमं भरकं
प्रापयेत् । स्वामिन्नस्ति तत्राभिज्ञानं । मुनिराह-राजन् सप्तमे दिने तव मस्त-

ये उन पशुओं को 'यह शरीरके साथ स्वर्ग गया, स्वर्ग गया' इस प्रकार
कहता हुआ विमानमें बैठे आकाशमें ले जाते हुए लोगोंको दिखाता था ।
देवके ऊपर ओ अमिष्टकारी उपसर्ग आया था उसे भी उसने उसी समय
दूर कर दिया । यह देव भोले प्राणी उसकी आशासे मोहित हो स्वर्ग
जाने की इच्छा करते हुए यज्ञ में मरने की तीक्र आकांक्षा करने लगे ।
सुमित्र नामक यज्ञके अन्तमें उसने एक उत्तम जातिके घोड़ेको विधिपूर्वक
होम दिया । वही नहीं, उस दुष्टने राजाकी आशासे उसकी रानी सुलसा
का भी होम दिया । प्रिय स्त्रीके वियोग-अन्य दुःख रूपी दावानल की
ज्यालाओं से जिसका शरीर जल गया था, ऐसा राजा सगर नगर में
प्रविष्ट हुआ और शव्याके ऊपर लेट रहा । उसके मनमें संशय उठा कि
यह बहुत भारी प्राणि-हिसा हुई है यह धर्म है या अधर्म ? दूसरे दिन
उसने यतिवर नामक भुमिकी कन्दमा करके निवेदन किया कि स्वामिन् !
मेरे द्वारा प्रारम्भ किया कार्यं पुण्यरूप है या पाप रूप ? ठोक ठोक कहिये ।
मुनिराज बोले—यह कार्यं धर्म-शास्त्रसे बाहू है तथा करने वालेको
सातवें नरक पहुंचा सकता है । सगरने कहा—स्वामिन् ! इसका कुछ परि-
चायक है ? मुनिराज ने कहा—राजन् ! सातवें दिन तुम्हारे मस्तक पर
बच्चे गिरेगा, इस परिचायक चिह्नसे तुम सातवें नरक जाओगे । यह सुन
कर राजने भयमोत हो पर्वत से कहा । पर्वतने कहा—राजन् ! यह नग्न
साधु क्या जानता है ? फिर भी यदि तुम्हें शारू है तो इसकी भी शान्ति
करते हैं, इस प्रकारके बच्चोंसे उसके मनको स्थिर करके शिथिल कर
दिया । पुनः उसने सुमित्र नामका ही यज्ञ प्रारम्भ किया ।

तदनन्तर तात्त्वं दिन पासी असुर की माया से आकृष्ण में लड़ी
सुख्या कर रही थी कि मैं देव पदको प्राप्त हुई हूँ । पहले जो पहुं भारे

केऽधानिः परिष्यति इत्यभिज्ञानेन त्वं ३सप्तर्णं नरकं यास्यसि । तदाकेष्यं राजा भीत्वा पर्वताय जिवेदयामास । पर्वतः प्राह—राजन्मसौ भग्नः कापणकः कि वेलि तथा! पि यदि तव शोका बर्तते तदत्र पान्तिविधीयते इति वर्तनेस्तस्य भनः सम्भारं विविलीचकार । पुनः सुमित्रमेव यज्ञं प्रारम्भवान् । ततः सप्तमे दिने पापासुरस्य मावया सुलसा आकाशे स्थिता देवत्वं प्राप्त्वा पूर्वं पश्चयेत्तरो यागमृत्युफलेनैषा यदा देवगतिलंब्धा ? तं प्रमोदं तव निरूपयित्युमहे विमानेनागता तव यज्ञेन देवाः पितृरथवा प्राणिता इत्यभाषत । ततु अनातप्रत्यक्षं यागमृत्युफलं दृष्टं, जीनमुनेवार्षयम-सत्यं जातं । तदनु राजा तत्तीक्रेण ३हिसानुरागेण सद्गमद्वेषेण संजातदुष्परिणामेन मूलोसरविकल्पितात् तत्प्रायोग्यसमुक्तदुष्टसंक्लेशसाधनात् नरकायूराघटकर्म-स्त्रीचितस्थितेः अनुभागबन्धनिकाचितबन्धने सति भीषणाशनिरूपेण ३कालासुरेण तन्मस्तके पतिते सति यागकर्मसिक्तनिखिलप्राणिभिः सह सगरः सप्तमे नरके पपात । स कालासुरस्तत्कणेन महाक्रोषस्त्रं दण्डकितुं तुलीयनरकाश्यन्तं पृष्ठतो जगाम । तपदुष्टवः साकेतमागतः दिक्षिण उभूतिवैरित्यन्यारणार्थं ४तिशुकः सुलसासंयुक्ते सगरं विमानमारुद्धं व्योम्निं वर्णयमास । पर्वतप्रसादेन यशपुष्पेनाहै

मर्ये ये मैं उन सब में अप्पेसरो हूँ—प्रधान हूँ । यज्ञ में मृत्यु होनेके फल स्वरूप ही मुझने यह देव गति पाई है । उस आनन्द को तुम्हें बतलानेके लिये मैं विमान से आई हूँ । तुम्हारे यज्ञसे सब देव तथा पूर्वं पुरुष प्रसन्न हुए हैं । सुलसाके कहने से यज्ञमें मरनेका फल प्रत्यक्ष दिल गया, इसलिये जीन मुनि का कहना अस्त्रय होगया । तदनन्तर राजा सगरको तीव्र हिसाके अनुराग, समीक्षीन धर्मके साथ होनेवाले द्वेष तथा मूल-प्रकृति और उत्तर-प्रकृति के विकल्पसे युक्त उस पर्यायमें होने योग्य सर्वाधिक दुष्ट संक्लेशके कारणों से उत्पन्न होनेवाले खोटे परिणामों से नरकायु आदि बाठ कर्मोंका अपने योग्य स्थिति बन्ध तथा अनुभाग बन्धका निकाचित बन्ध होगया । उसी समय भयंकर वज्ररूप कालासुर (यमराज) मस्तक पर गिरा जिससे यज्ञ कार्य में लगे समस्त प्राणियों के साथ राजा सगर सातवें नरक में जा पड़ा । महाक्रोषसे भरा कालासुर उसे दण्ड देनेके लिये उसी समय तीसरे नरक-तक पीछे पीछे गया परन्तु उसे बहाँ न देखकर अयोध्या को लौट आया । वहाँ आकरके उस दुष्टने विवरभू मन्त्री आदि

१. सप्तमे म० ।

२. राजा तीर्थेण प० ।

३. कालासुरेण क० ।

४. निर्वाचः (क० टि०) ।

स्वर्गं गतः सुखं प्राप्तवानिति प्रशंसांस । सगरपरोक्षे विश्वभूसचिवो राजा जातः । महामेषे उद्यमं चकार । महाकालासुरेण विमानगता देवाः पितरश्चाकाशे सर्वेषां अर्थकं दर्शिताः । ते ऊचुः—भो विश्वभूस्त्वया महामेषः कृतः पुण्यवता त्वलप्रसादेन वयं सर्वेषपि वेष्टकृताः स्वर्गंसुखं प्राप्ता इति स्तुति ऊचुः नारदस्तप्रसादेन शुल्कानेन दुरात्मना एष कुर्मार्गोऽधिकृतो लोकस्य प्रकाशितः, अिहू पर्वतं, निवारणी-योऽयमुपायेन केनचित् पापपञ्चितोऽमिति साकेतमागताः । यथाविधि विश्वभूवं विलोक्य ऊचुः—ये पापिनो नरा भवन्ति तेऽपि अथर्वीं कामार्थं च प्राणिनां वर्धं न कुयुः । केऽपि क्वापि घर्मार्थं प्राणिनां वातकाः किं सन्ति । अहो पर्वत ! वेदविद्-भिर्द्वृनिरुपिते वेदे^१ अहिरक एव वेद उक्तः । अहिसा तु मातेव सखीव कल्य-वल्लीव जगते हितोन्ता इति पूर्वेविवाक्यस्य प्रामाण्यं त्वयेच्छता कर्मनिवन्धनं कर्मतद्वप्तप्रायं त्याज्यमेवेति तापसैरुक्तं । ते तापसाः सर्वप्राणिहितैषिणः । विश्व-भूस्त्वाच् भोस्त्वप्रसादः । साक्षात्स्वर्गसाधनं दुष्टं कर्म कर्त्य त्याज्यं मयेति । नारदो विश्वभूवं प्रत्याह—सचिवोत्तम ! त्वं विद्वान् किमिदं कर्म स्वर्गंसाधनं भवति ? सपरिवारं सगरं निर्मलयितुः कांक्षता केचित्कुहकेनायमुपायः कृतो मुम्हानां औषधानां । ततः—प्रोत्तोऽप्यस्तरिकां कर्म स्वर्गंसाधनमाविमोक्तं त्वयाप्याचयन्तां ।

शत्रुओंके समूहको मारनेके लिये सुलसा से सहित राजा सगर को विमान में बैठा हुआ आकाशमें दिखलाया । विमानमें बैठा सगर प्रशंसा कर रहा था कि मैंने पर्वतके प्रसादसे जो यज्ञ किया था उसीके पुण्य से स्वर्गं पहुँच कर सुखको प्राप्त हुआ हूँ ।

सगरके पीछे विश्वभू मन्त्री राजा हुआ । उसने भी महायज्ञ का उद्घम किया । महाकाल नामक असुरने विमानों द्वारा आये हुए देव तथा पितर (पूर्वं पुरुष) आकाशमें सबको दिखाये । वे कहने लो कि हे विश्वभू ! तुम पुण्य-शालीने महामेष (महायज्ञ) किया है उसमें तुम्हारे प्रसाद से होमे गये हम सभी स्वर्ग—सुखको प्राप्त हुए हैं । इस तरह उन देवों तथा पितरोंने विश्वभू मन्त्री की स्तुति की ।

इधर नारद तथा अन्य तापसोंने जब यह सुना तब वे यह विचार करके अयोध्या आये कि इस दुष्टने यह खोटा मार्गं अपना कर लोगोंको बतलाया है, इस पर्वतको खिकार है, इसे किसी उपाय से रोकना चाहिये, यह पापपञ्चित है अर्थात् पापके चलाने में निपुण है । वे सब

१. विद्ये क० ।

२. सीतोप म० ।

विश्वभूमि : पर्वतं प्राह—पर्वत ! नारदः किलैवं वक्ति तस्मया श्रुतं ? पर्वतोऽसुरोक्तेन पास्त्रेण मोहितो दुर्मतिः प्राह—हं हो सचिवोत्तम ! इदं शास्त्रं नारदः किं न शुश्राव ? मम गुरुरस्य च मम वितीवासीत् । न चाभ्यः कोऽपि एष नारदः । तदापि नयि समस्तरः इदानीं कि बोच्यते 'मद्गुरुरोधमेधाता स्थविरनामा जगति विश्वातः । सोऽपि श्रीतं रहस्यं यागमृत्युफलभेदं प्रतिवादितवान् । मयापि साक्षात्प्रकटीकृतं । यदि तत्र प्रत्ययो नास्ति तद्हि विश्ववेदसमुद्घापारणं वसुं पृच्छेः । यः सत्येन गमने स्थितो वर्तते । तत्थ्रुत्वा नारद उवाच—को दोषः स एव पृच्छथतां । इदं तावद्-विचाराहः चेद्विद्योऽत्र धर्मसाधनं तद्हि अहिसादानशीलादि पापप्रसाधनं भवेत् । एवं चेदस्ति तद्हि 'वाशादीनां परमा मतिरस्तु सत्यधर्मतपोप्रह्यत्वारिणां अधोगतिरस्तु । यज्ञे पशुवधाद्मर्मो वर्तते नान्यत्रेति चेन्न वधस्य दुःखप्रत्ययत्वे उभयन्त्र सादृश्यात् फ्लेनापि सदृशोन भाव्यं । अथ त्वं एवं वक्षि, पशूनां सुष्ठिः स्वयंभुवा यज्ञार्थं कृता

विश्वभूको देखकर बोले—जो पापी भनुष्य होते हैं वे भी धन तथा कामके लिये प्राणियोंका वध नहीं करते । क्या कहीं भी कीर्दि भी धर्मके अर्थ प्राणियों का धात करने वाले हैं ? वेदके जानने वाले विद्वानों ने अह्मानि-रूपित वेदमें अहिसक वेदको ही वेद कहा है । 'अहिसा माताके या सखीके अथवा कल्पलताके समान जगत्के हित करने के लिये कहीं गई है' पूर्व अहियों के इस वाक्य को यदि तुम प्रमाण मानते हो तो कर्मका बन्ध करने वाला तथा अधिकतर हिसासे परिपूर्ण यह कार्य छोड़ ही देना चाहिये, ऐसा तापसों ने कहा । वे तापस सब प्राणियों का हित चाहने वाले थे । विश्वभूमि ने कहा कि तापसो ! जो काम साक्षात् स्वर्गका साधन देख लिया गया है उसे मैं कैसे छोड़ सकता हूँ ? नारद ने विश्वभूमि से कहा—हे मन्त्र-श्रेष्ठ ! तुम तो विद्वान् हो, क्या यह कार्य स्वर्गका साधन है ? परिवार सहित सगरको निमूँल नष्ट करनेकी इच्छा रखने वाले किसी कपटीने भोले लोगोंको आन्ति में ढालने वाला यह उपाय रखा है । इसलिये शील तथा उपवास आदि कार्य स्वर्गके साधन हैं, ऐसा आर्ष-आगममें कहा गया है, तुम भी उसे मान्य करो । विश्वभूमि पर्वतसे बोला—पर्वत ! नारद जो ऐसा कह रहा है उसे तुमने सुना ? कालासुरके द्वारा कहे हुए शास्त्रसे मोहित दुरुद्धि पर्वत बोला—अहो मन्त्र-श्रेष्ठ ! यह

१. मम गुरुम् ० ।

२. वाशादीनां म० क० । 'कैवर्तं वाशादीवरी' इत्यन्तः ।

३. स्वमेव वक्षि क० ।

तन्, अन्धा विनियोगस्यागच्छमातत्वात् । अयमागमोऽतिमुख्यामिलायः विदुत्वा गर्हतः । मद्यदर्शं सृष्टं ततोऽन्यत्र दिनियोगेऽर्थकृत कथं स्यात् । इलेष्मदिशमनोषधं ततोऽन्यत्र कथमुपयोगि स्यात् । क्रयविक्रयादी हृलानोभार^१ वाहनादी महादोषः स्यात् ॥३॥ हे दुर्बल ! त्वां वादिनं दृष्टवा सन्मुखमप्यागत्य^२ बूमः । यथा षस्त्रादिभिः प्राणिघाती पापेन बध्यते तथा मंशादिनापि वातकृत्वापेन बध्यते एवाविशेषत्वात् । हंहो एवतः ! पश्चादिलक्षणा सृष्टिर्व्यज्यतेऽवबा क्रियते ? चेत्क्रियते तर्हि स्तपुष्यादिकम-प्यविद्यमानं कथं न क्रियते । अथ विद्यमानैव सृष्टिर्व्यज्ञायं व्यज्यते तर्हि सर्ववचनं ४करणप्रतिपादकमनर्थकं स्यात् ॥४॥ प्रदीपज्वलनमेव षटादेः पूर्वमन्त्रकारप्रस्तुपकं

शास्त्र क्या नारदने नहीं सुना है ? मेरे तथा इसके गुरु मेरे पिता ही थे । वह नारद कोई दूसरा नहीं है । उस समय भी यह मुझपर समत्सर था अर्थात् मुझसे ईर्ष्या रखता था । फिर अब तो कहना ही क्या है ? 'मेरे गुरुका धर्म भाई स्थविर नामका विद्वान् था जो कि जगत् प्रसिद्ध था उसने भी यज्ञमें मूल्यु प्राप्त करना ही श्रुतिका रहस्य बतलाया था तथा मैंने भी साक्षात् प्रकट किया है अर्थात् लोगोंको स्पष्ट दिखलाया है कि यज्ञ में मेरे हुए प्राणी स्वर्ग गये हैं । यदि तुम्हें विश्वास नहीं है तो समस्त वेद रूपी समूद्र के पार-गामी राजा बसुसे पूछ लो जो सत्यके कारण

१. वाहनादी म० ।
२. दुर्बल त्वां म० ।
३. सन्मुखमागस्य म० ।
४. पूर्वं वचनं म० ।

५. इस पूर्वं 'अथाभिव्यज्यते तस्य वाच्यं प्राक् प्रतिवेदन्वक्तम्' इसि भावनिरूपकेण गदांशेन भवितव्यं, किन्तु पलब्ध-प्रतिष्ठु न दृश्यते सः ।
६. इस गदाका मूल गुणभद्राचार्य के उत्तर पुराणके निम्न श्लोक है 'सम्भूतो मद्गूरोर्ध्वं—ज्ञाता जगति विश्रुतः । स्थविरस्तेन च औरं रहस्यं प्रतिपादितम् ॥३९८॥। यागमृत्युकर्म साक्षात्मदायपि प्रकटीकृतम् । च चेत् ते प्रस्तयो विषवदेवामभोनिविपारगम् ॥३९९॥। पर्वं ६७ । इन श्लोकोंमें बताया गया है कि मेरे गुरुके धर्मभाई जगत्-प्रसिद्ध स्थविर नामके विद्वान् ये चन्होंने 'अजंयैष्टव्यम्' इस श्रुतिका रहस्य मुझे बतलाया था अर्थात् बकरोंसे यज्ञ करना चाहिये वह श्रुतिका गूढ अर्थ मुझे बतलाया था । तथा मैंने भी यज्ञमें मूल्युका क्या फूल होता है उसे साक्षात् प्रकट करके दिखाया है ।—परन्तु यही गदामें पदविन्वास कुछ बस्त-अस्त हो गया है ।

यतः । अनाकृतस्यैव व्यक्तिः क्रियते इति चेत्तहि सूचिकारहो भवदभिः पूर्वं क्रियतां ? इति नारदेन कुत्सुपन्न्यासमाकर्ण्ये ३सर्वेऽपि समास्यास्तं तुष्टुबुः । अथ सम्या उच्चुः—द्वयोर्विदादो वसुना चेच्छेद्यते तर्हि स एव अभिगम्यतां । इति थुला साम्यां नारदपर्वताम्यां [सर्वं] सर्वीपि संसत् स्वस्तिकावतो मुच्चचाल । तत्र पर्वतः सर्वं वृत्तान्तं स्वमात्रे निवेदयामास । सा तेन युता वसुं ददर्श । पुन वसो । पर्वतोऽपरिणीतः । ३तपोगृजा गुरुणामि तवायमग्निः । नारदेन सह तत्र प्रत्यक्षे बादो भविष्यति, तत्र यत्कस्य भंगो भविष्यति तदास्य यमगृहप्रवेशो भविष्यतीति निश्चिन्तु । अस्य शरणमन्यो न जर्तते । वसुरुद्वाच । मातः । गुरुषुष्ठूष्वकोऽहं वर्ते ।

आकाशमें स्थित रहता है । यह सुनकर नारद ने कहा—क्या हानि है ? उसीसे पूछ लिया जाय । विचारने योग्य बात तो यह है कि—

यदि हिंसा धर्मका साधन है तो अहिंसा, दान, शोल आदिको पापका साधन होना चाहिये । यदि ऐसा है तो धीवर आदिकी उत्कृष्ट गति हो और सत्य धर्म, तप तथा ब्रह्मचारियों की अधोगति हो । यदि तुम्हारा यह कहना है कि यज्ञमें पशु वधसे धर्म होता है अन्यत्र नहीं, तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि वध यज्ञमें हो चाहे यज्ञके बाहर हो—दोनों स्थानों पर दुःखका कारण है, अतः सदृशताके कारण कल भी समान होना चाहिये । यदि तुम यह कहो कि पशुओंकी सुष्टि विधाता ने यज्ञके लिये की है, तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि फिर अन्य प्रकारसे पशुओंका उपयोग संघर्ष नहीं होता अर्थात् यज्ञ वधके सिवाय खेती आदिके कार्योंमें उनका उपयोग नहीं होना चाहिये, यह आगम अर्थात् ‘यज्ञार्थं पशुवः सूष्टाः—’ इत्यादि शास्त्र अत्यन्त मूर्ख जनोंकी इच्छा मात्र हैं तथा विद्वानों के लिये निष्टिनोय हैं । जो जिसके लिये रचा जाता है उससे अन्य कार्य में उसका उपयोग होनेपर वह सार्थक कैसे हो सकता है ? कफ आदिको घान्त करने वाली औषधि दूसरे रोगमें उपयोगी कैसे हो सकती है ? स्तरी-दना बेचना आदिमें तथा हल, गाढ़ी और बोक्ता ढोना आदिमें महान् दोष होना चाहिये । हे द्वृबंल ! तुझे बादो देख सन्मुख आकर हम कहते हैं—

१. ‘भवदभिः क्रियताम्’ इत्यत्र ‘भवदभिष्ठरीक्रियताम्’ इति पाठः सुष्टु प्रतिभासि ऊरी क्रियताम् स्वीक्रियताम् इत्यर्थः ।
२. समास्तारास्तं य० समाप्तस्तारा इ० ।
३. तपोयता य० ।

“गुरुवद्युस्तुपुर्वं गुरुकलशं च पश्येत्” इत्यहं भीतिशाऽस्य जर्यं करिष्यामि । त्वं भैर्षीर्मा । अथान्येत्युस्ते तथाविषं सिंहासनमालङ्क वसुं ददृशुः । तत्र विश्वभूप्रभूतयः संप्रच्छुः । हे राजन ! त्वस्तु पूर्वमपि अहिंसाधर्मरक्षणे तत्परा बन्न चलारो राजानो हिमगिरिमहागिरिसमगिरिवसुगिरिनामानो हरिवंशजाः पुरा च संजाताः । तर्त्रवं वैष्णो विश्वावसुमहाराजः संजातः । ततश्च भवान् संबभूत । तत्राहिंसाधर्म-रक्षित्वे किमुच्यते । त्वमेव सत्यवादीति प्रश्नोषस्त्रिभुवने चर्तते । वस्तुसंदेहे त्वं विषवत् नन्हिवत् तुलावत् चर्तसे । प्रत्ययोत्पादी त्वमेव, तेनास्माकं प्रभो । संशयं छिद्दि । नारदः खल्वहिंसालक्षणं धर्मं पक्षं कक्षीचकार । पर्वतस्तु तद्विषयीतम-विक्षेप । उक्तव्यत्वात् भवत्तद्विषयमानोपरिविज्ञप्तिः । गुरुपत्न्या पुरा प्राचित उपाध्यायोपदेशं जानन्नपि राजा महाकालोत्पादितमहामोहो दुष्यमकालनिकटवृत्ति-त्वात् विषयसंरक्षणानन्दनामरोद्धध्यानतत्त्वरः पर्वतोक्तं तत्वं चर्तते । प्रत्यक्षे वस्तु-

जिस प्रकार शस्त्र आदिके द्वारा प्राणोंका घात करने वाला पापसे बढ़ होता है उसी प्रकार मन्त्र आदिके द्वारा घात करने वाला पुरुष भी पापसे बढ़ होता है क्योंकि दोनोंमें कोई विशेषता नहीं है । हे पर्वत ! यह भी तो कहो कि पशु आदि की सृष्टि विधाताके द्वारा प्रकट की जाती है या नवीन रची जाती है ? यदि नवीन रची जाती है तो आकाशके फूल आदि अविद्यमान वस्तु भी क्यों नहीं रची जाती है ? यदि यह कहते हो कि पहले से विद्यमान सृष्टि ही यज्ञके लिये प्रकट की जाती है तो ‘सृष्टि की जाती है’ इस अर्थको प्रतिपादन करने वाले सभी वचन निरर्थक हो जावेगे । यदि यह मान लिया जाय कि विद्यमान सृष्टि ही विधाता के द्वारा प्रकट की जाती है तो फिर उसका प्रतिबन्धक क्या है ? क्योंकि दोपकका जलना ही यह बतलाता है कि पहले घटादि पदार्थ अन्धकारसे आच्छादित थे । अर्थात् जिस प्रकार पहले अन्धकारसे आच्छादित घटादि को दोपक प्रकट करता है, उसी प्रकार यहाँ बतलाना चाहिये कि सृष्टि पहले किससे आच्छादित थी ? इस दोषसे बचने के लिये यदि यह कहते हो कि सृष्टि किससे आवृत नहीं थी, अनावृत सृष्टि ही प्रकट की जाती है तो फिर आपको सृष्टिवाद ही स्वीकृत करना चाहिये । इस प्रकार नारदके द्वारा किये हुए प्रस्तावको सुनकर सभामें बैठे हुए सब लोग उसकी स्तुति करने लगे ।

तदनन्तर सभासदोने कहा कि यदि दोनोंका विवाद वसुके द्वारा समाप्त होता है तो उसीके संमुख चला जाय । यह सुनकर सभी सभा उन नारद और पर्वत के साथ स्वस्तिकावती को चल पड़ो । वहाँ जाकर

न्यतुपपन्नता का । पर्वतोक्तयागेन स्त्रीकः सगरः स्वर्गमवाप । ज्वलन्ते प्रदीपं कोज्ज्यो दीपो यस्तं प्रकाशयेत् । तेन पर्वतोक्तं यज्ञं स्वर्गसाधनं भवेत् त्यक्त्वा युयं कुरुष्व । इति हिरण्यगुप्तस्य वदनारत्नमुमित्रशमादप्यादभीरुज्ज्वाद । तदा अह्याष्टं स्फुटितमिवाक्षरो व्यनिः संजातः, आकाशः स्वलिपित्याक्रोक्षं चकारेत् । किमाक्रोक्षयदाक्षाः अहो नारद ! अहो ताप्साः ! पृथिवीपतेर्मुखादीदृशमपूर्वं छोरं वचनं संजातमिति । नद्यः प्रतिकूलजलमवाः संजाताः । सरांसि सद्यः शुष्काणि । हरिवर्षं गमनारत्नं बभूव । सूर्यशब्दो मन्द्यः संजाताः । सर्वा शिशां मलीमसाः सम्पद्यन्ते सम । भयकिङ्गलाः प्राणिनः कर्म दधुः । तदा भूमि-हिंषा भक्ति गता । तस्मिन् महारन्दे वसोः सिहासनं ममज्ज । आकाशे स्थिता देवविष्णावरेशा इत्युचुः—अहो वसुनरेन्द्र महाबुद्धे ! घर्मविष्णुसनं मागी मा ल्वमोदृशं वादीरित्यचोषयन् । सिहासने निमग्ने सति पर्वतो वसुल्लव

पर्वतने सब दृत्तान्त अपनी मातासे कहा । माता पुत्रके साथ वसुसे मिली और उससे बोली बेटा वसु ! पर्वत अविवाहित है, तप धारण करते हुए गुरुने भी इसे तुम्हारे लिये सोंपा था । नारदके साथ तुम्हारे साथने इसका बाद होगा, उसमें यदि इसकी पराजय होगी तो इसका यमके घरमें प्रवेश होगा । ऐसा निश्चय करो । तुम्हारे सिवाय इसका और शरण नहीं है । वसुने कहा—‘माता ! मैं गुरुका सेवक हूँ । गुरुके पुत्र और गुरुकी स्त्रीको समान ही देखना चाहिये । मैं इस नोतिको जानता हूँ अतः इसकी जीत कर्णगा, तुम डरी मत ।’

तदनन्तर दूसरे दिन सब लोगोंने उस तरहके अर्थात् अन्तरीक्ष दिखने वाले सिहासन पर आरूढ़ राजा वसुके दर्शन किये । वहीं विष्वभू आदिने पूछा कि हे राजन् ! आप से पूर्व भी यहाँ अहिंसा धर्मकी रक्षा करनेमें तत्पर रहने वाले हिमगिरि, महागिरि, समगिरि और वसुगिरि नामके चार राजा पहले हो चुके हैं । ये सब हरिवंश में उत्पन्न हुए थे उसी हरिवंश में विश्वावसु महाराज भी हुए थे और उनसे आप उत्पन्न हुए हैं । उस वंशमें अहिंसा धर्मकी रक्षा सदासे होती आई है इस विषयमें क्या कहना है । ‘आपही सत्यवादी हैं’ इस प्रकार की ओरदार घोषणा तोनों लोकोंमें हो रही है । वस्तुमें सदेह उपस्थित होनेपर आप विषके समान, अद्विनके समान अथवा तुलाके समान विद्यमान हैं । हे प्रभो ! चूँकि विश्वासको उत्पन्न करने वाले आप ही हैं, अतः हम लोगोंका संशय दूर

परिम्लानमुखी बभूवसुः । तौ तादृशौ निरीक्ष्य महाकालस्य किंकरास्तापसाकारं
गृहीत्वा समूचुः—हे पर्वत हे वसो ! युधि भीति भा काष्टर्मिश्रयुक्त्वा स्वयमुत्था-
पितं सिहासनं दण्डयामासुः । तत्र स्थितो वसुरुद्धाच । अहं तत्ववित् कथं बिभेमि
पर्वतस्य सत्यवच्चर्न जानन्निति वृद्धाणः कण्ठपर्यन्तं निमग्नवान् । तद् वृद्धवा
साधवो जगाहुः । अनेन मिथ्यावादेन भूपतेरियमवस्था संजाता । हे राजन् !
अद्यापि मिथ्यामागं त्यजेति साधुभिः प्रायितीऽपि तथापि मूर्खो यज्ञमेव सन्मागे
कथितवान् । भूम्या कुपितया सर्वाङ्गोऽपि निरीणः सप्तमं नरकं जगाम । तदा
कालासुरो लोकप्रत्ययनिमित्तं गगने स्थितं सगरवसुरुपद्मयं दिव्यं धर्षयामास । आवां

करो । नारद ने अहिंसा लक्षण घर्मका पक्ष स्वीकार किया है और पर्वत
उसके विपरीत आक्रेप कर रहा है । अतः आप गुरुका उपदेश कहिये
अर्थात् यह बताइये कि गुरु-ओरकदम्ब का क्या उपदेश था । इसप्रकार
विश्वभू मन्त्री आदिने राजा वसुसे प्रार्थना की ।

गुरुपत्नी अर्थात् पर्वत की जाता जिससे पहले प्रार्थना कर चुकी थी,
महाकाल असुरने जिस महामोह-तोद्वमिथ्यात्म उत्पन्न कराया था तथा
जो विषय संरक्षणानन्द नामक रीढ़ ध्यान में तत्पर था ऐसा राजा वसु
गुरुके द्वारा प्रदत्त उपदेशको जानता हुआ भी दुष्मकाल-पंचम कालके
निकटवर्ती होनेसे लगा कि जो तत्व पर्वतने कहा है, वही ठीक है । प्रत्यक्ष
वस्तुमें अनुपपत्ति क्या है ? पर्वत के द्वारा कहे हुए यज्ञके द्वारा सगर
पत्नी सहित स्वर्गको प्राप्त हो चुका है । जलते हुए दीपकको दूसरा कीन
दीपक है जो प्रकाशित कर सके ? इसलिये आप लोग पर्वतके द्वारा कहे
हुए यज्ञको स्वर्गका साधन समझ, भय छोड़कर करो । इस प्रकार हिंसा-
नन्द और मृषानन्द रोदध्यान के द्वारा जिसे नरकायु का बन्ध पड़ गया
था तथा जो मिथ्या पाप और अपवादसे नहीं ढर रहा था ऐसे वसुने कहा :
उस समय आकाशमें ऐसा शब्द हुआ मात्रों ब्रह्माण्ड फट गया हो । ऐसा
जाग पड़ने लगा मानो आकाश ही चिल्ला चिल्ला कर कह रहा हो—
अहो नारद ! अहो तापसो ! राजा के मुखसे ऐसा अपूर्व भयंकर बचन
उत्पन्न हुआ है । नदियोंके जलका प्रवाह उल्टा बहने लगे, तालाब शोध्र
सूख गये, रक्तकी वर्षा निरन्तर होने लगे, सूर्यकी किरणें फोकी पड़ गईं,
सब दिशाएँ मर्लिन हो गईं, प्राणी भयसे विहूल होकर कापने लगे । उसी
समय पृथिवी फट गई और उस महाछिद्रमें वसुका सिंहासन धैस गया ।
आकाशमें स्थित देव और विद्याधरोंके अधिपति यह कहने लगे—अहो महा-
बुद्धमान् ! राजा वसु ! तुम इस तरह धर्मका विष्वस करने वाले मार्गका

यत्तथु द्वया दिवस्वापाव । यूयं नारदस्य वचनं मा मानयतेति प्रोच्य अन्तर्दंघी कालासुरः । अथ शोकाश्चर्यमुक्तोन जनेन वसुः स्वर्गं गतो, न हि न नरकं गत इति विसवदमानेन सह विष्वभूः प्रयागं गतवा राजसूयविज्ञि विदधे । महापुराणप्रमुखा लोकस्य मूढत्वं निष्वन्तः परमद्वयनिदिष्टमार्गं मनाक् स्थितास्तस्युः । नारदेन धर्ममयीदा रक्षितेति तं प्रशस्य गिरितटनाम्नीं पुर तस्य ददुः । तापसास्तु द्वयाघमैनाशास्य कारणं कलिकालं कलयन्ती यथास्थिति विष्वराशया जग्मुः । अथान्येद्युनारदो दिनकरदेवं विद्याष्वरं निष्वमीष्टं प्रत्यवाच-पर्वतस्य विरुद्धाचरणं त्वया निवार्यतामिति । सोऽपि तथा करिष्यामीति नामास्तं गत्वा

कथन मत करो । सिहासन के धैंस जाने पर पर्वत और वसु म्लान-मुख हो गये । उन्हें वैसा देख महाकालके किकर तापसोंका आकार रख कर अर्थात् तापसोंके देष्में आकर कहने लगे—हे पर्वत ! हे वसु ! तुम दोनों भय मत करो । इस प्रकार कह कर उन्होंने वसुके सिहासन को ऊपर उठा हुआ दिखलाया । उस सिहासन पर बैठा हुआ वसु कह रहा था—‘मैं तस्वका जानने वाला कैसे भयभीत हो सकता हूँ । मैं पर्वत के बचतोंको सत्य जानता हूँ’ इस प्रकार कहता हुआ वसु कण्ठ पर्यन्त पृथिवीमें धैंस गया । यह देख साधुओंने कहा—इस असत्य कथन से वसु राजाकी यह दशा हुई है । हे राजन् ! अब भी मिथ्यामार्ग छोड़ दो……इस प्रकार यद्यपि साधुओंने उससे ग्रार्थना की थी तथापि वह भूर्लं यज्ञको ही सन्मार्ग कहता गया । कुपित पृथिवी ने उसे सर्वाङ्ग निगल लिया तथा मर कर वह सातवें नरक गया । उस समय कालासुरने लोगों को विश्वास दिलाने के लिये आकाशमें स्थित सगर और वसुके दो दिव्य रूप दिखलाये । वे कह रहे थे कि हम दोनों यज्ञको श्रद्धासे स्वर्गको प्राप्त हुए हैं, तुम सब नारदका वचन मत मानो……इस प्रकार कह कर कालासुर अन्तर्हित हो गया ।

तदनन्तर शोक और आश्चर्य में निमग्न लोगोंमें कोई तो कहता था कि वसु स्वर्ग गया है और कोई कहता था कि नहीं नहीं नरक गया है । इस प्रकार विवाद करते हुए लोगोंके साथ विष्वभूने प्रयाग जाकर राजसूय यज्ञको विधि को । महापुर के राजा आदि जो प्रमुख पुण्य थे वे लोगोंकी मूढता को निन्दा करते हुए परमद्वय जिनेन्द्र देवके द्वारा निदिष्ट मार्गमें ही स्थित रहे । ‘नारद ने धर्ममयीदा की रक्षा की है’ इस तरह उसकी प्रशंसा कर उसके लिये गिरितट नामकी नगरी दी ।

निजविद्याया धारपन्नगान हूय तत्परं निवेदयामास । धारपन्नागास्तु संपादे
कालासुरं भेषत्वा यागविघ्नं अक्रुः । विश्वभूषवंती तद् दृष्ट्वा शरणान्वेषणी याव-
दासतो तावत्महाकालमग्रतः स्थिरं वद्यशतुः तदग्रे तं वृत्तान्तं निवेदयाऽच्चक्रतुः ।
कालासुर उवाच-अस्मद्द्वेषिणो नागस्तैरयमुपद्रवो विहितः । विद्यानुप्रवादोक्ता
नागविद्यास्तासां विजूभ्यं जिनविम्बानामुपरि न भवति ततः सुरूपान् जिनाकारान्
चतुष्टु दिक्षु निवेश्य पूजयित्वा च यज्ञविधि युवां कुरुतमिति । तमुपायं श्रुत्वा
ती तथा चक्रतुः । पुनर्विद्याधराषिपो यागविघ्नं कतुं मागतः । जिनविम्बाति
दृष्ट्वा नारदाय कथयति हम यन्मेविद्या त्वं त इत्यन्तीति इत्यस्यां लगाम ।
तदनन्तरं यज्ञो निविज्ञो वभूव । तदनु विश्वभूः पर्वतस्त्वं सप्तमं नरकं गतौ ।
दीर्घकाले महादुःखमनुष्ठानमूवतुः । अथ महाकालोऽभिप्रेतं साधयित्वा निजरूपं

तापस लोग कलिकाल को दयाधर्मके नाशका कारण समझते हुए दुःखित-
द्वृदयसे यथास्थान चले गये ।

तदनन्तर किसी दिन नारदने दिनकर देव नामक विद्याधरसे अपने
मनकी बात कही—आपके द्वारा पर्वतके विश्व आचरणका निवारण
किया जाना चाहिये । दिनकर देवने 'वैसा करुंगा' इस तरह अपनी
स्वीकृति दे दी । उसने नाम जातिके देवके पास जाकर अपनी विद्याके द्वारा
धारपन्नग नामक देवोंको बुलाया और पर्वतका यह सब प्रपञ्च कहु
सुनाया । धारपन्नग देवोंने संग्राममें कालासुरको पराजित करके यज्ञमें
विघ्न उत्पन्न कर दिया । विश्वभू और पर्वत उस विघ्नको देखकर जब
शरण की खोज करते हैं तब सामने खड़े हुए महाकाल को देखते हैं ।
उन्होंने महाकाल के आगे सब वृत्तान्त कहा । कालासुर बोला—नाग
देव हमारे ढेखी हैं उन्होंने यह उपद्रव किया है । विद्यानुप्रवाद में नाग
विद्याएँ कही गई हैं उनका प्रभाव जिन प्रतिमाओं पर नहीं होता इसलिये
चारों दिशाओं में सुन्दर जिन प्रतिमाएँ रखकर पूजा करो, इन प्रकार
यज्ञ की विधिको तुम दोनों पूरा करो । उस उपाध को सुनकर विश्वभू
और पर्वत ने वैसा ही किया । विद्याधरों का राजा फिर से यज्ञ में विघ्न
करने के लिये आया परन्तु जिन प्रतिमाओं को देखकर नारद से बोला
कि मेरी विद्याएँ यहीं नहीं चलती हैं । ऐसा कहकर वह अपने स्थान
पर चला गया । तदनन्तर यज्ञ निविघ्न समाप्त हो गया । पश्चात्
विश्वभू और पर्वत सप्तम नरक गये तथा दीर्घ काल तक महा दुःख
भोगते रहे ।

चूल्हा लोकान् प्रत्याह—पोदनापुरे पूर्वभवेऽहं मधुपिङ्गलो नाम राजा आसौ । सुरुसानिमित्तं यथा महत्पापमुपाजितं अहिसालक्षणो धर्मो जिनेन्द्रः कथितः स भवदिभः कर्तव्यो धर्मिष्ठैरिति संप्रोक्ष्य अन्तदधी । पुनर्देयार्थधीः सन् सुदुर्लेष्टापापस्य प्रायशिच्चर्त्त स्वयं चकार । कि प्रायशिच्चतं ? सम्मोहात्कृतस्य परपस्य निवृत्तिरेव प्रायशिच्चर्त्त तामसो चकार । अब दिव्यबोधैमुनिभिरित्युक्तं विश्वभूप्रमुखा हिंसाप्रवत्तका नारका वभूवुः । ततश्चुल्ला पर्वतोद्घट दुर्मार्ग केचित् पापभीरवो नाशिश्रियुः । केचिसु दीर्घसंसारिपत्तास्मन्नेव दुर्मार्गं स्थिता इति ।

इति श्रीभावप्राभूते मधुपिङ्गलदृष्ट्यलिगिनः कथा सामाप्ता ।

अण्णं च वसिद्गुणी पसो दुकर्लं नियाणदोषेण ।

सो णतिथ वासठाणो जस्थ न छुरुछुलिलओ जीव ॥४६॥

अन्यच्च विषिष्ठमुनिः प्राप्तः दुःखं निदानदोषेण ।

तन्नास्ति वासस्थानं यत्र न आन्तो जीव ॥ ४६ ॥

तदनन्तर महाकाल ने इष्ट कार्ये सिद्ध कर अपना असली रूप धारण किया और लोगों से कहा कि मैं पूर्व-भव में पोदन-उरमें मधु-पिङ्गल नामका राजा था । सुलसा के निमित्त मैंने यह महापाप उपाजित किया है । जिनेन्द्र देवने जो अहिसा लक्षण धर्म कहा है आप अब धर्मात्पात्रों को उसीका पालन करना आहिये । ऐसा कह कर वह अन्तर्हित हो गया । पुनः दयासे आद्रं-बुद्धि होकर उसने अत्यन्त दुष्ट चेष्टा रूप पापका स्वयं प्रायशिच्चत किया । क्या प्रायशिच्चत किया ? अज्ञान से किये हुए पापका छोड़ देना ही प्रायशिच्चत है, इसी प्रायशिच्चत को उसने किया । तदनन्तर विद्य ज्ञान के धारक अवशिज्ञानी मुनियों ने कहा कि हिंसा धर्म की प्रवृत्ति कराने वाले विश्वभू आदि नारकी हुए हैं अर्थात् नरक में गये हैं । यह सुनकर पापसे डरने वाले कितने ही लोगोंने पर्वतके द्वारा उपदिष्ट मार्ग का आश्रय नहीं लिया अर्थात् उसे छोड़ दिया और किसने ही दीर्घ संसारी जीव उसी कुभार्ग में स्थित रह आये ।

इस प्रकार मधुपिङ्गल की कथा समाप्त हुई ।

गाथार्थ—और भी, वसिष्ठ मुनि निदान के दोषसे दुःख को प्राप्त हुआ सो ठीक ही है क्योंकि हे आत्मन् । ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ यह जीव न धूमा हो ॥ ४६ ॥

(अण्णं च वसिष्ठमुणी) अन्यत्र भावरहितद्रव्यमुनिदृष्टान्तकथानकं वर्तते । तर्तुकं वशिष्ठमुनिः । (पत्तो दुःखं नियाणदोषेण) प्राप्तो दुःखं निदानदोषेण क्षत्रुवधप्रार्थननिदानदोषेणसवभेन विष्णुना थः कंसनामा नृपो मारितः स वशिष्ठमुनिकरो मल्लयुद्धे मरणदुःखं प्राप्तः । (सो जस्ति वासठाणो) तन्नास्ति वासस्थानं जन्ममरणस्थानं । (जस्थ न हुस्तुलिङ्गो जीव) हे जीव ! हे आत्मन् ! यथा त्वं न जातो नोत्पन्नद्रव्यं दुःखलिङ्गो भ्रात्त इति । वशिष्ठस्य कथा यथा—

गीर्गागन्धवत्योर्नेत्रोः संगमे जठरकीशिकं नाम तापसानां पल्ली द्वूप । तत्र वशिष्ठो नायकः पञ्चाग्निप्रत चरन्नास्ते स्म । तत्र गुणभद्रवीरभद्रनामचारणमुनिकरी जगदतुः—अशामकृतमिदं तप इति । तत्रश्रुत्या वशिष्ठः कुधीः सकोष्ठं तथोः पुरतः स्थित्वा पश्च—कस्मात्मेज्ञानतेति । तत्र गुणभद्रो भगवन्नाह यतः

विशेषार्थ—भाव रहित द्रव्य मुनिका दूसरा दृष्टान्त भी है । वह यह कि वसिष्ठ नामका मुनि जो आगे चलकर कंस हुआ था, शत्रु के मारने की अभिलाषा रूप निदान के दोषसे नीबैं नारायण श्री कृष्ण के द्वारा मल्ल युद्ध में मरण के दुःखको प्राप्त हुआ । वह जन्म-मरण का स्थान कोई ऐसा नहीं है जहाँ हे जीव ! यून उत्तान तुम हो, अथवा न घूमा हो । वशिष्ठ मुनिकी कथा इस प्रकार है—

गजा और गन्धवतो नदियों के संगम स्थान पर जठर कीशिक नामकी तापसियों की वसति थी । उसका नायक वशिष्ठ नामका साधु था जो पञ्चाग्नि अतका आचरण करता हुआ रहता था । एक बार वहाँ गुणभद्र और वीरभद्र नामक चारण श्रद्धिधारी मुनिराज पहुँचे । उन्होंने वशिष्ठ से कहा कि तुम्हारा यह तप ज्ञान के द्वारा किया हुआ है । यह सुनकर दुबूँढ़ वशिष्ठ ने कहा हो उनके आगे खड़ा होकर पूछा कि मेरी अज्ञानता किस कारण है ? उनमें भगवान् गुणभद्र ने कहा क्योंकि सत्पुरुष हितभाषी होते ही हैं । उन्होंने जटाओं के समूह में उत्पन्न जुए तथा लीखोंके निरन्तर घात को, जटाओं के मध्यमें लगी हुई छोटी छोटी लीखोंको तथा जलते हुए काठके मध्यमें स्थित कीड़ोंको दिखा कर समझा कि तुम्हारा अज्ञान यह है । काललघ्वि पाकर उस वशिष्ठ साधुते बुद्धिमान हो निर्वन्य तप बर्थात् दिगम्बरो दीक्षा धारण कर ली और उपवास के साथ आतापन थोग प्रहृण किया । उसके महान् तंपके माहात्म्य से सात व्यन्तर देवताओं ने आगे खड़े होकर कहा—मुनिराज ! ‘अज्ञा देजो’ । मुनिने कहा इस समय मेरा कोई प्रयोजन नहीं है इसलिये तुम

सत्यरुपा हि हितमाधिष्ठो भवन्ति । जटाकलापसंजातयूकालिकाभिष्ठुन् सततं स्नानेन जटापञ्चलग्नमूत्तरीनकान् दक्षाभानकाळमध्यस्थितकीटकान् प्रददर्श्य इदं तत्वाज्ञानामति प्राबोधयत् काललविधमाधिरथ स विषष्ठः सुधीर्भूत्वा गुणमद्वचरणाभ्ये तपो निष्ठेन्थ गृहीत्वा सोपवासमातापनयोगं जगाह । तत्पोमाहात्म्यात् सप्तव्यन्तर-देवता अप्रतः स्थित्वा बुवत्ति स्म—मूने ! आदेशं देहीति । मुनिराह—इदानीं मम प्रयोजनं न, तिर गच्छन् पुर्ये । गच्छन् तदे भवित्विट गरिष्ठप । एवं तपः कुर्वन् विषष्ठः क्रमेण मथुरापुरीमाजगाम । तत्र सासोपवासी सन्नातापनयोगे स्थितवान् । स उग्रसेनेन राजा दृष्टः । भवितवशेन पुर्या घोषणां कारयामास—अथं मुनिर्मद्-गृहे एव भिक्षा गृह्णातु नान्यत्रेति । सोऽनि पारणादिने मथुरां जगाम । तत्राग्नि-

सब जाओ । जन्मान्तर में मेरा धोष कार्ये पूरा करना । इप प्रकार तप करते हुए विषष्ठ मुनि क्रम क्रमसे मथुरापुरी में आये । वहाँ एक मासके उपवासका नियम लेकर वे आतापन योगमें स्थित हो गये । राजा उग्रसेन ने उनके दर्शन किये तथा भवित-वश नगर में घोषणा करा दी कि ये मुनि मेरे घर हो भिक्षा ग्रहण करें, अन्यथा नहीं ।

पारणा के दिन मुनिराज भी मथुरा गये परन्तु वहाँ उठती हुई अग्निको देख लौटकर बनमें वापिस आगये और एक महीने के उपवास का नियम लेकर ध्यानारुद्ध होगये । मासोपवास समाप्त होने पर वे पुनः पारणा के निमित्त नगर में गये, परन्तु याग हस्तीका ओभ देखकर बन में लौट आये, पुनः एक मासके उपवास कर पारणा के लिये नगर गये परन्तु उस दिन जरासन्ध का पत्र देखकर राजा अग्रचित्त था इसलिये मुनि फिर लौट आये । जब अत्यन्त दुर्बल शरीर के चारक विषष्ठ मुनि लौट रहे थे तब उन्हें देख किसी मनुष्य ने कहा कि यह राजा मुनि को मारे डालता है, स्वयं भिक्षा देता नहीं है और दूसरों को रोकता है, न जाने इसका क्या अभिप्राय है ? यह सुनकर विषष्ठ मुनिने पापके उदय से निदान किया कि मैं अपने दुष्कर तपके फल—स्वरूप इस राजा का पुत्र होऊँ और इसका निश्चह कर इसका राज्य ग्रहण करूँ । इस खोटे परिणाम से मरकर वह राजा उग्रसेन की पश्चात्ती रानी के गर्भ में पुत्र रूपसे स्थित हुआ । गर्भस्थित बालक की क्रूरता से उसे दोहला हुआ कि मैं राजा के हृदय का मांस खाऊँ । उस मांसको न पाने से वह दुर्बल हो गई । यह जान कर मन्त्रियोंने कृश्म भास देकर उसका दोहला पूरा कर दिया सो ठीक ही है चिह्नान् क्या नहीं कर सकते हैं ? मनोरथ पूर्ण होनेपर

मुत्तिर्त दृष्ट्वा व्याघृट्य बनमाजगाम । पुनर्मसोपवासं जप्राह । पुनः पारणार्थं
मासोपवासावसाने पुरं गतः । तथ यागहस्तिनः ओभं दृष्ट्वा बनमागतः ।
पुनर्मसोपवासपारणायां तगर्त गतः । तदा जरासन्धपत्रकं दृष्ट्वा राजनि ध्यग्रचित्ते
सति पुनर्वलितः । तदा श्रीणशरीरं विशिष्टमूर्तिं दृष्ट्वा लोको जगाद्-अनेन राजा
मुनिर्मारितः, स्थायं भिक्षां न ददाति परान् वारयतीति न ज्ञायते कोभिप्रायो नृप-
स्वेति । ततश्चूत्वा विशिष्टो मुत्तिः पात्रोध्यान्निदानं चकार । एम दुष्करतपः-
फलादस्य राज्ञः पुत्रो भूत्वा अमुं निगृह्य अस्य राज्यं गृह्णायामहमित्यनेन दुष्यरि-
णमेन मृत्वा पद्मावतीगम्भे पुत्रतया स्थितः । सा गभीर्भिर्क्रीयेण दोहृद चकार-
राज्ञो हृदयमांसमधीभोति । तदप्राप्नुवत्त्वा दुर्बला वभूव । तज्जात्वा मंत्रिणः

रानीने पापी पुत्रको उत्पन्न किया । जब वह उत्पन्न हुआ तब अपना
ओठ डस रहा था, भौंहकी भज्जमे सहित था और मुट्ठी बौधे था । उसे
देख माता-पिता ने विचार किया कि यह पालन-पोषण करने योग्य नहीं
है, अतः उसे छोड़ने का उपाय किया । एक कसिसेकी पेटी लाकर उसमें
सब समाचार के साथ कंसको (उस बालकको) रख दिया तथा यसुना
के प्रवाह में छोड़ दिया ।

कौशाम्बी नगरी में मन्दोदरी नामकी एक कल्पपाली (कलारन)
रहती थी उसने प्रवाह के बीच कसिसेकी पेटी में रखे हुए उस बालक को
देखा और पुत्र रूपसे उसका पालन किया । आचार्य कहते हैं कि तपस्त्रियों
के हीन कोटिके पुण्य भी क्या नहीं करते हैं ? अर्थात् उनसे भी विशिष्ट
लाभकी प्राप्ति होती है । कितने ही दिनों में वह बालक उलाहना आदिको
सहन करने वाली अवस्थाको प्राप्त होगया । खेलता हुआ वह विना
कारण हो समस्त बालकों को चौटा, घुंसा तथा दण्ड आदिसे मार देता
था तथा हिंसाका पाप बाँधता था । उसके दुराचार के उलाहनों को जब
मन्दोदरी नहीं सह सकी तब उसने उस पुत्र को छोड़ दिया । अब वह
कंस शौर्यपुर जाकर वसुदेवका सेवक बन करके उनकी सेवा करने लगा ।

इसी बीच में तीन खण्ड पृथिवी के अधिपति राजा जरासन्धका एक
कार्य वाकी रह गया था उसकी पूर्ति के लिये उसने समस्त राजाओं के
समूह के पास इस आशयके पश्च मिजवाये कि सुरम्यदेश में पोदनपुरके
स्वामी सिंहरथको युद्ध में बाँधकर जो लावेगा उसके लिये मैं आधा देश
तथा कालिन्द सेना से उत्पन्न अपनी शीदशशा नामकी पुत्री द्वांगा । उस पश्च
को लेकर वसुदेव ने बचवाया और अपने छोड़ोंकी सिंहके मूर्खसे संस्कारित

प्रयोगेण विहितं दोहद पूरयन्ति स्म । विद्वांसः किन्न कुर्यात् । तत्वा सा पूर्णमनोरथा सुतपातकमसूत । मातापितरी दण्डोष्ठं सञ्चूर्भर्णं बद्धमुष्टिं तं दृष्टवा न योषणे योरयोऽयमिति विचिन्त्य बहिसर्जनोपायं वक्रतुः । कंसमयीं मंजूषामानीय सबृतकं कंसं तथां निधाय यमुनाप्रवाहे मुमुचतुः । कोशाम्बीपुरे मन्दोदरी नाम कल्पपाली, तथा प्रवाहे मंजूषामध्ये स दृष्टः पुनरतया पालितवच । तपस्त्विनां हीनात्यपि पुण्यानि कि न कुर्यात् । कैषिचदृढिनैर्भनादिसंहं वयः प्राप्त । आक्रीडमानो निष्कारण राक्षल-बालिकान् चपेट्या मुष्टिना दण्डादिना च प्रहारं ददाति वधपाणं बह्नाति । तद्दुराचारोपलंभान् असहमाना मन्दोदरी तं तत्याज पुत्रं सोऽपि शोष्यंपुरं गत्वा वसुदेवपदातिर्भूत्वा तत्सेवां करोति यावत् अत्रान्तरे जरासन्धो राजा क्रिक्षण-मेष्टीपतिरपि कायेषीषवान् वकृते । शुरम्यदेवो पोदनापुरावीर्णं सिंहरथं युद्धे बद्ध्वा य आनयति तस्मै देवाखं मत्सुतां कालिक्षेनासेजातां 'जीवद्यशीनामानं ददामीति पत्रमालां राज्ञीं समृहान् प्रति प्रेषयामास । तस्मां वसुदेवो गृहीत्वा प्रवाचितवान् । मिजाष्वान् सिंहमूत्रेण भावयित्वा तैर्बहुं रथमारहा संग्रामे तं जित्वा कसेन

कर उन्हें रथ में जोता तथा उस रथ पर आरुङ्ग हो संग्राम में सिंह-रथको जीता तथा अपने सेवक कंससे बैंधवाकर उसे जरासंघ को सौंप दिया । जरासंघ संतुष्ट होकर अपनी पुत्री और आधा देश देने लगा परन्तु वसुदेव ने उस कन्याको खोटे लक्षणों वाली देखकर कह दिया कि हे देव ! मैंने सिंहरथको नहीं बौधा है, यह कार्यं कसने किया है इसलिये आपके पास भेजने वाले इस कंसके लिये ही कन्या दी जावे । यह सुनकर जरासंघ ने कंपका कुल जानने के लिये मन्दोदरी के पास दूत भेजा । उसे देख मन्दोदरी 'क्या मेरे पुत्रने वहाँ भी अपराष्ट किया है ?' इस भयसे उस मंजूषाको साथ लेकर वहाँ गई । जरासंघ के आगे मंजूषा रखकर मन्दोदरी ने कह दिया कि यह इसकी माता है । कौसिको मंजूषा में रखा हुआ यह बालक यमुना के जलमें बहसा आया था मैंने प्राप्त करके इसे पाला-पोषा और बढ़ाया तथा कौसि की मंजूषा में मिलने के कारण मैंने इसका कंस नाम रखा । इसे स्वभाव से ही अपनी शूरता का घमण्ड है यह बाल्य-अवस्था में भी निर्गाल स्वच्छन्द था । पीछे लोगोंके सेकड़ों उलाहने आने लगे, तब मैंने इसे छोड़ दिया । यह सुनकर मंजूषा से पत्र लेकर जोरसे बच-बाया तथा उसे राजा उग्रसेन और पश्चात्तो का पुत्र जानकर उसके लिये पुत्री और आधा राज्य दे दिया ।

१. जीवद्यशीनामानं क० ।

निजसृत्येन बन्धयित्वा सिहरयं राज्ञे अप्याभास । जरासन्धसु तुष्ट्वा निजसुत्ता देशाद्यं च ददौ । वसुदेवस्तु तां कन्यां दृष्टलक्षणां दृष्ट्वोवाच—देव ! माहं सिहरयं बद्धवान्, कर्मेव कंसः कृतवान्, भवत्प्रेषणकारिणेऽस्मै कन्या प्रदीयतां । तत्श्रुत्वा जरासन्धः कंसस्य कुलं विशाकुं मन्दोदरीं प्रति हृतं प्रजिष्ठाय । ते दृष्ट्वा मन्दोदरी मम पुत्रः किं तत्रापि कृतापराम इति भीत्वा समेजूषा तत्र जगाम । जरासन्धापे भंजूषां निक्षिप्य इयमस्य मातेत्युवाच । देव ! ^१कंसमंजूषा-मधिष्ठायाऽर्भकं आगतो यमुनाजले मया लब्धः प्रतिपात्य बधितश्च तत एव नाम्ना कंसः वृतः । अयं स्वभावेन शीर्षदण्डः शिशुत्वेऽपि निरग्नः पश्चादुपालंभसा-तीर्णोक्तानां मया वजितः । तत्श्रुत्वा मंजूषामाः पत्रं गृहीत्वा उच्चर्वाच्चिद्यामास । उग्रसेनाभ्यावत्याः सुतं विशाय सुतामवंराज्यं च तस्मै विततार । कंसोऽपि जातमा-त्रोऽर्जं नद्यां प्रवाहित इति क्रोधेन मथुरापुरं स्वयमादाय मातरपितरौ बन्धस्थौ कृत्वा गोपुरे धूतवान् । विचारविकलाः पापीयांसः कुपिताः किं किं न कुर्युरिति । कृष्णुदेवं भग्नेऽपि पुरमाग्न्य विजातुं ज्ञानेऽपि देवकी दत्त्वा तत्र तं स्थापितवान् महाविभूतिमन्तं तं चकार एवं सुखेन कंसस्य काळे गच्छति सत्येकदाऽतिमुक्तको

कंस ने भी 'मुझे उत्पन्न होते ही इस्होने नदी में बहा दिया था' इस क्रोधसे मथुरापुरी आकर तथा स्वयं माता-पिताको बन्धन में ढालकर गोपुर के ऊपर रख दिया सो ठीक ही है क्योंकि विचार-हीत पापी मनुष्य कुद्द होकर क्या क्या नहीं कर बैठते हैं ? तदनन्तर कंसने राजा वसुदेव को अपने नगर लाकर उन्हें अपनी छोटी बहिन देवकी दी तथा उन्हें वहीं रखकर महा विभूति से युक्त कर दिया । इस प्रकार कंसका समय सुखसे बीत रहा था कि एक दिन अतिमुक्तक नामका मुनिराज भिक्षाके लिये राजभवन में प्रविष्ट हुए उन्हें देख हृषित होती हुई जीवद्यशा ने हास्य भावसे कहा कि मुनि ! देवकी नामक तुम्हारी छोटी बहिन अपना यह कृतु-कालीन वस्त्र तुम्हें दिखलाती है और अपनी चेष्टा को प्रकट करती है । वह सुन मूनिने कोध करके तथा चचन-गुप्तिको तोड़कर कहा कि मूर्ख ! क्यों हृषित होती है, देवकी का जो पुत्र होगा वह तेरे भत्ताको अवश्य मारेगा । यह सुन जीवद्यशा ने उस वस्त्रके दो टुकड़े कर दिये । मूनिने फिर कहा कि मूर्ख ! न केवल तुम्हारे पति को ही मारेगा किन्तु तुम्हारे पिता को भी मारेगा । इतना कहने पर उसने कुपित होकर उस वस्त्रको पैरों से रोंद दिया । यह देख मूनिने फिर कहा कि मूर्ख ! तेरी

१. कंसस्य तृणविशेषस्य भंजूषा तां ।

तु लिमिकार्थं उत्तरनिश्चिट्ठा । ८० दृष्ट्या जीवद्यशा हर्षमाणा 'तं हास्येतो-
बाच—हे मुने ! देवकी तव क्षमुभगिनी पुण्यानन्दवस्त्रं तवैतद्वर्णयति वस्त्रेण
स्वचेष्टितं प्रकाशायतीति । ततशुत्वा मुनिः कोपं कृत्वा बागगुरि भित्वा
जगाद—मुग्धे ! कि हृष्यसि देवनया यो भविष्यति पुत्रः स तव भर्तारमवश्यं
हनिष्यति । ततशुत्वा जीवद्यशा कोपेन तदस्त्रं दिधा चके । मुनिराह—मुग्धे !
न केवलं तव पतिमेव हनिष्यस्यनेन गितरमणि तव हनिष्यति । इत्युक्ते सा
कुपित्वा तदस्त्रं पादाम्याममर्दयत् । तददृष्ट्वा मुनिजंगाद—मुग्धे ! अतेन
सागरावधि पृथक्ती नारीमिव पालयिष्यति । जीवद्यशास्ततशुत्वा गत्वे काम्तं भर्ते
निवेदयामास । कंसो भीत्वा हास्येनापि प्रोक्षतं मुने । सफलं भविष्यतीति

इस चैट्टा से सिद्ध होता है कि वह सागरान्त पृथिवी का स्त्री की तरह
पालन करेगा । जीवद्यशा ने यह सुन एकान्त में जाकर पतिमेव सब
समाचार कहा । मुनि हास्यभावसे यदि कुछ कहुदे तो वह सफल—सत्य
होता है यह सोचकर कंस ढर गया । उसने राजा वसुदेव के पास जाकर
स्नेह के साथ यह याचना की कि पूर्व-दत्त वर-दानसे देवकी हमारे घरके
भीतर ही प्रसूति करे । कंसके उपरोक्त में आकर वसुदेवने 'तथास्तु' ऐसा
ही हो, कह दिया सो ठोक ही है क्योंकि अवश्य होनहार कार्योंमें मुनि
भी भूल कर जाते हैं ।

तदनन्तर उन्हीं मुनिने एक दिन भिक्षा के लिये देवकीके घर में प्रवेश
किया । वसुदेव और देवकी ने उन्हें पढ़िगाह करके आहार कराया ।
पश्चात् हम दोनों क्या दीक्षा धारण कर सकेंगे ? इस तरह छेलसे
पुत्रोत्पत्तिके विषय में पूछा । मुनि उनका अभिप्राय जानकर बोले—तुम
दोनोंके सात पुत्र होंगे, उनमें छह पुत्र दूसरेके स्थान में बृद्धिको प्राप्त
कर मोक्ष जावेंगे परन्तु मातव्वी पुत्र वपने छत्र की छाया द्वारा पृथिवीको
संतुष्ट कर चक्रवर्ती (नारायण) होता हुआ उनका पालन करेगा ।
तदनन्तर देवकी ने तीन युगल पुत्र प्राप्त किये अर्थात् क्रमसे तीन बार
युगल पुत्र उत्पन्न किये । जानी इन्द्रने उन सबको चरम-शरीरी जानकर
नैगमर्ष नामक देवसे कहा कि इनकी तुम रक्षा करो । उस देवने भद्रिलपुर
में अलका नामकी बणिक पुत्री के आगे उन पुत्रोंको रखकर तथा उसके
उस समय हुए मृत युगल पुत्रोंको लाकर देवकी के आगे रख दिया । कंस
उन युगल पुत्रोंको मरा देखकर 'ये मेरा क्या करेंगे ? इस तरह मुनिका

वसुदेवं राजानं गत्वा सस्तेहमिदमयाचत देवकी मम गृहान्तरे प्रसूति 'कुर्यान्मता-
दिति । वसुदेवस्तेनापठदः संस्तथास्त्वति जगाद् अवश्यंभाविकायेषु मुनिरपि
मुष्टिः । अर्थकदा स मुनिर्देवकीगेहं भिक्षार्थं प्रविवेश । वसुदेवो देवकी च तं
प्रतिगृह्णे ऽभोजयित्वोवाच—आवयोर्दीक्षा भविष्यतीति छद्मना जगदत्पुः । मुनि-
स्तदिक्षितं ज्ञात्वोवाच युवयोः सप्त पुत्रा भविष्यन्ति तेषु षट् पुत्राः परस्याने
वृद्धिमित्वा मोक्षं यास्यन्ति सप्तमस्तु पुत्रो निजच्छ्रुत्यज्ञायया पूर्वों निर्विष्य
चक्रवर्तीं दीर्घकालं पालयिष्यति । देवकी ततस्त्रियमलालृ लेन्ते । तान् ज्ञानवान्
शक्तश्चरमाङ्गान् ज्ञात्वा तेषमर्थं देवं प्रोवाच एतांस्त्वं रक्ष । स च भद्रिलपुरे
अलकाया वणिकपृथ्याः पुरो निक्षिप्य तत्पुत्रांस्तदा भूतात् सुहीत्वा मृतान् यमान्
देवक्यगे निचिक्षेप । करस्तान् मृतान् यमान् दृष्ट्वा किममी मे मृताः करिष्यतीति

‘वचन क्षूठ होयया’ वह कहने लगा फिर भी कुछ आशङ्का से युक्त हो
उन्हें शिला पर पछाड़ता गया ।

पश्चात् देवकी ने सातवां पुत्र सातवें ही मास में अपने घर में ही
उत्पन्न किया । वह पुत्र महाशुक्र_स्वर्ग से ज्युत होकर आया था तथा
निनामक_मुनिका जीव था । वसुदेव और बलभद्र नीतिके जानकार थे,
अतः उन्होंने देवकी को सब समाचार बताकर उससे बालक ले लिया ।
बलभद्र ने बालक को उठाया और विताने छत्र लगाया तथा रात्रिमें ही
उसे बाहर निकाल दिया । पुत्रके पुण्यसे नगर देवता बैलका रूप रख अपने
सींगोंपर रखीं मणिमय दीपिकाओं से प्रकाश करता हुआ मार्ग दिखाता
जा रहा था । उस बालक के पंरके स्पर्श से गोपुर के किवाड़ शीघ्र ही
खुल गये । वहाँ बन्धन में पड़े उग्रसेन बोले कि किवाड़ोंका उद्घाटन कौन
कर रहा है ? बलदेव ने कहा—जो तुम्हें बन्धन से मुक्त करेगा, अतः तुप
रहो । ‘ऐसा ही हो’ इस प्रकार आशीर्वाद के द्वारा उसका अभिनन्दन
कर उग्रसेन चुप हो गये । अब बलदेव और वसुदेव यमुना नदी के पास
पहुँचे । हीनहार चक्रवर्ती के प्रभावसे यमुनाने भी दो भागों में विभाजित
हो मार्ग दे दिया सो ठीक ही है क्योंकि समान वर्ण वाला [पुत्रकी कान्ति
काली थी तथा यमुना का पानी भी काले रङ्गका था इसलिये पुत्र और

१. पुर्वदत्तवरदानात् (क० दि०) ।

२. म प्रती उवाच नास्ति ।

३. वियमान् य० ।

मुनेवाक्ष्यमसत्यमभूदिलि प्रोक्ष्य साऽङ्कः शिलायामास्फालयामास । पश्चाद्देवकी सप्तमं पुत्रं सप्ताम एव मासे जनितवती निजगृहे एव महाशुक्राञ्छ्रुतं निर्गमिकचरं सुनिवरं । वसुदेवो बलभृष्ण नीतिमन्ती, देवकीं जापयित्वा गृहीतवन्ती, बलेन बाल उद्घृतः, पिता धृतच्छ्रुतो रात्रावेदं निष्कासितः । तत्पृथ्येन पुरदेवता वृषभ-खण्डणामेऽप्ते निजशृङ्खाभिनिदीपिकाकृतोद्योता मार्गं दश्यामास । 'तद्वालपाद-स्पर्शादिगोपुरमुद्घाटितारं सद्यो जातं । तत्र वन्धनस्थित उपसेन उवाच क्षपाटोद्घाटनं कः करोति ? बलदेव उवाच—यस्तां बन्धान्मोचयिष्यतीति तृष्णीं लिष्टेति । उपसेन एव भवत्वित्याकीभिरभिनन्दा स्थितः । तौ तु यमुना-पितौ । सा भविष्यच्चक्रिप्रभावेन द्विधा मूर्त्या मार्गं ददी । सवर्णः का वा

यमुना मे कविने सवर्णता बतलाई है] ऐसा कौन साद्रै—दयालु (यमुना-पक्षमें जलसे सहित) है जो सहायता न करे । आश्चर्य से युक्त बलदेव और वसुदेव यमुना को पार कर जब आगे गये तो उन्होंने बालिकाको लेकर आते हुए नन्दगोप को देखा । उसे देखकर उन्होंने कहा कि हे भद्र ! तुम अकेले रात्रिमें यहाँ किस लिये आये हो ? नन्द गोपने प्रणाम कर कहा कि मेरी प्रियाने जो कि आपकी सांबका है पुत्र-प्राप्ति के लिये गन्ध आदि से देवता को पूजा कर याचना की थी—हे देवि ! तू मेरेलिये पुत्र दे । मेरी उस प्रिया ने आज रात्रि पुत्री प्राप्त की । वह बोली कि यह स्त्रीरूप सन्तान उन्हीं देवताओं के लिये दे आओ । हे स्वामिन् ! शोकसे युक्त प्रिया के कहने से यह स्त्रीरूप सन्तान देवताओं को देनेके लिये मेरा यह प्रयास हो रहा है, ऐसा नन्दगोपने कहा । उसके बचन सुन बलदेव और वसुदेव 'हमारा कार्य सिद्ध हो गया' इसलिये हर्षित होते हुए उससे बोले तुम हमारे अमीष्ट हो इसलिये तुमसे एक गूढ़वास कही जाती है । यह बालक चक्रवर्ती होगा तुम इसका पालन करो और यह बालिका हमारे लिये दे दो । बालिका को लेकर बलदेव और वसुदेव गृह रूपसे नगर की ओर चल दिये तथा नन्दगोप घर जाकर अपनो स्त्रीसे बोला—प्रिये ! देवताओं ने संसुष्ट होकर तुम्हें महा पुण्यवान् पुत्र दिया है वे बहुत प्रसन्न हैं, यह कह कर नन्दगोप ने वह पुत्र स्त्री के लिये सौंप दिया ।

इधर कंसने जब सुना कि देवकी ने पुत्रीको जन्म दिया है तो उसने बही जाकर उस पुत्रीको भग्ननासा कर दिया अर्थात् उसकी नाक बिकृत

बन्धुतां साद्रों न कुर्यात् । तौ विस्मिती यमुना अलिकामुद्भूत्याग-
चक्षुं नन्दगोपति ददुशतुः । तं दृष्ट्वा लावूचतुः—भद्र ! त्वमसहायो राजावत्र
किमित्यागतः । स प्रणम्योवाच—मम प्रिया युज्मत्रचारिका पुत्रार्थं गन्वादिमिः
पूजित्वा देवतां याचित्वती—देशि ! पुत्रं मे देहीति । ‘साव राज्ञी पुत्रीं लेभे ।
सोवाचेति स्थापत्यं ताभ्य एव देहि । तस्याः सशोकाया वचनादिदं स्थापत्यं
देवताभ्यो दातुः मम प्रथासोऽयं स्वामिन्निति जगाद् । तद्बन्नं तौ श्रुत्वाऽस्मत्कार्यं
सिद्धिमिति प्रहृष्य तमूचतुः—त्वमस्माकमभीष्टस्तेन तत्र गुह्यं कथ्यते, अथ
बालश्वकी भविष्यति त्वं पालयेति । इयं तु बालिकाऽस्मभ्यं दीयतामिति । तां
गृहीत्वा गृहतया पुरं रहती । नन्दगोपस्तु गृहं गत्वा प्रियां प्राह-प्रिये ! देवता तुष्टा
महापुण्यं पुत्रं तुम्यं ददुः प्रसन्ना इति प्रीच्य तं पुत्रं तस्यै समर्पयामास । कंसस्तु
देवकी पुत्री प्रसूतवतीति श्रुत्वा तत्र गत्वा तां सुतां ममननासां चकार । सात्रा तु
सा बालिका भूमिगंहे वर्धिता प्रौढयोवना नासाविकृति विलोक्य आर्थिकापाश्वं

कर दी । माताने उस पुत्री का भूमि-गृह-तलधर जैसे गुप्त स्थानमें उसका
पालनपोषण किया । जब वह प्रौढयोवनवतां हुई तो नासा की विकृतिको
देख उसने शोकबश आर्थिका के पास उत्तम ब्रतों से युक्त दीक्षा ग्रहण
कर ली । तथा विन्ध्य पर्वत पर स्थान का योग लेकर अर्थात् यहाँ से
अन्धश्रव न जाऊँगी ऐसा नियम लेकर रहने लगी । कुछ बनवासी लोग ‘यह
देवता है’ ऐसा समझ उसकी पूजा कर गये ही थे कि रात्रिमें व्याघ्रने
उसे खा लिया तथा मरकर वह स्वर्गलोक गई । तदनन्तर दूसरे दिन
उन बनवासियोंने उसके हाथकी तीन औंगुलियाँ देखीं । उस देशके अविवेकी
निवासियोंने उन तीन औंगुलियों को दूध तथा केशर आदिसे पूजा
कर उस आर्या को विन्ध्यवसिनी देवी रूपसे प्रमाणिक किया ।

तदनन्तर उस नगरमें बड़े-बड़े उत्पात होने लगे । उन्हें देख कंसने वरुण
से पूछा कि इनका फल क्या है ? वह बोला कि तुम्हारा बड़ा भारी शत्रु
उत्पन्न हो चुका है । निमित्त-ज्ञानीके बचन सुनकर राजा कंस चिन्ता-
निमग्न हो गया । उसी समय पूर्वोक्त देवताओं ने आकर पूछा कि वया
कार्य करनेके योग्य है ? कंसने कहा—मेरा पापी शत्रु कहीं उत्पन्न ही
चुका है सो उसे खोजकर तुम लोग मार डालो । यह सुनकर सातों ही
देवता ‘तथास्तु’ कहकर चल दिये । उन देवताओं में एक पूतना नामकी
देवी थी । वह विभज्ञावधिज्ञान से वासुदेवको जान गई तथा उसे मारने के

मुद्रता दीक्षां जगाह शोकेनेति । विन्द्यपर्वते स्थानयोर्गं गृहीत्वा लिखता । बनवा-
सिषु देवेतेति पूजयित्वा गतेषु रात्रौ व्याघ्रेण भक्षिता स्वर्गलोकं जगाम ।
अष्टापरस्मिन् दिने व्याधीर्हस्ताङ्गुलिश्चयं दृष्टं । क्षीरकुंकुमादिभिः पूजित देशवासि-
भिविमूलात्मभिरसाकार्या विन्द्यवासिनी देवतेऽत प्रमाणिता । अथ तस्मिन् पुरे
महोत्पाताः प्रसूताः । तात् दृष्ट्वा कंसेन वरुणः पृष्ठः किमेषां फलमिति स आह-तव
शशुः समुत्पद्धो महान् इति । नैमित्तिकवचनं शूत्वा राजा चिन्तावस्थो बभूव तेदा
पूर्वोक्ता देवताः समागताः किं कर्तव्यमिति पश्चच्छुः । स आह—सम शशुः पायिष्ठं
क्वचिद्गुल्मन्विष्य मारयत वृथं तत्थुत्वा सप्तापि गतास्तथास्त्वति । तत्र पूतना
विभूयात् आत्मा वासुदेवं मारयितुः अशोकात्मनाङ्गुहः गृहीत्वा उद्दरनभासे-
पायेन दुष्टा मारणं चिकीदीकिता । तदालपालनोद्युक्ता काचिदन्या देवता स्तनदा-
नाकसरं बलवरपीडां आकार । तत्पीडां सोदुमसमर्या मृताहमित्याक्षेषं कृत्वा पला-
यिता (१) । द्वितीया देवता शकटाकारं गृहीत्वा शिशूपरि भावन्ती तेन
पावाम्या ताडिता नष्टा (२) । अपरेचुर्नन्दगोपी कटधामुदूखलं बद्ध्वा जलमा-
नेतुं गता तथापि शिशुरन्धगमत् । तदा तं बालं मारयितुः द्वे देवते अजुनतरू
मूत्वा नदुपरि पतन्त्यो मूलादुन्मूलयामास (३-४) । विष्णोदचंक्रमणं वेलायामेका
तालतर्मूत्वा तन्मस्तके फलानि दृष्टदोषपि निष्ठुराणि पातयितुमूद्यता (५) । अपरा

लिये उसने बालक की माता यशोदा का रूप ग्रहण किया । वह दुष्टा
विष मिश्रित स्तन पिलाने के उपाय से बालक को मारने की इच्छा करती
हुई आई । उस बालक की रक्षा करने में तत्पर किसी दूसरी देवी ने
स्तन देने के समय उसके स्तन में बहुत जोर की पीड़ा पहुँचाई । पूतना
देवी उस पीड़ा को सहन करने के लिये असमर्थ हो 'मैं भरी' इस प्रकार
चिल्ला कर भाग गई (१) दूसरी देवी शकट—गाढ़ी का आकार रख
बालकके ऊपर दीड़ती बा रही थी कि बालक ने उसे पैरों को ठोकर से
नष्ट कर दिया (२) दूसरे दिन नन्दगाप की स्त्री अथवि यशोदा बालक
की कमर में एक उखला बाँधकर पानी भरने के लिये गई थी फिर भी
वह उसके पीछे पांछे चला गया । उस समय दो देवियाँ अजुन वृक्ष का
रूप रख कर उस बालकके ऊपर गिरना चाहती थीं कि बालक ने उन्हें
जड़ से उखाड़ दिया (३-४) । जब विष्णु घूम रहे थे तब एक देवी
ताढ़का वृक्ष बनकर उसके मस्तक पर कठौर फल और पत्थर गिराने को
उचित हुई (५) । तथा दूसरी देवी गधो बन कर उन्हें काटने के

रासभी भूत्वा तं दण्डुमागता । तां रासभीं चरणे चूखा तपीव तं वृक्षभताक्रम् (६) । अन्यस्मिन् दिनेऽन्या देवता तुरंगमो भूत्वा तं मारयितुमागता । तस्य वदनं मुष्टिना जघान (७) । एवं सप्तैव देवताः कंसमागरयोन्तुः—वयो तव शशुमाहन्तुं न समर्थः स्म इति । विषुत इव विलीनाः । देवतानामपि शक्तयः पुण्यवज्जने न समर्थः शक्रवज्जे उरिशस्त्राणीव । अन्यस्मिन् दिनेऽरिष्टनामा देवस्तत्पराक्रमं दृष्टुं तत्पुरमागतः कृष्णवृषाकारः, तस्य ग्रीवाभंजने स उद्यमं चकार । हन्माता यशोधापि तं तर्जयति स्म-पुश्र ! एवमावित एवाकलेष्टितात् अलेशान्तरसम्पादका-द्विरमेति पुनः पुननिवारितोऽपि मदोत्कटस्तच्चेष्टितं चकार । महोजसोऽपदाने निवारयितुं न शब्दयन्ते । तत्पीहवं ख्यातं लोकवचनादाकर्यं देवकीवसुदेवी तदर्थान

लिये आई । विष्णु ने उस गधीका पैर पकड़ कर उसीसे उस वृक्षको ताढ़ित किया (६) । किसी दूसरे दिन एक देवी घोड़ा बनकर उन्हें मारने के लिये आई तो उन्होंने घूसे के द्वारा उसका मुख तोड़ दिया । इस तरह सातों ही देवियाँ कंसके पास आकर कहने लगीं कि हम लोग तुम्हारे शशुको मारने के लिये समर्थ नहीं हैं । इस प्रकार कह कर वे विजली की तरह विलीन हो गईं । सो ठीक ही है क्योंकि जिस प्रकार इन्द्रके वज्र पर शशुओं के शस्त्र असमर्थ रहते हैं उसी प्रकार पुण्यवान् मनुष्य पर देवताओं की शक्तियाँ भी असमर्थ रहती हैं ।

किसी एक दिन अरिष्ट नामका देव उसका पराक्रम देखने के लिये उस नगर में आया और एक काले बैल का रूप रखकर घूमने लगा । बालक श्रीकृष्ण उसकी गर्दन तोड़ने का उद्यम करने लगा । माता यशोदा ने उसे मना भी किया कि बेटा ! इस तरह प्रारम्भ से ही अन्य अलेशों को उत्पन्न करने वाली तिष्ठफल चेष्टा से दूर रहो । बार बार मना करने पर भी गर्वसे भरा कृष्ण अपनी उस चेष्टा को करता ही रहा सो ठीक ही है क्योंकि तेजस्वी मनुष्य पराक्रम के कार्य में रोके नहीं जा सकते । इस प्रकार श्रीकृष्ण के पराक्रम की धर्चि सर्वत्र फैल गई । लोगोंके कहने से जब देवकी और वसुदेव ने यह कथा सुनी तो वे भी उसे देखने के लिये उत्कण्ठित हो, गोमुखी नामक उपवास के बहाने वे बलभद्र तथा अन्य परिवार के साथ बड़े ठाट बाट से गोदावन (गोकुल) गये उसी समय कृष्ण गर्वसे भरे वृषभेन्द्र की गर्दन तोड़ कर बहुत भारी पराक्रम का अवलम्बन कर बैठे थे । उन्हें उस प्रकार का देख देवकी तथा वसुदेवने चन्दन और माला वादि से सम्मानित कर विभूषित किया । तदनन्तर प्रदक्षिणा करती हुई देवकी के स्वर्ण कलशके सदृश स्तनों से पूज आरणे

चक्षिती । गोमुखीनामोपवासमिषेणा । सीरिणा सह महत्या विभूत्या गोवाक्षनं गोष्ठ परिवारेण सह गती । तस्मिन्नेव दर्पदवृषभेन्द्रग्रीवामगावसरे कृष्णं महाबलं समालम्ब्य दिव्यं दृष्ट्वा 'नाथमन्यः विद्वाऽनाशरं भूयत्वामास्तुः तदनन्तरं प्रदक्षिणं कुर्वत्या देवक्या । शातकुंभकुंभसदृशयोः स्तमयोः धीरं सुधाव कृष्णस्याभिषेकं कुर्वत्या इव । बलस्ताद्वीक्षय भंडभेदभयादुपवासपरिआन्ता माता मूर्छितेति जल्यन् सुवीः कुमपूर्णपयोभिस्तां समलतोऽन्युक्षितवान् । ततोऽगोष्ठवृक्षादीनामपि तदोऽयं पूजनं कृत्वा गोपालकुमारैः सह कृष्णं भोजपित्का स्वयं च भुक्त्वा माता पिता च विकुर्वणी॒ पुरं प्रविविशतुः । कदाचिन्महावर्षपाते जाते गोवर्धनाल्यं-पर्वतमुद्घृत्य हरिंगचामादरणं अकार । तेन ज्योत्सनेव तत्कीर्तिरस्तिर्लिङ्गं जगत् व्याप्नोति स्म शत्रुमुखकमलसंकोचकारिणी । तप्तगरस्यापनहेतुभूतजिनालयसमीपे

लगा मानों वह कृष्णका अभिषेक ही कर रही हो । यह देख दुष्टिमान बलदेव ने मन्त्र भेदके भय से 'उपवास के कारण एक कर माता मूर्छित हुआ चाहती है' यह कहते हुए घड़े भर दूध से उसका अभिषेक कर दिया अर्थात् उस पर घड़ा भर दूध उड़ेल दिया । तदनन्तर गोकुल के वृक्ष आदि का भी यथा-योग्य पूजन कर माता-पिता ने गोपाल कुमारों के साथ कृष्ण को भोजन कराया और स्वयं भी भोजन कर हर्षित होते हुए नगर में प्रवेश किया ।

किसी समय जोर की वर्षा हुई, उस समय श्री कृष्णने गोवर्धन नामक पर्वत को उठा कर गायोंको छाया की । इस घटना से शत्रु के मुख कमल को संकुचित करने वाली चाँदनी के समान उनको कीर्ति समस्त जगत् में फैल गई । उस नगर की स्थापना के हेतुभूत जिनालय के समीप पूर्व दिशा में एक देवता के गृह में श्रीकृष्ण के पुण्यातिशयसे नाभशय्या, धनुष और शङ्ख ये तीन रत्न प्रकट हो गये, जो कि देवताओं के द्वारा रक्षित थे तथा नारायण की होनहार लक्ष्मी को सूचित करने वाले थे । उन्हें देख करने भयभीत हो वरुणसे पूछा कि इनकी उत्पत्तिका क्या फल है ? वरुण ने कहा—हे राजन् ! इन तीन रत्नों को शास्त्रोक्त विधिसे जो सिद्ध कर लेता है वह चक्रवर्ती होगा । यह सुन कर स्वयं ही उन तीनों रत्नों को

१. सन्मानानन्तर क० ।

२. वृषां क० ।

३. हर्षमाणी ।

४. प्रतिक्षयस्तुः क० । प्रविशतुः क० ।

पूर्वदिशि देवतागृहे हरिपुष्पातिरेकात् नागशब्दा धनुः शंखशब्द श्रीणि रस्तानि
देवतारक्षितानि नारायणस्य मविष्यलक्ष्मीसूचकानि समुत्पन्नानि । तानि वृद्धवा
कंसो वहनं सभयः प्रपञ्च—एतेषां प्रादुर्भूतः कि फलमिति । स प्राह—हे
राजन् ! एतानि श्रीणि रस्तानि शास्त्रोक्त वधिना यः साधयति स चक्रवर्ती भवि-
ज्ञतीति । तत्थृत्वा कंसः स्वयं तत्त्वितयं साधयितुमिच्छुरपि साधयितुमशक्तो
मनाक् खिलः साधनाद्विरराम । उक्तवाऽर्हत्वं यो नागशब्दामारुहैं केन हस्तेन
शंखं पूरयति द्वितीयेन करेण अनुरारोपयति युगपत्कार्यत्रयं करोति तस्मै निजपुत्रीं
दास्यामीति स्वकान्तुं परिक्षालुं साशक्तः पुरे घोषणामवीकरत् । तद्वातीं श्रुत्वा सर्वे
राजान् आगताः । राजगृहात् कंसश्यालकः स्वभानुनामा भानुनामानं स्वपुर्वं
भानुसदृशपादायाजगाम । निवेशं चिकीचुं गोदावनसमीपे महासप्तिवाससरोवरतटे

सिद्ध करने को इच्छा करने लगा परन्तु सिद्ध करने में समर्थ नहीं हो
सका, अतः कुछ खेदखिल हो चुप हो रहा । उसने कहा कि जो नागशब्दा
पर चढ़कर एक हाथ से शङ्ख को पूरेगा और दूसरे हाथ से धनुष को
चढ़ावेगा अर्थात् तीनों काम एक तार बनेगा उसके लिये तै आपकी पुकी
दूँगा । इस प्रकार आशङ्का से युक्त कंस ने अपने शङ्ख का पता चलाने
के लिये नगर में घोषणा कराई । इस बात को सुनकर सब राजा वहाँ
आ पहुँचे । राजगृह से कंस का साला स्वभानु, सूर्य के समान अपने
भानु नामक पुत्रको लेकर आ गया । अतः समय बह गोदावन (गोकुल)
सरोवर के तट पर अपना पड़ाव डालना चाहता था । उसने गोपाल
कुमारों से, सुना कि कृष्ण के बिना और कोई इस सरोवर से जल नहीं
ला सकता अतः उसने श्रीकृष्ण को बुलवाकर यथास्थान पर अपना पड़ाव
डाला । कृष्ण ने कहा—राजन् ! आप कहाँ जा रहे हैं ? उत्तर में
स्वभानुने श्रीकृष्णको अपना मधुरा जाने का प्रयोजन बतलाया । कृष्ण ने
फिर कहा—राजन् ! यह कार्य क्या हमारे-जैसे लोगोंके द्वारा भी किया
जा सकता है ? यह सुनकर स्वभानु विचार करने लगा कि यह केवल
बालक ही नहीं है, सातिशय पुण्यात्मा भी है । कृष्ण से उसने कहा कि
यदि तुम उस कार्य के करने में समर्थ हो तो आओ । इस प्रकार सुभानु
जिसका दूसरा नाम था ऐसा स्वभानु कृष्ण को अपने पुत्र के समान साथ
लेकर मधुरा पहुँचा । वहाँ जाकर उसने कंस के यथा योग्य दर्शन किये ।
उस कार्य के करने में जिसका मान खण्डित हो चुका था ऐसे बहुत से

निवासं कर्तुं मना गोपालकुमारेभ्यः श्रुत्वा कृष्णं विनाश्य सरसो जलमानेतुं परते न शक्यमिति तमाहृय यथास्थानं स्कन्धावारं निवेशयामास । कृष्ण उवाच—राजन् ! त्वया कृष्ण गम्यते हति । स्वभन्तुमंथुरागमनप्रयोजनं तस्योक्तवान् । कृष्ण उवाच—राजन् ! एतत्कर्म किमस्मद्विषयेरपि कर्तुं मवेत् तत्श्रुत्वा स्वभन्तुश्चिन्नायामास असी शिशुः पुण्याविकः केवलो न वर्तते हति । तस्य कर्मणः शक्तिश्चेदागच्छेति निज-पुत्रमिव तं गृहीत्वा सुभाव्यपरतामा स्वभन्तुमंथुरां जगाम । यथाह कंसं ददशं तत्कर्मकरणे बहून् भज्नमानान् दृष्ट्वा कृष्णः स्वभन्तुमुत्त भानुं सभीपरां कृत्वा कर्मण्य समकार्ल चकार । ततः सुभानुना दिष्ट्यादिष्टः कृष्णो गोष्ठं जगाम । कैश्चित्पुरुषः कंसो भणितः “तत्कर्मं भानुना कृतं” । कैश्चित्तद्रक्षकैरहतं “न भानुना तत्कर्मं कृतं अन्येन “मल्लेन कुमारेषेति” । तत्श्रुत्वा कंसः प्राह—सोऽन्याऽन्यव्यानीयतो तस्मै कन्या प्रदीयते गति । स इत्य, ति पुल, अधिगात्मा । तावन्नन्दगोपेन सम्यग्विज्ञातं अनेन मत्पुत्रेण तत्कर्मं सम्यक्कुरुतमिति भीत्वा गोमण्डलं नीत्रा पलायाविभूते शिलास्तीमसुदृशुं तत्र सर्वे जनाः प्राप्तास्ते नाशकनुबन् । कृष्णेन केवलेन त्र समुदृप्तः । तत्साहस्रात् सर्वे जना विस्मयं बहुधुः । परार्घीशुकाभरणादिदानेन पूजयामासुः । नन्दगोपस्तु ममास्य “पुत्रस्तप्रभावेण कृतोऽपि भयं

राजाओं को देख कृष्ण ने स्वभन्तु के पुत्र भानुको अपने पास ही खड़ा कर उक्त तीनों कार्य एक साथ सम्पन्न कर दिये । तदनन्तर सुभानु का आदेश पा कर कृष्ण उसी समय गोष्ठ-गोकुल चले गये ।

इधर कितने ही पुरुषोंने कंस से कहा कि यह कार्य भानु ने किया है और उपके कितने ही रक्षकों ने कहा कि भानु ने वह कार्य नहीं किया है किन्तु किसी अन्य मल्ल कुमार ने किया है । यह सुनकर कंसने कहा कि उस दूसरे कुमार को खोजकर लाया जाय, उसके लिये यह कल्या दी जाती है । वह किसका लड़का था, उसका क्या कुल है और कहाँ रहता है ? इसका पता लगाया जाय । जब नन्दगोप को अच्छी तरह मालूम हो गया कि वह कार्य मेरे इस पुत्र ने हो किया है तो भय से वह अपने गोमण्डल को लेकर भाग गया । गोकुल में एक पत्थर का बड़ा भारो खस्ता लगा था उसे उखाड़नेके लिये लोग पहुँचे परन्तु समर्थ न हो सके परन्तु कृष्णने उसे अकेले ही उखाड़ दिया । कृष्णके इस साहससे सब लोग विस्मय करते हुए हृषित हो उठे । उन्होंने श्रेष्ठ वस्त्राभूषण

१. मल्लेन, य प्रती नास्ति ।

२. पुत्रप्रभावेण म० ।

नास्तीति प्राक्तमसेव स्थार्तं गोकुलं निनाय। अन्वेषकैस्तु नन्दगोपसुतेनैतत्कर्म कृतमिति राजा निवेदये सम। तथापि तदनिश्चये सहस्रदलं कमलमहीशरक्षितं प्रेष्ठतामिति राजा नन्दगोप आज्ञापितः शत्रोजिशासया ततश्रुत्वा नन्दगोपः शोकादाकुली बाहुब “राजानः किल प्रजाना पालका भवन्ति रुष्टमेतत् तेऽद्य मारकाः संजाता इति ॥” निविद्य पुत्र ! त्वं याहि “राजविष्णिरीदृशी अर्तते हति । त्वयैवो-ग्रस्तपरक्षितगनि कमलानि राजः प्रदातव्यानीति जगाद् । कृष्णः प्राह—कोऽपि पदार्थः कि दुष्करो मम वर्तते दृश्यपूर्वतेजा नागसरो जगाम । त्वरितं तथ तिरंकं प्रविवेशो च । तं ज्ञात्वा कोपेन वेषमानो लैलिहानः स्वःनिष्वाससमुद्भू उवलज्ज्वालाकणान् किरन् फणारत्नप्रभाभासिफणाप्रकटाटोपभयानकः प्रचलद्वरसनायुगलो

देकर कृष्णका सन्मान किया । नन्दगोप ने विचार किया कि मुझे इस पुत्र के प्रभाव से किसी से भय नहीं है यह सोच कर वह अपने गोमण्डल को पूर्वस्थान पर ही ले आया । यद्यपि खोज करने वालों ने राजा से कहा था कि यह कार्य नन्दगोप के पुत्र ने किया है तथापि उसका पूर्ण निश्चय नहीं हो सका अतः राजा ने शत्रु को जानने की इच्छा से नन्दगोप को आज्ञा भेजी कि तुम नागेन्द्र के द्वारा रक्षित सहस्र दल कमल भेजो । यह आज्ञा सुनकर नन्दगोप शोकसे आकुल हो गया । वह कहने लगा कि राजा तो प्रजा के रक्षक होते हैं परन्तु लेद है कि के आज मारने वाले हो गये । बड़ी उदासीनता के साथ नन्द ने कृष्ण से कहा—पुत्र ! तुम जाओ राजा की आज्ञा ऐसी है भयंकर सर्पों से रक्षित कमल तुम्हारे द्वारा ही राजा के लिये दिये जाना चाहिये । कृष्ण ने कहा—मेरे लिये क्या कोई भी पदार्थ दुष्कर है ? इस प्रकार कह कर अपूर्व तेज से युक्त कृष्ण नाम सरोबर की ओर चल पड़ा और शीघ्र ही निशाङ्क होकर उसमें जा घुसा । यह जानकर जो कोध से काँप रहा था अपनी श्वास के साथ निकली हुई देदीप्यमान उबालाओं के कणों को सब और बिखेर रहा था, फणा पर स्थित रत्न की कान्ति से सुशोभित फणा के प्रकट विस्तार से जो अत्यन्त भयानक था, जिसकी दो जिह्वाएँ लपलपा रही थीं, खुले हुए नेत्रों से जो अत्यन्त भयंकर दिख रहा था, तथा यमराज के समान जिसका आकार था ऐसा नागेन्द्र कृष्ण को निगलने के लिये उद्यत हुआ । परन्तु कृष्ण यह मेरा बस्त्र है इसके पछाड़ने के लिये यह सासों अच्छी शिला है, ऐसा कह अपना गोला पीताम्बर खोलकर फणा पर

विस्फुरद्वीकणाऽत्युग्रवीक्षणः प्रत्युत्थाय कृतान्ताकारस्ते निश्चितुमुद्यतः । कृष्णस्तु मम वसनविदमस्य ताङ्गे शुद्धशिला भवतिवति जलाद्वं पीलवस्त्रं मुक्त्वा कटायां हं निष्कुरं ताडयामास । तस्माद्वस्त्रपाताद्वज्ञपातादपि दुर्घंरात् पूर्वपुण्योदयात्त्वं भीतः कालियारिः कणीन्द्रोऽदृश्यतां जगाम । हरिर्थेष्ट कमलानि गृहीत्वा शत्रोः समीपं प्रापयामास । तानि दृष्ट्वा कंसो निजशश्रुं दृष्ट्वानिव नन्दगोपसमीपे मम शशुवैतते इति निश्चिकाय । एकदा नन्दगोपालमादिष्टवान् सल्लयुद्धनीश्चितुं निजमल्लं सहाय्याच्छेरिति । स च तत्सन्देशं श्रुत्वा कृष्णादिभिर्मल्लैः सह प्रविशेष । तत्र मत्तगणं वीतवन्वन्त श्रुतान्ताकारं “मदगन्धाकुरुत्वद्वद्भ्रमरसेवितं नियमच्युतराजकुमारवत् निरंकुशं दत्तभूशालाधातनिमिन्नसुधामन्दिरम् धावन्तं विलोक्य कविष्ठत् संमुखं प्रदौक्य दत्तमेकमुलाटघं तेनैव तं ताडयामास । गजोऽपि भीतो दुरं जगाम । तदृष्ट्वा हरिभूंशं तुष्टः सन्तुवाच—अनेन निमित्तेन कुटुम्बप्रकृतीबृतो अयोऽस्माकं भविष्यतीति गोपात् समुस्साह्यं कंससंसदं विवेश । वसुदेवोऽपि राजा कंसाभिप्राय विदिला निजसेनां सन्नाह्यक्त्र स्थितः बलभद्रोऽपि कृष्णेन सह रंगं प्रविष्ट इव दोदण्डास्फालनष्वनि कुत्वा समन्तात् परिभ्रमत् कंसविनाशोऽव तथं समय इति समाप्त्य य निर्जगाम । तदा कंसादेशेन विष्णुविषेषा गोपकुमाराः प्रदर्पवन्तः भुजानास्फाल्य

उसे बड़ी निष्कुरता से पछाड़ने लगे । उनके उस पीताम्बर से जो कि वज्जपात से भी कहीं दुर्घर था तथा पूर्व पुण्य के उदय से भयभीत हुआ कालिया नाग नामक नागेन्द्र अदृश्यता को प्राप्त हो गया । कृष्ण ने इच्छानुसार कमल लाकर शश्रु के पास पहुँचा दिये । उन्हें देख कंस को ऐसा लगा मातो मैं अपना शश्रु हो देख रहा हूँ । उसने निश्चय कर लिया कि मेरा शश्रु नन्दगोप के समीप है ।

एक दिन कंस ने नन्दगोप को आदेश दिया कि तुम अपने मल्लों के साथ मल्ल युद्ध देखने के लिये आओ । नन्दगोप उस संदेश को सुनकर कृष्ण आदि मल्लों के साथ प्रविष्ट हुआ । उसी समय एक मदोन्मस्त हाथी जिसने बन्धन तोड़ दिया था, जिसका आकार यमराज के समान था, मद की गत्थ से खिंचे एवं गुनगुनाते भ्रमर जिसकी सेवा कर रहे थे, जो नियम से च्युत राजकुमार के समान निरकुश था और दन्त रूपी मुशलों के आघात से जिसने बड़े-बड़े मकान गिरा दिये थे, सामने से दौड़ता चला आ रहा था, उसे देख किसी ने सामने जाकर उसका एक दौत उखाड़ लिया और उसी दौत से उसे पीठना शुरू कर दिया

गृहीतमल्लपरिष्कृदा: कण्ठनन्दकारिवाचित्तुङ् छनिधिरेकशोभूत्वा [८]
 चरणोत्तेपविनिकेषः प्रोन्नतमुजद्वयोत्कटाः पर्यावर्तितप्रेक्षणीयञ्च भंगभया-
 नक्षण्डानिष्वर्तनशतावर्तनसंभ्रमणवलानपल्वनसमवस्थानैरक्ष्य स्फुटैः करणैः रंग-
 सन्नीपमल्लकृत्य नथनमन्नोहरास्तस्तिवासः । कसमलकाश्च प्रोद्वस्ताश्चाणुरप्रमुखा
 विक्रमैकरसा रंगाभ्यर्थं समाकृत्य स्थितवत्तः विष्णुश्च रंगस्य मध्ये समुदाहमना:
 प्रसरो वीर उम्मल्लाशणीः प्रतिमल्लयुद्धविजयं प्राप्नोव प्राप्त इव दीप्ततेजा
 'ैवोऽवतीणौऽवृना मल्लत्वं प्राप्तो भास्वानिव अहं जेष्यामीति प्रवृद्धपराक्रमीकरसः
 रेख्यं संभावयन् निविष्टपरिगृहीतपरिषानः ३प्रवृद्धकोषः स्वभावेन ममुणाऽमी
 विकूर्चिष्वसत्पृतिवित्तोऽप्रतिमल्लै ४गोपमल्लै निरन्तराभ्यस्तनियुद्धत्वाद-विकल-

जिससे भयभीत होकर हाथी दूर भाग गया । यह देख कृष्ण बहुत संतुष्ट होते हुए बोले कि इस निमित्त से कुटुम्ब को प्रकट करने वाली हमारी जीत होगी । इस प्रकार गोपों को उत्साहित कर कृष्ण ने कंस की सभा में प्रवेश किया । राजा वसुदेव भी कंस का अभिप्राय जानकर अपनी सेना को तैयार किये हुए एक ओर बैठे थे । बलभद्र भी कृष्ण के साथ रङ्गभूमि (अखाडे) में प्रविष्ट हुए की तरह भुजदण्ड के आसफालन का शब्द कर सब ओर घूमने लगे और ऊरे से 'आज तुम्हारा कंस को मारनेका समय है' यह कह कर बाहर निकल गये । उस समय कंस की आज्ञा से कृष्णके आज्ञाकारी गोपकुमार रङ्गभूमिके समीप हो बैठे थे । वे गोपकुमार गर्व से भरे थे, भुजाओंका आसफालन कर मल्ल का वेष धारण किये थे । कानोंको आनन्द देने वाली आज्ञों की चञ्चल ध्वनि से एकत्रित होकर पेरोंको ऊपर उठाते और नीचे पटकते थे, ऊपर उठी हुई दोनों भुजाओंसे भयंकर दिखाई देते थे, क्रमसे नचाई गई देखने योग्य भौंहों के भङ्ग से भयानक ही रहे थे तथा शब्दोंके अनिवार्तन, शतावर्तन, संभ्रमण, बलान, प्लवन समवस्थान तथा अन्य-अन्य प्रकारके आसनोंसे रङ्गभूमि के समीपवर्ती प्रदेश को अलंकृत कर रहे थे एवं नेत्र और मनको हरने वाले थे । पूरे ऊचे तथा पराक्रम से परिपूर्ण चाणूर आदि कंस के मल्ल भी रङ्गभूमिके निकट अधिकार कर जाने हुए थे ।

१. देवोद्वधर्तीर्ण म० ।
२. सुष्कु वयः स्वयः तम् ।
३. प्रवृद्धकोषः म० प्रवृद्धकोषः क० ।
४. म प्रती गोपमल्लः नास्ति ।

लक्ष्मजयलाभः सर्वेरपि संभावितोत्साहः स्विरसरपादनिवेशो वज्रसारास्त्वद्वन्धो
मुजागीलापरविवाणी मुष्टिसंमायिमध्यप्रदेशः कृतानेककरणसमूहो लघुलंबरण-
प्रबोधोऽर्थतिकठिनविस्तीर्णवक्षःस्थलो वृहन्नोलपर्वतोत्ज्ञो दपैश्वद्विद्विगुणितनिज-
सूतिज्वरलितवस्त्रिनेत्रस्व ददुनिरीक्षयसांमुख्योऽतिशयेनाशनिपातवदुच्चो नन्दननन्दनः
स्थितः सन् यमस्याप्युच्चर्मयमसहनीयमुख्यादयन् वरमस्त्रिलं शौर्यं मूलिमन्मलितमिव
समस्तं रहो मनुष्याकारमागतमिव सिंहाकारः सहसाकृतसिंहध्वनिः रंगाद्यगणमिव
नभोऽक्षणमर्लघ्नत पुनराकाशादशनिवदवनिमापत्य वात्मपादपाताभिघातचलिताचल-
सम्बिन्द्वो मुहूर्वलान् परिसरद्वच प्रतिज्ञभमाणसिद्वररंजितभुजदण्डो समुद्रप्री क्रुद्धः

इधर जिनके मनका प्रसार बहुत भारी था, जो बीर थे, बड़े-बड़े मल्लों
में अग्रेसर थे, जो प्रतिद्वन्द्वी मल्लसे युद्धमें विजय को पहले ही प्राप्त हुए
के समान देदीप्यमान तेजसे युक्त हो रहे थे तथा ऐसे जान पड़ते थे मानों
आकाश से उत्तर कर सूर्य ही मरुलपनेको प्राप्त हुआ हो ‘मैं जीतूँगा’ इस
भावना से जिनका पराक्रम—सम्बन्धी अद्वितीय उत्साह खूब वृद्धि के
प्राप्त हो रहा था, जो उसम भाग्य की सराहना कर रहे थे, जिन्होंने
वस्त्र को अच्छा कसकर पहिना था, बालोंको अच्छी तरह बाँध रखा था,
जिनका शरीर स्वभाव से ही चिकना था, जो दाढ़ी-मूँछ से रहित थे,
जिनको चित्त-वृक्षि अत्यन्त प्रसिद्ध थी, अद्वितीय गोपमल्लों के साथ बाहु-
युद्ध का निरन्तर अन्यास करनेके कारण जिन्हें पूर्ण विजय प्राप्त होने
वाली थी, सभी लोग जिनके उत्साह को सराहना करते थे, जिनके पैर
बड़ी मजबूती के साथ रखे जाते थे, जिनकी हृदिंदधों का बन्धन वज्रके
समान सुदृढ़ था, जो अपने बाहुरूपी अर्गलाके द्वारा दूसरों को बाधा
पहुँचाते थे, जिनकी कमर मुष्टिमेय अर्थात् अत्यन्त पतली थी, जो अनेक
आसनों के समूह को करने वाले थे, जो बड़ी तेजी के साथ रङ्गभूमि के
सब ओर संचार करने में प्रबोध थे, जिनका वक्षःस्थल अत्यन्त कठोर
और चौड़ा था, जो बड़े भारी नोल पर्वत के समान लैंचे थे, गर्व की वृद्धिसे
जिनका शरीर तिगुना सा जान पड़ता था, देदीप्यमान सबल नेश्वोंसे सहित
होनेके कारण जिनके सामने देखना भी कठिन था, और जो वज्रपात के
समान अत्यन्त उम्र थे ऐसे नन्दपुत्र श्रीकृष्ण रङ्गभूमि के मध्यमें लड़े
हुए। उस समय वे यमराजको भी बहुत भारी असहनीय भय उत्पन्न कर
रहे थे। ऐसा जान पड़ता था मानों समस्त उत्कृष्ट शूरवीरता ही मूर्ति-
धारी होकर इकट्ठी आ मिली ही, अथवा समस्त बेग ही मनुष्य के
आकाश को प्राप्त हुआ हो, वे सिंह के आकार थे और सिंह के समान

प्रवलयन् थोणिद्वितयभागविलंबिपीतकस्त्रो नियुद्धकुशलं पर्वतशिखरोन्नतं प्रतिमल्लं
चाणूरमाहत्य सहसा शिहवदाकभासे । तं दृष्ट्वा रुधिरेह मोग्लोचनः कंसः स्वयं
मल्लतां प्राप्यागच्छति स्म । तमुग्रसेनतनयं जन्मान्तरद्वेषात् करेण चरणे संभृष्टा-
काशे भ्रामयन्तलापाण्डिमिव यमराजस्य समीप उग्रयनीकृत्यमिव स कृष्णो भूमादा-
स्कालियामास । तदा कृष्णमस्तके व्यामनः कुसुमानि प्रपेतुः देवदुदुभयो छविं
चक्रः । वसुदेवसेनासमुद्रे प्रशोभणात् कोलाहलद्वनिष्ठस्ये । मुशलीबीरवरो विहृत-
नृपतीनाक्रम्य रंगे स्थितः । स्वानुजं स्त्रीकृत्य खजितं चकार । विष्णुस्त्रिलण्ड-
लक्ष्म्या कटाक्षितः ।

इति श्रीभावप्राभृते द्रव्यलिङ्गिनो विशिष्टमुनेः कथा १०परिसमाप्ता ।

गर्जना कर रङ्गभूमि से आकाश में ऐसे उछले मानों धरके अङ्गण में ही
जा पहुँचे हों । पुनः आकाश से वज्र के समान पृथिवी पर आ पड़े । उस
समय उन्होंने पृथिवी पर पैर इतने जोरसे पटके कि उनके आघात से
पर्वतोंके सन्धि बन्धन भी विचलित हो गये । वे बार-बार उछलते थे, रङ्ग-
भूमि में चारों ओर चक्कर लगाते थे, बढ़ते हुए छिन्दूर से रंगे दोनों भुज-
दण्डों को क्षोध-पूर्वक घुमाते थे, तथा उनको कमर को दोनों ओर पीता-
म्बर लटक रहा था । वे देखते-देखते बाहुदुरमें कुशल तथा पर्वतके शिखर
के समान ऊँचे प्रतिहृष्टी चाणूर मल्लको मार कर सिंहके समान सुशोभित
होने लगे । चाणूर को मरा देख रुधिर के निकलने से भयंकर नेत्रोंकी
धारण करनेवाला कंस स्वयं मल्ल बनकर आया । कृष्ण ने जन्मान्तर के
द्वेष से उस उग्रसेन के पुत्र—कंसका पैर अपने हाथसे पकड़ उसे छोटे
बण्डेके समान आकाश में घुमा दिया और यमराज के भैंट भेजने के लिये
ही मानों उन्होंने उसे पृथिवी पर पछाड़ दिया । उस समय कृष्ण के मस्तक
पर आकाश से गुप्त बरसे और देव दुर्दुभियोंने शब्द किये । वसुदेव को
सेनारूपी समुद्र में क्षोभके कारण कोलाहल का शब्द उठा । वीरशशेषणि
बलदेव भी विश्व राजाओं पर आक्रमण कर मैदान में खड़े हो गये ।
बलदेव ने अपने छोटे भाई को स्वीकार कर गजेना की अर्थात् सबके
सामने परिचय देते हुए प्रकट किया कि कृष्ण हमारा छोटा भाई है ।
तीन खण्ड की लक्ष्मी ने श्रीकृष्ण की ओर कटाक्षणात् किया ।

इस प्रकार भावप्राभृतमें द्रव्यलिङ्गी विशिष्टमुनिकी कथा समाप्त हुई ।

१. गर्ज क० ।

२. परिसंपूर्णी क० ।

सो णस्थि तं पएसो चउरासीलक्षणजोणिवासम्म ।

भावविरओ वि समणो जस्थ ण दुरुदुलिलओ जीब ॥४७॥

स नास्ति त्वं प्रदेशः चतुरशीतिलक्षयोनिवासे ।

भावविरतोऽपि श्रमणो यत्र न आन्तः जीब ॥४७॥

पदखण्डनार्थयेण व्याख्यानं कियते । हे जीब ! हे चेतनस्वरूपात्मन् !
(जस्थ) यश प्रदेश । (तं) त्वं भवान् । (ण दुरुदुलिलओ) न आन्तः स
प्रदेशः संसारे नास्ति । कस्मिन् (चउरासीलक्षणजोणिवासम्म) चतुरशीतिल-
क्षयोनिवासे स्थाने । कथंभूतस्त्वं, (भावविरओ वि समणो) श्रमणो दिगम्बरो-
अपि सन् भावविरतो जिनसम्यक्त्वरहितः । उक्तं च गोमटसारग्रन्थे नेमिचन्द्रेण
गणिता—

गिलिनदरधादु सत्य तरु रह वियलिदिएमु छञ्चेब ।

मुरनरयतिरियचदुरो चउदस मणुए सदसहस्रा ॥१॥

ग्रन्थार्थमर्थः—नित्यनिकोतजीवानां सप्तलक्षा जातयः ७०००००० । इतर-
निगोष्जीवानां जातयः सप्तलक्षा ८०००००० । बातुनां पृथिवीकायजीवानां
अप्कायजीवानां तेजःकायजीवानां वायुकायजीवानां जातयः चतुर्णी प्रत्येकं सप्त-
लक्षा । पृथ्वी ७०००००० । अग्न ७०००००० । तेजः ७०००००० । वायु ७०००००० ।
तरु दह—वनस्पतिकायजीवानां जातयो दशलक्षा १०००००० । वियलिदिएमु
छञ्चेब—द्वीन्द्रियवशीन्द्रियचतुरिन्द्रियजीवानां जातयः समुदायेन षड्लक्षा । द्वीन्द्रिय

ग्रन्थार्थ—हे जीब ! चौरासी लाख योनियों के निवास में वह प्रदेश
नहीं है जहाँ तू भावरहित साधु होकर न धूमा हो ॥४७॥

विशेषार्थ—हे चेतन स्वरूप आत्मन् ! यह संसार चौरासी लाख
योनियोंका निवास स्थान है । इतने बड़े संसार में ऐसा एक भी प्रदेश
नहीं है जहाँ तू भाव-रहित-जिन सम्यक्त्व से रहित दिगम्बर साधु होकर
भी नहीं धूमा हो । भावरहित दिगम्बर मुद्रा संसार से पार करने वाली
नहीं है । चौरासी लाख योनियों का वर्णन करते हुए नेमिचन्द्र आचार्य ने
गोमटसार ग्रन्थ में कहा है—

णिच्छुद्वर—इस ग्रन्थाका अर्थ यह है—नित्यनिगोद जीवोंकी सात
लाख, इतर निगोद जीवोंकी सात लाख, बातु अर्थात् पृथिवी कायिक,
ज़लकायिक, अग्निकायिक और वायु कायिक जीवों में प्रत्येक सात सात
लाख, वनस्पति कायिक जीवोंकी दश लाख, विकलेन्द्रिय अर्थात् द्वीन्द्रिय,

१. गोमटसार इति प्रचलितं नाम ।

२००००० । श्रीक्षिव २००००० । चतुरिन्द्रिय २००००० । सुरनरयतिरिच्छरो—
सुराणां जातयक्षतत्त्वो लक्षाः ४००००० । नारकाणां जातयक्षतत्त्वो लक्षाः
४००००० । तिरश्चां जातयक्षतत्त्वो लक्षाः ४००००० चोदस मण्डे—चतुर्दश
लक्षा जातयो भमुजे भनुष्यजीवानां १४००००० सदस्यहस्सा—शतसहस्राः ।

भावेण होइ लिगी य हु लिगी होइ दब्बमित्तेण ।

तम्हा कुणिञ्ज भावं कि कीरह दब्बलिंगेण ॥४८॥

भावेन भवति लिङ्गो न हु भवति द्रव्यमात्रेण ।

तस्मात् कुर्याः भावं कि क्रियते द्रव्यलिंगेन ॥४८॥॥

(भावेण होइ लिगी) भावेन निरापादित्तिरहिततया विग्रहयक्षसंहिताय,
लिगी सन् लिगी भवति निकानादिसहितो जिमसम्यक्त्वरहितो लिगी मुनिलिगी
जिनलिगी सत्यलिगी न भवति । (य हु लिगी होइ दब्बमित्तेण) न हुन्स्कुटं-
लिगी सन्नपि लिगी न भवति द्रव्यमात्रेण शिरोलोधमयूरपिञ्चकमङ्गलुग्रहणवस्त्र-
त्यजनभात्रेण लिगी सन्नपि लिगी न भवति पुनः संसारपतनहेतुत्वात् । (तम्हा
कुणिञ्ज भावं) तस्मात्कारणात् कुर्यास्त्वं । कं भाव—जिनसम्यक्त्वनिर्भैरपरि-
णाम । (कि कीरह दब्बलिंगेण) पूर्वोक्ताङ्गद्वयलिंगेन कि क्रियते न किमपि मोक्षसुखं
क्रियत इति भावः ।

श्रीनिदिय और चतुरिन्द्रिय जीवोंकी सबकी मिलाकर छह लाख देव नार-
कियों और तियंचरोंकी चार चार लाख तथा मनुष्यों की चौदह लाख
इस तरह सब मिलाकर चौरासी लाख योनियाँ हैं ॥४९॥

गाथार्थ—मनुष्य भावसे हो लिङ्गका धारक मुनि होता है द्रव्य
मात्रसे लिङ्गो-मुनि नहीं होता अतः भावको प्राप्त करना चाहिये मात्र
द्रव्य लिङ्गसे क्या किया जा सकता है ?

विशेषार्थ—भाव अर्थात् निदान आदिसे रहित तथा जिन सम्यक्त्व
से सहित होनेके कारण ही यह मनुष्य लिङ्गी अर्थात् साधु होता है जिन
सम्यक्त्व से रहित मुनि, मुनिलिङ्गी, जिनलिङ्गी अथवा सत्यलिङ्गी नहीं
होता । द्रव्य मात्र अर्थात् केशलोंच, मयूर पिञ्च और कमण्डलु का ग्रहण
तथा वस्त्र के त्याग रूप बाष्पवेष से मुनि होता हुआ भी पारमार्थिक मुनि
नहीं होता क्योंकि भावके बिना मात्र द्रव्य वेष संसार पतन का हेतु है । इस
कारण हे आत्मन ! तू भावको कर अर्थात् जिन सम्यक्त्व से निमैल परि-
णाम को प्राप्त कर । मात्र द्रव्यलिङ्ग से क्या किया जाता है अर्थात् कुछ
भी मोक्ष सुख नहीं किया जाता ॥४९॥

दंडयण्यरं सयलं डहिउं अब्भंतरेण दोसेण ।

जिणलिंगोप्य वि बाहु पदिओ सो रउरवं नरयं ॥४९॥

दण्डकनगरं सकलं दरध्वा अभ्यन्तरेण दोषेण ।

जिनलिंगोनापि बाहुः पतितः स रोरवं नरकम् ॥४९॥

(दंडयण्यरं सयलं) दण्डकस्य राजो नगरं सकलं । (डहिउं अब्भंतरेण दोसेण) दरध्वा अभ्यन्तरेण दोषेण कोषेन इत्या । (जिणलिंगोप्य वि बाहु) जिनलिंगोनापि जिनलिंगसहितोऽपि बाहुनमिषुनिः । (पदिओ सो रउरवं नरयं) पतितो गतः रोरवं नाम नरकं । अस्य कथा-दक्षिणापथे भरतदेशे कुम्भकारकटनगरे दण्डको नाम राजा । तन्महादेवी मुख्ता । बालको नाम मंत्री । तत्र अभिनन्दनाद्यः पौच्छतमुनयः समागताः । छण्डकेन मुनिना बालको मंत्री बादे जितः । ततो रुष्टेन तेन भंडो मुमिल्पं कारणित्वा सुकृतया समं रमणाणो दशिनः । भणितं च तेन देव ।

गाथार्थ—बाहु मुनि जिन लिङ्ग से सहित होने पर भी कोध कथाय रूप आभ्यन्तर दोष से राजा दण्डक के समस्त नगरको भस्म कर स्वयं रोरव नामक नरक में पड़ा ॥४९॥

विशेषार्थ—मात्र बाहु लिङ्ग मनुष्य का कुछ उपकार नहीं कर सकता इसके समर्थन के लिये यहाँ बाहु मुनिका दृष्टान्त दिया गया है । यद्यपि वे बाहु में जिनलिङ्ग से सहित थे, दिगम्बर मुद्राके धारी थे तथापि अन्तरङ्ग में कोध कथाय की प्रबलता हो जाने के कारण उनका भावलिङ्ग नष्ट हो गया, मात्र द्विव्यन्लिङ्ग रह गया । उसी समय राजा दण्डक के समस्त नगरको भस्मकर के रोरव नरक में जा पड़े—इनकी कथा इस प्रकार है—

बाहु मुनिकी कथा

दक्षिणापथके भरत देशमें एक कुम्भकारकट नामक नगर या उसमें दण्डक नाम का राजा रहता था । उसको स्त्रीका नाम सुकृता था और मन्त्रीका नाम बालक था । वहाँ एक बार अभिनन्दन आदि पौचसी मुनि आये । उन मुनियों में एक खण्डक नामके मुनि थे । उन्होंने बालक नामक मन्त्री को बाद में परास्त दिया । उससे रुष्ट होकर उसने एक मौड़को मुनिका रूप रखा कर उसे सुकृता रानी के साथ हैंसी करते दिखाया तथा राजा से जाकर कहा कि हे देव ! आप दिगम्बर साधुओंकी भक्षित करने में अौकिक बहुत प्रमुख हो इसलिये उन्हें अपनो स्त्री भी देना चाहते हो ।

दिग्म्बरेषु भवत्यातिमुख्योऽसि येन भावमिणि सेन्यो दातुमिच्छसि । ततो रुष्टेन राजा मुनियो यन्ते निष्ठीलिताः । ले तमुपसर्गं प्राप्य परमसमाधिना सिद्धि गताः । पश्चात्तलगरं बाहूनमि मुनिरागतः । स लोकैवरितः । अत्र नगरे राजा दुष्टो वर्तते तेन पञ्चशतमुनयो यन्ते पीडिता भवत्तमपि तथा करिष्यति । सहचनेन बाहू रुष्टः । तेजोऽशुभसमुद्घातेन राजा मन्त्रिणा च सह सर्वं नगरं भस्मीचकार । स्वयमपि मृतः । रीरवे नरके पतितं राजानं मन्त्रिणं आन्वेष्टुमित तत्र गतः । को नाम रीरवो नरक इति चेत् ? सप्तमे नरके पञ्च विलानि वर्तन्ते तेषु पूर्वदिशि रीरवः । दक्षिणेऽतिरीरवः । पश्चिमेऽसिपत्रः । उत्तरे कूटशालमलिः । मध्ये कुम्भीपाक इति ।

अवरोत्ति दब्दसवणो दंसणवरणाणचरणपदभट्टो ।

हेत्यायणुहि एतमो अण्डसंसर्वरित्यो जाओ ॥५०॥

अपर इति द्रव्यश्रमणो दर्जनवरज्ञानचरणप्रभ्रष्टः ।

द्वीपायन इति नामा अनन्तसंसारिको जातः ॥५०॥

इस घटना से रुष्ट हुए राजा ने सब मुनियों को धानी में पिलवा दिया । वे सब भुनि उस भागी उपसर्गं को प्राप्त कर उत्कृष्ट समाधिसे सिद्धि को प्राप्त हुए । पश्चात् एक बाहु नामक मुनि उस नगर में आये । लोगोंने उसे रीका भी कि इस नगर में राजा दुष्ट है उसने पाँच सौ मुनियोंको धानीमें पिलवा दिया है आपको भी वैया ही करेगा । उन लोगोंके बचन सुन कर बाहु मुनि रुष्ट हो गये जिससे उन्होंने अशुभ तैजस समुद्घात के द्वारा राजा और मन्त्री सहित समस्त नगर को भस्म कर डाला और स्वयं भी मर गया । परकर वह रीरव नामक नरक में जा पड़ा मानों उस नरक में पड़े हुए राजा और मन्त्री को खोजनेके लिये हो वह वहाँ गया था ।

प्रश्न—रीरव नामका नरक कौन है ?

उत्तर—सातवें नरक में पाँच विल हैं उनमें से पूर्व दिशामें रीरव, दक्षिण दिशामें अति रीरव, पश्चिम दिशामें असिपत्र, उत्तर दिशा में कूटशालमलि और बीच में कुम्भी पाक नामका विल है ॥४९॥

गाथार्थ—द्वीपायन नामका एक दूसरा साथु भी द्रव्य अमण हुआ है जो कि सम्यदर्शीन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से भ्रष्ट होकर अनन्त संसारी हुआ है ॥५०॥

(अवरोति दक्षसबणो) अपर इति द्रव्यश्रमणो भावरहितो मुनिजिनवचन-
प्रतीतिरहितः । (दंसणवरणाणवरणपञ्चट्ठो) दर्शनेन जिनसम्यक्त्वेन वरं श्रेष्ठं
यज्ञानं चरणं च चारित्रं तेष्यस्त्रभ्याऽपि प्रध्रष्टः पतितः सम्यग्दृष्टीनां मुनीनाम-
पाड़क्तैङ्गः । (द्वीपायणत्ति णामो) द्वीपायन इति नामा । (अष्टंतसंसास्त्रो
जाक्षो) अनन्तसंसास्त्रिकः अनन्ते संसारे नियुक्तः नियोगवान् कर्मपरवश इत्यर्थः,
जातो भवति स्म । द्वीपायनस्य कथा यथा—श्रीनेमिनाथो बलभद्रेण पृष्ठः स्वा-
मिन् ! इव द्वारवती पुरी कि कालान्तरे समुद्र निमंश्यति कारणान्तरेण चा
विनक्षयति भगवानाह—रोहिणीज्ञाता द्वीपायनकुमारस्तव मानुलोऽभ्याः पुर्या रुषा
दाहको भविष्यति द्वादशे वर्षे मद्यहेतुत्वात् । ततश्चत्वा द्वीपायनकुमार इदं जैन-
वचनमसत्यं विकीर्णदीक्षा गृहीत्वा पूर्वदेशं गतः । हादशविद्यपुरणार्थं तपः कतु-
मारिष्ववान् । जरत्कुमारेण कृष्णमरणमाकार्यं बलभद्रादयो नेमिनाथं नमस्कृत्य
सर्वेऽपि यादवा द्वारवती विविशुः । ततः कृष्णो बलभद्रेच पुर्या घोषणा सद्व-

विशेषार्थ—दूसरा द्रव्य श्रमण द्वीपायन है । भाव रहित अथवा जिनेन्द्र
भगवान् के वचनों का अद्वा से रहित मुनि द्रव्य श्रमण कहलाता है । वह
जिन सम्यक्त्व, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्त्वारित्र से पतित था अर्थात्
सम्यग्दृष्टि मुनियों की पंक्ति में बैठने के बयोग्य था और इसी कारण
अनन्त संसारी हुआ था । इसकी कथा इस प्रकार है—

द्वीपायन मुनि की कथा

बलभद्र ने नेमिनाथ भगवान् से पूछा स्वामिन् ! वह द्वारिका नगरी
कालका अन्त होनेपर अर्थात् प्रलय काल आने पर समुद्र में निमग्न होगी
अथवा किसी दूसरे कारण से तष्ट होगी ? भगवान् ने कहा—रोहिणीका
भाई द्वीपायन कुमार है जो तुम्हारा मामा होता है वह कोश से बारहवें
वर्ष में इस नगरोका जलाने वाला होगा और उसका कारण होगा
मदिरापान । यह सुनकर द्वीपायन कुमार जिनेन्द्रदेवके इस वचन को
असत्य करने की इच्छा से दोक्षा लेकर पूर्व देशकी ओर चला गया ।
बारह वर्षकी अवधि पूर्ण करने के लिये उसने तप करना प्रारम्भ किया ।
नेमिनाथ भगवान् ने यह भी बताया कि जरत्कुमार के द्वारा कृष्ण क
मरण होगा । उसे सुनकर बलभद्र आदि सभी यादव नेमिनाथ भगवान् को
नमस्कार कर द्वारिका में प्रविष्ट हो गये ।

तदनन्तर कृष्ण और बलभद्रने नगरी में मद्यनिषेध की घोषणा कर-
वाई । उस घोषणा से मद्य-नायी लोगोंने पिष्ट किष्ट बादि मदिरा बनानेके

निषेधिनीं कारणाभासतुः ततो मद्यपैर्वदाङ्गानि पिष्टकिष्वाकीनि मद्यानि च कदम्बवने गिरिमहरे शिलाभाष्टानि आरुफालितानि । सा मदिरा कदम्बवनकुण्डेषु गता । कर्मविपाकहेतुस्वेतावस्थिता । श्री नेमिनाथः पल्लवदेशे गतः । जिनेन सह भव्यलोक उत्तरापथमुच्चलितः । द्वीपायनस्तु द्वारकां वर्षं भ्राम्याऽतीतं भन्वानो जिनादेशो व्यतिक्रान्तं इति अयात्वा सम्यक्त्वहीनो द्वारकीयागत्य गिरेनिकटनगरबाह्यमार्गं आतापनयोगे स्थितः । वनकीडापरिश्रान्तास्तुण्या अकालुलीभूताः कादम्बकुण्डेषु अलभिति जात्वा शेषं वादपस्तां सुरां पिष्टन्ति रूपं कदम्बवनस्थितां कदम्बकितया स्थितां विसृष्टां कादम्बरीं पीत्वा कुमारा विकारांश्च प्रापुः । सा पुराणापि वारुणी परिपाकदशात् तरुणीवत्तरुणान् वशोऽकरोत् । ते कुमारा असंबद्धं गायत्तो नृत्यन्तश्च स्ललितपादाः प्रमुकत्वकुन्तलाः पुष्पकृतावरं साः कण्ठालमिक्तपुष्पमालाः सर्वे पुरे समा गच्छन्तः सूर्यप्रतिमास्थितं द्वीपायनमुनिं दृष्ट्वा धूर्णभाननयना इत्यूचुः सोऽप्य द्वीपायनो यतियो द्वारकीं वक्ष्यति सोऽस्माकमपरः क्व यास्यति वराक इति प्रोच्य सर्वतो लोष्टुभिः पाषाणांश्च तावत्प्रजञ्जुर्यावद् भूमी पपात् ।

साधनों को, मदिरा को तथा पत्थर की कुण्डी आदि वर्तनोंको कदम्ब वन-सम्बन्धी पर्वत की एक गुफा में फेंक दिया । वह मदिरा कदम्बवनके कुण्डों में जा पहुँचो और कर्मोदय के कारण वहाँ अवस्थित रही आई । श्री नेमिनाथ मगदान् का विहार पल्लव देश में हो रहा था तथा भव्य लोग जिनेन्द्रदेवके साथ उत्तरापथ की ओर चल रहे थे । इधर द्वीपायन मुनिने आन्तिसे आरहवें वर्ष को पूर्ण हुआ मान यह समझ लिया कि अबतो जिनेन्द्रदेवकी आङ्गा निकल चुकी है अतः सम्यक्त्व से हीन द्वीपायन द्वारिका आकर पर्वतके निकट नगर के बाहर मार्ग में आतापन योग धारण कर स्थित हो गया ।

वन कोड़ा से यके तथा प्याससे पीड़ित शंभव आदि कुमारों ने कदम्बवनके कुण्डों में 'यह जल है' ऐसा जानकर उस मदिराको पी लिया । कदम्बवन में स्थित तथा दकट्ठी होकर सामूहिक रूपसे स्थित उस छोड़ी हुई मदिराको पीकर कुमार विकारको प्राप्त हो गये । यद्यपि वह मदिरा पुरानी पढ़ गई थी तथापि कर्मोदयसे उसने तरुणोंके समान उन तरुणोंको अपने वशमें कर लिया था । वे सब कुमार नशाके कारण असंबद्ध गाना गा रहे थे, लड़खड़ाते पैरोंसे नाच रहे थे, उनके बाल बिखरे हुए थे, फूलों के कण्ठफूल बनाकर पहने हुए थे और कण्ठ में फूलों की मालाएँ लटकाये हुए थे । इस तरह सब मस्ती करते हुए नगर की ओर आ रहे थे । उसी

एवं तेनिसु १कैस्ताडित उत्पन्नाभिकक्षोधो दण्ठोष्ठो यद्गुनां स्वतपासश्च विनाशाय अकुटि चकार कुमारास्तु पुरीं प्रति गमनं चक्रः कंशिचतद्दुराचारो विष्णोवंलस्य लघु निरेदितः । तत्प्रभुत्वा द्वारवत्या प्रलयं जिनोक्तं प्राप्तं तेतदपि मेनाते परिच्छेदरहिती मुनिसमीपं गती । अग्निभिक ज्वलन्तं क्रोधेन संकिळण्टभिर्यं ३भूभग-विषभवक्त्रं दनिरीक्ष्येकाणां क्षीणकण्ठगतप्राणं विभीषणस्वरूपं ददृशतुः कृतार्घजलिपुटी महादरात्रयणात्य याचनां बन्ध्या जानन्तावपि मोहाश्चक्तवन्ती । है ६८८ : चिरं वरिभिर्दत्त्वयःपारः अभाग्युः क्रोधामिनः । धक्षयते मोक्षसाधनं परिरक्षयतां परिरक्षयतां । मृडैः प्रमादबहुलैहु विचेष्टितं भवतः कृतं तत्क्षम्यतां अम्यतां । क्रोबच्चतुर्वर्गेशाश्रुः, क्रोधः स्वपरनाशकः, अस्मस्यं प्रसादः कियतां मुने । इति श्रियवादिनो तौ पादयोर्लंगित्वा प्राप्तिवन्तो तवापि सोऽनिवर्तकः संजातः ।

समय उनको दृष्टि आतापन योगमें स्थित द्वीपायन मुनिको ओर पढ़ी । नशाके कारण नेत्रों को घुमाते हुए वे कहने लगे कि यह वही द्वीपायन मुनि है जो द्वारिका की जलावेगा । अब यह दीन हमलोगों के आगेसे कही जायगा ? इस प्रकार कहकर सब ओर से ढैले तथा पत्थरोंसे वे उसे तब तक मारते रहे जब तक पृथिवी पर न गिर पड़ा । इस प्रकार निर्दय कुमारों के द्वारा ताडित होनेसे द्वीपायन को अत्यधिक क्रोध उत्पन्न हो गया । ओंठ ढसते हुए उसने यादवों और अपने तपके विनाश के लिये भीह चढ़ाली । कुमार द्वारिका की ओर चले गये । किन्हों लोगोंने कुमारोंके इस दुर्गचार की सूचना बलभद्र और कृष्णको शीघ्र ही दी । वह सुनकर उन्होंने उसी समय मान लिया कि जिनेन्द्रदेवते जो द्वारिका का प्रलय कहा था वह आ पहुँचा है । वे उसी समय परिकरसे रहित हो मुनिके समीप गये । उस समय द्वीपायन मुनि क्रोधसे अग्निके समान जल रहा था, उसकी बुद्धि अत्यन्त संक्लेश से युक्त थी, भीहों के भज्जसे उसका मुख अत्यन्त विषम हो रहा था, उसके नेत्रोंकी ओर देखना कठिन था । उसके प्राण क्षीण होकर कण्ठात हो रहे थे तथा उसका स्वरूप अत्यन्त भयङ्कुर था । ऐसे मुनिको बलभद्र और कृष्णने देखा । देखते ही उन्होंने हाथ जोड़ कर बड़े आदर से अुक्कर नमस्कार किया और यह जानते हुए भी कि हमारी याचना निष्कृत होगी, मोह वश इस प्रकार याचना को । हे साधो ! चिरकाल से

१. निर्दयैः ।
२. तदपि क० ।
३. भूभग्न विषम म० ।

सर्वप्राणिसंयुक्तद्वारवती वाहे पापधी कृतनिश्चयः युवामेव न घक्षयामीत्यङ् गुलिद्वयेन संशो चकार । अभिवत्कक्षीधं जात्वा विष्णणो व्याघ्रुद्य कि कतं गतामृढी पुरीं प्रविष्टौ । तदा शंभवाद्याइचरमाङ्गकां यादवाः पुर्या निष्क्रम्य दीक्षां गृहीत्वा गिरिणुहादिषु लस्थिरासः । द्वीपायनस्तु क्रोधवाल्येन मृत्वा भवनामरो बभूव । सोऽग्निकुमारतामा विभगेन पूर्ववैरं स्मृत्वा द्वारवतीं बालबृहस्त्रीपशुसमेतां विष्णुबली मृत्वा ददाह । तौ दक्षिणापथे वनां प्रविष्टौ । तत्र विष्णुजंरक्तुमारभिलक्षेन पादे वाणेन लाङ्गितो मृतः 'तु तीर्यं नरकं जगाम । द्वीपायनस्तु अनन्तसंसारी बभूव ।

जिसकी आपने रक्षा की है, क्षमा हो जिसकी जड़ है तथा जो मोक्षका साधन है ऐसे तपके समूह को रक्षा को जाय । मूर्ख तथा प्रमादसे भरे कुमारों ने आपके प्रति जो लोटो चेष्टा की है उसे क्षमा किया जाय । क्रोध चतुर्वर्ग का शत्रु है, क्रोध निज और पर को नष्ट करने वाला है । हे मुनि ! हम लोगोंके लिये प्रसन्नतां काँचिये । इस प्रकार प्रिय वचन कहते हुए कृष्ण और बलभद्रने यद्यपि उनके चरणों में लगकर ग्रार्थना की तथापि वह पीछे नहीं हटा । जिसको बुद्धि पाप-पूर्ण थी तथा समस्त प्राणियों से संयुक्त द्वारिका के जलाने का जो निश्चय कर चुका था ऐसे उस द्वीपायन ने दो अंगुलियाँ उठाकर सक्रित किया कि मात्र तुम दोनोंको नहीं जलाऊँगा । 'इनका क्रोध दूर नहीं किया जा सकता' ऐसा जानकर खेद से भरे कृष्ण और बलदेव आदि किंकतैव्य-विमूढ़ हो लौटकर नगर में प्रविष्ट हुए । उसी समय शंभवकुमार आदि चरम-शारीरी यादव नगर से निकल कर तथा दीक्षा लेकर पर्वत की गुफाओं आदि में स्थित हो गये । और द्वीपायन क्रोध की शत्यसे मरकर भवनवासी देव हुआ । वह असिनकुमार नामका भवनवासी हुआ था । उसने विभङ्ग अवधि ज्ञानके द्वारा पूर्ववैर का स्मरण कर बाल बृह और पशुओं से सहित द्वारिकाको भस्म कर दिया, मात्र कृष्ण और बलदेव को छोड़ा । वे दोनों द्वारिका से चलकर दक्षिणापथ के बनमें प्रविष्ट हुए । भीलके बेष के धारण करने वाले जरकुमार ने कृष्ण के पैर में वाणसे प्रहार किया जिससे मरकर वे तोसरे नरक गये और द्वीपायन अनन्त संसार का पात्र हुआ ॥५०॥

भावसद्वणो य धीरो जुवईयणवेहिदओ विसुद्धमई ।

णामेण सिवकुमारो परित्तसंसारिओ जावो ॥५१॥

भावशमणहच धोरो युवतिजनवेहिटो विशुद्धमतिः ।

नाम्ना शिवकुमारः परीतसंसारिको जातः ॥५१॥

(भाव समणो य धीरो) भावशमणहच जिनसम्यक्त्ववासितः धीरो दृढ-
सम्यक्त्वः अविष्वलितामलिनमनाः । (जुवईयण वेहिदओ विसुद्धमई) युवतीजन-
वेहिटः हावभावविभमविलासोपेत राजकन्यात्मयुवतिसमूहपरिवृतोऽपि विशुद्धमतिः
निर्मलब्रह्मचर्य निष्कलुषचित्तः । (णामेण शिवकुमारो) नाम्ना कृत्वा शिवकुमारो
नरेन्द्रपुत्रः । (परित्तसंसारिलो जावे) बल्यगोहनानिः गतियासादेत्तर जातः ॥-

गाथार्थ—शिवकुमार नामक भाव-शमण युवतिजनों से वेहिटत होने
पर भी निर्मल बुद्धिका धारक धीर, संसारको पार करने वाला
हुआ ॥५१॥

विशेषार्थ—जो भाव शमण थे अर्थात् जिन-सम्यक्त्व से सहित थे,
धीर थे अर्थात् दृढ़ सम्यक्त्व से युक्त थे विकट परिस्थिति में भी जिनका
मन चिच्छित तथा मलिन नहीं हुआ था, जो हाव भाव विभम तथा
विलास से सहित राज-कन्याओं रूप अपनी तरुण स्त्रियोंके समूह से परि-
वृत होकर भी विशुद्ध बुद्धिसे युक्त रहे अर्थात् निर्मल ब्रह्मचर्य से जिनका
चित्त कलुषित नहीं हुआ ऐसे शिवकुमार नामा राजपुत्र संसारका परित्याग
कर निकट-भव्य हुए । अर्थात् इस भरत धोत्र में जम्बू नामक अन्तिम
केवली हुए । शिवकुमारकी कथा इस प्रकार है—

शिवकुमारकी कथा

अथानन्तर राजा श्रेणिक ने विपुलाचल पर स्थित श्रीमहाक्षीर भगवान्
को प्रणाम कर श्री गौतम स्वामी से कहा—हे भगवन् ! इस भरत धोत्रमें
कन्तिम केवली कौन होगा ?

तदनन्तर श्री गौतम स्वामी ज्योंहो कथा का निरूपण करनेके लिये
उच्चम करते हैं त्यों ही वही उसी समय ब्रह्मस्वर्ग का स्वामी ब्रह्म हृदय
नामक विमान में उत्पन्न हुआ विद्युन्माली देव जिसका कि मुकुट देवी-
प्यान सेषसे सुशोभित था, जो नाम और अपने दर्शन से प्रिय था तथा
विशुद्धमा और विशुद्धेण आदि अपनो देवियों से घिरा हुआ था, जो
पहुंचा और जिनेन्द्र देवकी वस्त्रना कर यथा-स्वरूप बैठ गया । उसे देख

भव्यो जातः, इह भरतक्षेत्रे जम्बुनामान्त्यकेवली बभूवेति क्रियाकारकसम्बन्धः । शिवकुमारस्य कथा यथा—अथ श्रेणिकः श्रीबीर विपुलगिरो समवस्थितं प्रणम्य श्रीगौतमस्वामिन् प्रत्याह—अथ भरतक्षेत्रे पश्चिमकेवलीकोशविष्यति भगवन्निति । ततः कथां यावन्निस्त्वयितुं श्रीगौतम उद्यमं करोति स्म तस्मिन्लेवावसरे ब्रह्मकल्पा-बीषो ब्रह्महृदयाहृषिभानजो विश्वन्मालीजाज्वल्यमानतेजोविराजमानमुकुटः स्व-नामा स्वदर्पनिन च प्रिया विश्वाप्रभाविश्वुद्देगादिनिजदेवीभिर्वृत्त आग्रह्य जिनं बन्दित्वा यथास्थानं स्थितः । तं दृष्ट्वा राजन् ! अनेन केवलज्योतिषः परिसमा-

गौतम स्वामीने राजा श्रेणिक से कहा—राजन् ! इसी व्यक्ति के द्वारा केवल ज्ञान रूपी ज्योति की समाप्ति होगी । वह किस तरह ? यदि यह जानना चाहते हो तो कहता हूँ । आजसे सातवें दिन यह ब्रह्मोन्द्र स्वर्ग से आकर इस राजगृह नगर में बर्हद्दास सेठ की प्रिय मार्या जिनदासी के पहाँ हाथी, सरोवर, शालिवन, प्रज्वलित ज्वालाओं से युक्त निघूम अग्नि तथा देवकुमारों के द्वारा लाये गये जामुन के फल स्वर्ज में दिखा कर जम्बु नामका महान् कान्तिमान्, अतिशय प्रसिद्ध और विनीत पुत्र होगा । अनावृत देव उसकी पूजा करेगा । तथा थौवन के प्रारम्भ में भी वह निविकारं रहेगा । जब जम्बुस्वामी का थौवन काल रहेगा तभी श्री वर्धमान भट्टारक—भगवान् महाबीर स्वामी पावापुर में मोक्ष प्राप्त करेंगे । उसी समय मुझे केवल ज्ञान उत्पन्न होगा । सुधर्म गणधर के साथ लासार रूपी अग्नि से संतप्त भव्य प्राणियों को धर्मामृत रूप जलसे आह्लाद करते हुए हम इसी राजगृह नगरमें आकर इसी विपुलाचलपर स्थित होंगे । यह समाचार सुनकर चेलनी रानी का पुत्र कुणिक राजा समस्त परिवारके साथ आकर मेरी तथा सुधर्म गणधर की पूजा कर दान थील उपवास आदिक स्वर्ग और मोक्षके साधक धर्म को ग्रहण करेगा । कुणिक के साथ आया हुआ जम्बुकुमार भी वैराग्य को प्राप्त कर दीक्षा ग्रहण करनेके लिये उत्सुक होगा । उसके कुटुम्बके लोग उससे कहेंगे कि कुछ वर्षोंके व्यतीत हो जाने पर हम सब भी तुम्हारे साथ दीक्षा ग्रहण करेंगे । कुटुम्ब के लोगोंने जो कहा जम्बुकुमार न तो उसे सहन करने के लिये समर्थ होगा और न निराकरण करने के लिये । अन्त में वह नगर में वापिस आवेगा । वहाँ उसे मोह उत्पन्न करनेके लिये कुटुम्बी जनोंके द्वारा सुखकारी बन्धन विवाह प्रारम्भ किया जावेगा । यथार्थ में बाल्यव जन कुटुम्ब परिवार कल्याणके बाधक हैं । अन्त में वह सागर दत्त और

प्तिभविष्यति । तत्कर्त्त्वं चेत्कथयिष्यामि । अस्मादिनात् सप्तमे दिनेऽप्य ब्रह्मोन्नः स्वर्गादभ्येत्यास्मिन् राजगुहे नगरेऽहं हासेभ्यस्य प्रियभावीजिनकास्यां गर्वं सरोबर शालिबनं निधूं मानलं प्रज्वलज्ज्वालं स्वगंगुमारसमानीयमानजमूफलानि च स्वप्ने दर्शयित्वा भहाद्युतिर्जन्मूनामाऽनादृतदेवाप्तपूजोऽतिविरुद्धातो विनीतः सुतो भविष्यति । वौचनारम्भेऽपि निविक्षियो भावी । तस्मिन् जन्मद्वावाभियौवनकाले श्रीवीरभट्टारकः पावापुरे मुक्ति मात्यति तस्मिन्नेव समये भग्न केवलशानभुत्पत्त्यते सुधर्मगण घरेण सहं संसाराप्तितप्तानां भव्यप्राणिनां वर्ममृताद्वकेनालहादं करिष्यन्निदेव राजगुहपत्तनमागत्यास्मिन्नेव विपुलाच्छ्वेष्वं स्थास्यामि । तत्समाकर्ण्य चेलनी-सुतः कुणिको नृपः सर्वपरिवारेण समागत्य मां सुषमे च पूजयित्वा दानशीलोपवासादिकं धर्मं प्रदीप्यति । तेन सहागता जम्बुनाथा निर्वेदं प्राप्य दीक्षाप्रहणोत्सुको भविष्यति । तं कुटुम्बं वदिष्यति स्तोकेषु वर्षेषु गतेषु त्वया सहं वयं सर्वेऽपि दीक्षा चहीष्यमि इति । तेन प्रोक्तं सोदुमशक्तुवन्निराकर्तुं च तदशमः पुरमायाम्यति । तस्य मोदमुत्पादयितुं सुखबन्धनं विवाह आरप्स्यते तेन कुटुम्बवर्गेण वान्धवा हि शेषसो लिङ्गाः । नागरदलभाष्यापत्त्येः सुता अिंशुक्षेपा सुलक्षणा पराश्रीः, कुवेरदत्तकन भालयाः सुता सुलोचना कनकश्रीः वैश्वरणदत्तविनयवस्थोर्धूंदा

पद्मावती की पुत्री, लक्ष्मी से उत्कृष्ट, अच्छे लक्षणों वाली पद्म श्री, कुवेर दत्त और कनक मालाकी पुत्री सुन्दर लोचनोंसे युक्त कनक श्री, वैश्वरण दत्त और विनयवतीकी पुत्री, मृग नेत्रो तथा सुन्दरी विनय श्री और उसी नैश्वरण दत्त की दूसरी हसी घन श्री की पुत्री रूप—श्री इन चारोंको विधिपूर्वक विवाह कर समीचीन रत्नोंमय दीपोंको कान्तिसे अन्धकार-रहित शयनागार में नाना रत्नों के समोचीन चूर्ण से निर्मित रङ्गावली से सुशीभित एवं नाना प्रकार के फूलों के उपहार से सहित पूषियो तल पर बैठेगा ।

सुरम्यदेश सम्बन्धी पोदनपुर के राजा विद्युदराज और उसकी रानी विमलमति का पुत्र विद्युत्प्रभ किसी कारण अपने बड़े भाई से कुपित होकर पांचसौ योद्धाओंके साथ अपने नगर से निकल पड़ा था और उसने अपना विद्युत्प्रभ नाम रखा था । वह पापो मनुष्योंमें सबसे आगे स्मरणीय था, दुष्ट लोगोंके हारा बन्दना करने योग्य था, दुरुषो था, अनुत्सुक था एवं स्वभाव से तीक्ष्ण था । चौर शास्त्रके उपदेश से वह मन्त्र-तन्त्र के सब विधान सीख गया था अतः शारीर को अदृश्य बनाना तथा बन्द किवाड़ों को खोलना आदि कार्योंका अच्छा जानकार था जिस समय अन्धे कुपार शयनागार में अपनी नव विद्युत्प्रभ स्त्रियोंके साथ बैठा उसा

मृगलोचनावलोकनीया विनयश्चोः, तस्यैव वैश्वणदत्तस्य ऋग्निश्चियाः सुता स्पष्टीः एताश्चतस्रा विविषुर्वक्ष परिणोय सौक्राग्यरे समीचीनरत्नदीपदीप्तिभिन्नरत्नान्वकारे नानारत्नसमीचीनचूर्णरंगवल्लीसंशोभिते विचित्रपुष्पोपहारसहिते जगतोत्तले स्थास्यति । एतस्य माता अर्यं भे सुतो रागेण प्रेरितः स्मितहासकटाशेषणादिन । विकृति भजन् कि भवेन्न वा भवेवित्यात्मानं लिरोषाय पश्यन्ती स्थास्यति । तस्मिन्नवसरे सुरस्यदेशपोषनापुरेषाविद्युत्त्वात्विमलवत्योः सुतः पापिष्ठानां धुरि स्पर्यों दुरात्मनां वन्दनीयोऽभुणवानुत्सुकदृश तीक्ष्णो विद्यरुपभनामा केनापि कारणेन निजज्येष्ठश्चात्रे कुपित्वा पञ्चशतसुभद्रनिर्गतो विद्युत्त्वोरनामानमात्मानं कृत्वा चौरशास्त्रोपदेषोन मंत्रतंश्चिदानाद्युरप्यारीरत्नकपाटीदधाटनादिकं जानन्नहृदासगृहाम्यन्तररत्नधानादिकं चोरपितुं प्रविष्य जिनदासीनपृनिद्रां विलोक्ययानं निवेद्य किमर्थं विनिद्रा त्वमेवमिति प्रश्नयति ? मम एक एव पुत्र श्रातरेवाहुं तपोवनं गमिष्यामोति संकल्पास्थिती वसेते तेनाहुं शोकिनी सही जातमि । त्वं बुद्धिमान् यृष्टसे यदि त्वभियमाप्नुयायैवरिष्यसि तरहर्दोऽस्तं धर्मं चर्द्यत्वं हृदयात् तिर्यक्तिः सोऽपि तत्प्रतिपाद्यते सम्पन्नभोगोऽयकिलं 'विरस्यति, इह धनमाहतुं' प्रविष्टं मां विगिति स्वनिन्द्रिनं कुर्वन्निःशक्त तदन्तिकं प्राप्य हं तासां कल्यकानां 'साम्यतयातिष्ठितं कुमारं प्रसरत्सद्बुद्धि पञ्चरणते पश्चिमिक,

समय वह विद्युत्त्वोर जम्बूकुमार के पिता अहृदास सेठ के घर के भीतर रहन तथा धन आदि को चुराने के लिये घुसेगा । उस समय जम्बूकुमारकी माता जिनदासी जाग रही होगी—पुत्रके वैराग्यको बात सुनकर उसे निद्रा नहीं आवेगी । उसे जागती देख विद्युत्त्वोर पूछेगा कि तू इस तरह क्यों जाग रही है ? जिनदासी कहेगी कि 'मेरे एक ही पुत्र है और वह भी मैं ग्रासङ्काल ही तपोवन को जाऊंगा' ऐसा संकल्प करके बैठा है, इसी कारण शोकसे युक्त हो मैं जाग रही हूँ । तुम बुद्धिमान् दिखाई देते हो यदि तुम इसे उपायों द्वारा इस हठसे निवृत्त कर सको तो मैं तुम्हारा मन चाहा सब धन दे दूँगी' ।

जिनदासी की उक्त बातको सुनकर विद्युत्त्वोर विचार करेगा कि यह इस तरह भोगों से सम्पन्न कुमार तो विरक्त होगा और मैं वहीं धन हरनेके लिये प्रविष्ट हुआ हूँ, मुझे धिक्कार हो, इस प्रकार अपनो निन्दा करता हुआ वह निःशक्त भाव से जम्बूकुमार के पास पहुँचेगा । उन

१. किल विसति च० ।

२. क प्रक्षीपेनामि संशोभिते कलकारां गच्छे तपोऽविष्टितं ।

जाललग्न मूसवालकमिव, अपारकदंमेमग्नः भद्रजातिगताचिपतिमिव, लोह-
पञ्चरीनिस्त्रदं सिहमिव प्रत्यासन्तसंसारक्षयं सम्प्राप्तनिवेदं समीक्ष्य विद्युच्चोरः
सुधीराष्ट्रार्थ्यान् विद्यति हे कुमार ! तथा श्रूयतां—कश्चित्कमीलक; स्वेच्छ्या
चरन्तेकदा गिरेल्लन्तप्रदेशात् तृण खादन्तेत्तमधुरसोन्मिश्रं सकृदास्वाद्योत्सुकस्ता-
दुश्मेवाहमाहरिष्यामीति भधुपानाभिवाच्छ्या तृणान्तरचरणगतिपराढ् मुखस्तस्थी
अमे ष तथा त्वमप्येतानुपस्थितान् भोगाननिष्ठन् स्वर्गभोगार्थी बुद्धिरहितः
क्रमेलकावस्थां प्राप्त्यसि (१) इति चौरप्रतिपादितं श्रुत्वा कुमारः प्रत्युत्तरं
दास्यति—कश्चित्पुमान् महादाहकरेण रविणा परिपीडितो नदीसरोवरत्वागा-
दिपानीर्थं पुनः पुनः पौत्रा तथापि न विनष्टसृष्टगस्तृणाप्रस्थितजलकणं पित्रन् किं
तुप्ति याति तथार्थं जीवोऽपि चिरकालं दिव्यसुखं भुक्त्वाप्यत्पृज्ञेन मनुष्यभव-
जातेन स्वल्पेन राजकणास्तिथरेणास्त्राद्धुन् तृप्तिं याप्नात् ॥३४॥ पुनः न लाभात् (२)
इति तद्वाचं श्रुत्वा स एकागारिकः कथयिष्यति कथां—एकस्मिन् वने किरात-

कन्याओं के साध्यभाव से सहित अर्थात् पूर्वोक्त कन्याएँ जिसे वश करने
के लिये घेरकर बैठी होंगी तथा जिसको समोचीन बुद्धि विस्तृत हो रही
होगी ऐसे जम्बू कुमार को वह विद्युच्चोर ऐसा देखेगा जिसे पिंजड़े में
पढ़ा पक्की हो, अथवा जालमें फैसा मृगका बालक हो, अथवा अपार
कीचड़ में फैसा भद्रजातिका गजराज हो अथवा लोहेके पिंजड़ों से रुका
सिह हो । पश्चात् जिसके संसारका क्षय अत्यन्त निकट है तथा जिसे पूर्ण
रूपसे वैगाय प्राप्त हो चुका है ऐसे जम्बू कुमार को देखकर वह बुद्धि-
मान् विद्युच्चोर आठ कथाएँ कहेगा—

(१) हे कुमार ! सुनो, एक ऊँट अपनी इच्छासे चरता हुआ एक
बार किसी पर्वत के पास पहुँचा । वहाँ पर्वत के ऊँचे प्रदेश से मधु की
कुछ बूदि टपक कर घास पर पड़ गई थीं, मधु रससे मिश्रित उस घास
को एकबार खा कर वह ऊँट इतना उत्सुक हो उठा कि मैं तो सदा ऐसी
ही घास खाऊँगा । इस तरह मधुपान की इच्छासे दूसरी घास खाने से
विमुक्ष हो निराहार बैठा रहा तथा मर गया । इसी प्रकार तुम भी इन
उपस्थित भाँगोंको न चाहते हुए स्वर्गके भोगोंकी इच्छा कर रहे हो सो
तुम बुद्धि-रहित हो, ऊँटकी अवस्था को प्राप्त होओगे ।

इस प्रकार चौर के द्वारा कही कथा को सुनकर जम्बू कुमार उत्तर
देगा—

(२) एक पुरुष ने महा संताप उत्पन्न करने वाले सूखसे पीडित होऊर

६८४ दो महात्मगणारं कुरुवा गण्डान्तं घनराङ्गुष्य वाणेन वारणं जघान । तद्गोटर-
स्थितमर्गदण्डस्तं सर्वं मारयित्वा स्वयं च मृतः । अथ तान् श्रीन् किरणतसर्पगजान्
मृतान् दृष्ट्वा कोष्टाऽतिलुब्धस्तावदेतास्त्रीनामि पूर्वं घनुमौर्वीं प्राप्तस्थितां च
स्तुतां भक्षयामीति कृतोद्यमस्तच्छेदं वैषेयदृष्टकार । सद्गो घनुरजनिभिन्नगलः सोऽपि
मृतः । ततोऽतिगृध्नुता त्वया त्याज्या (३) । इति श्रुत्वा कुमारविवृत्यित्वा सूक्तं
प्रवश्यति चतुर्मार्गसमायोगदेशमध्ये सुग्रहं रत्नराशि प्राप्य पथिको मूर्खस्तदात् ४
मना दायकेनापि कारणेन गतः पुनर्बनादागत्य तं देशं लं रत्नपुंजं कि पुनर्लैभते
तथा गुणभाणिकवसंचयं दुष्प्रापमभृत् संसारसमुद्रे कथं पुनः प्राप्नुयात् (४) । तदा
मलिम्लुच्चोऽन्यदन्यायसूचनमुपालयानं विविष्यति कश्चित्पृथुगालो मुखस्थितं मांस-

नदी सरोवर तालाब आदिका पानी बार-बार पिया फिर भी उसको प्यास
नष्ट नहीं हुई । वह अब क्या तुण्के अग्र भाग पर स्थित जलके कणको
पीला हुआ क्या तृप्तिको प्राप्त हो जावेगा ? उसी प्रकार वह जीव भी
चिर काल तक स्वर्णके सुख भोगकर भी तृप्त नहीं हुआ । अब क्या मनुष्य
मव में उत्पन्न होनेवाले, अत्यन्त अल्प और हाथी के कानके समान
अस्थिर अमनोज्ञ सुख से क्या तृप्ति को प्राप्त हो सकता है अर्थात् नहीं
हो सकता ।

जम्बूकुमार के वचन सुनकर चौर फिर क्या कहेगा—

(३) एक वन में चण्ड नामका अथवा अत्यन्त कोध करने वाला एक
भील रहता था । उसने एक बार किसी महावृक्ष को आधार बना कर
अर्थात् उस पर चढ़कर गाल पर्यन्त धनुष खींच बाण द्वारा हाथी को
मारा । उसी वृक्ष की कोटर में एक सौप रहता था उस सौपने भीलको
काट खाया । भील ने बदले में सौपिको मार दिया और वह स्वयं मर
गया । तदनन्तर किरात, सौप और हाथीको मरा देख कर लोभी शुगाल
वहाँ आया । वह कहने लगा कि मैं तीनों को अभी खाता हूँ, पहले धनुष
के छोर पर लगी ताँतको खाता हूँ । ऐसा विचार कर उस मूर्ख ने तीत
को काटने का उद्यम किया । फलस्वरूप धनुष के अग्रभाग से उसका
गला फट गया और वह मर गया । इसलिये तुम्हें अधिक लोभका त्याग
करना चाहिये ।

यह सुन जम्बूकुमार विचार करके एक सुभाषित कहेगा—

(४) एक पथिक को चौराहे पर ऐसी रत्नों की राशि मिली जिसे

पिण्डे मुवत्वा संक्रीडमानं भीनं भक्षितुं जले पपात । गलबेगवहस्प्रवाहेण प्रेर्यमाणो
मृतः । भीनस्तु दीघयिजलमध्ये सुखे तस्थौ । एवं शृगालवदतिलुभ्यो मरिष्यति
(५) । एवं मुख्यतस्करवाच अस्या प्रत्यासन्नमुक्तिः कुमारो भणिष्यति—कश्चिं
निद्रालुको वणिक् निद्रामुखरतः पराधर्मरत्नगम्भीनिजकच्छ्रुटः मुप्तः । चोरैरपहृते
माणिक्यसच्ये तददुःखेन दुर्मृतिमृति प्राप । तथायं जीवो विषयाल्पसुखासक्तो
रागचौरकैर्दर्शनशानचारित्ररत्नेष्वपहृतेषु निमूर्लु नव्यति (६) । दस्युस्थ गदिष्यति—
स्वमातुलानी—हुर्वचनकोपेन काचित्कन्या । तहतले सर्वभृत्यमण्डिता स्थिता ।
मरणोपायमजानती व्याकुलमनाः सुवर्णहारकेण पापिना मार्दिङ्गकेण दृष्टा । तदा—
भरणानि जिघृक्षुणा तस्या “लम्बनोपायो दर्शयामासे । स्वकीयं मर्दलं कृक्षतले
समुद्रम् संस्थापयोवभूव । तस्या गलपाशदानशिक्षणार्थं मदलोपरि वादी वृत्ता गले
पार्श चकार । केनापि कारणेन मर्दले पतिते मार्दिङ्गकस्य गले पाशो लग्नस्तना

वह अच्छी तरह ग्रहण कर सकता था परन्तु वह मूर्ख उसे उठाये बिना
किसी कारण से बनको नला गया । पीछे लौटकर उस स्थान पर आया
तो उसे वह रत्नराशि क्या मिल सकती थी ? इसी प्रकार यह जीव
अत्यन्त दुर्लभ गुण रूपी मणियोंके समूह को यदि अभी ग्रहण नहीं करता
है तो संसार समुद्र में फिर कैसे प्राप्त कर सकता है ?

तदनन्तर चोर अन्याय को सूचित करने वाली एक दूसरी कथा
कहेगा—

(५) कोई एक शृगाल मुख में स्थित मांस-पिण्डको छोड़कर कीदः
करती हुई मछली को खानेके लिये पानी में गिर पड़ा और जलके बेगसे
बहते हुए प्रवाह से प्रेरित होता हुआ मर गया परन्तु दीर्घ आयु वाली
मछली पानीके मध्य में सुख से रही आई । इस प्रकार अतिशय लोभी
तुम शृगालके समान भरोगे ।

इस प्रकार मुख्य चोरके बचन सुन अत्यन्त निकट मुक्तिको प्राप्त
करने वाला जम्बू कुमार कहेगा—

(६) निद्रा सुखमें निमान रहनेवाला कोई एक निद्रालु वणिक् था
वह अपनी कौछल्यमें श्रेष्ठ मणियोंको छिपा कर सो गया । परन्तु चोरोंमें
उसका मणियों का समूह चुरा लिया उसके दुःखसे कुमरण को प्राप्त होता

**खलीभूतकण्ठः प्रोद्यगतलोचनः शमनस्थिरं प्राप् । कन्या तद्वृष्ट्वा मरण-
मयात् गृहमागता तथा कुमार त्वया लोभो हैवः (७) । इति तस्य वामजाल-
माकर्ण्ये जम्बूनामा कुमारोऽसहमानस्तं प्रति भणिष्यति कस्यचिद्राक्षो
महादेवो ललिताङ्गनामधेयं धूर्तविट्ठ दृष्ट्वा भद्रविहृला संजाता । तस्य विटस्या-
नयननिरक्षरोपायनियुक्ता तदानी तं गृहमानीतवती । सा महादेवी यथा भर्ता न
जानाति तथैकान्तप्रदेशो यथेष्ट तं रममाणा स्थिता बहुभिविनैः शुद्धान्तरक्षकैः ज्ञाता
रागो शापिता च । उपपत्त्यपत्नयोपायमजानश्यः परिसारिकास्तं खलं नीत्वा वस्कर-
गृहे निषिष्ठत्वत्यः । स तत्रातिदुर्गम्येन तत्कीटैश्च दुष्टं प्राप् । पापोदयेनात्रैव
मरकावासं प्राप्तः । तद्वृष्ट्वसुखाभिलाभिणो जीवस्य निषोरनरकादिषु महापदो
भवन्ति (८) । कुमारः पुनरप्येकं प्रर्यचं कथिष्यति येन श्रुतेन सतां लघु संसार-
निवेगो भवति । जीवोऽयं पवित्रः संसारकान्तारे भ्राम्यन् मृत्यु मत्तगजेन जिषा-**

हुआ मर गया । इसी प्रकार यह जीव विषय रूपी अल्प मुख में आसक्त हो रहा है । राग रूपी चोरोंके द्वारा दर्शन शान चारित्र रूपी रत्नोंके चुरा लिये जाने पर वह नष्ट हो रहा है ।

इसके बाद चोर कहेगा—

(७) समस्त आभरणों से सुकौमित कोई एक कन्या अपनी मासीके कटुक वचनों से उत्पन्न हुए कोषके कारण बृक्षके नीचे स्थित थी । वह मरने का उपाय नहीं जानती हुई मन ही मन बहुत व्याकुल हो रही थी । सुवर्णको हरने वाले किसी पापो मृदङ्ग-वादक ने उसे देख लिया । यह उसके आभूषण लेना चाहता था इसलिये उसने उसके लिये बृक्ष से लटकने का उपाय बतलाया । उसने अपना मृदङ्ग बृक्षके नीचे छड़ा रखा । फिर उस लड़की को गले में फौसी देनेकी शिक्षा देनेके लिये उसने मृदङ्ग पर दोनों पैर रखकर अपने गले में फौसी लगाई । इतने में किसी कारण मृदङ्ग गिर पड़ा जिससे उसके गलेमें फौसी का फैंदा पक्का लग गया । इससे उसका कण्ठ फैंदा गया और आँखें निकल आईं तथा वह यमराजके गृहको प्राप्त होगया अर्थात् मर गया । यह देख कन्या मरण के भय से घर आ गई । हे कुमार ! इसी तरह तुम्हें लोभ छोड़ना चाहिये ।

इस प्रकार चोरके वामजाल को सुनकर जम्बू कुमार सहन न करता हुआ उसके प्रति कहेगा—

(८) किसी राजा की महारानी ललिताङ्ग नामके एक धूर्तविट्ठको देखकर काम से विहृल होगई । उस छिट्ठको लात्तेके लिये शानीमें एक

सुना रघानुयासोऽतिभीरः पलायमानो मनुष्यत्रहरवरात्सर्वितस्तमूले कुलगोपादि
विचित्र बस्त्रीसमाकुले जन्मकृपे पतित आयुर्वल्लीलग्नकामः सितासितदिवसानेक-
मूर्खिकोच्छब्दमानतद्वल्लीकः सप्तनरकप्रसारितमुखसप्तसंपर्णनिकटः । तद्वक्षेष्टार्थ-
पुष्पोत्तन्मुखमधुरसलालसस्तद्युप्रहणोरथापितसमग्रा पन्मशिकाभक्षितः तत्सेवासुलं
ज्ञात्वा सर्वोऽपि विषयलप्टो दुबुद्विजावति तथा वामान् दुवैहं वयोऽकुवन्त्यक्तसंगः
कथं बत्तेते ? इति तस्य वचनमाकर्ष्य माता कन्यादचौरश्च संसारशरीरभोगेवति-
विरागत्वं यास्थन्ति । तदावधकारं निराकृत्य कोक्षं प्रियथा कुमारं दीक्षयेव योजयन्
निजकरं समाक्रम्य कुमारस्य मनःकमलमिव रंजयन्तुदग्धोऽस्ति शिखरे रविश्वपसि कुमार

धायको नियुक्त किया । सो वह धाय गुप्त रूपसे उसे ले आई । महा-
रानी, जिस तरह राजा को पता न चल सके उस तरह एकान्त में उपके
साथ रमण करती हुई रहने लगी । बहुत दिन बाद अल्पपुरके रक्षकों
को इस बातका पता चल गया और उन्होंने राजा से कह भी दिया ।
रानी की सेविकाएँ उपरति को अलग करने का उपाय नहीं जान सकीं
इसलिये उन्होंने उस दुष्टको लेजाकर अशौच गृह में भिरा दिया । वह
वहीं अत्यन्त दुर्गन्ध तथा उसके कीड़ों से दुःख को प्राप्त हुआ । पापके
उदय से उसने यहीं पर नरक का निवास प्राप्त कर लिया । इसी के
समान अल्प सुख की इच्छा करने वाले जीवको अत्यन्त भयंकर नरक
आदि में बहुत भारी दुःख प्राप्त होते हैं ।

कुमार फिर भी एक कथा कहेगा जिसके सुनने से सत्यवर्णों को शोषण
ही संसार से बैराग्य हो जाता है—

यह जीव एक पथिक है, संसार रूपो अटवी में घूम रहा है, धात
करनेका इच्छुक मृत्यु रूपो मत्त हाथो कोधसे उसका पीछा कर रहा है,
अत्यन्त भयभीत हो भागता हुआ वह मनुष्य पर्याय रूपी वृक्ष पर चढ़
गया, उस वृक्षके नीचे कुल गोप आदि नाना प्रकारको लताओं से व्याप्त
संसार रूपी कुआँ है उसी कुएँ में वह गिर गया, परन्तु आयु रूपी लता
में उसका शरीर संलग्न होकर रह गया, शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष के
दिन रूपी अनेक चूहे उस लता को काट रहे हैं, उस संसार रूप कुएँ में
सात नरक रूपी सात संपै मुख फैलाकर बैठे हुए हैं, उस वृक्षके कार
द्वष्ट अर्ध रूपी पुष्प से उत्पन्न सुख रूपी मधु लगा हुआ है उसके रसको
लालसा उस पथिक को लग रही है, सुख रूपी मधुको प्राप्त करने के
कारण उसी हुई अनेक आपसि रूप मधु मक्खिया । उसे काट रही हैं फिर

इवोद्यति । सर्वसन्तापकारो तीर्णिकरोऽनवस्थितः कूरो दिवाकुबलयध्वंसी तदा
सूर्यः कुनृपस्योपमा धरिष्यति । नित्यादयो बुधाधीशोऽस्त्रण विशुद्धमण्डलः प्रवृद्ध-
पद्माल्हादी सुराजने वाय्येमाजेष्यति । अस्य कुमारस्य बान्धवा भववैमुस्यं विजाय
‘कुणिकमहाराजशेणयोऽज्ञादशापि देवोऽनावृतश्च सर्वे लगभ्य मांगलजलंरभिषेकं
करिष्यन्ति । अथ कास्ता अऽदादशशेणयः—सेनापतिगणको राजशेष्टो दण्डाधिष्ठो
मंत्री ३महतरो ३बलवत्तरः चल्वारो वर्णः चतुर्गं बलं पुरोहितोऽमात्यो महामात्य

भी उसकी प्राप्तिको सुख जान कर सभी विषय लंपट दुबुद्धि पनुष्य
जीवन व्यतीत करते हैं परन्तु जो बुद्धिमान् है वह कठिन तप किये तथा
परिश्रह को छोड़े बिना कैसे रह सकता है ?

हल अम्बार अम्बू कुमार के बदन दुरु उसकी माता, चारों कन्धाएँ
और चोर संसार शरीर तथा भोगों से अत्यन्त वेरान्य को प्राप्त हो
जावेंगे । उस समय अन्धकार को नष्ट कर चकवा को चकवो के साथ
मिलाना और अपनी किरणों से कमल को अनुरञ्जित करता हुआ सूर्य
उदयाचल पर उस तरह उदित होगा जिस तरह कि तप पर जम्बू कुमार ।
वह सूर्य चकवा को चकवी के साथ इस तरह मिला रहा था, जिस तरह
कि कुमारको दीक्षाके साथ और अपनी किरणों से कमल को उस तरह
अनुरञ्जित कर रहा था जिस तरह जम्बू कुमारके मनको । उस समय सूर्य
खोटे राजाकी उपमा को धारण कर रहा था क्योंकि जिस प्रकार खोटा
राजा सर्व-संतापकारी होता है—सबको दुःख देने वाला होता है उसी
प्रकार सूर्य भी सर्व संताप-कारी थी—सबको गर्भी पहुँचाने वाला था,
जिस प्रकार खोटा राजा तीक्ष्ण कर-अत्यधिक टेक्स लगाने वाला होता
है उसी प्रकार सूर्य भी तीक्ष्ण कर-उष्ण किरणों वाला था, जिस प्रकार
खोटा राजा अनवस्थित होता है—चन्द्र-बुद्धि होता है उसी प्रकार वह
सूर्य भी अनवस्थित था—सदा एकसा न रहने वाला था, जिस प्रकार
खोटा राजा कूर-स्वभाव का दुष्ट होता है उसी प्रकार सूर्य भी कूर-
अत्यन्त उष्ण प्रकृति वाला था और जिस प्रकार खोटा राजा दिवा कुबय-
लव्वंसीदिन में पृथिवी मण्डल को नष्ट करने वाला होता है उसी प्रकार
सूर्य भी दिवा कुबलयध्वंसी दिन में नीलकमलों को निमोलित करते

१. कुणिक म० क० ।

२. दानाप्यकः (क० दि०)

३. रस्तवरः (क० दि०) ।

इति । असौ कुमारस्तकालोचितवेषो देवनिमितां शिविकामारुह्यं भूरि भूतया
उच्चैविपुलाचलशिखरे स्थितं मां महामुनिभिनिषेवितं समस्यैत्य भक्तया त्रिःपरीत्य
यथाविषि प्रणस्य वर्णत्रयसमुत्पन्नैर्भूयोभिविनेयैर्निशुच्चैरेण सत्वंनशतसेवकैषच
समं सुधर्मगणधरणा दमूले समचितः संयमं ग्रहीष्यति । द्वादशावशन्ति मयि मोक्षं
गते सुधर्मा केवली भविष्यति जम्बूनामा थुतकेवली भविष्यति ततो द्वादशावर्षपर्यन्ते
सुधर्मणि निवर्णिं गते जम्बूनामनः केवलज्ञानमूलपत्स्यते । जम्बू नामनः शिष्यो भक्षी

बाला था । अथवा वह सूर्य किसी उत्तम राजा को जीतने वाला होगा
वयोंकि जिस प्रकार उत्तम राजा नित्योदय होता है—निरन्तर अभ्युदय
से युक्त होता है उसी प्रकार सूर्य भी नित्योदय प्रतिदिन उदित
होनेवाला होता है । जिस प्रकार उत्तम राजा बृधाधीश—विद्वानों का
स्वामी होता है । उसी प्रकार सूर्य भी बृधाधीश—बुध नामक ग्रहका
स्वामी था, जिस प्रकार उत्तम राजा अखण्ड विशुद्धमण्डल अखण्डित
और विशुद्ध राष्ट्र के सहित होता है उसी प्रकार सूर्य भी निर्दोष
मण्डल पूर्ण तथा निर्दोष परिधि में सहित था । जिस प्रकार उत्तम
राजा प्रबृद्ध—अत्यन्त विस्तार से युक्त रहता है उसी प्रकार सूर्य भी
प्रबृद्ध—अत्यन्त बृद्ध होगा और जिस प्रकार उत्तम राजा पश्चाल्हादी—
लक्ष्मीको हर्षित करने वाला होता है उसी प्रकार सूर्य भी पश्चाल्हादी—
कमलों को हर्षित करने वाला होगा ।

इस कुमार की संसार से विमुखता जान इसके कुटुम्बी जन, कुणिक
महाराज को अठारह श्रेणियाँ तथा अनावृत देव सब मिलकर मङ्गल
जलसे इसका अभिषेक करेंगे । अब वे अठारह श्रेणियाँ कौन हैं ? इसका
उत्तर देते हैं—सेनापति, गणक, राज-श्रेष्ठो, दण्डाधिकारी, मन्त्री, महत्तर,
बलवत्तर, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैद्य और शूद्र ये चार वर्ण, हाथी, घोड़ा, रथ
और पियादा—ये चार चतुरज्ञ सेना, पुरोहित, अमात्य और महामात्य ये
अठारह श्रेणियाँ हैं ।

उस समय के योग्य वेष को धारण करनेवाला वह कुमार देव—निमित
पालकी में सवार होकर बड़ी विभूति के साथ उन्नत विपुलाचल की
शिखर पर स्थित तथा बड़े बड़े मुनियों से सेवित मेरे सामने आवेगा,
भवितपूर्वक तीन प्रदक्षिणाएँ देकर विषिपूर्वक प्रणाम करेगा और त्रिवर्ण
में उत्पन्न बहुत से शिष्यों विशुच्चर चोर और उसके पाँच सौ सेवकों के

नाम चत्वारिंशद्वयणीह भरतकेने विहरित्वा । तदस्कर्षं श्रेणिकं स्थितेऽनावृतो
देवो मदीयवंशस्येदं माहात्म्यमुद्देश्यत्मोदृष्टमन्यत्र न दृष्टमित्युच्चैरानन्दनाटकं
[कृत्वान् तं] दृष्ट्वा श्रेणिक उवाच—कस्मादनेनबन्धुस्यमस्य देवस्येति ?
भगवान् गौतमो बभाष—जम्बूनामनो वंशे पूर्वं धर्मप्रियश्चेष्ठी गुणदेवी श्रेष्ठिनी ।
तयोरर्हद्वासः सुतो धनयोवनमदेन पितुः लिङ्गायामायन् कर्मवक्तव्यं उपत्यप्यसनेषु
निरंकुशो बभूत्र । निजदुराचारेण दरिद्री संजातः । पश्चादुत्पन्नपश्चात्तापो
मत्पितुः शिक्षा मया न भुता, उत्पन्नशमभावः किञ्चित्पृथ्यमुपाज्यनावृतनाभा

साथ सुधर्मं भणधर के चरण मूल में समचित्त होकर संयम ग्रहण करेगा ।
बारह वर्ष के बाद जब मैं मोक्ष चला जाऊँगा तब सुधर्मचार्य के बली
होंगे और जम्बू स्वामी श्रुत के बली होंगे तदनन्तर बारह वर्षके बाद जब
सुषमन्त्तार्य मोक्ष को प्राप्त होंगे तब जम्बू स्वामी के बली होंगे । जम्बू
स्वामी का एक शिष्य जिसका कि नाम भव होगा व्यालीस वर्ष तक इस
भरत क्षेत्र में उद्घार करेगा ।

यह सुनकर राजा श्रेणिक के रहते हुए अनावृत देव कहेगा कि इसने
(जम्बू कुमार ने) हमारे वंशका माहात्म्य बढ़ाया है ऐसा अन्यथा
नहीं देखा, ऐसा जोरसे कहकर वह हर्ष से तृत्य करने लगेगा । उसे देख
राजा श्रेणिकने कहा कि जम्बूकुमारके साथ इस देवकी बन्धुता किस
प्रकार है ? भगवान् गौतम स्वामी कहने लगे—जम्बू कुमार के वंशमें पहले
धर्मप्रिय नामका एक सेठ था उसकी गुणदेवी नामकी स्त्री थी । उन
दोनोंके अहंदास नामका पुत्र था, वह धन और योवन के मदसे पिताकी
शिक्षा को न गिनता हुआ कर्मवश सात व्यसनों में स्वच्छन्द हो गया ।
अपने इस दुराचारके कारण वह दरिद्र हो गया । पीछे उसे इस बात का
पश्चात्ताप हुआ कि मैंने अपने पिता की शिक्षा को नहीं सुना । इस तरह
शमभाव उत्पन्न होनेपर किञ्चित् पुण्यका उपार्जन कर वह अनावृत
नामका व्यन्तर देव हुआ । वहौ इसे सम्यग्रूपी सम्पत्ति उत्पन्न हुई है
इसलिये जम्बूकुमार के प्रति इसे बन्धुता के कारण प्रीति उत्पन्न हुई है ।

तदनन्तर श्रेणिक ने कहा—हे स्वामिन् ! यह विद्युन्माली किस कारण
आया ? इसने पूर्वं भव में क्या पुण्य किया था ? इसकी प्रभा आयु के
अन्त तक अनाहत है । श्रेणिक के उपकार की बुद्धि से ही भगवान् गौतम
स्वामी कहने लगे—

इस जम्बूद्वीप के पूर्वं विदेह क्षेत्र सम्बन्धी पुर्जलावती देशमें एक
गौतमोक नाम का नगर है उसमें महाप्रभ नामका राजा रहता था उसकी

व्यन्तरो अतः, सबं समुत्पन्नसम्यक्त्वसम्पदिति बन्धुताप्रीतिरस्य । अथ श्रेणिः प्राह—स्वामिन्नये विद्युमाली देवः कस्मादागतः, किं पृथ्वं पूर्वभवे कृतमान्, अस्य प्रभा आयुरर्त्तेऽप्यनाहृतेति । तदनुग्रहबुद्धैव भगवान् गौतमः प्राह—अत्र जम्बू-द्वीपे पूर्वविदेहे पुष्कलावतीविषये वीतशोकपत्तने महापद्मो राजा उन्महादेवी वनमाला । तथोः सुतः शिवकुमारः नवमौवनसम्पन्नः सर्वथोभिवनं विहृत्य पुनराग-ज्ञनं गन्धपृष्ठादिसंगलद्वयोरासमपूजया मह जनानागच्छतो दृष्ट्वा समुत्पन्नविस्मयो वृद्धिसागरमेत्रिणः पुत्रं किमेतदिति प्रश्नच्छ । स प्राह—कुमार ! शृणु—सागर-दत्तनामा मुनीन्द्रः श्रुतकेवली दीप्ततपोभण्डितो मासोगवासपारणार्थं पुरं प्रविष्ट । कामसमुद्रो नाम श्रेष्ठी विषिष्ठपूर्वकं भक्त्या दानं दत्त्वा पंचाश्चर्यं ^१प्राप तेनोत्पन्न-

रानी का नाम वनमाला था । उन दोनों के शिवकुमार नामका पुत्र था । एकदिन नवयोवन से सम्पन्न शिवकुमार अपने मन्त्री के साथ वन भिहार के लिये गया था । जब वहाँ से वापिस आ रहा था, तब गन्ध पुष्प आदि मञ्जुल द्रव्य रूपो उत्तम पूजा की सामग्री के साथ लोगोंको बाते देख उसे आश्चर्य उत्पन्न हुआ । उसने अपने वृद्धि सागर मन्त्री के पुत्र से पूछा कि यह क्या है ? मन्त्री ने कहा—कुमार ! सुनो, सागरदत्त नामके मुनिराज जो कि श्रुत केवली तथा दीप्त तपसे सुशोभित हैं एक मासके उपवास के बाद पारणा के लिये नगर में प्रविष्ट हुए थे । काम-समुद्र नामक सेठने विषिष्ठपूर्वक भक्तिसे दान देकर पंचाश्चर्य प्राप्त किये हैं । इससे जिन्हें कीतुक उत्पन्न हुआ है ऐसे नगरवासी लोग मनोहर नामक उद्यान में निवास करने वाले उक्त मुनिराज की पूजा कर बन्दना करने के लिये परम भक्ति से जा रहे हैं । शिवकुमारने कहा कि इन मुनिराज ने सागरदत्तनामक, श्रुत केवली अवस्था तथा अनेक वृद्धियों को किस कारण प्राप्त किया ? मन्त्रि पुत्र ने भी जैसा सुन रखा था वैसा कहना प्रारम्भ किया—

पुष्कलावती देश में पुण्डरीकिणी नामकी नगरी है । उसके राजा का नाम चक्रवर्ती बज्रदत्त था उसकी स्त्री का नाम यशोधरा था जब वह गमिणी हुई तो उसे दोहला उत्पन्न हुआ । दोहला की पूर्ति के लिये वह जहाँ सीता नदी समुद्र में मिलती है वहाँ बड़े वैभव के साथ गई और

१. वृद्धिसागर पुत्रं क० ।

२. प्राप्य म० ।

कौतुकः पौरास्तं मनोहरोदामवासिनं पूजयित्वा वन्दितुं परमभक्त्या गान्तीति । शिवकुमारः प्राह—अयं सागरदत्ताख्यां 'सथृतां विविषद्दैश्च कर्त्त प्राप । मन्त्रिपुत्रोऽपि यथा श्रुतं तथा प्राह—पृष्ठकलावतीविषये पुण्डरीकिणी नगरी, तस्याः पतिदत्तकी वज्रादत्तः । तस्य महादेवी यशोधरा गमिणी समृपनदीहुदा । आ सोवासागरसंगमे भवांवभूत्या गत्वा भवांदारेण समुद्रं प्रविष्टा । जलकेलीविवाने जलजानना आसन्ननिवृत्तिं पुत्रं प्राप । तेन हेतुनास्य 'सनाभ्यः आगरदत्ताख्यां चक्रुः । अयं सागरदत्तः परिषासयीवनः स्वपरिवारमण्डितो हम्यतले स्थितो नाटकं पश्यन्मनुकूलाल्यनाम्ना चेटकेनोक्तः । हे कुमार ! त्वमाश्चर्यं पश्य मेव्य-कारोऽयं मेघस्थिष्ठति । तं मेर्वं लोचनश्चियं सोन्मुखो निरीशितुमेहिष्ट । स मेघस्त-

महाद्वार से समुद्र में प्रविष्ट हुईं । जल-कीदा के समय ही उस कमल मुखी ने निकट मोक्षगामी पुत्रको उत्पन्न किया इसो कारण इसके कुटुम्बी जनोंने इसका सागरदत्त नाम रखा । तदनन्तर एक बार तरुण सागर-दत्त अपने परिवार के साथ महलकी छत पर बैठकर नाटक देखा रहा था उसी समय अनुकूल नामक सेवक ने उनसे कहा कुमार ! तुम यह आश्चर्य देखो, मेरु पर्वत के आकार यह मेघ स्थित है । उस सुन्दर मेघ को देखने के लिये ज्यों ही वह ऊपर की ओर मुँह उठाकर देखने की चेष्टा करता है ल्यों ही वह मेघ तत्काल नष्ट हो गया । सागरदत्त विचार करने लगा कि जिस प्रकार यह मेघविनश्वर है उसी प्रकार योवन, धन, शरीर जीवन तथा अन्य समस्त पदार्थ विनश्वर हैं । इस प्रकार विचार कर वह वैराग्य को प्राप्त हो गया । दूसरे दिन वह मनोहर नामक उद्यान में धर्म तीर्थ के नायक अमृत सागर नामक तीर्थकर को बन्दना करने के लिये अपने पिता वज्रादत्त के साथ गया । वहाँ धर्मका श्रवण कर इसने सर्वस्थिति का निश्चय किया तथा समस्त बन्धु जनों को विदा कर बहुत से राजाओं के साथ संयम ग्रहण कर लिया । मनःपर्यंय कृद्धि रूपी संपत्तिको प्राप्त कर धर्मोपदेश द्वारा अनेक देशों में विहार कर वे यहाँ वीतशोक नगरमें पधारे हैं । इस प्रकार मन्त्रिपुत्रके बचन सुनकर शिवकुमार बहुत प्रसन्न हुआ और स्वर्यं जाकर मुनिराज की स्तुति कर तथा उनसे धर्मभूत का पान कर कहने लगा भगवन् ! आपके दर्शन कर मुझे बड़ा हर्ष हुआ है इसका क्या कारण है ? भगवान् सागरदत्त कहने लगे—

१. सथृतां म० क० ।

२. गोत्रिषः ।

स्काल एव नष्टः । सागरदत्तदित्तयामास यौवर्णं धर्मं शरोरं जीवितमन्यज्ञं सर्वं वस्तु विनष्टकरं वर्तते यथायं मेघं इति निर्वेगं गतः । अपरेषु मनोहरोद्याने धर्मं-तीर्णनायकममृतसागरं नामं तीर्थकरं वज्रदत्तेन निजवत्ता सह वन्दितुमितः । तत्र धर्मं श्रुत्वा निश्चितसर्वस्थितिः सर्ववन्धुविसर्जनं कृत्वा बहुभी राजभिः सर्वं संयमं जग्नाह । मनःपर्यंथद्विसम्पदं प्राप्य धर्मोपदेशेन देशान् विहृत्यात्र वीतशोकपुरमागतः । इति मंत्रिपुत्रवचनानि श्रूत्वा शिवकुमारः प्रीतमनाः स्वर्णं च गत्वा मुनिशरं स्तुत्वा धर्मामृतं तदाः पीत्वा जगाद भगवन् ! भवत्ते दृष्ट्वा मम महान् स्नेहः संजातः । तत्र कः प्रत्ययं दृत्यपचलत् । भगवान् सागरदत्तः प्राह अत्र जम्बुद्वीपे भरतक्षेत्रे मगधदेशे वृद्धग्रामे राष्ट्रकूटो नाम वणिक् । तस्य भार्या रेवती । तपोद्वीपुन्नी भगदत्तभवदेवी । तयामन्ध्ये भगदत्तः सुस्थितनामगुरुं नत्वा दीक्षां जग्नाह । विनायान्वितो गुरुणा सह नानादेशान् विहृत्य स्वजन्मग्राममाजगाम । तदा तद्वान्वयवाः

इसी जम्बुद्वीप में भरत क्षेत्र सम्बन्धी मगधदेश के वृद्ध ग्राम में राष्ट्रकूट नामका एक वणिक् रहता था । उसकी स्त्री का नाम रेवती था । उन दोनोंके भगदत्त और भवदत्त नामके दो पुत्र हुए । उनमें भगदत्त ने सुस्थित नामक गुरुको नमस्कार कर दीक्षा धारण करली । विनायी भगदत्त गुरुके साथ नाना देशों में विहार कर अपने जन्मके ग्राम आया । तब उसके सभी कुटुम्बों जनों ने हृषित हो मिलकर सुस्थित नामक मुनिराज की प्रदक्षिणा देकर पूजा की । पूजा करने के बाद सब लोग वापिस आने को उद्यत हुए । उसी प्राम में एक दुमध्यण नामका वैश्य रहता था । उसकी नागवसु नामकी स्त्री थी । उन दोनों की नामधी नामकी पुत्री थी । उन्होंने वह पुत्री भगदत्त के भाई भवदेव के लिये दी थी । भगदत्त का आगमन सुनकर भवदेव भी कुछ विकार करता हुआ वहाँ आया और भगदत्तको विनय-पूर्वक प्रणाम कर बैठ गया । भगदत्त ने आशीर्वाद दिया जिससे उसका मन आद्रै हो गया । भगदत्त ने धर्म का स्वरूप और संसार की विरूपता का उपदेश देकर भवदत्त का हाथ एकान्त में पकड़ कर एकान्त में कहा—भाई ! तुझे संयम ग्रहण करना चाहिये । भवदेव ने कहा—भाई ! संसार में स्त्री आदिके जाल में बैधा हुआ जीव आत्मा का हित कैसे कर सकता है ? इस मोहु को छोड़ो । तब कोई उत्तर न देख भवदेव ने बड़े भाईके अनुरोध से दीक्षा लेनेका विचार कर लिया । भगदत्त ने उसे अपने गुरु सुस्थित मुनिराज के पास ले जाकर संसारका छेद करने के

सर्वेऽपि हर्षमाणाः समेत्य मुनिं सुस्थितं प्रदक्षिणीकृत्य संपूज्य चाग्न्युमुद्घतात् । तत्रैव ग्रामे दुर्मर्थेणो नाम गुहपतिः । तस्य नागवासुभर्थीः । तयोः पुत्री नागश्रीः । सा विधिपूर्वकं भवदेवाय ताम्यां ददे । भगदत्त गमनं श्रुत्वा भवदेवोऽपि विकुर्वा-
णोऽवागत्वा आत्मते विनयात्पण्ड्य उद्दाशीविविलासनास्ति इति । भगदत्तो
धर्मस्वरूपं संसारवैरूप्यं व्याख्याय गृहीतकर एकत्वे भ्रातः । स्वया संयमो गृहीतव्य
इत्याह । भवदेव—उवाच—नागश्रीभोक्षणं विधाय भवत उदितं करिष्यामि ।
भगदत्त उवाच—हे भ्रातः ! संसारे जायादिपाषाषद्वो जीवः कथमात्महितं करोति
परित्यज्ञ मोहमेतमिति । तदा भवदेव उत्तरमपद्यन् ज्येष्ठानुरोधेन दीक्षायां मति
विदधी । भगदत्तः स्वगुरुं सुस्थितसमीपं तं नीत्वा संसारच्छेदनार्थं मोक्षीं दीक्षा
मंकुं ग्राह्यांचमूलं । सतां सौदर्यमीदृग्भवति । भवदेवो द्रव्यसंयमी भूत्वा गुरुभिः
समं द्वादशवर्षाणि विहृत्यापरेषु विधीरसहायो निजं वृद्धग्रामं गत्वा सुव्रतां गणिनीं
समीक्ष्य तां प्राह—हेऽन्म ! १काचिन्नागश्रीनामिः काचिदस्ति । सा तस्येच्चित्तं
शास्त्रा जगाद—मुने ! तदुदत्तमहं सम्यग्न वेदेति । तदौदासीन्यं प्राप्तं तं संयमे
स्थिरीकतुं २गुणवर्त्यायिका प्रति अर्थास्थानकं जगाद । सर्वसमृद्धनामा वैष्यः,

लिये शीघ्र ही मोक्ष की दीक्षा दिला दी सो ठीक ही है क्योंकि सत्पुरुषों
का भाईन्वारा ऐसा ही होता है । भवदत्त द्रव्यसंयमी होकर गुरुओं के
साथ बारह वर्ष तक विहार करता रहा । किसी सभय वह अज्ञानी बकेला
ही अपने वृद्धग्राम आया । वहाँ सुव्रता नाम की गणिनी को देखकर बोला—
हे मातः ! क्या यही कोई नागश्री नामकी स्त्री है ? वह उसके अभिप्रायको
आनकर बोली हे मुने ! मैं नागश्री के वृत्तान्त को अच्छी तरह नहीं
जानती । यह मुन कर भवदत्त मुनि उदासीनता को प्राप्त हो गया उसे
संयम में दृढ़ करने के लिये सुव्रता नामकी गणिनी गुणवत्ती आयिका को
लक्ष्य कर एक कथा कहने लगी—

(१) एक सर्वे समृद्ध नामका वैष्य था, उसकी दासीका एक लड़का
था जो निरन्तर धिनावना रहता था तथा दास्तु उसका नाम था । अपनी
माता अर्थात् वैष्यकी स्त्रीने उससे कहा कि तुम्हे हमारे सेठका जूठा
भोजन खाना पड़ेगा । हठ कर उससे कहा, सिला भी दिया । परन्तु दास्तु

१. काचिन्नामंश्रीनामिः काचिदस्ति म० । क प्रती मामास्ति, काचित् पदं केनापि
निःसारितम् ।

२. सुव्रता नामा गणिनी अर्थास्थानकं गुणवत्तीं प्रति जगाद् इति पूर्वपिर सम्बन्धः ।
(३० दी०) ।

तदासीसुतोऽशुचिराल्कामिषेयः स्वमात्रा प्रोचे—अस्मत्श्रेष्ठयुज्जिष्ठभोजनं तु त्वयाऽशनोयमिति । निर्बन्धाद्भोजितः । स जुगुप्तया वास्तवान् । तत् कंसपात्रेण पृत्याऽल्लाद्य घृतं । दारुकः पुनर्बुद्धुक्षुः स्वमातरं भोजनं यथाचे । तया तत्कंसपात्रं वास्तवभृतमुपहौकित । क्षुत्तीडितोऽपि स आह्मवास्तवं न अपाह । सोऽशुचिरपि चेत्ताऽदृशस्त्वाहि साधुः कथं त्यक्तमभीत्यतीति (१) । गुणवति ! पुनरेकमध्यक्षियामकं निषेयं मनो निष्वलं कृत्वा त्वं शृणु । नरपालनामा नरेन्द्र एकं श्वानं कुतूहलेन मृष्टान्लेन संपोष्य कनकाभरणभूषितं सदा बनकीबादी सुवर्णरचितां शिविकामारोपीव मन्दमतिस्तमपालयत् । एकदा शिविकारुदः सरमासुतो गच्छन बालविष्टामालोक्य तामालेकुमापपात् । तदृष्टवा रथा उग्रुदीतादीपा रथा । तदृष्टवा रथा पुनिः । साधुः सर्वेषां पूजनीयः पूर्वत्यक्तं पुनर्जिञ्चन् पराभवं प्राप्नोति (२) । हे गुणवति ! पुनरेका कथां शृणु-वचिल्कोपि पथिकस्तद्वनान्तरे सुगन्धिफलपुष्पादिसेवया युलस्तं तरं त्यक्तवा सन्मार्गं विहा महाटवीसंकटे परितः । तत्र जिबासुकं चमूरं दुष्टवा ततो भीत्वा धावन्नेकस्मिन् भीमे कूपे इम्ब्यत् पपात । तत्र या पापाच्छीतादिभिर्दोषत्रयसंभवे वारदुष्टिश्रुतिगतिप्रभृतिहीनं सपर्दिदाश निकटं तस्माने उसे झलानि-वश उगल दिया । सेठानी ने उस बमन को कौसे के पात्रमें रखकर कपड़े से ढाँक कर रख दिया । दारुक को पुनः भूख लगाते तब उसने अपनी माता से भोजन माँगा । माता ने बमन से भरा वह ही कौसेका पात्र उसे दे दिया था । दारुक ने भूखसे पीड़ित होने पर भी अपने बमनको नहीं खाया । उस दारुक ने धिनावना होने पर भी जब अपना बमन नहीं खाया तब साधु अपनी छोड़ी वस्तुको कैसे इच्छा कर सकता है ?

(२) हे गुणवति ! अपना मन निष्वलकर एक कथा और सुन । नरपाल नाम का एक राजा था उसने एक कुत्तेको मिठाई खिलान्खिलाकर पाला था वह उसे सुवर्ण के अभूषणों से विभूषित कर सदा बन-कीड़ा आदिके समय सुवर्णनिर्मित पालकी में बैठाकर साथ ले जाता था । इस तरह वह मूली राजा उस कुत्ते का पालन करता था । एक दिन पालकी पर चढ़ा कुत्ता जा रहा था सो बालक की बिछा देख उसे चाटनेके लिये कह दिया । राजा ने यह देख उसे डण्डे से पीट कर भगा दिया । हे पुनिः ! इसी तरह सबका पूजनीय साधु यदि पहले छोड़ी हुई वस्तुको इच्छा करता है तो तिरस्कारको प्राप्त होता है ।

(३) हे गुणवति ! एक कथां और सुन । कहीं कोई एक पथिक किसी बनमें एक बृक्षके नीचे ठहरा था उसके सुगन्धित फल और फूल आदिका

निर्गमनोपायमजानन्त सं कोइपि भिषम्बरो यदृच्छया गच्छन् दृष्ट्वा दयाद्विच्छितः
केनाप्युपायेन महोदरान्निष्कास्य संशैषधिप्रयोगेण विहितचरणप्रसारणं सूक्ष्मरूप-
समालोकनोन्मीलितनेत्रं स्फुटाकणते विज्ञाननिजशक्तिकर्णयुगलं व्यक्तवाक्प्रसर-
संयुक्तजिङ्ग्हं स चकार । पुनः सर्वरमणीयं पुरं तन्मार्गदर्शनेन प्रस्थापयामास ।
निर्मलहृदयाः कस्योपकारं न विद्ययुः । पुनः स विषयाक्तमतिः पविकदुर्भितिः प्रक-
टीकृतदिग्भागमाहुः प्राक्तनकूपकं सम्प्राप्य तस्मिन् पुनः पतितः तथा क्वचित्संसारे
मिथ्यात्मादिकर्पचोपब्याघयो दीर्घ्युपागता जन्मकूपे क्षुधादाहाद्या संभज्जिनं वीक्ष्य
गृहः सन्मतिवेद्यो दयालुत्वाद्दमखियानोपायपण्डितस्तस्मान्निगमन्य जिनवारीचिं-
जिषेक्ना (पा) त सम्यक्त्वलोचनमुन्मील्य सम्प्रज्ञानश्रुतियुगलमुदधाटय्य सदवृत्त-
पादी प्रसारिती विद्याय दयामयीं जिह्वां व्यक्तां विद्याय द्विविष्वं एव प्रकारस्काद्या-
यवचनानि तं वादायत्ता स्वगणितवगयांपर्णि मुर्धाः साक्षगमयत् । तत्र केविद्योर्य-
संसाराः स्वपामोदयात् अमरा इव सुगन्धिवन्धुरोदिभग्नचम्पकसमीपदत्तिनस्तस्मै-

उपभोग करता हुआ रहता था । वह उस वृक्षको छोड़ आगे गया तो
सन्मार्गको भूल सघन जंगलमें जा पड़ा । वहाँ एक चीता उसे खानेके लिये
आया उसे देख भयभीत होता हुआ वह भागा और भागता भागता एक
भयंकर कुएँमें जा पड़ा । वहाँ पापके कारण शीत आदि लगनेसे उसे
त्रिदोष की बीमारी हो गई । उसकी बोलने देखने सुनने तथा चलने आदि
की शक्ति नष्ट होगई, सर्व आदिकी बाधा उसके निकट ही थी, वह
वहाँसे निकलने का उपाय भी नहीं जानता था, भारय-बदा स्वेच्छासे कोई
वैद्य वहाँसे निकला, उसने उसे देखा, देखते ही उसका चित्त दयासे आँख हो
गया, अतः उसने किसी उपायसे उसे उस महा कूपसे निकाला तथा मन्त्र
और औषधिके प्रयोगसे ठीक किया । चलने में उसके पैर पसरने लगे,
सूक्ष्म रूपके देखने में उसके नेत्र खुल गये, अच्छी तरह सुनने में उसके
दोनों कान अपनी शक्तिसे युक्त हो गये, तथा उसकी जिह्वा भी स्पष्ट
बचन बोलने लगी । वैद्य ने उसे ठीक कर उसके सब सुन्दर नगरको
उसका मार्ग दिखाकर रवाना कर दिया, सो ठीक ही है क्योंकि निर्मल
हृदय बाले मनुष्य किसका उपकार नहीं करते ? परन्तु वह दुरुद्धि पविक
विषय आसक्तचित्त हो दिम्भाग में मूढ़ताको प्रकट करता हुआ उसी
पहले कुएँ में जा पड़ा । उसी प्रकार कहीं संसार में मिथ्यात्म आदि पञ्च
भयंकर बीमारियाँ प्रबलताको प्राप्त हो रही हैं, और यह जीव संसाररूप
कुरं में फड़ा पड़ा क्षुधाको दाहसे दुखी हो रहा है उसे देख सदमुद्दिके

गम्यावद्वीधरहिता पार्वत्याह्याः सम्यादर्शनज्ञानचारित्रसमीपवर्तनात्, क्रोधादि-
कषायस्यशार्दिविषयलीकिकज्ञानचिकित्सादिकुञ्जानाः जिह्वायामष्टघा स्पर्शेषु च
तपाद्य दुराशयाः कुणीकनप्राप्तः विदितेषु तत्त्वेषु शास्त्रेषु च लोलुगाः संसक्ताह्याः, हीयमानज्ञानादिका अवसानसंज्ञाः, समाचारबहिर्भूता मृग—चर्यनामध्रेयका महा-
मोहानिवृत्या कृत्वा 'आजर्वेजवागस्तदन्धकूपे वेतुर्निपत्तिं च (३) भवदेव इति
श्रुत्वा सम्प्राप्तशान्तमाको बभूव । सुखता गणिती सर्वाधिग्रीसरी तद्विश्वाय दारिद्रो-
त्यादितदीक्षित्यां नागश्चियमानाम्य तं वर्णयामास । भवदेवोद्धिष्ठते दृष्ट्वा संसार-
स्थिति स्मृत्वा धिगिति तिन्दित्वा पुनः संयम गृहीत्वाऽऽयुःशान्ते भावा भगदत्तेन
सह आराधनां विश्वाय । समाधिना मृत्या माहेन्द्रकल्पे बलभद्र विमाने सामानिको

धारक गुरु रूपो वैद्य जो कि धर्मोपदेशरूपी उपायके जानने में नियुण हैं, दयालु होनेसे उसे उस संसार कूपसे बाहर निकलवाते हैं, जिनवाणी रूपी
औषधिका सेवन कराकर उसके सम्बद्धत्व रूपी लोचनको खोलते हैं, सम्य-
ज्ञान रूपी कानोंके युगलको खोलते हैं, सदाचार रूपी वैरोंको पसारते हैं,
दया रूपी जिह्वाको प्रगट करते हैं, विधिपूर्वक पाँच प्रकारके स्वाध्याय
के बचन उससे बुल्लाते हैं, और यह सब कह कर बुद्धिमान् वैद्य उसे खर्गं
तथा मोक्षके मार्गमें अच्छी तरह रखाना कराता है । उनमें कितने ही
दीर्घसंसारी जीव अपने पापके उदयसे उन भ्रमरों के समान जो सुगन्धिसे
युक्त खिले हुए चम्पाके समोपवर्ती होकर उसकी सुगन्धिके ज्ञान से रहित
हैं, पार्वत्य नाम धराते हैं, क्योंकि वे सम्यादर्शन सम्यज्ञान और सम्यक-
चारित्रके समीपमें रहते हैं । कितने ही लोग क्रोधादि कषाय तथा स्पर्शादि
विषयोंके लौकिक ज्ञान और औषध आदि के मिध्याज्ञान से युक्त हो
जिह्वा इन्द्रिय के तथा भाठ प्रकार के स्पर्शीक विषयमें लम्पट होकर
कुशील नाम धराते हैं, इनका अभिप्राय खोटा रहता है । कितने ही लोग
निषिद्ध द्रव्य और भावोंमें लुभाकर संसक्त कहलाने लगते हैं । कितने ही
लोग जिनके ज्ञान आदिक निरन्तर घटे रहते हैं, अवसान नाम रखाते
हैं और कितने ही समीचीन आचारसे बाह्य होकर मृगचर्या नाम पाते
हुए महामोह के दूर न होनेके कारण संसार पतन के कारण अपराध को
करते हैं तथा अन्धकूप में पड़े हैं और वर्तमान में पड़ रहे हैं ।

भवदेव इन सब कथाओं को सुनकर शान्तभाव को प्राप्त होगया ।
तदनन्तर समस्त आर्यिकाओं की प्रधान सुखता गणिती ने दरिद्रता से

१. आजर्वेजवास्तावकूपे म० च० ।

देवः सप्तसामरोपमध्यंभूव । अहं भगदत्तचरः सागरदत्तश्चकिमुतः संजातः । एवं
भवदेवचरः शिवकुमारोऽन बभूविथ । स इति शुल्का संसाराद्विरक्तो दोक्षां गृहीतु-
मुद्यत्वं बभूव । बनमालया मात्रा महापद्मेन पित्रा च वारितो वीतशोकं नगरं प्रविश्य
संजातसंवित् अप्रासुकाहारं नाहरिष्यामीति इति गृहीत्वा स्थितः । एतावतीदीक्षा
यिना प्रासुकाहारः कुतः ? भूपस्तङ्गाती शुल्का प्राह—यः कोऽपि शिवकुमारं भोजयति
तस्मै सम्प्रार्थितमहं दास्यामीति समार्था घोष्यामास । तद्विजाय सप्तस्थानसमाश्रयो
दृढधर्मनामा आवकः समागत्य शिवकुमारं प्राह । अथ कानि तानि सप्तस्थाना-
नीति चेत—

सञ्जातिः सद्गृहस्थ्यं परिवार्यं सुरेन्द्रता ।
साम्राज्यं परमाहृत्यं निवणं चेति सप्तधा ॥ १ ॥

अथ दृढधर्मा कि गार्हति चेत् ? हे कुमार ! “तत्र जाहयः तत्र जाहय” एषस्य

जिसकी खराब दशा हो रही थी ऐसी नामश्री को बुलाकर दिल्लाया ।
भवदेव भी उसे देखकर तथा संसारकी स्थितिका स्परण कर शिवकार
देता हुआ अपनी निन्दा करने लगा । उसने पुनः संयम धारण किया और
आयु के अन्तमें भाई भगदत्तके साथ आराधना का आश्रय लिया ।
सप्ताहिसे भर कर वह माहेन्द्र स्वर्ण में बलभद्र विमानमें सात सागरकी
आयु वाला सामानिक जाति का देव हुआ मैं भगदत्तका जीव अक्षवर्तीका
पुत्र सागरदत्त हुआ है और तू भवदेवका जीव शिवकुमार हुआ है । इस
प्रकार सुनकर शिवकुमार संसारसे विरक्त हो दीक्षा लेने के लिये उद्यत
हो गया । बनमाला माता और महापद्म पिता ने उसे दोक्षा लेने से मना
किया तो वह वीतशोकं नगरमें प्रवेश कर आत्म-ज्ञानसे युक्त हो यह
नियम लेकर रहने लगा कि मैं अप्रासुक आहार नहीं करूँगा । इतनी
दीक्षाके बिना उसे प्रासुक आहार कौसे प्राप्त होता था ? इसका उत्तर यह
है कि राजाने उस बातको मुन कर समामें ऐसी घोषणा करा दी थी कि
जो कोई शिवकुमारको आहार करावेगा मैं उसके लिये मन-चाही वस्तु
दूँगा । यह जानकर सप्त स्थानोंके आश्रयभूत दृढधर्म नामक आवक ने
आकर शिवकुमार से कहा । वे सप्त स्थान कौन हैं यदि यह आनना
चाहते हो तो उसका उत्तर इस प्रकार है—

सञ्जाति—सञ्जाति, सद्गृहस्थ्य, परिवार्य, सुरेन्द्रता, साम्राज्य,
उस्कुष्ट आहृत्य पद और निवण में सात परम स्थान हैं ।
दृढधर्म आवक ने शिवकुमार से कहा था कि हे कुमार ! तुम्हारे

कारण स्वपरधातका बत्तेते । तेन त्वं भावसंयमसंवितमहस्या तव प्रासुकालनं संपाद्य पर्याप्तसनभृं कुर्वे । बन्धुविषयोगं विना संयमे प्रवृत्तिस्तवापि दुर्लभेति हितं वचनं चगावच । सोऽपि तद्विदित्वा आचाम्लनिविकृतिरसरहितभोजनः सन् विष्वस्त्रीसञ्जितौ स्थित्वापि सदा विकाररहितमनाः स्त्रियास्तुणाय मन्यमानः खङ्गसीषणघारायां संवर्तमानो द्वादशसंवर्तसरांस्तपः कृत्वा संन्यासं गृहीत्वा जीवितान्ते ब्रह्मेन्द्रनामिन कल्पे विद्युन्माली देहदीप्तिव्याप्तदिवतटो देवो बभूव । विद्युन्मालिन एवाष्टदेव्योऽवागत्य जम्बूनाम्नः तत्र चतुर्ओ भार्याः पद्मकनकविनयरूपश्चियो भूत्वा निजमर्त्ती सह दीक्षित्वा अच्युतकल्पं गत्वा स्त्रीलिङ्गाच्युता देवा भूत्वा पश्चादत्रागत्य मोक्षं यास्यन्ति । सागरदत्तनामा स्वर्गं गत्वा त्रागत्य निर्बाणं यास्यति । इति जम्बूस्वामि-शरित्रं शुद्धवा श्रेणिको जहर्ष ।

इति श्रीभावप्राभूते विवकुमारकथा समाप्ता ।

धरके लोग तुम्हारे शाश्वत हैं, पापके कारण हैं तथा स्वपरका धात करने वाले हैं । इसलिये तुम भाव संयमका धात किये विना प्रवृत्ति करो अथवा संयम धारण करने का जैसा तुम्हारा भाव है उसके अनुसार प्रवृत्ति करो, मैं प्रासुक आहार देकर तुम्हारी सेवा करता हूँ । धरके लोगोंको छोड़े विना संयम में तुम्हारी भी प्रवृत्ति दुर्लभ है, इस प्रकारके हितकारी वचन कहे । विवकुमार ने भी यह जान कर आचाम्ल, निविकृति तथा नीरस भोजन का नियम ले लिया । वह सुन्दर स्त्रियोंके पास रह कर भी सदा निविकार चित्त रहता था और स्त्रियोंके तृण के समान तुच्छ मानता हुआ खङ्ग तीक्ष्ण धारा व्रतका लगातार बारह वर्ष तक पालन करता रहा । अन्त मैं संन्यास धारण कर ब्रह्मेन्द्र नामक स्वर्ग में शरीर की प्रभासे दिशाओं को व्याप्त करता हुआ विद्युन्माली नामक देव हुआ । विद्युन्माली देवकी जो आठ देवियाँ थीं उनमें चार देवियाँ जम्बूकुमार की पश्चिमी, कनकश्री, विनयश्री और रूपश्री नामकी स्त्रियाँ होकर अपने पतिके साथ दीक्षा लेवेंगी और अच्युत स्वर्ग जाकर स्त्री लिङ्ग छेद देव होंगी वीछे यहाँ आकर मोक्ष जावेंगी । सागरदत्त नामक मुनि पहले स्वर्ग जावेंगे फिर यहाँ आकर निर्बाण को प्राप्त होंगे ।

इस प्रकार जम्बूस्वामीका चारित्र सुनकर राजा श्रेणिक हृषित हुआ । इस तरह भावप्राभूत में विवकुमार की कथा समाप्त हुई ।

अंगाहं दस य दुर्जिण य चउदसपुव्वाहं सयलसुयणाणं ।
पदिओ अ भव्यसेणो ण भावसवणत्तणं पत्तो ॥५२॥
अङ्गानि दश च द्वे च चतुर्दशपूर्वाणि सकलश्रुतज्ञानम् ।
पठितश्च भव्यसेनः न भावश्रमणत्वं प्राप्तः ॥५२॥

(अंगाहं दस दुर्जिण य) अंगानि दश च द्वे च अंगे । (चउदसपुव्वाहं) चतुर्दशपूर्वाणि (सयलसुयणाणं) सकलश्रुतज्ञानं । (पदिओ अ) पठितश्च । (भव्यसेणो) भव्यसेननामा मुनिः । (ण भावसवणत्तणं पत्तो) भावश्रमणत्वं न प्राप्तः । जीनसम्यक्त्वं विनामन्तसंगारी बभूवेति भावार्थः । अत्र भव्यसेनो मुनिरेकादशाङ्गानि । शब्दतोऽर्थतश्च पठितस्तद्वलेनेव द्वादशस्याङ्गस्य चतुर्दशपूर्वाणां चार्थपरिक्षायत्वात् श्री कुन्द्मुनिराचार्येण सकलश्रुतेष्वीर्म प्रोक्तमिति ज्ञातव्यं सकलश्रुते-

गायार्थ—भव्यसेन मुनिने बारह अङ्ग तथा चौदह पूर्व रूप समस्त श्रुतज्ञान को पढ़ा फिर भी वह भाव श्रमण अवस्था को प्राप्त नहीं हो सका ॥५२॥

विशेषार्थ—भव्यसेन नामक मुनि, द्वादशाङ्ग तथा चतुर्दश पूर्व रूप सकल श्रुतका पाठी होने पर भी भाव-मुनि नहीं हो सका अर्थात् जीन सम्यक्त्व के विनामन्त संसार का पात्र रहा । यही भव्यसेन मुनि ने बारह अङ्गोंको तो शब्द तथा अर्थ दोनों रूपसे पढ़ा था और चौदह पूर्वों को वह अर्थ मात्रसे जानता था इसी दृष्टिसे कुन्दकुन्द स्वामी ने उसे सकल श्रुतका पाठी कह दिया है, ऐसा जानना चाहिये । क्योंकि समस्त श्रुतको पढ़ने वाला पुरुष संसार में नहीं पड़ता, ऐसा आगमका वचन है । भव्यसेनकी कथा इस प्रकार है—

भव्यसेन की कथा

विजयार्थ पर्वत की दक्षिण श्रेणीमें मेघ-कूटपत्तन नामका नगर है उसमें सुमति महादेवीका पति चन्द्रप्रभ नामका राजा रहता था । वह चन्द्रशेखर नामक पुत्रके लिये राज्य देकर परोपकार के अर्थ तथा जिनदेव और जिन मुनियों की वन्दना एवं भक्तिके अभिप्राय से कुछ विद्याओंको धरता हुआ दक्षिण मधुरामें आकर मुनि गुप्ताचार्यके समीप क्षुल्लक हो गया । वह एक समय जिन मुनियोंकी वन्दना और भक्तिके लिये उत्तर मधुरा की ओर जाने लगे । चलते समय उन्होंने श्रीमुनि गुप्त आचार्यसे पूछा कि किससे क्या कहना है ? गुप्तमुनिराज ने कहा कि सुखत मुनिके

अधीती संसारे न पततीरथागमः । भव्यसेनस्य कथा यथा—विजयाद्विग्निरौ
दक्षिणश्रेणी मेषकूटपत्तने राजा चक्रप्रभः सुमतिमहादेवीकान्तकचन्द्रशेखराय राज्य
दस्या परोपकारार्थं जिनमुनिवन्दनाभक्त्यर्थं च कांश्चन विद्या दधानो दक्षिणमषु-
रामागत्य मृनिगुप्ताचार्यसमीपे क्षुल्लको जातः । स एकदा जिनमुनिवन्दनाभक्त्यर्थ-
मृत्सरमयुरां चलितः सन् श्रीमुनिगुप्तमाचार्यं प्रपञ्चे कि कस्य कष्ट्यस्त इति । गुप्त
उथाप—सुब्रतमुनेनमोऽस्तु वहणमहाराजमहादेव्या रेवत्या धर्मवृद्धिरिति वक्तव्यं
त्वया । एवं श्रीन् बारान् पृष्ठो मृनिस्तदेवोवाच शुल्लकः स्वगतं एकादशाङ्क-
शारिणी भव्यसेनाचार्यस्यान्येषां च नामापि भगवान् नादत्तं तत्र प्रत्ययेन भवि-
तव्यमिति विचार्यं तत्र गतः । सुब्रतमुनेभूत्तरकीर्णा वन्दनां कथमित्वा तदीर्थं
विशिष्टं वात्सल्यं च दृष्ट्वा भव्यसेनवसर्ति जगाम । तत्र भव्यसेनेन संभाषणमपि
न कृतं । कृपिण्डकां गृहीत्वा भव्यसेनेन सह बहिर्भूमि गत्वा विकुवणां कृत्वा हरित-
कोमलतुणां कुरच्छन्नो मार्गो दर्शितः । ते मार्गे दृष्ट्वा भव्यसेन आगमे किलते

लिये नमोस्तु और महाराज वहणकी महादेवो रेवतीसे धर्मवृद्धि कहना ।
इस सरह क्षुल्लकने तीन बार पूछा और मुनि ने तीन ही बार वही उत्तर
दिया । क्षुल्लकने अपने मनमें विचार किया कि यदा रहु धर्मः परो नभ्य-
सेनाचार्यं तथा अन्य मुनियोंका भगवान् नाम भी नहीं लेते हैं उसमें कुछ
कारण अवश्य होना चाहिये ऐसा विचार कर वे चले गये । सुब्रत मुनिके
लिये भगवान् मुनि गुप्ताचार्य की वन्दना कह कर तथा उनका विशिष्ट
वात्सल्य देखकर क्षुल्लक भव्यसेन की वसतिका को गये । वही भव्यसेन ने
उनके साथ संभाषण भी नहीं किया । क्षुल्लक कमण्डलु लेकर भव्यसेन के
साथ बाह्यभूमि में गये और बिक्रिया कर उन्होंने हरे कोमल तृण कुरोंसे
आच्छादित मार्ग दिखाया । उस मार्गको देखकर भव्यसेन आगम में ये
जीव कहे जाते हैं, ऐसा कह आगममें अश्रद्धा करता हुआ तृणोंके ऊपर
चलने लगा । जब भव्यसेन शौचके लिये गया तब क्षुल्लक ने कमण्डलुका
जल सुखा कर कहा—भगवन् ! कमण्डलु में पानी नहीं है तथा पासमें
कहीं ईट आदि पदार्थ भी नहीं देख रहा है अतः इस निमल सरोवर में
मिट्टीसे शुद्धि कर लीजिये । तदनन्तर वही भी उसने 'तथास्तु' कह कर
शुद्धि कर ली । इन सब घटनाओंसे क्षुल्लकने द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि जान-
कर भव्यसेनका 'यह तो अभव्यसेन है' इसप्रकार दूसरा नाम रख दिया ।
उदनन्तर किसी दिन उस क्षुल्लक ने पूर्व दिशा में बह्याका रूप दिखाया ।
उस समय वह पश्चासन से बैठा था, चारों दिशाओंमें उसके चार मुख

बीवा: कथ्यन्ते इति भणित्वा आगमेऽर्थच्च कृत्वा तुणानामुपरि गतः । शौचसमये कुण्डिकाजलं शोषयित्वा क्षुल्लक उवाच—भगवन् ! कुण्डिकायामुदकं नास्ति तथा विकृती वेष्टिकादिकाः क्वापि नाहमीक्षे । अतोऽन् निर्मलसरोबरे मृत्सनया शौचं कुर्य ततस्तत्रापि तथैव भणित्वा शौचं चकार । ततस्तं मिष्यादुष्टि इव्यलिगिनं ज्ञात्वा भव्यसेनस्याभव्यसेनीज्यमिति नामान्तरं चकार । ततोऽन्यदिने पूर्वस्था दिशि पश्यासनस्थं चतुर्वर्णशुप्तोतदर्भमुंजीदण्डकमण्डलुप्रभृतिसहितं देवदानववन्द्यमानं ब्रह्म-रूपं दर्शयामास । तत्र राजादयो भव्यसेनादयहच गताः । रेवती कोऽयं ब्रह्मनाम देव इति भणित्वा लोकैः प्रेरितः इति न गता । इन्द्रियम् एकिगत्य दिशि गरुडास्यं चतुर्भुजं चक्रवर्णगदादिधारकं वासुदेवरूपं दर्शयामास । पश्चिमदिशि वृषभारुदं सार्घ्यचन्द्रजटाजूटगोरीगणोपेत शंकररूपं, उत्तरस्यां दिशि समवसरणमध्ये प्रातिहार्याष्टकमहितं सुरनरविद्याष्वरमुनिवृद्वन्द्यमानं पर्यक्तस्थं तीर्थकररूपं दर्शयति स्म । तत्र सर्वे लोका गच्छन्ति स्म । रेवती तु लोकैः प्रेयंसाणापि न गता । तथैव वासुदेवः, एकादशीव रुद्रा, चतुर्विशतिरेव तीर्थकरा जिनागमे प्रतिषादितास्ते तु सर्वेऽन्यतीताः । कोऽयम् मायावो वर्तते इति विचिन्त्य स्थिता । ब्रह्मा तु कोऽपि नास्ति । उक्तं च—

दिखाई देते थे, यज्ञोपवीत दर्भं, मूँज, दण्ड तथा कमण्डलु आदिसे सहित था, और देव दानवोंके द्वारा बन्दनीय था । राजा आदि तथा भव्यसेन आदि सब लोग वहाँ गये । परन्तु रेवती रानी 'यह ब्रह्मा नामका कौन देव हैं, ऐसा कहकर लोगोंके द्वारा प्रेरित होने पर भी नहीं गई । दूसरे दिन क्षुल्लकने दक्षिणमें नारायणका रूप दिखाया । वह नारायण गरुड़ पर बैठा था, उसके चार भुजाएँ थीं और चक्र, धन्ति तथा, गदा आदिका धारक था । इसी प्रकार एक दिन पश्चिम दिशामें वृषभ पर बैठे, अर्धचन्द्र, जटाजूट पार्वती तथा गणों सहित शङ्कुर का रूप दिखाया तथा एक दिन उत्तर दिशा में समवसरण के बीच आठ प्रातिहार्यों से सहित, सुर, नर, विद्याष्वर और मुनियोंके समूह से बन्दनीय पश्यासन से स्थित तीर्थकर का रूप दिखाया । वहाँ भी सब लोग गये परन्तु रेवती रानी लोगोंके द्वारा प्रेरित होनेपर भी नहीं गई । वह यह सोच कर अपने घर स्थित रही कि नारायण नौ हो होते हैं, रुद्र ग्यारह ही होते हैं और तीर्थकर औबीस ही जिनागम में बतलाये गये हैं तथा वे सब हो चुके हैं यह कोई मरावी है । और ब्रह्मा नामक कोई देवता तो है ही नहीं क्योंकि कहा है—

आत्मनि घोषे जाने वृत्ते ताते च भरतराजस्य ।

ब्रह्मेति गीः प्रगीता न भावरा विद्वत्सं भ्रह्मा ॥१॥

अथस्मिन् दिने चर्यविलायां व्याख्यिपीडितशुल्लकरूपेण रेवतीगृहसमीपत्रतोली-
मार्गे मायामूर्छ्या पतितः । रेवती तदाकर्ण्य मक्त्योत्थाप्य नीत्वोपचारं कृत्वा
पद्धयं विधापयितुमारेते । स च सर्वमाहारं भुक्त्वा दुर्गन्धिवग्नं चकार तदपनीय
हा । विरूपकं पञ्चं भवा दत्तमिति रेवतीवचनमाकर्ण्य प्रतोषान्मायामुपसंहृत्य तां
देवीं बन्धित्वा गुरोराशीर्दीपूर्वजृतान्तं च कथयित्वा लोकमध्ये तस्या अमूहदृष्टि-
मुख्यैः प्रशस्य स्वस्थानं चन्द्रप्रभा जगाम । वृहणमहाराजस्तु शिवकीत्येन निजपु-
त्राय राज्यं दत्त्वा दीक्षामादाय महेन्द्रकल्पे देवी बभूव । रेवती तु तपः कृत्वा
नह्यकल्पे देवी बभूव ।

इति श्री भावप्राभृते भवत्येतमुनिकथा समाप्ता ।

तुसमासं घोसंतो भावविशुद्धो महाणुभावो य ।

णामेण य सिवभूई केवलज्ञानी फुड जाओ ॥५३॥

तुषमाषं घोषयन् मावविशुद्धो महानुभावश्च ।

नाम्ना च शिवभूतिः केवलज्ञानी स्फुटं जातः ॥ ५३ ॥

आत्मनि—ब्रह्मा इस प्रकार का शब्द आत्मामें, जान में, चारित्रमें
तथा भरतके पिता भगवान् वृषभदेवमें प्रसिद्ध है और कोई दूसरा नहीं है ।

दूसरे दिन वह क्षुल्लक चयकि समय एक बीमार क्षुल्लक के वेषमें
रेवती के घर के सभीप निकला और गोपुरके मार्गमें माया-मधी मूर्छिये
गिर पड़ा । यह सुन रेवती रानी भक्ति से दोड़ी गई और उठाकर तथा
सेवा सुशूषा कर पथ्य कराने के लिये तत्पर हुई । क्षुल्लक ने सब प्रकार
का आहार कर दुर्गन्धित वमन कर दिया । उस वमन को दूर कर रेवती
कहने लगी हाय ! मुझसे कोई अयोग्य पथ्य दिया गया है । रेवती के वचन
सुन संतोषसे मायाको संकोच कर चन्द्रप्रभ क्षुल्लक ने देवीकी बन्दना की
तथा गुरुका आशीर्वाद और पूर्व वृत्तान्त कह कर लोगोंके मध्य उसके
अमूहदृष्टि अङ्ग को खूब प्रशंसा को । तदनन्तर वह अपने स्थान पर
चला गया । वृहण महाराज शिवकीति नामक निज पुत्रके लिये राज्य
देकर दीक्षा धारण कर महेन्द्र स्वगं में देव हुए और रेवतो रानी तप कर
ब्रह्मस्वर्ग में देव हुई ।

इस प्रकार श्री भावप्राभृत में भवत्येतमुनिकी कथा समाप्त हुई ।

गावर्ण—भावसे विशुद्ध शिवभूति सुनि, तुषमाष शब्द का बार बार-

(तुष्मासं घोरतो) तुष्माषशब्दं घोरयन् पुनः पुनरुच्चारयन् मा विस्मृति
पासीविति कारणात् । (भावविसुद्धो) भावविशुद्धः । (महाणुभावो य) महा-
नुभावश्च महाप्रभावयुक्तश्च । (जामेण य सिद्धभूई) नाम्ना च शिवभूतिः चकारा-
दर्थेन च शिवभूतिः शिवानां सिद्धानां भुतिरैवर्यं अनन्तचतुष्टयलक्षणं श्रैलोक्य-
नायकत्वं यस्य स अवति शिवभूतिः । (केवलणाणो फुह जाओ) केवलज्ञानी केवल-
ज्ञानवान् लोकप्रकाशकर्त्त्वमज्ञानवान् स्फुर्तं शक्रादिदेवैः प्रकटीकृतधातिकथजाति-
शयदशकः सर्वप्रसिद्धः संज्ञात् इति । उत्तमं वर्णनं गृहीत्वा भूतिर्विवरणं
सन्नभव्यजीवः परमवैराग्यवान् कस्यचिद्गुरोः पादमूले दीक्षा गृहीत्वा महातप-
श्चरणं करोति षट् प्रवचनमावामात्रं जानाति परं बेद्यव्यं किमपि तस्य नास्ति ।

उच्चारण करते हुए महा प्रभावके धारक केवल-ज्ञानी हो गये, यह सर्व
प्रकट है ॥ ५३ ॥

विशेषार्थ—भूल न जाऊ इस भावना से तुष्माष शब्द का बार बार
उच्चारण करते, भाव से विशुद्ध और महा प्रभाव से युक्त शिवभूति
नामक मुनि केवल ज्ञानी हो गये लोकालोक को प्रकाशित करने वाले
पञ्चम ज्ञानसे युक्त हो गये, यह सर्व प्रकट है । इन्द्रादिदेवोंने आत्मा
कर्मके क्षयसे होने वाले उनके दश अतिशय प्रकट किये । इस तरह वे सर्व
प्रसिद्ध हो गये । गाथा में जामेण य (नाम्ना च) यही नाम के साथ च
शब्दका भी प्रयोग हुआ है । उससे यह सिद्ध होता है कि वे मुनि नामसे ही
शिवभूति नहीं किन्तु अर्थ से भी शिवभूति थे । शिव अर्थात् सिद्धोंकी भूति
अर्थात् अनन्त चतुष्टय रूप अथवा श्रैलोक्याधिपति रूप ऐश्वर्य जिनके
पास है वे शिवभूति कहलाते थे । यह शिवभूति शब्दकी सार्थकता है ।
इनकी कथा इस प्रकार है—

शिवभूति मुनि की कथा

कोई एक शिवभूति नाम के अत्यन्त निकट-भव्य जीव थे । परम
वैराग्य से युक्त होकर उन्होंने किसी गुरुके पादमूल में दीक्षा ले ली और
घोर तपश्चरण करने ली । वे शास्त्रके सिर्फ 'तुष्माष भिन्न' इन छह
अक्षरोंको जानते थे । इससे अधिक कुछ भी पाण्डित्य उनमें नहीं था । वे
आत्माको शरीर तथा कर्मके समूहसे भिन्न जानते थे । उन्हें आगमका
यह वाक्य नहीं आता था, भाव गुरुके छारा कहे हुए इस दृष्टान्त को कि

आत्मानं शरीरकर्मचयादभिन्नं जानति । तदग्रन्थं नायाति गुहणा प्रोक्तं दृष्टान्तं पुनः पुनस्तीक्षणीकरोति तुषान्मात्रो भिन्नं इति यथा तथा शरीरादात्मा भिन्नं हति । तं शब्दं घोषयन्नपि कदाचिद्दिस्मृतवान् । अर्थं जलननपि शब्दं न जानाति । एकाकी विरहति च । शब्दवित्त्वरणक्लेशावतीं कांचित्त्रिवति वदकादिकपथनार्थं मात्रान् सूरीकृतान् जलमध्येष्ठावितास्तुषेष्यो भिन्नान् कुर्वन्तीं दृष्टवा पृष्टवान् किं कुरुषे भवति ! इति । सा प्राह—तुपमापान् भिन्नान् करोमि । स आह—भया प्राप्तमिति कवचिद्गतः । तावन्मात्रद्रव्यभावशुतेनलमन्यकलोलीभावं प्राप्तैऽन्त-भूत्तेन केवलज्ञानं प्राप्य नक्तकेवलविधमान् देशान् विहृत्य भव्यजीवानां मोक्षमार्गं प्रदर्शयं मोक्षं गत इति ।

इति श्रीभावप्राभृते शिवभूतिसुन्यपञ्चानं समाप्तं ।

भावेण होइ णगो बाहिरलिगेण कि च नगेण ।

कर्मपथडीण णियरं णासइ भावेण दब्देण ॥ १४॥

भावेन भवति नग्नः बहिरलिगेन कि च नगेन ।

. कर्मप्रकृतीनां निकरं नश्यति भावेन द्रव्येण ॥ १४ ॥

जिस प्रकार तुष से माष उड़द भिन्न है, उसी प्रकार शरीर से आत्मा भिन्न है, बार बार उच्चारण कर पवका करते रहते थे । उस शब्दका उच्चारण करते रहने पर भी वे कदाचित् उसे भूल गये । अब वे अर्थको तो जानते थे परन्तु शब्द नहीं जानते थे । अकेले ही विहार करते थे इसलिये (किसी से पूछनेका अद्वार भी नहीं मिलता था) । शब्द के भूल जाने का क्लेश उन्हें बार बार उठा करता था । उन्होंने एक बार किसी स्त्री को बड़े आदि बनाने के लिये दाल रूप परिणत उड़दों को पानी के मध्य छुबाकर तुषों से पृष्टक् करती हुई देखा और देखकर पूछा कि आप यह क्या कर रही है ? उस स्त्री ने उत्तर दिया कि मैं तुषों और उड़दोंको अंलग अलग कर रही हूँ । मुनि बोले कि मैंने 'पा लिया' । इतना कह कर वे कहीं जले गये । उतने मात्र द्रव्य और भाव श्रुतज्ञानके द्वारा वे आत्मा में इतनी तल्लीनता को प्राप्त हुए कि अन्तमूर्हूतमें केवल-ज्ञान को प्राप्त कर नी केवल लविधयों से युक्त हो गये तथा देशों में विहार कर भव्य जीवोंको मोक्षमार्ग दिखलाते हुए मोक्ष गये ।

इस प्रकार श्रीभावप्राभृत में शिवभूति मुनिको कथा समाप्त हुई ।

गाथार्थ—भावसे नग्न होता है बाह्य लिङ्ग रूप नग्न वेषसे क्या साध्य है ? अर्थात् कुछ नहीं भावसहित द्रव्यलिङ्ग के द्वारा ही कर्मप्रकृतियोंका समूह नष्ट होता है ॥ १४ ॥

(भावेण) जिनराजसम्प्रक्षेत्रे । (होइ पर्णो) भवति नग्नो निर्यन्ध-
स्वरूपः । (बाहिरलिङ्गेण कि च नरेण) बहिरलिङ्गेन कि च बाह्यतरनतया न
किमभि देवलक्षणं कर्ते द्विष्टदिव्यपूरुषादिभिः । (कर्मपद्धीय णिमर) कर्म-
प्रकृतीनां निकरं समूहः अष्टचत्वारिंशद्विकशसंख्यानां दृन्दं (णासइ भावेण
दब्बेण) नश्यति भावेन दब्बेण चेति । ये मिथ्यादृष्टयो गृहस्था अपि सन्तोऽस्माकं
भावो विद्यते इति बदन्ति स्त्रीभिः सह ब्रह्मचर्यं च भजन्ति ते 'लौकाचावकि-
सदृका नास्तिकास्तमतनिरालार्थमिदं वचनमुक्तं श्रीकुन्दकुन्दाचार्यस्वामिभिः
(णासइ भावेण दब्बेण) भावेण—कर्मशयो भवति भावपूर्वकद्वयलिङ्गेन गृहीतेन
दास्यां भावद्वयलिङ्गाभ्यां कर्मप्रकृतिनिकरो नश्यति न रवेकेन भावमात्रेण द्वय-
भात्रेण वा कर्मक्षयो भवति । इति व्याख्यानबलेन ते नास्तिका पूर्वविद्युत्तीया
इति भावार्थः ।

णरगत्तणं अकज्जं भावणरहियं जिणेहि पञ्चत्तं ।

इय णाऊण य णिल्लं भाविजजहि अप्ययं धीर ॥५५॥

नग्नत्वं अकार्यं भावरहितं जिनेः प्रजपत्तम् ।

इति जात्वा च नित्यं भावयेः आत्मानं धीर ॥५५॥

विशेषार्थ—भाव अर्थात् जिन सम्प्रक्षत्व से ही निर्यन्ध रूप प्राप्त
होता है । पशुओं के समान केवल बाह्यलिङ्ग रूप नग्न मुद्रा धारण
करनेसे मोक्ष रूप कार्य सिद्ध नहीं होता कर्मोंकी एकसौ अड़तालींस प्रकृ-
तियोंका समूह भाव और दब्ब दोनों लिङ्गोंके धारण करनेसे ही नष्ट होता
है । जो मिथ्यादृष्टि गृहस्थ होते हुए भी कहते हैं कि हमारे मुनिका भाव
विद्यमान है, तथा स्त्रियोंके साथ रहते हुए ब्रह्मचर्य का सेवन करते हैं के
लोक लोग चावकोंके समान नास्तिक हैं उनके मतका निराकरण करनेके
लिये श्रीकुन्दकुन्दाचार्य स्वामी ने यह वचन कहा है 'णासइ भावेण दब्बेण'
अर्थात् भावपूर्वक द्वयलिङ्ग के ग्रहण करने में ही कर्म प्रकृतियों का
समूह नष्ट होता है, केवल भावसे अथवा केवल दब्बसे नष्ट नहीं
होता । इस व्याख्या के बलसे वे नास्तिक पहले की तरह शिक्षा देने
योग्य हैं ॥ ५४ ॥

गायार्थ—जिनेत्र भगवान् ने भाव रहित नग्नत्वको अकार्य—कार्य-
रहित कहा है ऐसा जान कर हे धीर पुरुष ! निरन्तर आत्मा की भावना
करता चाहिये ॥ ५५ ॥

(यमगत्तणं मकज्जर्ण) नमनस्वं सर्वभाष्यपरिप्रहरहितत्वं मकायं सर्वकर्मकाय-
लक्षणमोक्षकार्यरहितं । कर्यभूतं नमनत्वं, (भावणरहियं जिणेहि पण्णते) भाव-
नारहितं पंचपरमेष्ठिभाष्यभावनारहितं निजशुद्धबुद्धेकस्वभावात्मान्तरञ्जभावनारहितं
च जिनैस्तीयंकरपरमदेवरनगारकेकलिभिर्णाम्बद्धरदेवैष्टच प्रक्षप्तं प्रणीतं प्रतिपादितं
कथितं भणितमिति यावत् । (इय णाऊण य णिच्चन्च) इति ज्ञात्वा विज्ञाप नित्यं
सर्वकालं । (भाविज्जहि अप्ययं धीर) भावयेत्तर्व आत्मानं बहिस्तत्वं च हे
धीर ! योगीश्वर ! इति सम्बोधनपदेन घ्येयं प्रति धिय मीरन्ति द्वेरयन्ति इति
धीरा योगीश्वरा एव ग्राहा न तु गृहस्थवेषषारिणः १पापिष्ठलौका २गृहस्थानां
सम्यक्त्वपूर्वकमणुप्रसेषु दानपूजादिलक्षणेषु गुरुणां ३वैयाकृत्यफलेषु नियोगो ज्ञातव्य
इति । उदा चोक्तं लक्ष्मीचन्द्रेण गुरुणा—

३विज्ञावच्छें विरहियहं वय णियरो वि ण ठाइ ।

सुखक सरहु छिह हंस फुलु जंतु धरणहं जाइ ॥

विज्ञावच्छें—पंचपरमेष्ठियोंकी बाष्य भावना से रहित तथा शुद्ध-
बुद्ध-वीतराग सर्वज्ञता रूप एक स्वभावसे युक्त निज आत्माकी अन्तरञ्ज
भावनासे रहित जो नमनता है अर्थात् सर्व बाष्य परिप्रहर से रहित व्यवस्था
है वह सब कर्म क्षय रूप मोक्ष कार्यसे रहित है । ऐसा तीर्थकर परम देवने,
अनगार केवलियों ने अद्यता गणधर देवों ने कहा है । ऐसा जातकर हे
धीर ! हे योगीश्वर ! तु आत्मा तथा बाष्य तत्त्वकी भावना कर । यहाँ
आचार्य महाराज ने जो 'धोर' यह सम्बोधन पद दिया है उससे घ्येय के
प्रति बुद्धिको प्रेरित करने वाले मुनियोंका ही प्रहण करना चाहिये ।
गृहस्थ वेषको धारण करने वाले पापो लौकों का नहीं । दान पूजा वादि
जिनके लक्षण हैं तथा गुरुओं की वैयाकृत्य जिनका फल है ऐसे सम्यक्त्व-
पूर्वक अणुद्रत धारण करना गृहस्थों का कार्य जानना चाहिये । जैसा कि
लक्ष्मोचन्त्र गुरुने कहा है—

वैयाकृत्यें—ओ पुर्ख वैयाकृत्य से रहित हैं उनके द्वारोंका समूह
नहीं ठहरता, सो ठीक हो है क्योंकि सूक्ष्म सरोकरसे जाता हुआ हसोंका
कुल किस प्रकार रोका जा सकता है ?

१. लौका: क० ।

२. वैयाकृत्यसकालेषु भ० ।

३. वावय वस्य दोहा ।

तं भावलिंगं केरिसं हवदि तं जहा—

तदभावलिंगं कीदृक् भवति तद्यथा—तदेव निरूपयन्ति भगवत्तः—

देहादिसंगरहिओ माणकसाएहि सयलपरिचत्तो ।

अथा अपमिम रओ स भावलिंगी हवे साधु ॥५६॥

देहादिसंगरहितः मानकषायैः सकलपरित्यतः ।

आत्मा आत्मनि रतः स भावलिङ्गी भवेत् साधुः ॥ ५६ ॥

(देहादिसंगरहिओ) देहः शरीरं स आदिर्येषां पुस्तककमण्डलुपिच्छाटृशिष्य-
शिष्याणांश्रादीनां कर्मनोकर्मद्वयकर्मभावकमादीनां संगानां चेतनाचेतनश्चहिरंगान्तरंग-
परिग्रहाणां ते देहादिसंगा । अथवाऽज्ञमभाषया—

क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं द्विषदं च चतुष्पदं ।

हिरण्यं च सुवर्णं च कुप्यं भांवं बहिर्दण ॥ १ ॥

मिथ्यात्ववेदहास्यादिषद् कषायचतुष्टये ।

रागद्वेषी च संगास्त्वरत्नरक्षास्त्रवृद्धश ॥ २ ॥

इति श्लोकद्वयकमितकमेण चतुर्विषातिपरिग्रहास्तेभ्यो रहितो देहादिसंगरहितः ।

वह भावलिङ्ग कैसा होता है ? यही श्री कुन्दकुन्द भगवान निरूपण
करते हैं—

गाथार्थ—जो शरीर आदि परिग्रह से रहित है, मान कषायसे पूर्ण-
तया निर्भूत है तथा जिसकी आत्मा आत्मस्वरूपमें लीन है वह साधु
भावलिङ्गी होता है ॥ ५६ ॥

विशेषार्थ—देह शरीरको कहते हैं उसे आदि लेकर पुस्तक कमण्डलु
पिच्छी पटट शिष्य, शिष्या तथा छात्र आदि, अथवा कर्म, नोकर्म, द्रव्य-
कर्म, भावकर्म आदि अथवा चेतन अचेतन बहिरङ्ग परिग्रह ये सब देहादि-
संग कहलाते हैं । अथवा आगमकी भाषासे—

क्षेत्रं वास्तु—खेत, मकान, धन, धान्य, द्विषद—दासी दास, चतुष्पद-
गाय भैंस घाड़े आदि पशु, चाँदी, सुवर्ण, वस्त्र तथा वर्तन ये दश बाह्य
परिग्रह हैं ।

मिथ्यात्व—मिथ्यात्व, वेद, हास्यादि इनोकषाय, चार कषाय, राग
और द्रेष ये चौदह अन्तरङ्ग परिग्रह हैं ।

जो मुनि पूर्वोक्त दोनों श्लोकों में कहे गये औष्ठीस प्रकार के परिग्रहसे
दूर रहता है उसे देहादि संग-रहित बतलाया गया है । इसके सिवाय जो

(भाणकसाएहि सयल्परिचत्तो) भानकथायैः सकलपरित्यनः भनोवधनकार्यं रहितः । (अप्या अप्यन्मि रथो) आत्मा आत्मनि रथः । य एव विषः (स भावलिंगीहृचे साहू) स साधुभविलिंगी भवेत् ।

ममर्त्ति परिवज्जामि निम्ममत्तिमुद्दिश्वो ।

आलंबणं च मे आदा अवसेसाङ्गं बोसरे ॥ ५७ ॥

ममत्वं परिवज्जामि निम्ममत्वमुपस्थितः ।

आलम्बनं च मे आत्मा अवशेषाणि व्युत्सृजामि ॥ ५७ ॥

(ममर्त्ति परिवज्जामि) ममर्त्ति ममता ममेदमहमस्येति भावं परिवज्जामि परिहरामि । (निम्ममत्तिमुद्दिश्वो) निम्ममत्तिमुद्दिश्वो भावमुद्दिश्वो चाहितः । (आलंबणं च मे आदा) यद्येवं ममत्वं परिहरसि निषेधं करोषि तर्हि कं विषि श्रवसि "एकस्य निषेधोऽपरस्य विधिः" इति बचनात् द्वयमन्तरि पृष्ठे उत्तरं ददाति आलम्बनं चाथयो मे मम आदा आत्मा किंजशुद्धबुद्धकजीवपदायं इति विधिः ।

सब प्रकारके मान कषायों से मुक्त हो तथा जिसकी आत्मा आत्मा में ही लीन रहो है, वह साधु भावलिङ्गो कहा जाता है ।

[यहाँ अन्य परिप्रहोंके त्यागके साथ शरीर के त्यागका भी उल्लेख किया है सो शरीर वस्त्र आदिके समान सर्वथा भिन्नं परिग्रह तो है नहीं तब इसका त्याग किस प्रकार हो सकता है । इस प्रश्नका उठना स्वाभाविक है परन्तु उसका उत्तर यह है कि शरीरसे ममता भावका छोड़नाही शरीर रूप परिग्रहको त्यागना है ।]

गाथार्थ—मैं निम्मभाव को प्राप्त होकर ममता भावको छोड़ता हूँ । अब चूँकि मेरा आलम्बन मेरो ही आत्मा है अतः अन्य सभस्त भावोंको छोड़ता हूँ ॥ ५७ ॥

विशेषार्थ—'यह मेरा है और मैं इसका हूँ' इस प्रकार के भावको ममत्वं कहते हैं । मैं इस ममत्वं भावको छोड़ता हूँ और निम्ममत्वं भावको प्राप्त होता हूँ । यदि इस प्रकार ममत्वं भावको छोड़ते हो अर्थात् इसका निषेध करते हो तो फिर किस विधिका आश्रय लेते हो क्योंकि 'एक का निषेध होता है और दूसरे को विधि होती है', ऐसा आगम का बचन है ? अतः यहाँ विधि और निषेध दोनों का समन्वय क्या है ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य महाराज उत्तर देते हैं कि मेरा आलम्बन मेरा शुद्ध बुद्ध स्वभाव वाला आत्मा है अर्थात् यह विधि नहीं और जात्मा से अतिरिक्त

(अवसेसाहं बोहरे) अवशेषाणि आत्मम उद्दरितानि रागवेषमोहादीनि अुसूजाभि परिहराभि ।

आदा खु मज्जं णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य ।

आदा पञ्चवल्लाणे आदा मे संबरे जोगे ॥ ५८ ॥

आत्मा खलु मम ताने आत्मा मे दर्शने नरित्ते य ।

आत्मा प्रत्यास्थाने आत्मा मे संबरे योगे ॥ ५८ ॥

(आदा खु मज्जं णाणे) आत्मा निजचैतन्यस्वरूपो जीवपदार्थः खु स्फुटं मम ज्ञाने ज्ञानकार्ये, ज्ञाननिमित्तं ममात्मैव कर्तते नात्यत्किमपि ज्ञानोपकारणादिकं पुस्तकतिट्कादिकमिति भावः । (आदा मे दंसणे चरित्ते य) आत्मा मे दर्शने सम्यक्त्वे सम्यग्दर्शनकार्ये नान्यत्किमपि सीर्थयात्राजिनप्रतिष्ठाशास्त्रशब्दवशब्दनन्दन-स्तवनादिकं हस्यादि सम्यक्त्वोत्पत्तिकारणं । चरित्ते य ममात्मैव-धारित्रकार्ये ममात्मैव वहते न तु नानाविकल्परूपं ब्रह्मसमितिगुप्तिषमानूप्रेक्षापरीष्ठुज्ञायादिकमालवनि-

रागदेष मोह आदिको छोड़ता हूँ, यह निषेध हुआ । परम ऐद-विज्ञान के द्वारा यही निज शुद्ध बुद्ध आत्मा को उपादेय तथा रागादि विकार आवों-को हेय बतलाया है ॥ ५७ ॥

गायार्थ—निष्वय से मेरे ज्ञानमें आत्मा है, सम्यग्दर्शन में आत्मा है, धारित्र में आत्मा है, प्रत्यास्थान में आत्मा है, संबर में आत्मा है और थोग-ध्यान में आत्मा है ॥ ५८ ॥

विशेषार्थ—यही निष्वयनय की अपेक्षा गुण और गुणी का अभेद कथन करते हुए कहा गया है कि ज्ञान गुण में निज चैतन्य स्वरूप मेरा आत्मा ही विद्यमान है । अथवा ज्ञान रूप कार्य की उत्पत्ति में मेरा आत्मा ही निमित्त है, ज्ञानके उपकरणादिक जो पुस्तक तथा पक्षी आदि हैं के कारण नहीं हैं । दर्शन अर्थात् सम्यक्त्व में मेरा आत्मा ही विद्यमान है अथवा सम्यक्त्व रूप कार्य की उत्पत्ति में मेरा आत्मा ही कारण है अन्य तीर्थ-यात्रा, जिन-प्रतिष्ठाता, शास्त्र-शब्दण, वन्दना तथा स्तवन आदि सम्यक्त्व की उत्पत्ति के कारण नहीं हैं । धारित्र में भी मेरा आत्मा ही विद्यमान है अथवा धारित्र रूप कार्य की उत्पत्ति में मेरा आत्मा ही कारण है, अन्य नाना विकल्प रूप ब्रह्म समिति गुप्ति वस्त्र अनुप्रेक्षा और परीष्ठुज्ञायादिक कारण नहीं हैं । आगामी दोषोंका निराकरण करना प्रस्त्यास्थान है । इस प्रस्त्यास्थान में मेरा आत्मा ही विद्यमान है अथवा प्रस्त्यास्थान की उत्पत्ति में मेरा आत्मा ही कारण है, अन्य गुरु शिष्यादि

रीष्मसंवरनिमित्तं । (ब्रह्म पञ्चक्षणे) आत्मामिदोषभिराकरणलक्षणं प्रत्याख्यानं प्रत्याख्याननिमित्तं ममात्मैव वर्तते । (आदा मे संवरो जीते) आत्मा मे भग्न संवरे संवरनिमित्तं कर्मस्त्रिवनिरोषलक्षणसंवरकार्यं ममात्मैव वर्तते । योगध्यानस्य कार्यं भग्नात्मैव वर्तते इति भावः ।

एगो मे सहस्रो अप्या णाणदंसणलक्षणो ।

सेसा मे बाहिरा भावा सब्दे संजोगलक्षणा ॥ ५९ ॥

एको मे शास्त्रत आत्मा ज्ञानदर्शनलक्षणः ।

शेषा मे बाह्या भावाः सर्वे संयोगलक्षणाः ॥ ५९ ॥

(एगो मे सहस्रो अप्या) एको मे शास्त्रत आत्मा अन्यत्सर्वं विज्ञवर-
भित्त्वर्थः । स आत्मा कथंभूतः (णाणदंसणलक्षणो) निष्ठव्येन केवलज्ञानकेवल-
दर्शनलक्षणः, व्यवहारेणापि ज्ञानचतुर्विधदर्शनचिन्हः, मतिश्रूतावधिमनःपर्यय-
केवलानि सम्यग्ज्ञाने पंचविधे कुमतिकुश्रूतविभेगलक्षणं भित्त्यज्ञानं श्रिविधं, इत्यह-

कारण नहीं हैं । आत्मव का निरोध होजाना संवर है । इस संवर में मेरा आत्मा ही विद्यमान है अथवा कर्मस्त्रिवनिरोध लक्षण संवर रूप कार्य में मेरा आत्मा ही कारण है, अन्य पदार्थ नहीं । योग ध्यान को कहते हैं । योग में मेरा आत्मा ही विद्यमान है अथवा योग-ध्यान रूप कार्य में मेरा आत्मा ही कारण है ।

[यहीं पर टीकाकार ने लपादान कारण को अपेक्षा आत्मा को ज्ञान, दर्शन ही चारित्र, प्रत्याख्यान, संवर और योग का कारण कहा है क्योंकि आत्मा ही ज्ञानादि रूप परिणयन करता है । बाह्य कारणों का सर्वथा निषेध नहीं समझना चाहिये क्योंकि व्यवहार नयसे उनकी भी उपयोगिता होती है] ॥ ५९ ॥

गायार्थ—अविनाशी और ज्ञान दर्शन रूप लक्षण से युक्त एक आत्मा ही मेरा है कर्मोंके संयोग से होने वाले अन्य सभी भाव मुझ से बाह्य हैं मेरे नहीं हैं ॥ ५९ ॥

विशेषार्थ—निष्ठ्यनय से केवल ज्ञान और केवल दर्शन लक्षण वाला सथा व्यवहारनय से आठ प्रकार के ज्ञान तथा चार प्रकार के दर्शन रूप लक्षण से युक्त एक अविनश्वर आत्मा ही मेरा है, कर्मोदय से मिले हुए पुनर स्त्री तथा भित्र आदि पदार्थ मेरे नहीं हैं, स्पष्ट ही मुझ से बाह्य भाव हैं । मति, श्रूत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ये पाँच सम्यग्ज्ञान तथा कुमति,

भेदा ज्ञानस्य । चक्षुर्दर्शनमवध्यक्षुर्दर्शनमवधिदर्शनं केवलदर्शनं चेति अतुविधिं इहाँनं, इति हादर्शभेद उपयोगो जीवस्य व्यवहारभूतं लक्षणं । (सेसा मे बाहिरा भावा) शेषा ज्ञानश्चनन्दयाद्वहिभूताः पुञ्चकलन्नमित्रादयः पदार्था जाह्ना भावाः पदार्थी भवन्ति । (सब्दे संजोगलक्षणा) सर्वे संयोगेन कर्मोदयेन मिलिता इत्यर्थः ।

भावेह भावसुदृं अप्या सुविशुद्धिगिम्मलं चेत् ।

लहु अउगद्द चइऊणं जड्ड इच्छहु सासयं सुकर्ण ॥ ६० ॥

भावयत भावशुदृं आत्मानं सुविशुद्धनिर्मलं चेद् ।

लघु चतुर्गति त्यक्त्वा यदि इच्छत शाश्वतं सुखम् ॥ ६० ॥

(भावेह भावसुदृं) भावयत मूर्यं कर्थं ? यथा भवति भावसुदृं-भावशुदृं परिणामस्य निष्कृदिलत्वं मायामित्यानिदानशल्यव्यवहारहितत्वं यथा भवत्येव आत्मानमहंत्सिद्धादिकं च है भव्याः ! भावयत । 'हजित्या मध्यमस्य' इति सूत्रेण स्थाने ह । (अप्या सुविशुद्धनिर्मलं चेत्) आत्मानं सुविशुद्धनिर्मलं चेत् । आत्मानं कथेभूतं, सुविशुद्धनिर्मलं सुष्टु बतिष्पेन विशुद्धं कर्ममलकर्त्तरहितं निर्मलं रागद्वेषमोहसल्लरहितं । (लहु अउगद्द चइऊणं) लघु शीघ्रं चतुर्गति त्यक्त्वा प्रमुच्य । (जड्ड इच्छहु सासयं सुकर्ण) यदि चेत्, इच्छत मूर्यं शाश्वतमविनश्वरं सौख्यं परभानन्दलक्षणमिति ।

कुश्रुत और कुअवधि ये तीन मिथ्याज्ञान इस प्रकार ज्ञान के आठ भेद हैं और चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अदधिदर्शन और केवलदर्शन ये दर्शन के चार भेद हैं । दोनों मिलाकर उपयोग के बारह भेद होते हैं । यह बारह प्रकार का उपयोग जोबका व्यवहार नयाश्रित लक्षण है ॥५८॥

गाथार्थ—हे भुनिवर ! यदि तुम चारों गतियों को छोड़कर अविनाशी सुखकी इच्छा करते हो तो शुद्ध भाव-पूर्वक अत्यन्त विशुद्ध और निर्मल आत्मा का ध्यान करो ॥ ६० ॥

विशेषार्थ—हे भठ्य ! यदि तू लघु अर्थात् शीघ्र ही चतुर्गति से छूट कर शाश्वत अविनश्वर सुख की इच्छा करता है तो भावोंको शुद्ध बनाकर माया मिथ्या और निदान इन तीनों शाल्यों से मुक्त होकर आत्मा का अथवा अहंता सिद्ध अदिका चिन्तन करो । यह अत्यन्त विशुद्ध अर्थात् कर्म मल कलङ्क से रहित तथा रागद्वेष और मोह रूपी मलसे रहित है । 'भावेह' यहाँ पर 'हजित्सा मध्यमस्य, इस सूत्रसे त के स्थानमे 'ह' होमया है ॥ ६० ॥

जो जीवो भावतो जीवसहाव सुभावसंजुत्तो ।

सो जरमरणविणासं कुण्ड फुडं लहुइ णिष्वार्ण ॥६१॥

यो जीवो भावयन् जीवस्वभावं सुभावसंयुक्तः ।

स जरामरणविनाशं करोति स्फुटं लभते निवाणिम् ॥६१॥

(जो जीवो भावतो) यो जीव आसन्नभव्यः भावतो-भावयन् भवति । कं भावयन् भवति (जीवसहावं) जीवस्वभावमात्मस्वरूपं अनन्तज्ञानानन्तदर्शाना-नन्तवीयनिन्तसुखस्वरूपं केवलं केवलज्ञानमयं वा आत्मानं । कथंभूतः सन् । (सुभावसंजुलो) शोभनपरिणामसंयुक्तो रागद्वेषमोहादिविभावपरिणामरहितः । (सो जरमरणविणासं स कुण्ड फुडं) जीवोअतरात्मा ऐद्वानवलेन जरामरणविनाशं करोति पुनर्जराजीर्णो न भवति न च कथ ? मिथ्यसे फुड़स्फुटं निश्चयेन तीर्थकरो भवति । (लहुइ णिष्वार्ण) लभते कि निवाणं सर्वकर्मक्षयलक्षणं मोक्षं अनन्तसुखं प्राप्नोयीत्यर्थः ।

जीवो हितकर्त्त्वो ज्ञानसद्गुणो व श्वेतपात्रस्तुभिः ।

सो जीवो णायको कर्मक्षयकारणगिमितो ॥६२॥

जीवो जिनप्रशप्तः ज्ञानस्वभावश्चेतनासहितः ।

स जीवो ज्ञातव्यः कर्मक्षयकारणनिमित्ते ॥ ६२ ॥

गाथार्थ—जो जीव उत्तम भावों से युक्त होकर आत्मस्वभाव का चिन्तन करता है वह जरा और मरणका नाश करता है तथा स्पष्ट ही निवाणिको प्राप्त होता है ॥ ६१ ॥

विशेषार्थ—जो प्राणी सुभाव—उत्तम परिणामों से युक्त तथा राग-द्वेष मोह आदि विभाव परिणामों से रहित होता हुआ जीवस्वभावका अर्थात् अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य और अनन्त सुख स्वरूप अथवा मात्र केवल ज्ञानमय आत्मा का ध्यान करता है वह अनन्तरात्मा ऐद्वान के बल से जरा और मरण का नाश करता है अर्थात् फिर न जरा से जीर्ण होता है और न मरता है किन्तु निश्चय से तीर्थकर होता है और सर्व कर्म क्षय रूप लक्षण से युक्त एवं अनन्तसुख—सम्पन्न मोक्ष को प्राप्त होता है ॥ ६१ ॥

गाथार्थ—जिनेन्द्र भगवान् ने ज्ञान स्वभाव धाले एवं चेतना से सहित जीवका निरूपण किया है क्षमोका क्षय करनेके स्थिते वह जीव विवरण ही जानने योग्य है ॥ ६२ ॥

(जीवो विशेषज्ञतो) जीव आत्मा जिनप्रकारः श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय १० प्रणीतः कथितः । जो जीव नास्तीति ये चूक्तामनुशिष्या बदन्ति तमसमनेन पदेन निरस्ते भवतीति ज्ञातव्यं । तथा शोक्त—

‘तदर्हजस्तु नेहातो रक्षोषु षट्मैव स्मृतेः ।

‘भूतानम्बयनाम्नीव ग्रहणितः सनातनः ॥ १ ॥

कथं भूतः प्रणीतः, (वाणसहाओ य) ज्ञानस्वभावो ज्ञानस्वरूपः । तथा शोक्त—

विभावसोरिवोष्णत्वं ३करेष्योरिव चापल ।

चाशाङ्कुस्येव शीतत्वं स्वरूपं ज्ञानमात्मनः ॥ १ ॥

विशेषार्थ—श्रीमात्-भगवान्-अहंता-सवंज्ञ जीवतराग देव ने जीव पदार्थ का निरूपण किया है इसलिये ‘जीव नहीं है’ ऐसा जो आवाकि कहते हैं इस पदसे उनके इस मत का निराकरण हो जाता है । ऐसा ही कहा है—

तदर्हज—यह ज्ञान स्वभाव जीव सनातन है—अनादि-सिद्ध है । पृथिवी जल अग्नि और वायु इस भूत चतुष्टय से नवीन उत्पन्न नहीं हुआ है क्योंकि उसी दिन उत्पन्न हुए बालक की स्तन पीने की चेष्टा देखी जाती है यदि जीवको पूर्व भवका संस्कार न होता तो कह एक दिन को अवस्था में ही माता का स्तन न पीता । इसके सिवाय प्रेत पूर्व भव की वार्ता सुनाते देखे जाते हैं और किन्हीं को अपने पूर्व भवोंका स्मरण भी होता देखा जाता है इससे भी सिद्ध होता है कि इस जीव का पूर्व-भवों से सम्बन्ध रहता है, सर्वथा नवीन ही उत्पन्न नहीं होता है । जो जिससे उत्पन्न होता है उसका अन्वय—सम्बन्ध उसके साथ अवश्य रहता है परन्तु भूत—चतुष्टय का जीवके साथ कुछ भी अन्वय नहीं देखा जाता, इससे सिद्ध होता है कि जीवकी उत्पत्ति भूतचतुष्टय से नहीं होती ।

प्रश्न—यह जीव कैसा है ?

उत्तर—यह जीव ज्ञान स्वभाव वाला है, ऐसा ही कहा है—

विभावसो—जिस प्रकार अग्निका स्वरूप उष्णता है, वायुका स्वरूप चपलता है, और चन्द्रमा का स्वरूप शीतलता है उसी प्रकार आत्मा का

१. यशस्विलक्षणे सोमदेवस्य ।

२. प्रबोधरत्नस्त्रिलम्ब्यां जीवः इत्यास्य स्वाते सिद्धः पाठः ।

३. वरेष्यो म० ।

इत्यनेत ये सोऽस्याः कापिलाः सत्कार्यपिरनामानो मिथ्यादृष्टयो वदन्ति जीवः
स्वात् मुक्तः त् वाह्यग्रास्त्ररहितो भवति” तन्मतं निराकृतं भक्तीति वेदितव्यं ।
तथा थोक्तं—

कपिलो यदि वाऽनुति वित्तिभिति सुरगुणीशुक्तेव पतति ।

चेतन्यं वाह्यग्रास्त्ररहितमुण्डोऽपि कस्य वद तत्र विदित ॥१॥

(चेयणासहितो) चेतनासहितः प्रतिपद्विराजमान इत्यनेत लोकायतमते
निरस्तमिति ज्ञातव्यं । एवं गुणविशिष्टेन जीवेन कि कार्यं भवतीति पर्यनुमोगे
सतीदं प्राहुः—(सो जीवो ज्ञातव्यो) स जीवः स आत्मा ज्ञातव्यः । (कर्मसक्षम-
कारणणिमित्ते) कर्मसक्षयकारणनिमित्ते कर्मणा ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयमोहु-
नीयायुनीमित्तोन्तरायाणां समूलकार्यं कर्षणे जीवपदार्थं एव समर्थं हृति ज्ञातव्यं ।
अमन्त्रसौख्यदानहेतुरात्मेति भावः ।

स्वरूप ज्ञान है । इस कथन से सत्कार्यं इस दूसरे नामको बारण करने
बाले मिथ्यादृष्टि सांख्य जो यह कहते हैं कि ‘जीव मुक्त होता हुआ बाह्य
पदार्थों के ग्रहण से रहित हो जाता है’ उसका खण्डन हो जाता है । जैसा
कि कहा है—

कपिलो—यदि सांख्य अचेतन प्रकृति में ही ज्ञानको चाहता है अर्थात्
ज्ञान पुरुष का धर्म न होकर अचेतन प्रकृति का धर्म है, ऐसा मानता है
तो वह चार्वाकि के वचन जाल में ही आ पड़ता है अर्थात् जिस प्रकार
चार्वाकि ज्ञानको अचेतन भूत-चतुर्षट्य का धर्म मानते हैं उसी प्रकार सांख्य
भी ज्ञानको अचेतन प्रकृतिका कार्य मानते हैं, इस तरह सांख्य और
चार्वाकीोंका कहना एक समूक्ष होता है । सांख्य चेतन्य को बाह्य ग्राह्य से
रहित मानते हैं अर्थात् उसे ज्ञेयाकार परिच्छेद से पराङ्-मुख स्वीकार
करते हैं सो ऐसा चेतन्य किसके लिये उपयोगो है तुम्हों कहो ?

प्रश्न—पुनः जीव कैसा है ?

उत्तर—चेतना से सहित है, अर्थात् ज्ञान से शोभायमान है ।

इस कथन से चार्वाकीों के मतका निराकरण होता है । इस प्रकार के
गुणोंसे विशिष्ट जीवके हारा क्या कार्यं होता है ? ऐसा प्रश्न उपस्थित
होनेपर कहते हैं—वह जीव ज्ञातव्य है—ज्ञानने के योग्य है । किस लिये ?
कर्मसक्षय के लिये । क्योंकि ज्ञानावरण दर्शनावरण वेदनीय आयु
नाम गीत्र और अन्तराय इन आठ कर्मोंका समूल कार्य करने में जीव
पदार्थ ही समर्थ है । तात्पर्य यह है कि आत्मा अनन्त सुखको देने-
वाला है ।

जेसि जीवसहावो पात्य अभावो य सब्बहा तत्य ।

ते होंति भिण्डेहा सिद्धा वचिगोपरमतीदा ॥६३॥

येषां जीवस्वभावो नास्ति अभावश्च सर्वथा तत्र ।

ते भवन्ति भिन्नदेहाः सिद्धा वचोगोचरातीताः ॥६३॥

(जेसि जीवसहावो) येषामासन्नभव्यानः जीवस्वभाव आत्मस्वभाव आत्मनोऽस्तित्वमस्ति (पात्य अभावो य सब्बहा तत्य) नास्त्यभावश्च सर्वथा तत्र । तत्रात्मनि अभावश्च नास्ति “अस्त्यात्मानादिनद्वः” इति वचनात् । (ते होंति भिण्डेहा) ते पुरुषा भवन्ति भिन्नदेहाः शरीर रहिताः (सिद्धा वचिगोपरमतीदा) ते पुरुषाः कि भवन्ति सिद्धाः सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिविद्वते येषां ते सिद्धाः प्रकाशिद्वाऽस्त्वप॑ञ्जल्यम् । फर्म भूताः सिद्धाः, वचोगोचरातीता वाचां

गाथार्थ—जिनके जीवका सद्भाव है, उसका सर्वथा अभाव नहीं है, वे ही शरीर से रहित तथा वचन के विषय से अतीत सिद्ध होते हैं ॥६३॥

विशेषार्थ—जिन निकट भव्य जीवों के आत्मा का अस्तित्व है अर्थात् जो आत्मा का सद्गुरुव स्वीकार करते हैं तथा उसका सर्वथा अभाव नहीं मानते वे ही शरीर को नष्ट कर अशरीर अवस्थाको प्राप्त होते हैं, सिद्ध कहलाते हैं तथा उनकी महिमा वचनके अर्गोचर होती है । ‘अस्त्यात्मानादिनद्वः’ आदि वचनों से आत्मा का अस्तित्व आगम से सिद्ध है । ‘सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः’ आदि वचनसे सिद्धिका अर्थ स्वात्मस्वरूपकी प्राप्ति है । वह सिद्धि जिनके है वे सिद्ध कहलाते हैं । सिद्धि शब्दसे अस्ति अर्थ में प्रज्ञादिगणी होनेसे अण् प्रत्यय होकर सिद्ध शब्द निष्पन्न होता है [कथका सिधु, घातु से वत प्रत्यय होनेपर सिद्ध शब्द निष्पन्न होता है ।] सिद्ध भगवान् वचनोंके गोचर नहीं हैं अर्थात् उनको

१. नाभावः सिद्धिरिष्टा न निजगुणाहृतिस्तसपोभिनं युक्ते,—रस्त्यात्मानादि—
बद्धः स्वकृतज—फलमुक् तस्यात्मोक्षभागो । जाता दृष्टा स्वदेह प्रमितिरूप-
समाहारविस्तारधर्मी । घौम्योत्पत्तिव्ययात्मा स्वगुणयुत—इती नान्यथा
साध्यसिद्धिः ॥ सिं० भ० । अस्ति पुरुषशिदात्मा विवितः स्पर्शगत्वर-
सर्वर्थः । गुणपर्यंत—समवेतः समाहृतः समुद्यध्योर्थः ॥ पु० सिं० ।

२. सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः प्रगुणगुणगणोऽल्लादिदोवापहृतात् । योग्योपादानपुरुषा
पुरुष एव यथा हेमभावोपलब्धिः ॥ सिं० भ० ।

प्रोक्तरत्वे यथाप्रयोगीता अवश्यक इन्द्रुं न शक्नते—तत्सदृशानां केवलज्ञानिनां
गम्या इत्यर्थः ।

'अरसमरुपमगन्धमध्यक्तं अडवत्तं चेयणागुणसमद्दं ।

जाणमलिगग्रहणं जीवमणिष्ठिट्संठाणं ॥६४॥

अरसमरुपमगन्धमध्यक्तं चेतनागुणसमाद्रं ।

जानीहि अलिङ्गग्रहणं जीवमनिदिष्टसंस्थानं ॥६४॥

(अरसं) मघुराम्लकटुतिक्तक्षायपंचरसरहितं हे जीव ! त्वं जीवं जानीहि ।

(अरुपं) श्वेतपीतहरितारुणकृष्णलक्षणगंचरुपरहितं जीवमात्मानं जानीहीति
बीपकं सम्बन्धनीयं (अग्नं) सुरभितुरभिलक्षणगन्धद्वयवर्जितं जीवपदार्थं जानीहि ।

(अव्यक्तं) अव्यक्तं इन्द्रियानिन्द्रियाणामगोचरत्वादस्फुटं, केवलज्ञानिनां अव्यक्तं
स्फुटं जीवतर्त्वं हे जीव ! भेदज्ञानसमृद्धान्तरात्मन् ! जानीहि । निषेधं कृत्वा विर्भि
दर्शयन्ति—(चेयणागुणसमद्दं) चेतनागुणेन झणिपात्रेण सम्यक्प्रकारेणाद्रं
परिणत । समिहमिति पाठे चेतनागुणेन ज्ञानगुणेन समृद्धमिति व्याख्येयं । (जाण-
मलिगग्रहणं) जाण जानीहि त्वं हे जीव ! अलिगग्रहणं स्त्रीपूर्मपुरस्कलिगत्रयस्य

महिमा वचनों से नहीं कही जा सकती किन्तु उन्हीं के समान केवल
ज्ञानियों के द्वारा जानी जा सकती है ॥६३॥

गाथार्थ—हे आत्मन् ! तू जीवको रस रहित, रूप रहित, गन्ध
रहित, अव्यक्त, चेतना गुणसे युक्त, स्थी पुरुषादि लिङ्गसे रहित और
संस्थान से शून्य जान ॥६४॥

विशेषार्थ—किसी भी पदार्थ का स्वरूप वर्णन करने के लिये दो
पद्धतियाँ अपनाई जाती हैं एक स्वरूप के उपादान की और दूसरी पररूप
के अपोहन-निराकरण की । यहाँ स्वरूप के उपादान की पद्धति को दृष्टि
में रखकर जीवका लक्षण कहा गया है—चेतना गुण समाद्रं अर्थात् जो
चेतना गुण से सम्यक् प्रकार आद्रं है—तद्रूप परिणत है अथवा जो चेतना
गुण से समृद्ध है—सम्पन्न है, वह जीव है । और पररूप-अपोहन की
पद्धति के अनुसार कहा गया है जो अरस-रसादि से रहित हो, वह जीव
है । अरस आदि विशेषणोंका भाव इस प्रकार है । मघुर, खट्टा, कहुआ,
चिरपरा और कषायला ये रस के पाँच भेद हैं तथा पुद्गल के परिणमन
हैं, अतः जीव इससे रहित है, सफेद, पीला, हरा, लाल और काला ये

१. समयसारे विषवक्षारे चारीम जापा दृष्ट्वे ।

ग्रहण स्वोकारस्तेन रहितं जीवमात्मानं विद्याकुरु । व्यवहारनयेन यद्यपीयं स्त्री
अर्थं पुमान् इवं नपुंसकमिति भग्नते तथापि निश्चयनयेनात्मा शुद्धबुद्धं कस्यभावो
न लिङ्गक्रयवानिति । (जीवमणिहिंडसंठाण) जीवमात्मानं, अनिदिष्टसंस्थानं न
निदिष्टानि जिनागमे प्रतिपादितानि संस्थानानि वडाकृतयो यस्येति अनिदिष्ट-
संस्थानस्तं जानीहि । अथ कानि तानि संस्थानानि पात्यात्मनो निदिष्टयनयेन नैव
वर्तन्ते इति चेत् ? तत्नामनिर्देशः क्रियते—समचतुरसंस्थानं (१) न्यग्रोध-
परिमण्डलसंस्थानं (२) स्वात्यपरनाम-वाल्मिकसंस्थानं (३) कुञ्जकसंस्थानं (४)
वामनसंस्थानं (५) हुण्डकसंस्थानं चेति । (६) नामानुसारेण शरीरकारो ज्ञात्यर्थं
इति तात्पर्य ।

भावहि पंचपयारं णाणं अण्णाणणात्मणं सिद्धं ।

भावणभावियसहिओ दिवसिवसुहभायणो होऽ ॥६५॥

पाँच रूप के भेद हैं तथा पुद्गल के परिणमन हैं अतः जीव इनसे रहित
है । मुगन्ध और दुग्धन्ध के भेदसे गन्ध दो प्रकार का है तथा दोनों ही
पुद्गल के परिणमन हैं अतः जीव इनसे रहित है । जीव अव्यक्त है अर्थात्
इन्द्रिय और मनके अगोचर होनेके कारण अव्यक्त है—अस्पष्ट है, यह
जीव केवल-ज्ञानियों को स्पष्ट है । लिङ्ग के तीन भेद हैं—स्त्रीलिङ्ग,
पुलिङ्ग और नपुंसक लिङ्ग । ये तीनों ही लिङ्ग पुद्गल द्रव्य के परिणमन
हैं इसलिये जीवका इनके द्वारा ग्रहण नहीं होता है । यथापि व्यवहारनय
से यह स्त्री है, यह पुरुष है और यह नपुंसक है, ऐसा कहा जाता है
तथापि निश्चयनय से आत्मा एक शुद्ध बुद्ध स्वभाव वाला हो है, तीन
लिङ्गसे युक्त नहीं है । संस्थान शरीर की आकृति को कहते हैं और वह
आकृति स्पष्ट हो पुद्गल द्रव्यका परिणमन है अतः आत्मा उनसे रहित
है । जिनागममें प्रतिपादित छह संस्थानोंमें से जीवके एक भी संस्थान
नहीं है, अतः जीव अनिदिष्ट संस्थान है ।

प्रश्न—वे संस्थान कौन हैं जो निश्चयनयसे आत्माके नहीं हैं ?

**उत्तर—(१) समचतुरस्त्र संस्थान (२) न्यग्रोध परिमण्डल संस्थान
(३) स्वाति अयवा वाल्मिक संस्थान (४) कुञ्जक संस्थान (५) वामन
संस्थान और (६) हुण्डक संस्थान । इन संस्थानों में इनके नामके अनुसार
ही शरीरकी आकृति होती है ॥६६॥**

गाचार्य—हे जीव ! तू शीघ्र ही अज्ञानको नष्ट करने वाले पांच

भावय पञ्चप्रकारं ज्ञानं अज्ञाननाशनं शीघ्रम् ।

भावनाभावितसहितः दिवशिवसुखभाजने भवति ॥६५॥

(भावहि पञ्चप्रकारं) भावय त्वं हे जीव ! पञ्चप्रकारं पञ्चविष्ट । कि ? (णाणं) सम्यग्ज्ञानं । कथंभूतं ज्ञानं, (अण्णाणणासणं) अज्ञाननाशनं अज्ञानस्याविवेकस्य नाशनं विष्वसकं । कर्त्त भावय, (सिरधं) शीघ्रं लब्धया । (भावणभावितसहितो) भावना इच्छः तस्या सावितं वासितं तेन सहितः संहितः पुमान् संयुक्तो जीवः । (दिवसिवसुहभावयो होइ) दिवः स्वर्गस्य, यावस्य मोक्षस्य, सुखस्य परमानन्दलक्षणस्य, भाजनम्^{मृतं}, भवति संज्ञायते पञ्चज्ञानविस्तरस्तत्त्वार्थंतात्पर्यवृत्तो इदंमाध्याये इत्याज्ञानः । अतिकृतदिवाज्ञानः एवं प्रकारज्ञानमिति ज्ञानमिति नामनिर्देशः ।

पठिएणवि कि कीरह कि वा सुणिएण भावरहिएण ।

भावो कारणभूदो सायारणयारभूदार्ण ॥६६॥

पठितेनापि कि क्रियते कि वा श्रुतेन भावरहितेन ।

भावः कारणभूतः सागारनगारभूतानाम् ॥६६॥

(पठिएण वि कि कीरह) पठितेन ज्ञानेन कि क्रियते—कि स्वर्गमोक्षं विषीयते—अपि सु न क्रियते इत्यर्थः । अपि ज्ञानादपठितेनापि अनम्यस्तेनापि जित्वा प्रेक्षुतेनापि ज्ञानेन स्वर्गं मोक्षस्व क्रियते इत्यर्थः । (कि वा सुणिएण)

प्रकार के ज्ञानकी भावना कर । क्योंकि भावनाओं के संस्कार से सहित जीव स्वर्ग और मोक्षके मुखका पात्र होता है ॥६५॥

विशेषार्थ—हे जीव ! तू अज्ञान—अविवेक को नष्ट करने वाले मति श्रुत अवधि मनःपर्यय और केवल इन पाँच प्रकारके सम्यग्ज्ञानोंकी भावना कर अर्थात् इन्हें सम्यग्दर्शन के संस्कार से सुसज्जित कर क्योंकि भावनाके संस्कारसे सहित जीव स्वर्गके सांसारिक और मांकके परमानन्द रूप सुखका पात्र होता है । मतिज्ञान आदि पाँच ज्ञानोंका विस्तार तत्त्वार्थ सूत्रकी सात्पर्य-वृत्तिके प्रथमाध्यायसे ज्ञानना चाहिये । यहाँ मात्र नामोंका निर्देश किया है ॥६५॥

गाथार्थ—भाव-रहित शास्त्रों के पढ़ने अथवा सुनने से वया होता है ? क्योंकि गृहस्य अथवा मुनि धर्मका कारण भाव ही है ॥६६॥

विशेषार्थ—भावका अर्थ आत्म-इच्छा अर्थात् पर-पदार्थ से भिन्न आत्माकी अद्वा होना है यह आत्म अद्वा ही जिन सम्प्रकर्त्तव्य का कारण

वा अथवा श्रुतेनाकरणितेन ज्ञावेन कि ? न किमपि, स्वर्गश्च मोक्षश्च न भवतीत्यर्थः । कर्थभूतेन पठितेन श्रुतेन च (भावरहिएण) भावरहितेन । (भावो कारणभूदो) भाव आत्मरूपिः जिनसम्यक्त्वकारणभूतो हेतुभूतः । (सायारण-यारभूदार्थं) सागारानागारभूतानां आवकाणां यतीनां चेति तात्पर्यं ।

द्रव्येण सयलणगमा नारयतिरिथा य सयलसंधाया ।

परिणामेण असुद्धा ण भावसञ्चणत्वं पत्ता ॥६७॥

त्रयेण सकलनगमा नारकतिर्यच्चक्षत्वं सकलत्वात्ताः ।

परिणामेण असुद्धा न भावञ्चवणत्वं प्राप्ताः ॥६७॥

(द्रव्येण सयलनगमा) द्रव्येण बाह्यकारणेन सकलाः सर्वे जीवा नग्ना वस्त्रादिरहिताः । के से, (नारय) नारकाः सप्ताधोभूमिस्थितचतुरशीतिशत-सहस्रविलसन्धातसत्वाः । (तिरिथा य) तिर्यच्चश्च पशबो जीवा नग्ना एव भवन्ति । तथा (सयलसंधाया) नारकाणां सिरश्चां सर्वे समूहाः । अथवा सकल-संधाताः स्त्रीभिः सह मिलिताः कमनीयकामिनीभिरालिङिताः सर्वे पुरुषसमूहाः अपि द्रव्येण नग्ना निर्वस्त्रादिका भवन्ति । कर्थभूतास्ते, (परिणामेण असुद्धा) परिणामेण मनोव्यापारेणाशुद्धा रागद्वेषमोहादिकलमलिताः । (ण भावसञ्चणसंधं

है । इसके बिना शास्त्रों को पढ़ा भी जाय अथवा सुना भी जाय तो उससे क्या होता है ? अर्थात् स्वर्गं मोक्षको प्राप्ति उससे नहीं होती । यथार्थ में गृहस्थ-बर्मे अथवा मुनिधर्मका मूल कारण भाव अर्थात् सम्यक्त्व ही है ॥६६॥

गाथार्थ—द्रव्य अर्थात् शरीररूप वाह्य कारणको अपेक्षा सभी जीव नग्न हैं । नारको और तिर्यच तो समुदाय रूपसे नग्न ही रहते हैं परन्तु माथसे अशुद्ध हैं, अतः भाव श्रमणपतेको प्राप्त नहीं होते ॥६७॥

विशेषार्थ—मात्र वस्त्रादि वाह्य पदार्थोंके त्याग से ही श्रमण-पता प्राप्त नहीं होता किन्तु उसके साथ भाव-शुद्धिके होने पर ही होता है यह सिद्ध करते हुए आचार्य महाराज निर्देश करते हैं कि मात्र शरीरकी अपेक्षा तो सभी जीव नग्न हैं । पृथिवीके नीचे सात नरकोंके चौरासी लाख विलोमें रहने वाले नारकी तथा समस्त तिर्यच तो नियम से नग्न ही रहते हैं । और रति आदिके समय पुरुष भी नग्न रहते हैं परन्तु ये सब परिणामोंसे अशुद्ध हैं अर्थात् राग द्वैष मोह आदि विकारोंसे मलिन हैं, अतः नग्न होने पर भी भाव श्रमण को अर्थात् दिग्म्बर मुनि व्यवस्थाको

पता) भावश्चमणत्वं परिणामदिगम्बरत्वं न प्राप्ता, न कर्मक्षयलक्षणसोक्षनिरीक्षा बभूतुरिति पूर्वसम्बन्धः ।

णगो पावह दुखर्णं णगो संसारसायरे भमद् ।

णगो च लहु बोहि जिणभावणवज्जिज्ञो सुहरं ॥६८॥

नगनः प्राप्नोति दुःखं नग्नः संसारसागरे भ्रमति ।

नग्नो न लभते बोधि जिनभावनावज्जितः सुचिरम् ॥६८॥

(नगो पावह दुखर्णं) नगनः पुमान् प्राप्नोति लभते, कि ? दुःखं छेदनभेदन-शूलारोपणयन्त्रपीलनक्रकाहविदारणभ्राष्टकेपणतप्तलोहपुत्तलिकाल्मानवैतरणीनदी-विशेषमञ्जनकूटशालपलिघर्षणादिपत्रवनचछापानिवेशन शारीरमानसागन्त्वसातं तरकेषु तिर्थशु कुमनुष्ठेषु कुदेवेषु च दुःख प्राप्नातीरथभिप्रायः श्रीकुन्दकुन्दचार्याणां (नग्नो संसारसायरे भमद्) नग्नः संसारसागरे आम्यति मज्जनोत्मज्जनं करोति । (नग्नो न लहु बोहि) नग्नो जीवो बोधि रत्नप्रयप्राप्ति न लभते—अनन्तानन्त-संसारे पर्यटितोऽपि जन्मशतसहस्रफोटिभिरपि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि सोक्ष-कारणानि न प्राप्नोतीत्यर्थः । कथंभूतो नग्नः, (जिणभावणवज्जिज्ञो सुहरं)

प्राप्त नहीं होते । कहनेका तात्पर्य यह है कि भाव-शुद्धिके बिना मात्र नग्नता कार्यकारी नहीं है ॥६९॥

गाथार्थ—जिनभावना-जिन सम्यक्त्वसे रहित नगन पुरुष दुःख प्राप्त करता है । जिन-भावना से रहित नग्न पुरुष संसार सागर में भ्रमण करता है और जिन भावनासे रहित नगन पुरुष चिरकाल तक रत्नप्रयको प्राप्त नहीं होता ॥६९॥

विशेषार्थ—जिनभावना का अर्थ सम्यक्त्व है, उससे रहित नगन पुरुष नरक, तिर्थञ्च कुमनुष्ठ और कुदेवों में छेदा जाना, भेदा जाना, शूलीपर चढ़ाया जाना, कोल्ह में पेला जाना, करोतसे विदारा जाना, भाड़में फेंका जाना, तपे लोहकी पुतलियोंसे लिपटाया जाना वैतरणी नामकी विशेष नदीमें ढुबाया जाना, विक्रियाकृत सेमरके वृक्षपर घसीटा जाना, असिपत्र बनकी छायामें बैठाया जाना, शारीरिक मानसिक तथा आगन्तुक आदि अनेक दुःखोंको प्राप्त होता है । जिनसम्यक्त्व से रहित नगन मनुष्य संसार सागर में भ्रमण करता है अर्थात् मज्जन और उन्मज्जन करता है तथा जिन-सम्यक्त्व से रहित नगन मनुष्य चिरकाल तक रत्नप्रयको प्राप्त नहीं होता है अर्थात् अनन्तानन्त संसारमें घूमता

जिनस्य श्रीमद्भगवद्गुरुस्वर्गवीतरागस्य सम्बन्धिनी या भावना सम्यक्त्वं तथा विजितो-चर्जितः । कथं, मुझे उचिरभित्तिदीर्घेकालं तथा जोकर्त्ता—

‘कालु अणाइ अणाइ जित मवसायरु कि अणंतु ।

जीवं वेष्ण न पताई जिणुसामित्तसमत्तु ॥ १ ॥

इति व्याख्याते इति ३ सम्बन्धिनीते गृहभूमयाः कर्त्तव्येति भावार्थः ।

अयसाण भायणेण य कि ते जगेण पावमलिणेण ।

पैशुन्यहासमच्छरमायावहुलेण सवणेण ॥ ६९ ॥

अयशासां भाजनेन च कि ते नाम्येन पापमलिनेन ।

पैशुन्यहास्यमत्सरमायावहुलेण सवणेण ॥ ६९ ॥

(अयसाण भायणेण य) अयशासामपकीर्तीनां भाजनेनामत्रेणाधार्यानेण ।

(कि ते जगेण पावमलिणेण) हे जीव ! ते तक नाम्येन नम्नत्वेन कि—न किमपि,

दूआ लाखों करोड़ों जन्ममें भी मोक्षके कारणभूत सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको नहीं प्राप्त होते हैं । जैसा कि कहा गया है—

कालु अणाइ—काल अनादि है, जोब अनादि है और भवसागर अनन्त है । इसमें भ्रमण करते हुए जीव ने आजतक दो वस्तुएं प्राप्त नहीं कीं, एक सो जिनदेव और दूसरी सम्यक्त्व ।

इस प्रकार व्याख्यान को जानकर सम्यग्दर्शन द्वारा भावनाको दृढ़ करना चाहिये ॥ ६८ ॥

गाथार्थ—हे जीव ! तुझे उस नरन वेषसे क्या मिलने वाला है जो अपयशका पात्र है, पापसे मलिन है, चुगली, हास्य, मात्सर्य और मायासे परिपूर्ण है तथा सवण—धर्मके नाना स्रोतोंसे द्रव्यका उपार्जन करने वाला है अथवा सवन—वनवास से सहित है ॥ ६९ ॥

विशेषार्थ—जो नम्न दिगम्बर मुद्राके धारक होकर भी आगम-विरुद्ध कार्य करते हैं उन्हें संबोधते हुए आचार्य कहते हैं कि जीव ! तूने यद्यपि नाम्य वेष धारण किया है तथापि तू यन्त्र मन्त्र तत्त्व, जादू, ज्योतिष, वेदाक आदि लौकिक कार्यों में उलझ कर उस नरन वेषको अपयशका पात्र बना रहा है सो उससे तुझे क्या मिलने वाला है ? जिस स्वर्ग या मोक्षके उद्देश्य से तूने यह पवित्र वेष धारण किया था उसको पूर्ति तेरे इस वेष

१. सावयवन्म बोहा ।

२. सम्भाषक्त्वने दृढ़भावना म० ।

स्वर्गमोक्षकार्यरहितेन पूर्येत्यमिग्रामः । कर्थमूर्तेन नाम्नेम पापमलिनेन पापवमलिनेन कर्मलिना । अथवा पापेति पूर्यक्षयं सेमायमर्थः रे पाप ! पापमूर्ते दिग्मवर्षेयजीवक ! मलिनेन अतिचारानाचारातिक्रमव्यतिक्रमसहितेन नाम्नेम कि ? न किमपि । तथा चोक्तं समासोक्तिना गुणभद्रेण भगवता—

‘हे चन्द्रमः ! किमिति लाङ्छनवान्मूर्त्यं,
तदाग्रं भवेत् किमिति तन्मय एव नाम्नः ।
कि उद्योस्मिन्मयी’ मलमले तथ घोषयन्त्या
स्वर्मनुवन्ननु तथा सति नासि लक्ष्यः ॥ १ ॥

कर्थमूर्तेन तथ नाम्नेन, (पेसुप्ताहाश्चात्मानान्तुरेण सद्गोप्त) विनृत्य...
हास्यमत्सरमायाङ्कुलेन । पैशून्यं परदोषप्रहर्ण । उक्तं च—

से नहीं हो सकती है । तेरा यह नाम्न्य वेष पाप मलिन है अर्थात् पापके समान मलिन है अथवा पाप यह स्वतन्त्र सम्बोधन पद है इसलिये ऐसा भी अर्थ हो सकता है कि अरे पाप ! अरे पाप-भूति ! तेरा यह नाम्न्यपद अतिचार अनाचार अतिक्रम और व्यतिक्रमसे सहित होनेके कारण मलिन है । इससे तुझे क्या प्राप्त होगा ? अर्थात् कुछ भी नहीं । जैसा कि समासोक्ति अन्योक्तिके द्वारा गुणभद्राचार्य ने कहा है—

‘हे चन्द्रमः—हे चन्द्र ! तु लाङ्छनकलङ्कुसे युक्त क्यों हुआ ? यदि तुमे कलङ्कु से युक्त ही होना था तो सर्वथा कलङ्कुसे तन्मय क्यों नहीं हो गया ? तेरी उस मलिनता को अत्यन्त प्रगट करते वाली चादिनी से तुमे क्या लाभ है ? यदि तू सर्वथा कलङ्कु से तन्मय हुआ होता तो वैसी अवस्था में राहुके समान दृष्टिगोचर नहीं होता । जिस प्रकार उज्ज्वल अन्द्रमामें छोटासा कलङ्कु स्पष्ट दिखलाई देता है, उसी प्रकार मुनिपदमें योहासा दोष भी स्पष्ट दिखलाई देता है बतः मुनिपद धारण कर सदा निर्दोष प्रवृत्ति ही करना चाहिये ।

हे जीव ! तेरा यह नाम्न्य पद पैशून्य, हास्य, मात्सर्य और मायासे परिपूर्ण है पैशून्यका अर्थ पर-दोष-ग्रहण है । दूसरेके दोषों की ओर दृष्टि रखना बहुत बुरा है और दूसरे के दोषोंको न कहना उत्तम बात है । कहा भी है—

मा भवतु तस्य पापं परहितनिरतस्य पुरुषसिंहस्य ।

यस्य परदोषकथने जिह्वा मीमवत् चरति ॥ १ ॥

हास्य च वर्करः । मत्सरहृष्ट परेषां शुभद्रेषः । उक्तं च—

‘उद्युक्तस्त्वं तपस्त्विक्षणधिक्षमभिभवं त्वयगच्छन् कथायाः

प्राभुद्वौद्वोऽप्यगाथो जलभिव जलधी किं तु दुलंक्यमन्यैः ।

निष्ठूद्वेषि प्रवाहे सलिलमिव मनानिमनदेषोऽवश्य

मात्सयं ते स्वतुल्ये भवति परवशाद्गुर्जं तप्तज-होहि ॥ १ ॥

माया च परवर्तना । उक्तं च—

यशो मारीचीयं कनकमृगमायामलिनितं

हतोऽश्वतथामोक्त्या प्रणयिलघुरासीषमसुतः ।

स कृष्णः कृष्णोऽभूत्क्षयद्वद्वेषेण नितरा—

मपि च्छथालं तद्विषमिव हि दुर्घस्य महतः ॥ १ ॥

मा भवतु—पर-हितमें तत्पर रहने वाले उस श्रेष्ठ पुरुषका कभी भी ऐसिया न हो, जिसकी किं जिह्वा दूसरे के दोष कहने में मौनवत भारण करती है ।

अपना बड़प्पन बतानेके लिये दूसरोंकी हीसी उड़ाना हास्य कहलाता है । दूसरोंके शुभ कार्योंसे द्वेष रखना मत्सर कहा जाता है । यह मत्सर भाव प्रायः बड़े-बड़े लोगोंमें भी पाया जाता है । कहा है—

उद्युक्तस्त्वं—हे तपस्त्विन् ! यद्यपि तू अधिक सावधान है, कषायें भी तुझमें पराभव को प्राप्त हैं अर्धात् तूने कषायों को प्रभाव-हीन किया है, और समुद्र में जलके समान अगाध ज्ञान भी तुझ में प्रकट हुआ है तथापि जिस प्रकार प्रवाह के निकल जाने पर कितने हो नीचे स्थानों में पानी भरा रह जाता है और वह दूसरों की दृष्टि में नहीं आता उसी प्रकार कषाय आदि रूप प्रवाह के निकल जाने पर भी जो दूसरों की दृष्टि में नहीं आता, ऐसा अपनी समानता रखने वाले जीवों में तेरा मात्स्य भाव शेष रह गया है, भले हो वह दूसरों के बशसे हुआ है और तुर्जय है तो भी तू उसे अवश्य छोड़ ।

माया का अर्थ दूसरे को ठगना है । कहा भी है—

यशो मारीचीयं—मारीच का यश सुवर्ण मूर्ग की माया से मलिन हो

१. आत्मानुशासने ।

२. तपस्त्विक्षण भुवितात्मानुशासने ।

३. मुद्रितात्मानुशासने ‘त्वामगच्छन’ इति पाठः ।

पैशून्यहास्यमत्सरभायाऽद्गुर्लं तेन तथोक्तेन । पुनः कवंभूतेन । नामन्येन, स्वर्णेन
निरन्तरसम्बन्धिना नानावर्ममिषोपाज्ञितद्रव्येण अथवा सवनेन वनवाससहितेन ।
तथा चोक्तं—

कनेऽपि दीषाः प्रभवन्ति रागिणां गुहेऽपि पञ्चेन्द्रियनिप्रहृस्तपः ।

अकुलिते वल्मीनि यः प्रवर्तते विमुक्तरामरुय गृहं तपोवनं ॥ १ ॥

पयड़हि जिनवरलिङं अब्दितरभावदोषपरिसुद्धो ।

भावमलेण य जीवो बाहिरसंगम्म मयलियई ॥७०॥

प्रकटव जिनवरलिङ्गं अन्तरभावदोषपरिशुद्धः ।

भावमलेन च जीवो बाह्यपञ्चे मलिनः ॥ ७० ॥

गया। 'अश्वत्यामा' मारा गया यह कहने से युधिष्ठिर स्तेही जनों में
लघुता को प्राप्त हुए और कृष्ण कपट पूर्ण बालकका वेष रखनेसे अत्यन्त
मलिन हुए। सो ठीक ही है क्योंकि जिस प्रकार थोड़ा सा विष बहुत
भारी दुर्घट को दूषित कर देता है, उसी प्रकार थोड़ा सा छल भी बड़े-बड़े
पुरुषों को दूषित कर देता है। मारोन, युधिष्ठिर और कृष्ण के वामना-
क्तार को कथाएँ लोक में प्रसिद्ध हैं।

हे जीव ! तेरा यह नाम्य पद पैशून्य, हास्य, मात्सर्व और भावा से
बहुल है—परिपूर्ण है। साथ ही स्वरण है अर्थात् नाना धर्मोंके बहते द्रव्य-
को उपाज्ञित करने वाला है। अथवा सवणेण की संस्कृत छाया सवनेन
मानकर वनवाससे सहित है, यह एक अर्थ भी किया जा सकता है अर्थात्
तेरा यह नाम्य पद वनवास से सहित है परन्तु अन्तरङ्ग का विकार नहिं
हुए बिना मात्र वनवास कुछ कार्यकारी नहीं है। जैसा कहा है—

बनेऽपि—रागी मनुष्यों के बनमें भी दोष उत्पन्न होते हैं और राय-
रहित मनुष्यों के घर में भी पञ्चेन्द्रियों का निश्चह रूप तपश्चरण होता
है। जो मनुष्य निर्दोष मार्ग में प्रवृत्ति करता है उस वीतराग के लिये घर
ही तपोवन है।

[यहाँ अन्तरङ्ग की परमार्थता से रहित मात्र नग्न-वेष की निन्दा
की गई है। निर्दोष आचरण करने वाले मुनिका नग्न वेष तो मोक्ष-मार्ग
का अपरिहार्य अङ्ग है, अतः उसकी निन्दा किसी भी तरह नहीं की
जा सकती ।]

गाथार्थ—हे जीव ! अन्तर्वर्ती माव दोष से रहित होता हुआ तू जिन-
लिङ्ग-निर्गन्ध दिगम्बर मुद्राको भारण कर क्योंकि अन्तरङ्ग के दोष से
यह जीव बाह्य पदार्थों के संपर्क में पहकर मरकिन हो जाता है ॥७०॥

(पयवहि जिनवरलिंग) है जीव ! है आत्मन् ! प्रकटय जिनवरलिंगं पूर्वं जिनवरलिंगं त्वं घर नग्नो भव ! पस्त्वात्कर्षभूषो भव, (अङ्गिरसरभावदोतपरि-सुद्धो) अश्वतरभावेन जिनसम्यक्त्वपरिणामेन श्रुत्वा दोषपरिशुद्धो लोषरहितो भव ! इदमत्र तात्पर्य द्रव्यलिंगं विभा भावलिंगी सन्मयि मोक्षं न रमत इत्पर्यः शिवकुमारो भावलिंगी भूत्वा पि स्वर्णं गतो न तु मोक्षं, जम्बूस्वामिभवे द्रव्यलिंगी अतिकष्टेन सज्जातस्तर्त्मश्च सति भावकिंगेन मोक्षं प्राप्त ! (भावमलेण य जीवो) भावमलेनापरिशुद्धपरिणामेन जिनसम्यक्त्वरहिततया । (बाहिरसंगम्मि मध्यलियह) बाह्यसंगे सति मइलियह—मलिनो भवति सम्यक्त्वं विना निर्गच्छोऽपि सग्रन्थी भवतीति भावार्थः । स्यादभावेन मोक्षो द्रव्यलिंगीपेषात्स्वात्, स्याद्वद्व्यलिंगेन मोक्षो भावलिंगापेषात्स्वात्, स्यादुभयं क्लमापितो भवत्वात्, स्यादवाच्यं युगपद्मक्तुमशक्य-

विशेषार्थ——संस्कृत टीका-कार इस गाथाका भाव निम्न प्रकार प्रकट करते हैं । हे आत्मन् ! तू पहले जिनलिङ्ग को धारण कर अर्थात् पहले नग्न हो दीछे अस्यन्तर भाव अर्थात् जिन सम्यक्त्वके परिणाम से दोष रहित हो । यहाँ तात्पर्य यह है कि द्रव्यलिङ्ग के बिना भावलिङ्गी होने पर भी अर्थात् सम्यक्त्वादिष्ट होनेपर भी यह जीव मोक्षको नहीं प्राप्त कर सकता है । क्योंकि शिवकुमार मुनि भावलिङ्गी अर्थात् सम्यक्त्वादिष्ट होकर भी स्वर्णं गये थे, न कि मोक्ष । और जम्बूस्वामीके भवान्तर वर्णनमें भव-देव बड़े कष्टसे, द्रव्य-लिङ्गी हुआ था और उसके इहोनेपर बाद में भावलिङ्ग के द्वारा मोक्ष को प्राप्त हुआ था । भावमल अर्थात् अपरिशुद्ध परिणाम के द्वारा जिन-सम्यक्त्व से रहित होनेके कारण यह जीव बाह्य पदार्थोंका संग होनेपर मलिन हो जाता है अर्थात् सम्यक्त्व के बिना निर्गच्छ भी सग्रन्थ हो जाता है । यहाँ द्रव्य-लिङ्ग और भावलिङ्ग के विषय में एकान्तका पक्ष छोड़कर स्याद्वाद की पद्धति पर सात लिङ्गों की योजना करता चाहिये । १ कथंचित् भाव-लिङ्ग से मोक्ष होता है क्योंकि उसमें द्रव्य लिङ्गकी भी अपेक्षा रहती है, २ कथंचित् द्रव्य-लिङ्ग से मोक्ष होता है क्योंकि उसमें भाव-लिङ्ग की भी अपेक्षा रहती है, ३ कथंचित् दोनों लिङ्गोंसे मोक्ष प्राप्त होता है क्योंकि क्लमसे दोनों की अपेक्षा रहती है, ४ कथंचित् मोक्षका कारण अवक्तव्य है क्योंकि एक साथ दोनोंका क्लयन नहीं हो सकता । ५ कथंचित् मोक्षका कारण भावलिङ्ग है तथा अवक्तव्य भी है, ६ कथंचित् मोक्षका कारण द्रव्य-लिङ्ग भी है तथा अवक्तव्य भी है और ७ कथंचित् मोक्षका कारण द्रव्य-लिङ्ग, भाव-लिङ्ग दोनों हैं तथा अवक्तव्य भी है ।

त्वात्, स्यावृभावलिंगं चावक्तव्यं च, स्यावृद्व्यालिंगं चावक्तव्यं च, स्यावृमयं चावक्तव्यं चेति सप्तामयी योजनीया ।

धर्ममिमिष्ठिष्ठवासो दोसावासो य उच्छुकुल्लसनो ।

णिष्फलणिगुणयारो उद्गसवणो नगरलुब्धेण ॥७१॥

धर्मे निप्रवासो दोषावासहच इक्षुएष्टवामः ।

निष्फलनिगुणकारो नटश्रमणो नगरलुब्धेण ॥७१॥

(धर्ममिमिष्ठिष्ठवासो) धर्मे दयालक्षणे चारित्रलक्षणे आत्मस्वरूपे उत्तमक्षमा-दिवशलक्षणे च तदुक्तं—

धर्मो वस्तुसहायो खमादिभावो य दसविहो धर्मो ।

चारितं चलु धर्मो जीवाण य रक्खणो धर्मो ॥१॥

मूल में द्रव्य-लिङ्ग, भावलिङ्ग और अवक्तव्य ये तीन धर्म हैं उनके संयोगन्वश उक्त सात भज्ज हो जाते हैं ।

गायार्थ—जिसका धर्म में निवास नहीं है, अर्थात् जो धर्मसे दूर है, जिसमें दोषों का आवास है और जो इक्षुके फूल के समान निष्फल तथा निगुण है वह नार्त्य वेष से नट श्रमण-मुनिका वेष रखने वाले नट के समान जान पड़ता है ॥७१॥

विशेषार्थ—धर्मका लक्षण दया है, धर्मका लक्षण चारित्र है, धर्मका लक्षण आत्मस्वरूप है, और धर्मका लक्षण उत्तम क्षमादि दश धर्म हैं । जैसा कि कहा गया है—

धर्मो वस्तुसहायो—वस्तु स्वभावको धर्म कहते हैं अथवा क्षमा आदि दश धर्मोंको धर्म कहते हैं अथवा चारित्र को धर्म कहते हैं अथवा जीव-रक्षाको धर्म कहते हैं । इस तरह उक्त लक्षण वाले धर्मके विषय में जो अत्यन्त प्रवास है—उद्गस है अर्थात् दूरवर्ती है, जो दोषों अर्थात् अलिंबारों का निवास है और जो इक्षुके फूलके समान निष्फल अर्थात् मोक्ष रूप फलसे रहित तथा निगुण-ज्ञानसे रहित होता है । जिस प्रकार इक्षुका फूल फल रहित और निर्गन्ध होनेसे निगुण होता है उसी प्रकार जो मुनि निष्फल-मोक्ष रहित और निगुण-ज्ञान-हीन होता है अथवा दूसरों का निगुण कर देता है, वह नगर रूपके कारण नट श्रमण ही है अर्थात् मुनि-वेषी नट श्रमण है । वह मात्र लोकोंको अनुरक्षित करने के लिये नगर होता है, यथार्थ में नहीं ।

एवमुक्तलक्षणे अर्थे निष्पवासो—निरलिशयेन प्रवासः प्रगतवासः उद्गुप्त इत्यर्थः । (दोसावासो य) दोषाणां मलातिचारागामावासो निवासः । (उच्छुकुलसमो) इक्षुपुष्टसमः इक्षुपुष्टसदृशः । (निष्कलनिर्मुणायारी) निष्कलो भोक्तरहितः, निर्मुणो ज्ञानरहितः । यथा इक्षुपुष्टं निष्कलं फलरहितं भवति सस्यविवर्जितं स्पात् तथा निर्मुणं गन्धहीनं भवति तथा परमार्थरहितो बिगम्बरो ज्ञातव्यः । तथा निर्मुणकारः परेषां मुणकारको न भवति सम्बोधको न स्पात् । (नवस्वर्णो त्वग-रूपेण) नमनरूपेण कुल्त्वा न अथवणः नर्मसचिवसदृशः । स लोकरंजनार्थं नमने भवति तथायमपि । हति अथास्पानं जात्वा सम्यक्त्वे जाने चारित्रे तपसि च दृढतया स्थापतव्यं ।

जे रायसंगजुत्ता जिणभावणरहितद्वयनिर्माण्या ।

ण लहंति ते समाधिं बोधि जिणसासणे विमले ॥७२॥

ये रायसंगयुक्ता जिनभावनरहितद्वयनिर्माण्या ।

न लभन्ते ते समाधिं बोधि जिनशासने विमले ॥७२॥

(जे रायसंगजुत्ता) ये मुनियो रागेण स्त्रीप्रीतिलक्षणेन, सोने परिग्रहेण युक्ता भवन्ति । अथवा रागेण संगं स्त्रीगमनं कुर्वन्ति । अथवा राजसंगः अर्हद्भावनां स्थक्त्वा राजसेवा कुर्वन्ति राजसेवायुक्ता भवन्ति (जिणभावणरहितद्वयनिर्माण्या) जिनभावनारहितद्वयनिर्माण्या:, जिने भावना रुचिर्योगां नास्ति ते जिन-

इस तरह इस व्याख्यान का सारांश यह है कि सम्यगदर्शीन, सम्यगज्ञान, सम्यक्चारित्र और समीचीन तप में सदा दुड़ रहना चाहिये ॥७१॥

गाथार्थ—जो मुनि राग रूप परिग्रह से युक्त हैं तथा जिन भावना से रहित होकर मात्र द्रव्य की अपेक्षा नम—मुद्राको धारण करते हैं, वे निर्मल जिन शासन में समाधि और बोधि—रत्नश्रय रूप सम्पत्ति को नहीं प्राप्त होते हैं ॥७२॥

बिशेषार्थ—संस्कृत टीका-कार ने 'राय-संग—जुत्ता' इस पद की संस्कृत छाया राग-संग-युक्ता और राज-संग-युक्ता स्वोकृत की है । 'राग-संग-युक्ता' इस छाया में रागश्च संगश्च राग-संगी ताभ्यां युक्ता ऐसा समास करके उक्त पदका अर्थ किया है कि जो मुनि स्त्री-प्रीति रूपी राग और परिग्रह—रूप संग से युक्त हैं । अथवा रागेण संगः रागसंगः तेन युक्ताः ऐसा समास कर दूसरा अर्थ किया है कि जो रागसे सभ अथवि स्त्री गमन करते हैं—स्त्रियोंसे अधिक संपर्क रखते हैं । अथवा 'राजसंग—

भावनारहितास्ते च से द्रव्य—निर्णया नगरस्थपधारिणो जिनभावनारहितद्रव्य-
निर्णयाः । अथवा जिनस्य भावना तीर्थकरनामकर्मपार्जनप्रत्ययभूता दर्शनविशुद्ध-
धादयो भावनाः पोड़ा ताम्हो रहिताः । जिनसम्यक्त्वदसहित व्यस्ताः समस्ता वा
भावनास्तीर्थकरनामकर्मदायिका भवन्ति । दर्शनविशुद्धिरहिता अपराः पंचदशायि
भावनास्तीर्थकरनामकर्म नापर्यन्ति । तथा चोक्तं—

एकापि समर्थेयं जिनभक्तिदुर्गति निवारयितुं ।

पुण्यानि च पूरयितुं दातुं मुक्तिविषयं कृतिनः ॥१॥

अथवा द्रव्यनिर्णयाः—बहुविवधर्ममिवेण द्रव्यमुपार्जयन्ति ये ते द्रव्यनिर्णयाः
कर्मन्ते । न (लहंति ते सभाहि) ते मुनयः समाधि रत्नत्रयपरिपूर्णतां धर्म्य-
शुक्लव्यानवृत्तं वा न लभन्ते न प्राप्नुवन्ति । (बोहिं जिणसासणे विमले) बोधि
सम्यग्दर्शनज्ञानभारित्रिलक्षणां न लभन्ते न प्राप्नुवन्ति जिनशासने श्रीमद्भगवद-

'युक्ता' इस छाया के अनुसार एक अर्थ यह भी किया है [कि जो मुनि
अहंता भगवान् की भावना को छोड़ कर राजन्सेवा करते हैं—राजदर-
बार में आना जाना आदि कार्यों में व्यासक्त रहते हैं । इसके सिवाय जो
जिन-भावना जिन-शद्वा से रहित होकर मात्र द्रव्य-निर्णय हैं—नगर
रूपको धारण करने वाले हैं अथवा जिन भावना का अर्थ तीर्थकर नाम
कर्म के बन्धमें कारणभूत दर्शन-विशुद्धि आदि सोलह भावनाएँ भी हैं सो
जो इन भावनाओं से रहित होकर मात्र द्रव्य से निर्णय हुए हैं—मात्र
नगर रूपको धारण करने वाले हैं अथवा जो इन भावनाओं से रहित
होकर मात्र द्रव्य-धनके लिये नगर मुद्रा धारण करते हैं अर्थात् नगर-मुद्रा
धारण कर नाना प्रकार के धर्मके मिष्ठ से द्रव्यका उपार्जन करते हैं वे
मुनि समाधि अर्थात् रत्नत्रय को पूर्णता और अथवा धर्म्य-व्यान और
शुक्लव्यान इन दो उत्तम ध्यानोंको एव सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-
चारित्र रूपी बोधिको नहीं प्राप्त होते हैं । जिनेन्द्र भगवान् का शासन
विमल है, पूर्वा-पर विरोध से रहित है अथवा कर्म मल कलङ्क के क्षयका
कारण है । ऊपर दर्शन विशुद्धि आदि जिन सोलह भावनाओं का उल्लेख
हुआ है वे दर्शन-विशुद्धि अर्थात् जिन-सम्यक्त्व से सहित सबकी सब हो
अथवा पृथक्-पृथक् हो तीर्थकर प्रकृति नामक नाम कर्मका बन्ध कराने
वाली हैं । किन्तु दर्शनविशुद्धि से रहित शेष पञ्चह भावनाएँ भी हों तो
भी तीर्थकर प्रकृति का बन्ध नहीं कराती हैं । जैसा कि कहागया है—

एकापि—यह एक जिन—भक्ति दर्शन-विशुद्धि कुशल मनुष्य की

हृत्सर्वभवीतरागमते । कर्मभूते, विमके पूर्वाधिरविरोषकिलजिते कर्मभलकलसुखय-
हेतुभूते त ।

भावेण होइ नगरो मिछुत्ताई य दोस चहडणे ।

पच्छा दब्बेण मुणी पयडदि लिंगं जिणाणाए ॥७३॥

भावे-भवति नगनः मिथ्यात्वादीर्घ दोषान् त्यक्त्वा ।

पश्चाद्दद्वयेण मुनिः प्रकट्यति लिंगं जिनाशया ॥७३॥

(भावेण होइ नगरो) भावेन परमधर्मानुरागलक्षणविनसम्प्रकृतेन भवति,
कीदृशो भवति ? नगनः वस्त्रादिपरिप्रहरहितः ? कि कृत्वा पूर्व, (मिछुत्ताई य
दोस चहडणे) मिथ्यात्वादीर्घ दोषांस्त्यक्त्वा मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषापयोग-
लक्षणाल्लक्ष्याराणि त्यक्त्वा । (पच्छा दब्बेण मुणी) पश्चात् भावलिंगवरणाद-
नस्तरं मुनिलिंगम्बरः (पयडदि लिंगं जिणाणाए) प्रकट्यति स्फुटीकरोति, कि
तत् ? लिंग—जिनमुद्रा, कया जिणाणाए—जिनस्याजया जिनसम्प्रकृतेन सम्ब-
कृतश्रद्धानरूपेणेति बीजांकुरन्यायेनोभयं संलग्नं ज्ञातव्यं । भावलिंगेन द्रव्यलिंगं,
द्रव्यलिंगेन भावलिंगं भवतीत्युभयमेव प्रमाणीकर्तव्यं । एकान्तमतेन तेन सर्वं नष्टं
भवतीति वेदितव्यं । अलं दुराग्रहेणेति ।

कुर्णिति का निवारण करने के लिये, पुण्य को पूर्ति करने के लिये और
मुक्ति लक्ष्मी को देनेके लिये समर्थ है ।

गौथार्थ—मुनि पहले मिथ्यात्व आदि दोषों को छोड़ कर भावसे
नगन होता है, पीछे जिनेन्द्र देवकी आज्ञानुसार द्रव्य से लिंग प्रकट करता
है—नगन वेष धारण करता है ।

विज्ञेयार्थ—यहाँ भावका अर्थ परम धर्मानुराग रूप जिन-सम्यकत्व
है । मुनि पहले मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योग रूप आखब
द्वारों को छोड़कर भावसे नगन होता है पीछे जिनेन्द्र देव की आज्ञानुसार
द्रव्यलिंग को प्रकट करता है वस्त्रका ल्यागी होता है पीछे जिनेन्द्र देवकी
आज्ञानुसार द्रव्य-लिंगको प्रकट करता है अर्थात् वस्त्र का परित्याग कर
दिग्म्बर मुद्रा धारण करता है । यहाँ द्रव्य-लिंग और भाव-लिंगको
बीजांकुरन्याय से परस्पर संलग्न जानना चाहिये । अर्थात् जिस प्रकार
बीजके बिना अंकुर और अंकुर के बिना बोज नहीं होता, उसी प्रकारसे
भाव-लिंगके बिना द्रव्य-लिंग और द्रव्य लिंगके बिना भावलिंग नहीं होता ।
एकान्त मतसे सब सिद्धान्त नष्ट हो जाता है इसलिये द्रव्य-लिंग और
भावलिंग दोनों को प्रमाण मानना चाहिये । इनमें पहले कीन होता है
और पीछे कौन ? इसका दुराग्रह करना अर्थ है ॥७३॥

**भावो वि दिव्यसिद्धसुखभायणो भाववज्जिओ सबणो ।
कर्ममलमलिनचित्तो सिरियालयभायणो पावो ॥७४॥**

भावोपि दिव्यशिवसुखभाजनं भाववज्जितः श्रमणः ।

कर्ममलमलिनचित्तः तिर्थगालयभाजनं पापः ॥७४॥

(भावो वि दिव्यसिद्धसुखभायणो) इति विषुलानाम—गायालक्षणं । भावो-
अपि, अपिशब्दाद्वद्व्यलिङ्गमपि । दिव्य-दिवि भव दिव्यं सौधर्मेणानेवीरतिक्लम्या-

गाथार्थ—भाव तथा द्रव्य दोनों लिङ्गों का धारक मुनि स्वर्ग और
मोक्ष-सम्बन्धी सुखोंका भाजन होता है तथा भावलिङ्ग से रहित पापी
मुनि कर्म रूपी मलसे मलिन चित्त होता हुआ तिर्थज्ञ गतिका पात्र
होता है ॥७४॥

विशेषार्थ—भावो वि—भावोऽपि यहीं अपि शब्दसे द्रव्य-लिङ्ग का
भी समुच्चय होता है अतः गाथाका अर्थ इस प्रकार निकलता है कि भाव
तथा द्रव्य दोनों लिङ्गों को धारण करने वाला मुनि स्वर्ग और मोक्षके
सुखका भाजन होता है और भावसे रहित अर्थात् मात्र द्रव्य लिङ्गका
धारक पापी मुनि कर्म रूपी मल से मलिन-चित्त होता हुआ तिर्थज्ञ
गतिका पात्र होता है । यहीं इतना विशेष समझना चाहिये कि सौधर्मं
स्वर्ग से लेकर अच्युत स्वर्ग तकके सुख तो मुनिलिङ्ग के बिना भी प्राप्त
हो सकते हैं क्योंकि गृहस्थ सम्यग्दृष्टि जीवका उत्पाद सौधर्मं स्वर्ग से
लेकर अच्युत स्वर्ग तक होता है उसमें भी सौधर्मं और ऐशान स्वर्ग की
देवियों को लोटकर अन्य महाद्विक देवों में ही गृहस्थ सम्यग्दृष्टि उत्पन्न
होता है । यहीं मात्र सौधर्मं और ऐशान स्वर्ग की देवियों में इसका उत्पाद
नहीं बताया है इसका यह अर्थ नहीं है कि आगामी स्वर्ग की देवियों में
होता है क्योंकि समस्त स्वर्गों की देवियों की उत्पत्ति सौधर्मं और ऐशान
स्वर्ग में ही होती है अतः इन दो स्वर्गों की देवियों में ही सब स्वर्गों की
देवियों का अन्तर्भाव हो चुकता है । सम्यग्दृष्टि जीवका उत्पाद किसी
भी प्रकार स्त्रियों में नहीं होता है । अच्युत स्वर्ग से ऊपर उत्पन्न
होनेके लिये मुनि लिङ्गका होना आवश्यक रहता है इसलिये भाव लिङ्ग
सहित द्रव्य लिङ्ग के द्वारा यह जीव सौधर्मं स्वर्ग से लेकर सर्वार्थ-सिद्धि
तकके सुख प्राप्त करता है । इसमें भी विशेषता यह है कि यदि कोई
अभव्य जीव मुनिव्रत धारण करता है तो उसके भावलिङ्ग नहीं हो
सकता, सदा द्रव्य-लिङ्ग ही रहता है और उस द्रव्य-लिङ्ग के प्रभाव से

न्यतरमहिंकरेवसुखं सौधर्माद्यच्छ्रुतस्वगंपर्यन्तं सुखं द्रव्यलिगमः त्तरेण भावनीयं । संयुक्ताद्रव्यलिङ्गेन सवर्धिसिद्धिपर्यन्तं सुखं ज्ञातव्यं । कस्यचिदभव्यस्य भावलिगमन्तरेण द्रव्यलिङ्गेन नवरैवेयकपर्यन्तं पुनः पुनर्भवपातहेतुमूलं सुखं ज्ञातव्यं । तेनास्य पादस्य पुनरर्थं प्रकाश्यते । भावोऽपि दिव्यशिवसौभ्यभाजनं स्वर्गमोक्षसौभ्यभाजनं । (भाववज्जितो सवणो) भाववज्जितः अवणो जिनसम्बन्धवरहितो दिग्म्बरः । (कर्ममलमलिगचित्तो) कर्ममलेन अतिचारानाचारातिक्रमव्यतिक्रमव्यतिक्रमचेष्टितो पार्जितपापेन दोषेण मलिनचित्तः मलिनं मलदूषितं चित्तमात्मा यस्य स भक्ति कर्ममलमलिनचित्तः । (तिरियालयभायणो पापो) तिर्यगालयभाजनं तिर्यगतिस्थानं भवति, पापः पापात्मा विचित्रभक्तिनाममधिपुञ्जवत् ।

भी वह नौवें ग्रेडेयक तकके सुख प्राप्त कर सकता है । अभव्य जीवका यह स्वर्ग-सम्बन्धी सुख पुनः संसार में पतन का हो कारण है, ऐसा जानना चाहिये । इस पादका दूसरा अर्थ ऐसा भी हो सकता है कि भाव-लिंगी मुनिकी यदि सराग चारित्र दशा में मृत्यु होती है तो वह मरकर स्वर्ग में ही उत्पन्न होता है, मोक्ष नहीं जा सकता क्योंकि मोक्षजाने के लिये पूर्ण वीतराग चारित्रकी आवश्यकता होती है और पूर्ण वीतराग चारित्र दशा में पर्याय समाप्त होती है तो मोक्ष जाता है इस तरह भाव-लिंगी मुनि स्वर्ग तथा मोक्ष दोनों जगह जाते हैं परन्तु भावसे रहित पापी तिर्यङ्ग गतिका पात्र होता है । यहाँ भाव-रहित होनेके साथ-साथ पापो विशेषण भी दिया है उससे सिद्ध होता है कि जो द्रव्यसे मुनिपद रखकर स्वच्छन्द-प्रवृत्ति करते हुए पापोपार्जन करते हैं वे तिर्यङ्ग गतिके पात्र होते हैं-निगोद तक में उत्पन्न होते हैं । वैसे करणानुयोग की अपेक्षा सम्यक्त्व न होनेके कारण जो भाव-लिंगी नहीं कहलाते फिर भी करणानुयोग की पद्धति के बनुसार समीचीत आचरण करते हैं ऐसे द्रव्य-लिंगी मुनि नौवें ग्रेडेयक तक उत्पन्न होते ही हैं । भाव अर्थात् जिन-सम्यक्त्वसे रहित साधु जब करणानुयोग में वर्णित मुनिके आचार विचार में भी अद्वा नहीं रखता तथा अतिचार अनाचार अतिक्रम और व्यतिक्रम रूप खेष्टाओंके द्वारा पाप कर्मका उपार्जन करने लगता है तब उसका विल सदा मलिन रहता है । उस दशा में वह पापो कहलाता है और विचित्र-मति नामक मन्त्रीके पुत्रके समान तिर्यङ्ग गतिका पात्र होता है । इस गाथा में विपुल तामक आर्द्ध छन्द है ॥७४॥

खयरामरमण्यकरंजलिमालाहि च संशुया विउला ।

चक्कहुररायलच्छी लक्ष्मेह बोहो ण भवणुआ ॥७५॥

खचरामरमनुजानामञ्जलिमालाभिः संस्तुता विउला ।

चक्रधरराजलक्ष्मीः लक्ष्मी बोधि न भव्यनुता ॥७५॥

(खयरामरमण्यकरंजलिमालाहि च) इयमणि विपुला गाथा ज्ञातव्या ।
अस्या अथमयः—खचरामरमनुजकरञ्जलिमालाभिष्व ले चरन्त्याकाशे गच्छ-
न्तीति खचरा विद्याधरा उभयष्ट्रेणिसम्बन्धिनः, न मिथन्ते बहुकालेन प्रच्यवन्ते-

गाथार्थ—विद्याधर देव और मनुष्यों की हस्ताञ्जलियों के समूह से जिसकी अच्छी तरह स्तुति ही यद्दि है तेंवी चालवारी वाला कल्प सदाचारों की भारी लक्ष्मी तो इस जीवके द्वारा कई बार प्राप्त की जाती है परन्तु भव्यजीवों के द्वारा स्तुत रत्नत्रय की लक्ष्मी प्राप्त नहीं की जाती अर्थात् रत्नत्रयको प्राप्ति दुर्लभ है ॥७५॥

विशेषार्थ—जो आकाश में चलते हैं वे विद्याधर हैं, ये विद्याधर विजयार्थ पर्वत की उत्तर तथा दक्षिण श्रेणियों पर निवास करते हैं । जो बहुत काल तक भरते नहीं हैं अर्थात् दीर्घियुक्त होते हैं ऐसे व्यन्तर देव अमर कहलाते हैं । तथा प्रति-श्रुति आदि मनुओं-कुलकरों से जिनकी

१. सुभावेणेति पाठान्तरं जयचन्द्रेणापि स्वीकृते अस्माद्गायामूर्त्रादप्ते ।

श्रीं पं जयचन्द्रेणापि स्वीकृते ।

भाव तिविहपमारं सुहासुहं सुदमेव गादवं ।

असुरं अद्वृतद्वं सुहं धर्मं जिनवरिदेहि ॥ १ ॥

भावः त्रिविघप्रकारः शुभोऽशुभः शुद्ध एव ज्ञातव्यः ।

अशुभः बात्तरीद्वः शुभः धर्मं जिनवरेद्वः ॥

टीका—भावं त्रिविघप्रकारं शुभं अशुभं शुद्धं एव निश्चयेन ज्ञातव्यं । अशुभं बात्तरीद्वं । शुद्धं धर्मध्यानं जिनवरेद्वः कथितम् ।

सुद्धं सुद्धसहावं अप्या अप्यमितं च णाथव्यं ।

इदि जिनवरेद्वः भणितं जं सेयं तं समायरद्व ॥ २ ॥

शुद्धः शुद्धस्वभावः आत्मा आत्मनि स च ज्ञातव्यः ।

इति जिनवरेद्वः भणितः यच्छेयः तत् समाचर ॥

टीका—हे मुझे ! शुद्धं निर्भूतं शुद्धस्वभावं तं आत्मानं आत्मनि ज्ञातव्यं । इति जिनवरेद्वेणितं कथितं । यच्छेयं कल्पाणकारि तत् समाचार कुविति ।

अमरा व्यन्तरदेवाः, मणुय—प्रतिश्रुत्यादिष्यो जाता ममुजाः, लक्ष्मामरमनुजास्तेषां
कराञ्जलयः करकुड्मलानि तेषां मालाभिः श्रेणिभिरुच । (संयुक्ता)—संस्तुताः ।
चक्रवर्तिनां च तथा मण्डलेश्वरमहामण्डलेश्वरार्थं मण्डलेश्वराणां राजां लक्ष्मीः
चक्रधरराजलक्ष्मी । (लक्ष्मेश्वरो होषी एव भव्यणुआ) एतादृशो लक्ष्मीविभूतिर्लभ्यते
प्राप्यते जीवेनेति, बोधी एव—परं बोधिनं लभ्यते । कर्थंभूता बोधिः, भव्यनुता
भव्यवरपुण्डरीकः स्तुता प्रशंसनीयः । रत्नत्रये भव्यनुता ! आसन्नभव्यजीव ।
त्वमिदं जानीहीति शेषः ।

पयलियमाणकसाओ पयलियमिच्छत्तमोहृसमचित्तो ।

पादइ तिहुयणसारं बोहो जिणसासणे जीवो ॥७६॥

प्रगलितमानकषायः प्रगलितमिथ्यात्वमोहृसमचित्तः ।

प्राप्तोति त्रिभुवनसारां बोधि जिनशासने जीवः ॥७६॥

(पयलियमाणकसाओ) प्रगलितमानकषायो मानकषायरहितः । (पयलिय-
मिच्छत्तमोहृसमचित्तो) प्रगलितमिथ्यात्वमोहृसमचित्तो यद्विपरीतं तपितमिथ्यात्वं,
मोहो वैचित्र्यं निविवेकता पूत्रमित्रकलशादिस्त्वेहः, प्रगतीं विमाशं प्राप्तीं निथ्यात्व-
मोहो यस्य स प्रगलितमिथ्यात्वमोहः, समं सर्वं तुणसुवर्णं-सर्परङ्गं च चन्द्रमित्र—

उत्पत्ति हुई है वे मनुज हैं । इन सबके करकुड्मलों की मालाओं से
जिसकी सम्यक् प्रकार स्तुति की जाती है अर्थात् विद्याधर व्यन्तर देव
तथा मनुष्य जिसे हाथ जोड़कर नमस्कार करते हैं ऐसी चक्रवर्तियों, मण्ड-
लेश्वर, महा मण्डलेश्वर, तथा अर्ध मण्डलेश्वर राजाओं की विपुल-बहुत
भारी लक्ष्मी तो जीवके द्वारा प्राप्त की जाती है परन्तु श्रेष्ठ भव्य जीवोंके
द्वारा स्तुत बोधि-रत्नत्रय रूप विभूति प्राप्त नहीं कही जाती । अर्थात्
चक्रवर्ती आदि की लक्ष्मी का मिलना तो सरल है परन्तु रत्नत्रय रूप
विभूति का मिलना कठिन है । अथवा भव्यणुआ इस विशेषण को बोहो
के साथ न लगाकर स्वतन्त्र सम्बोधन पद माना जा सकता है इस पक्ष
में 'भव्यणुआ' पदका अर्थ होगा—हे भव्य जीवोंके द्वारा स्तुत निकट
भव्यजीव ! तुम ऐसा जानो । इस गाथामें भी विपुला नामक आर्य
छन्द है ॥७५॥

गाथार्थ—जिसकी मान कषाय गल चुकी है, जिसके मिथ्यात्व और
मोह नष्ट हो चुके हैं तथा जिसका चित्त समता भावको प्राप्त हुआ है
ऐसा जीव ही जिनशासन में त्रिलोक श्रेष्ठ बोधि-रत्नत्रय रूप विभूतिको
प्राप्त होता है ॥७५॥

सुखदुःख—वन्मवन—पुरारण्यादिषु समाने चित्ते मनो वस्य समचित्तः । (पावश तिद्युयणसारं) प्राप्नोति लभते । कां, (बोही) बोधि रत्नत्रयप्राप्तिः । कथंभूतां बोधि, तिद्युयणसारं-शैलोक्योत्तमां (जिणसप्तणे जीवो) जिनशासने सर्वज्ञवीतराग-स्वामिनो यत्ते । मानमिथ्यात्ममोहरहितो जीवो बोधि प्राप्नोतीति जिनवचनं ज्ञातव्यमिहै ।

विषयविरत्तो समणो छट्टसंबरकारणाइं भाऊण ।

तित्ययरणामकम्मं बंधइ अइरेण कालेण ॥७७॥

विषयविरक्तः शमणः बोडशबरकारणानि भावयित्वा ।

तीर्थकरनामकर्म बध्नाति अच्चिरेण कालेण ॥७८॥

(विषयविरत्तो समणो) विषयेभ्यः स्पर्शरसगन्धवर्णशब्देभ्यः पञ्चेन्द्रियार्थेभ्यो विरक्तः पराद्भूम्भः शमणो दिगम्बरः, न तु इवेताम्बररादिकः प्रत्याख्यानादिहीनः तपःकलेशासहः शमण उच्यते न तु बहुवार जलस्य पाता भोजनस्य भोजता च (छट्टसंबरकारणाइं भाऊणं | बोडशबरकारणानि भावयित्वा । (तित्ययरनाम-

विशेषार्थ—मानका अर्थ अहंकार है, मिथ्यात्व विपरीत अभिप्राय को कहते हैं मोह, वैचित्त्य, निविशेकता अथवा पुत्र मित्र स्त्री आदिका सनेह कहुलाता है । समचित्त का अर्थ तृण और सुवर्ण, सर्व और माला, शत्रु और मित्र, सुख और दुःख, वन और भवन तथा नगर और अटवी में समझ रखना है इस तरह जिसकी मान कषार्थ गल चुको है, जिसके मिथ्यात्म और मोह नष्ट हो नुक्ते हैं तथा जो तृण सुवर्ण आदि में समचित्त है—हर्ष विषाद से रहित है वही तोन लोक में सारभूत रत्नत्रय रूप विभूति को प्राप्त होता है, ऐसा जिनशासन-बोतराग सर्वज्ञ देवका वचन है ॥ ७६ ॥

गायार्थ—विषयों से विरक्त रहने वाला साधु सोलह कारण भावनाओं का चिन्तवन कर थोड़े ही समय में तीर्थकर नाम कर्मका बन्ध कर लेता है ॥७७॥

विशेषार्थ—स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द ये पञ्चेन्द्रियों के विषय हैं । दिगम्बर साधु इन विषयों से सदा विरक्त रहते हैं । तपश्चरण-सम्बन्धी कलेश सहन करनेके कारण दिगम्बर साधु शमण कहुलते हैं । अन्य इवेताम्बररादिक साधु प्रत्याख्यान से रहित हैं तथा अनेक बार जल पीते एवं भोजन ग्रहण करते हैं इसलिये उन्हें शमण संज्ञा नहीं है । जो

कर्म बंधु) तीर्थंकरनामकर्म बह्नाति त्रिवतिमी प्रकृति स्वीकरोति यथा वैलाक्षं संचलयति पादाषः करोति । (अहरेण कर्त्तेण) अचिरेण कालेन अन्तः-मुहूर्तसमयेन, यदा पञ्चकल्याणलक्ष्मीं प्राप्नोति, अनन्त-कालमनन्तसुखप्रभवति, अनायासेन मोक्षं प्राप्नोति । अथ कानि तानि वीढशकारणाणि यस्तीर्थंकरनामकर्म बन्धते इति चेदुच्यते—

“दर्शनविशुद्धिविनयसंपन्नता १ शक्तिस्तेष्वनहित्वात्मेभीमज्जन्मते २ देवतादेहो शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिकैयावृत्यकरणमहृदाचायबहुश्रुतप्रवचनभवितरावश्य-कापरिहाणिमार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थंकरत्वस्य” ।

इत्युमास्वामिसूरिणा प्रोक्तं सूतं । अस्यायमर्थः—इहलोकभय—परलोकभय-वेदनाभय-मरणभय-आत्मरक्षणोपायदुग्धिभावागृह्णिभयः—अत्राणभयारक्षणभय—विद्युत्यातावाकस्मकभयं इति सप्तभयरहितस्वं निश्चेन्यलक्षणो मोक्षमार्ग इति जिनमतं तथेति वा निःशक्तित्वं (१) इहलोकपरलोकभौगोपभोगाकांक्षा-

शमण-मुनि पञ्चेन्द्रियोंके विषयों से विरक्त होता हुआ सोलह कारण भावनाओं का चिन्तवन करता है वह अत्य ही समय में उस तीर्थंकर नामकी प्रकृतिका बन्ध करता है जिससे पञ्चकल्याण रूप लक्ष्मीको प्राप्त होता है, अनन्त काल तक अनन्त सुखका अनुभव करता है और अनायास ही मोक्ष को प्राप्त होता है ।

प्रश्न—वे सोलह कारण भावनाएँ कौन हैं जिनसे तीर्थंकर नाम कर्मका बन्ध होता है ?

उत्तर—श्री उमास्वामी सूरिने तत्त्वार्थसूत्र में निम्नलिखित सोलह कारण भावनाएँ कही हैं—१ दर्शनविशुद्धि, २ विनयसंपन्नता, ३ शील-व्रतेष्वनतिचार, ४ अभोक्षणज्ञानोपयोग, ५ संवेग, ६ शक्तितस्त्याग, ७ शक्तितस्तप ८ साधुसमाधि ९ वैयावृत्यकरण, १० अहंद्रुक्ति, ११ आचार्यभक्ति, १२ बहुश्रुतभक्ति, १३ प्रवचनभक्ति १४ वावश्य-कापरिहाणि १५ मार्गप्रभावना और १६ प्रवचनवत्सलत्व । (१) इनमें प्रथम भावना दर्शन विशुद्धि है जिसका प्रमुख अर्थ अष्टाङ्ग सम्यग्दर्शन धारण करना है । १ निःशक्तित २ निःकांक्षित ३ निर्विचिकित्सित ४ अमूढदृष्टि ५ उपगृहन ६ स्थितिकरण ७ वास्तव्य और ८ प्रभावना ये सम्यग्दर्शन के बाठ अङ्ग हैं । इनका स्वरूप इस प्रकार है—

१. निःशक्तित अंग—इह लोकभय, परलोकभय, वेदनाभय, मरण

२. तत्त्वार्थसूत्रे वस्ताव्याये ।

निवृत्तिनिष्कार्यात्मकत्वं (२) शरीरादी शुष्टीति मिथ्यासंकल्परहितत्वं निविच्चिकिस्ता, मुनीनां रत्नत्रयमेडितशरीरमलदर्शनादी निश्चक्त्वं तत्र समाहौद्य वैयावृत्यविधानं वादिचिकिस्ता (३) परतत्वेषु भोहोज्जक्त्वमस्मूढदृष्टित्वं (४) उत्तमशमादिभिर्नामाद्ये गमेष्वद्विलक्षणं तत्त्वात्प्रतिक्रियात्मे एतेवृहसुप्रकृतिं (५) कथामविषयादिमित्तमविघ्वसकारणेषु सत्त्वपि धर्मप्रचयवनरक्षणं स्थितिकरणं (६) जिनशासने सदानुरागता वात्सल्यं (७) सम्यग्दर्शनज्ञानचारितपोभिरात्मप्रकाशनं शासनोद्योतकरणं वा प्रभावना (८) एतेरष्टमिणुण्ठपुङ्क्तस्य चमेजलत्तेलभय, आत्मरक्षाके उपायभूत दुर्ग आदिके अभाव में होने वाला अगुप्तिभय, रक्षकोंके अभाव में होनेवाला अत्राण अथवा अरक्षण भय और विद्युत्पात आदि आकस्मिक भय इन सात भयोंका अभाव होना निःशङ्खित अंग है अथवा मोक्षमार्गं निर्गन्ध लक्षण है—मोक्ष दिगम्बर मुद्रासे ही साध्य है ऐसा जिनेन्द्र भगवान् का मत है सो वह यथाथ है, इसप्रकार का अटल अद्वान होना सो निःशङ्खित अंग है।

२. निःकांकित अङ्ग—इस लोक और परलोक सम्बन्धी भोगोपभोग की आकृक्षा का अभाव होना निःकांकित अंग है।

३ निविच्चिकिस्त अङ्ग—शरीरादि में ‘यह पवित्र है’ इस प्रकार का मिथ्यासंकल्प न होना निविच्चिकिस्त अंग है। अथवा मुनियों के रत्नत्रय से मुशोभित शरीर सम्बन्धी भल आदिके दिखने पर रलानि रहित अवस्था को प्राप्त हो वैयावृत्य करना निविच्चिकिस्त अंग है।

४ असूढदृष्टि अङ्ग—मिथ्या-दृष्टियोंके कल्पित तत्वोंमें भोह छोड़ना असूढदृष्टि अंग है।

५ उपवृहण अथवा उपगूहन अङ्ग—उत्तम क्षमा आदिके द्वारा अपने धर्मकी वृद्धि करना अथवा संघके दोषोंको छिपाना उपवृहण अथवा उपगूहन अंग है।

६ स्थितीकरण अङ्ग—कथाप्रत्यय आदि द्वारा धर्म-धातका कारण उपस्थित होनेपर भी किसी को धर्मधात से बचाना स्थितीकरण अंग है।

७ वात्सल्य अंग—जिनशासन में सदा अनुराग दिखाना वात्सल्य अंग है।

८ प्रभावना अंग—सम्यग्दर्शन सम्प्रगृज्ञान सम्यक्चारित्र और सम्यक्तपके द्वारा आत्माका प्रकाश करना अथवा जिन शासन का उद्योत फैलाना सो प्रभावना अंग है।

मृतमूतनाशनाऽप्रयोगत्वं मूलकगाऊरसूरणकन्दगृजजनपलाण्डुविक्षेपदीग्निकलिङ-
पंचपूष्यसंधानकक्षीसुभपत्रपत्राकमांसादिभक्तभाजनभोजनादिपरिहरणं च
दर्शनविशुद्धिः (१) ज्ञानवर्णनचारित्रेषु तदत्सु चादरोऽक्षयायता च विनयसम्प्रता
(२) निरवद्धा वृत्तिः शीलवतेष्वनतिचारः (३) स तर्त ज्ञानस्योपयोगेऽम्प्रासः
अभीक्षणज्ञानोपयोगः (४) संसाराद्भीष्महत्वं संवेगः (५) स्वशक्त्यनुरूपं दार्त (६)
मार्गाविकृत्तः कालक्लेषस्तपः (७) मुनिगणतपःसञ्चारणं साधुसमाधिः (८) गुणवत्ता
दुःखोपनिषाते निरवशबृत्या तदपनयनं वैयावृत्यं (९) अहंत्सु केवलिषु अनुरागो
भक्तिः (१०) आचार्येष्वनुरागो भक्तिः (११) बहुषुतेष्वनुरागो भक्तिः (१२)

इन आठ गुणोंसे युक्त होना तथा चमड़े में रखे हुए तेल घी और
हींगका प्रयोग नहीं करना एवं मूली, गाजर, सूरण कन्द गुड्जन, प्याज,
मूणाल, दुधी, तरबूज, पञ्चपूष्य, अचार मुरब्बा, कुमुमभ पत्र, पत्तोंवाली
शाक और मांस-भक्षी मनुष्यों के बर्तन तथा भाजन आदि का त्याग
करना दर्शनविशुद्धि भावना है।

(२) दर्शन ज्ञान और चारित्र तथा इनके धारकों में आदर और
अक्षय भावके धारण करनेको विनय सम्प्रता कहते हैं।

(३) शोल तथा छ्रतोंमें निर्देष प्रवृत्ति करना शोल-छ्रतेष्वनतीचार
भावना है।

(४) निरन्तर ज्ञानमय उपयोग रखना अभीक्षण ज्ञानोपयोग
भावना है।

(५) संसार से भयभीत रहना संवेग भावना है।

(६) अपनी शक्ति के अनुसार दान देना शक्तितस्त्याग भावना है।

(७) मार्गसे अविरुद्ध कायकलेश करना शक्तितस्तप भावना है।

(८) मुनि-समूह को तपमें धारण करना अर्थात् उनके तपश्चरण में
आये हुए विघ्नों का दूर करना साधु-समाधि है।

(९) गुणों मनुष्यों को दुःख उपस्थित होनेपर निर्देष वृत्तिसे उसे दूर
करना वैयावृत्य भावना है।

(१०) अहंत केवली भगवान् में अनुराग होना अहंद्वक्ति है।

(११) आचार्यों में अनुराग होना आचार्य-भक्ति है।

(१२) अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता उपाध्याय आदिमें अनुराग होना बहुश्रुत
भक्ति है।

प्रबन्धने जिनसूत्रेनुरागो भवितः (१३) सामाधिक सर्वजीवेषु समत्वं, अमूर्विचालि-
जिनानां स्तुतिः स्तवः कथ्यते, एकजिनस्य स्तुतिर्बन्दनाभिषीयते, कृतदोषनिरा-
करणे प्रतिक्रमण, आगामिदोषनिराकरणे प्रत्याख्यानं । एकमुहूर्ताविषु शरीरव्युत्स-
र्जनं कायोत्सर्गः एतेषां षण्णामावश्यक नामपरिहाणिरेका अतुदृशी भावना (१४)
ज्ञातादिना धर्मप्रकाशनं गार्यप्रगत्वा (१५) सप्तमणि स्नेहः प्रबन्धनदत्सलत्वं (१६)
एताः षोडशभावनाः समस्तास्तीर्थकरनामकारणं दर्शनविशुद्धिसहिता व्यस्ता अपि
तीर्थकरनामकारणं भवन्तीति ज्ञातव्यं ।

बारसविहृतवयवरणं तेरसकिरियात् भाव तिविहेण ।

धर्मि धर्मसत्त्वुरियं णाणांकुसरेण मुणिपवर ॥७८॥

द्वादशविधतपश्चरणं त्रयोदशकियाः भावय त्रिविधेन ।

धर मनोभृतद्वुरिते ज्ञानाङ्गुष्ठेन मुनिप्रबर ॥ ७८ ॥

(बारसविहृतवयवरणं) द्वादशविधं तपश्चरणं अनशनमुपचासः, अवगौदर्यभ्रे-
क्यासादिरत्याहारः, बृहस्परिसंख्यानं गणितगृहेषु भोजन वस्तुसंह्या वा, रत्सपरि-
त्यागः षहस्रविर्जनं, विविक्तेषु जन्मुस्त्रोपशु नपुं सकरहितेषु स्थानेषु शून्याशारादिषु
आसनं उपबोक्षनं शम्या निद्रा—स्थानं अवस्थानं का विविक्तशश्यासनं, कायोक्लेशः

(१३) प्रबन्धन—जिनागममें अनुराग होना प्रबन्धनभवित है ।

(१४) सामाधिक सब जीवों में समता भाव होना, स्तव अर्थात् चौबीस
तीर्थकरोंकी स्तुति करना, बन्दना अर्थात् एक तीर्थकर को स्तुति करना,
प्रतिक्रमण अर्थात् लोहे हुए दोषोंका निराकरण करना, प्रत्याख्यान अर्थात्
आगामी दोषोंका निराकरण करना और कायोत्सर्ग अर्थात् एक मुहूर्त
आदिके लिये शरीर से ममत्व भाव छोड़ना इन छह आवश्यक कायोंको
नहीं छोड़ना आवश्यकापरिहाण भावना है ।

(१५) ज्ञान आदिके द्वारा धर्मका प्रकाश करना मार्ग-प्रभावना है ।

(१६) सहधर्मी भाइयों में स्नेह करना प्रबन्धन-वत्सलत्व भावना है ।
ये सोलह भावनाएँ सब मिलकर अथवा दर्शन-विशुद्धिके साथ पृथक्-पृथक्
भी तीर्थकर नाम कर्म के बन्ध के कारण हैं ॥७८॥

**गायत्र्य—हे मुनिप्रबर ! तुम बारह प्रकारके तपश्चरण और तेरह
क्षियोंका मन दबन कायसे पालन करो तथा ज्ञानरूपी अंकुशके द्वारा
मन रूपी मत्त हाथीको बश करो ।**

**विशेषार्थ—तपके बारह भेद हैं जिनमें छह बाय तप हैं और छह
अन्तर्ज्ञ तप । अनशन अर्थात् चार प्रकारके आहार का त्याग कर उप-**

‘जलौदनभोजनादिः इव षड्विष्ठं बाह्यं तपः । बाह्यं कल्पादिति चेत् ? बाह्यं भोजनादिकमपेक्ष्य प्रवर्तते, परप्रत्यक्षं वा प्रवर्तते, परदर्शने पाषण्डिगृहस्थीश्च क्रियते ततो बाह्यमुच्यते । एतस्मात् तपसः कर्मदहनं इन्द्रियतापकारित्वं च स्वति । [संयमो रागच्छेदः कर्मनाशो व्यानादिः आशानिवृत्तिः शरीरतेजोहानिः ब्रह्मचर्यं दुःखसहनं सुखानभिष्वज्ञ आगमप्रभावनादिकं च फलं शालब्धं पूर्व षड्विष्ठमध्यन्तरं तपः, यसः परतीर्थ्यरनालीढं स्वसंवेद्यं बाह्यदव्यानपेक्ष्यं ततोऽभ्यन्तरं तप उच्यते । तस्मिं? प्रायश्चित्तविनयवैयाकृत्यस्वाद्यायव्युत्सर्गं व्यानलक्षणं । तत्र नवविष्ठं प्राय-

वास करना, अब्दमोदयं अर्थात् एक आस आदि अल्पाहार लेना, वृक्ष-परिसंख्यान अर्थात् गिनतीके घरों में भोजन करना अथवा भोजन की वस्तुओं की संख्या निश्चित करना आदि, रस परित्याग अर्थात् धी-दूध दही मीठा तेल और नमक इन छह रसों में से किसी का त्याग करना, विविक्त शव्यासन अर्थात् जन्तु, स्त्री पशु और नपुंसकों से रहित शून्यागार आदि स्थानों में आसन लगाना-बैठना, शव्या-सीना अथवा ठहरना और कायकलेश अर्थात् मात्र जल और भात आदि का भोजन कर शरीर को क्लेश पहुँचाना, अथवा आतापनादि योग धारण करना ये छह बाह्य तप हैं । ऐतप बाह्य भोजन आदि की अपेक्षा रक्तकर प्रवृत्त होते हैं, दूसरों के देखने में आते हैं अथवा अन्य मतमें पाषण्ड गृहस्थों के द्वारा भी किये जाते हैं इस लिये बाह्य तप कहलाते हैं । [इस बाह्य तपसे कमोंका भ्रम होना, इन्द्रियोंको ताप करना, संयम, रागका नाश, कर्मनाश, ध्यान आदि, आशाका निवृत्त होना, शरीर के तेजका ह्रास होना, ब्रह्मचर्य, दुःख सहन करने का अभ्यास होना, सुखमें आसक्ति का न होना तथा आगम की प्रभावना होना आदि फलकी प्राप्ति होती है ।]

अब छह प्रकारके अभ्यन्तर तपका वर्णन करते हैं चूंकि यह तप अन्य मतावलम्बियों के विश्वाय है, स्वसंवेदन से ही इसका अनुभव होता है, और बाह्य पदार्थों की इसमें अपेक्षा नहीं रहती, इसलिये यह अन्तरज्ञ तप कहलाता है । प्रायश्चित्त, विनय, वैयाकृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये छह अन्तरज्ञ तपके भेद हैं । इनमें प्रायश्चित्त के नौ, विनय के चार, वैयाकृत्य के दश, स्वाध्याय के पाँच, व्युत्सर्ग के दो और ध्यानके चार भेद हैं । छह बाह्य और छह अभ्यन्तर दोनों मिलाकर बारह प्रकारका तप है ।

१. इसि क प्रती केवलपि संषोषितः ।

शिवतः, चतुर्विषो विनयः, दशविषं वैयाकुलं पञ्चविषः स्वाध्यायः, हिंविषो व्यु-
त्सर्गः, चतुर्विषं ध्यानं चेति षड्विषमध्यन्तं तप इति द्वादशविषं तपः । किं तत्त्व-
विषं प्रायशिच्चत्तमिति चेत् ? गुरोरग्ने स्वप्रमादनिवेदनं दशवोषरहृतमालोचनं ।
के ते दश दोषा आलोचनाया इति चेत् ?—

‘आकृष्णिय अणुमाणिय जं दिट्ठे बाग्रं च सुहं च ।

छन्नं सद्वात्तलब्धं बहुजगमन्वत्त तस्सेवी ॥ १ ॥

पुरुषस्यैकान्ते द्विषाप्यमालोचनं, स्त्रियास्तु प्रकाशे अपाश्रयमालोचनं महदपि
तपष्ट्रं रणमालोचनरहितं तत्प्रायशिच्चत्तमकुर्वतो वा अभीष्टफलदं न भवतीति
आत्म्यं । दोषमुच्चायां उच्चार्यं मिथ्या में दुष्कृतमस्तु इत्येवमादिरभिषेतः प्रतीकारः
प्रतिक्रमणं एतत्प्रतिक्रमणमाचार्यानुज्ञया शिष्येणैव कर्त्तव्यं । आलोचनं प्रदाय प्रति-

प्रश्न—प्रायशिच्चत्त तपके नी भेद कौन हैं ?

उत्तर—आलोचना, प्रतिक्रमण तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद,
परिहार और उपस्थापन ये प्रायशिच्चत्त के नी भेद हैं । इनका स्वरूप इस
प्रकार है—

गुरु के आगे दश दोष रहित होकर अपना अपराध निवेदन करना
आलोचना है ।

आकृष्णिय—आकम्पित अनुमानित, दृष्ट, वादर, सूक्ष्म, छन्न, शब्दा-
कुलित, बहुजन अव्यक्त और तस्सेवी ये आलोचना के दश दोष हैं । इनका
विवेचन दर्शन प्राभृतकी गाथा ९ में किया जा चुका है । पुरुष को एकान्त
में दो जनोंके समझ और स्त्रीको प्रकाश में तीन जनोंके समझ आलोचना
करना चाहिये । आलोचना से रहित बहुत बड़ा भी तपश्चरण प्रायशिच्चत्त
न करने वाले साधु को इष्ट फल नहीं देता है, ऐसा जानना चाहिये ।
दोष का बार-बार उच्चारण कर मेरा पाप मिथ्या हो इस प्रकार कह कर
अपनी इच्छानुसार उसका प्रतिकार करना प्रतिक्रमण कहलाता है । यह
प्रतिक्रमण आचार्य की आज्ञा से शिष्य को ही स्वयं करना चाहिये ।
जिसमें गुरुके लिये आलोचना देनेके बाद प्रतिक्रमण स्वयं शिष्यको करना
पड़ता है वह तदुभय कहलाता है । जहाँ शुद्ध वस्तुमें भी अशुद्धपनेका
संशय अथवा विपर्यय ज्ञान होता है अथवा अशुद्ध वस्तु में शुद्धपने का
निश्चय होता है अथवा छोड़ी हुई वस्तु पात्र में आ जाती है अथवा मुख
में पहुँच जाती है अथवा जिस वस्तु के ग्रहण करने पर कषायादिक

१. अस्मा गावाया ज्ञाने वस्तु-प्राभृतस्य नवमगायाशो दृष्टव्यः ।

क्रमणमार्येन व कर्तव्यं तत्तदुभयं मुच्यते । शुद्धस्याप्यषुद्धते यत्र सन्देहविषययो
भवतः, अष्टुद्धस्य षुद्धत्वेन निष्क्रयो वा यत्र, प्रस्यास्यातं यत्तद्दस्तु भाजने मुखे वा
प्राणे, यस्मिन् वस्तुनि चूहीते कषायादिकमुल्पश्चते तस्य सर्वस्य त्यागो विवेकः ।
नियतकालकार्यवाङ् भनसां त्यागो व्युत्सर्गः । तपो वाहुं कवित्तमेव । दिनपक्षमा-
साविविभागेन दीक्षाहापानं छेदः । दिवसादिविभागेनैव दूरतः परिवर्जनं परिहारः ।
महाब्रतानां मूलच्छेदनं कृत्वा पुनर्वैक्षिकाप्रापणमुफस्यापना । आचार्यमपृष्ठ्वा आता-
पनादिकरणे पुस्तकपिच्छादिपरोदकरणम्भूणे ग्रन्थोदे प्राप्तादतः तदाद्यादिवन्प्रा-
करणे संषनायमपृष्ठ्वा स्वसंघगमने देशकालनियमेनावश्यकत्व्यवृत्तविशेषस्य धर्म-
कथादिव्यासंगेन विस्मरणे सति पुनः करणे अन्यशापि चैकंविष्टे आलोचनमेव प्राय-
विचत् । एहिन्द्रियवागादिदुष्परिणामे, आचार्यादिषु हस्तपादादिसंघटने ऋतसमिति-

विकार उत्पन्न होता है, उस सबका त्याग करना विवेक कहलाता है
किसी निश्चित समय तक शरीर बचन और मनका त्याग करना अर्थात्
इनकी प्रवृत्ति को रोकना व्युत्सर्ग है । बाष्प तप और कहा हो जा चुका
है । दिन पक्ष तथा मास आदि के विभाग से दीक्षा कम करना छेद है ।
दिन आदि के विभाग द्वारा अर्थात् किसी निश्चित अवधि तक के लिये दूर
छोड़ना परिहार है । और महाब्रतों का मूलच्छेद करके फिर से नई दीक्षा
देना उपस्थापना है ।

आचार्य से पूछे बिना आतापन आदि योग धारण करना, बिना पूछे
पुस्तक पीछी आदि दूसरों के उपकरण प्रहण करना, दूसरे के परोक्ष में
अर्थात् यदि कोई देखने वाला न हो ऐसी स्थिति में प्रमाद से आचार्य
आदि के वचनों का पालन नहीं करना, संघके स्वामी से पूछे बिना अपने
संघसे चला जाना, देश और कालके नियमानुसार अवश्य ही करने योग्य
व्रत-विशेष का धर्म-कथा आदि में लग जानेसे भ्रूलजाना तथा बाद में
उसका करना, इन कार्योंमें तथा इसी प्रकारके अन्य कार्योंमें भी आलो-
चना ही प्रायविचत होता है ।

मन सहित स्पर्शनादि छह इन्द्रियों और ध्वनि आदि की दुष्प्रवृत्ति
होना, आचार्य आदि पूज्य जनोंको अपने हाथ तथा पौव आदिका धक्का
लग जाना, व्रत समिति और गुप्तियोंमें घोड़ा अतिथार लग जाना, चुगली
तथा कलह आदि करना, वैयाकृत्य और स्वाध्याय आदि में प्रमाद करना,
आहारके लिये गये हुए साथुके लिङ्गका उठना तथा दूसरेको संक्लेश करने
वाली प्रवृत्तका होना आदि कार्योंके समय प्रतिक्रमण नामका प्रायविचत

गुप्तिषु स्वरूपातिचारे, वैकृन्यकलहादिकरणे, वैयाकृत्यस्वाध्यायादिप्रभावे, गोर्खरगत्य-
स्य लिगोत्थाने, अन्यसंबलेशकरणादी च प्रतिक्रमणं प्रायशिष्ठसं भवति । हिंसान्ते
रात्यन्ते भोजनगमनादी च प्रतिक्रमणं प्रायशिष्ठते । लोचनसञ्ज्ञेवस्वप्नेद्वियाति-
आररात्रिमोजनेषु पक्षमाससंवत्सरादिक्षोदादी च उभयं आशोचनप्रतिक्रमणप्राय-
शिष्ठते । 'मौनादिना [मीनाहिना]' लोचकरणे उदरकुमिनिर्गमे, हिंममशकादिभाहा-
वातादिैसंघर्षतिचारे, स्त्रिरघ्नभूहरिततृणवं कोपरिगमने, जानुमात्रजलप्रवेशकरणे,
अन्यनिभित्तवस्तुत्स्वेषमोगकरणे, नावादिनदीतरणे, पुस्तकप्रतिमापातमे, पंचस्थावर
वथाते, अदृष्टदेशतनुमलविसगदी, पक्षादिप्रतिक्रमणक्रियायां, अश्वव्यास्थानश्वस्य-
तादिषु कायोत्सर्गं एव प्रायशिष्ठते । उच्चारप्रस्तुवणादी च कायोत्सर्गः प्रसिद्ध एव ।
अनशनादिकरणस्थानमागमाद्वैद्वृत्यं । नवविष प्रायशिष्ठते कि फलं ? भावप्रायादोऽन-
वस्था शल्याभावदादधीयिकं फलं वेदितस्यं ।

होता है । दिनके अन्तमें, रात्रिके अन्त में और भोजन तथा गमन के
प्रारम्भ में भी प्रतिक्रमण नामक प्रायशिष्ठता होता है ।

केशलोच, नखच्छेद तथा स्वभन्म में जननेन्द्रिय-हन्त्रयन्त्रो आंतंचार
लगाना स्वप्न में ही रात्रि भोजन करना, पक्ष, मास तथा वर्ष आदि के
दोषों की समीक्षा के समय आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों ही प्रायशिष्ठते
होते हैं ।

विना मौनके लोच करना, उदरसे कुमिका निकल आना, हिंम, मच्छर
आदि तथा तीव्र औषधी आदिके समय संघर्ष से अतिचार लगाना, तेल तथा
धी आदि से स्त्रिरघ्न भूमि, हरे तुण और कोचड़ पर चलना, घुटने मात्र
गहरे जलमें प्रवेश करना दूसरे के निमित्त रखी हुई बस्तुका अपने बापके
लिये उपयोग करना, नाव आदिके द्वारा नदी का पार करना, पुस्तक तथा
प्रतिमा का नीचे गिर जाना पौच प्रकार के स्थावर जीवोंका घात होना,
विना देखे स्थान में शरीरका मल छोड़ना, पक्ष आदिके प्रतिक्रमण की
क्रिया और व्याख्यान के प्रारम्भ तथा अन्त आदि के समय कायोत्सर्ग
करना ही प्रायशिष्ठता है । दीर्घ शाक्खा तथा लघुशाक्खा आदि के समय
कायोत्सर्ग करना प्रसिद्ध ही है । अनशन आदि तपोंके करनेका स्थान
आणम से जानना आहिये ।

१. अनशारज्जमीमूर्ते तु मौनादिना विनालोभनकरणे । सर्वपुस्तकेषु इवुगेव पाठः ।
२. संहर्षा म० क० ।

अनलसेन देशकालादिविशुद्धि विधानशेन सबहुमानो यथाकृति क्रियमाणो
मोक्षार्थं ज्ञानग्रहणम्यासत्स्मरणादि ज्ञानविनयः । तत्त्वशङ्खाने निःशक्तिश्वादिदर्शन-
विनयः । ज्ञानदर्शनकर्ता त्रैश्वरचरणे तद्वति च ज्ञानेऽतिभक्तिभवित्वश्वरणानुष्ठानं
चरणविनयः । प्रत्यक्षेष्वाचार्यादिष्वस्युरथानवन्दनानुगमनादिरात्मानुरूपः चरोक्षेष्वपि
तेष्वस्त्रिलिङ्गियागुणकीर्तनस्मरणानुज्ञानुष्ठायित्वादिश्वं कामवाङ् मनोभिरूपचार-
विनयः । विनयस्य कि फलं ? ज्ञानलाभः आचारशुद्धिः सम्यग्गारणवनादिश्वं विनय-
स्य फलं वेदितम्यं । इति चतुर्विधो विनयः ।

प्रश्न—नौ प्रकार के प्रायशिच्छत का क्या फल है ?

उत्तर—भावोंकी निर्मलता, अनवस्था, अस्थिति और शत्यका अभाव
तथा दृढ़ता आदि प्रायशिच्छत का फल जानना चाहिये ।

विनय तपके चार भेद हैं—१ ज्ञान विनय, २ दर्शन विनय, ३ चारित्र
विनय और ४ उपचार विनय । इनका स्वरूप इस प्रकार है—

देश काल आदि की शुद्धिके विधान को जानने वाला मुनि—आलस्य
रहित हो मोक्षकी प्राप्तिके लिये बहुत सन्मान के साथ शक्ति-अनुसार
जो ज्ञानका ग्रहण, अभ्यास तथा स्मरण आदि प्रकार है यह ज्ञान-विनय
है । तत्त्व श्रद्धान में निःशब्दित आदि गुणों की प्रवृत्ति होना दर्शन-विनय
है । ज्ञान और दर्शनसे युक्त मुनिका अतिशय कठिन चारित्र तथा चारित्र
युक्त ज्ञान में अतिशय भक्ति होना और भाव-पूर्वक चारित्र का पालन
करना चारित्र विनय है । आचार्य आदि के प्रत्यक्ष होनेपर आते समय
उठकर खड़े होना, वन्दना करना और जाते समय पीछे चलकर पहुँचा
देना तथा उनके परोक्ष में भी हाथ जोड़ना, गुणोंका कीर्तन करना,
स्मरण करना और काय बचन तथा मनसे उनको आज्ञानुसार प्रवृत्ति
करना उपचार विनय है ।

प्रश्न—विनय तपका क्या फल है ?

उत्तर—ज्ञान, लाभ, आचार, शुद्धि तथा समीक्षीन आराधना आदि
की प्राप्ति होना विनय तपका फल है ।

इसप्रकार चार तरह की विनय का वर्णन हुआ ।

आगे देश प्रकार की वैयाकृत्य का वर्णन करते हैं—

१ आचार्य का वैयाकृत्य, २ उपाध्याय का वैयाकृत्य, ३ महोपवास
आदिके करने वाले तपस्ची का वैयाकृत्य, ४ शास्त्र का अभ्यास करनेवाले

दशविषं वैयावृत्यं । तथा हि । आचार्यस्य वैयावृत्यं, उपाध्यायस्य वैयावृत्यं, महोपवासाद्यनुष्ठानितपरिवनो वैयावृत्यं लालक्षण्यसी हैड्यास्तस्य वैयावृत्यं, रुजादिशिलस्तकरीरो ग्लानस्तस्य वैयावृत्यं स्थविरसन्ततिर्णणस्तस्य वैयावृत्यं दीक्षाकाचार्यविष्यसंबः कुलं तस्य वैयावृत्यं, ऋषिमुनियत्यनगारनिवहः संघः, अथवा ऋष्यार्थिकाशावकाशाविकानिवहः संघस्तस्य वैयावृत्यं, चिरप्रवर्जितः सावुस्तस्य वैयावृत्यं, विद्वताक्षतत्वादिलोकसम्मातोऽसंयतसम्यग्दृष्टिर्वा मनोऽस्तस्य वैयावृत्यं । किं तद्यावृत्यं ? एतेषां दशविषानामाचार्यवीर्यां व्याधिपरीषहमिष्यात्वादेः प्रासुकौषधभक्षादिप्रतिश्रयस्तरादिविष्वर्भोपिकरणैः सम्यक्स्वप्रतिस्थापनं च प्रतीकारो वैयावृत्यं बाह्याद्याभावे स्वकारे (न) इलेष्वाद्यात्मर्मलापकर्णणादिस्तदानुकूल्यानुष्ठानं च वैयावृत्यं । वैयावृत्यकरणे किं फलं ? समाधानं ('समाध्याधानं') ।

शैक्षणिका वैयावृत्य ५ रोग आदि से जिनका शरीर किलष्ट हो रहा है ऐसे ग्लान मुनियों का वैयावृत्य, ६ वृद्धमुनियों की सन्तति-रूप गणका वैयावृत्य, ७ दीक्षा देने वाले आचार्य के शिष्य समूह रूप कुल का वैयावृत्य, ८ ऋषि यति मुनि और अनगार इन चार प्रकार के मुनियोंके समूह रूप संघका अथवा मुनि आर्थिका श्रावक और श्राविका रूप चतुर्विधि संघका वैयावृत्य, ९ चिरकाल के दीक्षित साधुका वैयावृत्य और, १० विद्वता तथा वक्तुत्व कला आदिके कारण लोकप्रियताको प्राप्त मनोऽन्न साधुका अथवा उक्त गुण-विशिष्ट वासंयत सम्यग्दृष्टि का वैयावृत्य करना सो दश प्रकार का वैयावृत्य है । इन आचार्य आदि दश प्रकारके मुनियों को व्याधि, परीषह अथवा मिष्यात्व आदिका प्रसङ्ग उपस्थित होनेपर प्रासुकौषध, आहार आदि, रहने के लिये उपाश्रय तथा संस्तर आदि धर्म के उपकरणों से उनकी व्याधि आदिकां प्रतीकार करना और उन्हें सम्यक्लब में फिरसे स्थित करना वैयावृत्य कहलाता है । बाह्य पदार्थ के न होनेपर अपने हाथ आदि शरीर पर ही उन्हें थुका देना, हाथ से ही कफ आदि भोजनी मलका निकालना आदि तथा उनके अनुकूल चेष्टा करना वैयावृत्य है । वैयावृत्य करनेसे समाधान-स्वस्थता रूप फल की प्राप्ति होती है ।

अब पाँच प्रकारके स्वाध्याय का वर्णन करते हैं—

स्वाध्यायके पहले भेदका नाम वाचना है जिसका अर्थ होता है—

१. समाध्याधान विशिष्टकित्साभावप्रवचनवात्पादभिव्यक्त्यर्थ तत्त्वार्थराजवार्तिके अ० ९ सू० २४ ।

बाचना, संशयच्छेदाय निश्चितवलाभान्नाय वा ग्रन्थार्थोभवस्य परं प्रस्तु-
योगः । आस्मैन्तिपरातिसम्बानोसहसादिवचितः प्रकृष्टना । अविगतर्थस्तीकाग्रथेण
मनसाभ्यासोअनुप्रेक्षा । घोषशुद्धं परिवर्तनमाम्नायः । दृष्टादृष्टप्रयोजनात्पेक्षम्-
मार्गानिवर्तनसन्देहच्छेदापूर्वकिंप्रकाशनाद्यर्थो अमंक्यानुष्ठानं अर्थोपदेशः । पञ्चविष-
स्य स्वाध्यायस्य किं फलं ? प्रज्ञातिशयप्रशास्ताध्यवसायप्रवचनस्थितिसंशयोच्छेद-
परवादिशकोषाभावितेगतायुद्धतिचारविद्युद्धयाद्यर्थः पञ्चविषः स्वाध्यायः ।

नियतकाली यावज्जीवं वाका यस्याभमत्तस्यायोऽस्यन्तरोपधिव्युत्सर्गः वाह्यस्वने-
कप्रायो व्युत्सर्गः । निःसंगत्वनिर्भयस्त्वजीविताशाव्युदासदोषोच्छेदमोक्षमार्गभावना-
परत्वादि व्युत्सर्गफलम् ।

अथ व्यानं नाम द्वावशं तप उच्चते तदर्थमिदं सूत्रमुमास्वामिभिः इति—

‘उत्तमस्त्वंहनस्तीकाग्रचित्तानिरोषो व्यानमन्त्तमुहृत्तिः ॥’

निर्देशि ग्रन्थ अर्थ और ग्रन्थ अर्थ दोनोंका प्रतिपादन करता । दूसरा भेद
प्रकृष्टमा है—संशय को नष्ट करने तथा निश्चित अर्थ को सुदूर करने के
लिये दूसरों से ग्रन्थ अर्थ अथवा दोनोंका पूछना सो पूँछना नामका
स्वाध्याय है । पूछते समय आत्म-प्रशंसा, पर-प्रतारणा अथवा उपहास
आदि का अभिप्राय नहीं होना चाहिये । तो सरा भेद अनुप्रेक्षा है—जाने
हुए पदार्थ का एकाग्रता पूर्वक मनसे अभ्यास करना सो अनुप्रेक्षा नामका
स्वाध्याय है । चौथा भेद आम्नाय है—उच्चारण की शुद्धतापूर्वक श्लोक
आदिका पाठ करना आम्नाय है । पाँचवीं भेद अर्थोपदेश है—दृष्ट अथवा
अदृष्ट-प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष प्रयोजनकी अपेक्षा न रखकर उन्मार्गको
निखूलि, सन्देह का छेद तथा अपूर्व अर्थ को प्रकाशित करने आदिके
उद्देश्यसे अमंक्या का करना अर्थोपदेश नामका स्वाध्याय है ।

प्रश्न—पाँच प्रकार के स्वाध्याय का क्या फल है ?

उत्तर—बुद्धिका अतिशय, प्रशस्त निहच्य, आगम को स्थिति, संशय
का उच्छेद, परवादियों की शङ्खा आदिका अभाव संवेगता की वृद्धि तथा
अतिचारों की विद्युद्धि आदि के लिये पाँच प्रकार का स्वाध्याय किया
जाता है ।

आगे व्युत्सर्ग तप का बर्णन करते हैं—

नियत काल अथवा जीवन पर्यन्त के लिये शरीर का त्याग करना
अभ्यन्तरोपधि व्युत्सर्ग है । वाह्योपस्थि व्युत्सर्ग के अनेक भेद हैं । निःस-
ञ्जना-मिष्परिग्रहता, जीवित रहने की आशा का त्याग, दोषोंका उच्छेद
और मोक्षमार्ग को भावना में लात्पर रहना आदि व्युत्सर्ग तपका फल है ।

अस्यायपर्यः—वज्रश्वभनाराच्चर्संहननं, वज्रनाराच्च संहननं नाराच्चर्संहननं संहननश्रवयमुत्तमं संहनन मोक्षादिकारणस्यात् । प्रथमं संहननं मोक्षस्य हेतुः । ज्यानस्य हेतुस्त्रितयमपि भवति । अर्थमाराच्चस्य कीलिकाया असंप्राप्तासृपादिकायाच्च संहननश्रवयस्यागतमुहूर्तकालं यावच्चित्तानि रोषधारणायामसमर्थस्यात् । गमतभोज-वादिक्रियाविदेवेवनियमेन प्रदत्तमानस्यात्प्रव एकस्याः क्रियायाः कलूबेनावस्थानं निरोधः—क्रियास्त्ररक्षवधानाभावेन एकक्रियायाः सात्स्येन प्रवृत्तिनिरोध इत्यर्थः । एकाग्रे एकार्थे एकस्मिन्नर्थे प्रधाने वा वस्तुनि चिन्तानिरोधः—एकस्मिन् द्रव्ये पर्याये तदुमयात्मके स्थूले सूक्ष्मे वा चिन्तानिरोध इत्यर्थः । अथवा सदृश्यान अर्थमुख, एकस्मर्ग्यस्य स एकायः स चासौ चिन्तानिरोधइच्चैकाग्रचिन्तानिरोधः । एकस्मिन्नर्थे वर्तमानचिन्तानिरोधः एकमुखः सदृशानं, अनेकविषयसूत्रादौ अनेकमुखः

जागे ध्यान नामक बारहवें तपका वर्णन किया जाता है । उसके लिये उमास्वामी महाराज ने इस सूत्र की रचना की है—‘उत्तमसंहनन-स्येकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तसमुहूर्तात्’—इसका अर्थ है—उत्तम संहनन वाले जोवका किसी एक पदार्थ में अन्तमुहूर्त के लिये चिन्ता का तक जाना ध्यान कहलाता है । वज्रश्वभनाराच्च संहनन, वज्रनाराच्च संहनन और नाराच्च संहनन, ये तीन संहनन उत्तम संहनन हैं क्योंकि ये मोक्ष आदि की प्राप्ति के कारण हैं । इनमें से प्रथम संहनन मोक्षका कारण है किन्तु ध्यान के कारण तीनों संहनन हैं । अर्थ नाराच्च, कीलिका और असंप्राप्तासृपादिका इन तीन संहननों में अन्तमुहूर्त तक चिन्ता के निरोध करनेकी सामर्थ्य नहीं है । गमन, भोजन आदि क्रिया विशेषो-विभिन्न विभिन्न क्रियावर्गोंमें अनियम पूर्वक प्रवृत्ति करने वाले आत्मा का किसी एक क्रिया का कर्ता रखना निरोध कहलाता है । अर्थात् बोच में दूसरी क्रिया का व्यवधान न कर एक क्रिया का ही निरन्तर प्रवृत्ति करना निरोध है । एकाग्र अर्थात् एक पदार्थ में अथवा किसी एक प्रधान वस्तु में चिन्ताका निरोध करना—एक द्रव्य, एक पर्याय अथवा दोनों रूप स्थूल और सूक्ष्म पदार्थ में चिन्ता का निरोध करना एकाग्र चिन्ता निरोध कहलाता है । अथवा ध्यान सदृश रूप है, अग्र का अर्थ मुख है । एक है अथ जिसमें उसे एकाग्र कहते हैं और जो एकाग्र है वही चिन्ता निरोध है, इस तरह एकाग्र और चिन्ता निरोधका विशेष्य विशेषण अथवा कर्म-कारण समाप्त करना चाहिये । इस पक्षमें एकाग्र चिन्ता निरोध का अर्थ एक-मुख चिन्ता निरोध होता है । एक पदार्थमें वर्तमान चिन्ताका निरोध हो जाना एक-मुख चिन्ता-निरोध है । यही सदृश्यान अर्थात् समीचीन

सद्व्यानं न भवति । 'था प्रबोधिसिद्धा अनिरावाधेन, परिस्पन्दत तथाऽनिरागुण्याद्वचानं चान् ॥' लाट् । तुष्टिलापतिष्ठलामुद्रेजापरोपहजयथारिषादिकं यस्त्वरकारणं तदेव व्यानकारणमिति ज्ञातव्यं । आन्तुमुहूर्तात् मुहूर्तमध्ये व्यान भवति । न चाधिकः कालो व्यानस्यास्ति, कस्मात् ? चिन्तानां दुर्धरत्वात् असिद्धपलत्वाच्च । एतावत्थपि काले ज्वलदचलं व्यानं कर्मेभवं साय भवति प्रलयकालमारुतवत् समुद्रजलशोषणवत् । तदृष्टानं हेयमुग्नादेय च । तत्र हेयमार्त्त रौद्रं च । उपादेयं वर्ष्यं शुक्लं च । अहतो दुःखे भवमार्त्त । रुद्रः कूराशयः प्राणी तत्कर्म रौद्रं । अर्हो वस्तुस्वरूपं तस्माद्बनपेत् आश्रितं वर्ष्यं । मलरहितात्मपरिणामोदृभवं शुक्लं । तत्र वर्ष्यं शुक्लं च द्वयं मोक्षकारणं । संसारकारणमन्यद्वयमार्त्तरौद्रमिति ज्ञातव्यं । आर्तममनोज्ञस्थ संप्रयोगे तदिप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारो वारं वारं चिन्तनं । मनोज्ञस्य विपरीतं चिन्तनं तदिपरीतं । वेदनाचिन्तनं । निदानस्य चिन्तनं । हिसानूतस्तीयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रं व्यानमुत्पद्धते । आत्मविरतदेश-

व्यान है । अनेक इन्द्रियों तथा अनेक शास्त्र आदि में जो व्यान प्रवर्तमान रहता है, वह अनेक-मुख व्यान कहलाता है अनेक मुखव्यान सद्व्यान नहीं है । जिस प्रकार अनिरावाध अर्थात् वायुके संचार सहित स्थान में दीपक की शिखा स्फुरित नहीं होती, उसी प्रकार अनिराकुलता अर्थात् आकुलित दशा में व्यान नहीं होता । गुण्ठि, समिति, धर्म, अनुग्रेधा परोपहृ-जय और चारित्र-आदि जो संबंध के कारण हैं वे ही व्यान के कारण हैं ऐसा जानना चाहिये । आन्तुमुहूर्तात् इस पदका अर्थ है कि व्यान अन्तमुहूर्त के भीतर होता है । अन्तमुहूर्त से अधिक व्यानका काल नहीं होता है क्योंकि चिन्ताएँ अत्यन्त दुर्धर और अस्यन्त चपल होती हैं । परन्तु इतने थोड़े समयमें भी यदि विचल व्यान हो जाय तो वह कर्मोंके छंस-क्षयका कारण होता है जैसे कि प्रलय कालकी वायु और समुद्र के जलको सुखाने वाली बड़वानल ।

वह व्यान हेय भी है और उपादेय भी । आर्त और रौद्र व्यान हेय हैं तथा वर्ष्य और शुक्लव्यान उपादेय हैं । अहत का अर्थ दुःख होता है, दुःख में जो होता है वह आर्तव्यान है । रुद्र कूर परिणाम वाले जीवको कहते हैं उसका जो कर्म है वह रौद्रव्यान है । धर्मका अर्थ वस्तु स्वरूप है, वस्तु

३. बीर्यविशेषात्प्रदीपं शिखावत् ॥ ५ ॥ यथा प्रबोधिसिद्धा निरावाधे प्रबुद्धिता न परिस्पन्दते तथा निराकुले देशे, बीर्यविशेषादवव्ययमाना चिन्ता विमा व्याक्षेपेण । एकाग्रेष्यावनिष्ठते । त० चा० अ० ९ सूत्र २७

विरतप्रसरसंयतेषु संभवति । रीढ़ अविरतवेषाविरतेषु संभवति । आशापायविपाक संस्थानविवर्धीवैष्ट्यंव्यानमुत्पद्यते । तत्पूर्वविदो मुनेः श्रेष्ठारोहणात्पूर्वं भवति । वेष्योरपूर्वकरणात्प्रकाल्यात्मानां प्रथमं शुक्लं भवति । क्षीणकषायस्य द्वितीयं शुक्लं । तृतीयं शुक्लं चतुर्थं च शुक्लं केवलिनां भवति । तत्र संयोगस्य तृतीयं चतुर्थं मयोगस्येति । पृथक्त्वविसकीचीचारं प्रथमं शुक्लं । एकत्ववित्तकवीचारं द्वितीयं शुक्लं । सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिनामकं तृतीयं शुक्लं । व्युपरतक्रियानिवृत्तिनामधेयं चतुर्थं शुक्लं । तत्र पृथक्त्वविसकीचारं चियोगस्य भवति मनोकामकायावष्टस्मै-रात्मप्रदेशपरिष्पन्नान् भीन् योगात्मवलम्ब्य अवष्टम्यं उत्पद्यते इत्यर्थः । एकत्व-वित्तकवीचारं निषु योगेषु मध्ये एकत्वं चलनद्वारेणात्मपरिस्पन्दे सति समुत्पद्यते इत्यर्थः । काययोगस्य केवलिनः सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति शुक्लं भवति । अत्र काया-वष्टस्मैनेषात्मनव्यलनं । अयोगकेवलिनो व्युपरतक्रियानिवृत्ति शुक्लध्यानं यतोऽन्न स्वरूपसे सहित जो ध्यान है वह धर्म्यध्यान है । आत्माके निम्नल परिणामों से जो उत्पन्न होता है वह शुक्लध्यान है । इनमें धर्म्यध्यान और शुक्ल-ध्यान ये दो ध्यान मोक्षके कारण हैं और दो दो आत्मध्यान तथा रीढ़-ध्यान संसार के कारण हैं ।

आर्तध्यान के चार भेद हैं—१. अमनोज्ञ-संप्रयोग, २. मनोज्ञ-विप्रयोग, ३. वेदना-चिन्तन और ४. निदान चिन्तन । अमनोज्ञ अर्थात् अनिष्ट पदार्थका संयोग होनेपर उसके वियोग के लिये बार बार विचार करना अमनोज्ञ-संप्रयोग नामका आत्मध्यान है । मनोज्ञ अर्थात् इष्ट पदार्थ का वियोग होनेपर उसके संयोगके लिये बार बार विचार करना मनोज्ञ विप्रयोग नामका आर्तध्यान है । रोगादि की वेदना होने पर बार बार उसीका चिन्तन करना वेदना-चिन्तन नामका आर्तध्यान है और आगामी भोगोंकी आकांक्षा करना निदान चिन्तन नामका आर्तध्यान है ।

हिंसा घूड़ चौरी और विषय सामग्री (परिग्रह) के संरक्षण से रीढ़-ध्यान होता है । इसके भी १. हिंसानन्द, २. मृषानन्द, ३. चौरानन्द और ४. विषय संरक्षणनन्द (परिग्रहानन्द) के भेद से ४ भेद हैं । इनका स्वरूप नामसे ही स्पष्ट है ।

आत्मध्यान, अविरत अर्थात् पहले से चौथे गुणस्थान तक देशविरत, और प्रमत्तविरत गुणस्थानों में होता है वरन्तु निदान नामका आत्मध्यान प्रमत्तविरत गुणस्थान में नहीं होता । रीढ़ध्यान, अविरत और देश-विरत अर्थात् पहले से पाँचवें गुणस्थान तक होता है । आज्ञाविचय, अपाय

कायाद्ववद्मेनात्मप्रदेशाद्वलनं न भवति । पृथक्त्ववित्कर्मीचारमेकत्ववित्कर्मीचार व्यानद्वयं पूर्वव्यधोतिन एव । वित्कर्मीचारसहितं पूर्वं । द्वितीयं सु वीचार-रहितं । वीचारः किं ? अर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिर्विचारः परिवर्तनभित्यर्थः । अर्थसंक्रान्तिः का ? द्रव्यं विमुच्य पर्यायं गच्छति पर्यायं विमुच्य द्रव्यं समुपेतीत्यर्थ-संक्रान्तिः । व्यञ्जनसंक्रान्तिः का ? एकं बचनं त्यक्त्वा बचनात्मवलम्बते तदपि त्यक्त्वाऽन्यद्वचनमवलम्बते हति व्यञ्जनसंक्रान्तिः । योगसंक्रान्तिः का ? काय-योगं त्यक्त्वा थोगात्मरं गच्छति तदपि त्यक्त्वा काययोगं द्रवतीति योगसंक्रान्तिः । एवं शुतज्ञानेन वित्कर्मी समूहं द्रव्यं तत्पर्यये पर्यायान् वित्कर्मी ततो द्रव्ये परिवर्तने वीचारे सति पृथक्त्वेन भेदेन अर्थपर्याययोर्बनयोगयोर्वा शुतज्ञानपर्यालीचनेभ संक्रान्तिः पृथक्त्ववित्कर्मीचारः शुबलध्यानं भवति । यस्यार्थव्यञ्जनादिसंक्रान्ति-

विचय, विचार विचय और संस्थान विचय से धम्यध्यान होता है और वह पूर्वके ज्ञाता मुनिके श्रेणी चढ़ने के पहले पहले तक होता है । दोनों श्रेणियों में अपूर्व करण से लेकर उपशान्तमोह गुणस्थान तक प्रथम शुक्लध्यान होता है । श्रीण कथाय गुणस्थानवर्ती मुनिके दूसरा शुक्लध्यान होता है । तीसरा और चौथा शुक्लध्यान केवलियों के होता है । उनमें से संयोग केवलों के तीसरा और अयोग केवलों के चौथा शुक्लध्यान होता है । पृथक्त्व-वित्कर्मी विचार पहला शुक्लध्यान है, एकत्व-वित्कर्मी अवीचार दूसरा शुक्लध्यान है, सूक्ष्म क्रिया-प्रतिपाति तीसरा शुक्लध्यान है और व्युपरत क्रिया निवर्ति चौथा शुक्लध्यान है । उनमें से पृथक्त्व वित्कर्मी विचार नामका शुक्लध्यान तीनों योग वाले जीवके होता है । मन बचन और कायके अवलम्बन से आत्मा के प्रदेशों में जो परिस्पन्द होते हैं उन्हें तीन योग कहते हैं । पृथक्त्व वित्कर्मी विचार नामका शुक्लध्यान इन तीनों योगोंके अवलम्बन से उत्पन्न होता है । एकत्व-वित्कर्मी अवीचार नामका शुक्लध्यान तीन योगों में से किसी एक योगके कम्पन से आत्म प्रदेशों में परिस्पन्द होने पर उत्पन्न होता है । केवली भगवान् के जब मनोयोग और बचन योग नष्ट होकर जब मात्र काय योग रह जाता है तब उनके सूक्ष्म-क्रिया-प्रतिपाति नामका शुक्लध्यान होता है । इस ध्यान में मात्र काययोग के अवलम्बन से आत्माका परिस्पन्द होता है । अयोग केवली के व्युपरत-क्रिया-निवर्ति नामका शुक्लध्यान होता है क्योंकि यहाँ काययोग के अवलम्बन से भी आत्म-प्रदेशों में हलन-खलन नहीं होता । पृथक्त्व वित्कर्मी-विचार और एकत्व-वित्कर्मी अवीचार

रूपतया चलने वर्तते तथापि इह ध्यानः । कस्मात् ? एवंविषद्व्यवास्य विवलि-
तत्वात् । विजातीयानेकविषद्व्यवहितस्य अर्थादिस्कमेण चिन्ताप्रबन्धस्येव एतद्व्या-
न्त्वेनेष्टत्वात् । अथवा द्रव्यव्याप्तियात्मनो वस्तुन् एकत्वात् सामान्यरूपतया व्यञ्जन-
मस्य योगानां सैकोकरणादेकार्थचिन्तानिरोधीपि बटते । द्रव्यात्पर्याप्ति व्यञ्जना-
द्वयञ्जनात्मतरं योगाद्योगान्तरं विहाय अन्यत्र चिन्तावृत्ती असेकार्थता न द्रव्यादेः
पर्याप्ति प्रवृत्तौ । तथा श्रुतशानेन एकार्थं विसर्वाद्यनविचलितचित्तः प्रवृत्तः
कीणकषाय एकत्ववित्तकैवात् भवति । बाड़मनोयोगं बादरकाययोगं च परिहास्य
सूक्ष्मकाययोगालम्बनोऽन्तस्तुहृत्वैवापुर्वेद्यनामगोदः सूक्ष्मक्षियाप्रतिपातिभागभवति ।

ये दो ध्यान पूर्वोंके पाठीके ही होते हैं^१ । पहला शुक्लध्यान वितर्क और
विचार से सहित है किन्तु दूसरा शुक्लध्यान विचार से रहित है ।

प्रश्न—वीचार क्या है ?

उत्तर—अर्थ, व्यञ्जन और योगोंकी संक्रान्ति अर्थात् परिवर्तन को
वीचार कहते हैं ।

प्रश्न—अर्थ-संक्रान्ति क्या है ?

उत्तर—ध्यानस्थ जीव द्रव्य को छोड़कर पर्यायिको प्राप्त होता है
और पर्यायिको छोड़कर अर्थको प्राप्त होता है, इस तरह अर्थके परि-
वर्तनको अर्थ-संक्रान्ति कहते हैं ।

प्रश्न—व्यञ्जन-संक्रान्ति क्या है ?

उत्तर—एक वचन को छोड़कर दूसरे वचनका आलम्बन लेता है
और दूसरे को छोड़कर अन्य वचनका आलम्बन लेता है, इस तरह शब्दों
के परिवर्तन को व्यञ्जन-संक्रान्ति कहते हैं ।

प्रश्न—योग-संक्रान्ति क्या है ?

काय योगको छोड़कर अन्य योगको प्राप्त होता है और उसे छोड़कर
काय योगको प्राप्त होता है, इस तरह योगोंके परिवर्तन को योग-संक्रान्ति
कहते हैं ।

इस प्रकार श्रुतशान के द्वारा किसी द्रव्यका विचार कर उसकी
पर्यायोंका विचार करता है और पर्यायोंका विचार कर द्रव्यका विचार
करता है इस तरह द्रव्यके परिवर्तन होनेसे विचार होता है और विचारके
रहते हुए पृथक्त्व अर्थात् भेदके द्वारा अर्थ और पर्याय का तथा शब्द और

१. यह कथन उल्काष्टता की अपेक्षा है अस्थाया दारहवें गुणस्थान में अवन्य हाँ
अष्ट-प्रबन्ध बातका नहीं सिद्ध हो सकेगा ।

यदा पुनरायुजोऽधिकं वेदादितिर्थं तदा दण्डकपाटादिकं चतुःसमयैः कुला
पुनस्तावत्समयैः समुपहृत्य समीकृतकर्मचतुष्टयः सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिष्ठानं ध्यायति ।
ततोऽप्योगिनः समुच्छिन्नक्रियानिवृतिष्वप्तरतक्रियानिवृतिपरमामर्तं ध्यानं भवति ।
तस्मिन् स्थाने स्थितस्य सर्वात्मविनिरोधात् सर्वशोषकम् विष्वसनसमयं सम्पूर्णं यथा-
स्यात्मारित्र साक्षात्मोक्षकारणं संजायते । अस्त्ये शुक्लध्यानद्वये चिन्तानिरोधाभा-
वेऽपि ध्यानव्यवहारः ध्यानकार्यस्य योगापहारस्य अधातिष्ठातस्य ओपचारनिमित्स्य
सद्भावात् । तथा साक्षात्कृतसमस्तवस्तावहृति न किञ्चिद्दृष्टेयमस्ति । ध्यानं तु तत्र
असमानकर्मणां समानत्वकरणात् या चेष्टा, कर्मसाम्ये तत्काययोग्यसमया या अलौ-
किका मनोषा तदेव । सौख्ये मोहक्याज्ञानावरणदर्शनावरणज्ञायाज्ञवासनो दर्शनं

योगका श्रुतज्ञान के पर्यालोचन से परिवर्तन होता है इसलिये पहला भेद
पृथक्त्व वितकं विचार कहलाता है यद्यपि अर्थ और व्यञ्जन (शब्द)
आदि की संकरन्ति होनेके कारण चञ्चलता रहती है तथापि यह ध्यान
माना जाता है क्योंकि इसी प्रकार की इस ध्यानमें चिन्ता होती है ।
विजातीय अनेक विकल्पों से रहित अर्थ आदिके संकरण से जो चिन्ता
की सन्तति होती है, उस सबको एक ध्यान रूपसे माना गया है । अथवा
द्रव्य और पर्यायात्मक वस्तुको एक वस्तु माना जाता है और सामान्य
रूपसे व्यञ्जनों तथा योगोंमें भी एक-रूपता है, अतः व्यञ्जन अर्थ और
योगोंका परिवर्तन होनेपर भी एकाग्र चिन्ता निरोध घटित हो जाता है ।
द्रव्यसे पर्याय को, व्यञ्जनसे व्यञ्जनान्तर को और योगसे योगान्तर
छोड़कर यदि अन्य द्रव्य या उसको अन्य पर्यायों में चिन्ता प्रवृत्त होती है
तो उसमें अनेक-रूपता होती है, न कि एक द्रव्यसे उसकी पर्याय में
चिन्ताके प्रवृत्त होने में ।

उसी प्रकार (पृथक्त्व वितकं विचार की तरह) श्रुतज्ञान के द्वारा
एक अर्थका चिन्तन करता हुआ क्षीण कषाय गुणस्थानवर्ती मुनि यदि
उसी अर्थ पर अविचलित-चित्त रहता है तो वह एकत्व वितकं नामक
द्वितीय शुक्लध्यानका धारक होता है ।

[वचनयोग, मनोयोग और वादर काययोगको छोड़कर सूक्ष्म—काय-
योगका अवलम्बन करने वाले समोग केवली के जब आयु, वेदनीय, नाम
और गोत्र कर्म की स्थिति अन्तर्मुहूर्त मात्र शोष रह जाती है तब के
सूक्ष्म क्रिया-प्रतिपाति नामक तृतीय शुक्लध्यानके धारक होते हैं । यदि
कदाचित् वेदनीय आदि तीन कर्मोंकी स्थिति आयु कर्म से अधिक शीघ्र

ज्ञानं च भवति । अन्तरायविनाशादनन्तरीयं जीवस्य स्थात् । आयुक्षेविद्वसना-
स्क्षेत्रस्य जग्ममरणामात्रो भवति । नामकमैनिमूलनाभरस्यामूर्त्यं जायते । नोचो-
चक्षोविकासनात्कुलद्यविनाशो भवति । वेदनीयकमैनिमूलकार्यं कषणात् जीव-
स्येन्द्रियोत्पन्नसुखाभावः संजायते । एकस्मिन्निष्टे वस्तुनि निश्चला मतिष्ठानि ।
आत्मरौद्रषम्यपिक्षया तु मतिष्ठच्छला अशुभा शुभा वा सा मादना कथ्यते, चित्तं
चिन्तनं अनेकनययुक्तानुप्रेक्षणं ध्यापनं श्रुतज्ञानपदालीचनं वा कथ्यते न तु ध्यानं ।

रही हो तो चार समयों में दण्ड, कपाट, प्रतर और लोक-पुरण समुद्घात की क्रिया करके और उतने ही समयों में आत्म-प्रदेशों को संकुचित कर पहले चारों अघातिया कर्मों की स्थिति बराबर करते हैं अर्थात् वेदनीय आदि तीन कर्मोंकी स्थिति को धटा कर आयु कर्म की स्थिति के बराबर करते हैं पश्चात् सूक्ष्म-क्रिया-प्रतिपाति नामक शुब्लध्यान के धारक बनते हैं । कहने का तात्पर्य यह है कि सूक्ष्म-क्रिया-प्रतिपाति नामका शुब्लध्यान तेरहवें गुणस्थान के अन्तिम अन्तमुहूर्त में होता है । विहार या दिव्यस्थनि आदिके समय उनके कोई ध्यान नहीं होता ।]

तदनन्तर अयोग केवली के समुच्छिन्न-क्रिया-निवर्ति नामक चौथा शुब्लध्यान जिसका दूसरा नाम व्युपरत-क्षिया-निवर्ति भी है, होता है । उस ध्यान में लिखत अयोग केवली भगवान् के समस्त कर्मोंका आरूढ़ इक जानेसे शेष समस्त कर्मोंके क्षय करने में समर्थं वह संपूर्ण यथा-स्थात चारित्र होता है जो कि मोक्षका साक्षात् कारण होता है । अन्तिम दो शुब्लध्यानों में द्विन्ता-निरोधका अभाव होनेपर भी ध्यानका व्यवहार होता है क्योंकि उनमें ध्यान का कार्य जो योगोंका अभाव और अघाति कर्मोंका क्षय है उसका सञ्चाल पत्ता आता है और वही योगोंका अभाव तथा अघाति कर्मोंका क्षय उनके ध्यान व्यवहार में निमित्त भूत है । दूसरी बात यह है कि समस्त वस्तुओं को साक्षात् जानने वाले अहंकार भगवान् के कुछ श्येय भी तो नहीं हैं उनके जो ध्यान कहा है वह असमान कर्मोंकी स्थिति में समानता करने के लिये जो चेष्टा है उस रूप है अथवा कर्मोंकी स्थिति समान होनेपर उनके क्षय करने के योग्य समय में होनेवाली जो अलौकिक मर्नीषा-ज्ञान की परिणति है, उस रूप है ।

अब किस कर्मके क्षयसे कौन गुण प्रकट होता है यह कहते हैं—मोहके क्षयसे जीवके सुख तथा ज्ञानावरण और दर्शनावरण के क्षय से ज्ञान और दर्शन गुण प्रकट होते हैं । अन्तराय के नाश से अनन्त वीर्य होता है ।

अत्र संहननलक्षणं यथा पदुदयादस्थिवन्धमविशेषस्तसंहननं वट्टमकारं । वज्जाकारोभयास्थिमध्ये सबलयवन्धनं समाराच्च वज्जवृषभमाराच्चसंहननं । लवेष वलयरहितं वज्जनाराच्चसंहननं । वज्जाकारवलयव्यपेत्तं सनाराच्च साराच्चसंहननं । एकमस्थि सनाराच्च अपरमनाराच्च अद्वनाराच्चसंहननं । चम्भयास्थिग्रान्ते सकीलकं कीलिकासंहननं । अन्तराप्तपरस्परास्थिसन्विवहिःशिरास्नायुमांसवेष्टितं असंग्राप्तासृपाटिकासंहननं चेति । बछ्टसप्ततितम्यां गाथायां बारसविहृतवयरजं इत्यस्य पादस्य व्याख्यान समाप्तं । ते रसकिरियाओ भावि तिविहृष ब्रयोदशक्रिया भावयत्वं भिविधेन त्रिकरणशुद्धधा पञ्चनमस्काराः पदावश्य कानि, चैत्यालयमध्ये प्रविष्टता

आयुकर्मके क्षय से जन्म मरण का अभाव होता है । नाम कर्मके नाश से अमूर्तिकपना उत्पन्न होता है । नीच गोत्र और उच्चगोत्र के क्षय से नोच तथा उच्च दोनों कुलोंका नाश होता है और वेदनीय कर्मका निमूँल नाश होनेसे जीवके इन्द्रिय-जन्य सुखका अभाव होता है ।

किसी एक इष्ट वस्तु में जो बुद्धि स्थिर हो जाती है वही ध्यान कहलाती है । आत्म, रौद्र और ऋष्य ध्यानकी अपेक्षा जो जो अशुभ अथवा शुभ विकल्पको लिये हुए चञ्चल अस्थिर बुद्धि होती है वह भावना कहलाती है, उसीको चित्त, चिन्तन, अनेक नयोंसे युक्त अनुप्रेक्षण, व्यापन अथवा धूतज्ञानके पदका आलोकन कहते हैं, न कि ध्यान ।

अब यहीं संहननका लक्षण और उसके भेदोंका वर्णन करते हैं—

जिसके उदयसे हृष्टियों का बन्धन-विशेष होता है उसे संहनन नाम कर्म कहते हैं । इसके छह भेद हैं—१ वज्जवृषभनाराच्च संहनन, २ वज्जनाराच्च संहनन, ३ नाराच्च संहनन, ४ अद्वनाराच्च संहनन, ५ कीलक संहनन और ६ असंग्राप्त-सृपाटिका संहनन । जिसमें वज्जाके आकार दो हृष्टियोंके धीर्घमें वज्जके ही वेष्टन हों और वज्जकी ही कीलें हों उसे वज्जवृषभ नाराच्च संहनन कहते हैं । जिसमें सिर्फ वज्जके वेष्टन न हो बाकी सब पूर्ववत् हो उसे वज्जनाराच्च संहनन कहते हैं । जो वज्जाकार हड्डी और वज्जाकार वेष्टन से रहित हो मात्र साधारण हड्डी कीलोंसे सहित हो उसे नाराच्च संहनन कहते हैं । जिसमें एक हड्डी कील से सहित हो और दूसरी कीलसे रहित हो उसे अद्वनाराच्च संहनन कहते हैं । जिसमें दोनों हृष्टियों के अन्त में कीलें हों उसे कीलिका संहनन कहते हैं । जिसमें हृष्टियों की सन्धियां भीतर परस्पर एक दूसरे से न मिली हों सिर्फ द्वाहुमें नसें सीत अथवा मांस वेष्टित हो उसे असंग्राप्त-सृपाटिका संहनन कहते हैं । इस तरहके अठ-

निसिही निसिही निविही इति बारत्यं हृद्युच्चायत जिनप्रतिमावन्दनाभवित कृत्वा नहिनिगंछता भव्यजीवेन असिही असिही असिही इति बारत्यं हृद्युच्चायते इति त्रयोदशक्रिया है भव्य ! त्वं भावय । तथा चोक्तं—

‘निःसंगोऽहं जिनानां सवनमनुपमं त्रिपरीत्येत्य भक्तया
स्थित्वा गत्वा निषिद्धयुच्चरणपरिणतोऽन्तः शर्नहस्तयुग्मं ।
भाले संस्थाप्य बुद्ध्या मम दुरितहरं कीर्तये शक्वन्दां
नन्दादूरं सदाप्तं क्षयराहितममुं शानभानुं जिनेन्द्रं ॥१॥’

अरे लौका दुरात्मानो ! यदि भवद्विजिनप्रतिमा चेत्यालयस्त्वं न मान्यते तदेवं वृत्तं पूज्यपादैर्जिनवन्दनादिधिः कथमुक्तः । तेन दुराग्रहं किमुच्यास्तिकर्त्तं भावनीयं भवद्विमः । अथवा पञ्चमहावत्तामि पञ्चसमितयस्तिक्षो गुप्तमध्येति क्रयो-दक्षक्रियालत्ययोदशविष्णु आरित्रं है भव्यवरणुप्हरीकमुने ! त्वं भावय । (भरहि

हत्तरवीं गाथामें ‘बारस विहृतवयरण’ इस पदका व्याख्यान हुआ । अब ‘तिरस किरियाओ भावि तिविहेण’ इस पदका व्याख्यान करते हैं । हे भव्य ! तू तेरह प्रकार की क्रियाओं की भन वचन काय से भावना कर । पञ्चपरमेष्ठियोंके पीच नमस्कार, समता, वन्दना आदि छह आवश्यक चेत्यालय के भीतर प्रवेश करते समय ‘निसिही निसिही, निसिही’ इस प्रकार तीन बार उच्चारण करता और जिन प्रतिमाकी वन्दना तथा भवित आदि करके बाहर निकलते हुए जीवोंके द्वारा ‘असिही असिही असिही’ इस प्रकार तीन बार कहना ये तेरह क्रिया है । हे भव्य ! तू इनका चिन्तन कर । जैसा कि कहा गया है —

निःसंगोऽहं—मैं निःस्पृह हो अनुपम जिनेन्द्र मन्दिर को जाता हूँ, वही भक्ति-पूर्वक तीन प्रदक्षिणाएँ देकर तथा निसिही-निसिही निसिही इस प्रकार तीन बार उच्चारण करता हुआ मन्दिरके भीतर प्रवेश करता हूँ, पश्चात् दोनों हाथ जोड़ मस्तक पर रख अपने पापको हरने वाले उन जिनेन्द्र भगवान् की स्तुति करता हूँ जो इन्द्रोंके द्वारा वन्दनीय हैं, निन्दासे दूर हैं, सत्पुरुषों के द्वारा शरण्य बुद्धि से प्राप्त हैं, क्षयसे रहित हैं और शानके सूर्य हैं ।

अरे दुरात्माओं लौक जनो ! यदि आप लोग जिन प्रतिमा और जिन चेत्यालयों को नहीं मानते हो तो पूज्यपादाचार्य ने जिन-वन्दना को उक्त विषि क्यों कही ? इसलिये आप लोगों को दुराग्रह छोड़कर आस्तिक

मणमतदुर्यां) विषयकषयान् गच्छत्तं मनोमतदुरियं प्रसागां स्वं धर रक्ष । (णाणकुसएण मुनिपवर) ज्ञानाकुदीन निष्ठुरमस्तकप्रहारेण हे मुनिपवर ! महा-मुनिमतलिङ्क । इति शेषः ।

पञ्चविहृचेलचार्यं लिदिसयणं दुविहृसंजमं भिक्खू ।

भावं भाविय पुर्वं जिनलिङं ऐम्मलं शुद्धं ॥७९॥

पञ्चविधचेलत्यागं भितिषयनं द्विविधसयमं भिक्षो ! ।

भावं भावियत्वा पूर्वं जिनलिङं निम्मलं शुद्धम् ॥७९॥

(पञ्चविहृचेलचार्यं) पञ्चविहृचेलत्यागं विषयकाशाणि चंलाऽपि वस्त्राणि तेषा त्यागः परिहारो यस्मिन् जिनलिङे जिम्मुद्रायां उत्पचिविधचेलत्यागं । चक्षतं च गौतमेन गणिना प्रतिक्रमणसूत्रे—

“अङ्गजं वा कोशां तसरिचोर (१) बोंडजं वा कपर्सिवस्त्रं (२) रोमजं वा अणीमयं वस्त्रं एडकोष्ट्रादिरोमवस्त्रं (३) वस्त्रं वा वल्क वृक्षादित्वग्भंगाद्विछलिकस्त्रं तटदाविकं चापि (४) चर्मजं वा मृगचर्मव्याघ्रधर्मचित्रकचर्मगजाचर्मविकं न परिवानीयं (५)”

भावकी भावता करना चाहीहै । अथवा पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्तियाँ ये तेरह प्रकारकी कियाएँ हैं । यही तेरह प्रकार का सम्यक्-चारित्र है सो हे भृष्य पुरुष हो ! तुम इसकी भावना करो । विषय कषाय की ओर जाते हुए मन रूपी मत्त हाथोंको तुम शान रूपो अंकुषा से वश करो ॥७८॥

गाथार्थ—जिसमें पाँच प्रकारके वस्त्रोंका त्याग किया जाता है, पुथियों पर शयन किया जाता है, दो प्रकारका संयम आरण किया जाता है, भिक्षा-भोजन किया जाता है, भावकी पहले भावना की जाती है तथा शुद्ध-निर्दोष प्रबुत्ति की जाती है वही जिनलिङ्क निम्मल कहा जाता है ॥७९॥

विशेषार्थ—प्रतिक्रमण सूत्रमें गौतम गणथरके कहे अनुसार वस्त्र पाँच प्रकारके होते हैं—१. अङ्गजकोशा तथा रेशमी वस्त्र, २. बोंडज-सूती वस्त्र, ३. रोमज-भेड़ तथा ऊट आदि के रोमोंसे उत्पन्न ऊनी वस्त्र, ४. वस्त्रज-वृक्ष आदि की त्वचा अथवा छाल आदिसे उत्पन्न फट्टी आदि और ५. चर्मज-मृगचर्म, व्याघ्रचर्म, चित्रकचर्म तथा गजचर्म आदि ।

(खिदिसयणं दुष्किहसंजमं भिक्षु) शितिशयनं भूमिशयनं तुषकाण्ठशिलालथिङ्ग-
लशयनं, द्विविधः संयमो यस्मिन् जिनलिङ्गे तद्विविषयसंयमः । इंद्रियसंयमः पञ्चेन्द्रियसं-
कोचो भनः संकोचद्वयेति षड्विधः संयमः प्राणसंयमः पृथिव्यप्तेषोवायुवनस्पतिलक्षण-
पञ्चस्थावरक्षणं द्वीन्द्रियश्रीनिद्रियचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रियचतुरप्रकारत्रसनीवरक्षणलक्षणः
षष्ठविधः प्राणसंयमः । भिक्षु—हे भिक्षो ! अहो तपस्विन् ! अथवा भिक्षाभोजनं
कुर्वन् उद्धण्डचर्यां पर्यटन् भिक्षुजिमलिंगमुच्यते । सा भिक्षा पञ्चविधा—

जिनलिङ्ग में उक्त पौचों प्रकारके वस्त्रोंका तथा उपलक्षण से अन्य किसी
भी प्रकार के वस्त्रोंका त्याग होता है । भूमि, तृण, काष्ठ, शिला तथा
चबूतरा आदि पर शयन किया जाता है, इन्द्रिय-संयम और प्राण-संयम
के भेद से दो प्रकार के संयम का पालन किया जाता है । पौच इन्द्रियों
और भनका संकोच करना छह प्रकार का इन्द्रिय संयम है तथा पृथिवी
कायिक, जल कायिक, अविद्या कायिक, वायुकायिक, बन्धुकायिक
पांच स्थावरों और द्वीन्द्रियादि त्रिस जीवोंकी रक्षा करना छह प्रकार का
प्राण संयम है । भिक्षु पद सम्बोधनान्त है इसलिये हे भिक्षो ! हे तप-
स्विन् ऐसा अर्थ करना चाहिये । अथवा प्रथमान्त मानकर ऐसा अर्थ
करना चाहिये कि जिसमें भिक्षु उद्धण्डचर्या से अमण करता हुआ भिक्षा
भोजन करता है । वह भिक्षा पौच प्रकार की होती है—१ अक्षम-क्षण,
२ गर्त-पूरण, ३ आमरी, ४ गोचरी और ५ उदराग्नि विध्यापन । इनका
स्वरूप इस प्रकार है—

जिस प्रकार कोई वैश्य रत्न आदि से भरी हुई गाढ़ी को किसी प्रकार
की चिकनाई से ओंग कर उसे अपने इष्ट स्थान तक ले जाता है उसी
प्रकार मुनि सम्पादर्शनादि रत्नों से भरी हुई शरीर-रूपी गाढ़ीको सरस
अथवा नीरस आहार से स्वस्थ कर मोक्ष स्थान तक ले जाता है । इस
वृत्तिको अक्ष-क्षण कहते हैं ।

जिस प्रकार गृहस्थ अपने मकान के भीतर के गर्तको किसी भी वस्तु
से भरकर सम कर लेता है उसी प्रकार मुनि भी अपने उदर रूपी गर्तको
सरस अथवा नीरस किसी भी प्रकार के शुद्ध आहार से भरकर सम कर
लेते हैं, इस वृत्ति को गर्त-पूरण वृत्ति कहते हैं ।

जिस प्रकार अमर फूलों से रस लेता है परन्तु उन्हें किसी प्रकार की
पीड़ा नहीं पहुँचाता, इसी प्रकार मुनि गृहस्थ दाताओंसे आहार लेता है
परन्तु उन्हें किसी प्रकारकी पीड़ा नहीं पहुँचाता, इस वृत्तिको आमरी-

‘अक्षज्ञाणं, गर्तपूरणं, ज्ञानरी, गोचरी, “उदरानिकिद्यापनं चेति । (भावं आविष्य पूर्वं) भावं आत्मरूपं भावयित्वा जिनसम्प्रकृत्वं च भावमित्वा पर्वं जिन-लिङं भवति । (जिनलिङं णिम्मलं सुद्धं) जिनलिङं नग्नरूपमहन्मुद्रामवूरपिष्ठ-

वृत्ति कहते हैं । जिस प्रकार अलंकारों से अलंकृत स्त्री किसी गायको घासका पूला डालनेके लिये जाती है तो गाय उस स्त्री की ओर न देखकर घासके पूला की ओर देखती है, इसी प्रकार मुनि आहार देने वाली स्त्रीके रूप आदिको अथवा शृङ्खलों के महलों की सात-साताहट को न देखकर सिफं आहार की ओर देखते हैं, यह गोचरी वृत्ति है ।

जिस प्रकार मकानमें आग लगते पर गृहस्थ उसे खारे या मीठे किसी भी प्रकार के पानीसे बुझानेका प्रयत्न करता है, इसी प्रकारसे मुनि अपने

१. स्मित्वेन केनपिदाद्युक्तलेपं विषाय भोः ।

नयेहेषास्तरं वैस्मः शक्टीं रलपूरिताम् ॥ ३ ॥

गुणरल्पामुतां तदभ्युदीरणकटीं मुनिः ।

स्वल्पाख्याक्षणेनास्मात्प्राप्येच्छवपत्तम् ॥ ३ ॥

२. यथा स्वगेहुमध्यस्थं गृही गत्वा प्रपूर्व्येत् ।

येन केनपि नीतेन कलधारेण नान्यथा ॥ ३ ॥

तथोदरगतं एवज्ञं पूर्वेत्स्यमी क्वचित् ।

यादुक् तादुक् विद्यानेन न च भिट्टाशतादिभा ॥ ४ ॥

३. ऋग्मरोज्ञ यथा पद्मावृगंधं गृहणाति तद्भवम् ।

शाणेन न मनाक्तस्य वाषां जनयति स्फृटम् ॥ ५ ॥

तथाहरति आहारं दत्तं दातृकनैर्यतिः ।

न मनाक् पीडयेद् दातृन जात्यक्षाभाल्पलाभतः ॥ ५ ॥

४. यथोपनीयमार्भं तूणादिकं दिव्ययोषिता ।

गौषधाम्यवहस्यत्र न तद्ज्ञं निरीक्षते ॥ ६ ॥

तथालक्ष्मारक्षारिष्या दिव्यनार्दोपठीकिलम् ।

पिष्ठं गृहणाति सद्गोपी तस्या रूपं न पद्यति ॥ ६ ॥

५. समुत्पितं यथा वक्षि माष्डागारे मृते वणिक् ।

रलश्चैः शमयेच्छीघ्रं शुच्यसुच्याविवरिणा ॥ ७ ॥

तथोत्पितं धुमावन्हिमुकरे शमयेत्तमी ।

सरसेतरभस्तोन वृगादिरस्त्वेत्तमी ॥ ७ ॥

मुख्याचार-प्रकारी (क० दि०)

कमण्डलुसहितं निर्मलं कव्यते तद्दूयरहितं लिङं कमण्डलमित्युच्यते । अन्यथा तीर्थंकर-परमदेवात्मददैविता अवधिक्षमनाद्युते चेत्यर्थः, शुद्धं अर्जिकर्त्तुषुत्तमूर्त्तनाम्नाना-स्वादरहितमुष्मद्यज्ञमन्तरायमण्डरहितं शुद्धमित्यभिप्रायः ।

उदरमें क्षुधाकी बाधा रूपी अग्नि लगने पर उसे सरस या नोरस किसी भी प्रकार के आहार से बुझानेका प्रयत्न करते हैं, इस वृत्तिको उदरागिम-विषयावन कहते हैं ।

भावका अर्थ आरम्भरूप अथवा जिन-सम्बन्धत्व है । जिस लिङ्ग के धारण करने के पूर्व उक्त भाव की भावना की जाती है वह जिन-लिङ्ग निर्मल होता है । विनलिङ्ग में तमन रूप धारण किया जाता है पोछी और कमण्डलु साथ रखना पड़ता है, इसीको अहंभूद्वा कहते हैं । जो तमन रूप पोछी और कमण्डलु से रहित होता है, वह सदोष कहा जाता है । १ विशेषता यह है कि विनके शरीर में मल-मूत्र की बाधा नहीं रहती ऐसे तीर्थंकर परम देव तप्त-ऋद्धिके धारक मुनि और अवधि ज्ञानसे धुक्त

१. इस कथन का मूल बाधार ज्येष्ठ प्रतिष्ठापाठका निर्मलिति वाक्य मालूम होता है । 'अन्नं कमण्डलु-पिञ्छिका-आनं तीर्थंकरस्य शोकक्रिया-जोवचातामावाच्य, न कतु' प्रमथाति, केवलं साधुत्वे उपयोगी, न तु प्रतिमायामहंति चेत्याभ्नायविदः ।' परम्मु इस वाक्य में प्रतिमा तथा अहंस अवस्था में पिञ्छी और कमण्डलु का निषेघ किया है । साधु अवस्था में नहीं । तीर्थंकर के तथा तप्त-ऋद्धि के धारक मुनिके यज्ञमि मल-मूत्र की बाधा नहीं होती तथापि धर्या के अनन्तर बाह्य शुद्धि के लिये कमण्डलु की आवश्यकता रहती है । अवधि ज्ञानी मुनि सबके सब मल मूत्र से रहित नहीं होते, अतः उन्हें कमण्डलु आवश्यक है । और स्वरणानुधोग की प्रवृत्ति में अवधि ज्ञान का प्रयोग न होनेसे पिञ्छी भी आवश्यक रहती है । पिञ्छी का उपयोग विभिन्न प्रकारके भार्ग बदलने पर धूलि को मार्जन करने में भी होता है । ज्ञान केवल जीव जन्मुमोक्षे दूर करनेमें । 'सायं ही भावसंग्रहका निर्मलोक भी विचारणीय है । भुनिको मयूर पिञ्छिका ऋहण करना आवश्यक बतलाया है अवधि ज्ञान के बाद नहीं । पिञ्छी कमण्डलु के सन्दर्भ में मुनि विद्यानन्द जी द्वारा लिखित पिञ्छी, कमण्डलु नामक पुस्तक का दर्शार्थ निबन्ध पिञ्छु कमण्डलु देखना चाहिये ।'

जह रथणाणं पवरं वज्जं जह तरुणाण गोसीर ।
तह धम्माणं पवरं जिनधर्मं भावि भवमहण ॥८०॥

यथा रत्नानां प्रवरं वज्ज यथा तरुणानां गोशीरम् ।
तथा धम्माणां प्रवरं जिनधर्मं भावय भवमथनम् ॥८०॥

(जहरथणाणं पवरं) तथा येन प्रकारेण रत्नानां मध्ये प्रवरं उत्तमं रत्नं कि
वज्जं हीरकं षट्कोणं मौकितकगोमेदपुष्परागपुलकप्रवालचन्द्रकान्तरदिकास्तबल-
कान्तहंसगर्भभसारगर्भरुचकपद्मरागेन्द्रनोलमहा—नीलनोलमरकतवेद्येलशुनकेकंतने-
त्पादीनां रत्नानां मध्ये (वज्जं) वज्जं हीरकं हि सर्वोत्तमं तस्य देवाधिष्ठि-
तत्वात् । (जह तरुणाण गोसीर) तरुणानां मध्ये यथा गोशीरं तैलधर्मिणं
परमोत्तमवन्धनं प्रवरं । (तह धम्माणं पवरं) तथा धम्माणां मध्ये जिनधर्मं
प्रवरं । हे मुने ! त्वं (भावि भवमहणं) भावय रोक्य भवमथनं संसार-
विछेदकम् ।

मुनियों को इनकी आवश्यकता नहीं रहती । जिन-लिङ्ग शुद्ध होता है
और शुद्ध का अर्थ है चमड़े में रखे हुए जल तेल घी तथा हींग का जिसमें
सेवन नहीं किया जाता, जिसमें उद्धर्षवर्या अर्थात् भिक्षान्वृत्तिसे भोजन
किया जाता है । बस्तीस अन्तराय और चौदह मल रहित जिसमें भोजन
किया जाता है ॥७९॥

गाथार्थ—जिस प्रकार रत्नों में हीरा और वृक्षों के समूह में चन्दन
उत्कृष्ट है उसी प्रकार धर्मों में संसार को नष्ट करने वाला जिन-धर्म
उत्कृष्ट है ॥८०॥

किशोरार्थ—जिस प्रकार मौकितक, गोमेद, पुष्पराग, पुलक, प्रवाल,
चन्द्रकान्त, सूर्यकान्त, जलकान्त, हंसगर्भ, मसारगर्भ, रुचक, पश्चराग,
इन्द्रनील, महानील, नील, मरकत, वैद्युत, लशुन और कंतन आदि
रत्नों में षट्कोण होरक मणि सर्वोत्तम होता है क्योंकि देव उसे धारण
करते हैं और वृक्षोंके समूह में जिस प्रकार गोशीरं नामका चन्दन सर्वोत्तम
होता है उसी प्रकार सब धर्मों में जैन धर्म सर्वोत्तम धर्म है क्योंकि वह
संसार को नष्ट करने वाला है । हे मुने ! तुम इसी जिन-धर्म को भावना
करो, उसी की रुचि-श्रद्धा करो ॥८०॥

तं धर्मं केदिसं हृषि तं सहा—

स धर्मः कीदृशो भवति तद्यथा न्तमेव निरूपयन्ति श्रीकुन्दकुन्दाचार्याः—

पूजादिसु व्रतसहितं पुण्यं हि जिणेहि सासणे भणिष्य ।

मोहक्षोहविहीणो परिणामो अप्पणो धर्मो ॥८१॥

पूजादिषु व्रतसहितं पुण्यं हि जिणे शासने भणितम् ।

मोहक्षोभविहीनः परिणामः आत्मनो धर्मः ॥८१॥

(पूजादिसु व्रतसहितं) पूजादिषु व्रतसहितं पूजा आदियोर्बां कर्मणां तानि पूजादीनि तेषु पूजादिषु व्रतसहितं आवक्त्रवतसहितं । (पुण्यं हि जिणेहि सासणे भणिष्य) पुण्यं स्वर्गं सौख्यदायकं कर्म जिनेस्तीर्थं करपरमदेवैरपरकेवलिभिष्वच हि रुद्धं शासने आहंतमते उपासकाध्ययननाम्यज्ञे भणित करुतया प्रतिपादित-इदं कर्म कालीनिकादितः । इति चौतातु जिनेन्द्रदेवदात्मिकः—

पुण्यं जिनेन्द्रचरणाचंतसाध्यमात्मा पुण्यं सुपात्रगतदानसमूल्यमेतत् ।

पुण्यं व्रतानुचरणात्मुपवासयोगात् पुण्यादिनामिति चतुष्टयमण्मीयम् ॥८१॥

अगे वह धर्म कैसा है इसीका श्री कुन्दकुन्दाचार्यं निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—पूजा आदि शुभ कार्यों में व्रत सहित प्रवृत्ति करना पुण्य है, ऐसा जिन-सत में जिनेन्द्रदेवने कहा है और मोह तथा शोभ से रहित आत्माका जो परिणाम है वह धर्म है ॥८१॥

विशेषार्थ—बीतराग जिनेन्द्रदेव की पूजा करना, निर्घन्य गुरु आदि सत्याश्रों के लिये दान देना तथा श्रावकों के व्रत पालन करना आदि शुभ कार्य पुण्य कहलाते हैं तथा स्वर्गं सुख के देनेवाले हैं, ऐसा तोर्थंकर परमदेव एवं अत्यं केवलियों ने भी कहा है । जिनशासनके उपासकाध्ययन नामक अङ्गमें इस पुण्यको करना चाहिये, ऐसा आदेश दिया है । जैसा कि जिनसेन स्वामी ने कहा है—

पुण्य—जिनेन्द्र भगवान् के चरणों को पूजा से प्राप्त होने वाला पहला पुण्य है, सत्याग्रह के लिये दिये हुए दानसे उत्पन्न होने वाला दूसरा पुण्य है, व्रतोंका पालन करने से उत्पन्न होनेवाला तीसरा पुण्य है तथा उपवास करने से होनेवाला चौथा पुण्य है पुण्यके अभिलाषी मनुष्यों को उक्त चार प्रकार के पुण्यका उपार्जन करना चाहिये ।

१. चारितं खलु धर्मो धर्मो जो सो समोत्ति णिदिठ्ठो ।

मोहक्षोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥

२. महापुराणे ।

तथा समन्तभूतस्वान्याचार्यरव्यभिहितं—

“देवाविदेवचरणे परिष्वरणं सर्वदुःखगिर्हरणं ।
कामदुहि कामादाहिनी परचिनुयाकादृको नित्यं ॥१॥
अर्हच्छरणसपर्या महागुभावं महास्मनामवशत् ।
भेदः प्रमोदमस्तः कुसुमेनेकेत राजगृहे ॥२॥

यदोद सर्वज्ञवीतरागपूजालक्षणे तीर्थंकरनामगोत्रबन्धकारणे विशिष्टं निनिदानं पुण्यं पारम्पर्येण मोक्षकारणं गृहस्थानां शीमद्भिर्भित्तिं ताहि साकान्मोक्षहेतुमूलो धर्मः क इत्याह—(मोहक्षोहविहीनो) (परिणामो अथष्ठो धर्मो) नोहः पुनः कलभित्तवनादिषु मनेदभित्ति भावः, क्षोभः परीष्वहोपसूर्यनिषासे चित्तस्य चलनं ताम्या विहीनो रहितः मोहक्षोभविहीन एवं गुणविशिष्टं आस्थनः शुद्धदुर्बल-

इसी प्रकार आचार्यं समन्तभूत स्वामी ने भी कहा है—

देवाविदेव—मनोरथों को पूर्ण करने वाले एवं कामको मरण करने वाले देवाविदेव जिनेन्द्र भगवान् के घरणों की उपासना-पूजा बन्दना आदि समस्त दुःखों को हट करने वाली है इसकिले चालक को इसे आलम के साथ नित्य प्रति करना चाहिये ॥१॥

अर्हच्छरण—राजगृह नामक नगर में हृष्ण से मत्त हुए मेष्ठक ने महात्माओं के आगे अर्हन्त भगवान् के चरणों की पूजा का महान् फल प्रकट किया था ॥२॥

यदि तीर्थंकर नामकर्म के बन्धका कारण, एवं निदान-रहित यह सर्वज्ञ वीतराग देवकी पूजा रूप सातिशय पुण्य गृहस्थों के परम्परा से मोक्षका कारण है ऐसा आपने कहा है तो साकान् मोक्षका कारण भूत धर्मं क्या है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए गाथा के उत्तरार्थ में कहते हैं कि मोह और क्षोभ से रहित आत्मका परिणाम धर्म है। पुन त्वा भित्त तथा धन आदि में ‘यह मेरा है’ इस प्रकार का जो भाव है वह मोह कहलाता है। परीष्वह तथा उपसर्ग के आने पर वित्तका विचलित होना क्षोभ है, उन दोनों से रहित शुद्ध बुद्धेक-स्वभाव वाले आत्मा का जो चिन्चवमत्कार अथवा चिदानन्द रूप परिणाम है, वह धर्म कहलाता है।

भावस्य विकल्पमत्तारलक्षणपरिचयानन्दरूपः परिणामो धर्मं इत्युच्यते । स परिणामो
गृहस्थानां न प्रवति पञ्चसूत्रासहितस्यात् तथा चोक्तं—

ज्ञाननी पेषणी चुल्ली उष्टुकुंभः प्रमाणनी ।
पञ्चसूत्रा गृहस्थस्य तेन मोक्षं न गच्छति ॥ १ ॥

यदि मोक्षं न गच्छति तथा जिनसम्यक्त्वपूर्वकं दानपूजादिलक्षणं विशिष्टानुण-
मुपार्जयन् [पुण्य] गृहस्थः स्वर्गं गच्छति परमपरया जिनलिङ्गेन मोक्षमपि
प्राप्नोति ।

ऐसा परिणाम गृहस्थों के नहीं होता है क्योंकि वे पञ्चसूत्राओं से सहित
रहते हैं । जैसा कि कहा गया है—

स्वप्ननो—कूटना, पीसना, चूला सिलगाना, पानी भरना और बुहारी
देना ये पौच्छिसाके कार्यं गृहस्थके होते हैं, अतः वह मोक्ष नहीं जाता है,
यद्यपि गृहस्थ साक्षात् मोक्ष नहीं जाता है तो भी जिनसम्यक्त्वं पूर्वकं दान
पूजादि रूप विशिष्टं पुण्यका उपार्जनं करता हुआ स्वर्गं जाता है और
परम्परासे जिनलिङ्गं धारण कर मोक्षको भी प्राप्त होता है ॥८१॥

[इस गाथा में श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने पुण्य और धर्मकी परिभाषाएं
स्पष्ट करते हुए दोनों में पार्यक्य सिद्ध किया है पूजा दान तथा व्रताचरण
आदिको पुण्य बताया है तथा उन्हें साक्षात् स्वर्ग की प्राप्तिका कारण
कहा है । पुण्य शुभोपयोग का कार्य है और मोह अर्थात् मिथ्यात्व और
कोम अर्थात् रागद्वेष से रहित आत्मा की निर्मल परिणति को धर्मं कहा
है । यह निर्मल परिणति शुद्धोपयोग में होती है और साक्षात् मोक्षका
कारण है । गृहस्थ अपने पदके अनुकूल पुण्य रूप आचरण करता है और
धर्मके वास्तविक स्वरूप की श्रद्धा रखता है । शुद्धोपयोग रूप परिणति के
होनेपर शुभोपयोग रूप परिणति स्वर्थं छूट जाती है, शुभोपयोग का कार्यं
होनेसे यद्यपि पुण्य बन्ध का कारण है तथापि गृहस्थ की उसमें प्रवृत्ति
होती है । शुद्धोपयोग की अपेक्षा शुभोपयोग हेय है और अशुभोपयोगकी
अपेक्षा उपादेय है । गृहस्थ की शुद्धोपयोग की प्राप्ति हो नहीं सकती,
इसलिये अशुभोपयोग से बचकर शुभोपयोग में प्रवृत्ति करने की आचार्यों
ने उसे प्रेरणा दी है । जिन आचार्यों ने पुण्य को धर्मं मानकर उसके करने
के लिये आदेश दिया है वह पात्रकी योग्यता को लक्ष्य कर दिया है ।]

इति पुण्यधर्मयोः स्वरूपमुक्तदेवानीं निविकल्पसमाधिलक्षणं कर्मक्षयकारणं कथयन्ति भगवन्नः—

सद्हर्दि य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणो वि फासेदि ।

पुणं भोयणिमित्तं ण हु सो कम्मक्षयणिमित्तं ॥८२॥

श्रद्धाति च प्रत्येति च रोचते च तथा पुनरपि स्पृशति ।

पुणं भोगनिमित्तं न हृत् कर्मक्षयनिमित्तम् ॥८२॥

(सद्हर्दि य) श्रद्धाति च तत्र विपरीताभिनिवेशरहितो भवति । (पत्तेदि य) प्रत्येति च मोक्षहेतुभूतत्वेन यथाकृतप्रतिप्रदाते । (रोचेदि य) रोचते च मोक्षकारणतया तत्रैव रुचि करते । तह (पुणो वि फासेदि) मोक्षाधिक्षास-साधनतया स्पृशति अवगाहयति (पुणं भोयणिमित्तं) एतत्पूजादिलक्षणं पुणं मोक्षाधितया क्रियमाणं साक्षात्भोगकारणं स्वर्गस्त्रीणासर्विज्ञातादिकारणं तृतीयादिभवे मोक्षकारणं निर्गम्यलिङ्गेन । (ण हु सो कम्मक्षयणिमित्तं) न भवति हु—स्फुटं निश्चयेन साक्षात्तदभवे गृहस्थलिङ्गेन कर्मक्षयनिमित्तं तदभवे केवलमानपूर्वकमोक्षाभिमित्तं पुणं न भवतीति जातम् ।

इस प्रकार पुण्य और धर्मका स्वरूप कहकर अब भगवान् कुन्दकुन्द निविकल्पसमाधिरूप कर्मक्षयका साक्षात् कारण बतलाते हैं—

गायार्थ—मोक्षका अभिलाषी जीव पुण्य की श्रद्धा करता है, पुण्य की प्रतीति करता है, पुण्य की रुचि करता है और पुण्यका स्पर्शं करता है परन्तु पुण्य भोगका निमित्त है, कर्मक्षय का निमित्त नहीं है ॥८२॥

विशेषार्थ—मोक्षार्थी जीव पुण्यको मोक्षका कारण मानकर उसकी श्रद्धा करता है अर्थात् अपनी समझके अनुसार उसमें विपरीत अभिनिवेश से रहित होता है । उसकी प्रतीति करता है अर्थात् मोक्षका हेतु मानकर उसे यथायोग्य स्वीकार करता है । उसकी रुचि करता है अर्थात् मोक्षका कारण मानकर उसमें अपनी इच्छा प्रकट करता है और उसीका स्पर्शं करता है अर्थात् उसे मोक्षका साधन समझ कर उसे प्राप्त करने का पूर्ण प्रयत्न करता है परन्तु यह स्पष्ट है कि मोक्षार्थी जीवके द्वारा किया जाने वाला यह पूजादि प्रवृत्ति रूप पुण्य साक्षात् तो भोगका ही कारण है अर्थात् देवाङ्गनाओं के आलिङ्गन का कारण है और तृतीय भवमें निर्गम्य मुद्रा वारण करने पर मोक्षका कारण है । यह पुण्य निश्चय से साक्षात् अर्थात् उसी भव में गृहस्थ लिङ्ग द्वारा कर्मक्षयका निमित्त नहीं है—उसी भवमें केवल-ज्ञान-पूर्वक मोक्षका निमित्त पुण्य नहीं है, यह जानता आहिये ॥ ८२ ॥

अप्या अप्यमिम रक्षो रायादिसु सयलदोसपरिच्छतो ।

संसारतरणहेतु धर्मोत्ति जिणोहि णिहिटु ॥ ८३ ॥

आत्मा आत्मनि रतः रागादिषु सकलदोषपरित्यक्तः ।

संसारतरणहेतुः धर्म इति जिनैः निहिष्टः ॥ ८३ ॥

(अप्या अप्यमिम रक्षो) [आत्मा अत सातत्यगमने अतत्यूच्चं अज्यास्वभाव-
नोर्ध्वमेव गच्छतीत्यात्मो शुद्धबुद्धकस्वभाव आत्मनि रतो निषशुद्धबुद्धकस्वभावे
एकलोलंभावभूतः । (रायादिसु सयलदोसपरिच्छतो) रागादिषु रागादिष्यः सकल-
दोषपरित्यक्तः रागद्वेषमोहलोभाविसकलदोषरहित इत्यर्थः । (संसारतरणहेतु)
संसारस्य तरणहेतुः कारणभूतः । (धर्मोत्ति जिणोहि णिहिटु) धर्म इति जिनै-
निहिष्टं प्रतिपादित जिनपूजा दिकं पुण्यमिति शेषः । तेन कारणेन जिनपूजादिषु
द्वेषो न कर्तव्यः । उक्तं च योगीन्द्रदेवैः—

देवहृ सत्यहृ भुणिवरहृ जो विदेशु करेह ।

नियमि पात्र हवेह तसु जे संसार भमेह ॥ १ ॥

गाथार्थ—आत्मा में लोन तथा रागादि समस्त दोषों से रहित यह
आत्मा ही संसार सागर से पार होनेका कारण धर्म है, ऐसा जिनेन्द्र
भगवान् ने कहा है । [यहीं अभेद नयसे गुण गुणी में अभेद कर आत्मा
को ही धर्म कहा है ।] ॥ ८३ ॥

विवेकार्थ—आत्मन् शब्द ‘अत सातत्यगमने’ धातुसे सिद्ध होता है
अतः अतति इति आत्मा इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो ऊर्ध्व-गमन स्वभाव
होनेसे ऊर्ध्वं ही गमन करता है, वह आत्मा है [अथवा गत्यर्थक धातुऐ
ज्ञानार्थक भी होती है इस नियम से जो निरन्तर पदार्थों को जाने वह
आत्मा है] शुद्ध निश्चयनय से आत्मा शुद्ध बुद्धक स्वभाव है अर्थात्
रागादि-रहित ज्ञायक मात्र है । जो आत्मा अपने इसी शुद्ध बुद्धक स्वभाव
में लोन है—तम्यो भावको प्राप्त है और रागद्वेष मोह लोभ आदि समस्त
दोषों से रहित है वह आत्मा ही संसार से पार होनेका कारण-भूत धर्म है,
ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है । जिन पूजा आदिक पुण्य हैं और परम्परा से
मोक्षके कारण हैं । अतः उनमें द्वेष नहीं करना चाहिये । योगीन्द्र देवने
कहा भी है—

देवहृ—जो देव शास्त्र और श्रेष्ठ मुनियों से द्वेष करता है उसके
नियम से वह पाप-बन्ध होता है जिससे संसार में भटकता है ।

अस्य दोहकस्यार्थं भावः—देवशास्त्रगुरुणां प्रतिमासु निषेधिकादिषु च पुज्या-
दिभिः पूजादिषु च लौका देव कुर्वन्ति तेषां पारं भवति तेन पापेन ते नरकादी
पतन्तीति शास्त्रम् ।

अहं पुण अप्या णिच्छुदि पुण्यार्थं करेदि निरबसेसाहं ।

तह वि ण पावदि सिद्धि संसारस्थो पुणो भणिदो ॥ ८४ ॥

अथ पुनः आत्मानं नेच्छति पुण्यानि करोति निरबशेषाणि ।

तथापि न प्राप्नोति सिद्धि संसारस्थः पुनभणितः ॥ ८४ ॥

(अहं पुण अप्या णिच्छुदि) अथ पुनरात्मानं नेच्छति न भावयति (पुण्यार्थं
करेदि निरबसेसाहं) पुण्यानि करोति निरबशेषाणि पूजादानादीनि सर्वाणि भोगा-
कांक्षानिष्ठानख्यातिपूजालाभादिकमभिलापयुक्तया करोति विद्धाति परं जिनसम्बन्धते
नाशः—शून्यो निष्विवेकः बहिरात्मा जीवः । (तह वि ण पावदि सिद्धि) तथापि
नानापुण्यानि कुर्वन्त्वा जीवो न प्राप्नोति न लभते, कां ? सिद्धि आत्मोपलब्धिव-
ज्ञकाणां मुक्तिमिति जिनसम्बन्धत्वरहितो दूरभव्योऽभव्या या स ज्ञातव्य हत्यर्थः ।
यदि सिद्धि न प्राप्नोति तर्हि कोदृशो भवति ? (संसारस्थो पुणो भणिदो) संसार-
स्थोऽनन्तसंसारी पुनर्भणित आगमे प्रतिपादितः ।

इस दोहका भाव यह है कि देवशास्त्र गुरुओंकी प्रतिमाओं तथा
निषेधिका आदि धर्मायतनों की पूष्प आदिसे पूजा आदि करने में लौका
लोग द्वेष करते हैं, अतः उन्हें पाप बन्ध होता है और उसके फल स्वरूप
वे नरकादि में पड़ते हैं ॥ ८३ ॥

गात्मार्थ—यदि कोई आत्मा की भावना नहीं करता है और समस्त
पुण्य करता है तो वह पुण्य करताहुआ भी सिद्धिको प्राप्त नहीं होता है,
संसारी ही कहा गया ॥ ८४ ॥

विशेषार्थ—कितने ही जीव ऐसे हैं कि वे आत्मा को ओर लक्ष्य नहीं
देते, सात्र भागोंका आकांक्षा रूप निदान, खण्डाति पूजा लाभ आदि इच्छा
रख पूजा दान आदि समस्त पुण्य कर्म करते रहते हैं उन्हें आचार्य
महाराज ने जिन-सम्बन्धत्व से अन्तरङ्ग में शून्य, निष्विवेक बहिरात्मा
कहा है । ऐसे जीव नाना प्रकारके पुण्य करते हुए भी आत्मोपलब्धि रूप
सिद्धिको नहीं पाते हैं । जिन-सम्बन्धत्व से रहित जीवको दूर-भव्य या
अभव्य जानना चाहिये । इन जीवोंको आगममें अनन्त संसारी कहा
गया है ॥ ८४ ॥

एण कारणेण य तं अप्यां सद्हहेह तिविहेण ।
जेण य लहेह मोक्षं तं जागिज्जह पयत्तेण ॥८५॥

एतेन कारणेन य तपात्मानं शब्दत त्रिविधेन ।

येन च लभ्यवं मोक्षं तं जानीत प्रयत्नेन ॥८५॥

(एएण कारणेण य) एतेन कारणेन आत्मनो मोक्षहेतुत्वेन । (तं अप्यां सद्हहेह तिविहेण) तपात्मानं शब्दत तत्र विपरीताभिनिवेशरहिता मवत यूर्यं त्रिविधेन मनोवचनकाययोगप्रकारेण । (जेण य लहेह मोक्षं) येन च कारणेनात्मशब्दानहेतुना लभ्यवं मोक्षं सर्वकर्मप्रश्नायलक्षणं मोक्षं प्राप्नुत यूर्यं । (तं जागिज्जह पयत्तेण) तपात्मानं जानीत ज्ञानगुणेन भेदज्ञानेन बुद्ध्याद्वं यूर्यं, प्रयत्नेन चारित्र-गुणेनीकलोलीभावतपा तत्र सिद्धत यूर्यं ।

मच्छो वि सालिसित्यो असुद्धभावो गओ महाणरयं ।

इय णाउ अप्याणं भावह जिनभावणा णिच्चर्च ॥८६॥

मस्योपि शालिसिक्थोऽशुद्धभावो गतः महानरकम् ।

इति ज्ञात्वा आत्मानं भावय जिनभावनां नित्यम् ॥८६॥

(मच्छो वि सालिसित्यो) मस्योपि भीनजातिरत्यष्टीवः तन्मुलसिक्थप्रमाण-शारीरत्वान्माना शालिसिक्थः । (असुद्धभावो गओ महानरयं) अशुद्धभावः सन्

इस कारण उस आत्मा को ही मन वचन कायसे शब्दा करो तथा उसीको प्रयत्न पूर्वक जानो जिससे मोक्ष प्राप्त कर सको ॥८५॥

विशेषार्थ—आत्मा ही मोक्षका कारण है इसलिये विपरीत अभिनिवेश से रहित होकर उसी आत्मा को मन वचन कायसे शब्दा करो और प्रयत्न-यूर्यक अर्थात् चारित्र गुणके साथ एकलोलीभावको प्राप्त होकर उसी आत्मा को जानो, ज्ञान गुण अथवा भेद ज्ञानके द्वारा उसे समझो जिससे समस्त कर्म-क्षय रूप मोक्षको प्राप्त हो सको ॥८५॥

गाथार्थ—अशुद्ध भावोंसे युक्त शालिसिक्थ मच्छ भी महा नरक गया यह जान कर निरत्तर आत्मा की भावना करो आत्मस्वरूप का चिन्तन करो क्योंकि यही जिन-भावना है अथवा जिन-सम्यकत्व है ॥८६॥

विशेषार्थ—राघवमच्छ के कान में एक छोटी अवगाहनाका मच्छ रहता है खांखल के सीधेके समान शारीरका प्रमाण होनेसे वह शालिमच्छ अथवा तन्मुल-मच्छ कहलाता है । वह यद्यपि राघवमच्छ के समान बाह्य हिसा नहीं कर पाता है परन्तु भाव-हिसाके कारण राघवमच्छके ही

गतः प्राप्तः महानरकं सप्तमं नरकं गतः । (इय णाउ' अव्याख्या-
तमानं शुद्धबुद्धेकस्वभावलूपं टंकोत्कीर्णस्फटिकविमोपम् चित्त्वमत्त्वारलक्षणं मुक्ति-
गतसिद्धसमानं शुद्धनिश्चयनयेन सिद्धं ज्ञायकैकस्वभावं हे जीव ! हे आत्मन् !
(भावहु जिणभावणा णिच्चं) मावय एवं भावमाविषयं कुरु इयं जिनभावनेति
शात्वा, अथवा जिनभावनां जीवादिसप्ततत्त्वशङ्कानं च नित्यं सर्वकालं भावय
रोचस्व तस्मादिति अपध्यानं परिहृस्थं अन्तस्तत्वं बहिस्तत्वं आश्रयेति भावार्थः ।
किं तप्तवप्यधानं ?—

‘वधबन्धच्छेदादे रागदेशात्म एकलक्षणादे ।
आद्यनिमपद्यानं शासति जिनशासने विशदाः ॥ १ ॥
‘एदस्थं मंत्रवाक्यमस्थं पिण्डस्थं स्वात्मचिन्तनं ।
रूपस्थं सर्वचिह्नं रूपातीतं निरञ्जन ॥’

समान सातवें नरक में उत्पन्न होता है इसलिये आचार्य सावधान करते
हुए कहते हैं कि देखो अशुद्धभावों के कारण शालिसिक्थ मत्स्य सातवें
नरक गया । अतः हे आत्मन् ! तू निरन्तर शुद्ध बुद्धेक-स्वभाव, टंको-
त्कीर्ण स्फटिक विम्बके तुल्य, चित्त्वमत्त्वारलक्षण, मुक्तिको प्राप्त सिद्ध
के समान, शुद्धनिश्चयनय से सिद्ध एवं एक स्वभावसे युक्त आत्मा की
भावना कर—उसे ही भावनाका विषय बना तथा यही जिन भावना है—
आत्मचिन्तन ही जिनचिन्तन है ऐसा समझ । अथवा आत्मभावना रूप
निश्चयसम्यक्त्व और जिन-भावना-जीवादि सप्ततत्वके श्रद्धानरूप
अथवार सम्यक्त्वका सदा चिन्तन कर । अर्थात् अपध्यान को छोड़कर
अन्तस्तत्व और बहिस्तत्वका आश्रय घटूण कर ।

प्रश्न—वह अपध्यान क्या है ?

उत्तर—द्वेष-वश किसीके वध बन्धन और छेद आदिका तथा रागवश
परस्त्री आदिका निरन्तर ध्यान करना अपध्यान है, ऐसा जिनशासन के
शाता आचार्य कहते हैं ।

परस्थं—मन्त्र वाक्य रूप पदस्थ, स्वात्म-चिन्तन रूप पिण्डस्थ, सर्व-
चेतन्य रूप, रूपस्थ और कर्म कालिभा से रहित सिद्ध परमेष्ठी रूप रूपा-
लोत इस प्रकार सद्ध्यान के चार भेद हैं ।

१. रस्तकरण्डभावकामारे ।
२. द्वेषाश्रामाच्छेति पाठात्मरम्भन् ।

इति पश्चोक्तं अतुचिष्ठ व्यानं भावय हे जीव ! ।

अब शालिसिक्षयमत्स्यकथा यथा—श्रीपुष्पदन्तजिनजग्मभूमी काकन्दीपुरे श्रावककुलजन्मा सौरसेनो राजा बभूव । सकलधर्मनुरोधेन मांसव्रतं जग्नाह । पुनर्वेदवेद्यरुद्रमत्तमोहितमतिः मांसभक्षणमतिः संजातः, अङ्गीकृतवस्तुनिर्वहनकारणात्म्लोकापवादाच्च मांसं जुगुप्समानः मनोविश्वामहेतुं कर्मप्रियनामकेतुं सूपकारं स्वाहूवीकाले निजाभिलाषं तमजिज्ञातु । पितृचर्चस्त्रैरुद्धर्मरुद्धर्मात्माः पौत्रभानायन्तपि अनेकराजकार्यकुलचित्ततया मांसभक्षणात्मकरं न प्राप । कर्मप्रियोऽपि नुपादेशं अहनिशं कुर्वन्नेकदा सर्ववालकेत इष्टो मृतः स्वयंभूरमणसमुद्रे महामत्स्थो बभूव । भूपः सौरसेनोऽपि चिरकालेन मृत्वा मांसभक्षणाशयानुवन्धा-

हे आत्मन् ! इस पद्ममें कहे हुए चार प्रकारके नद्ध्यानका तू निरन्तर चित्तन कर ।

अब शालिसिक्षय मत्स्य की कथा लिखते हैं—

शालिमत्स्य की कथा

श्रीपुष्पदन्त भगवान् की जन्म भूमि काकन्दीपुर में श्रावक कुलमें उत्पन्न हुआ सौरसेन नामका राजा था । उसने मुनिराजके अनुरोधसे मांस-स्थाग व्रत ग्रहण किया परन्तु पीछे वेदविद्या के ज्ञाता रुद्रमत्त से मोहित-बुद्धि होनेके कारण उसको मांस खानेमें हचि हो गई । गृहीत व्रत के निर्वाह के कारण तथा लोकापवाद के भयसे वह प्रत्यक्ष तो मांस से घृणा करता था परन्तु अन्तरङ्गमें उसकी इच्छा लगी रहती थी । एक दिन उसने मानसिक विश्वामके कारण कर्म-प्रिय-केतु नामक रसोहया की एकान्त में बुलाकर उससे अपनी अभिलाषा प्रकट की । विलमें रहने वाले, स्थल में रहने वाले और जलमें रहने वाले जीवोंके मांसको वह बुलवाता तो या परन्तु राज्यसम्बन्धो अनेक कायोंमें व्यञ्जित होनेके कारण उसे खानेका अवसर नहीं प्राप्त कर पाता था । कर्मप्रिय रसोहया भी शजाके आदेश का पालन करता हुआ प्रतिदिन मांस तैयार करता था । एक दिन सौपके बच्चेने उसे इस लिया जिससे वह मर गया और मरकर स्वयंभू रमण समुद्र में महामत्स्य हुआ । इधर सौरसेन राजा भी चिरकाल बाद मरकर मांस-भक्षण के अभिप्राय का संस्कार रहने से उसी समुद्र में उसी महामत्स्य के कान रूप विलके मल्को खानेवाला शालिसिक्षय प्रमाण शरीर का धारक मत्स्य हुआ । पश्चात् जब इसकी द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय पूर्ण हो गई तब वह मुख खोलकर सोते हुए,

सत्सिन्नेष तमुद्रे तस्यैव महामत्स्य स्य कर्णविलमलाशनशीलः शालिसिक्षप्रमाण-
करीरो मूल्यो वग्रूव । तदन्वेष पर्याप्तिरव्यभावेन्द्रियः तस्य महामत्स्य-मूर्ख
भ्यावाय निद्रायतो वेलानदीप्रवाहे इव गल्गुहेऽनेकजलवरसमूहं प्रविष्य निष्कर्मस्त
निरीक्ष्य शालिसिक्षविचक्त्यति—अयं पापकर्मा महामत्स्यो भिन्नाण्यो यस्मूले
पत्तल्यपि याद्वसि भक्षयितुं न जानोति । यथा देवेनैतावच्छीरे यदि भवति तदा
सकलमपि समुद्रं सत्वसंचाररहितं करोमीति चेतक्षिचक्षावल्लुद्रमत्स्यो निषिलम-
क्रषकभक्षणपादाच्च महामत्स्योऽपि द्वावपि मूल्या सप्तमनरके संज्ञाती । ततस्त्र-
यर्स्वसप्तसागरोपमायुधी ती द्वावपि परस्परमालापं चक्षुः । अहो क्षुद्रमत्स्य !
महापापकर्मणो ममाकागमनं संग्रह्यत एव । त्वं तु मल्कर्णमलजीवनः कथम-
जागतः । शालिसिक्षवरनारदः प्रत्यु—महामत्स्यचेष्टताऽपि दुरन्तदुर्लभं संबन्धना-
द्युभविनावशात् ।

इति श्रीभावप्राभूते शालिसिक्षमत्स्योपाद्यानं समाप्तं ।

बाहिरसंगच्छाओ गिरिसरिदरिकदराह आवासो ।

सयलो पाणजमयणो णिरत्थओ भावरहिताण ॥८७॥

बाह्यसञ्ज्ञयागः गिरिसरिददरिकन्दराद्यावासः ।

सकलं ज्ञानाध्ययनं निरत्थकं भावरहितानाम् ॥८७॥

महामत्स्य के वेला नदीके प्रवाहके समान कण्ठ रूप गुहा में प्रवेश कर
निकलते हुए अनेक जलचरों के समूह को देखकर चिन्ता करता है कि
यह पापी महामत्स्य बड़ा अभागा है जो मुखमें पढ़े हुए भी जल जन्मतुओं
को खाने में समर्थ नहीं है, भाग्यवश थदि मेरा शरोर इतना भारी होता
तो मैं समस्त समुद्र को जीवोंके संचार से रहित कर देता । इस प्रकार
मानसिक विचार के बलसे क्षुद्रमत्स्य और समस्त मगरमच्छों के खानेसे
उत्पन्न पापके कारण महामत्स्य दोनों ही मरकर सातवें नरक में उत्पन्न
हुए । कहाँ तेतोस सागरको उनको आयु हुई । दोनों मिलने पर परस्पर
वातिलिप करने लगे । महामच्छके जीवने कहा कि अहो क्षुद्रमत्स्य !
महापाप करने वाले मेरा यही आना तो संगत है पर तुम तो कानका
मल खाकर जीवित रहते थे तुम यहाँ कैसे आ गये ? शालिसिक्ष के जीव
नारकी ने कहा कि मैं महामत्स्य को चेष्टा से भी अधिक भयकर दुःख
देनेवाली खोटी भावनाके क्षणसे यहाँ उत्पन्न हुआ हूँ ।

इस प्रकार श्री भावप्राभूत में शालिसिक्ष मत्स्य को कथा समाप्त
हुई ॥८८॥

वाचार्थ—बाह्य परिप्रह का त्याग करना, पर्वत नदी गुफा और

(बाहिरसंगच्छाथो) बाह्यसगत्यागः निरर्थक इति सम्भवः (शिरिसरिद-
रिकंदराइ आवासो) गिरा आवासः पर्वतोपरि आतापनयोगः पर्वते स्थितिवी,
सरित्—नदीतटे तपत्वरणं भगीरथवत्, दरी गुहायामावासः, कन्दरो शिवाचि-
विवरं लत्वावासः, आदिशब्दात् एमशामोद्यामावासै आवासः स्थितिः । (सर्वलो
णालजायन्त्रो) सर्वलं बाखनाप्रचलनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशलक्षणं ज्ञानाध्ययनं
शास्त्रपठनं । (निरत्यओ भावरहिताणं) भावरहितानां जिनसम्यक्त्वविवरजिसाना
निजषुद्धुद्वैक्ष्यभावात्मभावनाप्रच्छुतानां यतीनां उक्तं च—

बाह्यप्रम्भविहीना दरिद्रभनुयाः स्वभावतः सन्ति ।

यः पुनरन्नासंगत्यागी लोके स दुर्लभो जीवः ॥ १ ॥

भंजसु इवियसेणं भंजसु मणेमवकडं पयस्तेण ।

मा अगरंजणकरणं बाहिरवयवेत तं कुञ्जसु ॥ ८८ ॥

भद्रगिरि इन्द्रियसेनां भद्रगिरि भनोमकृटं प्रयत्नेन ।

मा अनरक्षजनकरणं बहिर्दैतकेव ! स्वं काषीः ॥ ८८ ॥

कन्दरा आदिमें निवास करना तथा समस्त शास्त्रोंका पढना भावरहित
जीवोंके निरर्थक है ॥८७॥

विशेषार्थ—भावकी महिमा असलाते हुए आचार्य कहते हैं कि भाव-
रहित अर्थात् जिन-सम्यक्त्व से विवर्जित अथवा शुद्ध दुद्वैक्ष्यभाव से
युक्त जिन-आत्मा की भावना से च्युत मुनियोंका बाह्य परिप्रह का त्याग
करना निरर्थक है, पर्वतके ऊपर आतापन योग धारण करना अथवा
पर्वत पर रहना, भगीरथ के समान नदी तट पर तपस्या करना, गुहा में
रहना तथा कन्दरा एमशाम उद्यान आदि में निवास करना निरर्थक है
और वायुना प्रच्छना अनुप्रेक्षा आम्नाय तथा धर्मोपदेश रूप सब प्रकार
का ज्ञानाध्ययन-शास्त्र स्वाध्याय करना निरर्थक है । जैसा कि कहा
गया है ।

बाह्यप्रम्भ—दरिद्र मनुष्य तो बाह्य परिप्रहसे रहित स्वयं होता ही है
अर्थात् बाह्य परिप्रह के त्यागी मनुष्य दुर्लभ नहीं हैं किन्तु जो अन्तरङ्ग
परिप्रह का त्यागी है लोक में वही दुर्लभ है ॥८७॥

गाथार्थ—हे बाह्य व्रत वेषके धारक साधो ! तू इन्द्रियों की सेनाको
भग्न कर, प्रयत्न पूर्वक मन रूपी वानरको नष्ट कर तथा जनता के
अनुराग को उत्पन्न करने वाला कार्य मत कर ॥८८॥

(भंजसु इदियसेण) त्वं भविष्य, का ? इन्द्रियसेनां । (भंजसु मणमकर्ण पयत्तेण) भंजसु-त्वं भन्धि आमदैय विषयकषायेभ्यो गच्छत्ते निश्चणद्वि, क ? मणमकर्ण—मनोमर्कटं चपलस्वभावत्वान्मन एक मर्कटस्ते भनोवानरं प्रयत्नेन स्त्रीसंगपरित्यागत् । (मा अणरंजणकरणं) मा-नैव जनानां लोकानां रञ्जनकरण अनुरागोत्पादकं कायं । हे ! (बाहिरब्यवेष) बहिर्ब्रवेष ! हे बाह्याकारदीक्षा-चिन्होद्घाहक ! । (तं) त्वं । (मा कुणसु) मा काषोः ।

गवणोकसायवगां मिच्छत्तं चयसु भावसुद्धीए ।

चेष्यपवयणगुरुणं करेहि भस्ति जिनाशाए ॥८९॥

नवनोकषायवगं मिथ्यात्वं त्यज भावशङ्खा ।

चैत्यप्रवचनगुरुणां कुरु भवित जिनाशया ॥ ८९ ॥

(गवणोकसायवगां) नवनोकषायवगं हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुर्नपुर्सकवेदलक्षणान् नोकषायान् इष्टक्षयायान् यथाक्षयात्वारित्वारुकान् । चयसु त्यजेत संबन्धः । तथा (मिच्छत्तं चयसु भावसुद्धीए) मिथ्यात्वं पञ्चप्रकारं चयसु त्यज—

‘एयत बुद्धदरिसो विवरीओ वंभ तावसो विजओ ।

इदो वि य संसयिदो भवकडिओ चेव अणाशी ॥ १ ॥

विशेषार्थं—हे साधो ! विषय और कषाय की ओर बढ़तो हुई इन्द्रियों की सेनाको तू नष्ट कर दे, मन रूपो चञ्चल वानर को प्रयत्न पूर्वक रोक तथा लोगोंको प्रसन्न करने वाले यन्त्र-मन्त्र-तन्त्र आदि कायोंको छोड़, सिर्फ वाह्य वेषको धारण करने वाला न बना रह, भावकी ओर लक्ष्य दे ॥८८॥

गाथार्थ—हे जीव ! भाव-शुद्धिपूर्वक नौ नोकषायों के समूह और मिथ्यात्व का त्याग करो तथा जिनेन्द्र देवको आज्ञानुसार जिनप्रतिमा, जिनशास्त्र तथा गुरुओं की भवित करो ॥८९॥

विशेषार्थं—हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा स्त्रीवेद पुरुषवेद और नपुर्सक वेद ये नौ नोकषाय अथवा ईषत् कषाय हैं, यथात्वात् चारित्रिका धात करने वाली हैं इन्हें तू छोड़ । एकान्त, विपरीत, विनय, संशय और अज्ञान ये पाँच प्रकारके मिथ्यात्व हैं, भावशुद्धि पूर्वक तू इनका त्याग कर ।

एयंत—एकान्त मिथ्यात्वमें बोढ़, विपरीत मिथ्यात्वमें ब्राह्मण, विनय

१. गोमटसारे जो तकाम्हे ।

एकान्तेन क्षणिकैकान्तेन मोक्षं बौद्धो वदति विपरीतेन हि या मोक्षं बन्ध-
ब्राह्मणो वदति तापसो विनयेन मोक्षं वदति । इन्द्र-इन्द्रचन्द्रोनागेश्वरगच्छः संशयेन
मोक्षं मन्यते । अपि च शश्वदाद्गोपुच्छिको द्राविडो यापनीयाभिष्ठो निषिद्धचतुर्थ
संशयमोक्षो जात्यव्यः । मस्करपूरणो मार्कटिकोऽज्ञानामोक्षं मन्यते । एतम्भाष्यातकं
मिथ्यात्मवपंचकं च्यसु स्तु त्यज है जीव ! रबं । तथा च समन्तमद्रः प्राह—

‘न सम्यक्त्वसमं किञ्चित् चैकाल्ये त्रिवर्गत्यपि ।

धेयोऽक्षेयस्व भिथ्यात्मवसमं नान्यतनुभृताम् ॥ १ ॥

भावसुद्धीए—तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणया भावशुद्धया । जिनसम्यक्त्वेन लौकपाप-
संभाषणसंगमपरिहारेण शुद्धबुद्धेकस्वभावात्मसहचिपरिणामेनेति भगवार्थः । (चैद्य-
पवयणगुरुणं) चेत्याना अहंतिपद्म प्रभूतिप्रतिमानां प्रवचनस्य जिननाथसूत्रस्य तथेति
मस्करोपर्यारोपणेन सरस्वतीप्रतिमापूजनेन गुरुणां नियन्त्रिदिगम्बराणां भव्यजीव-

मिथ्यात्म में तापस, संशय मिथ्यात्म में इन्द्र नामक श्वेताम्बर और अज्ञान मिथ्यात्म में मस्करी प्रसिद्ध हुआ है बौद्ध, सर्वेत्या क्षणिक एकान्त से मोक्ष कहते हैं । ‘हिसा से मोक्ष होता है’ इस प्रकार ब्राह्मण विपरीत मिथ्यात्म-का निरूपण करते हैं । ‘सब धर्म तथा सब देवों की विनय से मोक्ष होता है’ ऐसा तापस कहते हैं । इन्द्र-चन्द्र-इन्द्र अर्थात् नागेन्द्र गच्छका प्रवतांक इन्द्रचन्द्र संशय से मोक्ष मानता है । ‘इन्दोविय’ यहीं जो ‘अपिच’ शब्द दिया है उससे गोपुच्छिक, द्राविड, यापनीय तथा निषिद्ध लोगोंका भी संशय मिथ्यात्म में समावेश करना चाहिये क्योंकि ये भी संशय से मोक्ष मानते हैं । तथा मार्कटिक अथवा मस्कर पूरण अज्ञान से मोक्ष मानता है । ये पाँचों मिथ्यात्म भव्याप हैं इसलिये है जीव ! तू इनका त्याग कर । समन्तमद्र स्वामी ने कहा भी है—

न सम्यक्त्व—तीनों काल और तीनों लोकों में सम्यक्त्व के समान जीवोंका कल्याणकारी और मिथ्यात्म के समान अकल्याणकारी दूसरा कुछ भी नहीं है ।

भाव-शुद्धिका अर्थ तत्त्वार्थश्रद्धान रूप जिन-सम्यक्त्व अथवा शुद्ध बुद्धेक-स्वभाव से युक्त आत्मा की रूचि रूप परिणाम समझना चाहिये । चैत्यका अर्थ अहंत्ति सिद्ध आदि की प्रतिमा है तथा प्रवचन से जिनागम का प्रहण होता है । जिन-प्रतिमा और जिनागम को मस्तक पर धारण कर तथा सरस्वती की प्रतिमाको पूजा कर उनकी भक्ति करना चाहिये ।

भक्तजनपितेवमातृपितृसदुयाहितोपरेताकामा । (कर्तेह भक्ति जिणाणार्थ) कुरु त्वं
भक्ति पंचामृतजलेश्चुरसहीयगवीनगोमहिषीक्षीरगन्धोषककलशस्नपनेन जलचम्बनाक्षत
पुण्यवरदीपधूपफलाचौबानेन स्तवेन जपेन ध्यानेन श्रुतवेषताराघनेन नित्यं
प्रातादत्याय सर्वज्ञवीतरागप्रतिमासवाङ्गाखलोकनेन भक्ति कुरु, तथा श्रुतभक्ति
श्रुतोक्तप्रकारेण कुरु, तथा गुरुओं पादभद्रनेन वैयावृत्ययथासंभवाहारकानश्रुत-
समर्पणीषधप्रदा नवसत्यपैषाभयदानादिभिर्यथायोर्य भक्ति कुरु । एतत्सर्वं भक्ति-
कल्पनं कर्म जिनाकामा अहापुराणशब्देन त्वं कुरु हे जीव ! सर्वं मोक्षं च प्राप्त्यसि ।
लोकानां महापातकिणां वज्रं या मामयस्म ।

तित्ययरभासियत्यं गणहरवेषेहि गच्छियं सम्मं ।

भावहि अणुदिष्टु अतुलं विशुद्धभावेण सुयणाणं ॥१०॥

तीर्थकरभाषितार्थं गणधरदेवैः प्रन्वितं सम्यक् ।

भावय अनुदिनं अतुलं विशुद्धभावेण श्रुतज्ञानस् ॥१०॥

(तित्ययरभासियत्यं) तीर्थकरेण श्रीमद्भगवद्गृहत्यक्षमीतरागेन भाषितः
कथितोऽर्थो यस्य श्रुतज्ञानस्य तत्तीर्थकरभाषितार्थ । (गणहरवेषेहि गच्छियं सम्मं)

इसी प्रकार भव्य जीव, मक्तजन तथा शिष्योंको माता पिता के समान
हितका उपदेश देनेवाले निर्गम्य दिगम्बर गुरुओंकी मी भक्ति करना
चाहिये । हे जीव ? तू जिनेन्द्र देव की आशानुसार जिन-प्रतिमाओं की
पञ्चामृत-जल, हक्षु, रस, धी, गाय भैसके दूध तथा गन्धोदक से भरे
फलशों द्वारा अभिषेकसे जल चन्दन, अक्षत, पुण्य, चूर, दीप, धूप, फल और
अर्ध के देनेसे, स्तवन से, जपसे, ध्यान से, श्रुत देवता की आराधना से
और नित्य प्रातःकाल उठकर सर्वज्ञ वीतराग की प्रतिमाओं के सर्वाङ्ग
दर्शन से भक्ति कर । श्रुत की भक्ति शास्त्र में कही हुई विधि से कर तथा
गुरुओं की भक्ति उनके पैर दाढ़ना, वैयावृत्य, यथासंभव आहार दान,
शास्त्र समर्पण, औषधदान, वसतिकार्पण एवं बमयदान आदि के द्वारा
थथा-योग्य रीति से कर । यह सब भक्ति रूप कार्यं तू जिनाङ्गासे अथवा
महापुराण के श्रवण से कर । इस भक्ति के द्वारा तू स्वर्ग और मोक्षको
प्राप्त होगा ॥१०॥

गापार्थ—तीर्थकर भगवान् ने जिसके अर्थका निरूपण किया है तथा
गणधर देवोंने जिसे भलोभाँति गौथा है—द्वादशाङ्ग रूप लिबद्ध किया है
ऐसे अनुपम श्रुतज्ञान का तू प्रतिदिन विशुद्ध भावसे विनृतन कर ॥१०॥

गणघरदेवैषीतमस्वाम्यादिभिर्नितं द्वादशाधिकशतकोटिष्यसोसिलकाष्टापौचाशत्स-
हृलपचाधिकपैरानीतमिति प्रन्थित । चतुर्बांशप्रकोणकेरायानीत श्रुतज्ञानं । (सम्यं)
सम्यकप्रकारेण पूर्वपिरविरोधरहितं । (मावहि) भावय । (अणुदिणु) अनुविन-
महानिंशं । (अनुभुं) अनुपमं (विशुद्धचांण सुमणार्ण) चलमलिनपरिणाम-
रहिततया । एकस्य पदस्य श्लोका यथा—५१०८८४६२१ अक्षर १६, उक्तं च
श्रुतस्कल्पशास्त्रे—

एषकावनकोडीओ लक्ष्मा अट्ठेव सहस्रुलसीदी ।
सयछन्कं णायर्व सहृदाइगवीसपदगेथा ॥१॥

पाठ्ण णाणसलिलं यिन्महतिसङ्गाहसोसउम्मुक्ता ।
हौंति सिद्धालयवासी सिद्धामचूडामणो सिद्धा ॥९१॥

‘प्राप्य ज्ञानसलिलं निर्मध्यतृष्णादाहशोषोन्मुक्ता ।
भवन्ति शिवालयवासिनः त्रिभुवनचूडामणयः सिद्धाः ॥९१॥

विशेषार्थ—तोर्थकर अथत् अष्ट प्रातिहार्य रूप लक्ष्मी से सहित
भगवान् अहंत्त सर्वज्ञ वीतराग देव ने अपनी दिव्यध्वनि के द्वारा जिसका
अर्थ रूपसे निरूपण किया है और गोतम स्वामी आदि गणघर देवोंने
जिसकी ग्रन्थ रचना कर एकसी बारह करोड़ तेरासी लाख अट्ठावन
हजार पौच पदों द्वारा जिसका विस्तार किया है, यही नहीं चौदह प्रको-
णकों के द्वारा भी जिसे सुविस्तृत किया है, ऐसे पूर्वपिर विरोध से रहित
अनुपम श्रुत ज्ञान की तू हे जीव ! प्रतिदिन भावना कर । चल, मलिन
रूप परिणामों से रहित होकर प्रतिदिन उसीका चिन्तयन कर । द्वादशाङ्क
के एक पद में इवयावन करोड़ आठ लाख चौरासी हजार छह सौ साढ़े
इक्कीस श्लोक बतलाये हैं, १६ अक्षर शब्द रहते हैं । जैसा कि श्रुतस्कल्प
शास्त्र में कहा है—

एषकावन—इवयावन करोड़ आठ लाख चौरासी हजार छह सौ
साढ़े इक्कीस श्लोक एक पद के बतलाये गये हैं ॥९०॥

गाथार्थ—ज्ञान रूपी जलको प्राप्त कर ये जीव, दुनिवार तुषा दाह
और शोषसे रहित हो शिवालय के वासी एवं तीन लोक के चूडामणि
सिद्ध होते हैं ॥ ९१ ॥

१. पोखा इति सम्पूर्ण प्रतिमाति ।

(पाकण पाणसलिलं) प्राप्य लक्ष्मा कि ? शानसलिलं सम्प्रशानपानीर्थं सिद्धा भवन्तीति सम्बन्धः कर्थभूताः सिद्धाः (निम्नहृतिसङ्गाहसोसउम्मुक्ता) निर्मध्या मथयितुमशक्या स चासौ तृष्णा विषयाभिलाषः दाहश्व शारीरणरिसन्तापः शोषण रसादिहानिः निर्मध्यतुषादाहशोषाः तैरुम्मुक्ताः परित्यक्ता निर्मध्यतुष्वाह-शोषोन्मुक्ताः निम्नलसुविसुद्धभावसंजुत्ता इति च वचित्पाठः तत्रायमर्थः— निर्मलो द्रव्यकर्मभावकर्मनोकर्मरहितः योऽसौ सुविशुद्धभावः कर्मसलकलकूरहितः क्षायिको भावः परिणामः निष्केवल आत्मा वा तेन संयुक्ताः सहिता निर्मलसुविशुद्धभावसंयुक्ताः । (होति सिवालयवासी) भवन्ति संजायन्ते, के ते ? आसन्न-भव्यजीवाः, कीदृशाः संजायते ? शिवालयवासिन इष्टप्राप्तभारनाम्यां शिलायां वसन्तीति मुक्तिशिलोपरितिष्ठतीस्येवं शीलाः शिवालयवासिनः, अथवा शिवानां सिद्धानाशालयः शिवालयः पञ्चचत्वारिंशत्तलक्षण्योजमविस्तारमुक्तिशिलायादपरि तत्—

विशेषार्थ—श्रुत ज्ञान की भावना का फल बतलाते हुए श्री कुन्दकुन्द देव कहते हैं कि ये जीव ज्ञान रूपो जलको पाकर सिद्ध होते हैं सिद्ध होनेके पूर्व ये जीव जिसका नष्ट करना “अशक्य है ऐसो तृष्णा अर्थात् विषयोंकी अभिलाषा, दाह अर्थात् शारीरिक संताप और शोष अर्थात् रसादि हानि से उन्मुक्त हो जाते हैं—छूट जाते हैं । अथवा कहों पर ‘त्रिम्भुतिसङ्गाह सोस उम्मुक्ता’ ऐसा पाठ पाया जाता है उसका अर्थ इस प्रकार होता है कि ये जीव, द्रव्यकर्म, भावकर्म और नो कर्म से रहित सुविशुद्ध-भाव अर्थात् कर्म-मल-कलकूर से रहित मात्र क्षायिक भाव रूप परिणाम से संयुक्त होते हैं । सिद्ध परमेष्ठी शिवालय वासी होते हैं अर्थात् ईष्टल्पाभार नामक शिला पर जो कि मुक्तिशिला अथवा सिद्धशिला कहलाती है निवास करते हैं । अथवा सिद्धोंका अर्हा निवास है वह शिवालय कहलाता है । सिद्धोंका निवास पेंतालीस लाख योजन विस्तार बालों सिद्ध शिला के ऊपर तनुवात बलय के अन्तिम पाँच सौ पच्चीस घनुष

१. गठण की छाया ‘प्राप्य’ न होकर पीत्वा ठोक ज्ञान पड़ती है और निर्मध्य का अर्थ ‘मथयितुमशक्या’ के बदले ‘निःशेषेण मथिला’ उचित ज्ञान पड़ता है । इस दशा में निर्मध्य का कर्म तृष्णा है । सामूहिक रूपसे गाथाका अर्थ यह संगत प्रतीत होता है—‘ये जीव ज्ञानरूपो जलको पोकर तथा विषयाभिलाषा रूपी तृष्णान्प्यास को बिलकुल नष्ट कर दाह और शोष से रहित होते हुए शिवालयवासी एवं तीन लोकके पूजामणि सिद्ध होते हैं ।’

वातनामवातवलये निराधारा आकाशे तिष्ठन्तीति भावः । पुनः कर्यभूताः सिद्धाः, (लिङ्गवण्डूषामणी) वैलोक्यशिरोरत्नसदृशाः ।

इस इस दो सुपरीसह सहहि मुणी सबलकाल काएण ।

सुत्तेण अपमत्तो संजमधावं पर्मोत्तृण ॥९२॥

दश दश द्वी सुपरीषहान् सहस्र मुने ! सकलकालं कायेन ।

सूत्रेण अप्रमत्ता संयमवात् प्रमुच्य ॥९२॥

(इस इस दो) दश च पुनर्दश च द्वी च द्विविष्टलिरित्यर्थः के ते, (सुपरी-सह) सुष्टुअतिषयेन परिसम्पत्तात् सहस्रे ये ते सुपरीषहाः “मागच्यवननिर्जरार्थं परिसोद्याः परीषहाः” ते तु पूर्वोक्तवण्णं ना ज्ञातव्याः । (सहहि) सहस्र । (मुणी) हे मुने ! हहो तपस्त्विन् । (सबलकाल) सकलकालं सर्वकालं, कायेन शरीरेण आगमनश्चात्मनि स्थाप्यते इति भावः । (सुत्तेण) सूत्रेण जिनवचनेन कृत्वा । कि तज्जिनवचनम् ?—

“मागच्यवननिर्जरार्थं परिसोद्याः परीषहाः”

इति । (अप्रमत्ता) अप्रमत्ताः प्रमादरहिताः इत्यर्थः । (संजमधावं पर्मोत्तृण) संयमस्त्य घातं प्रमुच्य ।

प्रमाण क्षेत्र में है । सिद्ध परमेष्ठो वहीं निराधार आकाश में स्थित रहते हैं । वे सिद्ध परमेष्ठो तोन लोकके ऊपर चूषामणि के समान सुशोभित होते हैं ॥ ९१ ॥

गायार्थ—हे मुने ! तु जिनदेव के सूत्रानुसार-जिन-शास्त्र के आज्ञा प्रमाण प्रमाद रहित हो संयम के घातको छोड़कर सदा शरीर से बाईंस परीषहों को सहन कर ।

विशेषार्थ—हे तपस्त्विन् ! जिनेन्द्र देवने अपने आगम में आज्ञा दी है—‘मागच्यवन-निर्जरार्थं परिसोद्याः परीषहाः’ अर्थात् गृहीत—मागसे च्युत न होने तथा कर्मोंकी निर्जरा के लिये परीषह सहन करना चाहिये, सो इस जिनाज्ञा के अनुसार तु सदा प्रमाद रहित होता हुआ संयम में जो बाधा आती है उसका बचाव कर तथा सदा शरीर से अुषा तृषा आदि बाईंस परीषहों को सहन कर ॥ ९२ ॥

१. “सोषुसहोऽदेष्टोः” इति शाकटायनीयेन “सोष” इति जैनमौयेण पाणिनोयेन च सूत्रेण वत्वनिषेधः ।

जह पत्थरो ण भिजजइ परिट्ठिओ दीहकालमुदएण ।
तह साहू ण विभिजजइ उवसगपरीसहेहिंतो ॥९३॥

यथा प्रस्तरो न विद्धाते परिस्थितो दीर्घकालं उदकेन ।

तथा साधुर्न विभिद्धाते उपसर्गपरीषहेभ्यः ॥९३॥

(जह पत्थरो ण भिजजइ) यथा प्रस्तरः पाषाणो न विभिद्धाते न परिणमति अस्तराद्वारा न भवति । (परिट्ठिओ दीहकालमुदएण) पाषाणः कर्थमूलः, परिस्थितः प्रक्रिये उदके इति सौत्रसम्बन्धात् । क्यं परिस्थितः, दीर्घकाल प्रचुरकालं केन न विभिद्धाते ? उदकेन वारिणा । (तह साहू ण विभिजजइ) तथा साधुमुनी रत्नवयसाधकः सम्यग्वर्धनज्ञानवारित्तमण्डितो न विभिद्धाते नान्तःक्षुभितो भवति । (उवसगपरीसहेहिंतो) देवमानवतिर्यगचेतनोपहवेभ्य उपसर्गेभ्यः परीषहेभ्यः क्षुधापिकासादिभ्यो प्रार्थितरपि । “सुन्तो हिन्तो हि दु दोत्तो भ्यसः” इति आकृत्याकरणसूत्रेण पञ्चमीबहुवचनभ्यसः स्वाने हितो आदेशः । इसिस्थाने च “सुक्त हितो हि दु दो त्तो असः” इति सूत्रेण भवति । “स्यात्प्राप्तानतो विकेषप्रतिपत्तिनं हि सन्देहादलक्षणं” इति परिभाष्यात्त बहुवचनस्य भ्यसो हिन्तो आदेशो आतम्य इति ।

गाथार्थ—जिस प्रकार दीर्घकाल तक पानी में डूबा पत्थर पानीके द्वारा भेदको प्राप्त नहीं होता उसी प्रकार उपसर्ग और परीषहों के द्वारा साधु विमेद को प्राप्त नहीं होता अर्थात् अन्तरज्ञ से क्षुभित नहीं होता ॥ ९३ ॥

विशेषार्थ—उपसर्ग उपद्रव को कहते हैं । तथा देवकृत मनुष्यकृत तिर्यक्कृत और अचेतन कुतके भेदसे चार प्रकार का होता है । क्षुधा आदिकी आकृतिक बाधाको परीषह कहते हैं तथा उसके क्षुधा तृष्णा शीत उष्ण आद बाईस भेद हैं । इन उपसर्ग और परीषहों से जैन साधु कभी विचलित नहीं होता, यह दृष्टान्तपूर्वक समझाते हुए ओ कुन्दकुन्दाचार्य देव कहते हैं कि जिस प्रकार दीर्घ काल तक पानीके भोतर रहता हुआ शी पत्थर पानी से भेद को प्राप्त नहीं होता अर्थात् गोला नहीं होता अथवा हटता नहीं है, उसी प्रकार रत्नवयसाधक साधु भी उपसर्ग और परीषहोंसे भेदको प्राप्त नहीं होता अर्थात् क्षुभित होकर संयम से व्युत नहीं होता ॥ ९३ ॥

भावहि अणुवेषकाओ अवरे पण्डीसभावणा भावि ।
भावरहिएण कि पुण बाहिरलिंगेण कायच्च ॥१४॥

भावय अनुप्रेक्षा अपराः पञ्चविंशति भावना भावय ।

भावरहितेन कि पुनः बहिर्लिङ्गेन कायम् ॥१४॥

(भावहि अणुवेषकाओ) भावय पुनः पुनर्विचलय अनुप्रेक्षा अनित्यादीः ।
(अवरे पण्डीसभावणा भावि) अपराः पञ्चविंशतिभावना भावय । (भावरहि-
एण कि पुण) भावरहितेन पुनः कि—न किमपि इत्याक्षेपः । (बाहिरलिंगेण
कायच्च) बहिर्लिङ्गेन नग्नवेषेण कि साध्यं कर्मक्षयज्ञान्यमिदं ।

सत्तद्विरओ ति भावहि वायरसामारथाई तु तु तच्चाह ।

जीवसमासाद्य मुणी चउदसगुणठाणणामाद्य ॥१५॥

सर्वविरतोषि भावय नवकपदाथर्त्तु सप्ततत्त्वानि ।

जीवसमासान् मुने ! चतुर्दशगुणस्थाननामानि ॥१५॥

गायार्थ—हे साधो ! तू बारह अनुप्रेक्षाओं और पञ्चोस भावनाओं
का चिन्तन कर क्योंकि भावसे रहित मात्र बाह्यलिङ्गसे क्या किया जा
सकता है ? अर्थात् कुछ नहीं ॥१४॥

विशेषार्थ—'अनु भूयोभूयः प्रकर्षेण ईक्षणम् अनुप्रेक्षा' इस व्युत्पत्ति के
अनुमार पदार्थके स्वरूपका बार-बार श्रेष्ठताके साथ विचार करना अनुप्रेक्षा
है । अनुप्रेक्षाओं के बारह भेद हैं—१ अनित्य २ अशरण ३ संसार ४
एकत्व ५ अन्यत्व ६ अशुचित्व ७ आळब ८ संवर ९ निर्जरा १० लोक ११
बोधि दुर्लभ और धर्म । हे मुने ! तुझे इन भावनाओंका निरन्तर चिन्तन
करना चाहिये क्योंकि वैराग्यको उत्पन्न करनेके लिये ये माताके समान
कही गई हैं । इनके सिवाय अहिंसादि पाँच व्रतों की पाँच-पाँच के परि-
गणन से पञ्चोस भावनाओं का भी निरन्तर चिन्तन करना चाहिये
क्योंकि वे व्रतोंकी स्थिरताको करनेवाली हैं । इन भावनाओंका बण्ण
पहले आ चुका है । इन दोनों प्रकारकी भावनाओं के चिन्तन से तू अपने
भावकी सम्हाल पहले कर । क्योंकि भावके बिना बाह्य लिङ्ग-नग्नमुद्रा
धारण करने से क्या लाभ है ? मात्र बाह्यलिङ्ग कर्मक्षयका कारण नहीं
है ॥ १४ ॥

गायार्थ—हे मुने ! सबसे विरत होने पर भी तू नष्ट पदार्थ, सात-

(सम्बन्धिरको वि भावहि) सर्वविभेदेति है जीव । अं मदाकृत्यपि सन् भावय । (णवयपयत्याह॑ सत्तात्त्वाह॑) नवदावाद्यन् जीवाजीवास्त्रवद्वन्धसंवर-
निष्ठरामोक्षपुण्यपापपदायभिः । चेतनालक्षणी जीवः । पुद्गलधर्माधिकालाकाशा
अजीवः । आत्मप्रदेशेषु कर्मपरमाणव आगच्छन्ति स आत्मवो मिथ्यात्वाविर-
तिप्रमादकथायोगस्यः । आत्मशेषेषु बालवान्तर द्वितीयसमये कर्मपरमाणवः
द्विष्ट्यन्ति स बन्धः प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशेषाच्चतुर्विषः । आत्मवस्थ निरोक्षः

तत्व, चौदह जीव समास और चौदह गुण स्थानों का चिन्तन अवश्य कर ॥ ९५ ॥

विद्वेषार्थ—हे मुने ! यद्यपि तू हिंसादि समस्त पापोंमें विरक्त होकर महाप्रती हुआ है तथापि जीव अजीव आत्मव बन्ध संवर निर्जन मोक्ष पुण्य और पाप इन तीन पदार्थोंका तथा पुण्य और पापको छोड़ जीव अजीव आदि सात तत्त्वोंका चौदह जीवसमासोंका तथा चौदह गुणस्थानोंका चिन्तनवन अवश्य कर—इनके स्वरूपका विचार अवश्य कर ।

जिसमें चेतना पाई जाती है उसे जीव कहते हैं । जिसमें चेतना नहीं है उसे अजीव कहते हैं । पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल की अपेक्षा अजीव के पौच्छ भेद हैं । आत्म-प्रदेशों में कर्म परमाणु आते हैं यहो आत्मव है । यह मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग रूप होता है । आत्मव के बाद द्वितीय समय में कर्म परमाणु आत्मप्रदेशों में इलेख की प्राप्त हो जाते हैं यही बन्ध कहलाता है इसके प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, और प्रदेश के भेदसे चार भेद होते हैं । आत्मव का एक जाना संवर कहलाता है । वह संवर 'गुप्ति-समिति-धर्मानु-प्रेक्षा-परीषहज्जय-चारित्रे' इस सूत्र के अनुसार ३ गुप्ति ५ समिति १० धर्म १२ अनुप्रेक्षा २२ परीषह ज्यग और ५ चारित्रों से होता है । [जो आत्माको पवित्र करे उसे पुण्य कहते हैं

१. यही गाथा में जैसा पाठ है उसके आधार पर गाथाके उत्तरार्थका अर्थ होता है 'गुणस्थान माम बाले चौदह जीव-समासों की भावना कर' परन्तु टीकाकारने जीव समास और गुणस्थानोंका अलग-अलग वर्णन किया है । गुणस्थानों को भी जीव-समास शब्दसे कहा जाता रहा है जैसे कि जीव काण्ड में 'मिस्सो सासण मिळ्छो'—जावि गाथाओंके अस्त में लिखा है—'चतुर्दह जीव-समासा कमेण सिद्धाय णावध्या' । यही टीकाकार ने जीव काण्डके उल्पालको बदल कर 'चतुर्दह गुणस्थानिय' ऐसा पाठ लिया है ।

संवर उम्भते । संवरः 'स गुप्तिसमितिदशषमनुप्रेक्षापरीष्ठाहृजयचारिनीभवति । तपसर निर्जरा च भवति संवरक्ष भवति । सर्वकर्मक्षमो मोक्षः कर्मते 'एते नवपदार्थाः, एतेषां विस्तर जीवसमाहेदित्यः । सप्ततत्वानि पुण्यपापरहितानि ज्ञातव्यानि । (जीवसमासाह मुणी) हे मुने ! जीवसमासान् चतुर्वर्णसंक्षान् त्वं भावय । अथ के ते चतुर्वर्णजीवसमासा हति चेत् ?—

बादरसुहसेगिदिय विलिष्वडरिदिय वसण्णि सण्णि यं ।

पञ्जन्तापञ्जन्ता भूदा हय चौहसा होंति ॥ १ ॥

विस्तरभेदैर्जीवसमासा अष्टानवतिभवति । तत्रेय गाढा—

धावर बेयालीसा दो सुर दी नरय तिरिय चउतीसा ।

नव विडले नव मणुए बहणउदो जीवठाणाणि ॥ २ ॥

और जो शुभ कार्यों से आत्मा की रक्षा करे अर्थात् दूर रक्षे उसे पाप कहते हैं] कर्मोंके एक-देश क्षयको निर्जरा कहते हैं, तपसे निर्जरा और संवर दोनों होते हैं । समस्त कर्मोंका क्षय मोक्ष कहलाता है । ये नौ पदार्थ हैं इनका विस्तार आत्मा से जानना चाहिये । इन्हीं नौ पदार्थों में से पूण्य और पाप को अलग कर देनेपर शेष सात पदार्थ सात तत्त्व में समावेश हो जाता है, अतः उनकी अलग से गणना नहीं की गई है । संक्षेप से जीवोंकी समस्त अवृत्यों के परिगणन को जीव-समाप्ति कहते हैं । संक्षेप से उसके चौदह भेद होते हैं, जो इस प्रकार हैं—

धावर सुहमे—१ बादर एकेन्द्रिय, २ सूक्ष्म एकेन्द्रिय, ३ दोहन्द्रिय, ४ तीन हन्द्रिय ५ चार हन्द्रिय, ६ असेनी पञ्चेन्द्रिय और ७ सेनी पञ्चेन्द्रिय इस सात युगलोंके पर्याप्त और अपर्याप्त की अपेक्षा दो भेद होते हैं, अतः सबके मिलाकर चौदह जीवसमाप्ति होते हैं । विस्तार की अपेक्षा अठानवे जीवसमाप्ति होते हैं । उनके परिगणन के लिये यह गाथा उपयुक्त है—

धावर—स्थावरोंके ४२, देवोंके २, नारकियों के २, पञ्चेन्द्रिय तिर्थङ्करों के ३४, विकलत्रय के ९ और मनुष्यों के ९ सब मिलाकर ९८ जीवसमाप्ति होते हैं ।

१. सर्वप्रतिष्ठ स वन्धो करते ।

२. सर्वप्रतिष्ठ पुण्यपापयोर्लक्षणं नास्ति तदनेन प्रकारेण ज्ञेयं । पुण्यान्यात्मानं तस्मैव । पापि रक्षति चतुर्वर्णानं तत्पाप्तं ।

बस्या विवरणं—पृथ्वीकायिकसूक्ष्म-बादर-पर्याप्ति अपर्याप्ति लब्ध्यपर्याप्ति ६ । तथा अप् ६ । तेज ६ । वायु ६ एवं २४ । वनस्पतिकायिकमेद २ प्रत्येक साधारण साधारणमेद १२ नित्यनिमोदसूक्ष्म-बादर-पर्याप्ति अपर्याप्ति लब्ध्यपर्याप्ति ६ तथा इतर-निगोद-सूक्ष्म बादर पर्याप्ति अपर्याप्ति-लब्ध्यपर्याप्ति ६ एवं १२ । प्रत्येक मेद ६ सप्रतिष्ठितप्रत्येकदाटिकादौ, अप्रतिष्ठिताः स्वयमेव ते च पर्याप्ति-अपर्याप्ति-लब्ध्यपर्याप्ति । एवं धावरवेयालीसा । सुरभेद २ पर्याप्ति-अपर्याप्ति । नारकमेद २ पर्याप्ति-अपर्याप्ति । पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेद ३४ । जलचरमेद २ गर्भज-सम्मूच्छ्वन गर्भजमेद २ पर्याप्ति—अपर्याप्ति । सम्मूच्छ्वनभेद पर्याप्ति—अपर्याप्ति—लब्ध्यपर्याप्ति ५ । तथा नभश्वर ५ । स्थलचर ५ । एवं १५ संज्ञिभेदाः । तथा १५ असंजि-

इस गाथाका स्पष्ट विवरण इस प्रकार है—

पृथ्वीकायिक जीवोंके सूक्ष्म और बादरकी अपेक्षा दो भेद हैं और उनके प्रत्येक के पर्याप्ति अपर्याप्ति तथा लब्ध्यपर्याप्तिकी अपेक्षा तीन-तीन भेद हैं, इस तरह पृथ्वीकायिक के छह भेद हुए । इसो प्रकार जलकायिक अग्नि कायिक और वायु-कायिक के प्रत्येक के छह-छह भेद हुए । चारोंके मिलाकर चौबोस भेद हुए । वनस्पतिकायिकके मूलमें प्रत्येक और साधारण इस प्रकार दो भेद हैं । इनमें साधारण वनस्पतिके बारह भेद होते हैं जो इस प्रकार हैं—साधारण वनस्पतिके नित्य निगोद और इतर निगोदके भेदसे मूलमें दो भेद है, फिर दोनों के सूक्ष्म और बादर की अपेक्षा दो-दो भेद हैं, इस तरह चार भेद हुए फिर चारों के पर्याप्ति अपर्याप्ति और लब्ध्य-पर्याप्तिकी अपेक्षा तीन भेद हैं इसप्रकार साधारण वनस्पतिके बारह भेद हुए । प्रत्येक वनस्पतिके सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक की अपेक्षा तीन-तीन भेद है, इस तरह छह भेद होते हैं । इस प्रकार पृथ्वी आदि के चार के २४, साधारण वनस्पति के १२ और प्रत्येक वनस्पति के ६ सब मिलाकर एकेन्द्रिय के विद्यालीस जीवसमास हैं । देवोंके पर्याप्ति और अपर्याप्ति की अपेक्षा दो जीवसमास हैं । नारकियोंके भी पर्याप्ति और अपर्याप्ति की अपेक्षा दो जीव-समास हैं । पञ्चेन्द्रिय तिर्यङ्गचोंके चौतीस भेद हैं जो इस प्रकार हैं । पञ्चेन्द्रिय तिर्यङ्गचोंके मूलमें सेनी और असेनी की अपेक्षा दो भेद हैं उनमें दोनों के जलचर स्थलचर और नभश्वर की अपेक्षा तीन-तीन भेद हैं और तीनों गर्भज तथा सम्मूच्छ्वनकी अपेक्षा दो-दो भेद हैं । इनमें से गर्भज के पर्याप्तक और अपर्याप्तक की अपेक्षा दो-दो

भेदः । भोगभूमिजतिर्यग्मेद ४ स्थलचर पर्याप्ति । नभश्चर पर्याप्ति—
अपर्याप्ति । एवं ४ । एवं वंचेन्द्रियतिर्यग्मेद ३४ । विकलजयेभेद ९ ।
द्वीन्द्रियपर्याप्ति-अपर्याप्ति लब्ध्यपर्याप्ति, श्रीन्द्रियपर्याप्ति अपर्याप्ति लब्ध्यपर्याप्ति,
चतुरिन्द्रियपर्याप्ति-अपर्याप्ति-लब्ध्यपर्याप्ति । एवं ९ । मनुष्य भेद ९ । भोगभूमिजभेद
२ पर्याप्ति-अपर्याप्ति, कुभोगभूमिजमनुष्य पर्याप्ति अपर्याप्ति, म्लेच्छस्त्रणमनुष्य
पर्याप्ति—अपर्याप्ति, आर्यखण्डमनुष्य पर्याप्ति-अपर्याप्तिलब्ध्यपर्याप्ति । एवंभेद ९ ।
एवं जीवसमासा अष्टानवतिः (चउदसगुणठाणणामाह) चतुर्वर्गगुणस्थाननामानि । वथा—

✓ मिष्ठा सासण विस्तो अविरदसम्पो य देसविरदो य ।

विरदा पमत इवरो अपुव अणिवहि सुहमो य ॥ १ ॥

भेद और संमूच्छुंनके पर्याप्तिक अपर्याप्तिक तथा लब्ध्यपर्याप्तिककी अपेक्षा
तीन भेद होते हैं । इस तरह गर्भजके बारह और संमूच्छुंनके अठारह
दोनोंके मिलाकर तीस भेद होते हैं उनमें भोगभूमिज तिर्यञ्च के चार भेद
और जोड़नेसे पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चोंके चौंतीस भेद हो जाते हैं । भोगभूमि में
स्थलचर और नभश्चर ये दो हो भेद होते हैं, जलचर भेद नहीं होता । तथा
स्थलचर और नभश्चरके पर्याप्तिक तथा अपर्याप्तिक की अपेक्षा दो दो भेद
होते हैं, अतः चार भेद होते हैं । विकलेन्द्रिय जीवोंके नौ भेद हैं जो इस
प्रकार हैं—द्वीन्द्रिय के पर्याप्तिक अपर्याप्तिक और लब्ध्यपर्याप्तिककी अपेक्षा
तीन भेद, श्रीन्द्रिय के पर्याप्तिक, निवृत्यपर्याप्तिक और लब्ध्यपर्याप्तिककी
अपेक्षा तीन भेद और चतुरिन्द्रियके पर्याप्तिक, अपर्याप्तिक तथा लब्ध्य-
पर्याप्तिक को अपेक्षा तीन भेद इस तरह तीनोंके मिलाकर नौ भेद होते
हैं । मनुष्योंके नौ भेद हैं जो इस प्रकार हैं—भोगभूमिज मनुष्यके पर्याप्ति
और अपर्याप्तिकके भेद से दो भेद, कुभोग भूमिज मनुष्यके पर्याप्तिक और
अपर्याप्तिककी अपेक्षा दो भेद तथा आर्यखण्डज मनुष्योंके पर्याप्तिक,
अपर्याप्तिक तथा लब्ध्यपर्याप्तिक की अपेक्षा तीन भेद, सब मिलाकर नौ
भेद होते हैं । इस तरह जीवसमासके कुल भेद अठानवे होते हैं ।

अब चौदह गुणस्थानों के नाम कहते हैं—

मिष्ठा—मिष्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरतसम्पर्दृष्टि, देशविरत,
प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अनिकृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय,

१. जनयोः सावा शुर्ण गता । जीवकामे ।

उक्तसंत स्त्रीणमोहो सजोगकेवलिजिनो अजोगी य ।
चौदहस्तुपश्चाणि य कर्मण संसारा सुणेभव्या ग २ ॥

उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवलिजिन और अयोगकेवलि जिन ये चौदह गुणस्थान हैं, इनका विवरण आगम से जानना चाहिये । हे जीव ! तू इन सबकी भावना कर, इनका अद्वान कर ।

प्रकृत ग्रन्थ में गुणस्थान शब्द का प्रयोग कई जगह आया है इसलिये उसके स्वरूप तथा भेदों पर दृष्टिपात करना आवश्यक है—

मोह और योगके निमित्त से आत्मा के परिणामों में जो तारतम्य होता है उसे गुणस्थान कहते हैं । गुणस्थान के मिथ्यादृष्टि आदि चौदह भेद हैं । इनमें से प्रारम्भ के १२ गुणस्थान मोहके निमित्त से होते हैं और अन्त के २ गुणस्थान योग के निमित्त से । मोह कर्म की १ उदय, २ उपशम, ३ क्षय और ४ क्षयोपशम ऐसी चार अवस्थाएँ होती हैं, इन्हीं के निमित्त से जीवके परिणामों में तारतम्य उत्पन्न होता है ।

उदय—आवधा पूर्ण होनेपर द्रव्य क्षेत्र काल भावके अनुसार कर्मोंके निषेकोंका अपना फल देने लगता उदय कहलाता है ।

उपशम—अन्तमुहूर्त के लिये कर्म-निषेकों के फल देनेकी शक्तिका अन्तर्हित हो जाना उपशम कहलाता है । जिस प्रकार निर्भंली या कटकली के सम्बन्ध से पानी की कीचड़ नीचे बैठ जाती है और पानी स्वच्छ हो जाता है, उसी प्रकार द्रव्य क्षेत्रादि का अनुकूल निमित्त मिलने पर कर्मके फल देने की शक्ति अन्तर्हित हो जाती है ।

क्षय—कर्म प्रकृतियों का समूल नष्ट हो जाना क्षय है, जिस प्रकार भलिन पानी में से कीचड़ के परमाणु बिल्कुल दूर हो जाने पर उसमें स्थायी स्वच्छता आ जाती है उसी प्रकार कर्म-परमाणुओं के बिल्कुल निकल जाने पर आत्मा में स्थायी स्वच्छता उद्भूत हो जाती है ।

क्षयोपशम—वर्तमान काल में उदय आनेवाले सर्वधाति स्पर्द्धकोंका उदयाभावी क्षय और उन्हीं के आगमी काल में उदय आने वाले निषेकों का सदवस्था रूप उपशम तथा देशधाति प्रकृतिका उदय रहना इसे क्षयोपशम कहते हैं । कर्म—प्रकृतियों की उदयादि अवस्थामें आत्माके जो भाव होते हैं उन्हें क्रमशः औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षयोपशमिक भाव कहते हैं । विसमें कर्मोंकी उक्त अवस्थाएँ कारण नहीं होतीं उन्हें

मिथ्यात्वगुणस्थानं (१) सासादनगुणस्थानं (२) मिथ्यगुणस्थानं (३) अविरतसम्यगदृष्टि गुणस्थानं (४) देशविरतगुणस्थानं (५) प्रभृतसंयतगुण-

परिणामिक भाव कहते हैं। अब गुणस्थानों के संक्षिप्त स्वरूपका निर्दर्शन किया जाता है—

१. मिथ्यादृष्टि—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृति तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, इन सात प्रकृतियों के उदय से जिसकी आत्मा में अतत्वशङ्खान उत्पन्न रहता है उसे मिथ्यादृष्टि कहते हैं। इस जीवको न स्वपरका मैद-विज्ञान होता है न जिन प्रणोत तत्त्वका शङ्खान होता है और न आप्त, आगम तथा निर्गम्य गुरु पर विश्वास ही होता है।

२. सासादन सम्यगदृष्टि—सम्यग्निर्दर्शन के कालमें एक समय में लेकर उह आवली तक का काल जो रहने पर अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ में से किसी एक का उदय आजानेके कारण जो चतुर्थ गुणस्थानसे तीव्रे आ पड़ता है परन्तु अभी मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में नहीं आ पाया है उसे सासादन गुणस्थान कहते हैं। इसका सम्यग्दर्शन अनन्तानुबन्धीका उदय आजानेके कारण सासादन अर्थात् विराघनासे सहित हो जाता है।

३. मिथ्या—सम्यग्दर्शन के कालमें यदि मिथ्या अर्थात् सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति का उदय भा जाता है तो यह चतुर्थ गुणस्थान से गिरकर तीसरे मिथ्य गुणस्थान में आ जाता है। जिस प्रकार मिले हुए दही और गुड़का स्वाद मिश्रित होता है उसी प्रकार इस गुणस्थानवर्ती जीवका परिणाम भी सम्यक्त्व और मिथ्यात्व से मिश्रित रहता है। अनादिमिथ्यादृष्टि जीव चतुर्थ गुणस्थान से गिर कर ही तृतीय गुणस्थान में आता है परन्तु सादि मिथ्यादृष्टि जीव प्रथम गुणस्थान से भी तृतीय गुणस्थान में पहुँच जाता है।

४. असंयत सम्यगदृष्टि—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व प्रकृति तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, इन सात प्रकृतियोंके उपशमादि होनेपर जिसकी आत्मा में तत्त्व शङ्खान तो प्रकट हुआ है परन्तु अप्रत्याख्यान-आवारणादि कषायों का उदय रहने से संयम भाव जागृत नहीं हुआ है उसे असंयत सम्यगदृष्टि कहते हैं।

५. देशविरत—अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदयाभावी क्षय और सद्बवस्था रूप उपशम प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय होनेपर जिसके

स्थान (६) अप्रमत्तसंयतगुणस्थान (७) अपूर्वकवणगुणस्थान (८) अनिवृत्ति-

एकदेशचारित्र प्रकट होजाता है उसे देशविरत कहते हैं। यह इस हिसासे विरत होजाता है इसलिये विरत कहलाता है और स्थावर हिसासे विरत नहीं होता है इसलिये अविरत कहलाता है। इसके अप्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशाम और प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय में तारतम्य होनेसे दर्शनिक आदि ग्यारह अवान्तर भेद होते हैं।

६. अप्रमत्तविरत—प्रत्याख्यानावरण कषायका उदयाभावी क्षय और सदवस्था रूप उपशम तथा संज्वलन का तीक्ष्ण उदय रहने पर जिसकी आत्मा में प्रमाद सहित संयम प्रकट होता है, उसे प्रमत्तसंयत कहते हैं। इस गुणस्थान का धारक नगन-मुद्रा में रहता है। यद्यपि यह हिंसादि पापोंका सर्वदेश त्याग कर चुकता है तथापि संज्वलन चतुर्षक का तीक्ष्ण उदय साथ में रहने से इसके चार विकाश, चार कषाय, पाँच द्वन्द्विय, निद्रा तथा स्नेह इन पन्द्रह प्रमादों से इसका आचरण चित्रल-द्रष्टित बना रहता है।

७. अप्रमत्तविरत—संज्वलनके तीक्ष्ण उदय की अवस्था भिन्नल जानेके कारण जिसके आत्मा से ऊपर कहा हुआ पन्द्रह प्रकार का प्रमाद नष्ट हो जाता है, उसे अप्रमत्त-विरत कहते हैं। इसके स्वस्थान और सातिशय को अपेक्षा दी भेद हैं। जो छठवें और सातवें गुणस्थान में हो ज्ञूलता रहता है वह स्वस्थान कहलाता है और जो उपरितन गुणस्थानों में नढ़ने के लिये अधःकरण रूप परिणाम कर रहा है वह सातिशय अप्रमत्त विरत कहलाता है। जिसमें सम-समय अधबा भिन्न समयवर्ती जीवोंके परिणाम सदृश तथा विसदृश दोनों प्रकार के होते हैं उसे अधःकरण कहते हैं।

८. अपूर्वकरण—जहाँ प्रत्येक समय में अपूर्व-अपूर्व नवोन-नवीन ही परिणाम होते हैं उसे अपूर्वकरण कहते हैं। इसमें समसमयवर्ती जीवोंके परिणाम सदृश तथा विसदृश दोनों प्रकार के होते हैं और भिन्न समयवर्ती जीवोंके परिणाम विसदृश ही होते हैं।

९. अनिवृत्तिकरण—जहाँ सम-समय-वर्ती जीवोंके परिणाम सदृश ही और भिन्न समय-वर्ती-जीवोंके परिणाम विसदृश ही होते हैं उसे अनिवृत्ति-करण कहते हैं। यह अपूर्वकरणादि परिणाम उत्तरोत्तर विशुद्धताको लिये हुए होते हैं तथा संज्वलन चतुर्षक के उदय को मन्दता में कमसे प्रकट होते हैं।

करणगुणस्थानं (९) सूक्ष्मसाम्प्रदायगुणस्थानं (१०) उपशान्तकषायगुणस्थानं (११)

१० सूक्ष्मसाम्प्रदाय—जहाँ केवल संज्वलन लोभका सूक्ष्म उदय रह जाता है उसे सूक्ष्म-साम्प्रदाय कहते हैं। अष्टम गुणस्थान से उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी ये दो श्रेणियाँ प्रकट होती हैं। जो चारित्र मोहका उपशम करने के प्रयत्न-शील हैं वे उपशम श्रेणी में आरूढ़ होते हैं और जो चारित्र मोहका क्षय करने के लिये प्रयत्न-शील हैं वे क्षपक श्रेणी में आरूढ़ होते हैं। परिणामों की स्थिति के अनुसार उपशम या क्षपक श्रेणी में यह जीव स्लैर आरूढ़ हो जाता है इनिहाँके आरूढ़ नहीं होता। क्षपक-श्रेणी पर क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो आरूढ़ हो सकता है परन्तु उपशम-श्रेणीपर औपशमिक और क्षायिक दोनों सम्यग्दृष्टि आरूढ़ हो सकते हैं। [यहाँ विशेषता इतनो है कि जो औपशमिक सम्यग्दृष्टि उपशम श्रेणी पर आरूढ़ होगा वह श्रेणी पर आरूढ़ होनेके पूर्व अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना कर उसे सत्ता से दूर कर द्वितीयोपशमिक सम्यग्दृष्टि हो जायगा ।] जो उपशम श्रेणी पर आरूढ़ होता है वह सूक्ष्म-साम्प्रदाय गुणस्थानके अन्त तक चारित्र मोहका उपशम कर चुकता है और जो क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होता है वह चारित्र मोह का क्षय कर चुकता है।

११ उपशान्तमोह—उपशम-श्रेणी वाला जीव दसवें गुणस्थान में चारित्र मोहका पूर्ण उपशम कर ग्यारहवें उपशान्त मोह गुणस्थान में आता है। इसका मोह पूर्ण रूप में शान्त हो चुकता है और शरद ऋतु के सरोवर के समान इसकी मुन्द्रता होती है अन्तमूहूर्त तक इस गुणस्थान में ठहरने के बाद यह जीव नियम से नीचे गिर जाता है।

१. आगम में आचार्य मत-भेदकी अपेक्षा द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि को मोह कर्म की २८ और २४ प्रकृतियों की सत्ता वाला बहलाया गया है जो अनन्ता-नुबन्धी की विसंयोजना करता है उसके २४ प्रकृतियों की सत्ता रहती है और जो अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना नहीं करता है उसके २८ प्रकृतियों की सत्ता रहती है। इस पक्षमें द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन का लक्षण यही रहता है कि जो उपशम सम्यक्त अयोपशम-सम्यक्त के बाद हो वह द्वितीयोपशम सम्यक्त है।

क्षीणकषायगुणस्थानं (१२) संयोगकेवलिगुणस्थानं (१३) अयोगकेवलिगुण-स्थानं (१४) चेति । चतुर्दशगुणस्थानानां विवरणमागमाद्वेदितव्यं । तानि त्वं हे जीव ! भावय—सचिमानय अद्वानं कुर्विति ।

णवविष्वहृष्टं भयड्हिं अङ्गवंभं दशविष्वं पमोत्तूण ।

१५ मेहुणसण्णासत्तो भमिओसि भवण्णवे भीमे ॥९६॥

नवविष्वद्रहृचर्यं प्रकटय अद्वहृ दशविष्वं प्रमुच्य ।

मैथुनसंशासक्तः अमितोसि भवण्णवि भीमे ॥९६॥

(णवविष्वहृष्टं भयड्हिं) नवविष्वं नवप्रकारं ऋहृचर्यं हे जीव ! त्वं प्रकटय सर्वकालमात्मप्रत्यक्षं कुरु । मनोवचनकायानां प्रत्येकं कृतकारितानुमतानि श्रीणि श्रीणीति नवविष्वं द्रहृोच्यते । अथवा—

१२ क्षीणमोह—क्षपकश्रेणी वाका जीव दृष्टवें गुणस्थान में चारित्र मोहका पूर्ण क्षय कर बारहृवें क्षीणमोह गुणस्थान में आता है । यहाँ इसका मोह बिलकुल ही क्षीण हो चुकता है और स्फटिकके भाजनमें रखे हुए स्वच्छ जलके समान इसकी स्वच्छता होती है ।

१३ सयोगकेवली—बारहृवें गुणस्थानके अन्तमें शुक्लध्यानके द्वितीय पादके प्रभाव से ज्ञानावरणादि कर्मोंका युगपत् क्षय कर जीव तेरहृवें गुणस्थानमें प्रवेश करता है । यहाँ इसे केवलज्ञान प्रकट हो जाता है इसलिये केवली कहलाता है और योगोंकी प्रवृत्ति जारी रहने से संयोग कहा जाता है । दोनों विशेषताओंको लेकर इसका सयोगकेवली नाम प्रचलित है ।

१४ अयोगकेवली—तेरहृवें गुणस्थानके अन्तमें शुक्लध्यान के तुतीय पादके प्रभाव से कर्म प्रकृतियों को निर्जंरा होनेसे जिनकी योगोंकी प्रवृत्ति दूर हो जाती है उन्हें अयोगकेवली कहते हैं । यह जीव इस गुणस्थान में 'अ इ उ श्व लृ' इन पाच लघु अक्षरों के उच्चारण में जितना काल लगता है उतने ही काल तक ठहरता है । अनन्तर शुक्लध्यान के चतुर्थ पादके प्रभावसे सत्ता में स्थित पचासी प्रकृतियों का क्षय कर एक समय के भीतर सिद्ध क्षेत्र पहुँच जाता है ।

गाथार्थ—हे जीव ! तू दश प्रकार के अध्रहृ का त्याग कर तौ प्रकार के ऋहृचर्योंको प्रकट कर । मैथुनसंज्ञामें आसक्त हुआ तू इस भयंकर भवसागर में भटकता आ रहा है ॥९६॥

विशेषार्थ—मन दचन काय और कृत कारित अनुमोदना इन तौ कोटियोंसे ऋहृचर्य घारण करना तौ प्रकारका ऋहृचर्य है अथवा—

‘इत्यविषयाहितासो अंगविमोक्षो य पण्डितसेवा ।
 संसालद्वयसेवा तर्हि दियालोयर्थं चेत् ॥१॥
 सकारपुरस्कारो असीदसुमरणागदहिलासो ।
 इद्विषयसेवा वि य नवभेदमिदं अवर्णं तु ॥२॥

इति नवभेदमध्यह तद्वर्जनां नवभेद ऋह्यचर्यं शातक्षयमित्यर्थः । (अब्दं दसविहे पमोत्तृण) अब्दह्यचर्यं वशविघ्नं प्रमुच्य परिहृत्य । कि तद्विषयमध्यह्येति चेत् ?—

चिन्ता दिवृक्षा निःश्वासो उवरो दाहोऽचिस्तथा ।

मूर्खोऽमत्तोऽयुसन्देहो मरणं दशाधा एमरः ॥३॥

(मेहुणसण्णासत्तो) मैथुनस्य कमनीयकामित्या आलिङ्गनचूम्बनचूषणादि-संज्ञायामासक्तो लंपटी हे जीव ! । (भ्रमिओसि भवण्णवे भीमे) भ्रमिओसि भ्रान्तोऽसि पर्यटिनोऽसिच्छेदनभेदनादिदुःखानि भुजानो भवार्णवे संसारसमुद्दे चतुर्निलक्षणे भीमे भयानके रौद्रस्वभावे, अनन्तकालं दुःखी व भूषिष्येति ।

इत्यविषया—१ स्वो विषयक अभिलाषा करना, २ अङ्गका छोड़ना अर्थात् इन्द्रियको उत्तेजित करना लिंगको कड़ा करना, ३ गरिष्ठ रसका सेवन करना, ४ स्त्रियों से सम्बद्ध वस्त्रादिका सेवन करना, ५ स्त्रियोंके अंगोपांग आदिका देखना, ६ स्त्रियोंका सत्कार पुरस्कार करना, ७ पूर्व-कालमें भोगे हुए भोगोंका स्मरण करना, ८ आगामी भोगोंकी इच्छा करना और ९ इष्ट विषयोंका सेवन करना ये नौ प्रकारके ऋह्यचर्य हैं ।

इस तरह नौ प्रकार के ऋह्यचर्यका विवेचन करके अब दश प्रकारके ऋह्यचर्यका वर्णन करते हैं ।

चिन्ता—१ स्त्री विषयक चिन्ता करना, २ देखने की इच्छा रखना, ३ निःश्वास चलना, ४ ज्वर आना, ५ दाह पड़ना, ६ भोजनादि में अरुचि होना, ७ मूर्छा, ८ उन्मत ९ प्राण सन्देह और दशवी मरण ये कामकी दश अवस्थाएँ हैं । यही दश प्रकारका ऋह्यचर्य है । हे जीव ! तू इसका त्याग कर नौ प्रकार के ऋह्यचर्यको प्रकट कर । मैथुन संज्ञा में अर्थात् सुन्दर स्त्रियों के आलिंगत्वादि कार्योंमें आसक्त होकर ही तू इस भयंकर संसार सागर में अनन्तकाल से भटकता चला आ रहा है ॥९६॥

१. भगवती आराधना ८७९, ८८० ।

२. भगवती आराधनायां ‘अंगविमोक्षो’ इत्यस्य स्थाने वच्छिविमोक्षो इति पाठो वर्तते ‘वच्छिविमोक्षो’ इत्यस्य ‘मेहनविकारानिवारणम्’ संस्कृत शीकायाम् ।

भावसहिदो य मुणिणो पावह आराहणाचउकं च ।

भावरहिदो य मुणिवर भमह चिरं दीर्घसंसारे ॥९७॥

भावसहितश्च मुनीनः प्राप्नोति आराधनाचतुष्कं च ।

भावरहितश्च मुनिवर ! अमति चिरं दीर्घसंसारे ॥९७॥

(भावसहिदो य मुणिणो) भावेन जिनसम्यक्त्वलक्षणेन सहिदो सहितः सहितः संयुक्तः श्रीमद्भगवद्गीतारागचरणकमलचंचौकः, अथवा भावः पूर्वोक्तलक्षणः 'स्वशुद्धबुद्धैकस्वभाव आत्मा हितो यस्य यस्मै वा स भावसहितः । चकारान् ३मुनेरन्येषामपि भव्यजीवाना हितः शैलोक्यलोकतारणसमयंत्वात् । यो भावसहितः स पुमान् मुणिणो-मुनीनामिनः स्वामी मुनीनः स मुनिमुनिचक्रवर्ती । (पावह आराहणाचउक्कं च) प्राप्नोति लभते, कि तत् ? आराधनाचतुष्कं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपसामाराधकत्वं प्राप्नोति । (भावरहिदो य मुणिवर) भावरहितश्च जिनसम्यक्त्वातीतो वेषभारी मुनिः हे मुनिवर ! हे

गायार्थ—हे मुनिवर ! भाव-सहित श्रेष्ठ मुनि चार आराधनाओं को प्राप्त करता है और भाव रहित मुनि चिरकाल तक दीर्घ संसार में अमण करता है ॥९७॥

विशेषार्थ—भावका अर्थ जिनसम्यक्त्व अर्थात् जिनेन्द्र देवकी अट्ट शदा है । जो मुनि भाव-जिनसम्यक्त्वसे सहित होता है वह श्रीमान्-भगवान्-अर्हन्त सर्वज्ञ-वीतराग देवके चरण कमलोंका अमर होता है । अथवा भावका अर्थ शुद्ध बुद्धैक-स्वभाव वाला आत्मा है उस आत्मासे जो सहित है वह भाव सहित कहलाता है । यहाँ 'भाव सहिदो य (भाव-सहितश्च)' इस पाठ में जो 'च' दिया है उससे यह अर्थ सूचित होता है कि भाव सहित मुनि, मुनिके लिये ही हितकारी नहीं है किन्तु अन्य भव्य जीवों के लिये भी हितकारी है, क्योंकि वह तीन लोकके प्राणियों को तारने में समर्थ होता है । जो मुनि ऊपर कहे हुए भाव जिन-सम्यक्त्व अथवा शुद्ध बुद्धैक-स्वभाव आत्मा से सहित है अर्थात् व्यवहार और निश्चय सम्यक्त्व से युक्त है वह मुनीन-मुनियों का इन स्वामी है, मुनियों का चक्रवर्ती है । ऐसा श्रेष्ठ मुनि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्त्वाचरित्र और सम्यक्त्वप, इन चार आराधनाओं को प्राप्त होता है तथा

१. स्वः शुद्धः म० ।

२. मुनिरन्येषा म० ।

मुनिश्चेष्ठ (भगव) आम्यति पर्यंटति । (चिर) दीर्घकालं अनन्तकालं—
यद्वल्कालं सिद्धस्वामिनो मुक्ती तिष्ठन्ति तावल्पर्यन्तं स मिथ्यादृष्टिमुनिभ्यं भवति ।
क्व ? (दीहसंसारे) दीर्घसंसारेऽनन्तमवसंकटे संसारसमुद्रे मज्जनोमज्जनं करो-
तीति भावार्थः ।

पावंति भावसबणा कल्याणपरंपराह्व सोक्खाह्व ।

दुःखाह्व दब्बसबणा नरतिरिकुदेवजोणीए ॥९८॥

प्राप्नुवन्ति भावश्वमणाः कल्याणपरम्पराणि सुखानि ।

दुःखानि द्रव्यश्वमणाः नरतिर्यकुदेवयोनी ॥ ९८ ॥

(पावंति भावसबणा) प्राप्नुवन्ति लभन्ते, के ते ? भावश्वमणाः सम्यग्दृष्टयो
दिग्म्बराः । (कल्याणपरम्पराह्व सोक्खाह्व) कल्याणानां गर्भवितारजन्माभिषेकनिष्ठक-
मणज्ञाननिवर्णिलक्षणा (नां) परंपरा श्रेणियेषु सौख्येषु तानि कल्याणपरम्पराणि
एवंविषानि सोख्यानि भावश्वमणाः प्राप्नुवन्ति तीर्थैकरपरमदेवा भवन्ति (दुःखाह्व
दब्बसबणा) दुःखानि प्राप्नुवन्ति, के से ? दब्बसबणा—इत्याथमणाः जिनसम्बद्धत्वा-
रहिता नरनाः पशुसमानाः विगम्बरा इति भावार्थः । क्व दुःखानि द्रव्यश्वमणाः
प्राप्नुवन्तीति चेत् ? (नरतिरिकुदेवजोणीए) नराद्य भनुष्याः, तिर्यक्षपत्रं पश्वः,
कुत्सिता देवाद्य भावनामरा व्यन्तरा ज्योतिष्काश्च तेषां योनी सत्यस्तिथाने ।

इसके विपरीत जो भाव से रहित है व्यवहार और निष्वय-सम्यक्त्व से
रहित है, मात्र बाह्य नरन वेषको धारण कर मुनि बना है वह दीर्घकाल
तक अर्थात् जब तक सिद्ध परमेष्ठी भूक्ति में निवास करते हैं तब तक
(अनन्त कालतक) दीर्घसंसारमें अनन्त जन्म, मरणसे युक्त संसार
सागरमें मज्जनोमज्जन करता रहता है ॥९७॥

गाथार्थ—भाव-मुनि कल्याणों की परम्परा से युक्त सुखों को प्राप्त
होते हैं अर्थात् तीर्थैकर होकर गर्भ जन्मादि कल्याणकोसे युक्त परम
सुखको प्राप्त होते हैं और द्रव्य मुनि मनुष्य तिर्यक्ष तथा कुदेव योनि
में दुःखों को प्राप्त होते हैं ॥९८॥

विशेषार्थ—यहाँ भाव श्रमण का अर्थ सम्यग्दृष्टि दिग्म्बर साधु है ।
भाव श्रमण गर्भ-जन्म-तप-ज्ञान और निर्बाण इन पञ्चकल्याणकों की
सन्तति से युक्त सुखों को प्राप्त होते हैं अर्थात् तीर्थैकर होते हैं और द्रव्य
श्रमण अर्थात् मिथ्यादृष्टि साधु जो कि पशुके समान मात्र शरीर से नरन
हैं, मनुष्य तिर्यक्ष तथा भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष्क नामक
कुदेवोंकी योनि में नाना दुःखोंको प्राप्त होते हैं ॥९८॥

छायालदोसदूसिष्यमसणं गसितुं असुदुभावेण ।

पत्तोसि महावसणं तिरियगद्वै अणप्पवसो ॥१९॥

षट्चत्वार्णशददोषदूषितमशानं भ्रसित्वाऽजुदुभावेन ।

प्राप्तोसि महाव्यसनं तिर्थगती अनात्मवशः ॥१९॥

(छायालदोसदूसिष्यम) षट्चत्वार्णशदोषदूषित मलिनीकृतं । (असणं गसितुं असुदुभावेण) अशानं पिठुं भ्रसित्वा अशुदुभावेन भ्रस्यादृष्टिष्यपरिणामेन स्थाति-पूजालाभक्षमलिना परिणामेन । (पत्तोसि महावसणं) प्राप्तोसि हे जी ! महाव्यसनं महादुःखं । कस्यो ? (तिरियगद्वै अणप्पवसो) तिर्थंगत्यामनात्मवशो जिज्ञोगस्थादिष्विनिष्पराधीन हति भावः ।

अथ के ते षट्चत्वारिष्यदशानदोषा अशनस्येति वेत् ? षोडशसंबया उद्गमदोषाः, तथा षोडशोत्पादनदोषाः, दशविधा एषणादोषाः, संयोजनाप्रमाणाङ्गार्थ-धूमदोषाइचत्वार इति षट्चत्वारिष्यदशानदोषाः प्राणिनः प्राप्तव्यपरोप आरम्भ उत्पत्ते (१) प्राणिन उपद्रवणं उपद्रव कथ्यते (२) प्राणिनोऽङ्गच्छेदादिनिश्रावणमभिवीयते (३) प्राणिनः सन्तापकरणं परितापन व्याहृत्यप्ते (४) एतैश्चत्वार्भिर्दोषैविनिष्पन्नमन्तिनिश्चितमवकर्म प्रपिणायते । तदेव कर्म मनोवचनकायाना त्रयाणां प्रत्येकं कृतकारितानुमतमेवंनंविच भवति । तेनाधः—कर्मणा रहिता

गायार्थ—हे जोव ! तू अशुदु भावसे छायालीस दोषों के दूषित भोजन की गहण कर तिर्थञ्च गति में पराधीन बन करके महा दुःख को प्राप्त हुआ है ॥२०॥

विशेषार्थ—यहीं अशुदु भावसे भ्रस्यादृष्टिपरिणाम अथवा स्थाति लाभ पूजा आदि से मलिन परिणाम लेना है । हे जोव ! तू इस अशुदु भावसे छायालीस दोषों से दूषित आहार को गहण कर तिर्थञ्चगति में उत्पन्न हुआ है और वहीं तूने जिज्ञातथा उपस्थ आदि छँद इन्द्रियों के पराधीन होकर बहुत भारी दुःख को प्राप्त किया है ।

अब आहार के बे छायालीस दोष कौन हैं ? इसका वर्णन करते हैं—

सोलह उद्गम दोष, सोलह उत्पादन दोष, दश एषणा दोष और चार संयोजन, अप्रमाण, अङ्गार तथा धूम दोष, इस प्रकार सब मिलाकर आहार-सम्बन्धी छायालीस दोष होते हैं । प्राणीके प्राणोंका विघात करना आरम्भ कहलाता है, किसी प्राणीको उपद्रव करना उपद्रव कहा जाता है, प्राणोंके अङ्गोंका छेद आदि करना विद्रवण कहलाता है और प्राणोंको संताप करना परितापन कहा जाता है । इन चार दोषोंसे तैयार हुआ अज्ञ

उदगमारुष्णोऽवशोऽवजिता उत्पादनशोऽक्षदोषः परित्यक्ता एषणावशोषः परिहृता संयोजनाप्रमाणाङ्गारघूमनामभिष्वत्पुभिदीष्वरजिता ज्ञानाभ्यासस्थ्यामङ्गमेष्ट—
देशमोक्षप्राप्त्यादिकारणोपेता एषणासमितिप्रोक्तक्रमप्राप्ताद्यनसेवा भिक्षाशुद्धिगुण-
समूहरक्षादका वेदितव्या तस्या उद्दिष्टादयः षोडशबोषा वर्जनीयाः । ते के ? तथा-
मनिदेशः क्लियते । उद्दिष्टः (१) अध्यवधिः (२) पूति (३) मिश्रं (४)
स्थापितः (५) बलिः (६) प्राभृत (७) प्राविष्ठत (८) कीर्त (९)
प्राभृष्यः (१०) परिवर्तः (११) अभिहत (१२) उद्दिभन्न (१३) मालिका-
रोहण (१४) आच्छेदां (१५) अनिसृष्ट (१६) चेति षोडशोद्गमदोषाः ।
अथोद्दिष्टादीनां षोडशानामर्थविशेष उच्यते—यद्यन्ते स्वपुद्दिश्य निष्पन्नं तदुद्दिष्टं,
अथवा संयतानुहित्य निष्पन्नं, अथवा पार्वतिन् उद्दिश्य निष्पन्नं, अथवा दुर्बलानु-

अतिनिन्दित अथः कर्म कहलाता है । वह अधःकर्म मन वचन कश्य और
कृत कारित अनुसोदना के भेद से नौ प्रकार का होता है । जो आहार
ऊपर कहे हुए अधःकर्म से रहित है, उदगम के सोलह, उत्पादन के सोलह,
एषणा के दश तथा संयोजन अप्रमाण अङ्गार और घूम नामक चार दोषों
से रहित है, ज्ञानाभ्यास, ध्यान, घर्मोपदेश तथा मोक्ष प्राप्ति आदि कारणों-
से सहित है एवं एषणा समिति में कहे हुए क्रमसे प्राप्त है उसका सेषन
करना भिक्षा शुद्धि है । यह भिक्षा-शुद्धि गुण समूह की रक्षा करने में दक्ष
है । भिक्षा-शुद्धि में उद्दिष्ट आदि सोलह उदगम दोष छोड़नेके योग्य हैं ।
अब उन सोलह उदगम दोषों के नाम लिखते हैं—

१ उद्दिष्ट, २ अध्यवधिः, ३ पूति, ४ मिश्र, ५ स्थापित, ६ बलि, ७
प्राभृत, ८ प्राविष्ठत, ९ कीर्त, १० प्राभृष्य, ११ परिवर्त, १२ अभिहत,
१३ उद्दिभन्न, १४ मालिका-रोहण, १५ आच्छेदा और १६ अनिसृष्ट ।

आगे इन उद्दिष्ट आदि सोलह उदगम दोषोंका विशेष अर्थ कहा
जाता है—

जो अन्त अपने उद्देश्यसे बनाया गया है वह उद्दिष्ट है अथवा जो
मुनियों को लक्ष्य कर बनाया गया है अथवा जो पालिष्ठियों को लक्ष्य कर
बनाया गया है, अथवा जो दुर्बल मनुष्यों को लक्ष्य कर बनाया गया है
वह सब उद्दिष्ट कहलाता है । जिसमें से प्राण निकल चुके हैं वह प्रासुक
कहलाता है, जो अन्त प्रासुक है तथा चमड़े में रखे हुए जल आदि से नहीं
छुआ गया है ऐसा अन्त भी यदि अपने लिये तैयार किया गया है तो वह
मुनियों के लेने योग्य नहीं है । इस विषय में दृष्टान्त है—जिस प्रकार

हित्य निष्पल्लं तदन्नमुद्दिष्टमुच्यते । प्रगता असवः प्राणा यस्मात्तत्रासुकं चर्म-
जलादिभिरस्यृष्टमप्यन्नमात्मार्थं कृतं तत्स्यतैर्न सेव्यं । अत्र दृष्टात्मः—यथा भद्रो-
दके मत्स्यनिमित्तं कृते मस्या एव मात्रान्ति न तु तुदुरा भेका मात्रान्ति तथा यति-
रपि दोषसहितमन्नमुद्दिष्टं न सेवते (१) अथाहवविनीतम् दोषो द्वितीय उच्चते
यतीनां—पाके क्रियमाणे आत्मत्यागते च सति तत्र पाके तनुला अम्बु चारिकं
स्थितते सोऽव्यवविधीय उच्चते, अथवा यावत्कालं पाको न भवति तावत्कालं तप-
स्त्विनां रोधः क्रियते सोऽव्यवविधीय उत्तमते (२) अथ पूतिनाम तृतीयं दोषमाह-
यत्त्रासुकं पात्रं कांस्यपात्रादिकं मिथ्यादृष्टिप्रालिवेशैमिथ्यागुरुर्धं दत्तं तत्यात्रस्थमन्ना-
दिकं महामुनीनामयोग्यं पूत्युच्यते (३) ४ यव्यप्रासुकेन विष्णुं तन्मिश्रं (४) पाकभाज-
नादगृहीत्वा यदन्नं स्वशुद्धेऽन्यगृहे वा स्थानितं, अथवान्यस्थिमन् भाजने भाष्डेजन्ना-
दिकं निष्पल्लं द्वितीये कांस्यपात्रादौ स्थित्वा शोधनात्यर्थं तृतीये भाजने मुच्चते
तदन्नं मुनीनामयोग्यं किञ्चु भाष्डान्मुनिभीजनपात्रे एव मुच्चते तस्मादगृहीत्वा मुनये

किसीने मत्स्यों के निमित्त मादक जल तैयार किया तो उसमें मत्स्य हो
मदको प्राप्त होते हैं मेण्डक नहीं, उसी प्रकार मुनि भी दोष सहित उद्दिष्ट
अन्न का सेवन नहीं करते । यह पहला उद्दिष्ट नामका दोष है १ । अब
अध्यधि नामक दूसरा दोष कहा जाता है—जहाँ तैयार होते हुए भोजनमें
मुनिके पहुँचने पर और अधिक चावल तथा जल डाल दिया जाता है वह
अध्यधि नामका दोष कहलाता है अथवा जब तक भोजन पक कर तैयार
नहीं हो जाता है तब तक मुनिको उच्चवासन पर हो रोके रखना अध्यधि
नामका दोष है २ । आगे पूति नामका तीसरा दोष कहते हैं—कौसि आदि-
का जो प्रासुक पात्र मिथ्यादृष्टि पड़ोसियोंने मिथ्यागुरुओं के लिये दिया
था उस पात्र में रखा हुआ अन्न आदिक महामुनियों के अयोग्य होता है
ऐसा अन्न पूति कहलाता है । भावार्थ—मिथ्यादृष्टि पड़ोसी कौसि आदि से
निर्मित जिन पात्रों में भोजन रख कर मिथ्या गुरुओं को दिया करते हों
उन्हों पात्रोंको पड़ोसी के यहाँ से लेकर उसमें आहार रख मुनियोंकी देना
पूति दोष कहलाता है ३ । जो अप्रासुक आहारसे मिला हो वह मिथ्यादृष्टि
से दूषित है जैसे अधिक गर्म जलको शीतल जलके साथ मिला कर पीनेके
योग्य बनाता ४ । पकाने के बर्तन से निकाल कर जो अन्न अपने घर में
अथवा दूसरे के घर में अन्य बर्तन में रखा जाता है वह स्वापित नामका
दोष है अथवा अन्य बर्तन में जो भोजन बना हो उसे कौसि आदि के दूसरे

शीयते, अन्यथा स्थापितं नाम दोषः (५) यक्षादीनां बलिवानोदृष्टुं अन्नं बलि-
रुच्यते, संयतागमनार्थं बलिकरणं बलिः कथ्यते (६) अस्यां वेलायां दास्यामि
अस्मिन् लिख्यते दास्यामि, अस्मिन् मासे दास्यामि, अस्यामृती दास्यामि, अस्मिन्
धर्माशं दास्यामोरि नियमेत नश्चन् मुनिभ्यो धेयते तत्रामृतं कथ्यते (७) भगव-
निदं मदीर्य गृहे वर्तने पत्रैवं गृहप्रकाशकरणं भवति निजगृहस्य गृहिणा प्रकटनं
क्रियते, अथवा भाजनादीनां संस्कारः भाजनादीनां स्थानान्तरणं वा प्राविष्ठृतमूच्यते
(८) विद्यया कोति द्रव्यवस्त्रभाजनादिना वा यत्कोति तत्कोति कथ्यते (९) कालान्त-
रणाव्याजेन वा स्तोकमूर्णं कृत्वा यतीनां दानार्थं यदजित तत्रामृत्यं कथ्यते (१०)
कस्यचिद्गृहस्थस्य श्रीहीन् दत्त्वा शालमो गृह्णते, अथवा निजे कूरे दत्त्वा परकूरो

पात्र में रखा और फिर शोधने अथवा ठण्डा आदि करने के लिये तीसरे
पात्र में रखा जाता है वह अन्न मुनियों के अयोग्य है किन्तु बनाने के
बर्तन से निकाल कर सोधा उस बर्तन में रखना जिसमें से मुनिके लिये
आहार दिया जा रहा हो ऐसा अन्न मुनियोंके योग्य होता है अन्यथा
स्थापित नामका दोष होता है ५। यक्ष आदिको बलि देनेके लिये जो अन्न
निकाल कर रखता है वह बलि कहलाता है अथवा हमारे घर मुनि आवेंगे
तो उनके लिये यह अन्न दूँगा इस अभिप्राय से बर्तन से पृथक् रखता
हुआ अन्न बलि कहलाता है ६। 'मैं इस समय आहार दूँगा, इस दिन दूँगा,
इस मासमें दूँगा, इस ऋतु में दूँगा अथवा इस वर्ष में दूँगा, इस प्रकार
के नियम से मुनियों के लिए जो अन्न दिया जाता है वह प्राभृत कहलाता
है ७। 'भगवन् ! यह मेरा घर है' इस प्रकार गृहस्थ द्वारा जिसमें अपने
घरका प्रकाश-प्रकटी-करण किया जाता है अथवा जहाँ बर्तनों को सफाई
अथवा स्थानान्तरण-एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना किया जा
रहा हो जिससे मुनिको पता चलजावे कि अमुक व्यक्तिका घर यह है वह
प्राविष्ठृत दोष कहा जाता है ८। जो भोजन विद्या के द्वारा अर्थात् नृत्य
दिखाकर, गाना सुनाकर या बाजा बजाकर खरीदा गया हो अथवा द्रव्य,
वस्त्र या बर्तन आदि देकर लिया गया हो वह कीत नामका दोष है ९।
तुम मुझे अमुक वस्तु दे दो मैं इतने समय बाद वापिस दे दूँगा, मुझे मुनि
को दान देनेके लिये इस वस्तु की आवश्यकता है, ऐसा कह कर अथवा
कुछ प्रयोजन बिना बताये ही थोड़ा बहुण कर मुनियों को देनेके लिये जो
अन्न इकट्ठा किया जाता है वह प्रामुख्य दोष कहलाता है १०। जहाँ

पृष्ठते निजाम्बुद्धात् वल्ला परेचामम्बुद्धा गृह्णन्ते एवं यत्परिवर्त्यते यतिभ्यो योग्यते वस्त्यते वा स परिवर्तः कर्ष्यते (११) चामात् पाटकात् गृहान्तरावदायात् तदभिहितं कर्ष्यते तद्वोग्यं न भवति । कुतोऽप्यायात् योग्यं भवतीति चेत् ? भवति योग्यं यदि अज्ञुतं आसन्नावासमादगृहावायात् तत् योग्य । पक्षिवद्वात् षष्ठादगृहावायायात् तत्कल्पते सप्तमादगृहात् यदुपलौकितं तन्न कल्पते इत्यर्थः (१२) विमुद्वादिक यदन्नादिकं भवति तदुदिभन्नमुच्यते—उदधाटितं न भुज्यते इत्यर्थः (१३) मालिकादिस-मारोहणेन यदानीतं तत्पालिकारोहणमुच्यते—उपरितनभूमेयद्वृतादिकमवस्तनभूमी समानीतं तन्न कल्पते इत्यर्थः (१४) १राजभयाच्चौरभयाच्च दीप्ते तदाच्छेद्यमुद्धते (१५) ईसानीशानभिमतेन स्वाम्यस्वाम्यनभिमतेन यदोग्यते तदनिसृष्टं कर्ष्यते (१६) इत्येते योग्योद्गमदोषा भवन्ति ।

किसी गृहस्थ को मीटी धान देकर उसके बदले महीन धान ली जाती है अथवा अपना मोटे चावलों का भात देकर दूसरे से महीन चावलों का भात लिया जाता है अथवा अपने मोटे अनाज के माड़े देकर दूसरे से बच्चे अनाज के माड़े लिये जाते हैं, इस प्रकार परिवर्तन कर मुनियों के लिये जो दिया जाता है अथवा दिया जावेगा वह परिवर्त दोष कहलाता है ११। जो आहार दूसरे भाग, दूसरे मुहूर्ला अथवा दूसरे घर से लाया गया हो वह अभिहित कहलाता है । ऐसा आहार मुनियों के योग्य नहीं है ।

अज्ञ—कहीं से आया हुआ योग्य भी होता है ?

उत्तर—योग्य होता है, यदि सीधो पक्षि में स्थित निकटवर्ती सातवें घर से पहले-पहले तकके घरसे लाया गया हो । अर्थात् एक पक्षिमें स्थित छठवें घर से जो आहार लाया गया है वह मुनियों को देनेके योग्य है किन्तु सातवें घरसे जो लाया गया है वह देनेके योग्य नहीं है १२। जो अन्नादिक विमुद्वित हो अर्थात् उधड़ा पड़ा हो वह उद्धिन्न कहलाता है । ऐसे आहार को लेना उद्दिभन्न दाष कहलाता है १३। जो वस्तु आहार के समय ऊपर अटारी आदि पर चढ़कर नोचे लाई गई हो वह मालारोहण दोष कहलाता है जैसे नोचे की भूमिमें आहार हो रहा हो आवश्यकता देख ऊपर जाकर घो आदि निकाल लाना । इस तरह से लाई हुई वस्तु मुनि-के योग्य नहीं है १४। राजाके भय से अथवा चाँकके भय से जो वस्तु छिपकर दी जाती है वह आच्छेद्य कहलाती है (१५) घरके स्वामी अथवा अन्य सदस्यों को समतिके बिना जो आहार दिया जाता है वह अनिसृष्ट

अथोत्पादनदोषः षोडश उच्चल्ते—तन्नामनिर्वेशो यथा । भावीवृत्तिः (१) दूतत्वं (२) भिषणवृत्तिः (३) निमित्त (४) इच्छाविभाषण (५) पूर्वस्तुतिः (६) पश्चास्तुतिः (७) क्रोषचतुष्कं (८-९-१०-११) वश्यकर्म (१२) स्वगुणस्तब्दन (१३) विशोपजीवन (१४) मन्त्रोपजीवन (१५) चूर्णोपजीवन (१६) । बाललालन-शिक्षादिधारीत्वं (१) दूरवस्थुजनामां वचनानां नयनमानयनं च दूतत्वं (२) गज-चिकित्सा विषचिकित्सा जांगुल्यपरनामा बालचिकित्सा ताकृष्णान्यचिकित्साभिरण-नार्जनं भिषणवृत्तिः (३) स्वरात्तरिक्षभीमाङ्गुष्ठजनच्छन्नलक्षणस्वप्नाष्टाङ्गुणि-मित्तैरणनार्जनं निमित्त (४) कष्ठित्युच्छित है मुने ! दीनहीनाकीनामन्त्रादिदानेन पुण्यं भवेत्तन वा भवेत् ? मुनिरन्नार्थं वदति पुण्यं भवेदेवेत्यन्युपगम इच्छाविभाषण-

कहलाता है (१६) । ये सोलह उत्पादन दोष हैं, आहार-देय पदार्थ से सम्बद्ध हैं तथा श्रावक के आश्रित हैं अर्थात् इनका दायित्व श्रावक के ऊपर है ।

अब आगे सोलह उत्पादन दोष कहे जाते हैं । सबसे प्रथम उनके नाम निर्दिष्ट करते हैं—ज्ञानी दृत्ति १, दूतत्व २, भिषणवृत्ति ३, निमित्त ४, इच्छाविभाषण ५, पूर्वस्तुति ६, पश्चास्तुति ७, क्रोष चतुष्कं (८-९-१०-११) वश्यकर्म १२, स्वगुणस्तब्दन १३, विशोपजीवन १४, मन्त्रोपजीवन १५, चूर्णोपजीवन १६ ।

इनका स्वरूप इस प्रकार है—

बालकों के लालन-पालन तथा शिक्षा आदिके हारा गुहस्थों को प्रभावित कर जो आहार प्राप्त किया जाता है वह धारीत्व दोष है १ । दूरवस्थी बन्धुजनों अथवा सम्बन्धियोंके संदेश वचन ले जाना अथवा ले आना और इस विषि से गुहस्थों को आङ्गुष्ठ कर आहार प्राप्त करना दूतत्व दोष है २ । गज चिकित्सा, विषचिकित्सा, जाङ्गना, फूँकना आदि शाक चिकित्सा तथा इसी प्रकार की अन्य चिकित्साओंके हारा गुहस्थों को प्रभावित कर आहार प्राप्त करना भिषणवृत्ति नामक दोष है, ३ स्वर, अन्तरिक्ष (ज्योतिष), भौग, अङ्ग, व्यञ्जन, छिन्न, लक्षण और स्वप्न हम अष्टाङ्ग निमित्तों से श्रावकों को आङ्गुष्ठ कर आहार लेना निमित्त नामका दोष है, ४ कोई पूछता है कि मुनिराज ! दीन हीन आदि लोगोंको अनन्त आदिका दान देने से पुण्य होता है या नहीं ? इसके उत्तर में आहार प्राप्त करनेके उद्देश्य से मुनि कहता है कि अवश्य ही होता है इस तरह के उत्तर से श्रावक को प्रभावित कर आहार प्राप्त करना इच्छाविभाषण

मुक्ते (५) अहो जिनदत्त ! त्वं जगति विश्वातो दाता वर्तसि इत्यादिभिर्वचनं गृह-
स्थस्यानन्दजननं मुक्तेः पूर्वं तत्पूर्वस्तवनं (६) एवं मुक्तेः पश्चात् स्तवनविधानं
पश्चात्स्तुतिः (७) क्रोधं कृत्वा इन्द्रोपाजनं क्रोधः (८) मानेनान्नाजनं मानः
(९) मायमाज्ञाजनं माया (१०) लोभेनान्नाजनं लोभः (११) वशीकरण-
मन्त्रतंत्राहृपदेशेन यदन्मोपाजनं तद्वश्यकम् (१२) स्वकीयतपः चुतजातिकुलादि-
वर्णनं स्वगुणस्तवनं (१३) सिद्धविद्यासाधितविद्यादोनो प्रदर्शनं विद्योपजीवनं
(१४) अङ्गश्चञ्चारकारिणः पुरुषस्य पाठसिद्धादिमन्त्राणामुपदेशानं मन्त्रोपजीवनं
(१५) एवं चूणादिरूपदेशानं चूणोपजीवनं (१६) एते षोडशीस्पादनदोषा
वेदितव्याः ।

अथेषणादशदोषा कथ्यन्ते । तेषांपरं नामनिर्देशः । शास्त्रतः (१) श्रावितः
(२) निश्चिप्तं (३) मिहितं (४) अजितं (५) अवहारः (६) दातृ

दोष कहा जाता है ५। 'अहो जिनदत्त ! तुम जगत् में प्रसिद्ध दाता हो' इत्यादि वचनों के द्वारा आहार पूर्व गृहस्थ को हर्ष उत्पन्न करना पूर्व स्तुति नामका दोष है ६। इसी प्रकार आहारके पश्चात् स्तुति करना पश्चात्स्तुति नामका दोष है ७। क्रोध दिखाकर आहार प्राप्त करना क्रोध दोष है ८। मान दिखा कर आहार प्राप्त करना मान दोष है ९। माया दिखा कर अन्न प्राप्त करना माया दोष है १०। लोभ दिखा कर आहार प्राप्त करना लोभ दोष है ११। वशीकरणके मन्त्र तथा तन्त्र आदिका उपदेश देकर जो आहार प्राप्त किया जाता है वह वश्यकम् नामका दोष है १२। अपना तप, शास्त्र ज्ञान, जाति तथा कुल आदिका वर्णन करना स्वगुण-स्तवन नामका दोष है १३। स्वर्य सिद्ध अथवा अनुष्ठान द्वारा सिद्धकी हुई विद्याओंका प्रदर्शन करना विद्योपजीवन नामका दोष है १४। शरीरका श्रुञ्चार करनेवाले पुरुषको पाठसिद्ध आदि मन्त्रों का अर्थात् ऐसे मन्त्रोंका जो पढ़ने ही के साथ सिद्ध हो जाते हों उपदेश देना मन्त्रोपजीवन नामका दोष है १५। इसी तरह चूर्ण आदि बनानेका उपदेश देना चूर्णोपजीवन नामका दोष है १६। ये सोलह उत्पादन दोष हैं अर्थात् आहार प्राप्त करनेके उपायों से सम्बद्ध हैं और मुनिके आश्रित हैं अर्थात् इनका दायित्व मुनिपर है ।

अब आगे एषणा सम्बन्धी दस दोष कहे जाते हैं—

प्रथम उनके नाम निर्देश करते हैं—शच्छ्रुत (१) अजित (२) निश्चिप्त (३)

(७) मिश्र (८) अपवर्ण (९) लिप्त (१०) वेति एतदन्तं सेव्यमसेव्य वेति शक्तिं (१) सस्नेहहस्तपात्रादिना यहत तत्त्वकितं (२) सचित्तपदम् पश्चात् यत्क्षष्ट्वा तत्त्वकितं (३) सचित्तेन पद्मपत्रादिना यत्प्रिहितं तदन्तं पिहितं (४) यज्ञतृतफलादिकं कहु त्यक्त्वास्यसेवनं तदुज्जितं, अथवा यत्पानादिकं दीयमानं बहुतरेण गल्वेनाल्पसेवनं तदुज्जितं (५) यत्प्रतीनां संभ्रनादादरत्या चेलपात्रादेरसमीक्ष्याकर्षणं स आगमे व्यवहार उच्यते (६) दातृदोषः कर्त्यन्ते— निर्वस्त्रः शीण्डः पिशाचः अन्धः पतितः मृतकानुगः तीव्ररोगी ग्राणी लिंगी नीच-स्थानस्थितः उच्चस्थानस्थित आसन्नगम्भिणी कोऽयं? निकटजनितपस्या वेश्या

पिहित (४) उज्जित (५) व्यवहार (६) दातृ (७) मिश्र (८) अपवर्ण (९) और लिप्त (१०) ।

अब इनका स्वरूप कहते हैं—‘यह अन्त सेवन करने योग्य है अथवा अयोग्य है’ ऐसी शब्दां जिसमें हो गई हो वह शक्तित नामका दोष है १। चिकने हाथ अथवा पात्र आदिसे जो आहार दिया जाता है वह ऊक्षित नामका दोष है २। सचित्त कमल पत्र आदि पर रख कर जो दिया जाता है वह निक्षिप्त दोष है ३। सचित्त पद्मपत्र आदिसे ढक्कर जो दिया जाता है वह पिहित नामका दोष है ४। जिस आम्रफल आदिक आहार में से बहुत भाग छोड़कर थोड़े भागका ग्रहण होता हो अथवा जो शरबत आदिक पेय पदार्थ लेते समय नीचे अधिक गिर जाते हैं और ग्रहणमें थोड़े आते हैं उनका लेना उज्जित नामका दोष है ५। मुनियोंके आ जानेसे उत्पन्न संभ्रम-हड्डबड़ाहट अथवा आदर की अविकता से वस्त्र तथा वर्तन आदिको बिना देखे जल्दी घसोटना व्यवहार नामका दोष है ६। अब दाता के दोष कहते हैं—ऐसा दाता दान देनेका अधिकारी नहीं है—जो निर्वस्त्र हो—वस्त्ररहित हो अथवा एक वस्त्रका धारक हो, मध्यपायी हो, पिशाच की बाबा से पीड़ित हो, अन्धा हो, जातिका पतित हो, मृतक की शव-यात्रा में गया हो, तीव्ररोगी हो, जिसे कोई धाव हो रहा हो, कुलिङ्गी-मिथ्या साधुका वेष रखे हो, जहाँ मुनि खड़े हों वहाँ से बहुत नीचे स्थान में खड़ा हो अथवा दातासे ऊँचे स्थान पर खड़ा हो, आसन्न गम्भिणी हो ३अर्थात् जिसके पाँच माससे अधिक का यम्भ हो, बच्चा जनने वाली हो, वेश्या हो, दासी हो, परदाके भीतर छिपकर खड़ी हो, अपवित्र

१. व्यवहार इति दोष नाम अन्यत ।

२. मूलाचार नाम ५० ।

पासी काष्ठपटादिनात्मरिताः अशुचिः किमपि भजयन्ती इत्यादयो दोषा दातृणा शासन्याः (७) वह्नीवसमिक्ष्य मिथः (८) पावकाविद्वर्ध्येरपरित्यक्तपूर्वस्व-कीयवर्णगन्धरसमपक्षं (९) लिप्तेदर्द्धकिरादीर्द्धमिमानमवामादिकं लिप्तं तथाऽप्राप्तुकजलमृतिकोल्मुकादिमिलिप्तेदर्द्धीयते तल्लिप्तं (१०) ।

स्वादनिमित्तं यत्संयोजनं शीते उष्णे शीतमित्यादिमेलनं तदनेकरोगाणा-मसंयमस्य च कारणं शासन्यां १ कुसोरध्मंशमन्नेन पूरयेत् तृतीयमेण कुक्षेः पानेन पूरयेत् कुक्षेश्वतुर्धमेण वायोः सुखप्रचारार्थमवद्योषयेत् रिक्तं रक्षेत् अस्मात्प्राणां-वतिरेकोऽधिकश्रहणं अप्रमाणदोषः । प्रमाणासिकमेण कि भवति ? व्यानभ्रंगः, अध्ययनविनाशः, अत्युत्पत्तिः, निद्रोत्पत्तिः आलस्यादिकं च स्यात् २ इष्टान्न-पानादिप्राप्तो रक्षेण सेवनं ज्ञातुर्दोषः ३ अनिष्टान्ननादिप्राप्तो द्वेषेण सेवा हो अर्थात् मूत्र आदि को बाधासे निवृत्त होकर शुद्धि किये बिना आई हो, अथवा चाहे जो (अभक्ष्य) भक्षण करने वाली हो । इत्यादि दाता से सम्बन्ध रखने वाले दोष हैं । ऐसे सदोष दाता से आहार लेना दात् दोष है ७ । जिस आहार में छह काष्ठके ओषध मिल गये हों वह मिथ नामका आहार है उसे लेना सो मिथ नामका दोष है ८ । अग्रिन आदि द्रव्योंसे जिनके पहलेके रूप गन्ध तथा रसमें परिवर्तन महीं हुआ हो अर्थात् जो अपक्षय हो वह अपक्षय नामका दोष है ९ । और वी आदिसे लिप्त करछड़ी (चम्पच) आदिके द्वारा जो आहार दिया जाता है अथवा जो अप्रस्तुक जल, मिट्टी तथा राख आदिसे लिप्त बत्तनोंके द्वारा दिया जाता है वह लिप्त आहार है इसका लेना सो लिप्त नामका दोष है १० ।

स्वाद के निमित्त भोजन को जो एक दूसरे के साथ मिलाया जाता है वह संयोजन नामका दोष है जैसे शीत वस्तुमें उष्ण और उष्ण में पीत वस्तु इत्यादिका मिलाना । यह संयोजन अनेक रोगों और असंयम का कारण है, ऐसा जानना चाहिये १ । पेटका आधा भाग अन्नसे भरे तृक्षीय अंषको पानीसे भरे और जीवे भागको वायुके सुख-पूर्वक संचारके लिये खाली छोड़ दे । इस प्रमाणका यदि उल्लङ्घन किया जाता है अर्थात् अधिक आहार श्रहण किया जाता है तो अप्रमाण नामका दोष होता है ।

प्रश्न—प्रमाणका उल्लंघन करने से क्या होता है ?

उत्तर—ध्यानभङ्ग, अध्ययन में बाधा, पीड़ा की उत्पत्ति, निद्राकी उत्पत्ति और आलस्यादिक दोष उत्पन्न होते हैं । २ इष्ट अन्न पान आदि-के मिलने पर राग भावसे सेवन करना अज्ञात दोष है । ३ और अनिष्ट अन्न पानके मिलने पर द्वेष-पूर्वक सेवन करना धूम दोष है ।

चूमदोषः ४ अथ किमधंमाहारो गृह्णते इति चेत् ? आहाराद्युषेण मुनीनां गुणः सन्ति । उक्तं च वीरनन्दिभद्रारकेण—

शुच्छास्त्यावश्यकप्राण-रक्षाधर्मयमा मुनेः ।
वैयावृत्यं च षड्भुक्तेः कारणानीति यन्मतम् ॥ १ ॥
ततः शारीरसंबृद्धिं तत्त्वोब्लवृद्धये ।
स्वादार्थमायुसंबृद्धये नैव मुंजीति मयतः ॥ २ ॥
महोपसर्गतङ्काञ्जसंन्यासान्तिदद्यतापो—
ब्रह्मचर्याणि भिक्षोः षट्कारणान्यशनोज्ञाने ॥ ३ ॥
एतद्वोषविहीनान्मुक्तेरत्तरकारिणः ।
अन्तराधाः क्रियन्तोऽपि वर्णन्ते वर्णनाभिमे ॥ ४ ॥
रसपूयास्त्रिमांसासृक्षमविघ्नादिवीक्षणं ।
काकाञ्जमेष्यपातोऽङ्गे वसनं स्वस्य रोधनं ॥ ५ ॥

प्रश्न—आहार किसलिये किया जाता है ?

उत्तर—आहार लेनेमें मुनियोंके अनेक गुण हैं—अनेक लाभ हैं। जैसा कि वीरनन्दिभद्रारक ने कहा है—

शुच्छास्त्यात्ततः शारीर—शुषा की वानित, आवश्यकों का पालन, प्राणरक्षा, धर्म, चारित्र और वैयावृत्य ये छह मुनि के भोजन करनेले कारण हैं। शुक्ति कि यह सिद्धान्त है अतः साधुका शारीरकी वृद्धि, उसके तेज और बलकी वृद्धि, स्वाद तथा आयुकी वृद्धिके लिये भोजन नहीं करना चाहिये ॥ १०२ ॥

महोपसर्ग—महोपसर्ग, भय, शारीरका संन्यास, जीवदया, अनशनादि तप और ब्रह्मचर्य ये छह मुनिके भोजन छोड़ने के कारण हैं अर्थात् इन छह कारणोंसे मुनि आहार का परित्याग करते हैं ॥ ३ ॥

एतद्वोष—इन दोषों से रहित आहार के उपभोग में बाधा करने वाले अन्तराध कितने हैं ? इस प्रश्न के समाधान के लिये अब यहाँ मुनियों के निम्नलिखित अन्तराधों का वर्णन किया जाता है ॥ ४ ॥

रसपूया—आहार करते समय मीले पीव हृड़ी मांस रक्त चमड़ा तथा बिढ़ा आदि पदार्थ देखने में आ जावें, शरीर पर कौआ आदि पक्षी बीट कर दे अपने आपको वसन हो जावे, कोई आहार करने से रोक दे, हुँखके कारण अश्रुपात हो जावे, हाथ से ग्रास गिर जावे, कौआ आदि

अशुपातश्च दुःखेन पिष्पातश्च हस्ततः ।
 काकादिपिष्पहरणं पतनं रथक्तसेवनम् ॥६॥
 पादान्तरालात्मचाक्षैजातिष्ठेन्द्रियात्मयः ।
 स्वोदरकृमिविष्मूत्ररक्तपूयादिनिगमः ॥७॥
 निष्ठीवनं सदांद्राज्ञिदर्शनं चोषवेशनं ।
 पाणिकवत्रेऽत्रैसाङ्गास्थिनस्त्रीमादिवर्णनम् ॥८॥
 प्रहारो ग्रामदाहोऽशुभीग्रीभत्सवाक्ष्रुतिः ।
 उपसर्गः पतनं पाशस्याधोग्यगृहवेशनम् ॥९॥

पक्षी झपटकर हाथ से ग्रास उठा ले जावे, आहार लेनेवाला दुर्बलता आदि के कारण गिर पड़े, छोड़ी हुई वस्तु सेवन में आजावे, मुनिके पेरों के बीच से कोई पञ्चेन्द्रिय जोब निकल जावे, अपने उदर से कुमि, विष्ठा, मूत्र, रक्त तथा पोप आदि निकल आवे, थूक देना, डाढ़ों वाले कुस्ता आदि प्राणी काट लावें, दुर्बलता के कारण बैठ जाना पड़े, हाथ अथवा मुखमें किसी मृत जन्तु हड्डो, नख अथवा रोम आदि दिख जावे, कोई किसी को मार दे, गाँव में आग लग जावे, अशुभ, कठार और घृणित वस्त्र सुनने में आजावे, उपसर्ग आजावे, दाता के हाथ से पात्र गिर पड़े, अयोध्य मनुष्यके घर में प्रवेश हो जाय और घुटने से नीचे भागका स्पर्श हो जाय, इत्यादि अनेक अन्तराय माने गये हैं। इन अन्तरायोंमें कितने ही अन्तराय लोक रीतिसे उत्पन्न होते हैं जैसे ग्राम दाह आदि। यदि इस समय मुनि आहार नहीं छोड़ते हैं तो लोक में अपवाद हो सकता है कि देसो गाँवके लोग दिपत्ति में पड़े हैं और ये भोजन किये जा रहे हैं। कुछ संयम की अपेक्षा उत्पन्न होते हैं जैसे भोजन जीवजन्तुओंका निकलना आदि। कुछ बंराग्य के निमित्त से होते हैं जैसे साधुका गिर पड़ना आदि। इस समय साधु सोचते हैं कि देखो यह शरीर इतना अशवत हो गया कि स्ववश खड़ा नहीं रहा जाता और मैं आहार किये जा रहा हूँ। कुछ अन्तराय जुगुप्सा अर्थात् मलानिकी अपेक्षा होते हैं जैसे पेटसे कुमि तथा मल-मूत्रके निकल आने पर मलानि का भाव उत्पन्न होता है। और कितने ही अन्तराय संसारके भयसे उत्पन्न होते हैं जैसे काक आदि पक्षियोंके द्वारा

१. जातिः क० ।

२. वशनं वर्णनं म० अ० क० ।

३. साङ्गास्थिः क० ।

‘खानुदेशादवः स्पर्शस्त्वेत्येवं बहुवो मताः ।
लोकसंयमवैराग्यजुगुप्साभवभीतिजाः ॥१०॥
ज्ञात्वा योग्यमर्थात् ५५ एवं इति भावात्म्य ।
चरत्येवं प्रयत्नेन भिक्षाशुद्धियुतो यतिः ॥११॥

सच्चित्तभस्तपाणं गिर्द्धो दप्येणऽधी पभूतूण ।
पत्तोसि तिष्ठदुक्खं अणाइकालेण तं चित्त ॥१००॥
सच्चित्तभवतपानं गृद्धधा दर्शेण अधीः प्रभुत्य ।
प्राप्तोसि तीव्रदुःखं अनादिकालेन स्वं चित्त ॥१००॥

(सच्चित्तभस्तपाणं) सच्चित्तभवतपानभ्रासुकभोजनजलादिर्क । (गिर्द्धो)
दप्येणगृद्धधातिकांशमा वर्णेण उत्कटत्वेन । (अधी) वुद्धिहीनः । (पभूतूण)
प्रकर्णेण भुक्त्वा (पत्तोसि तिष्ठदुक्खं) प्राप्तोऽसि प्राप्तो भवसि कि तत् ?
तिष्ठदुक्खं—तीव्रमसातं नरकादिदुःखमित्यर्थः । कियत्प्रथमं दुःखं प्राप्तोऽसि ?
(अणाइकालेण) अनादिकालेन आसंसारं यावत् । कः प्राप्तो दुःखं ? (तं) स्वं
भवान् । हे (चित्त) हे आत्मन् ! ।

हाथका ग्रास झपट ले जाना । इस समय साथु विचार करते हैं कि देखो
संसार कितना दुःखमर्थ है जहाँ क्षुब्धा से पीड़ित हुए जन्तु आहार की
घार में निरन्तर लीन रहते हैं ॥ ५-१० ॥

आत्मा—क्षेत्र काल अथवा भावके आश्रय रहने वाला यह द्रव्य योग्य
है अथवा अयोग्य है ऐसा जानकर भिक्षा शुद्धिसे युक्त मूनि प्रयत्न-पूर्वक
अपनी चर्या करता है ॥११॥

गायार्थ—हे आत्मन् ! तूने बुद्धि से होन होकर-विवेक छोड़कर
आहारकी तीव्र इच्छा अथवा अहंकारके वश सच्चित्त अन्त पान महण
किया है इसीलिये अनादि कालसे तीव्र दुःखको प्राप्त हो रहा है ॥१००॥

विशेषार्थ—हे आत्मन् ! तूने अज्ञानी दशामें भोजनकी लंपटता और
अपनी बलिष्टता के गर्वसे अप्रासुक भोजन तथा जल आदिका बार-बार
उपभोग कर अनादि कालसे नरकादि गतियों में तीव्र दुःख प्राप्त किया है,
अब मूनि अवस्था में विवेक पाकर भी तेरा उक्त दोष दूर नहीं हुआ तो
तुझे फिर उसी प्रकारके दुःख उठाने पड़ेंगे, अतः सच्चित्त अन्तपश्चनका
दोष मत लगा ॥१००॥

कंदं मूलं बीजं पुष्टं पत्तादि किञ्चि सचित्तम् ।

असिङ्ग माणगवं भमिओसि अणंतसंसारे ॥१०१॥

कन्दं मूलं बीजं पुष्टं पत्तादि किञ्चित् सचित्तम् ।

अशित्वा मानगवं भमिओसि अनन्तसंसारे ॥१०१॥

कंदं सूरणं लक्ष्यनं पलाष्टु क्षुद्रवृहन्मुसां जालुकं—उत्पलमूलं शुक्लवैरं
आदेवरविनी आदं हरिदेवर्यः । (मूलं) हस्तिदन्तकं मूलकमिस्पर्यः नारंगकंटकं
गाजरमित्यर्थः । (बीजं) चणकादिकं । (पुष्टं) पुष्टं सेवत्रीपुष्टं करणबीजपूरपुष्टं ।

गाथार्थ—हे जीव ! तूने मान्यता के गर्व-वश सचित्त कन्द,
मूल, बीज, पुष्ट तथा पत्ता आदिको खाकर अनन्त संसारमें अमण
किया है ॥१०१॥

विशेषार्थ—कन्द शब्दसे सूरण, लक्ष्यम, प्याज, छोटा बड़ा मोथा,
शालिक वर्षात् उत्पलों-भीलकमलोंकी जड़, अदरक तथा गोली हलदी आदि
का ग्रहण होता है । मूलशब्दसे मूली तथा गाजर आदिको लेना चाहिए ।
बीजका अर्थ चना गेहूँ आदि होता है । पुष्ट से गुलाबका फूल तथा करण
और बीजपूर आदिका फूल लिया जाता है । पत्ता आदिसे ताम्बूल आदिके
पत्ता ग्राह्य हैं । इनके सिवाय सचित्त किमपि यहाँ पढ़े हुए किमपि शब्द
से ककड़ी आदिका ग्रहण होता है । इनमें कन्दमूल तो स्पष्ट ही अनन्त-
काय हैं इनके खानेसे अनन्तानन्त स्थावर जीवोंका विघात होता है ।
फूलोंमें त्रस जीवोंका निवास होता है । पत्तों में साधारण और प्रत्येक
दोनों प्रकारके पत्ते होते हैं और चना गेहूँ आदि बीज हरी अवस्था में तो
सचित्त है ही परन्तु सूख जाने पर भी योनिभूत होनेके कारण सचित्त
माने जाते हैं । इनके सिवाय हरी ककड़ी आदि अन्य पदार्थ भी ग्रहण में
आते हैं ।

हे आत्मन् ! मैं बड़ा हूँ लोकमान्य हूँ, सब कुछ खा सकता हूँ इस
प्रकारके गर्वमें आकर तूने भक्ष्य अमष्टका विचार किये जिना उक्त
वस्तुओं को खाकर अनन्त स्थावर अथवा अनेक त्रस जीवोंका चात किया
है उसीके फलस्वरूप तू अनन्त संसार में भटक रहा है । तूने यह सब पहले
अज्ञान दशा में किया है परन्तु अब तुझे विवेक जागृत हुआ है इसलिये
उस ओरसे अपनी प्रवृत्ति हटा ॥१०१॥

[अन्य मतावलम्बी साधुओं में जमीकन्द आदि खाकर रहना तप्त्या
का अज्ञ माना जाता है । उसका निराकरण करते हुए यहाँ कहा गया है

(पशादि) नामावल्लोक्तं । (किञ्चि सचित्तं) किञ्चिपि ऐदाक्षिण्डः । (असिं-
ऊण माणगम्बे) अशित्वा भक्षयित्वा मानेन मान्यतया गर्वे सति । (शमि-
ओसि अर्णतसंसारे) अमितस्तवं हे जीव ! अनन्तसंसारे अपर्यन्तभवसंकटे इसि
भावः ।

विणयं पंचपयारं पालहि मणवयणकायजोएण ।

अविणगणरा सुविहियं तसो मुक्ति ण पादैति ॥१०२॥

विनयं पंचप्रकारं पालय मनोवचनकाययोगेन ।

अविनतनराः सुविहितां ततो मुक्ति न प्राप्नुवन्ति ॥१०२॥

(विणयं पंचपयारं) विनयं पथायोग्यं कर्त्योट्टन-पालपतन-अम्युत्थानस्वागत-
भाषणादिकं पंचप्रकारं ज्ञानस्य, दर्शनस्य, चारित्रस्य, तपसश्च विनयं विनीतत्वं,
उपकारलक्षणं पंचमं विनयं । हे आत्मन् ! हे मुने ! हे जीव ! हे ब्रासन्नभव्य !

कि जिन चोजों के खाने में अनन्त जीवोंका विधात होता है वे तपस्या
के अड्डे नहीं हो सकते । जैन दास्त्रोंमें अभक्ष्य पदार्थोंके पाँच विभाग
किये हैं—(१) जिनके खाने में अनन्तानन्त स्थावर जीवोंका विधात
होता है (२) जिनके खाने में ऋस जीवोंका विधात होता है (३) जो
प्रभाव नशा उत्पन्न करने वाली हों (४) जो शरीर की प्रकृतिके अनु-
कूल न होनेसे अनिष्ट हों और (५) जो कुलीन मनुष्यों के सेवन करने
द्वारा न होने से अनुपसेव्य हों । जैन मुनि अथवा जैन द्वाती श्रावकके
इन पाँचों प्रकार के अभक्ष्यों का जीवन पर्याप्ति के लिये त्याग रहता है
और भक्ष्य पदार्थों का भी वे सचित्त अवस्था में सेवन नहीं करते । जैन
मुनि अथवा श्रावक का लक्ष्य रहता है कि अपना पेट भरने के लिये दूसरे
जीवोंको बाधा न दी जावे । यह भाव तब तक प्रकट नहीं होता जब
तक कि जीवोंकी नाना जातियों का ज्ञान और अपने हृदय में उनकी
रक्षाका अभिप्राय जागृत नहीं होता ।]

**गाथार्थ—हे जीव ! तू मन वचन काय रूप तीनों योगोसे पाँच
प्रकार की विनय का पालन कर क्योंकि विनय-रहित मनुष्य तीर्थीकर
प्रकृतिके बन्धरूप अम्युदय और मुक्ति को प्राप्त नहीं होते हैं ॥१०२॥**

**विशेषार्थ—ज्ञान दर्शन, चारित्र, तप और उपचार के भेदसे विनयके
पाँच भेद हैं । पूज्य पुरुषोंके प्रति यथा-योग्य हाथ जोड़ना, उनके पेरों**

१. ऐरीकिं क० वालुका (क० टि०) कक्षी रुपि हिन्दी ।

सर्वोपकारित्सवं । (पालहि) प्रतिपालय कुर्विति । (मणवयज्ञकायज्ञोएग) अनीवननकाशोदेष उच्चारायाएंग (अधिग्रहयत्वं सुविहितं) अविनयनरा अविनयनरा वा सुविहितां तीर्थकरनामकम् पूर्वकबन्धविशिष्टां । (ततो मुक्ति न पावति) ततः कारणान्मुक्तिं सर्वकर्मक्षयलक्षणोपलक्षितां न प्राप्नुवन्ति नैव लभते ।

णियसत्तीए महाजस भसीराएण णिच्छकालम्भि ।

तं कुण जिनभक्तिपरं विजावच्चं वसवियप्य ॥१०३॥

निजशब्दवा महायायः । भक्तिरागेण नित्यकाले ।

त्वं कुरु जिनभक्तिपरं वैयावृत्यं दशविकल्पम् ॥१०३॥

(णियसत्तीए महाजस) एकारस्योच्चारलाघवादभि पादे द्वादशीव मात्रा वेदितव्याः । अन्यथा त्रयोदशीमात्रासद्भावाद्वायाच्छब्दोभंगः स्यात् ।

में पढ़ना, उन्हें आते देख उठकर लड़े होना तथा 'भले पधारे' आदि स्वागत के शब्द कहना ये सब विनय के प्रकार हैं । हे निकट भव्य ! तू मन बचन कायसे विनयके इन सब भेदोंका अच्छी तरह पालन कर । विनय का बड़ा माहात्म्य है । विनय-सम्पन्नतर तीर्थकर प्रकृतिके बन्धका कारण है और जो तीर्थकर हो गया वह मुक्तिको अवश्य ही प्राप्त होता है । इस प्रकार विनय अभ्युदय और मोक्ष दोनोंका कारण है । इसके विपरीत विनय रहित मनुष्य न सांसारिक अभ्युदय को प्राप्त होते हैं और न मुक्ति को प्राप्त होते हैं ॥१०२॥

गाथार्थ—हे महायश ! तू अपनी शक्तिके अनुसार भक्ति के रागसे निरन्तर जिनभक्तिमें उत्कृष्ट दश प्रकार का वैयावृत्य कर ॥१०३॥

शिक्षोवार्थ—आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञके भेदसे मुनियों के दश भेद हैं । इन दश प्रकारके मुनियोंकी वैयावृत्य करना दश प्रकारका वैयावृत्य है । यह वैयावृत्य जिनभक्ति में उत्कृष्ट है इसलिये हे महायश के भारक मुने ! तू अपनी शक्ति-अनुसार भक्ति-पूर्वक दश प्रकारकी वैयावृत्यको निरन्तर कर ।

गाथाके प्रथम पाद में 'णियसत्तीए' में एकारका उच्चारण लघुरूप होनेसे बारह मात्राएँ जानना चाहिये अन्यथा संस्कृत को तरह एकारका मात्र दीर्घीच्चारण मानने से तेरह मात्राएँ हो जावेगी और उस दशा में

तदुकर्त श्राकृतव्यकरणे—

“उच्चारलघुत्वमेदोत्तोष्यं जनस्थयोः”^१

निजशक्त्या है महाथयः ॥ (भक्तीराएण गिन्नवकालम्भ) भक्तिरागेण नित्यकाले । (तं कुण) त्वं कुरु । (विष्णुभक्तिपर) जिनभक्ती परमुक्तुष्ट । (विज्ञावच्चं) वैयाकृत्य । (दसविष्टव्यं) दशविकल्पं दशमेन आचार्यादीनां पूर्वोक्तानाम् ।

जं किञ्चि कथं दोसं स्मणवयकारेहि असुहभावेण ।

तं गरहि गुरुस्यासे गारबं मायं च मोस्तूण ॥ १०४ ॥

यः कश्चित् कुतो दोषः मनवचनकायेः अशुभभावेन ।

तं गर्हि गुरुस्यासे गारबं मायां च मुक्त्वा ॥ १०४ ॥

(जं किञ्चि कथं दोसं) यः कश्चित्कुतो दोषः व्रतादिष्वतीचारः । (स्मणवयका-
रेहि असुहभावेण) मनोवचनकायेरशुभभावेन रागद्वेष्मोहविदुष्यरिणामेन । (तं)
वोषमतीचारादिकं, गर्ह-प्रकाशय । (गुरुस्यासे) गुरुस्यकाशे गुरुपाष्वं आचार्य-

छन्दोभज्ज हो जावेगा क्योंकि आयां या गाथा छन्दके प्रथम पादमें बारह
मात्राएँ होतो हैं । प्राकृत व्याकरण का सूत्र भी है—

उच्चार—व्यञ्जनस्थ एकार और ओकार के उच्चारण में लघुत्व होता है ॥ १०३ ॥

गाथार्थ—हे मुने ! तूने अशुभ भावसे मन वचन कायके द्वारा जो
कोई दोष किया हो उसको गारब और मायाको छोड़ कर गुरुके समीप
गर्हा कर—आलोचना कर ॥ १०४ ॥

विवेषार्थ—राग, द्वेष, मोह आदि स्रोटे परिणाम की अशुभ भाव
कहते हैं । हे मुने ! अशुभ भावसे प्रेरित होकर यदि मन-वचन और काय
से तूने कोई दोष किया है अर्थात् अपने गृहोत व्रतमें अतिथार लगाया है
तो उसे गुरुके पादमूल में रस, ऋद्धि, शब्द और सातके भेदसे चार प्रकार
के गर्व को तथा मायाचारको छोड़ कर प्रकट कर—उनकी आलोचना
कर । भगवती आराधना में जो आकम्पित आदि आलोचना के दश दोष
बताताये हैं उन्हें बचाकर आलोचना करना चाहिये । जैसा कि कहा
गया है—

१. ‘तुम्तुबागदूणादचतुर्कं परवायाः’ । इत्यनेन मोस्तूण इत्यत्र परवायाः सूण-
वैष्णः ।

ब्रह्मचर्याद्वये । (बाहू तारं च गोदुर्) बाहू ते रहस्याद्वयातगर्वं भुक्त्वा,
मायां च भुक्त्वा कपटं परिहृत्य । आलोचनादशबोधान् भगवत्याराष्ट्राकथितान्
विहाय । तदुक्तं—

आकंपिय अणुभाणिय, जं दिट्ठं बादरं च सुहमं च ।

छन्नं सद्वात्लयं, बहुजणमव्यत्तं तसेवी ॥ १ ॥

दुजज्ञवयणचडकं णिट्ठुरकडुर्यं सहंति सप्तुरिसा ।

कर्ममलणासणटुं भावेण य णिम्मया सवणा ॥ १०५ ॥

दुजनवचनचयेटा निष्ठुरकटुकं सहत्ते सत्पुरुषाः ।

कर्ममलनाशनार्थं भावेन च निर्माः शवणाः ॥ १०५ ॥

(दुजज्ञवयणचडकं) दुर्जनानां गुरुदेवनिन्दकानां मिथ्यादृष्टीनां नाम-
शावकाणां च वचनमेव चयेटा तां । कथमूर्ता, (णिट्ठुरकडुर्यं) निष्ठुरा-निर्दया,
कटुका-कण्ठशूलप्राया निष्ठुरकटुका ता निष्ठुरकटुका । (सहंति सप्तुरिसा) सहत्ते

आकंपिय—१ आकम्पित, २ अनुमानित, ३ दृष्ट, ४ बादर, ५ सूक्ष्म,
६ छन्न, ७ शब्दाकुलित, ८ बहुजन, ९ अव्ययत और १० तसेवी ये
आलोचनाके दश दोष हैं । इनका स्वरूप पहले कहा जा चुका है ॥ १०४ ॥

गाथार्थ—भाव अर्थात् जिन सम्यक्त्वकी वासना से निर्ममता को
प्राप्त हुए सत्पुरुष दिगम्बर महामुनि, कर्म रूपी मल अथवा शानावणिदि
कर्म और अतिचार रूपी मलको नष्ट करनेके लिये दुर्जनोंके निर्दयतापूर्ण
कठोर वचनरूप धर्मेणोंको सहन करते हैं ॥ १०५ ॥

विशेषार्थ—गुरु और देवकी निन्दा करने वाले दुष्ट मिथ्यादृष्टि
तथा नाम मात्रके शावक अत्यन्त कठोर शब्दों डारा मुनियों की निन्दा
करते हैं । उनके वे निर्दयता पूर्ण शब्द कानों में शूल की तरह चुभते हैं
तो भी दिगम्बर महामुनि अथवा सम्यादृष्टि गृहस्थ अपने कर्म मलको
नष्ट करने के लिये उन्हें शान्त भावसे सहते हैं, चित्त में किसी प्रकारका
क्षोभ उत्पन्न नहीं होने देते । उसका कारण है कि वे महामुनि अथवा

१. अन्यत्र श्रीजि गारवाणि प्रसिद्धानि प्रथममृद्धिगारवं शिक्षादीक्षादिसामग्री भव
वह्नी वर्तते नत्यमोषां यतोनाम् । द्वितीयं शब्दगारवं अहं वर्णोच्चारं लचिरं
करोमि वा जानामि नत्यन्ये यतयः । तृतीयं सातगारवं अहं यतिरपि सन्
हन्दसुखं तीर्थकरसुखं भुञ्जानो वर्ते नत्यमे यत्परस्तपस्तिमो कराकाः
(क० टि०) ।

सत्युरुषो महामुनयो विगम्बराः सद्युष्टयो गृहस्थाश्च । किमवं सहन्ते ? (कम्मपल-
गातण्डठं) कर्मणि ज्ञानावरणादोनि भलानि-अतिचाराश्च तेषां नाशनार्थं क्षयार्थं
परमनिर्णयप्राप्त्यर्थं च । (भावेण य गिम्ममा सवणा) भावेन जिनसम्यक्लब्धवा-
सनया निर्ममा ममेत्यकारान्तसम्बन्धशब्दः ममत्ररहिताः अदृषा विगम्बरा
महामुनयः ।

पावं खवइ असेसं खमाए परिमंडिओ य मुणिपवरो ।
खेयरअमरणराणं पसंसणीओ घुवं होई ॥ १०६ ॥

पापं क्षपयति अशोर्ष क्षमया परिमण्डितश्च मुनिप्रवरः ।
खेचरामराणं प्रशासनीयो घुवं भवति ॥ १०६ ॥

(पावं खवइ असेसं) पापं त्रिष्णिप्रकृतिलक्षणं क्षिपते ब्रह्मणं द्वासप्तनिव्यो-
दयप्रकृतिरूपमधातिकर्मलक्षणं च प्रकृतिसमुदायं च क्षिपते । क्या, (खमाए)
क्षमया पापवंताश्ववत् उत्तमक्षमालक्षणपरिणामेन । (परिमणियो य) परि समन्ता-
न्मनोवचनकायप्रकारेण भैङ्गितः शोभितश्च । (मुणिपवरो) मुनिपवरो मुनोनां
श्रेष्ठः । चकार उक्तसमुच्चयार्थः । तेनान्योऽपि कोऽपि गृहस्थोऽपि क्षमापरिणा-
मेन स्वर्गं गत्वा पारंपर्येण मोक्षं याति इति ज्ञातव्यं । (खेयरअमरणराणं)
खेचराणं विद्याधराणां अमराणां भावनस्यन्तरज्योतिष्ठकल्पकासिनां कल्पातीतानां

सम्यग्दण्ठि सत्युरुष जिन सम्यक्लव को भावना से इतने निर्ममत्व हो चुकते
हैं कि उनका उस और लक्ष्य ही नहीं जाता । जिसे अपने महन्तपनका भवं
होता है उसे ही दूसरों के कुबचन सुनकर क्रोध उत्पन्न होता है परन्तु जो
महन्तपनेसे सर्वथा ममकार-ममताभाव छोड़ चुकता है उसे क्रोध उत्पन्न
होनेका अवसर नहीं आता ॥ १०६ ॥

गाथार्थ—अमा से सुशोभित श्रेष्ठ मुनि समस्त पापोंका क्षय करता है
और विद्याधर देव तथा मनुष्यों में निष्ठय से प्रशासनीय होता है ॥ १०६ ॥

विशेषार्थ—जो श्रेष्ठ मुनि श्रीपाश्वनाथ भगवान्‌के समान उत्तम क्षमा
रूप परिणाम से परिमण्डित है अथवि मन वचन काय सम्बन्धो तीन
प्रकार की क्षमा से सुशोभित है वह मुनि अवस्था में श्रेसठ कर्म प्रकृति
रूप पापका क्षय करता है और अरहन्त अवस्था में चौदहवें गुणस्थान के
उपान्त्य समय में बहुतर तथा अन्त समय में तेरह कर्म प्रकृति रूप पाप-
को नष्ट करता है तथा समस्त विद्याधर, चतुर्जिकाय के देव और भूमि-
गोचरी मनुष्यों में संस्कृत प्राकृत आदि भृषणाओं में निष्ठा गत्य पद्म रूप

व, नराणां भूमिगोचरनुपावीना च । (पलंसणीबो) प्रशंसनीयः स्तवनीयः स्तो-
तव्यः संस्कृत धारक-अपभृत-श्लोरसेनो-मागधी-दैशाची-नूलिकापैशाचीबद्धगद्यपदा-
नवद्यस्तुतिमिर्दिशेषेणाभिकादनीयः (ध्रुवं होइ) ध्रुवं निवचयेन स्थाने । अश-
सदेहो नास्ति । क्षमावान् मुनिस्तीर्थीङ्कुरो भवतीति भावार्थः ।

कृष्णाङ्गण क्षमागुण खमेहि तिविहेण सयलजीवाणं ।
चिरसंचियकोहसिंह वरखमसलिलेण सिचेह ॥१०७॥

इति ज्ञात्वा क्षमागुण ! क्षमस्व त्रिविधेन सकलजीवान् ।
चिरसंचितकोधशिखिनं वरखमसलिलेण सिच्छ ॥१०७॥

(इय जाऊण) इति पूर्वोक्ततोथंकरपदप्राप्तक' क्षमाफलं ज्ञात्वा विज्ञाय ।
(क्षमागुण) हे क्षमागुण ! अतुरशीतिशतसहस्रगुणानां मध्ये प्रधानक्षमागुण है
मुने ! (खमेहि) क्षमस्व । (तिविहेण) मनोवचनकायलक्षणत्रिप्रकारेण । (सय-
लजीवाण) सकलजीवान् एकेन्द्रियादिविषयेन्द्रियपर्यन्तान् । (चिरसंचियकोहसिंह)
चिरं दीर्घकालं संचितः पुष्टिः पुष्टि नीतः क्रोध एव किसी वैश्वानरः ब्रह्मसन्ताप-
कारकत्वात् त फ्रेशिखिनं कोपार्थिन । (वरखमसलिलेण सिचेह) वरा उत्तमा
क्षमा सर्वसहनधर्मः सैव सलिलं पानीयमुदकं आयुःस्थिरोकरणमनःप्रसादजनकत्वात्
तेन वरखमसलिलेण कुल्वा सिच्वत्वं विष्ण्यापय । उक्तं च—

निर्देष स्तुतियों के द्वारा प्रशंसनीय होता है । तात्पर्य यह है कि क्षमावान्
मनुष्य तीर्थेङ्कुर होता है । परिमिडिओ य (परिमिडितश्च) यहीं जो 'च'
शब्द आया है उससे यह सूचित होता है कि यदि कोई गृहस्थ भी क्षमा-
भाव धारण करता है तो वह भी उस क्षमाभाव से स्वर्ग जाकर परम्परा
से मोक्ष को प्राप्त होता है । १०६॥

याधार्थ—हे क्षमा गुणके धारक मुने ! इस तरह क्षमाका फल जान-
कर तुम समस्त जीवोंको मन बचन काय से क्षमा करो और चिर-काल से
सञ्चित क्रोध रूपी अग्निको उत्कृष्ट क्षमा रूपी जल से सींचो ॥१०७॥

विशेषार्थ—क्षमा तोथंकर पदको प्राप्त करने वाली है ऐसा जानकर
हे क्षमा के धारक मुने ! तुम एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय पर्यन्त के समस्त
जीवोंको मन बचन काय से क्षमा करो—कभी किसी के प्रति कलुषित
भाव न करो । चिरकाल से संचित की हुई क्रोध रूपी अग्निको तुम क्षमा
रूपी जलके द्वारा सींचो । जैसा कि कहा है—

आकुष्टोऽहं हतो नैव हतो वा न दिष्ठाकृतः ।
 मारितो न हतो घर्मी भवीयोऽनेन बन्धुना ॥ १ ॥
 चित्स्थित्यनवशुद्धा । हरेण जड्यात्
 कुदृष्टा वहिः किमपि दरष्मनञ्जनुदृष्टा ।
 वोरामवाप स हि तेन छृतामवस्था
 क्रोधोदयादभवति कस्य न कार्यहानि ॥ २ ॥

दीक्षाकालादीर्यं भावहि अविचार दंसणविशुद्धो ।
 उत्तमबोधिनिमित्तं असारसंसारमुणिऊण ॥ १०८ ॥
 दीक्षाकालादीर्यं भावय अविचार ! दर्शनविशुद्धः ।
 उत्तमबोधिनिमित्तं असारसाराणि ज्ञात्वा ॥ १०८ ॥

(दीक्षाकालादीर्यं) दीक्षाकाले स्तु जीवस्य परमवैराग्यं भवति, दीक्षाकालं आविष्ट्य रोगोत्पत्तिप्रभृतिकालस्य से दीक्षाकालादिः दीक्षाकालादी भवो दीक्षाकालादीयो भावस्ते दीक्षाकालादीर्यं निष्परिणामविशेष हे जीव आत्मन् ! हे

आकुष्टोऽहं—दूसरेके हारा गाली दिये जानेपर मुझे विचार करते हैं कि इस भाईने मुझे गाली दी है मारा तो नहीं है । पीटे जानेपर विचार करते हैं कि पीटा ही है मेरे दो टुकड़े तो नहीं किये अर्थात् मुझे जान से तो नहीं मारा है और मारे जानेपर विचार करते हैं कि मुझे मारा ही है मेरा धर्म तो नहीं नष्ट किया ।

चित्स्थ—चित्स्थ में स्थित कामको न समझ कर महादेव ने क्रोध-वश बाहर स्थित किसी पदार्थको काम समझ जला दिया । पीछे उसी कामके हारा की हुई भयंकर हुर्दशाको प्राप्त हुए । सो ठीक ही है क्योंकि क्रोध से किस की कार्य-हानि नहीं होती ? ॥ १०७ ॥

गायार्थ—हे विचारहीन ! साथो ! तू उत्तम रत्नत्रय की प्राप्तिके निमित्त असार और सारको जान कर सम्यग्दर्शन से विशुद्ध होता हुआ दीक्षा आदिके समय होनेवाले भावका स्मरण कर ॥ १०८ ॥

विशेषार्थ—दीक्षा लेते समय इस जीवके परिणामों में बड़ी निर्भलता होती है । उस समय यह सोचता है कि आजसे लेकर अब मैं स्त्रीका मुख नहीं देखूँगा क्योंकि स्त्रियों में रामी होकर ही मैं अनादि कालसे संसारमें

१. यसस्तिलके आकुष्टोऽहं म० ।

२. ज्ञात्वानुशासने ।

वीतन्य ! हे मुने ! स्वं । (भावहि)—भावय तं परिषामं त्वं स्मर । यदहमदश्मृति
वनितामुखं न पश्यामि, वनितासु रक्तोऽहमनादिकाले संसारे पर्यटितोऽवाक्षितमेव
दुःखं प्राप्तः, अहनिशमाकांक्षल्पिं सुखलेशो न लक्ष्यवाम् । तदुक्तं—

‘अजाकृपाणीयमनुजितं त्वया विकल्पमूढेन भवादितः पुरा ।
यदत्र किञ्चित्सुखलेशमात्यते तदायै ! विद्युधन्वकवर्तकीयकम् ॥१॥

अन्यथा—

‘संसारे नरकादिषु स्मृतिपदेऽप्युद्गकारीण्यलं
दुःखानि प्रतिसेवितानि भवता तान्येवमेवासताम् ।
‘तत्तावत् स्मर स्मरस्मित एसितापाङ्गैरनङ्गायुषे-
वर्तिनां हिमदृष्टमुग्रतस्वयुत्प्राप्तवाज्जिधनः ॥१॥

भ्रमण करता हुआ अनथाहे दुःखोंको प्राप्त हुआ हूँ और निरन्तर चाहता
हुआ मी सुखके अंश मात्रको नहीं प्राप्त हो सका हूँ । जैसा कि कहा है—

अजा—हे आलमन ! तू ने विकल्पों में मुहूर होकर जन्मके पारम्पर से
ही पहले अजाकृपाणीय न्याय का अनुसरण किया है अर्थात् जिस प्रकार
कोई हिसक अजा बकरी को मारनेके लिये शस्त्र खोज रहा था परन्तु
शस्त्रके न मिलनेसे विवश था । इसी बीचमें उस बकरी ने अपने पैरोंसे
घूलि हटाकर उसमें छिपी तलवारको प्रकट कर दिया और उस तलवारसे
हिसक ने बकरीका घात कर दिया । सो जिस प्रकार बकरीका प्रयास
उसीका घात करने वाला हुआ उसी प्रकार इस जीवका भोगोपभोगकी
सामग्रीको एकत्रित करनेका प्रयास उसे ही कुण्ठि में डालने वाला होता
है । हे आर्य ! इस संसार में प्रथम तो सुख है ही नहीं, फिर भी जो कुछ
सुखका अंश प्राप्त होता है उसे अन्यक-बत्तंकीय न्याय समझ अर्थात् जिस
प्रकार अन्ये मनुष्य के हाथ अकस्मात् बटेर लग जाती है उसी तरह इस
जीवको अकस्मात् कुछ सुखका अंश प्राप्त हो जाता है । तेरे पुरुषार्थसे
प्राप्त नहीं होता है ॥१॥

और भी कहा है—

संसारे—संसारके भृथ नरकादि गतियोंमें जो तू ने ऐसे ऐसे दुःख कि

१. भारतानुशासने ।
२. आलमानुशासने ।
३. तत्तावत्स्मरसि म० ।
४. किंता० म० ।

आत्मकुपात्रकशिखाः सरसावलेष्वाः
स्वस्ये मनाहमनसि ते उच्चु विस्मरत्ति ।
तत्कालजातमतिविस्फुरितानि पश्चा—
ज्जीवान्यथा यदि भवन्ति कुतोऽश्रियं ते ॥१॥

(भावहि अवियार दंसणविसुद्धो) दीक्षाकाले दारिद्रधकाले रोगादिकाले च ये भावास्त्वया भाविता धमश्चियणपरिणामात्तान् भावान् हे जीव ! सदाकालमपि त्वं भावय, हे (अवियार)—हे अविचार निविवेकजीव ! । अथवा हे अविकार रागद्वेषमोहादिदुष्परिणामवजितजीव ! । कथंभूतः सन् भावय, (दंसणविसुद्धो) सम्यक्त्वकोस्तुभक्तोभिसन्ति॑लहृदयः सन् भावय । अथवा अवियारदंसणविसुद्धो इत्यक्मेव पर्द । तत्रायमर्थः—अविकारं पञ्चविंशतिदोषरहितं

जो स्मरण में आते ही अत्यन्त उद्ग्रेग करने लगते हैं, भोगे हैं वे यों ही रहें उनकी चर्चा छोड़ अभी तू उसी एक दुःखका स्मरण कर जो तूने निर्धन अवस्था में कामकी बाधा से युक्त स्त्रियों को मन्दमुसकान और शुक्ल-कटाक्ष रूपी कामके शास्त्रों द्वारा हिमसे दग्ध-नुषारसे शोभित बाल बृक्षकी तरह प्राप्त किया है ॥१॥

आतंक—हे जीव ! मन के कुछ स्वस्थ होते ही तू दुःख रूपी अग्नि की लपलपाती ज्वालाओं को शीघ्र भूल जाता है । दुःखके समय तेरी बुद्धि में जो सद्विचार प्रस्फुरित हुए थे वे यदि पीछे भी—दुःख दूर हो जाने के बाद भी स्थिर रहते तो तुझे दुःख होता ही कैसे ? ॥१॥

इस प्रकार दीक्षा लेते समय, दरिद्रता के समय अथवा रोग आदिके समय यह जीव जिनधर्म रूप परिणामोंका आश्रय लेता है पीछे चलकर उन परिणामों को भूला देता है और विचार-शून्य होकर पुनः विषयों की ओर आकृष्ट होने लगता है । आचार्य ऐसे ही जीवोंको संबोधते हुए कहते हैं कि हे अविवेकी जीव ! यदि तू उत्तम रत्नत्रय प्राप्त करना चाहता है तो अपने विवेक को तिलाङ्गलि न दे । उस विवेक के द्वारा तू सार-श्रेष्ठ और असार अश्रेष्ठ वस्तुओं का निधरि कर, सम्यग्दर्शन को शुद्ध रख तथा दीक्षा आदिके समय होने वाले सद्विचारोंका स्मरण कर-उन्हें भूल जात जा ।

गाथा में आये हुए 'अवियार' इस प्राकृत शब्दकी संस्कृत छाया 'अविचार' और 'अविकार' दोनों हो सकती हैं । अपर 'अविचार' छायाको स्वीकृत कर अर्थ किया है, 'अविकार' छायाके पक्ष में अर्थ होता है—हे

यदर्शनं सम्यक्त्वरत्नं तेन विशुद्धोऽनन्तमवपापरहितः । किमर्थं भावय, (उत्तम-
बोहिनिमित्तं) उत्तमा गणधरचक्रवरकुलिशधरभग्यवरपुण्डरीकैः पूज्यत्वात् उत्तमा
चासी बोधिः तत्त्वमित्तं उत्तमबोधिनिमित्तं । (असारसाराइ मुणिकृष्ण) असाराणि
साराणि च मुनित्वा ज्ञात्वा । उत्तं च—

अथिरेण विरामलिङ्गेण निम्नला निर्गुणेण गुणसारा ।

काएण जा विलुप्तिं सा किरिया किं न कायव्या ॥ १ ॥

अनालोचितं असारं, आलोचितं सारं । परन्तिं असारं, निजनिन्दा सारं ।
आत्मबोधाणां गुरुरेत्रेऽप्यकथनं असारं, गुर्वश्च निजबोधकथनं सारं, अप्रतिक्रमणं
असारं । प्रतिक्रमणं सारं विराघनं असारं आराधनं भारं अज्ञानं असारं । सम्यग्ज्ञानं
सारं । मिथ्यादर्शानं असारं, सम्यग्दर्शनं सारं । कुचरित्रं असारं, सच्चरित्रं सारं । कृतपः
असारं, मुतपः सारं । अकृत्यं असारं, कृत्यं सारं । प्राणातिपालोऽसारं, अभयदार्तं
सारं । मृषावादोऽसारः, सत्यं सारं । अवस्थादानं असारं, दत्तं कल्पयं च सारं ।
मैथुनं असारं, ऋग्युचर्यं सारं । परिग्रहोऽसारं, नैग्रन्थं सारं । रात्रिभोजनमसारं,
दिवाभोजनमेकभक्तं प्रत्युत्पन्नं' प्राप्तुकं सारं । वार्त्तरोद्ध्वयानमसारं, ऋग्यं लुक्ल-
व्यानं सारं । कृष्णनीलकपीतलक्षणा असारं, लोऽप्यशुक्ललेखयाः सारं । आरंभोऽ-
सारं, अनारंभः सारं । असंयमाऽसारं, संयमः सारं । सप्तन्योऽसारं, निर्दन्धः सारं ।

रागद्वेष मोह आदि खोटे परिणामोसे रहित जीव अथवा 'अविद्यार' पदको
सम्बोधनान्तं पृथक् पद न मानकर 'अविद्यार दंसण विशुद्धो' इस तरह एक
ही समस्त पद मानना चाहिये । इस पक्ष में अविद्यार शब्द जीवका सम्बो-
धन न होकर दर्शनका विशेषण हो जाता है और तब 'अविद्यार दंसण
विशुद्धो' पदका अर्थ होता है पच्चीस दोष रहित सम्यग्दर्शन से शोभित
होता हुआ । सम्यग्दृष्टिमनुष्य को असार तथा सार वस्तु की परख कर
सार वस्तुको प्राप्त करने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिये । जैसा कि
कहा है—

अथिरेण—यदि अस्थिर शरोर से स्थिर, मलिन से निर्मल और
निर्गुणसे सगुण किया को जाती है तो उसे क्या नहीं करना चाहिये ?
अर्थात् अवश्य करना चाहिये । यह शरीर यद्यपि अस्थिर, मलिन और
निर्गुण है तथापि इससे रत्नत्रय को प्राप्ति कर मोक्ष प्राप्त किया जा
सकता है । वह मात्र जो कि स्थिर, निर्मल और अनन्त गुणों से श्रेष्ठ है,
जागे क्या असार है ? और क्या सार है ? इसको चर्चा संस्कृत टीका-कारने
विस्तार से की है जो इस प्रकार है—

सचेलोऽसारं निष्ठेलः सारं । अलोचोऽसारं, लोचः सारं । स्नानं असारं, अस्नानं मलधारणं सारं । अभूमिशयनं असारं, भूमिशयनं सारं । दन्तधावनं असारं, अदन्त-धरणं सारं । उपविश्य भोजनं असारं, उदृथभोजनं सारं । माजने भोजनं असारं, पाणिपात्रे भोजनं सारं । क्लोषोऽसारं, क्लमा सारं । भानोऽसारं, भार्दवं सारं । मामाऽसारं, आर्जवं सारं । लोभोऽसारं, सन्तोषः सारं । अतोऽसारं, ब्रह्मविषे तपः सारं । मिथ्यात्मं असारं, सम्यक्त्वं सारं । अशीलं असारं, शीलं सारं । सशत्योऽसारं, निशत्यः सारं । बिविनयोऽसारं विनयः सारं । अनाचारीऽसारं,

आलोचना नहीं करना असार है, आलोचना करना सार है । परनिन्दा करना असार है, निज निन्दा करना सार है । गुरुके आगे अपने दोषोंका नहीं कहना असार है, गुरुके आगे अपने दोष कहना सार है । प्रतिक्रमण नहीं करना असार है, प्रतिक्रमण करना सार है । विराघना करना-गृहीत व्रत में दोष लगाना असार है, आराधना करना-व्रतका निर्दोष पालन करना सार है । अज्ञान असार है, सम्यज्ञान सार है । मिथ्यादर्शनं असार है, सम्यग्दर्शन सार है । गिर्वान्तरित्र असार है, परिगृह्याग्नित्र सार है । कुतप असार है, सुतप सार है । अकुत्य-अयोग्य कार्य असार है, कुत्य-योग्य कार्य सार है । प्राण धात असार है, अभय दान सार है । असत्य भाषण असार है, सत्य भाषण सार है, अदत्त वस्तु का प्रहण करना असार है, योग्य दी हुई वस्तुका स्वीकार करना सार है । मैथुन असार है, ब्रह्मचर्य सार है । परिग्रह असार है, निरन्धरणता सार है । रात्रिभोजन असार है, दिनमें एकबार प्रातुक भोजन करना सार है । आर्ती रीढ़ ध्यान असार है, धर्म्य और शुक्लध्यान सार है । कृष्ण नील और काषोत लेश्या असार है, तेज, पद्म और शुक्ल लेश्या सार है । आरम्भ असार है, अनारम्भ सार है । असंयम असार है, संयम सार है । परिग्रहवान् असार है, परिग्रह रहित सार है । वस्त्र सहित असार है, वस्त्र रहित सार है । केशलोंच नहीं करना असार है, केशलोंच करना सार है । स्नान असार है, अस्नान अर्थात् मल धारण करना सार है । पृथिवी पर नहीं सोना असार है, पृथिवी पर सोना सार है । दौतीन करना असार है, दौतीन नहीं चिसना सार है । दैठकर आहार करना असार है, खड़े-खड़े आहार करना सार है । पात्रमें भोजन करना असार है, हस्त-रूपी पात्रमें भोजन करना सार है । क्लोष असार है, क्लमा सार है । मान असार है, मार्दव धर्म सार है । माया असार है, आर्जव सार है । लोभ असार है, संतोष सार है । अतप असार है, क्षार्ह प्रकल्पका तप सार है । मिथ्यात्म असार है, सम्यक्त्व सार है ।

बाचारः सारं । उन्मागोऽसारं जिनमार्गः सारं । बक्षमा असारं, कमा सारं ॥
अगुप्तिः असारं, गुप्तिः सारं । अमुक्तिः असारं, मुक्तिः सारं । असमाधिः असारं,
समाधिः सारं । ममत्वं असारं, निमेमत्वं सारं । यद्यभावितं तदसारं, यन्न भावितं
तत्सारं । इति सारासाराणि ज्ञातव्यानि ।

सेवहि चउविहृलिंगं अब्यन्तरलिंगसुद्धिमावणो ।

बाहिरलिंगमकज्जं होइ फुडं भावरहिताणं ॥१०९॥

सेवस्व चतुर्विधलिङ्गं अभ्यन्तरलिङ्गसुद्धिमापनः ।

वाहुलिङ्गमकार्यं भवति स्फुटं भावरहिताणं ॥ १०९ ॥

(सेवहि चउविहृलिंग) सेवस्व हे मुने ! चतुर्विधं लिंगं शिरकेशमुखशमश्वलो-
चोद्धकेशरक्षणं चतुर्विधमिदं लिंगं पिञ्छकुण्डीद्वयग्रहः । (अब्यन्तरलिंगसुद्धिमा-
वणो) अभ्यन्तरलिंगं जिनसम्यक्त्वं तस्यशुद्धिमापनः प्राप्तः । (बाहिरलिंगम-
कज्जं) बहिरलिंगं पूर्वोक्तं चतुर्विधलिंगमकार्यं मोक्षदायकं न भवति । (होइ फुडं

अशोल असार है, शोल सार है । शत्य सहित होना असार है, शत्य रहित
होना सार है । अविनय असार है, विनय सार है । अनाचार असार है,
आचार सार है । मिथ्यामार्ग असार है, जिनमार्ग सार है । बक्षमा असार
है, कमा सार है । अगुप्ति असार है, गुप्ति सार है । अमुक्ति संसार
असार है, मुक्ति सार है । असमाधि असार है, समाधि सार है । ममत्व
असार है, निमेमत्व सार है । जिस विषय सुखका उपभोग किया है वह
असार है और जिसका उपभोग नहीं किया वह सार है । इस प्रकार सार-
असारके स्वरूपको जानना चाहिये ॥ १०८ ॥

गायार्थ—हे मुने ! तू भावलिङ्ग की शुद्धिको प्राप्त होता हुआ बाहु
चार प्रकार के लिङ्ग को धारण कर । भाव रहित मुनियों का द्रव्य लिङ्ग
निश्चित ही अकार्य-कर है—मोक्ष दायक नहीं है ॥ १०९ ॥

विशेषार्थ—अभ्यन्तर लिङ्गका अर्थ जिन-सम्यक्त्व है, मुनिको सर्व
प्रथम उसकी संभाल करना चाहिये । पश्चात् भाव शुद्धि पूर्वक चार
प्रकारका बाहु लिङ्ग धारण करना चाहिये । १ शिरके केशलोच करना
२ ढाढ़ीके केशलोच करना ३ मौछके केशलोच करना और ४ नीचे के केश
रखना अर्थात् उनका लौच नहीं करना यह चार प्रकार का बाहु लिङ्ग
है । पीछी कमण्डलु धारण करना भी बाहु लिङ्ग है । भाव-रहित अर्थात्
मिथ्यादृष्टि मुनियोंका बाहु लिङ्ग निश्चय से अकार्यकर है अर्थात् मोक्ष-
को देने वाला नहीं है । यद्यपि द्रव्यलिङ्गो मुनि नव ग्रेवेयक तक उत्पन्न

भावरहियाणां) अकार्यं भवति स्फुटमिति निष्क्रयेन भावरहिताणां मिथ्यादृष्टीनां दिग्म्बराणां ।

आहारभयपरिग्रहमेहुणसण्णाहि मोहिओसि तुमं ।

भमिओ संसारवणे अणाइकालं अणप्पवसो ॥११०॥

आहारभयपरिग्रहमेथुनसंज्ञाभिः मोहितोसि त्वम् ।

भमितः संसारवने अनादिकालमनात्मवशः ॥ ११० ॥

(आहारभयपरिग्रहमेहुणसण्णाहि मोहिओसि तुमं) आहारभयपरिग्रहमेथुन-संज्ञाभिर्मोहित आरमणाच्चलितः प्रचलितः प्रचल्युतः, असि—भवसि, तुमंत्वं हे जीव । (भमिओ संसारवणे) आत्मः पर्याटीस्त्वं संसारवने नरकतिर्थंकुमनुष्य-कुरिस्तदेवगाहने । (अणाइकालं) अनादिकालं पुर्वकाले । (अणप्पवसो) अनात्मवशः न आत्मा मनो वशे यस्य सोऽनात्मवशः विषयकथामात्यायरञ्जितहृदय इत्यर्थः ॥

बाहिरसयणत्तावणतरुमूलाईर्णि उत्तरगुणाणि ।

रत्नहि भावविशुद्धो यूधित्वाहं ल इहंत्वै ॥१११॥

बहिःशयनातपनतरुमूलादीन् उत्तरगुणाणि ।

पालय भावविशुद्धः प्रूजालाभं अनाहमानः ॥१११॥

होते हैं तथापि देव पद पाना मुनिका लक्षण न होनेसे उसकी यहाँ विद्वान् नहीं की गई है ॥ १०९ ॥

गाचार्य—हे जीव ! तू आहार, भय, मेथुन और परिग्रह इन चार संज्ञाओंसे मोहित हो पराधीन हुआ संसार रूपी अटवी में अनादि कालसे अमण कर रहा है ॥ ११० ॥

विशेषार्थ—संज्ञाका अर्थ अभिलाषा है । ये अभिलाषाएँ आहार, भय, मेथुन और परिग्रह के भेदसे चार प्रकार की हैं । इनसे मोहित हुआ जीव स्व स्वरूप से च्युत होकर बाह्य पदार्थोंमें रमने की इच्छा करने लगता है । इनसे पीड़ित हुए जीवका मन स्वाधीन नहीं रहता किन्तु विषय कथाय और अन्याय से अनुरञ्जित होकर पराधीन हो जाता है । यहाँ आचार्य, मुनिको संबोधते हुए कहते हैं कि हे मुने ! इन संज्ञाओंके चक्रमें पङ्ककर तूने अनादि कालसे नरक तिर्थंक्च कुमनुष्य और नीच देव गति रूपी बोहङ् अटवी में परिभ्रमण किया है अब तेरो मुनि अवस्था है अतः उसकी ओरसे सर्वथा मनकी प्रवृत्ति को दूर हटा ॥ ११० ॥

गाचार्य—हे साधो ! तू भावसे शुद्ध होता हुआ रूपाति, राख आदि

(बाहिरसयणशावणतस्मूलाईणि उत्तरगुणाणि) बहिःशयनातपतस्मूकादीन्
उत्तरगुणान् पालयेति सम्भवम् । शीतशालेऽभावूतस्थानं संवति भुवः । उत्तरगुणे
आतपनयोगं धर । वषट्काले तद्गुले तिष्ठ । षष्ठपणोपरि पतित्वा वज्रल मध्यपरि
पतति तस्य प्रासुकत्वाद्विराघनाऽप्यायिकानां जीवानां न भवति द्विगुणवषट्कष्टं च
भवतीति कारणात् वषट्काले तद्गुलस्थितेरुपयोगः, अन्यथा कातरत्वप्रसक्तेः । एते
योऽपि योगा उत्तरगुणाः कष्टयन्ते । (पालहि भावविसुद्धो) (पालय भाव-
विसुद्धः) तस्वभावनातिमेलमनाः सन्निति भावः । (पूर्यालाहं न हृतो) पूर्या-
लाभस्यात्यादिकमनीहमानोऽनिच्छन्ति शेषः ।

भावहि पढमं तच्चं विदियं तदियं चउत्पपञ्चमयं ।

तिथरणसुद्धो अर्थं अणाइणिहृणं तिवरगहरं ॥११२॥

भावय प्रथमं तत्वं द्वितीयं तृतीयं चतुर्थंपञ्चमक्षम् ।

त्रिकरणसुद्धः आत्मानं अनादिनिधनं त्रिवर्गहरम् ॥११२॥

(भावहि पढमं तच्चं) भावय है जोब । त्वं अद्वेहि, कि तस् ? प्रथमं तत्वं
जीवतत्त्वं । (विदियं) द्वितीयं तत्वमजीवसंसर्गं पुदगलघमायिमंकालाकाशलक्षणं ।

को इच्छा न कर, बाह्यशयन आतापन योग और वृक्ष मूल निवास आदि
गुणोंका पालन कर ॥ १११ ॥

विशेषार्थ—शीत कालमें खुले स्थान पर शयन करना अन्धवास योग है । उष्ण कालमें पर्वतकी शिखर आदि संतप्त स्थानों पर बैठकर ध्यान करना आतापन योग है और वषट्काल में वृक्षके नीचे बैठकर ध्यान करना वषट्योग है । वृक्षके नीचे बैठने पर मुनिके शरीर पर जो पानीकी बूँदें पड़ती हैं वे प्रासुक होती हैं अतः उससे जल-कायिक जीवोंका विधात नहीं होता तथा थोड़ा थोड़ा पानी पड़नेसे वषट्का कष्ट दूना होता है इसलिये वषट्काल में वृक्षके नीचे बैठकर वषट्योग करने की विषि है अन्यथा मुनिके कातर-पनेका प्रसङ्ग आता है । ये तीनों योग उत्तर गुण कहलाते हैं । हे मुने ! पूजा लाभ-लौकिक मान प्रतिष्ठा आदिकी इच्छा न रखता हुआ तू विशुद्ध भावसे इन उत्तर गुणोंका पालन कर ॥ १११ ॥

गायार्थ—हे जीव ! तू प्रथम-तत्व-जीव, द्वितीयतत्व-अजीव, तृतीय-
तत्व-आत्मव चतुर्थं तत्व-बन्ध, पञ्चमतत्व-संवर, षष्ठं तत्व-निर्जरा और
सप्तमतत्व-मोक्ष इन सात तत्वोंको शम्भा कर तथा मन वषट्न कायसे शुद्ध होता हुआ, वर्तं अर्थं एवं काम रूप त्रिवर्ग को हरने वाले—मोक्ष स्वरूप अनन्द निधन आत्म का ध्यान कर ॥ ११३ ॥

(तदियं) तुरीयं तत्वं आलबनामधेयं । (चतुर्थपञ्चमयं) चतुर्थं बन्धनामधेयं, पञ्चमकं तत्वं संवराभिधानं निर्जरा षष्ठं तत्वं, मोक्षः सप्तमं तत्वं । (तिर्यग्मुद्गो अष्ट्यं) त्रिकरणशुद्धः सन्नात्मानं भावहि भावय, अल्पं वा स्तोककालं अन्तमूर्हतं-काले । कथंभूतमात्मानं, (अणाहणिहणं) अनादितिथितं आद्यन्तरहितं । (तिव-गाहरं) वर्मार्थकामवर्गमन्त्रदर्जितं सर्वकर्मक्षयलक्षणमोक्षसहितं निष्पत्त्यात् ।

जाव ण भावहु तच्चं जाव ण चित्तेहु चित्तणीयाहं ।

ताव ण पावहु जीवो जरमरणविवजिज्ञयं ठाणं ॥११३॥

यावन्त भावयति तत्वं यावन्न चित्तयति चित्तनीयानि ।

तावन्न प्राप्नोति जीवः जरमरणविवजितं स्थानं ॥११३॥

(जाव ण भावहु तच्चं) यावत्कालं न भावयति, कि ? तत्वं सप्तसत्त्वं जीवाजीवास्तवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षलक्षणं, तन्मध्ये निजात्मतत्वं मोक्षकारणं अपरे

विशेषार्थ—यही आचार्य ने गाथाके पूर्वविभिन्ने सम्यादृष्टि जीवकी बहिमुखी प्रवृत्ति का वर्णन करते हुए कहा है कि तू जीव अजीव आदि सात तत्वोंकी भावना कर और अन्तमुखी प्रवृत्ति का वर्णन करते हुए उत्तरार्थ में कहा है कि तू मन वचन कायसे शुद्ध होकर अर्थात् तीनों योगों के निमित्तसे होनेवाली बहिमुखी प्रवृत्ति से निवृत्त होकर अनादि निधन एक आत्मा की भावना कर । तेरी यह आत्मा घर्म, अर्थ और काम इस त्रिवर्ग से रहित होकर अपवर्ग रूप है—मोक्ष रूप है ।

जिसमें चेतना पाई जाती है वह जीव है । चेतना से रहित अजीव तत्व है । इसके पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और काल ये पाँच भेद हैं । इन पाँच भेदों में धर्म अधर्म आकाश और कालसे इस जीवका कुछ अहित नहीं होता परन्तु पुद्गल द्रव्यके भेद कर्म-वर्गणा और तो कर्म वर्गणके संयोगसे इस जीवकी संसार दशा बन रही है । आत्मा और कर्म का संयोग जिन भावों से होता है वह आलब है । आत्मा और कर्म-प्रदेशों का क्षेत्र नीर के समान एक क्षेत्रावगाह होना बन्ध है । नीर आलब का रुक जाना संवर है । सत्ता में स्थित कर्मोंका एकदेश क्षय होना निर्जरा है और समस्त कर्म परमाणुओंका सदा के लिये आत्म-प्रदेशों से सम्बन्ध छूट जाना मोक्ष है ॥११३॥

गाथार्थ—जब तक यह जीव न तत्व की भावना करता है और न चिन्तनीय पदार्थों का चिन्तन करता है तब तक जरा और मरण से रहित परम निर्वाण पद को नहीं प्राप्त होता है ॥११३॥

जीवः शुद्धबुद्धकस्त्वभावा निजात्मा च । अजीवतत्त्व पुद्गलो चर्माद्धर्मः काल आकाशश्च । तत्प्रेष्टस्त्वनितादिरूपः पुद्गलपर्यायो मोहोत्पादको रागधनकः, शस्त्रविषयकण्ठकशत्रुप्रभृतिद्वयकारकपुद्गलपर्यायः । (स्त्रीव्याकृत्वनिमित्तः कर्मवन्धकारणं, शुद्धाहारादिर्यूहीतः शुद्धध्यानाध्ययनकारणत्वात् संवरनिजराकारणत्वात् सोधयि मोक्षप्रत्ययः, अशुद्ध जाहारो गृहीतः चर्माद्धिस्पृष्टतया पुष्ट्यनितोत्पादकत्वादात् स्वदृष्ट्यकरणं) इत्यादि पुद्गलस्य हेयोपादेयपृक्षिततया विचारो ज्ञातव्यः । अथवा पुद्गलद्रव्यमेव जीवस्य बन्धकारणत्वाद्दुखकारणं परमार्थतया हेय एव । धर्मस्तु नरकादिगतिसहायकारकत्वाद्वयः स्वर्गमोक्षगतिकारकत्वातुपादेयः । (अुच्चर्मस्तु स्वर्गमोक्षस्थानादौ मुनीनां ध्यानाध्ययनादिकाले स्थितिहेतुत्पादुपादेयः) नरकनिको-

विशेषार्थ—तत्त्व सात हैं—१ जीव, २ अजीव, ३ आत्मव, ४ बन्ध, ५ संवर, ६ निजरा और ७ मोक्ष । इन सात तत्त्वोंमें निज आत्म-तत्त्व मोक्ष का कारण है क्योंकि इही आशान कारण होनेदे मोक्ष पर्याय रखा परमपूर्ण बद करता है । निमित्त कारण की अपेक्षा शुद्ध बुद्धकस्त्वभाव से युक्त अन्य जीव तथा अपनी पूर्वी पर्याय गत आत्मा भी मोक्षका कारण है । अजीव तत्त्वके पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश ये पाँच भेद हैं । इनमें इष्ट भाला तथा स्त्री आदि रूप पुद्गल पर्याय मोहको उत्पन्न करने वाली तथा राग की जनक है और शस्त्र विष कण्ठक तथा शत्रु आदि रूप पुद्गल पर्याय द्वेष-जनक है । वह पुद्गल द्रव्य आस्त्रव का निमित्त तथा कर्म-बन्धका कारण है । यदि शुद्ध आहार आदि रूप पुद्गल द्रव्य ग्रहण में आता है तो वह शुद्ध ध्यान तथा अध्ययन का कारण होनेमें संवर और निजरा का कारण होता है तथा परम्परा से मोक्ष का भी कारण होता है । यदि चमड़े आदिके स्पर्श से दूषित अशुद्ध आहार रूप पुद्गल द्रव्य ग्रहण में आता है तो वह खोटे ध्यानका उत्पादक होनेसे आस्त्र और बन्ध का ही कारण होता है । इत्यादि रूप से पुद्गल द्रव्य की हेयता और उपादेयताका विचार करना चाहिये । अथवा परमार्थसे पुद्गल द्रव्य हो बन्ध का कारण होनेसे जीवके दुःखका कारण है, अतः वह हेय ही है] धर्म द्रव्य नरकादि गतियों की प्राप्ति में सहायता करता है इसलिये हेय है और स्वर्ग तथा मोक्षकी प्राप्ति में सहायक होनेसे उपादेय है । अधर्म द्रव्य स्वर्ग तथा मोक्ष सम्बन्धी स्थितिका तथा ध्यान अध्ययन आदिके काल में मुनियों की स्थिति का हेतु होनेसे उपादेय है तथा नरक और निकोत आदि की स्थिति का कारण होनेसे हेय है । काल द्रव्य स्वर्ग और मोक्ष आदि में होनेवाली वर्तनाका कारण होनेसे उपादेय है और नरकादि

तादिस्थितिकारणत्वे हेयः । कालस्तु स्वर्गमोक्षादी वर्तनाप्रत्ययत्वाद्युपादेयः, नरकादि-
पथयिवर्तनाकारणत्वाद्येयः । आकाशः समवसरणस्वर्गमोक्षादाक्षकाशादायकगुणत्वादु-
पादेयः । नरकनिमोक्षादिस्थानाकाशकाशादायकत्वाद्येयः । निनिदानविशिष्टती-
र्थकरनामकमीलव उपादेयो मोक्षहेतुत्वात् । नरकादिगतदिनिपत्तहेतुत्वादन्य
आत्मा हेयः । तीर्थकरनामकमहेतुश्चतुर्विधोऽपि बन्ध उपादेयः, संसारपर्यटनकारी-
तरो बन्धो हेयः । संवर उपादेयः । निर्जरा ओपादेया मुनीनां सम्बन्धिनी । मोक्षः
सर्वथापुण्ड्रादेयोऽनन्तज्ञानादिचतुष्टयकारणत्वादिनि सप्ततत्वानि यावन्न भावयति ।
(जाव ण चितेह चित्तीयाइ) यावन्न चित्तयति चित्तनीयानि धर्मशुश्लेष्या-
नानि अनुप्रेक्षादीनि च । (ताव ण पावइ जीवो) तावन्न ग्राज्ञोति जीव आत्मा ।
(जरणमरणविवर्जियं ठाण) जरामरणविवर्जितं स्थानं परमनिवरणपदमिति
श्वेषः ।

पार्व 'पयह असेसं पुण्णमसेसं च ऐपयह परिणामो ।

परिणामादो बन्धो मुक्खो जिणसासणे दिष्टो ॥११४॥

पापं पचति अशेषं पुण्णमशेषं च पचति परिणामः ।

परिणामाद्बन्धः मोक्षो जिनक्षासने दिष्टः ॥११४॥

पर्यायों की वर्तनाका कारण होनेके हेय है । आकाश इव्य समवसरण स्वर्ग तथा मोक्ष आदि में अवकाश देनेवाले गुण से युक्त होनेके कारण उपादेय है और नरक निमोक्षादि स्थानों में अवकाश दान देनेके कारण हेय है । मोक्षका कारण होनेसे निदान रहित तीर्थकर प्रकृति नामक सातिशय पुण्ण प्रकृति का आखब उपादेय है और नरकादि गत में पतन का कारण होनेसे अन्य आखब हेय है । तीर्थकर नाम कर्म का हेतु होनेसे चारों प्रकार का बन्ध उपादेय है तथा संसार परिभ्रमण का कारण होनेसे अन्य बन्ध हेय है । संवर उपादेय है । मुनियों की निर्जरा भी उपादेय है, और अनन्त ज्ञानदर्शन आदि चतुष्टयका कारण होनेसे मोक्ष सभी प्रकार से उपादेय है ।]

इस तरह से जब तक यह जीव सात तत्वों की भावना नहीं करता है तथा धर्म ध्यान, शुश्ल ध्यान और अनित्य आदि अनुप्रेक्षा का चिन्तन नहीं करता है तब तक जरा और मरण से रहित स्थानको अर्थात् परम निवाण पदको नहीं प्राप्त होता है ॥११३॥

गाथार्थ—भाव ही समस्त पाप को पञ्चाता है अथवा निर्जीर्ण

२-२. य० अयचन्द्रेष स्वकृत-वचनिकायां 'पयह' स्थाने 'हवह' पाठः स्वीकृतः ।

(पापं पद्म असेसं) पापं पचति अशोषं, सर्वं पापं परिणामः पचति निजात्मति निजात्मपरिणामो भावना निःशेषः पापं दूरीकरोति । उक्तं च—

नाममात्रकथया परामनो भूरिवन्महातपापसंक्षयः ।

ओक्षश्वस्तु तवगताः कुर्वते हि अगतां पति नरम् ॥ १ ॥

(पुण्यमसेसं च पद्म परिणामो) पुण्यं अशोषं सर्वं च सर्वभूषि पचति विस्तार्यति मेलयति, कोऽसी ? परिणामः निजशुद्धवृद्धकस्वभावात्मभावना जिनसम्यक्त्वं च । तथा चोक्तं—

एकापि समर्थेण जिनभवितदुर्गति निवारयितुम् ।

पुण्यानि च पूरयितुं वातुं मुक्तिश्रियं कृतिनः ॥ २ ॥

करता है, भाव ही समस्त पुण्य को पचाता है अर्थात् विस्तीर्ण करता है, जिन-शासनमें भावसे ही बन्ध और भाव से ही मोक्ष कहा गया है ॥ १ १४ ॥

विशेषार्थ—परिणाम का अर्थ भाव है और भावसे निज शुद्ध बुद्धेक-स्वभाव आत्मा की भावना अथवा जिन-सम्यक्त्व का ग्रहण होता है । निज शुद्ध-बुद्धेक-स्वभाव की भावना से सम्यग्दर्शन का बोध होता है भावकी मुख्यतासे कथन करते हुए आचार्य कहते हैं कि भाव ही समस्त पापको पचाता है अर्थात् निजात्मे परिणाम रूप भावना ही समस्त पापको दूर करती है । जैसा कि कहा गया है—

नाममात्र—परमात्माके नाम भाव की कथा से अनेक जन्मों में किये हुए पाप का क्षय हो जाता है फिर परमात्मा-सम्बन्धी ज्ञान आरित्र और श्रद्धा हो तो वे इस मनुष्यको जगत् का नाथ बना देती हैं अर्थात् यह जीव मिद्द पदको प्राप्त हो जाता है ।

परिणाम अर्थात् भाव ही इस जीवके समस्त पुण्यको पचाता है अर्थात् 'विस्तृत करता है' अथवा पुण्य की प्राप्ति करता है । जैसा कि कहा गया है—

एकापि—यह एक जिन-भवित ही दुर्गति का निवारण करने के लिये

१. संस्कृत टीकाकार ने 'पचति का अर्थ' विस्तृत करता है, किया अवश्य है परन्तु वचि विस्तारे वातुका रूप पञ्चयति होता है, पचति नहीं । अतः जो अर्थ 'पापं पचति अशोषं' में लगाया है वही यही भी लगाना चाहिये । अर्थात् पुण्य कर्मकी निजात्मा भी परिणाम से ही होता है ।

सद्बेदशुभायुन्मिगोत्रलक्षणं तीर्थकरनामकमसिवारणपुण्यं परिणामेन्विषेषा-
ज्ञात इत्यर्थः । तथा चोक्तं—

परिणाममेव कारणमाहुः स्वलु पुण्यपापयोनिषुणाः ।

तस्मात्पुण्योपचयः पापापचयश्च सुविषेयः ॥ १ ॥

तथा च समयसारः—

आत्मकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरज्जे ।

स्वयमेव परिणामस्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥ १ ॥

(परिणामाद्वि वंषो) परिणामाद्वबन्धः प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशलक्षणश्चतु-
विषो बन्धः पुण्यसम्बन्धी पापसम्बन्धी च बन्धः संजायते । उक्तं च—

परिणिदिठदिवणुभागप्रदेशबन्धा दु चतुविषो वंषो ।

जोगा परिणिप्रदेशा ठिदिवणुभागा कसायदो होति ॥ १ ॥

समर्थ है, जिन-भक्ति ही पुण्य की पूर्णता करने में समर्थ है और जिन-
भक्ति ही कुशल मनुष्यको दोश लक्षणी प्रहार करने में काली है ।

'सद्बेदशुभायुन्मिगोत्राणि पुण्यम्' इस उल्लेख के अनुसार सातावेद-
नीय शुभ आयुष्मानाम और शुभगोत्र पुण्यकर्म कहलाते हैं, तीर्थकर-
नामकर्म भी असाधारण-लोकोत्तर पुण्यकर्म है इसको प्राप्ति भी परिणाम
अर्थात् भावसे ही होती है । जैसा कि कहा गया है ।

परिणाममेव—निष्क्रय से कुशल मनुष्य पुण्य और पापका कारण
परिणाम-भाव को ही कहते हैं इसलिये पुण्यका संचय और पापका अप-
चय करना चाहिये ।

यही भागम का सार है—

आत्मकृता—आत्मा के द्वारा किये हुए रागादि परिणाम को निमित्त
मात्र पाकर पुद्गल द्रव्य स्वयं ही कर्मरूप परिणम जाते हैं अर्थात् पुद्गल
द्रव्य-कर्मरूप परिणमन करनेमें आत्माका रागादि भाव निमित्तकारण
और पुद्गलद्रव्य स्वर्य उपादान कारण है—

प्रकृति स्थिति अनुभाग और प्रदेश के भेद से बारह प्रकारका अथवा
पुण्य और पापके भेदसे दो प्रकारका बन्ध परिणाम-भावसे ही होता है ।
जैसा कि कहा गया है—

परिणिदिठदिवि—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद से द्वन्द्व
चार प्रकारका होता है । इनमें से प्रकृति और प्रदेशबन्ध योग के

१. पुण्यार्थसिद्धयुपाये ।

(मुख्यो जिणसासाणे दिट्ठो) सोकः सर्वकर्मप्रकाशलक्षणोपलक्षितं परमनिर्बाणं जिनशासने श्रीमद्भगव्यत्सर्वात्मीतरागमशासने निदिष्टः प्रतिपादितः परिणामादेवेति निश्चयः, स मोक्षकारणभूतः परिणाम आत्मन्येकलोलीभाव इति भावार्थः ।

मिच्छत्त तह कसायाऽसंज्ञजोगेहि असुहुलेसेहि ।

बंधइ असुहं कर्म जिणवयणपरम्मुहो जीवो ॥११५॥

मिथ्यात्वं तथा कषाया एहंत्यनेगैरक्षुपलेष्यैः ।

बधाति अशुभं कर्म जिनवचनपराड्मुखो जीवः ॥११५॥

(मिच्छत्त तह कसाया) मिथ्यात्वं पञ्चविधं तथा तेनैव पञ्चप्रकारमिथ्यात्व-प्रकारेण कषाया पञ्चविधिभेदाः । (असंज्ञजोगेहि असुहुलेसेहि) असंयमी द्वादशविधः, योगाः पञ्चदशभेदाः, एवं सप्तपञ्चाशस्कर्मवस्थप्रस्थयाः कारणानि आस्थव-भेदा भवत्तीति संक्षेपार्थः । कदंसूतीरतीरात्कैः, अशुभलेष्यैः कृष्णनीष्कापोमुलेश्या-बलेम संजातैः । (बंधइ असुहं कर्म) बधाति अशुभं कर्म । (जिणवयणपरम्मुहो जीवो) जिनवचनपराड्मुखो जीवो मिथ्यादृष्टिरात्मा ।

के निमित्त से होते हैं और शिथित तथा अनुभाग बन्ध कषाय से होते हैं ।

समरत कर्मोंके क्षयसे ग्रास होने वाला जो परमनिर्बाण है वह भी परिणाम से ही होता है, ऐसा वीतराग सर्वज्ञ देवके शासन में कहा गया है । यहीं परिणाम शब्द से आत्मा में एकलोलीभाव—तन्मयीभावका ग्रहण करना चाहिये क्योंकि ऐसा भाव ही—परम यथाहृष्टात्मारित्र ही मोक्षका साक्षात् कारण है ॥ ११४ ॥

गाथार्थ—जिनवचन से पराड्मुख जीव, मिथ्यात्व, कषाय, असंयम, योग और अशुभ लेश्या के द्वारा अशुभ कर्म का बन्ध करता है ॥११५॥

विशेषार्थ—मिथ्यात्वके पांच भेद हैं, कषाय के पञ्चवीस भेद प्रसिद्ध हैं, असंयम अर्थात् अविरति के बारह भेद हैं और योग के पन्द्रह भेद हैं । ये सब मिलाकर आस्थवके सत्तावन भेद हैं । कषायके उदयसे अनुरक्षित योगोंकी प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं उसके कृष्ण, नील, काषोत, पीत, पर्य और शुक्लके भेदसे ६ भेद होते हैं इनमें प्रारम्भके तीन भेद अशुभ लेश्याएँ हैं । जिनवाणीकी श्रद्धा और ज्ञानसे विमुख हुआ जीव मिथ्यादृष्टि कहलाता है तथा वह ऊपर कहे हुए सत्तावन आस्थवों बथवा कृष्ण नील और काषोत रूप तीन अशुभ लेश्याओं से पापकर्मका बन्ध करता है ॥११५॥

तद्विवरीओ बन्धइ सुहकम्मं भावसुद्दिमावणो ।
तुविहपयारं बन्धइ संखेवेणेव वज्जरियं ॥११६॥

तद्विपरीतः बन्धाति शुभकर्म भावसुद्दिमापन्नः ।

द्विविधप्रचारं बन्धाति संक्षेपेणेव कथितं ॥११६॥

(तं विवरीओ बन्धइ) तस्माक्षिङ्गनवचनपराङ्मुक्तान्मित्यादृष्टिजीवाद्विपरीतः सम्यग्दृष्टिजीवः बन्धाति, कि ? शुभकर्म-पुण्यकर्म संखेवेदशुभायुनामगोत्रलक्षणं तीर्थकरत्वं । कथं भूतो जीवः, (भावसुद्दिमावणो) मावसुद्दिमापन्नः परिणाम-शुद्धि प्राप्तः सम्पूर्णितजीव इत्यर्थः (तुविहपयारं बन्धइ) द्विविधप्रचारं द्वयोर्भेदयोः प्रचारं बन्धाति । (संखेवेणेव वज्जरियं) संक्षेपेणेव कथितं प्रतिपादितम् ।

गाथार्थ—मिथ्यादृष्टिसे विपरीत अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव भावोंकी शुद्धिको प्राप्त होता हुआ शुभकर्मका बन्ध करता है । इस प्रकार यह जीव शुभ-अशुभ दोनों प्रकारके कर्मोंको बौधता है यह संक्षेप से ही कहा है ॥११६॥

विशेषार्थ—ऊपरकी गाथामें जिन-बचनसे पराङ्मुख मिथ्यादृष्टि जीवका कथन किया था, उससे विपरीत जिन-बचनका अद्वालु सम्यग्दृष्टि होता है । सम्यग्दृष्टि जीव भावों की शुद्धिको प्राप्त होता हुआ पुण्य कर्मका बन्ध करता है । सातावेदनीय, शुभायु-शुभनाम और शुभगोत्र तथा तीर्थकर प्रकृति ये पुण्य कर्म हैं । इस प्रकार पुण्य और पाप कर्मके बन्ध करने वालों का संक्षेपसे कथन किया है ॥११६॥

(अथवा इस गाथाका यह भाव ध्वनित होता है कि मिथ्यादृष्टि से विपरीत—सम्यग्दृष्टि जीव तो शुभ कर्म-पुण्य कर्मको बौधता है और भावसुद्धि अर्थात् शुद्धोपयोग को प्राप्त हुआ जीव पुण्य और पाप दोनों प्रकारके कर्मोंके प्रचारको अर्थात् आलब को रोकता है । अशुभोपयोगका धारक जीव पुण्य कर्मका बन्ध करता है, शुभोपयोगका धारक जीव दोनों प्रकारके कर्मोंके प्रचार को रोकता है । यद्यपि म्यारहवें से तेरहवें गुणस्थान तक सातावेदनीय का बन्ध होता है तथापि स्थिति और अनुभाग बन्धसे रहित होनेके कारण वह बन्ध नहीं के बराबर हो है ।)

१. “कथेष्वज्जर-पञ्चर-सम्ब-सास-साह-धद-जप्त-पिसुण-बोलोल्लाला ।” इत्यनेन एतेषु दशादेष्व अवयतेवज्जरादेष्वो जातः ।

ज्ञानावरणावीर्हि य अद्विकम्भेहि वेष्टिको य अहं ।

उहित्तु इष्ट्वा पयद्विमि अणंतणाणाहगुणचित्तां ॥११७॥

ज्ञानावरणादिभिश्च अष्टभिः कर्मभिः वेष्टितश्चाहम् ।

दग्धवेदानीं प्रकटयामि अनन्तज्ञानादिगुणचेतनां ॥११७॥

(ज्ञानावरणावीर्हि य) ज्ञानावरणादिभिश्च ज्ञानावरणमाभियोगां दर्शनावरण-
वेदनीयमोहनीयायुतमिगोक्तान्तरायाणां तानि ज्ञानावरणावीर्हिनि तैङ्गनावरणादिभिः ।
अकारात्मुत्तरप्रकृतिभिरष्टचलार्थविकलातप्रकृतिभिः । तथा उत्तरोत्तरप्रकृतिभिर-
संख्यात्मिरहु वेष्टित इति सम्बन्धः । (अद्विकम्भेहि वेष्टिको य अहं) अष्ट-
भिरपि कर्मभिर्वेष्टितश्चाहं । अपिदादादनन्तामन्तकर्मभिरहु वेष्टितो वर्ते । (उहित्तु
इष्ट्वा पयद्विमि) दग्ध्या भस्मीकृत्य तानि कर्माणि इत्युपस्कारः । इष्ट्वा इदानीं,
प्रकटयामि । (अणंतणाणाहगुणचित्ता) अनन्तज्ञानादिगुणचेतनामिति तात्पर्यम् ॥

शीलसहस्रद्वारस चउरासीगुणगणाण लक्षाहं ।

भावहि अणुदिणि णिन्निलं असत्त्रलापेण किं बहुणा ॥११८॥

शीलसहस्राष्ट्रादश चतुरशीतिगुणगणाणां लक्षाणि ।

भावय अनुदिनं निस्त्रिलं असत्त्रलापेन किं बहुना ॥११८॥

(शीलसहस्रद्वारस) शीलसहस्राष्ट्रादश शीलानां सहस्राणि अष्टादश
भवन्ति तानि त्वं भावयेति सम्बन्धः । (चउरासीगुणगणाण लक्षाहं) चतुर-

गाथार्थ—सम्यक्षानी मुनि विचार करता है कि मैं ज्ञानावरणादि
आठ कर्मोंसे वेष्टित हो रहा हूँ सो अब इन्हें भस्म कर अनन्त ज्ञानादि गुण-
रूप चेतनाको प्रकट करता हूँ ॥११७॥

विद्वांशार्थ—ज्ञानावरण दर्शनावरण वेदनीय मोहनीय आयु नाम गोत्र
और अन्तरायके भेदसे कर्मोंकी मूल प्रकृतियाँ आठ हैं । इनकी उत्तर
प्रकृतियाँ एकसौ अड़तालीस हैं तथा उत्तर प्रकृतियों की उत्तर प्रकृतियाँ
असंख्यात हैं । इन सब कर्मोंसे मैं अनादिकाल से वेष्टित चला आ रहा हूँ
अब अपने पुरुषार्थ से इन्हें भस्म कर मैं अनन्त ज्ञानादि गुणों का स्वामी
बनूँगा, ऐसा सम्यक्षानी जीव विचार करता है ॥११७॥

गाथार्थ—हे मुने ! अत्यधिक असत्त्रलाप करने से क्या लाभ है ?
तू प्रतिदिन शील के अद्वारह हजार तथा उत्तरगुणोंके चौरसी लाल
वेदोंका बारबार चिन्तबन कर ॥११८॥

शीहिंगुणगणानां लक्षाणि । (भावहि अणुदिष्टु गिहिल) भावय अनुदिनं अहूर्जितं
समर्थ । (असप्तलावेण कि बहुणा) असप्तलापेन मिष्टानर्थं कवचनेन बहुना
बहुतरेण कि—न किमपि ।

अष्टादशशीलसहस्राणा विवरणं पथा—अशुभमनोवचनकाययोगः शुभेन
मनसा हन्यन्ते इति श्रीणि शीलानि । अशुभमनोवचनकाय योगा शुभेन वचना
हन्यन्ते इति षट् शीलानि अशुभमनोवचनकाययोगः शुभेन काययोगेन हन्यन्ते
इति नव शीलानि । तानि चतुर्सूभिः संज्ञाभिर्गुणितानि षट्त्रिष्ठाष्ठीलानि भवन्ति ।
तानि पञ्चभिरिन्द्रियजयैर्गुणितानि अक्षीत्यप्रशतं भवन्ति । पृथ्यप्लेजोवायुवनस्पति-
द्वीन्द्रियश्रीग्रियचतुरिन्द्रियपञ्चिन्द्रियसंक्षयसंजिह्याभिर्देशभिर्गुणितानि अष्टादशशास्तानि
भवन्ति । चतुर्सक्षमाविभिर्देशभिर्गुणितानि अष्टादशसहस्राणि भवन्ति । अथवा

विशेषार्थ—आचार्य कहते हैं कि विवरणं पिरस्तार्थं लाभ नहीं । यू
अट्ठारह हजार शौल और चौरासी लाख उत्तरगुणों का चिन्तवन
कर । अब शौलके अट्ठारह हजार भेदों का वर्णन करते हैं—

मन वचन और कायके भेदसे योगके तीन भेद हैं ये तीनों योग शुभ-
अशुभके भेद से दो प्रकारके होते हैं तथा परस्पर में मिश्रित रहते हैं
इसलिये इनके नी भेद हो जाते हैं । जैसे अशुभ मन, वचन, काय योग,
शुभ मनसे धाते जाते हैं इसलिये तीन भेद हुए । फिर वे ही तीन अशुभ
योग, शुभ वचन से धाते जाते हैं इसलिये तीन भेद हुए और फिर वे ही
तीन अशुभ योग, शुभ कायसे धाते जाते हैं इसलिये तीन भेद हुए, सब
मिलाकर योग के ९ भेद हुए [कहीं कहीं कृत कारित अनुमोदना और
मन वचन काय इन तीन योगोंके समिश्रण से शीलके नी भेद सिद्ध किये
हैं] इन नी भेदोंमें चार संज्ञाओंका गुणा करने पर छत्तीस भेद होते
हैं । उन छत्तीस भेदोंमें पाँच इन्द्रिय-जयोंका गुणा करने पर एकसी
अस्सी भेद होते हैं । उनमें पृथिवी-कायिक, जलकायिक, तेजस्कायिक,
वायु-कायिक, वनस्पति-कायिक, द्वीन्द्रिय, श्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, सैनी
पञ्चेन्द्रिय और असैनी पञ्चेन्द्रिय इन दस प्रकारके जीवोंकी दयाके
दस भेदोंका गुणा करने पर अट्ठारहसौ भेद होते हैं । उनमें उत्तम क्षमा
आदि दस धर्मोंका गुणा करने पर अट्ठारह हजार भेद होते हैं ।

अथवा इन अट्ठारह हजार भेदोंमें सतरह हजार थी सौ अस्सी चेतन
सम्बन्धी और सातसौ बीस अचेतन सम्बन्धी भेद हैं । अब अचेतन
सम्बन्धी भेदोंका कथन करते हैं—

अशीत्यग्रहिषताधिकसप्तदशसहस्राणि चेतन्यसम्बन्धीनि भवन्ति विशत्यधिकसप्त-
दशानि अचेतनसम्बन्धीनि भवन्ति । तत्राचेतनकृतभेदाः कथ्यत्से—काष्ठ-पाषाण-
लेप-कृताः स्त्रियो मनःकाष्ठकृतगुणिताः पद् । कृतकारितानुभतगुणिता अष्टादशा ।
स्पर्शादिवंचगुणिता नवतिः । द्रव्यभावगुणिता अशीत्यग्र शतं । कषायैश्वस्तुमि-
गुणिता विशत्यधिकानि सप्तशतानि । चेतन्यसम्बन्धीनि अशीत्यधिकद्विषताप्रसप्त-
दशसहस्राणि, तत्त्वाथ—देवी मानुषी तिरश्ची चेति स्त्रियस्तिलः कृतकारितानुभत-
गुणिता नव भवन्ति । मनोबचनकाष्ठगुणिताः सप्तविशतिभेदवन्ति । स्पर्शरसगन्ध-
वर्णशाढैगुणिताः वच्चिंशदधिकं शतं । द्रव्यभावगुणिताः सप्तत्यधिकद्वेषते ।
आहारभयमैथुनपरिप्रहचतसूसंज्ञाभिगुणिता अशीत्यधिकं सहस्रं । अनन्तानुवन्ध-
प्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलनचतुष्क्षेत्रोडशकषायैगुणिता अशीत्यधिकद्विषताप्रसप्त-
दशसहस्राणि भवन्तीति चेतनसम्बन्धिभेदाः । ७२० + १७२८० = १८००० ।

काष्ठ, पाषाण और लेपसे नियमित होतेके कारण स्त्रियोंके तीन भेद हैं । इन तीन प्रकारकी स्त्रियों में मनोयोग तथा काययोग का गुणा करने पर छह भेद हुए । इन छह भेदोंमें कृत, कारित और अनुमोदनाका गुणा करने पर अट्टारह भेद हुए । इन अट्टारह भेदों में स्पर्श आदि पाँचका गुणा करने पर तब्बे भेद हुए इनमें द्रव्य और भावका गुणा करने पर एकत्सौ अस्सी भेद हुए और इनमें चार कषायोंका गुणा करने पर सात सौ बीस भेद होते हैं ।

आगे चेतनसम्बन्धी सतरह हजार दो सौ अस्सी भेद कहते हैं—

चेतन स्त्रीके देवी, मानुषी और तिरश्चीकी अपेक्षा तीन भेद हैं उनमें
कृत, कारित और अनुमोदना के तीन भेदोंका गुणा करने पर नौ भेद
हुए । उनमें मन, बचन, काय इन तीन योगोंका गुणा करने पर सत्ताईस
भेद हुए, उनमें स्पर्श रस गन्ध वर्ण और शब्द इन पाँचका गुणा करने
पर एकसौ चौंतीस भेद हुए । उनमें द्रव्य और भावकी अपेक्षा दो का गुणा
करने पर दो सौ सत्तर भेद हुए । उनमें आहार, भय, मैथुन और परियह
इन चार संज्ञाओंका गुणा करने पर एक हजार अस्सी भेद हुए । उनमें
अनन्तानुवन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन सम्बन्धी सोलह
कषायोंका गुणा करने पर सत्रह हजार दो सौ अस्सी भेद होते हैं । इस
तरह अचेतन स्त्रोंके ७२० और चेतन स्त्रोंके १७२८०, दोनोंके मिलाकर
१८००० भेद होते हैं ।

‘अथ चतुरशीतिलक्षणगुणा वित्रियन्ते । तथा—हिंसा, अनृत, स्तेवं, मैथुनं, परिग्रहः, कोषः, मानः, माया, लोभः, जुगुप्सा, भयं, अरतिः, रतिः, मनोदुष्टत्वं, वस्त्रदुष्टत्वं, कायदुष्टत्वं, मिष्यात्वं, प्रमाद पिशुनत्वं, अज्ञानं, इन्द्रियानिग्रहत्वं, एकविशतिदोषा वर्जनीयाः । अतिक्रमव्यतिक्रमातिचारानाचारा एते चत्वारो दोषा वर्ज्यन्ते ।

अतिक्रमो मानसशुद्धहानिर्ब्यतिक्रमो यो विषयाभिलाषः ।

तथातिचारः करणालसत्वं भंगो ह्यनाचार इह ब्रतानां ॥१॥

गुणानां चतुरशीतिर्भवति । सा चतुरशीति ^{‘दशकायसंयमैर्गुणी’} जिता चतुरशीतिशतानि भवन्ति । ते दशशीलविराधनैर्गुणी जिताः चतुरशीतिसहस्राणि गुणा भवन्ति । कास्ताः शीलविराधनाः ? स्त्रीसंसर्गः १, सरसाहारः २, सुगन्धसंस्कारः ३, कोमलशयनासनं ४, शरीरमण्डनं ५, गीतवादित्रश्वरणं ६, अर्थंग्रहणं ७,

अब चौरासी लाख उत्तरगुणों का वर्णन करते हैं—

१ हिंसा, २ शूद्र, ३ चोरी, ४ मैथुन, ५ परिग्रह, ६, कोष, ७ मान, ८ माया, ९ लोभ, १० जुगुप्सा, ११ भय, १२ अरति, १३ रति, १४ मनोदुष्टत्व, १५ वस्त्रदुष्टत्व, १६ कायदुष्टत्वा, १७ पिशुनत्व, १८ प्रमाद, १९ पिशुनत्वा, २० अज्ञान और २१ इन्द्रियानिग्रह ये इक्कोस दोष छोड़ने के योग्य हैं । इनकी अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार इन चार दोषों द्वारा प्रवृत्ति होती है अतः इक्कोस में चारका गुणा करने पर चौरासी भेद होते हैं ।

अतिक्रमो—मनको शुद्धिका नष्ट होना अतिक्रम है, विषयोंकी अभिलाषा होना व्यतिक्रम है, क्रियाके करनेमें आलस्य करना अतिचार है और द्रव्योंका भज्ज करना अनाचार है ।

ऊपर कहे चौरासी भेदोंमें दश काय सम्बन्धी, दश संयमो अर्थात् सौ का गुणा करने पर चौरासी सौ भेद होते हैं । उनमें शोलको दश विराधनाओंका गुणा करने पर चौरासी हजार भेद होते हैं ।

प्रश्न—शील की दश विराधनाएँ कौन कौन हैं ?

उत्तर—१ स्त्री संसर्ग, २ सरसाहार, ३ सुगन्धसंस्कार, ४ कोमल शयनासन, ५ शरीर मण्डन, ६ गीत वादित्र श्वरण, ७ अर्थं ग्रहण,

८. दर्ढनप्राभूतस्य नवमगायायः दीकायामपि वर्णनमस्ति ।

९. दशकायसंबमभेदैः पृथिव्याविषत् चौकर्मनासैरित्यर्थः ।

कुशीलसंसर्गः ८, राजसेवा ९, रात्रिसंवरण १० । ते आकम्पितादिशालोचना-परिहृतिभिर्दशभिगुणिताः चत्वारिंशत्सहस्राविकाष्टलक्षणाणि भवन्ति । ते दशभिर्दशः गुणितास्तुरवीतिलक्षा गुणा भवन्ति । अथ दशकायसंयमः के ? एकेन्द्रियादिपञ्चेन्द्रियपर्यन्तानां जीवानां रक्षा प्राणसंयमः पञ्चविषः । स्पर्शनादीनां पञ्चानामिक्षियाणां प्रसरपरिहार इन्द्रियसंयमः पञ्चविषः । एते दशकायसंयमाः ज्ञातव्याः । दशालोचन दोषा यथा —

आकम्पिय अणुमाणिय ज दिठ्ठं बायरं च सुहर्म च ।

छन्नं सद्वाउलयं बहुजणमध्वत्त तस्सेवी ॥१॥

अस्या अयमर्थः—आलोचनां कुर्वन् चारीरे कम्प उत्पद्यते भयं करोतीत्याकम्पितदोषः । अणुमाणिय-अनुमानेन दोषं कथयति पथोक्तं न कथयतीत्यनुमान-

८ कुशील संसर्ग, ९ राजसेवा और १० रात्रि संवरण, ये शोलकी दस विराधनाएँ हैं ।

चौरासी हजार भेदों में आकम्पित आदि आलोचना के दश दोषों के परिहार सम्बन्धी दश भेदोंका गुणा करनेसे आठ लाख चालीस हजार भेद होते हैं तथा इन भेदों में दश धर्मोंका गुणा करने पर चौरासी लाख भेद हो जाते हैं ।

प्रश्न—दश प्रकारका कायसंयम कौन है ?

उत्तर—पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और बनस्पतिकायिक, ये पाँच स्थावर तथा द्वीन्द्रिय, श्रीन्द्रिय, चतुर्न्द्रिय संज्ञि पञ्चेन्द्रिय और असैनी पञ्चेन्द्रिय इन दश कायके जीवोंका दश प्रकारका प्राणि-संयम और दश प्रकारका इन्द्रिय संयम ये दश काय-संयम हैं, इनके परस्पर गुणा करने पर १०० भेद हो जाते हैं ।

प्रश्न—आलोचना के दश दोष कौन हैं ?

उत्तर—आकम्पित, अनुमानित, दृष्ट, बादर, सूक्ष्म, छन्न, शब्दाकुलित, बहुजन, अव्यक्त और तत्सेवो ये आलोचना के दश दोष हैं ।

इनका विवरण इस प्रकार है—

आकम्पित—आलोचना करते समय शरोर में कम्पन होना अर्थात् कहीं अधिक दण्ड न दे दें इस भयसे शरीरका कौपने लग जाना आकम्पित दोष है । अथवा ऐसी दयनीय मुद्रा बनाकर आलोचना करना जिससे आत्माय अपराधी साधुको दुर्बल समझ अधिक दण्ड न दे दें ।

दोषः । जं विद्यु—यस्यापं केनचिद्वृष्टं तत्कथयति, अथज्ञातन्नपि न कथयतीति यद्वृष्टदोषः । बायर च—स्थूलं पापं प्रकाशयति सूक्ष्मं न कथयतीति बादरदोषः । सुहर्मं च—सूक्ष्मं अल्पं पापं प्रकाशयति स्थूलं पापं न प्रकाशयतीति सूक्ष्मदोषः । छन्नं यदा कोऽपि न भवत्याचार्यसमीपे तर्दकान्ते पापं प्रकाशयतीति छन्नदोषः । सदाउलयं यदा वसतिकादी कोलाहलो भवति सदा पापं प्रकाशयतीति शब्दाकुल-दोषः । बहुजणं—यदा बहवः शावकादयो मिलिता भवति तदा पापं प्रकाशयतीति बहुजनदोषः । अव्यक्त—अव्यक्तं प्रकाशयति दोषं स्फुटं न कथयतीत्यव्यक्तदोषः । तत्सेवी—तत्पापं गुर्वग्रे प्रकाशितं तत्सर्वथा न मुंचति पुनरपि तदेव कुरुते स तत्सेवी कथयते । अथवा य आचार्यस्ते दोषं करोति तदग्रे पापं प्रकाशयति निर्दोषाचार्यग्ने पापं न प्रकाशयतीति तत्सेवी दोषः दश धर्मास्तु प्रसिद्धा वर्तन्ते तेन न व्याख्याताः ।

२ अनुमानित—जिसमें मुनि, अनुमान से दोष कहता है यथार्थ नहीं कहता, तह अनुमान योग है ।

३ जो पाप किसी ने देख लिया है उसे ही कहता है अन्यदोषको जानता हुआ भी नहीं कहता है, यह दृष्ट दोष है ।

४ स्थूल पापको कहता है सूक्ष्म पापको नहीं कहता है, यह बादर दोष है ।

५ सूक्ष्म पापको ही कहता है स्थूल को नहीं, यह सूक्ष्म दोष है ।

६ जब आचार्य के पास कोई नहीं होता है तब एकान्त में पापको प्रकट करता है, यह छन्न दोष है ।

७ जिस समय वसतिका आदि में महान् कोलाहल हो रहा हो उस समय दोष कहना शब्दाकुलित दोष है ।

८ जिस समय बहुत से श्रावक आदि इकट्ठे हुए हों उस समय दोष कहना बहुजन दोष है ।

९ अव्यक्त रूप से दोष कहता है स्पष्ट नहीं कहता यह अव्यक्त दोष है ।

१० जो पाप गुरुके आगे प्रकाशित किया है उसे सबे प्रकारसे छोड़ता नहीं बार बार उसे ही करता है यह तत्सेवी दोष है, अथवा जो आचार्य उस दोषका स्वयं सेवन करता हो वह तत्सेवी है । दश धर्म प्रसिद्ध हैं अतः उनका कथन नहीं किया है ॥११८॥

ज्ञायहि धर्मं सुवकं अदृश्वद्वच्च ज्ञानं मुलूण ।

रुदृं ज्ञाइयाइं इमेण जीवेण चिरकालं ॥११९॥

ध्याय धर्मं शुक्लं आत्मं रोद्रं च ध्यानं मुक्त्वा ।

आत्मरोद्रे ध्याते अनेन जीवेन चिरकालम् ॥ ११९ ॥

(ज्ञायहि धर्मं सुवकं) ध्याय—एकाम्रेण चिन्तय । कि ? कर्मताप्तं धर्मं
धर्मादिनपेतं धर्मं । आज्ञापायविपाकसंस्थानलक्षणं चतुर्विधं धर्मं “ध्यानमित्युमास्वा-
मिसूचनात् । तथा श्रीगौतमस्वामिविचनाद्धर्मं ध्यानं दशविधं । तद्धा । अपाय-
विचयः १, उपायविचयः २, विपाकविचयः ३, विरागविचयः ४, लोकविचयः
५, भवविचयः ६, जीवविचयः ७, आज्ञाविचयः ८, संस्थानविचयः ९, संसार-
विचयश्चेति १० । तथा शुक्लध्यानं ध्याय पृथक्त्ववितकंवीचारं १, एकत्ववितकंवी-

गाचार्य—इस जीवने आत्मध्यान तथा रोद्रध्यान चिरकाल से
ध्याये हैं अब इन्हें छोड़कर धर्मध्यान और शुक्लध्यानका चिन्तन
कर ॥११९॥

विज्ञेयार्थ—आत्मध्यान और रोद्रध्यान ये दोनों खोटे ध्यान हैं । यह
जीव इनका चिरकाल से चिन्तन करता आ रहा है । आचार्य कहते हैं
कि मुने ! अब तू आत्म और रोद्र इन दो ध्यानों को छोड़कर धर्मध्यान
और शुक्लध्यान का चिन्तन कर । उमास्वामी के कहे अनुसार धर्म-
ध्यान के आज्ञा-विचय, अपाय विचय, विपाक विचय और संस्थान विचय
ये चार भेद हैं तथा गौतम स्वामी के कहे अनुसार धर्मध्यान के दश भेद
हैं जैसे १ अपाय विचय, २ उपायविचय, ३ विपाकविचय, ४ विराग-
विचय, ५ लोकविचय, ६ भवविचय, ७ जीवविचय, ८ आज्ञाविचय,
९ संस्थानविचय और १० संसार विचय । इनका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार
है—जीवको वर्तमान में दुःख-पूर्ण अवस्था है, इसका विचार करना
अपाय विचय है । इस दुःखसे बचने के उपाय सम्यगदर्शनादिका चिन्तन
करना उपाय विचय है । किस कर्मके उदय से क्या फल मिलता है
ऐसा विचार करना सो विपाकविचय है । रागी जीव सदा दुःख पाता है
तथा राग से ही बन्ध होता है, आत्मा का स्वभाव रागसे रहित है, ऐसा
चिन्तन करना सो विराग विचय है । यह चौदह राजू प्रमाण लोक,
जोवेंसे खंडाखंड भरा हुआ है इसमें एक श्री स्थान ऐसा नहीं जहाँ में

१. “आज्ञापायविग्रहसंस्थानविचयाय धर्मं” इति शुचसूचनात् ।

चारं २, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ३, व्युपरतक्रियानिवति ४ चेति । (अद्वरद्वृच भाण मुक्तूण) बास्त रौद्रं च ध्यानद्वयं मुक्त्वा परित्यज्य । तत्रातेष्यानं चतुर्विधं इष्टविद्योगः १, अनिष्टसंयोगः २, पीडाविद्यतं ३, निदातं चेति ४ । रौद्रध्यानं चतुर्विधं हिसा-

उत्पत्तन न हुआ है इस प्रकार लोकका चिन्तवन करना लोक विचय है । जीवके चतुर्विति रूप भवों का विचार करना सो भवविचय है । जीवों की भिन्न भिन्न जातियोंका चिन्तवन करना सो जीव विचय है । भगवान् वीतराग सर्वज्ञ हैं, अतः उनकी बाणी में असत्यता का कुछ भी कारण नहीं है वह आज्ञा मात्र से ग्राह्य है, ऐसा चिन्तवन करना आज्ञा विचय है । लोक अथवा छहों द्रव्योंकी आकृतिका चिन्तन करना यहाँ स्थान-विचय धर्म ध्यान है तथा पञ्च परावर्तनोंका स्वरूप चिन्तवन करना संसार विचय है ।

शुक्लध्यान के चार मेद हैं—पृथक्त्व वित्तकं वीचार, एकत्व वित्तकं अवीचार, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती और व्युपरतक्रियानिवति जिसमें आगम के किसी पद, बाक्य या अर्थ का तीन योगोंके आलम्बनसे चिन्तन किया जाता है वह पृथक्त्ववित्तकं वीचार नामका शुक्लध्यान है । इस ध्यानमें अर्थ, शब्दजन (शब्द) और योगोंमें संकरण-परिवर्तन होता रहता है तथा यह अष्टम गुणस्थान से प्रारम्भ होकर ध्यारहवें गुणस्थान तक चलता है । जिसमें आगम के किसी पद, बाक्य या अर्थका तीन योगों में से किसी एक योगके आलम्बन से चिन्तन होता है उसे एकत्ववित्तकं शुक्लध्यान कहते हैं । इसमें अर्थ, शब्द और योगोंका संकरण नहीं होता है । जिस पद बाक्य या अर्थ को लेकर जिस योगके द्वारा ध्यान प्रारम्भ किया था उसी-से अन्तमुहूर्त तक चालू रहता है । यह बारहवें गुणस्थान में प्रकट होता है । तेरहवें गुणस्थान के अन्तिम अन्तमुहूर्त में जब मनोयोग और चक्र योग पूर्णरूपसे नष्ट हो चुकते हैं तथा काय योग भी अत्यन्त सूखम दशा में शेष रह जाता है तब सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति नामका शुक्लध्यान प्रकट होता है और चौदहवें गुणस्थान में जब काय योग भी नष्ट हो चुकता है तथा सब प्रकार की हलन चलन रूप क्रियाएँ समाप्त हो जाती हैं तब व्युपरतक्रियानिवति नामका शुक्लध्यान प्रकट होता है । धर्मध्यान परम्परा से और शुक्लध्यान माध्यात् मोक्षका कारण है परन्तु शुक्लध्यान का जो प्रथम पाया उपशम श्रेणीवाले जीवके होता है उसमें मोक्षकी अनिवार्य कारणता नहीं है क्योंकि ऐसा जीव मरण होनेपर स्वर्ग जाता है ।

मन्दः १, अनूरानन्दः २, स्तोयानन्दः ३, संरक्षणानन्दवेति ४ । (बहुदृट् शास्याद्)
रीढ़ाते द्वे ध्याने ध्यातानि (ध्याते) (इमेण जीवेण चिरकाल) इमेन प्रत्यक्षी-
भूतेन जीवेनात्मना चिरकाल अनादिकाल । धर्म्यं गुकलं च ध्यानद्वयं न ध्यातुमिति
भावाद्यः ।

जे के जि दब्बसद्बणा इन्द्रियसुहुआउला ण छिर्वति ।

छिर्वति भावसद्बणा प्राणकुठारेहि भद्रस्त्रखं ॥१२०॥

ये केऽपि द्रव्यश्रवणा इन्द्रियसुखाकुला न छिन्दन्ति ।

छिन्दन्ति भावश्रवणा ध्यानकुठारेण मववृक्षम् ॥१२०॥

(जे के जि दब्बसद्बणा) ये केऽपि द्रव्यश्रवणा; शरीरमात्रेण दिग्म्बरा अन्त-
जिनसम्यक्त्वशून्याः । (इन्द्रियसुहुआउला ण छिर्वति) इन्द्रियाणां स्पर्शनरसनध्याण-
चक्रः योजलकणानां विषयाणां सुखेषु आकुलाः । करा उबोवपरि विवक्षितवनितायाः
पादौ विन्यस्य स्तनकनककलणोपरि करपललवौ विष्वस्य सुखसुम्बनमधुरपानमहं
करिष्यामीति स्पर्शनेन्द्रियसुखलभ्यटाः धृतपानपक्वाननव्यङ्गजनशालयम्बादिस्तवादमहं

आत्मध्यान चार ग्रन्थान्तर है—१ त्रिष्णु, २ गतिष्ठ संवेद,
३ पीडा चिन्तन (वेदना जन्य) और ४ निदान । रीढ़ध्यान के भी चार
मेद हैं—१ हिंसानन्द, २ मृषानन्द, ३ चौथनन्द और ४ संरक्षणानन्द
(परिग्रहानन्द) । इन सबके अर्थ नामसे स्पष्ट हैं तथा पहले इनका विवेचन
ही भी चुका है ॥११९॥

गाथार्थ—जो कोई द्रव्य-श्रमण हैं अर्थात् शरीर मात्र से दिग्म्बर हैं
तथा इन्द्रियसम्बन्धी सुखों से आकुल रहते हैं वे ध्यान रूपी कुठार के
हारा संसार रूपी वृक्षको नहीं छेदते हैं । इसके विपरीत जो भाव श्रमण हैं
तथा इन्द्रिय-सम्बन्धी सुखों से निराकुल हैं वे ध्यानरूपी कुठार से संसार
रूपी वृक्षको छेदते हैं ॥१२०॥

विशेषार्थ—जो मुनि अन्तरङ्ग में जिनसम्यक्त्व से शून्य हैं तथा
स्पर्शन रसना ध्याण चक्रु और धोत्र इन पाँच इन्द्रियों के विषय-सम्बन्धी
सुखोंकी आकुलता में निमग्न रहते हैं । मुनि होनेपर भी पूर्वं संस्कार वश
स्त्रियों के आलिङ्गनादि को इच्छा रखते हैं, घृत, पेय पदार्थ, पक्वान्न,
अथवा धान आदि अनाज के स्वाद की अभिलाषा रखते हैं, कपूर, कस्तूरी,
चन्दन, अगुव तथा फूल आदि की सुगन्धि के सेवन की इच्छा रखते हैं,
स्त्रियोंके सुन्दर अङ्गोपाङ्गों को देखने की अभिलाषा रखते हैं और बोणा-

ग्रहीयामि, कर्पुरकस्तूरीचन्दनं गुरुषुणादिपरिमलपानं विधास्यामि, स्तनजागनवदन-
विलोचनविलोकनं प्रणेष्यामि, वीणावंशस्वरमण्डलनवयोवसकामिनीगीतमिश्रं रबं
श्रीव्यामीति पञ्चेन्द्रियविषयमाकांक्षान् व्याकुलोऽयं जीवो भवति । तत्सर्वं पूर्वमनन्त-
शोऽनुभूतमेव संसारे, न किमपि दुर्लभं वर्तते अन्यथात्मस्वरूपसमुत्पन्नसुखाभूत-
पानात् । तथा खोकत्त—

अदृष्टं कि किमस्पृष्टं किमताद्यात्मशूलं ।
किमनास्त्वादितं येन पुनर्नवयिवेद्यते ॥ १ ॥

तथा खोकत्त—

अङ्गं यद्यपि योवितां प्रविलसत्तावप्यलावप्यवद्
भूषावस्तदपि प्रमोदजनकं भूढारमनां नो सताम् ।
‘उष्ण्युक्तैर्बहुभिः शर्वैरतितरां कोणंश्मशानस्थलं
लक्ष्यता तुष्यति कृष्णकाकनिकरो नो राजहृसवाजः ॥ १ ॥

बौसुरी के स्वर तथा नव योवन से युक्त स्त्रियोंके गीत मिश्रित शब्दोंको
सुनने की मावना रखते हैं वे निरन्तर व्याकुल रहते हैं । पञ्चेन्द्रियों के
ये सब विषय इस जीवने संसार में पहले अनन्त बार भोगे हैं, इन विषयों
में कुछ भी दुर्लभ नहीं है यदि दुर्लभ है तो आत्मस्वरूप से समुत्पन्न सुख
रूपी अमृत का पान करना हो दुर्लभ है । ऐसा कि कहा भी है—

अदृष्टं—इस संसार में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जिसे इस जीवने
पहले न देखा हो, न छुआ हो, न सूंधा हो, न सुना हो और न खाया हो
जिससे नवीनके समान दिखाई दे ।

ऐसा ही और भी कहा है—

अङ्गं—योवन और सौन्दर्य से युक्त स्त्रियोंका अलंकृत शरीर यद्यपि
मूर्ख मनुष्यों के लिये आनन्द उत्पन्न करने वाला है तथापि सत्पुरुषों के
लिये नहीं । क्योंकि सूजकर फूले हुए बहुत से मुद्दोंसे अस्पन्त व्याप्त
श्मशान को पाकर काले कोओं का समूह ही संतुष्ट होता है, राजहृसोंका
समूह नहीं ।

तथा च—

समसुखशीलितमनसामणनमपि हेषमेति किमु कामः ।

स्थलमनि वहति भवाणां किमङ्ग । पुनरङ्गमङ्गाराः ॥ १ ॥

इत्यमृतचंद्रः । तथा च शुभचंद्रभगवान्—

वरमालिङ्गिता कुद्धा चकल्लोलान् सर्पिणी ।

न पुनः कीरुकेनापि नारी नरकपद्धतिः ॥ १ ॥

तथा च शुभचंद्रः—

मालतीव मूरुन्यासां विद्धि चाङ्गानि योषितां ।

दारयिष्यन्ति भर्माणि विषाके ज्ञास्यसि स्वयं ॥ १ ॥

कामः कुण्डिकुलाकीर्णे करःहै शुक्ले अलिङ्ग ।

यथा तद्वद्वराकोऽयं कामी स्त्रीयुत्यमन्थने ॥ २ ॥

तथा च सोमदेवस्वामो चूणिशब्देन वैराग्यभावनामाह—

युवजनमृगाणां वस्त्रायानाय इव बनितासु कुलालकलाएः । पुनर्जीवयहीरहारोह-

और भी कहा है—

समसुल—जिनका मन समता सुखसे सम्पन्न है उन्हें भोजन भी द्वेष-
को प्राप्त होता है तब काम भोगोंकी बात ही क्या है ? मछलियों के लिये
जब स्थल भी जलाता है तब अङ्गारों की क्या बात है ?

यह अमृतचन्द्र स्वामी का बचन है ।

इसी प्रकार शुभचंद्र भगवान् ने भी कहा है—

वरमालिङ्गिता—कुद्ध एवं चञ्चल नारिन का आलिङ्गन कर लेना
अच्छा परन्तु कौतुक से भी स्त्रीका आलिङ्गन करना अच्छा नहीं है क्योंकि
वह नरक का मार्ग है ।

और भी शुभचंद्र भगवान् ने कहा है—

मालतीव—इन स्त्रियों के शरीर को तू मालती के समान कोमल
मानता है सो भले ही मानता रह परन्तु ये विषाक काल में तेरे मर्म को
विदीर्घ कर देंगे, यह तू स्वयं जात जायगा ।

काम—जिस प्रकार कीबा कीड़ों के समूह से व्याप्त तर पञ्जर में
प्रीति करता है उसी प्रकार यह वेष्वारा कामी मनुष्य स्त्रीके गुह्य भागके
मन्थन में प्रीति करता है ।

इसी प्रकार सोमदेव स्वामीने चूणि गद्य द्वारा वैराग्य भावना का
बणीन किया है—

युवजन—स्त्रियों के शरीर में जो केशोंका समूह है वह तस्य मनुष्य

गोपाय इव भूलतोरुलासः । संसारसागरपरिभ्रमाय नौयुगमिव लोचनयुग लः ।
दुःखाटवीविनिपातकरमिव वाचि माधुर्यं । मृत्युगणप्रलोभनकवल इवायमधरपलबः ।
स्पर्शविद्यकल्पदेव इव पथोधरविनिवेशः । यमपाशवेष्टनमिव भुजलतालिङ्गनः ।
उत्पत्तिवरामरणवर्त्मेव बलीनो त्रयं । आलंभनकुण्डमिव नाभिमण्डलः । अस्तिल-
गुणविलोपनवरेखेव रोमराजीविनिर्गमः । कालव्यालनिवासभूमिरिव वेष्टलास्थानं ।
व्यसनागमनतोरणमिक्षिनिमणिं । अदि च—

भूर्भुनुदृष्टयो वाणादित्रशूलं च बलित्रयम् ।
हृदयं कर्तरी यासां ताः कर्थं न नु चण्डकाः ॥ १ ॥
गुणग्रामविलोपेषु साक्षात् नीतयः स्त्रियः ।
स्वगपिवर्गमार्गस्य निसर्गदर्गला इव ॥ २ ॥
गूढकीटो यथा गूढे रति कुष्ठत एव हि ।
तथा स्थमेष्यसंजातः कामी स्त्रीविष्टुतो भवेत् ॥ ३ ॥

रूपी मृगों को बौधने के लिये मानों जाल ही है । अकुटीरूपी लता का जो उल्लास है वह पुनर्जन्म रूपी वृक्ष पर चढ़ने के लिये मानों उपाय ही है । नेत्र युगल संमार रूपी सागर में घुमाने के लिये मानों दो नौकाएँ ही हैं । वचनों की मधुरता मानों दुःख रूपी अटवी में गिराने का एक साधन ही है । स्त्रियोंका यह अधर पलबल मृत्यु रूपी हाथी को लुभाने के लिये मानों ग्रास ही है । स्तन मण्डल स्पर्श विष (जिसके छूनेके साथ ही मृत्यु हो जाय, ऐसा विष) के कन्दका मानों प्रादुर्भाव ही है । भुजलता का आलिङ्गन मानों यमराजका पाश वेष्टन ही ही अर्थात् बौधने की रस्सी (लेज) ही ही । नाभिके नीचे विष्टमान तीन रेखा रूप बलित्रय मानों अन्म जरा और मरण का मार्ग ही हो । नाभिमण्डल मानों हत्याका कुण्ड ही ही । रोमराजी की उत्पत्ति मानों समस्त गुणों को नष्ट करने के लिये नख को रेखा ही है । नितम्ब मण्डल मानों यम रूपी सर्प की निवास भूमि ही है और जाँघों की रचना मानों दुःखोंके आगमन के लिये निर्मित तोरण ही है । और भी कहा है—

भूष्ठु—जिनकी भौंह धनुष है, दृष्टि बाण है, बलित्रय त्रिशूल है और हृदय कंची है वे स्त्रियाँ चण्डिका कैसे नहीं हैं अर्थात् अवश्य हैं ।

गुणप्राम—स्त्रियाँ गुणोंके समूह को लुप्त करने के लिये साक्षात् दुर्नीति स्वरूप हैं और स्वर्ग तथा मोक्षके मार्गको रोकने के लिये आर्गल हैं ।

गूढकीटो—जिस प्रकार विष्टा का कीड़ा विष्टा में ही प्रीति करता

एवमिन्द्रियसुकूला इन्द्रियसुखविहृला न छिन्दन्ति भववृक्षमिति सम्बन्धः । (छिन्दति भावशब्दणा) छिन्दन्ति द्विषाकुर्वन्ति सम्बद्धयन्ति भववृक्षमिति सम्बन्धः । के छिन्दन्ति ? भावशब्दणः जिनसम्बन्धत्वरत्नमण्डितहृदयस्यलः । (आणकुडारेण अवरुक्षं) आनं हस्याणानं शुक्लध्याणं च ततोऽ कुठारः कुठान् वृजान् इयति गृहणातीति कुठारः, ध्यानमेव कुठारो ध्यानकुडारः कमंतरस्कन्धविदारणत्वात् । भववृक्षं संसारतरुमिति शेषः ।

जह दीपो गदभहरे मारुथवाहाविवज्जितो जलइ ।

तह रायानिलरहितो आणवईवो यि पञ्जलई ॥१२१॥

यथा दीपः गर्भगृहे मारुतबाधाविवजितो ज्वलति ।

तथा रायानिलरहितो ध्यानप्रदीपोऽपि प्रज्वलति ॥१२१॥

(जह दीपो गदभहरे) यथा दीपो ज्योतिः गर्भगृहेऽपवरके स्थितः सन् । (मारुथवाहाविवज्जितो जलइ) मारुतस्य सम्बन्धिनी मारुतोत्पन्ना वायोः संजाता, वासा प्रचलाचिःकरणलक्षणा पीडा तस्या विवजितो ज्वलति ज्वलनक्रिया कुचणि उद्योत करोति । (तह रायानिलरहितो) तथा रायानिलरहितो वनितालिङगनादि-श्रीतिलक्षणरायानिलरहितो रायाङ्गावासविवजितो मुनेष्यानप्रदीपः प्रज्वलति-उद्योत करोति । उक्तं च—

है उसी प्रकार स्त्री के अपवित्र स्थान-योनि से उत्पन्न हुआ कामी पुरुष स्त्री के अमेघ्य स्थान में ग्रीति करता है ।

इस तरह जो मुनि इन्द्रिय सुख से विहृल हैं वे संसार रूपी वृक्षको नहीं छेदते हैं । किन्तु जो भावशब्दण हैं जिनका हृदय सम्बन्धत्वरूपी रत्नसे अलंकृत है वे धर्मध्यान और शुक्लध्यान रूपी कुठार से संसार रूपी वृक्ष को छेदते हैं ।

गायाचर्य—जिस प्रकार गर्भ गृहमें स्थित दीपक वायु की बाधा से रहित होकर प्रज्वलित होता रहता है उसी प्रकार राग-रूपी वायु से रहित ध्यान-रूपी दीपक भी प्रज्वलित होता रहता है ॥१२१॥

विशेषाचर्य—जिस घरमें वायु का संचार नहीं होता है उसमें दीपक की लौ स्थिर होकर जलती रहती है । उसी प्रकार जिस मुनिके हृदय में राग रूपी वायुका प्रवेश नहीं होता उसमें ध्यान रूपी दीपक अच्छी तरह प्रज्वलित रहता है । इसलिये है मुने ! अपने हृदय को राग रूपी झासा वापुसे बचाओ । कहा भी है—

असु हिरण्यक्षो हियवद्द तामु न वंभु विचारि ।
एकहि केम सर्वति वह ! वे लंडा पडियार ॥ १ ॥

उत्तर च—

बृष्टधाकुलश्चच्छमहज्ञशावातः प्रकीर्तिः ।
ज्ञायहि पञ्च वि गुरवे भंगलच्चउसरणलोयपरियरिए ।
णरसुरखेयरमहिए आराहणणायगे वीरे ॥१२२॥
ध्याय पञ्चापि गुरुन् मञ्जलचतुःशरणलोकपरिकरितान् ।
नरसुरखेचरमहितान् आराधनानायकान् वीरान् ॥१२२॥

(ज्ञायहि पञ्च वि गुरवे) ध्याय त्वं है मूने ! है आत्मन् ! पञ्चापि अहंस्तिद्वा-
चार्योपाध्यायसर्वसाधून् पञ्चपरमेष्ठिनः कर्णभूतान् पञ्चापि गुरुन्, (मंगलचत्सरण-
लोयपरियरिए) मंगललोकोत्तमशरणभूतानित्यर्थः । मलं पापे गालयन्ति मूलादुन्मूल-
यन्ति निमूलकाष कष्टतीति मंगलं । अथवा संगं सुखं परमानन्दलक्षणं लक्षित-
दृष्टीति मंगलं । एसे पञ्चपरमेष्ठिनो मंगलमित्युच्यते । लोकेषु भूमूर्द्धः स्वलंकाशेषु
उत्तमा उत्कृष्टा लोकेतमाः । एते पञ्चगुरवः सर्वेऽप्योऽपि वर्या उच्यन्ते । तथा

असु—जिसके हृदय पट में मूगमयनी विद्यमान है उसके हृदय में
जहाँचर्य का विचार नहीं रह सकता क्योंकि अरे मूर्ख ! एक म्यान में दो
तलबारे नहीं रहती हैं ।

ज्ञानशावायुका लक्षण कोषकारों ने कहा है—

बृष्टधाकुल—वषकि साथ जो तेज वायु चलती है उसे ज्ञानशावायु
कहते हैं । यही आचार्य ने रागको ज्ञानशावायु की उपमा दी है ।

गाथार्थ—हे आत्मन् ! तू उन पौचों परमेष्ठियों का ध्यान कर ओ
चार मञ्जूल, चार शरण और चार लोकोत्तम रूप हैं, मनुष्य देव और
विद्याधरों से पूजित हैं, आराधनाओं के स्वामी हैं तथा कर्म रूप शत्रुओं
को नष्ट करने में दीर हैं ॥१२२॥

जिशेषार्थ—अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु ये पौच
परमेष्ठी हैं । ये ही पौच गुरु कहलाते हैं । ये सब मञ्जूल रूप हैं, लोकोत्तम
रूप हैं और शरणभूत हैं । जो मम् अर्थात् पापको गला दे, उसाड़ कर नष्ट कर दे, वह मञ्जूल है अथवा जो मञ्जू अर्थात् परमानन्द
रूप सुखको देके वह मञ्जूल है । पञ्च परमेष्ठी इन दोनों लक्षणोंसे
मञ्जूल रूप हैं । ये पञ्चपरमेष्ठी अधोलोक व मध्यलोक तथा ऊर्जलोक

शरण-अतिमयनसमर्था इमे पञ्चगुरुको जीवानां शरणं प्रतिपाद्यन्ते, चउसरण-शब्देनाभी, अहंमंगलं अहंल्लोकोत्तमाः अहंच्छरणं । सिद्धमंगलं सिद्धलोकोत्तमा सिद्धशरणं । साधुमंगलं साधुलोकोत्तमाः साधुशरणं । साधुशब्देनाचार्योपाध्याय-सर्वसाधको लम्फन्ते । तथा केवलिप्रणीतधर्ममंगलं धर्मलोकोत्तमाः धर्मशरणं चेति द्वादशमंत्राः सूचिताः चतुरशब्देनेति ज्ञातव्यं । एते द्वादशमंत्राः प्रणवपूर्वमाया-बीजबहुषुकुत्वीजाक्षरपूर्वी ललाटपट्टे गोक्षीरवर्णी लिखिताशिष्ठत्यन्ते तदा चोक्ता—

वेदद्वन्द्वे श्रवणयुगले नासिकाद्वे ललाटे
पञ्च नाभी शिरसि हृष्टे तालुके भूयुगान्ते ।
व्यानस्थानाम्यमलभतिभिः कीर्तितान्यत्र ऐहे
तेष्वेकस्मिन् विगतविषयं चित्तमालम्बनीयम् ॥१॥

इन तीनों लोकों में उत्तम अर्थात् उत्कृष्ट हैं । इसलिये लोकोत्तम कहलाते हैं । तथा बीवोंकी पीड़ा के नष्ट करने में समर्थ हैं इसलिये शरण कहे जाते हैं । आचार्यों ने पञ्च परमेष्ठियोंका निम्नलिखित बारह मन्त्रों में समावेश किया है—

१ अहंमङ्गलम्, २ अहंल्लोकोत्तमा, ३ अहंच्छरणम्, ४ सिद्ध-मङ्गलम्, ५ सिद्ध-लोकोत्तमा, ६ सिद्ध-शरणम्, ७ साधु मङ्गलं, ८ साधु-लोकोत्तमाः, ९ साधुशरणम्, १० केवलिप्रणीत धर्ममङ्गलं, ११ धर्म-लोकोत्तमाः, १२ धर्म-शरणम् । इन बारह मन्त्रों का चत्तारि दण्डक के साथ निम्न प्रकार पाठ होता है—

‘चत्तारिमङ्गलं अरहृता मङ्गलं सिद्धा मङ्गलं साहू मंगलं केवलि पण्णतो धर्मो मंगलं । चत्तारि लोगुतमा अरहृता लोगुतमा सिद्धालोगुतमा साहूलोगुतमा केवलिपण्णतो धर्मो लोगुतमो । चत्तारि सरणं पवज्जामि अरहृते सरणं पवज्जामि सिद्धे सरणं पवज्जामि साहूसरणं पवज्जामि केवलि पण्णते धर्मं सरणं पवज्जामि’ ।

इस मन्त्रों में साधु शब्द से आचार्य उपाध्याय और सर्वसाधुका ग्रहण होता है । इन मन्त्रोंको प्रणव बीज अर्थात् अ३, माया बीज अर्थात् ह्रौं और ऋद्धशुत बीज अर्थात् श्रीम् इन बीजाक्षरों के साथ गायके दूधके समान सफेद वर्ण द्वारा ललाट तट में लिख कर व्याया जाता है । जेसा कि कहा गया है—

नेत्रद्वन्द्वे—निर्मल बुद्धिके धारक आचार्योंने इस शरीर में नेत्र युगल, कर्णयुगल, नासिका का अग्रभाग, ललाट, मुख, नाभि, शिर, हृदय, तालु

लोयपरिथरिए— लोकोत्तममन्तसहितानित्यर्थः । तथा चानादिसिद्धसंबोगुरुपदेशान्ममत्यः । सूरिणा तु सूरिमन्त्रः तिळकमन्त्रो बृहल्लभुष्टव निषगुरुसमीपानुपदेशास् व्याप्तव्य इति भावार्थः । (परसुरखेयरमहिए) कथंभूतान् पञ्चगुरुन्, नरसुरखेचरमहितान् नरणां नृपादीनां, सुरणां सौषमेन्द्रादीनां, खेचरणां विद्वावरखकवतिनां, महितान् अष्टविष्पूजाइव्यभविष्पूजाभिष्वष्टव पूजितान् । पुनः कथंभूतान् पञ्चगुरुन्, (आराहणाणायगे) आराधनाया नायकान् स्वामिन् इत्यर्थः । (वीरे) वीरान् कर्मणशुक्षयकरणसमर्था निति भावार्थः ।

णाणमयविमलसीयलसलिलं पाञ्चण भविय भावेण ।

दाहिजरमरणवेधणडाहविमुक्ता सिद्धा होति ॥१२३॥

ज्ञानमयविमलशोतलसलिलं प्राप्य भव्या भवेत् ।

व्याधिजरामरणवेदनादाहविमुक्ताः शिवा भवन्ति ॥

(ज्ञानमयविमलसीयलसलिल) ज्ञानेन निवृत्तं ज्ञानमयं सम्यग्भानयेव विमलकर्ममलकलंकरहितं शीतलं परमालहादलक्षणसुखोत्पादकं एतद्विशेषज्ञवयविलिप्तं

और भ्रकुटियुगल का अन्त भाग ये ध्यान के स्थान कहे हैं। इनमें से किसी एक स्थान में दूसरी ओरसे हटाकर चित्त को लगाना चाहिये।

इन मन्त्रोंके साथ अनादि सिद्ध मन्त्रको गुरुउपदेश से ज्ञानकर उसका ध्यान करना चाहिये। इसी तरह सूरिमन्त्र और छोटा बड़ा तिळक मन्त्र निज गुरुके पाससे प्राप्त कर उसका भी ध्यान करना चाहिये। ये पाँचों परमेष्ठो मनुष्य देव और विद्याधर राजाओं के द्वारा पूजा की आठ द्रव्यों और भाव पूजा के द्वारा पूजित हैं। चतुर्विध आराधना के नायक हैं और कर्म रूप शत्रुओंका क्षय करने में समर्थ हैं ॥१२३॥

गाथार्थ—भव्य जीव, ज्ञानरूपी निर्मल जलको प्राप्त कर जिन भक्तिके प्रभावसे जरा और मरण रूप रोगकी वेदना तथा दाहसे मुक्त होते हुए सिद्ध हो जाते हैं ॥१२३॥

विशेषार्थ—जो रत्नश्रयको प्राप्त करनेकी योग्यता रखते हैं वे भव्य कहलाते हैं। ऐसे भव्य जीव, भाव भवति जिन भक्ति अथवा जिन सम्यकत्व से ज्ञान रूपी निर्मल-रागादि कर्ममल कलङ्कसे रहित और शीतल—परमालहाद रूप सुखके उत्पादक जलको प्राप्तकर व्याधिरूप जरा मरणको वेदना तथा दाहसे मुक्त होते हुए सिद्ध हो जाते हैं। यथार्थ में सम्प्रकृत्व रूपी लक्ष्मी सब सुखको देनेवाली है जैसा कि कहा गया है—

सलिल जलभिति रूपकं । (पाञ्च) ज्ञानपानीयं प्राप्य लक्ष्या । के ते, (मविव) रसनव्ययोग्याः भव्यजीवाः (भावेण) भावेन जिभभक्ष्या । उक्तं च—

‘सुखमतु सुखभूमिः कामिनं कामिनीव
सुतमिव जननी वां शुद्धशीला भुनक्तु ।
कुलमिव सुष्ठुभूषा कन्यका सपुत्रीता-
जिजनपतिपदपद्मप्रेक्षिणी दृष्टिलक्ष्मीः ॥१॥

(वाहिजरमरणवेयण डाहुकिसुक्का सिवा होति) उद्याविजरामरणवेदनामाह-
विमुभताः शिवा भवति । ज्ञानजलं वीत्वा ज्ञानजलमाकर्ण्य तन्मध्ये ब्रह्मित्वा तदक-
गाहु परममंगलभूताः शिवा सिद्धा भवति । इति सम्यग्ज्ञानमाहात्म्यं भगवता
श्रीकृष्णकुन्द्राचार्येण सूरिणोदमानित भवतीति भावार्थः ।

जहु वीयमिम य दह्दे ण वि रोहइ अंकुरो य महिवीढे ।

लह कम्मदीयदह्दे भवकुरो भावसवणाणं ॥१२४॥

यथा बीजे दर्थे नैव रोहति अंकुरश्च महीपीढे ।

तथा कर्मबीजे दर्थे भवकुरो भावश्ववणानां ॥१२४॥

(वह वीयमिम य दह्दे) यथा येमप्रकारेण बीजे दर्थे भस्मीहते । (य वि रोहइ
अंकुरो य महिवीढे) नापि नैव रोहति प्रादुर्भवति । कोऽसौ ? अंकुरः अभिनव

सुखफ्तु—जिस प्रकार सुखकी भूमि स्त्री कामो पुरुषको सुखी करती
है उसो प्रकार सुखकी भूमि तथा (जनेन्द्र भगवान्) के चरण कमलोंको
बबलोकन करने वाली सम्यग्दर्शन रूपी लक्ष्मी भुजे सुखी करे । जिस
प्रकार शुद्ध शोल तत्से युक्त माता पुत्रकी रक्षा करती है उसी प्रकार
निरतिवार शोलवतों से युक्त सम्यग्दर्शन रूपी लक्ष्मी मेरी रक्षा करे
और जिस प्रकार गुण रूपी आभूषणों से युक्त कन्या कुलका पवित्र करती
है उसो प्रकार मूलगुण रूपी आभूषणोंसे सुशोभित सम्यग्दर्शन रूपी लक्ष्मी
मुझे पवित्र करे । ज्ञान जल को पोकर, ज्ञान जलको सु। कर और ज्ञान
जलमें छूबकर भव्य जोव शिव-परममङ्गल-भूत-सिद्ध होते हैं । इस प्रकार
भगवान् कुन्दकुन्द आचार्यने सम्यग्ज्ञानका माहात्म्य प्रकट किया
है ॥ १२३ ॥

गायत्र्य—जिस प्रकार बीजके जल जानेपर पृथिवी पर नया अंकुर
उत्पन्न नहीं होता है उसी प्रकार कर्म रूपी बीजके जल जाने पर भाव
मूनिके संसार रूपी अंकुर उत्पन्न नहीं होता ॥१२४॥

संविभक्तं उच्चिद्, महीपीठे सुमितले । प्रकार उक्तसमुच्चयार्थः, तेभ रागदेष-
मोहादयो भावकर्मशास्त्रादयोऽपि न रोहति । (तह कर्मवीयदद्वे) तथा कर्मवीजे
दद्वे भस्मीकृते । (भवेकुरो भावसबणाणे) भवान्तुरः संसाराकुरो जन्मलभवेत् नापि
रोहति न प्रादुर्भवति । केषां, भावसबणाणं सम्यग्दृष्टिनिरस्वराणां दुर्लक्ष्यपरमात्म-
भावनाभावितानां भेदज्ञानवतां । उक्तं च—

दुर्लक्ष्यं जयति परं ज्योतिर्बिंचां गणः कर्मीन्द्राषां ।

जलसिव वज्रे यस्मिन्नलभवमध्यो बहिलृठति ॥१॥

भावसबणो यि पावहु सुक्षमाहु दुहाई दम्बसबणो य ।

इय णाउं गुणदोषे भावेण य संजुदो होइ ॥१२५॥

भावश्रवणोपि प्राप्नोति सुखानि दुःखानि द्रष्टव्यश्रवणश्च ।

इति ज्ञात्वा गुणदोषान् भावेन च संयुतो भव ॥१२५॥

विशेषार्थ—भाव मुनियोंकी महिमा बतलाते हुए कुन्दकुन्द स्वामी
कहते हैं कि जिस प्रकार बोजके भस्म हो जाने पर पृथिवी के पृष्ठ
पर नवोन अंकुर उत्पन्न नहीं होता है उसी प्रकार कर्म रूपी बोजके
भस्म हो जाने पर भाव मुनियोंके अर्थात् सम्यक्तव सहित दिग्म्बर
मुद्राके धारक अथवा बड़ी कठिनाई से लक्ष्यमें आने वाले परमात्मा की
भावनासे सहित भेद-विज्ञानी मुनियोंके संसाररूपी अंकुर उत्पन्न नहीं
होता अर्थात् उन्हें फिर जन्म धारण नहीं करता पड़ता वे नियम से सिद्ध
हो जाते हैं । यथार्थ में परमात्मा की भावना अस्यन्त दुर्लक्ष्य है जैसा कि
कहा भी है—

दुर्लक्ष्य—वह दुर्लक्ष्य परम ज्योति जयवत्त रहे जिसमें बड़े-बड़े
कवियोंके वचनों का समूह वज्र में जलकी तरह भीतर प्रवेश न पाकर
बाहर ही लौटता रहता है ।

इस गाथामें अंकुरो य के साथ ओ प्रकार दिया है वह समुच्चयार्थक
है अतः उससे यह अर्थ सूचित किया है कि द्रव्यकर्मरूपी बोजके भस्म
हो जाने पर रागदेष मोह आदि भाव-कर्मको शास्त्र-प्रशास्त्रादै भी नहीं
उत्पन्न होती है ॥१२४॥

गाथार्थ—भाव श्रमण-सम्यग्दृष्टि मुनि सुखोंको प्राप्त होता है और
द्रव्य श्रमण मिथ्यादृष्टि मुनि दुःखोंको प्राप्त करता है इस प्रकार दोनोंके
गुण और दोषोंको जानकर भाव संयुक्त होओ ॥१२५॥

(भावसवणो वि पावइ) भावश्वरणः सम्यद्विष्टिदिग्म्बरोऽपि निष्ठयेन प्राप्नोति लभते । कानि प्राप्नोति (सुमलाइ) निजात्मोत्थपरमानन्दलक्षणनिराकुलतासहितपरमानन्दसौख्यानि (दुहाई दब्दसवणो य) प्राप्नोतीति दीप्तकोषोत्तात् दुःखानि शारीरमानसागन्तुकलक्षणोपलक्षितान्यसातानि द्रव्यश्वरणो मिद्याद्विष्टिदिग्म्बरः प्राप्नोति । च शब्दादगृहस्थोऽपि सावद्वासंयुक्तो दानपूजास्तपनरहितः पर्याप्तदासात्महते गृहस्थिता भूर्हस्थिता दक्षेन्द्रियधी व्रतातिचारभरनपुण्यरात्रो दूरभव्यतया गुह्यचरणनिन्दक आत्महितो न भवति । लोकस्तु महापापी जिनप्रतिमान्देदको नारको भवति । तथा जानत—

‘सर्वं धर्ममयं क्वचित्क्वचिदपि प्रायेण पापात्मकं
क्षाप्तयेतद्दृश्यन्ते करोति चरितं प्रजाधनानामपि ।
तस्मादेतदिहान्धरज्जुवलनं स्नानं गजस्थांश्वा
भस्तोमत्विचेष्टितं न हि हितो गेहाश्रमः सर्वथा ॥ १ ॥

विशेषार्थ—जो भाव श्रमण है अर्थात् जिसने सम्यगदर्शन के साथ दिग्म्बर मुद्रा धारण को है वह निज आत्मासे उत्पन्न परमानन्द रूप निराकुलता से युक्त उत्कृष्ट अनन्त सुखोंको प्राप्त होता है और जो द्रव्य श्रमण है अर्थात् मिद्यात्व सहित दिग्म्बर मुद्राको धारण करने वाला है वह शारीरिक, मानसिक और आगन्तुक दुःखों को प्राप्त होता है ।

‘दब्द सवणो य’ यहीं जो ‘च’ शब्द दिया है उससे सूचित होता है कि जो गृहस्थ भो सावद्य—पाप-पूणे कायोंसि सहित है, दानपूजा और अभिषेक से रहित है, पर्वके दिन उपवास करने में कायर है, सर्वथा निर्मल तो दूर रहा चल मलिन और अङ्गहीन सम्यक्त्व से भी रहित है, व्रतों में अतिचार लगने से जिसका पुण्य रूपी पैर भग्न हो गया है और दूर भव्य होने से जो गुरु चरणों की निन्दा करता है वह आत्म-हितकारी नहीं है । जिन प्रतिमा का खण्डन करने वाला लोक महापापी है और इस महापापके फलस्वरूप मरकर नरक गतिका पत्र होता है । गृहस्थाश्रम की निन्दा करते हुए कहा गया है—

सर्वं धर्ममयं—गृहस्थाश्रम में निर्बुद्धि मनुष्यों की बात जाने दो किन्तु प्रजारूपी धनके धारक बुद्धिमात् मनुष्यों का भी समस्त चरित्र कहीं तो धर्ममय होता है, कहीं पापमय होता है और कहीं उभय रूप होता

(हय णाउं गुणदोसे) इति ज्ञात्वा गुणदोषान् । (भावेण य संजुदो होह) भावेन जिमभक्तिनिजात्मभावनार्थं च गुणरेणुं रजितभालस्यः संयुतो भव । एवं सति शं सुल्लं तेन युक्तो भव हे मुमे ! हे जो देवि सम्बोधनं ।

तित्थयरगणहराइ अङ्गभुदयपरं पराइ सोकखाइ ।

पावर्ति भावसहिया संखेवि जिणेहि वज्जरियं ॥१२६॥

तीर्थकरणाधरादोनि अङ्गभुदयपरम्पराणि सौख्यानि ।

प्राप्नुवन्ति भावसहिताः संखेषेन जिनेः कथितं ॥१२६॥

(तित्थयरगणहराइ) तीर्थकरणाधरादोनि सौख्यानोति सम्बन्धः । तीर्थकरणां धर्मोपदेशकाले तीर्थकराः कमलोपरि पादो न्यस्यन्ति, अशोकवृक्षचङ्गायायामुणविश्वाति, तेषामुपरि ह्रादशयोजनमभिव्याप्य देवाः पुण्यवर्णं विरचयन्ति, तानि

हैं । इसलिये गृहस्थों का चरित्र अन्धे पुरुषको रस्सी बटने के समान है अथवा हाथोंके स्नानके समान है अथवा नशा में मस्त या पागल मनुष्य को चेष्टाके समान है । यथार्थ में गृहस्थाध्यम सर्वथा हितकारी नहीं है ।

इस प्रकार गुण और दोषों को जानकर हे मुने ! तू भावसे संयुक्त हो अर्थात् जिन-भक्ति और निज आत्माकी भावनासे सहित होता हुआ पञ्च गुरुओं की चरणरज से अपने ललाटतट को सुशोभित कर । ऐसा करने से ही तू धृयुक्त अर्थात् सुखसे सहित हो सकेगा ॥१२५॥

गाथार्थ—भाव सहित मुनि, तीर्थकर और गणधर आदिके अङ्गभुदयों की परम्परा रूप अनेक सुखोंको प्राप्त होता है ऐसा संखेष से जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है ॥१२६॥

जिनकी हृदय-स्थली सम्यक्त्व रूपी चिन्तामणि से अलंकृत है ऐसे भाव मुनि तीर्थकर और गणधर आदिके सुखोंको प्राप्त होते हैं । धर्मोपदेश के समय तीर्थकर कमलों के ऊपर पैर रखते हैं,^१ अशोक वृक्षकी छाया में विराजमान होते हैं, उनके ऊपर बारह योजन तक की भूमिको व्याप्त कर देव पुण्य-बर्धा करते हैं, उन पुष्पों के मुख ऊपर को ओर, बोँडियाँ नोचेकी ओर रहती हैं । ये पुष्प घुटनों पर्यन्त बरसते हैं, जब मुनियोंका आगमन होता है तब मुनियों को उनमें मार्ग मिलता रहता है, भ्रमरों से सहित होते हैं, कमल उत्पल, केरच, हन्दीचर, राजचम्पक, जाति, मुक्तबन्धन,

१. कमलों के ऊपर पैर रखना विहार के समय संगत होता है । उपदेश के समय तो सिंहासन पर अन्तरीक पद्मासन में ही विराजमान रहते हैं ।

तु पृथ्वीणि उपरि सुखामि अधोकृतानि अवलिष्टन्ते, जानुपर्यंतं पतति, मुनीन माग-
मने भुनिषुक्ष्मा मार्गं लभन्ते, अपरपरीतानि कमलोत्पलकैवेन्वीवरराजचंपकजा-
तिमूक्तसंबन्धनाहृष्टासवकुलकेतकमंवारसुन्दरतमे रपारिजातसन्तानकलहारसुक्लरक्तसेव-
कमुचुकुण्डवृक्षानि पतन्ति, पंचाशालकाहृष्टादशकोटिपटहा अपशणि च वादि-
ताणि वैष्णवलक्षिपणवमृद्दग्निविलतालकाहृलकमृद्दप्रभुतीनि संख्यातीतानि अम्ब-
रपरकुमारकरास्फलितामि 'समुद्वन्तरिक्षलक्षणि' इतन्ति, सजलजलघरगजितमिव
स्वामिनो योजनैकं याकद्वच्छनिभव्यजनैराकर्ष्ण्यते, हंसांसोज्ज्वलानि चतुष्पच्छि-
ज्ञापराणि पतन्त्रपृथक्तन्ति च, पंचशतशतुरुषन्तरं मिहविष्टरं भवति, योजनैकप्रमाणं
सभामभिव्याप्य कोटिभास्करपुणपदुषो^१ लिशरारतेजो भवति, तच्च शारदेन्दु-
परिपूर्णमण्डलमिव लोचनानां प्रियतमं भवति, एकदण्डानि उच्चुर्दरि तीर्णिचक्ष्माणि
मस्तकोपरि संभवन्ति । इत्यादीनि 'चतुस्त्रिशदतिशयपरं चक्ष्माणादीनि जिनोत्त-
मानां सुखानि वाह्यानि भवन्ति, अनन्तजानानन्तदर्शनानन्तवीयनिन्तसुखानि
चाम्बन्तरसुखानि भगवतां भवन्ति । तथा भावशब्दाणां (ना) गणधरदेवानां
तीर्थकरयुक्ताज्यसीख्यानि भवन्ति । (अवभुदयपरंगराह ' सोक्ष्माह') इन्द्रपद-
तीर्थकरकल्याणप्रथलक्षणानि कल्याणपरम्पराणि सौख्यानि भावशब्दाणा अम्बन्तर-

अहृष्टासवकुल केतकी मन्दार सुन्दर नमेरु पारिजात सन्तानक कलहार, सफेद गुलाब, लाल गुलाब और मुचुकुन्द आदि फूलोंके समूह बरसते हैं । साढ़े बारह करोड़ दुन्दुभि तथा ब्रौसुरी बीणा पणव मृद्दज्ज विविल ताल काहूल और शारु आदि असंख्यात बाजे देवकुभारोंके हाथोंसे ताड़ित होते हुए पृथिवी और आकाशमें शब्द करते हैं । जल सहित मेघकी गजनाके समान भगवान्की दिव्यध्वनि एक योजन तक भव्यजीवों के द्वारा सुनी जाती है । हंसके पह्लोंके समान उज्ज्वल चौसठ चमर छोरे जाते हैं । पाँच सौ धनुष ऊँचा सिहासन होता है । एक योजन तक सभाकी व्याप्त करके करोड़ों सूर्योंके एक साथ फैलने वाले प्रकाशके समान भगवान् के शरीर का तेज होता है उनका वह तेज (भामण्डल) शरद शृनुके पूर्ण चन्द्र-भण्डल के समान नेश्वोंको अत्यन्त प्रिय होता है । एक दण्ड अर्थात् चार हाथकी ऊँचाई वाले तीन छत्र ऊपर-ऊपर मस्तक पर लगे होते हैं । इन सबको आदि लेकर चौतीस अतिशय तथा पञ्चकल्याणक आदि वाह्य सुख

१. 'समुद्वन्तरिक्षलक्षणि' इति पाठः सम्बूद्ध प्रतिभाति समन्तात् उम्भन्तरिक्षमोः पृष्ठिव्याकाशयोः लक्ष्याणि इति तथ्यः ।
२. दुर्घोति म० ।

महामुनयो मुक्ष्यत इति भावार्थः । (पावर्ति भावसहिता) प्राप्नुवन्ति लभन्ते, के ते ? भावसहिता, सम्यग्दत्तचिन्तापणिपणितमनःस्थलः खलु दिग्मवराः (संखेवि जिगेहि वज्जरियं) संखेकिसमासेमोक्तमिदं वचनं जिनैः कष्टितमिति भावार्थः ।

ते वर्णा ताण गमो दंसणवरणाणचरणसुद्धार्ण ।

भावसहिताण णिच्चं तिविहेण पण्डूमायाण ॥१२७॥

ते धन्यास्तेभ्यो नमः दर्शनवरज्ञानचरणशुद्धेभ्यः ।

भावसांहंतेभ्यो नित्यं अंत्रिष्ठिन प्रणष्टमोर्येभ्यः ॥१२७॥

(ते वर्णा ताण गमो) ते मुनिपुङ्गवा धन्याः पृथ्यवन्तः तेभ्योऽस्मार्क श्रीकुन्दकुन्दचारायणिं नमो नमस्कारो भवतु नमोऽस्तु स्यात् । (दंसणवरणाणचरण-सुद्धार्ण) सम्यग्दर्शनसम्यवशानसम्यक्तरणानि शुद्धानि निरतिचाराणि येषां, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैर्वा ये शुद्धाः कर्मपलकलकूरहिता दर्शनवरज्ञानचरणशुद्धा ये मुनिपुङ्गवाः तेभ्यो नमः । कर्त्तव्यतेभ्यस्तेभ्यः, (भावसहिताण) भावेन शुद्धात्म-परिणामेन ब्रिनसम्यक्त्वेन च सहितानां तंयुक्तेभ्यः इत्यर्थः । ननु नमःस्वस्ति-स्वाहास्त्रवालक्षण्योगे चतुर्थी भवति तत्क्यमत्र षष्ठीनिर्देशः सत्यं, संस्कृते तद्योगे चतुर्थी प्रोक्ता, न तु प्राकृते । कथं (णिच्चं) नित्यं सर्वकालं नमो-नमोस्तु इत्यस्य विशेषणमिदं केन कृत्वा नमः, (तिविहेण) मनोबावकायलक्षणेन

तीर्थीकर भगवान् के होते हैं । और अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य तथा अनन्तमुख ये आभ्यन्तर सुख तीर्थीकर भगवान् के होते हैं । भाव-श्रमण गणधरों के भी सुखोंको प्राप्त होते हैं, गणधर क्या हैं मानों तीर्थीकर रूप राजाके युवराज ही हैं । इसके सिवाय भावश्रमण इन्द्र पद आदि अभ्युदय को प्राप्त होते हैं । ऐसा श्री जिनेन्द्र भगवान् ने संक्षेप से कहा है ॥१२८॥

गावार्थ—वे भावमुनि धन्य हैं । दर्शन ज्ञान और चारित्र से शुद्ध तथा मायाचारसे रहित उन भावमुनियों को मेरा मनवचन कायसे निरन्तर नमस्कार हो ॥ १२७ ॥

विशेषार्थ—भावमुनियों के प्रति श्रद्धा प्रकट करते हुए कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि वे भावलिंगी मुनि धन्य-भाग हैं—वे पृथ्यशाली हैं जो निरतिचार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्तरित से शुद्ध

नमस्कारेण नमो तु हास्येन । कर्षभूतानां तेषां, (पण्डितमायाणं) प्रणवटा किनार्थं प्राप्ता माया परवचना येषां ते प्रथम्यायास्तेषां ।

इहिद्वितुलं विउच्चिय किण्णरकिपुरिसअमरखयरेहि ।

तेहि वि ण जाइ मोहं जिनभावणभाविओ धीरो ॥१२८॥

किंद्वितुलां विकृतां किनरकिम्पुरुषामरखचरैः ।

तैरपि न याति मोहं जिनभावनाभावितो धीरः ॥१२८॥

(इविद्वितुलं विउच्चिय) ऋद्धिः पूर्वोक्तलक्षणा, असुला अनुपमा, विकृतिर्विक्षयाकृता निजतद्यमवान्यभवतपोमहिमसंजाता । तथा (किण्णरकिपुरिसअमरखयरेहि) किनरैः, किम्पुरुषैः अमरैः कल्पवासिप्रभूतिभिष्व विहिता ऋद्धिः । (तेहि वि ण जाइ मोहं) तैरपि किनरकिम्पुरुषामरखचरैरपि मोहं न याति लोभं न गच्छति । कोऽस्मी, (जिनभावनाभावितो धीरः), जिनभावनया निर्मलसम्यक्त्वेन भावितो वासितो धीरो योगीश्वरः । ध्येयं प्रति धियमीरयतीति धीरः ।

हैं, जो शुद्ध आत्म-परिणाम अथवा जिन-सम्यक्त्व से सहित हैं तथा जिनका मायाचार—पर-प्रतारणाका भाव नष्ट हो चुका है उन भाव-लिंगी मुनियों को मेरा मनवचन कावसे निरन्तर नमस्कार हो ॥१२७॥

गायत्री—मुनिको तप के माहात्म्यके अतुल ऋद्धियाँ स्वयं प्राप्त होती हैं और किनर किम्पुरुष स्वर्ग के देव तथा विद्याधर भी विक्षय से अनेक ऋद्धियाँ दिखलाते हैं परन्तु जिनभावना से वासित धीर-दृढ़ शद्धानी मुनि उन सभी से मोह को प्राप्त नहीं होता है ॥१२८॥

विशेषार्थ—अपने उसी भव तथा अन्य भवके तपके माहात्म्य से मुनिको अनेक अनुपम ऋद्धियाँ स्वयं प्राप्त होती हैं तथा किनर, किम्पुरुष, कल्पवासी देव और विद्याधर भी विक्षया शक्ति से अनुत्प ऋद्धियाँ दिखलाते हैं परन्तु जो जिनभावना अर्थात् निर्मल सम्यक्त्व से वासित है ऐसा धीर मुनि उन सबसे मोहको प्राप्त नहीं होता अर्थात् लोभके बशीभूत नहीं होता जो ध्येय-चिन्तनोय पदार्थ की ओर अपनी धी-बुद्धि को प्रेरित करे वह धीर है “ध्येय प्रति धियमीरयतीति धीरः” तात्पर्य यह है कि सम्यग्दृष्टि मुनि अपने स्वरूप में सदा निःशक्त रहता है, वह बाह्य प्रलोभमों में नहीं आता ॥१२८॥

किं पुण गच्छइ मोहं णरसुरसुखाण अप्पसाराण ।

जाणतो पस्सतो चितंतो मोख्ल मुणिधबलो ॥१२९॥

किं पुनः गच्छति मोहं नरसुरसुखानामल्पसाराणाम् ।

जानन् पश्यन् चिन्तयन् मोक्षं मुनिधबलः ॥१२९॥

(किं पुण गच्छइ मोहं) किं पुनर्गच्छति मोहं लोभं । (णरसुरसुखाण अप्पसाराण) नराणां नृपातीनां सम्बन्धिनः मुराणामिन्द्रादीनां देवानां सम्बन्धिनां सौख्यानां मोहं लोभं किं गच्छति-अपि तु न गच्छति । कथं भूतानां सौख्यानां, अल्पसाराणां स्तोकप्रशस्यानां वा अल्पस्वादानामित्यर्थः । (जाणतो पस्सतो) जानन्नपि अनुभूय दृष्ट्वा जाभन्नपि, पस्सतो—पश्यन् प्रत्यक्षं चक्षुभ्यां निरोक्ष-माणोऽपि । (चितंतो मोख्लमुणिधबलो) चिन्तयन्नपि विचारयन्नपि, कि ? मोक्षं सर्वकर्मक्षयलक्षणं मोक्षं परमनिर्वाणसुखं अनन्तसीखदायकं परमनिर्वाणसुखं जानन्नपीरयादिसम्बन्धः, मुनिधबलः मुनीनां मुनिषु वा धबलो निर्मलचारित्र-भरोदरणधूरंसरो वृषभः श्रेष्ठ इत्यर्थः ।

उत्थरइ जा ण जरओ रोयगमी जा ण उहइ देहउड़ि ।

इन्द्रियबलं न वियलइ ताव तुमं कुणहि अप्पहियं ॥१३०॥

आक्रमते यावन्न जरा रोगाग्निः यावन्न दहति देहकुटीम् ।

इन्द्रियबलं त विगलति तावत् त्वं कुरु आत्महृतम् ॥१३०॥

गाथार्थ—जो सर्व कर्म-अवरूप मोक्षको जान रहा है, देख रहा है तथा उसाका चिन्तन कर रहा है ऐसा श्रेष्ठ मुनि, मनुष्य और देवोंके तुच्छ सुख में मोहको कैसे प्राप्त हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता ॥१२९॥

विशेषार्थ—जो बनन्त सुखको देनेवाले मोक्षको जानता है, देखता है और चिन्तत्वन करता है ऐसा चारित्र के भारको धारण करने वाला मुनिन्वृषभ-श्रेष्ठ मुनि मनुष्य और देवोंके अल्प स्वाद से युक्त सुखोंके लोभको क्या फिर प्राप्त होता है ? अर्थात् नहीं होता । मोक्षके आत्मीय सुखके समक्ष विषय-जन्य अल्पन्तम सुख विवेकी मनुष्यको प्रलुब्ध नहीं कर सकता है । तात्पर्य यह है कि सम्यग्दृष्टि साधु सांसारिक सुखसे सदा निःशक्त रहता है ॥१२९॥

गाथार्थ—हे आत्मन् ! जबतक बुद्धापा आक्रमण नहीं करता है, जबतक रोग रूपी अग्नि शरीर रूपो झोपड़ी को नहीं जलाती है और

(उत्थरह जा ण जन्मली) आकमते यावन्न जरा । “छुदोत्थारौहावा आकमे:” इति प्राकृतव्याकरणसूत्रेण आकमधातोरुत्थार इत्यादेशः । तस्मि उत्थारह इतीदृशं रूपं स्यात् ? प्राकृते हृस्वदीर्घो मिथः भवतः “अचामचः प्रायेण” इति सूत्रेण, तब नास्ति दोषः “आडो ज्योतिरुद्गमे:” इति हृचाविषयात्मनेपदं । अथवा उत्थारह जा ण जरा इति च क्वचित् पाठः (रोगमी जा ण छहइ देहउडि) रोगाग्निर्यावन्न दहति न भस्मीकरोति, कां ? वेहकुटीं शरीरपर्णशालां । (इदिव्यबलं न वियलह) इन्द्रियाणां अक्षुरादीना जलं सामव्यं यावत्कालं न विगलति । इदिव्यबलं न वियलं इति पाठे इन्द्रियबलं यावद्विकलं हीनं न भवति । (ताव तुमं कुणहि अणहियं) तावरहं है मुनिपुङ्गव ! कुरु विवेहि, कि ? आत्म-हित मोक्ष साधयेत्यर्थः । उक्तं च—

जब तक इन्द्रियों का बल अधीन नहीं हो जाता है तब तक तू आत्म-हित कर ले ॥१३०॥

विशेषार्थ—‘उत्थरह’ की संस्कृत छाया आकमते है । आहू उपसर्ग पूर्वक क्रम धातुके स्थान में ‘छुन्दोत्था रौहा वा आकमे:’ इस प्राकृत व्याकरण के सूत्रसे उत्थार आदेश हो जाता है । ‘अचामचः प्रायेण’ इस प्राकृत व्याकरण सूत्रके अनुसार प्रायः हृस्व के स्थान में दीर्घ और दीर्घ के स्थान में हृस्व स्वर का प्रयोग होता रहता है, इसलिये उत्थारह के स्थान पर उत्थरह प्रयोग सदोष नहीं है अथवा उत्थरह जाण जरा ऐसा भी कहीं पाठ है, अतः इस पाठमें हृस्व दोषका प्रदृश ही नहीं उठता है । ‘आडो ज्योतिरुद्गमे:’ इस सूत्रसे आकमतेमें आत्मने पदका प्रयोग हुआ है । बुढ़ापा मनुष्य के शरीरको जर्जर कर देता है, रोग रूपी अग्नि शरीर रूपी पर्णशाला को क्षणभरमें जला देती है और अन्त-अन्त तक मनुष्य की इन्द्रियाँ शक्तिहीन हो जाती हैं, उस दशा में मनुष्य कुश करना भी चाहता हो तो नहीं कर सकता, इसलिये आचार्य महाराज बड़े करुणा-भाव से सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि हे मुनिपुङ्गव ! हे मुनि श्रेष्ठ ! जब तक बुढ़ापे ने आकमण नहीं किया है, जब तक रोग रूपी अग्निने तुम्हारे शरीर रूपी पर्णशाला को नहीं जलाया है और जब तक इद्रिय-बल क्रम नहीं हुआ है तब तक तू आत्महित करले । आत्मा का हित मोक्ष है, उसे प्राप्त करले । यह मोक्ष मनुष्य शरीर को छोड़ अन्य शरीर से साध्य भी नहीं है । कहा भी है—

‘पलितच्छलेम देहान्तिर्गच्छति शुद्धिरेव तव बुद्धेः ।
कथमिव परलोकार्थं जरो वराकस्तथा स्मरासि ॥१॥

आत्माक्षुद्धोक्षयसोगकलशपुत्रै—

र्यः स्वेदयेन्मनुजजस्म मनोरथात्म ।

नूनं स भस्मकृतधीरिह रसराशि-

मुद्दीपयेदत्तनुमोहमलीमसात्मा ॥२॥

‘अश्रीश्रीव लिरस्कृता परतिरस्कारशुतीत्वां श्रुति—

इच्छुर्वीक्षितुमक्षमं तव दशां दूष्यामिकान्ध्यं गतं ।

भीत्येवाभिमुखान्तकादतितरां कामोऽप्यवं कपते

‘निःशाक्त्वमहो प्रदीप्तभवनेऽप्यासे जराजर्जरः ॥३॥

छञ्जीव छञ्जायदणं णिच्चर्वं मणवयणकायजोएर्हि ।

कुरु दय परिहर मुणिवर भावि अपुव्यं महासत्त्व ॥१३१॥

घट जीवषडायतनात्मा नित्यं मनोवचनकाययोग्यः ।

कुरु दयां परिहर मुनिवर ! भावय अपूर्वं महासत्त्व ! ॥१३१॥

पलितच्छलेम—हे सत्युरुष ! जिस बुढ़ापेमें सफेद बालोंके बहाने तेरी बुद्धिकी शुद्धता ही जारीर से निकल जाती है उस बुढ़ापे में तू बेचारा परलोक के प्रयोजन का कैसे स्मरण करेगा ?

आतंक—जो पुरुष, बहुत आरी मनारथों से प्राप्त मनुष्य जन्मको रोग शोक भय भोग स्त्री और पुत्रोंके द्वारा स्तिन करता है—नष्ट करता है निवित ही महामोह से मलिन मनको धारण करनेवाला वह पुरुष भस्मकी इच्छा से रत्नराशिको जलाता है ।

अश्रोत्रीव—मुझे दूसरों के तिरस्कार के शब्द न सुनने पढ़ें इस इच्छा से ही मानों कान बघिर हो गये हैं । तुम्हारो इस दूषित दशाको देखने के लिये असमर्थ होनेसे ही मानों नेत्र अन्ये हो गये हैं आर सामने लड़े हुए यमराज से ढरकर ही मानों शरीर अत्यन्त कौप रहा है परन्तु जरा से जर्जर इस जलते हुए भवन में तू निःशाक्त होकर बैठा है, यह आश्चर्य की बात है ।

गाथार्थ—हे मुनिवर ! हे महासत्त्व ! तू मनवचन काय इत तीनों योगों

१. आत्मानुशासने ।

२. आत्मानुशासने ।

३. निष्कम्पस्त्वं य० ।

४. वराकर्त्तरं य० ।

(अजीवलहापदण) पहुँचीबानां दयां कुरु, पठनायनानि परिहर कयं, (यिच्चं) सर्वकालं । (मणवयणकायजीएहि) मनोवचनकाययोगीः । (कुरु दय परिहर भुणिवर) हे मुनिवर मुनोनां श्रेष्ठ ! (माति अपुवं महासत्त) भावय अपूर्व आत्मभावनं हे महासत्त्व महाप्रसन्नधर्मपरिणाम । ।

"अभावियं भावेमि भावियं न भावेमि,"

इति श्रीगौतमोऽस्त्वात् ।

दसविहपाणाहारो अणतभवसायरे भमतेण ।

भोयसुखकारणदू' कबो य तिविहेण सयलजीबायं ॥१३२॥

दशविधप्राणाहारः अनन्तभवसागरे भमता ।

भोगसुखकारणार्थं कुतश्च त्रिविधेन सकलजीबानाम् ॥१३२॥

(दसविहपाणाहारो) दशविवानां प्राणानामाहारः पञ्चेन्द्रियाणि मानवानां तिरस्चां च त्वया कवलितानि, मनोवचनकायलक्षणास्त्रयो ब्रह्मप्राणास्त्रया हे

से छह कायके जीवोंपर दया कर, छह अनायतनों का परित्याग कर और अपूर्व आत्म-तत्त्वकी भावना को कर ॥१३२॥

विशेषार्थ—पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और व्रस ये छहकाय के जीव हैं । हे मुनिवर ! तू सदा मन वचन कायसे इनपर दया कर-इनको रक्षा कर । कुगुरु, कुदेव, कुधर्म, कुगुरुसेवक, कुदेव सेवक और कुधर्म सेवक ये छह अनायतन हैं- भक्ति वन्दना आदिके अस्थान हैं । हे महासत्त्व ! हे निर्मल धर्म परिणाम के धारक मुने ! तू इन छह अनायतनों का मन वचन काय से परित्याग कर और जिस आत्म-भावना का तूने आजतक चिन्तन नहीं किया है उसका चिन्तन कर । श्री गौतम ने भी कहा है—

अभावियं—जिस आत्म-स्वरूप की अब तक भावना नहीं की उसकी भावना करता हूँ और जिस विषय भोग को निरन्तर भावना की उसकी भावना नहीं करता हूँ ।

गायार्थ—हे जीव ! अनन्त भवसागर में अमण करते हुए तूने भोग-सुखके निमित्त मन वचन कायसे समस्त जीवोंके दश प्राणोंका आहार किया है ॥१३२॥

विशेषार्थ—यह जीव अनादि कालसे अनन्तानन्त भव धारण कर चुका है । उन सब भवोंमें इसने अपने भोग सुखके लिये समस्त जीवोंके

जीव ! भक्षिता:, उच्छ्वासप्राणोऽपि स्वया चविता, आयुप्राणश्चोदराग्निसाजनं कृतः । (अण्टलभवसायरे भमतेण) अनन्तानन्तसंसारसमुद्रे भमता पर्यटता (भोय-सुहकारण्टु) भोगसुखकारणार्थं जिह्वैपस्थसंजातसुखहेतवे । (कदो य तिविहेश सथलजीवाणं) दशप्राणानां स्वया आहारः कृतः क्रिविचेन मनसा वाचा वपुषा चेति सकलजीवानां चातुर्गतिक्प्राणिनां ।

पाणिवहेहि महायस चउरासीलक्खजोणिमज्जमिम् ।

उप्यज्जंतमरतो पत्तोसि निरन्तरं दुःखम् ॥१३३॥

प्राणिवधे: महायशः ! चतुरशीतिलक्षयोनिमध्ये ।

उत्पद्यमानभ्रियमाणः प्राप्तोसि निरन्तरं दुःखम् ॥१३३॥

(पाणिवहेहि महायस) प्राणिनां वधे: कृत्वा है महायशः ! । (चउरासीलक्खजोणिमज्जमिम्) चतुरशीतिलक्षयोनीनां मध्ये । (उप्यज्जंतमरतो) उत्पद्यमानो भ्रियमाणश्च । (पत्तोसि निरन्तरं दुःखम्) प्राप्तोऽसि छब्बवानसि निरन्तरं भविष्यित्वा दुखं शारीरमानसागत्तुकल्पणं । चतुरशीतिलक्षयोनीनां त्रिवरुणनिर्देशः पूर्वोक्त एव आत्मयः ।

शरीर को मन वचन कायसे अपना आहार बनाया है । उत्कृष्ट रूपसे जीवोंके पौच हन्दिय, तीन बल, आयु और उच्छ्वास ये दश प्राण होते हैं । देव और नारकियों के शरीर किसी के ग्रहण में नहीं आते मात्र मनुष्य और तिर्थक्षोंके शरीर हो ग्रहण में आते हैं । आचार्य कहते हैं कि हे जीव ! इस अनन्तानन्त संसार में भ्रमण करते हुए तूने समस्त मनुष्यों और तिर्थक्षों के पौच हन्दिय रूप प्राणोंको कबलित किया है, मन, वचन, काय, रूप तीन बलोंका स्वाया है, श्वासोच्छ्वास प्राणको चबाया है और आयु प्राणको जठराग्निका पात्र बनाया है आर वह भी किसालिये ? सिफं जिह्वा और जननेन्द्रियके सुखके निर्मित । अब चेत और षट्जोवनिकाय पर दिया घारण कर ॥१३३॥

गाथार्थ—हे महायश ! उक्त प्राणवधके कारण तू चौरासी लाख योनियों से उत्पन्न होता हुआ, मरता हुआ निरन्तर दुःख को प्राप्त हुआ है ॥१३३॥

त्रिशेषार्थ—इस गाथा म पूर्वोक्त प्राणिवधका फल बताते हुए आचार्य कहते हैं कि हे महायश के धारक ! मुनिवर ! प्राण वधके कारण तूने चारसा लाख योनियोंमें बार बार जन्म मरण कर निरन्तर शारारिक मानसिक ओर आगन्तुक दुःख उठाया है अब सावधान होकर जोयोंकी रक्षा कर ॥१३३॥

जीवाणमभयदाणं देह मुणो पाणभूदसत्ताणं ।

कल्याणसुहृणिमित्तं परंपरा तिविहसुद्गीए ॥१३४॥

जीवनामभयदानं देहि मुने ! प्राणभूतसत्त्वानास् ।

कल्याणसुखनिमित्तं परम्परा त्रिविधशुद्घय ॥१३४॥

(जीवाणमभयदाणं) जीवानामभयदानं । (देह मुणो पाणभूदसत्ताणं) हे मुने ! त्वं देहि प्रयच्छ म केवल जीवानां अभयदानं देहि—अपि तु प्राणभूत-सत्त्वानां किमर्थमभयदानं देहि ? (कल्याणसुहृणिमित्तं) तीर्थंकरनामकमैवन्धनार्थं गमवितारणन्माभिषेकनिष्करणज्ञाननिर्बाणपर्वकल्याणसुखपरंपरानिमित्तं सुखधेणिकारणं अभयदानमित्यर्थः । (तिविहसुद्गीए) त्रिविधशुद्घया मनोवचनकायनिमैलतया अभयदानं देहि उक्तं च—

अभयदाणु भयभीहहं जीवहं दिख्णु न आसि ।

वारवारमरणहं हरहि केम्ब चिरात् सुहोसि ॥१॥

तथा चोक्तं—

‘एका जीवदर्थकथं परत्र सकलाः क्रियाः ।

परं फलं तु शूर्वंत्र कृष्णेत्वन्तामगेरिव ॥१॥

गाथार्थ—हे मुने ! तू कल्याणक सम्बन्धी सुखकी परम्परा के निमित्त, मन वचन कायकी शुद्धिसे जीव, प्राणी, भूत और सत्त्वोंको अभय दान दे ॥१३४॥

विशेषार्थ—हे जीव ! तीर्थंकर नाम कर्मका बन्ध करनेके लिये तथा उसके फलस्वरूप गमवितार, जन्माभिषेक, निष्करण, ज्ञान और निर्बाण कल्याण इस पञ्च कल्याणकों-सम्बन्धी सुखकी परम्पराके निमित्त त मन वचन कायकी निर्मलता से समस्त जीव प्राणी, भूत और सत्त्वोंको अभयदान दे ।

अभयदाणु—हे आत्मन् ! तूसे भयभीत जीवोंको अभयदान महीं दिया इसीलिये बार बार मरणसे ढर रहा है । तू दीर्घायु कैसे हो सकता है ? ॥१॥

और मौ कहा है—

एक—एक ओर अकेली जीव दया और दूसरी ओर समस्त क्रियाएँ रखी जावें परन्तु उस्कुछ फल जीव-दयाका ही होगा, उस तरह, जिस

१. क्षास्तिकके इति पर्व नालित ।

२. तर्वंत्र म० ।

ब्रायुष्मान् सुभगः श्रीमान् सुरूपः कीर्तिमान्नरः ।

अहिसाकृतमाहात्म्यादेकस्मादेव जायते ॥२॥

उक्तं च—

द्वित्रिचतुर्तिन्द्रियाः प्राणा भूतास्ते तरवः स्मृताः ।

जीवाः पञ्चेन्द्रिया ज्ञेयाः शेषाः सत्त्वाः प्रकोतिताः ॥१॥

असिद्धसय किरियार्थं अकिरियार्थं च होह चुल्लीदी ।
सत्त्वाद्वारा अण्णाणी वेणैश्या होति बत्तीसा ॥१३५॥

अशीतिशां क्रियावादिनामक्रियाणां च भवति चतुरखीतिः ।

सप्तषष्ठिरज्ञानिनां वैनयिकानां भवन्ति द्वार्तिशत् ॥१३५॥

(असिद्धसय किरियार्थं) अशीत्यग्रं शर्तं क्रियावादिनां आवादिक्रियाभ्य-
मानानां अण्णाणानां भवति । (अकिरियार्थं च होह चुल्लीदी) अक्रियावादिनां

तरह कि एक और अकेला चिन्तामणि रल रखा जावे और दूसरी
ओर समस्त खेती रखी जावे परन्तु उत्कृष्ट कल चिन्तामणि का ही
होता है ।

ब्रायुष्मान्—एक अहिसाकृत के माहात्म्य से ही यह भनुष्य दीघयुष्क,
भाग्यशाली, लक्ष्मीमान्, सुन्दर और कीर्तिमान् होता है ।

और भी कहा है—

द्वित्रि—दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय और चार-इन्द्रिय प्राण कहलाते हैं,
वनस्पतिकायिक भूत कहलाते हैं, पञ्चेन्द्रिय जीव कहलाते हैं और शेष
सत्त्व कहलाते हैं ।

गाथार्थ—क्रिया-वादियों के एकसी अस्सी, अक्रिया-वादियों के
चौरासी, अज्ञानियों के सड़सठ और वैनयिकों के बत्तीस भेद होते
हैं ॥ १३५ ॥

विशेषार्थ—आदृ आदि क्रियाओं को मानने वाले ज्ञाह्याण आदि
क्रिया-वादी हैं । इनके एकसी अस्सी भेद हैं । इन्द्र चन्द्र नारेन्द्र गच्छ में

१. यशस्तिलके ।

२. हर्य गण्या अन्यत्र ल्येव प्रसिद्धा—

असिद्धिसर्व किरियार्थं अकिरियार्थं च होह चुल्लीदी ।

सत्त्वचुल्लीदी वेणैश्यार्थं कु बत्तीस ॥

३. क प्रही 'ज्ञाह्याणाना' ।

सन्दर्भद्वयागीक्षणच्छोत्स्नानां तनुलोककायोदकादिसमाचारीसमाधिणां श्वेत-
पटानां प्रायःकपटानां मायाद्वाहुत्यानां चतुरशीतिः संशयिनां मिथ्यात्मभेदा
भवन्ति । (सत्तद्वी अण्णाणी) सप्तषष्ठिरज्ञानेन मोक्षं मन्वानानां भस्करपूरण-
मतानुसारिणां भवति । (विषेधा होति बत्तीसा) विनयात् मातृपितृनृलोकादि-
विनयेन 'मोक्षालेपिणां तापसानुसारिणां द्वाविशमतानि भवन्ति । एवं त्रिषष्ठ्य-
ग्राणि त्रीणि शतानि मिथ्यावादिना भवन्ति तानि त्याज्यानीत्यर्थः । १८० + ८४ +
६७ + ३२ = ३६३ ।

ए मुयह पयडि अभव्यो सुट्ठु वि 'आयणिंऊण जिनधर्मम् ।
गुडदुदुं पि पिवंता ए पण्णया णिविषा होति ॥१३६॥

न मुञ्चति प्रकृतिमभव्यः सुष्टु अपि आकर्ष्य जिनधर्मम् ।

गुडदुदुधर्मपि पिवन्तः न पन्नगा निविषा भवन्ति ॥१३६॥

(ए मुयह पयडि अभव्यो) न मुञ्चति प्रकृति मिथ्यात्म अभव्यो दूरभव्यो
वा लौकादिमिथ्यादृष्टिः पापिष्ठः । (सुट्ठु वि आयणिंऊण जिनधर्मम्) सुष्टु
अपि आकर्ष्य श्रुत्वा जिनधर्मे दिगम्बरशास्त्रं । (गुडदुदुं पि पिवंता) गुडेन मिथ्यं

उत्पन्न, चावलों का धोवन तथा अन्य प्रासुक जल आदिको गोचरी में
लेनेवाले प्रायः माया-पूर्ण व्यवहार के धारक श्वेताम्बर अकिया-बादी हैं
इनके चौरासी भेद हैं । अज्ञान से मोक्ष मानने वाले भस्कर पूरण के मता-
नुयायी अज्ञान-बादी हैं, इनके सङ्ख्यात भेद हैं और माला पिता तथा राजा
आदिको चिनय से मोक्षकी प्राप्ति मानने वाले तापस-मतानुयायी वैनियक
हैं, इनके बत्तीस भेद हैं । चारों मिथ्या-वादियों के मिलाकर १८० + ८४ +
६७ + ३२ = ३६३ तीन सी शेषां भेद होते हैं, ये सब भेद त्यागने
योग्य हैं ॥१३५॥

गायार्थ—अभव्य जीव जिनधर्म को अच्छी तरह सुनकर भी अपने
स्वभाव को नहीं छोड़ता है, सो ठीक ही है क्योंकि सौप गुड़ और दूधको
पीते हुए भी निविष नहीं होते हैं ॥१३६॥

विशेषार्थ—जिस प्रकार गुडसे मिश्रित दूधको पोने पर भी सांप अपना
विष नहीं छोड़ते हैं उसी प्रकार अभव्य या दूर भव्य पापी मिथ्यादृष्टि

१. मोक्षालेपिणां म० ।

२. समयसारे 'आयणिं ऊण जिनधर्मम्' इत्यस्य स्थाने 'अज्ञान ऊणसत्थाणि'
हति पठन ।

दुर्ब गुड्युः पिकरीजंड । (य पण्या निष्ठव्या होति) न पन्नगः सर्पि
निविषा विषरहिता भवन्ति संजापन्ते ।

तथा चोक्तं —

बहुसत्थहं जाणियह घम्मु ण चरह मुणेकि ।

दिणयर सउ जह उगमइ शूहडु अधउ तो दि ॥ १ ॥

मिच्छत्तल्लण्णविट्टी दुद्धी रागगहगहियचिसेहि ।

घम्मं जिणपणतं अभव्यजीवो ण रोचेदि ॥ १३७ ॥

मिथ्यात्वछल्लदृष्टिः दुद्धी रागगहगहीतचित्तेः ।

घम्मं जिनप्रणीतं अभव्यजीवो न रोचयति ॥ १३७ ॥

(मिच्छत्तल्लण्णविट्टी) मिथ्यात्वेन छन्ना आवृता दृष्टिज्ञानलोकनं यस्य स
मिथ्यात्वच्छल्लदृष्टिः । अज्ञानी मिथ्यादृष्टिः । (दुद्धी) दुष्टा दुर्बुद्धियस्य स
दुर्वीः दुर्बुद्धिः । (रागगहगहियचित्तेहि) रागगहगहीतचित्तेः रागो दुमगर्भशिता
प्रीतिः स एव ग्रहः पिशाचः तेन गृहीतानि चिलानि अभिप्राया रागगहीतचित्तानि
तैः रायग्रहगहीतचित्तैः करणभूतैः नानानयदुष्टपरिणामैरित्यर्थः । (घम्मं जिण-
पणतं) धर्म जिनेन के कलिना प्रणीतं । (अभव्यजीवो ण रोचेदि) अभव्यजीवो
रत्नत्रयायोग्यो जीव आत्मा न रोचयति न श्रद्धाति ।

जीव जिनधर्मको अच्छी तरह सुनकर भी अपना स्वभाव नहीं छोड़ते हैं ।
जैसा कि कहा है —

बहुसत्थहं—बहुत शास्त्रों को जानकर भी अभव्य जीव धर्मका
आचरण नहीं करता है सो ठीक ही है क्योंकि यदि सेकड़ों सूर्य उदित
होते हैं ता भो उल्लू अन्धा ही रहता है ॥ १३६ ॥

गाथार्थ—जिसकी दृष्टि मिथ्यात्व से आच्छादित हो रही है ऐसा
दुर्बुद्धि अभव्य जीव रागरूपो पिशाच से गृहीत-चित्त होनेके कारण जिन-
प्रणीत धर्म—जैन की धर्मा नहीं करता ॥ १३७ ॥

विशेषार्थ—रत्नत्रय की प्राप्ति की योग्यता से रहित अभव्य जीवको
दृष्टि सदा मिथ्यात्व से आच्छादित रहती है, उसकी दुद्धि अर्थात् विचार-
शक्ति दूषित रहती है तथा उसका चित्त सदा राग रूपो पिशाच से ग्रस्त
रहता है, इसी कारण वह केवल जिनेन्द्रके द्वारा उपदिष्ट जिनधर्म की
प्रगता नहीं करता है ॥ १३७ ॥

कुचिष्ठयधर्ममिमि रओ कुचिष्ठयपासंहिभत्तिसंजुतो ।
कुचिष्ठयतवं कुण्ठतो कुचिष्ठयगद्भायर्ण होइ ॥१३८॥

कुत्सितधर्ममें रतः कुत्सितपाषण्डभवितसंयुक्तः ।

कुत्सिततपः कुर्वन् कुत्सितगतिभाजनं भवति ॥१३८॥

(कुचिष्ठयधर्ममिमि रओ) कुत्सितधर्म में हिंसाधर्मे खस्तत्परोऽनुरागवान् ।
(कुचिष्ठयपासंहिभत्तिसंजुतो) कुत्सिता ऋषिपत्नीपादपदमसंलग्नमस्तका ये पाषण्डिनो वशिष्ठदुर्बालः पाराशार्याशब्दलक्ष्यजमवग्निविश्वामित्रभरद्वाजगौतमगणभार्गव-
प्रभूतय उपनिषद्स्त्रान्ते चक्षताएक अतीता वर्तमानाश्च तेषां पाषण्डिनो 'भक्तिसंयुक्तः
करयोदयपादपतनभोजनवामावितत्परमनाः । (कुचिष्ठयतवं कुण्ठतो) कुलिसुर्त तपः
एकपादेनोद्भीभूतोर्व्वहस्तजटाशारणविकालजलस्नानपैचाग्निसाधनादिकुत्सितं तपः
कुर्वन् । (कुचिष्ठयगद्भायर्ण होइ) कुत्सितगतेनारकतियंगोनिमलिनासुरव्याप्तर-
ज्योतिष्किलिविकवाहनदेवादिगतेभविन स्थानं भवति—अनन्तसंसारी च स्यत् ।
“तद्याणे त्राहुणमाक्षभेत” इत्यादि कुण्ठतो चर्मो ज्ञातव्यः ।

गायार्थ—जो कुत्सित धर्म में अनुरागी है, कुत्सित पाषण्डियों की
भवित्ते सहित है और कुत्सित तप करता है, वह कुत्सित गतिका पात्र
होता है ॥१३८॥

विशेषार्थ—जो कुत्सित धर्म—हिंसा धर्म में तत्पर रहता है, जो
कुत्सित अर्थात् ऋषि होकर भी स्त्रियों के चरण कमलों में मस्तक झुकाने
गाले वशिष्ठ दुर्बाला पराशार याज्ञवल्क्य जगदरित विश्वामित्र भरद्वाज
गौतम गण तथा भार्गव आदि उपनिषदों में कहे हुए अतीत और वर्तमान
काल—सम्बन्धी पाषण्डी साधुओं की भवित्ति से सहित है—हाथ जोड़ना
चरणों में पड़ना तथा भोजन देना आदि कार्योंमें तत्पर रहता है और जो
कुत्सित तप अर्थात् एक पैरसे खड़े रहना, एक हाथ ऊँचा रखना, जटा
धारण करना, तोनों काल में स्नान करना तथा पञ्चारित तपना आदि
मिथ्या तप करता है वह कुत्सित गति अर्थात् नरक तियंगव योनि, मर्लिन
असुरकुमार अनन्तर ज्योतिष्कि लिविक तथा बाहन जाति के देव आदि
खोटी गतियोंका पात्र होता है—अनन्त संसारी होता है ॥१३८॥

इय मिथ्यात्वावासे कुणयकुसत्येहि मोहिओ जीवो ।

भमिओ अणाइकालं संसारे धीर चितेहि ॥१३९॥

इति मिथ्यात्वावासे कुनयकुशास्त्रैः मोहितो जीवः ।

आन्तः अनादिकालं संसारे धीर ! चिन्तय ॥१३९॥

(इय मिथ्यात्वावासे) इति अमुना प्रकारेण मिथ्यात्वावासे मिथ्यात्वात्मदे प्रायेण मिथ्यात्वमूले संसारे इति सम्बन्धः । (कुणयकुसत्येहि मोहिओ जीवो) कुनयैः कुत्सितमयैः सर्वयैकान्तरालयैः, कुशास्त्रैः चतुर्वेदाष्टादशुराणाष्टादशस्मृत्यु-भग्यमीमांसादिशास्त्रैः मोहितो आन्ति प्राप्तो जीव आत्मा । (भमिओ अणाइकाल) आन्तोऽयं पर्यटितो जीवोऽनादिकालं उत्सपिण्यवसपिणीकालद्वारुलं (संसारे धीर चितेहि) हे धीर ! हे योगीश्वर ! संसारे भवे आन्त इति चिन्तय विचारय ।

पासंडी तिणिसया तिसद्गिभेया उमग्न मुक्तूण ।

रंभहि मणु जिणमग्ने असप्पलावेण कि बहुणा ॥१४०॥

पाषण्डिनः श्रीण शतानि त्रिषष्ठिभेदा उन्मार्ग मुक्त्वा ।

रुच्छु मनो जिनमार्गं असप्पलापेन कि बहुना ॥१४१॥

(पासंडी तिणिसया) पाषण्डिनस्त्रीणि शतानि । (तिसद्गिभेया उमग्न मुक्तूण) तथा त्रिषष्ठिभेदा उन्मार्गं मुक्त्वा । (रंभहि मणु जिणमग्ने) रुच्छु

गाथार्थ—इस प्रकार मिथ्यात्व के आवास स्वरूप संसार में मिथ्यानय और मिथ्याशास्त्रों से मोहित हुआ यह जीव अनादि कालसे भटक रहा है, ऐसा हे धीर मुनि ! तु चिन्तवन कर ॥१३९॥

विशेषार्थ—यह संसार अनेक प्रकार के मिथ्यात्वों का निवास स्थान है अर्थात् अनेक मिथ्यात्वों से भरा हुआ है इसमें यह जीव सर्वथा एकान्त रूप कुनय तथा चार वेद, अठारह पुराण अठारह स्मृतियाँ तथा दोनों प्रकार की यीमांसा आदि कुशास्त्रों से आन्ति को प्राप्त होता हुआ अनादिकाल से लगातार भटक रहा है । हे योगीश्वर ! तू ऐसा चिन्तवन कर ॥१३९॥

गाथार्थ—हे साधो ! पाषण्डियों के तीन सौ त्रेसठ उन्मार्गों-कुमार्गों को छोड़कर तू जिनमार्गमें अपना मन रोक, बहुत अधिक निरर्थक वचन कहनेसे क्या लाभ है ॥१४०॥

विशेषार्थ—पाषण्डियों के तीन सौ त्रेसठ मतोंका वर्णन पहले आ चुका है । ये मत उन्मार्ग हैं अर्थात् कण्ठकाकीण बीहुड़ पगड़ण्डियाँ हैं । हे

मनो जिनमार्गं जिनधर्मं त्वं स्थापय । (असत्प्रलावेण कि बहुणा) असत्प्रलापेनान-
यकिन चचसा बहुना प्रचुरतरेण कि ? न किमवीरयाक्षेपः ।

जीवविमुक्तो दंसणमुख्यो य होइ यसवाची ॥

सबओ लोयअपुज्जो लोउत्तरयन्मि चलसवओ ॥ १४१ ॥

जीवविमुक्तः शबः दर्शनमुक्तश्च भवति चलशबकः ।

शबको लोकापूज्यः लोकोत्तरे चलशबकः ॥ १४१ ॥

(जीवविमुक्तको सबओ) जीवविमुक्तो जीवेन रहितः कायो लोके शब
उच्चये । (दंसणमुख्यको य होइ चलसवओ) दर्शनमुक्तः पुमान् सम्यक्त्वहीनो
जीवश्च भवति चलशबकः कुत्सितं भृतकः । (सबओ लोयअपुज्जो) जीवरहितः
शबको लोकानामपूज्यः, अपूज्यत्वादेव भूमी निखन्यते, अग्निना भस्मीकियते का
(लोउत्तरयन्मि चलसवओ) लोकोत्तरे लोके जैनलोके चलसवओ सचेष्टितमृतक्षो
मिथ्यादृष्टिमुनिः लोकोत्तराणां सम्यग्दृष्टिलोकाणां अपूज्योऽमाननीयो भवति । इति
भावप्राभृतस्य गोप्यतत्वं यत्सदृष्टिना जीवेन भवितव्यमिति । लोकास्तु पापिष्ठा

**जीव ! तू इन्हें छोड़ और जिनधर्मं रूपो राजमार्गं में अपने मनको रोक ;
अधिक कहने से क्या लाभ है ? अर्थात् कुछ नहीं ॥ १४० ॥**

गायार्थ—जीव से रहित शरीर शब कहलाता है और सम्यक्त्व से
रहित शरीर चलशब-चलता फिरता शब कहलाता है । शब इस लोक में
अपूज्य होता है और चल शब मरण के बाद प्राप्त होनेवाले उत्तरलोक
में अपूज्य होता है अथवा चलशब लोकोत्तरलोक-जैन लोक में अपूज्य
होता है ॥ १४१ ॥

विशेषार्थ—शरीर का सन्मान जीवसे है जिस शरीर से जीव निकल
जाता है वह शरीर शब अर्थात् मुर्दा कहलाने लगता है । इसी प्रकार
मनुष्य का सन्मान सम्यग्दर्शन से है जो मनुष्य सम्यग्दर्शन से रहित है
वह चलशब अर्थात् चलता फिरता मुर्दा कहलाता है । शब लोक में
अपूज्य माना जाता है, इसीलिये वह जमीन में गाड़ा जाता है अथवा
अग्नि द्वारा भस्म किया जाता है । चलशब, मिथ्यादृष्टि मुनि है । वह
लोकोत्तर अर्थात् सम्यग्दृष्टि लोगोंके अपूज्य होता है उसे कोई सन्मान
नहीं देता है । अथवा लोकोत्तर का अर्थ परलोक भी होता है इसलिये
दूसरा अर्थ यह भी होता है कि मिथ्यादृष्टि मनुष्य परलोक में हीन दशा
को प्राप्त होता है, इस प्रकार भाव-प्राभृतका गोप्य तत्व यह है कि जीव-
को सम्यग्दृष्टि होना चाहिये ।

मिथ्यादृष्टयो जिनस्तपनपूजनप्रतिबन्धकत्वात् तेषां संभाषणं न कर्तव्यं तत्संभाषणे
महापापमुत्पत्तते । तथा चोक्तं कालिदासेन महाकविना—

‘निवार्यतामालि । किमप्यर्थं वदुः पुनविवक्षुः स्फुरितोत्तराधरः ।
न केवलं यो महसा विभाषते शृणोति तस्मादपि यः स पापमाक् ॥१॥
तेन जिनमुनिनिन्दका लोकाः परिहतव्याः । तथा चोक्तं—
खलानां कट्कानां च द्विषेव हि प्रतिक्रिया ।
उपानन्मुखभंगो वा दूरतः परिवर्जनम् ॥२॥

जह तारमाण चंद्रो मयराओ मयउलाण सब्दाण ।
अहिओ तह सम्मतो रिसितावयदुविधधम्भाण ॥१४२॥
तथा तारकाणां चन्द्रः मृगराजो मृगकुलानां सर्वेषाम् ।
अधिकः तथा सम्यकत्वं शृष्टिशावकद्विविधधमणिम् ॥१४२॥

लौक लोग जिनाभिषेक तथा जिन पूजाके निषेधक होनेसे अतिशय पापी मिथ्या दृष्टि हैं उनके साथ संभाषण नहीं करना चाहिये । उनके साथ संभाषण करनेमें महापाप उत्पन्न होता है । जैसा कि महाकवि कालिदास ने कहा है—

निवार्यता—पार्वती अपनी ससी से कहती है कि सखि ! इस ब्राह्मण को यहीं से हटाओ, इसके होठ काँप रहे हैं इसलिये जान पड़ता है कि यह फिर भी कुछ कहना चाहता है । जो महापुरुषों को निन्दा करता है, केवल वही पापी नहीं होता किन्तु जो उससे निन्दा के बचन सुनता है वह भी पापी होता है^३ ।

इसलिये जिन मुनियों की निन्दा करने वाले लौक दूर से ही छोड़ देने के योग्य हैं । कहा भी है—

खलानां—दुष्ट पुरुष और कौटों का प्रतिकार दो प्रकार से होता है । या तो जूतों से उनका मुख भङ्ग कर दिया जाय या दूर से छोड़ दिया जाय ।

गायार्थ—जिस प्रकार समस्त ताराओं में चन्द्रमा और समस्त बन्ध-

१. कुमारसंभवे ।

२. परीक्षा करने के लिये महादेवजी एक ब्रह्मचारी का वेष बनाकर पार्वती के पास गये और महादेव की निन्दा करने लगे । पार्वती ने उसके निन्दा बचनों का समाधान किया परन्तु वह फिर भी कहने के लिये जरूर बृह्या तब ससीके प्रति पार्वती ने उपयुक्त बचन कहे ।

(जह तारयाण चंदो) यथा तारकाणां तारणां मध्ये चक्रोऽधिक इति सम्बन्धः । (मयराओ मयउलाण सव्वाण) मृगराजः सिंहः मृगकुलानां मध्ये सर्वेषामपि अधिकः प्रवानभूतः (अहिओ तह समस्तो) अधिक तथा सम्यक्त्वं । केवो मध्ये सम्यक्त्वमधिकं, (रिसिसावयदुविहृष्टमाण) शृणीणां दिग्मवराणां श्रावकाणां च देशयतीनां द्विविष्वमीणां मध्ये सम्यक्त्वमधिकं प्रवानभूतमित्यर्थः अस्य षट्प्राभूतग्रन्थस्य प्रारंभपरिसमाप्तिपर्यंतं सम्यक्त्वमेव प्रशंसितमिति तात्पर्यादिं ज्ञातव्य इति भावः ।

जह फणिराओ रेहइ फणमणिमाणिककिरण विष्फुरिओ ।

तह विमलदंसणधरो जिणभत्तोपदव्यणे जोबो ॥ १४३ ॥

यथा फणिराजो राजते फणमणिमाणिकयकिरणविष्फुरितः ।

तथा विमलदर्शनधरः जिननदिसद्वयादानो जोबः ॥ १४३ ॥

(जह फणिराओ रेहइ) यथा मणिराजो धरणेन्द्रो राजते शोभते । कथंभूतः सन् राजते, (फणमणिमाणिककिरणविष्फुरिओ) फणानां सहस्रसंख्यफटानां

पशुओं में सिंह प्रधान है उसो प्रकार मुनि-धर्म और श्रावक-धर्म इन दोनों धर्मोंमें सम्यक्त्व प्रधान है ॥ १४३ ॥

विशेषार्थ—यहाँ उपमालकार द्वारा आचार्य सम्पर्दशान की महिमा बतलाते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार चन्द्रमा समस्त ताराओं में प्रधान है और सिंह समस्त मृगों के समूह में प्रधान है, उसी प्रकार सम्यक्त्व मुनि और श्रावक—दोनों धर्मों में प्रधान है, अतः सम्यक्त्व को सर्व प्रथम प्राप्त करना चाहिये । इस षट्प्राभूत ग्रन्थ में प्रारम्भ से लेकर समाप्ति पर्यंत सम्यक्त्व की ही प्रशंसा की गई है, यह इस गाथाका तात्पर्य है ॥ १४३ ॥

गाथार्थ—जिस प्रकार हजार फणओं पर स्थित मणियों के बीच में विद्यमान माणिक्य की किरणोंसे देदोप्यमान शेषनाम शोभित होता है उसी प्रकार जिनभवित रूप सिद्धान्त से युक्त निमंल सम्पर्दशान का धारक जोब शोभित होता है ॥ १४३ ॥

विशेषार्थ—पद्मावती देवीका पति धरणेन्द्र नामका शेषनाम पाताल-सम्बन्धो स्वर्गलोक का स्वामी है । श्री भगवान् पाश्वनाथ का उपसर्ग द्वार करने के लिये उस धरणेन्द्र ने विक्रिया से एक ऐसे तागका रूप बनाया

१. पं० जयचन्द्रकृत वचनिकायां 'रेहइ' स्वामे 'सोहइ' राठो विद्यते ।

सम्बन्धिनो ये मण्यस्तेषु भव्ये यन्माणिकर्यं पद्मरागमणिः सम्यकणाथा उपरि स्थितं
थलालरत्नं तस्य सर्वांतमरत्नस्य ये किरणा रश्मयस्तीर्विस्फुरितो घरणेन्द्रः शेष-
नागानामा पद्मावतीदेवीप्राणवल्लभः पातालस्वर्गलोकस्वामी यथा शोभते । (तह
विमलदंष्ट्रवरो) तथा तेन प्रकारेण विमलदर्शनवरो निर्मलसम्यकत्वमहितो मुनिः
आवको वा । (जिणभस्तीपवयणो जीवो) जिनभक्तिरेव प्रवचनं गोप्यतत्व-
सिद्धान्तः, भावं वात्मा चातुर्वितकोऽपि पञ्चनिद्रियसंज्ञिजावः शोभते ।

तथा शोक्तं—

सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातृज्ञदेहज्ञ ।

देवा देवं विदुर्भस्मगृहाङ्गारात्तरौजस ॥ १ ॥

जह तारायणसहियं ससहरविंबं खमंडले विमले ।

भाविय तदवयविमलं जिनलिंगं दंसणविसुद्धं ॥ १४४ ॥

यथा तारागणसहितं शशधरविम्बं खमंडले विमले ।

भावितं तथा ऋतविमलं जिनलिंगं दर्शनविशुद्धम् ॥ १४४ ॥

(जह तारायणसहियं) यथा येन प्रकारेण तारागणसहितं । (ससहरविंबं
खमंडले विमले) शशधरविंबं अटमण्डलं खमण्डले मण्डनमण्डले । कथंभूते, विमले-

था जिसके हजार फण थे, एक एक फण पर एक एक मणि चमक रही
थी और बीज के फण पर माणिक्य अर्थात् लाल रङ्गका पद्मरागमणि
देवीप्यमान हो रहा था उन सब मणियों और माणिक्य की किरणों से उस
नाग को शोभा अद्भुत जान पड़ती थी उसी नागकी उपमा देते हुए यहाँ
आचार्यं सम्यग्दर्शन की महिमा का वर्णन करते हैं, वे कहते हैं कि जिस
प्रकार उन मणियों की किरणों से शेषनाग शोभित होता है उसी प्रकार
निर्मल सम्यग्दर्शन का धारक मुनि सुशोभित होता है । सम्यग्दर्शन चारों
गतियों के संज्ञो पञ्चनिद्रिय भव्य जीव को हो सकता है तथा सम्यग्दर्शनके
प्रभाव से उसकी महिमा बढ़ जाती है । जैसा कि कहा है—

सम्यग्दर्शन—जिसका आभ्यन्तर तेज भस्ममें छिपे हुए अङ्गारके
समान देवीप्यमान है गणधरादिक, ऐसे सम्यग्दृष्टि चाण्डाल को भी देव
कहते हैं ।

गायार्थ—जिस प्रकार निर्मल आकाश में तारागण से सहित चन्द्रमा
का विम्ब सुशोभित होता है उसी प्रकार निरतिचार ऋतों से सहित एवं
सम्यग्दर्शनसे चिह्नित जिनलिङ्ग सुशोभित होता है ॥ १४४ ॥

इष्टपटलादिरहिते । (भाविय तह वयविमल) तथा तेन प्रकारेण भावितवते निर्मिष्टिं निर्विचारत्वतरहिते । (जिनलिङ्गं दंसणादिसुहं) जिनलिङ्गं निर्ग्रन्थ-मुनिपूज्ञववेषः इन्नेन सम्यक्त्वेन विशुद्धं निर्मलं जिनशासने शोभते इति शेषः ।

इयं णाडं गुणदोसं दंसणरथणं धरेह भावेण ।

सारं गुणरथणाणं सोवाणं पद्म मोक्षस्स ॥ १४५ ॥

इति ज्ञात्वा गुणदोषं दर्शनरत्नं धरत भावेन ।

सारं गुणरत्नानां सोपानं प्रथमं मोक्षस्य ॥ १४५ ॥

(इयं णाडं गुणदोसं) इत्यमुना प्रकारेण ज्ञात्वा सम्यक्त्विचार्यं गुणदोषं, सम्यक्त्व-गुणरत्नमण्डितः पुमान् गुणवान्-मिद्यात्मेन दृषितो जीवो महापातकीति विज्ञाय । (इसणरथणं धरेह भावेण) दर्शनरत्नं सम्यक्त्वरत्नं धरत युग्मं भावेन शुद्धपरिणामेन कण्ठं परित्यज्येत्यर्थः । (सारं गुणरथणाणं) सारं उत्तमं गुणरत्नानां मध्ये द्रवत्समितिगुप्त्यावीनां मध्ये बानपूजोपवासशीलव्रतादीनां च मध्ये सम्यक्त्वरत्नं सारं उत्तमं धरत मूर्खं यं हे भव्याः ॥ ॥ कथंभूतं, (सोवाणं पद्म मोक्षस्स) सोपानं आरोहणं पादारोपणस्थानं पद्मं-प्रथमं । कस्य, मोक्षस्य सर्वकर्मक्षम्य-लक्षणोपलक्षितस्य मोक्षप्राप्ताक्षयस्योपरितनभूम्युपरिगमने, सिद्धपर्यायप्राप्तमित्यर्थः ।

विद्वेषार्थ—मेघपटल तथा धूलि आदि से रहित आकाश निर्भल कहलाता है जिस प्रकार निर्मल आकाश में ताराओं के समूह से सहित चन्द्रमण्डल सुशोभित होता है उसी प्रकार दिमल अर्थात् पूर्वपिर विरोध से रहित जिनशासन में तिरतिचार व्रतों से युक्त एवं सम्यक्त्वसे विशुद्ध-निर्दोष जिनलिङ्गं-निर्ग्रन्थ मुनिका वेष सुशोभित होता है ॥ १४४ ॥

गाथार्थ—इस प्रकार गुण और दोष को जानकर हे भव्य जीवो ! तुम उस सम्बद्धरूपी रत्नको भावसे धारण करो जो कि गुणरूपी रत्नों में श्रेष्ठ है तथा मोक्ष महल की पहली सीढ़ी है ॥ १४५ ॥

विद्वेषार्थ—सम्यक्त्वगुणरूपी रत्न से मण्डित पुरुष गुणवान् है और मिद्यात्म से दृषित जीव महापापी है, ऐसा जानकर हे भव्य जीवो ! तुम उस सम्यक्त्व-रूपी रत्न को भाव अर्थात् शुद्ध परिणाम से धारण करो, जो कि मुनियों की अपेक्षा व्रत समिति मुक्ति आदि गुण रूपी रत्नों के मध्य सारभूत है तथा आवकों की अपेक्षा दान पूजा उपवास शील व्रत आदि गुण रूपी रत्नोंके बीच सर्वोत्तम है और सर्वं कर्म-क्षम्य रूप मोक्ष महल के उपरितन भाग में जाने के लिये पहली सीढ़ी है ॥ १४५ ॥

कला भोइ अमुतो सरोरमित्तो अणाइण्हणो य । “
दंसणणाणुबोगो णिद्विटो जिणवरिदेहि ॥ १४६॥

कर्ता भोगी अमूर्तः शरीरमात्रः अनादिनिधनवच ।
दर्शनज्ञानोपयोगः निर्दिष्टो जिनवरेन्द्रेः ॥ १४६ ॥

(कला भोइ अमुतो) जीवशब्दः पूर्वोक्त एव याहुः । तेन जीव आत्मा कर्ता वर्तते न केवलं कर्ता पुण्यस्य पापस्य च अपि तु भोगी पुण्यस्य पापस्य च फलस्य भोक्ता आत्माद्वय इति व्यवहारः, निश्चयेन तु केवलज्ञानस्य केवलदर्शनस्य च कर्ता वर्तते । तथा अनन्तसुखस्य भोक्ता अनन्तबीर्यस्य च । अमूर्तो मूर्तेः शरीराप्रहित इति निश्चयः, व्यवहारेण तु कर्मबन्धप्रबन्धात् शरीरसंयुक्तत्वात्त्वं मूर्ते इत्युच्यते । (सरीरमित्तो अणाइण्हणो य) शरीरमात्र शरीरप्रमाण आत्मा वर्तते इति व्यवहारः तस्माद्दुःखादेवत्वात्, निश्चयेन तु असंख्यातप्रदेश-त्वाल्लोकप्रमाणः । अनादिनिधनवच जीवस्यादिनास्ति निधन विनाशश्च न वर्तते । (दंसणणाणुबोगो) दर्शनज्ञानोपयोगः व्यवहारेण चत्वारि दर्शनानि अष्टज्ञानानि उभयाम्या द्विविधोपयोगः, निश्चयेन तु केवलज्ञानकेवलदर्शनाम्या द्विविधोपयोगः

गायार्थ—जिनेन्द्र देव ने जीवको कर्ता, भोक्ता, अमूर्त, शरीर-प्रमाण, अनादिनिधन, तथा दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग से युक्त कहा ॥ १४६ ॥

विशेषार्थ—यह जीव व्यवहार नयसे पुण्य पापका कर्ता है तथा पुण्य पापके फलको भोगने वाला है और निश्चयनय से केवल ज्ञान तथा केवल-दर्शन का कर्ता है और अनन्तसुख तथा अनन्तबीर्यका भोक्ता है । मूर्ति अथवा शरीरसे रहित होनेके कारण अमूर्त है, यह निश्चय नयका कथन है और कर्मबन्ध तथा शरीर से संयुक्त होनेके कारण मूर्त है, यह व्यवहार नयका कथन है । क्योंकि आत्मा शरीर-सम्बन्धी सुख दुःख आदिका वेदन करता है इसलिये व्यवहारकी अपेक्षा शरीर-प्रमाण है तथा निश्चयकी अपेक्षा असंख्यात-प्रदेशी होनेमे लोक-प्रमाण है । यह जीव द्रव्य दृष्टि से अनादि अनन्त है [और पर्यायिद्वृष्टि से सादि सान्त है] व्यवहार नयकी अपेक्षा चार प्रकारके दर्शनोपयोग और आठ प्रकार के ज्ञानोपयोग से सहित है । निश्चयनय की अपेक्षा केवलज्ञान और केवलदर्शन इन दो उपयोगों से सहित है और परम निश्चय नयकी अपेक्षा तन्मय होने के

परमनिश्चयेन तु आत्मा केवलज्ञानभेदं तन्मयत्वात् । (जिविट्ठो जिणवरिदेहि)
निदिष्टः प्रतिपादितः कथित आत्मा जिनवरेन्द्रैः सर्वंशक्तीतरागैरिति तात्पर्यः ।

दंसणणाणावरणं मोहणियं अंतराह्यं कर्मं ।

णिट्टवह भवियजीवो सम्मं जिणभावणाजुसो ॥ १४७ ॥

दर्शनज्ञानावरणं मोहनीयमन्तरायं कर्मं ।

निष्ठापर्याति भव्यजीवः सम्यग्जिनभावनायुक्तः ॥ १४७ ॥

(दंसणणाणावरणं) दर्शनावरणं नवविधं, तत्र चक्षुर्दर्शनावरणं लक्ष्मुदर्शनावरणं अवधिदर्शनावरणं केवलदर्शनावरणचेति चतुर्विधं दर्शनावरणं निद्रा-निद्रानिद्रा-प्रचला-प्रचला-प्रचला स्थानगृहिणवेति पंचविधा निद्रा एवं नवविधं दर्शनावरणं । मतिज्ञानावरणं श्रुतज्ञानावरणं अवधिज्ञानावरणं मनःपर्यंज्ञानावरण केवलज्ञानावरणं चेति पंचविधं ज्ञानावरणं । (मोहणियं अंतराह्यं कर्मं) मोहनीयं कर्मं अष्टाविंशतिभेदं, अन्तरायं कर्मं पञ्चभेदे । तत्राष्टाविंशतिभेदं मोहनीयं कर्मं यथा-तत्र त्रिविधं दर्शनमोहनीयं सम्यक्त्वं मिथ्यात्वं सम्यग्मिथ्यात्वं चेति । आरित्रमोहनीयं पंचविंशतिभेदं, अकषायभेदा नव हास्यं रतिः अरतिःशोको भयं जुगुप्ता स्त्री-वेदः पुरुषेदस्त्रेति नव नोकषाया अकषाया उच्यन्ते

कारण आत्मा केवल ज्ञानरूप ही है, ऐसा बीतराग सर्वं देवने कहा है ॥ १४६ ॥

गायार्य—सम्यक् जिनभावना से युक्त अर्थात् जिनसम्यक्त्व का आराधक भव्य जीव, ज्ञानावरण मोहनीय और अन्तराय कर्मका क्षय करता है ॥ १४७ ॥

विशेषार्थ—चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण ये चार दर्शनावरण तथा निद्रा, निद्रा-निद्रा प्रचला, प्रचला, प्रचला और स्थानगृहि ये पाँच निद्राएँ दोनों मिलाकर दर्शनावरण कर्म नौ प्रकारका हैं । मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्यंज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण ये पाँच ज्ञानावरण के भेद हैं । मोहनीय के अट्ठाईस भेद हैं जिनमें सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व ये तीन दर्शन मोहनीय के भेद हैं । आरित्र मोहनीय के पञ्चोस भेद हैं जिनमें हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्ता, स्त्री-वेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद, ये नौ कषाय अथवा अकषाय कहलाती हैं क्योंकि ये यथारूपात्मारित्र की घातक

यथारूपातचारित्रधातक्त्वात् । षोडश कषायाः । तथाहि-अनन्तानुबन्धी क्रोधोऽन-
स्तानुबन्धी मानोऽनन्तानुबन्धिनी मायाऽनन्तानुबन्धी लोभेति चत्वारः कषायाः
सम्यक्त्वधातकाः पूर्वोक्ते त्रिविधं दर्शनमोहनीयं च । अप्रत्यारूपानक्रोधोऽप्रत्यारूपा-
नमानोऽप्रत्यारूपानमायाऽप्रत्यारूपामलोभेति चत्वारः कषायाः शावकद्रवत्वातकाः ।
प्रत्यारूपानक्रोधः प्रत्यारूपानमानः प्रत्यारूपानमाया प्रत्यारूपानलोभेति चत्वारः
कषाया महावत्वधातकाः । सञ्ज्वलनक्रोधः सञ्ज्वलनमानः सञ्ज्वलनमाया सञ्ज्वलनलोभ-
ेति चत्वारः कषाया यथारूपात-चारित्रधातकाः । अन्तरायः पञ्चविघ्नो दानान्त-
रायो लाभान्तरायो भोगान्तराय उपभोगान्तरायो वीर्यान्तरायेति । एतस्सर्वं
कर्म (णिट्ठवङ्ग भवियजीवो) निष्ठायति कर्म नयति, कोऽस्ती ? भविकजीवो
भव्यजनः । (सम्यग्जिनभावनायुक्तो जिनसम्यक्त्वारा-
द्धक इत्यर्थः ।

बलसौख्यज्ञानदर्शनं चत्वारोपि प्रकटा गुणा भवन्ति ।

णटे धातिचतुष्के लोकालोकं प्रकाशयति ॥ १४८ ॥

बलसौख्यज्ञानदर्शनं चत्वारोपि प्रकटा गुणा भवन्ति ।

नष्टे धातिचतुष्के लोकालोकं प्रकाशयति ॥ १४८ ॥

(बलसौख्यज्ञानदर्शन) बल चानन्तरीयं केवलज्ञानदर्शनाभ्यामनन्तानन्तद्वय-
पर्याप्तिस्वरूपरिच्छेदकत्वलक्षणा शक्तिरनन्तरीयमुच्यते न तु कस्यचिद्भातकरणे
भगवान् बले विवधाति सूक्ष्मगुणाभावप्रसक्तेः तथा षोडशमाशाष्टरेण महाकविना—

है । शेष सौलह कषाय कहलाती है जिनमें अनन्तानुबन्धी क्रोध मान
माया और लोभ ये चार कषाय तथा पहले कहा हुआ तीन प्रकार का
दर्शनमोहनीय ये सात प्रकृतियाँ सम्यक्त्व का धात करने वाली हैं ।
अप्रत्यारूपानक्रोध मान माया और लोभ ये चार कषाय शावक के व्रतों-
का धात करने वाली हैं । प्रत्यारूपानक्रोध मान माया और लोभ ये चार
कषाय महावत की धातक हैं तथा सञ्ज्वलन क्रोध मान माया और लोभ
में चार कषाय यथारूपातचारित्र की धातक हैं । अन्तराय पञ्च प्रकार
का है-दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और
वीर्यान्तराय । सम्यग् जिन भावनासे युक्त भव्य जीव इन सब कर्मोंका क्षय
करता है ।

बलसौख्य—सम्यग्दर्शन के प्रभाव से चार धातिया कर्मोंके नष्ट होने
पर इस जीव के बल, सुख, ज्ञान और दर्शन ये चार गुण प्रकट होते हैं तथा
बहु लोक और अलोक को प्रकाशित करने लगता है ॥ १४८ ॥

यदव्याहृति न जातु किञ्चिदपि न व्यज्ञहन्यते केनचिद् ।
 यन्निष्ठीतसमस्तवस्त्वपि सदा केनापि न स्मृश्यते ।
 यत्सर्वेन्नसमक्षमप्यविषयस्तस्यापि आर्थिगिरो ।
 तद्भः सूक्ष्मतर्म 'स्वतस्यमभया भाव्यं भवोऽच्छित्ये ॥ ६ ॥

तथा अनन्तसौर्यं भगवतः सिद्धस्य भवति तदप्यनन्तज्ञानगुणसद्भावात् परमानन्दोत्पत्तिलक्षणं वस्तुस्वरूपपरिच्छेदकत्वमेव वेदितव्यं । तथा चोक्तं विमान-पंक्त्युपास्यानपयन्ते । तथा हि—

शास्त्रं शास्त्राणि वा ज्ञात्वा तीव्रं तु ष्ठन्ति साधवः ।
 सर्वतत्वार्थविज्ञाना नै सिद्धाः सुखिनः कथं ॥

विशेषार्थ—यहाँ बलका अर्थ अनन्त वीर्य है । केवलज्ञान और केवल-धर्मानके हारा अनन्तानन्त द्वय और उनके पर्यायोंके स्वरूप को जाननेकी जो शक्ति है वह अनन्तवीर्य कहलाती है । भगवान् किसी का व्याधात करने में अपने बलका प्रयोग नहीं करते अन्यथा उनके सूक्ष्मत्वं गुणके अभाव का प्रमाण आ जायगा । जैसा कि महाकवि आशाधर जी ने कहा है—

यदव्याहृति—जो कभी किसी का व्याधात नहीं करता और न कभी किसी के हारा व्याधात को प्राप्त होता है । जो समस्त वस्तुओं के आकार को सदा स्वयं निष्ठीत किये हैं अर्थात् अपने आपमें प्रतिविम्बित किये हैं परन्तु स्वयं किसी अन्यके हारा स्पृष्ट नहीं होता । जिसे सर्वज्ञ प्रत्यक्ष जानते हैं तो भी जो वाणीका विषय नहीं है वह अत्यन्त सूक्ष्म तत्व ही तुम्हारा निजका तत्व है । हे सप्तभय से रहित सम्यगदृष्टि पुरुषों ! संसारका उच्छेद करने के लिये तुम उसीका चिन्तवन करो ।

इसी प्रकार सिद्ध परमेष्ठी के जो अनन्त सुख नामका गुण है वह भी अनन्त ज्ञान गुण के सद्भाव से परमानन्द की उत्पत्ति रूप वस्तु स्वरूप को जानने की जो योग्यता है तदरूप ही जानना चाहिये ।

जैसा कि विमान पंक्तिव्रत की कथाके अन्त में कहा गया है—

शास्त्रं—जब एक या चार छह शास्त्रोंको जानकर साधु अत्यन्त संतुष्ट होते हैं—सुखी होते हैं, तब समस्त तत्वार्थ को जानने वाले सिद्ध भगवान् सुखी क्यों नहीं होंगे ? अबस्य होंगे ॥१॥

१. भगवा म० ।

२. विमान म० ।

चक्रिणां कुरुज्ञातानां नागेन्द्राणां महत्वताम् ।
 अनन्तगुणितं सोऽस्यमुखरोत्तरवर्णितानां ॥२॥
 तस्मिकालभवात् सौभ्यादनन्तगुणितं सुखं ।
 सिद्धानां तु क्षणार्थेन ते चो पश्चान्तु तन्त्रिष्व ॥३॥

तथा ज्ञानं केवलज्ञानं लोकालोकवस्तुपरिज्ञायकं, दर्शनं ज्ञानतदर्शनं ज्ञानक्षण एव वस्तुसत्तास्वरूपेण प्रहृष्टलक्षणं बोद्धुक्षणं (चक्षारि वि पायडा गुणा होति) चत्वारोऽपि गुणाः प्रकटा भवन्ति । कस्मिन् सति, (षट्ठे षाहचरुके) नष्टे विनाशं प्राप्ते षाहचरुके—मोहज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायारम्भकेवलज्ञान-साम्राज्यविध्वंसकारके कर्मशकुचतुष्टये । (लोयालोयं पथासेनि) लोकालोकं प्रकाशयति । लोकयन्ते दृष्ट्यन्ते जोवपुद्गलधर्मधिमंकालाकाशा यस्मिन्द्विति लोकः । ते न

चक्रिणां—चक्रवर्तीं, भोगभूमिज, मनुष्य, नागेन्द्र और देव इनके उत्तरोत्तर अनन्त गुणा सुख होता है ॥२॥

तस्मिकाल—और इन सबको तीनकालमें जितना सुख होता है उससे अनन्त गुण सुख सिद्ध भगवान् को आधे क्षण में प्राप्त होता है । वे सिद्ध भगवान् तुम सबको मोक्ष प्रदान करें ॥३॥

इसी प्रकार ज्ञान शब्द से लोक तथा अलोककी वस्तुओंको जानने वाला केवलज्ञान लेता चाहिये और दर्शन शब्द से अनन्त दर्शन अर्थात् केवल-दर्शनका ग्रहण करता चाहिये । यह केवलदर्शन ज्ञानके साथ ही वस्तुके सत्ता स्वरूपको ग्रहण करनेवाला होता है । मोह, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय ये चार कर्म, आत्माके केवलज्ञान रूप साम्राज्य का विध्वंस करने वाले कर्म शक्ति हैं । इनका क्षय होनेपर ही ऊपर कहे हुए केवल-ज्ञानादि गुण प्रकट होते हैं । जिसमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छह द्रव्य दिखाई देते हैं—वह लोक है और जिसमें सब ओर अनन्तानन्त जीव आदि पदार्थ नहीं दिखाई देते हैं वह अलोक

१. त्रिलोकसारस्य निम्नाङ्कुशः गाया एतेषां श्लोकानां भूलधारः प्रतीताः—

एर्य सर्वं सर्वं सर्वं वा सम्म मेत्य जाणता ।

तिष्वं तुसर्वं गरा कि य सम्पत्त्वतच्छण्डा ॥१॥

सक्ति कुरु कणि सुर्विदे सह मिदेजि सुहं तिकालभवं ।

तसी वर्णत गुणिदं सिद्धार्थं लोकसुहं दोषि ॥२॥

लोक्यन्ते न दृश्यम्ते यस्मिन् संसारे सर्वतोऽनन्तानन्तजीवादयः पदार्थः सोऽलोकः^१
लोकश्चालोकश्च लोकालोकस्त लोकालोकं प्रकाशयति जानाति पश्यति चेत्यर्थः ।

जाणी सिव परमेष्ठी सब्बमृह विष्णु चद्गुहो दुदो ।

अप्यो वि य परमप्यो कम्मविमुक्तको य होइ फुड ॥१४९॥

जानी शिवः परमेष्ठी सर्वज्ञो विष्णुः चतुर्मुखो दुदः ।

आत्मापि च परमात्मा कर्मविमुक्तश्च भवति स्फुटम् ॥१४९॥

सम्यग्दर्शनप्रभावेणायं संसारी जीवः सिद्धो भवतीति न केवलं भवतीत्यपि
शब्दस्यार्थः । स सिद्धः कर्मभूतः तस्य नाममालां प्रतिपादयन्नाह भगवान्
कुम्दकुन्दाचार्यः—(जाणी सिव परमेष्ठी) जानी ज्ञानमनन्तकेवलज्ञानं विद्यते
यस्य स भवति जानी । शिवः परमकल्याणभूतः शिवति लोकाये गच्छतीति
शिवः । “नाभ्युपष्टप्रोक्तगृहां कः” । परमेष्ठी इन्द्रचन्द्रधरणेन्द्रवंदिते पदे तिष्ठतीति
परमेष्ठी । औणादिकोर्ध्वं प्रयोगः । (सब्बमृह विष्णु चद्गुहो दुदो) सर्वं लोका-
लोकं जानाति चेत्तीति सर्वज्ञः । वेवेष्टि केवलज्ञानेन लोकालोकं व्याप्तोतिति
विष्णुः “विषेः किञ्चच” इत्यनेन युप्रस्तयः स च किञ्चु कानुबन्धत्वान्न गृणः । चतु-
र्सु-

है । आतिचतुष्क के नष्ट होने पर यह जीव लोक और अलोक को
प्रकाशित करने लगता है अर्थात् जानने देखने लगता है ॥१४८॥

पदार्थ—सम्यग्दर्शन के प्रभाव से यह संसारी जीव भी जानी, शिव,
परमेष्ठी, सर्वज्ञ, विष्णु, चतुर्मुख, दुद और परमात्मा हो जाता है तथा
निश्चय-पूर्वक कर्मों से मुक्त हो जाता है ॥१४९॥

विदेशार्थ—सम्यग्दर्शनके प्रभावसे यह संसारी जीव सिद्ध हो जाता
है, यात्र इतमी ही बात नहीं है किञ्चु सर्वज्ञ आदि भी होता है, यह अपि
शब्दका अर्थ है । वह सिद्ध कैसा होता है ? उसकी नामावली का प्रति-
पादन करते हुए श्री भगवान् कुम्दकुन्दाचार्य कहते हैं—वह सिद्ध जानी
है अर्थात् अनन्त—केवलज्ञानसे युक्त होनेके कारण ज्ञानी है । परम
कल्याण भूत होनेसे शिव है बधवा ‘शिवति लोकाये गच्छतीति शिवः’
इस व्युत्पत्ति से लोकाय को प्राप्त होनेसे शिव है । शिव शब्द में
‘नाभ्युपष्टप्रोक्तगृहां कः’ इस सूत्र से क प्रत्यय हुआ है । इन्द्र चन्द्र तथा
धरणेन्द्र से बन्दित परम पद—उल्लङ्घन पदमें स्थित होनेसे परमेष्ठो हैं ।
परमेष्ठी शब्द उणादि प्रकरण से सिद्ध होता है । समस्त लोकालोक को

१. पदार्थलोकः य० क० ।

मूर्खः भूतपूर्वनयापेक्षया चतुर्मुखः चतुर्दिक्षुक्षवर्त्सभ्यानां सम्मुखस्य दृश्यमानत्वात् सिद्धावस्थायां तु सर्वश्रावलोकनशीलत्वात् चतुर्मुखः । बुद्धते सर्वं ज्ञानातीति बुद्धः । “अ्यनुबन्धमतिदुद्धिपूजार्थेभ्यः वक्तः” इत्यनेन सूत्रेण वर्तमानकाले वक्तप्रत्ययः । (अप्यो वि य परमप्यो) आत्मापि च संसारी जीवोऽपि च परमात्मा अहेन् सिद्धक्ष भवति । कथंभूतः सिद्धः, (कम्मविभुक्तको य होइ कुड़) कर्मभ्यो विमुक्तो रहितो भवति संजायते स्फुटं निश्चयेनेति क्षेपः । एतत् सम्यग्दर्शनस्य महान् महिमा ज्ञातव्य इति भावायां ।

इय घाटकम्ममुक्तको अद्भारहृदोसवज्जितो सयलो ।

तिहुदणभवणपदीवो देउ सम उत्तमं बोधम् ॥१५०॥

इति दातिष्ठ-वैभूतः धर्ष्टदद्वदोपविजितः सकलः ।

त्रिभुवनभवनप्रदीपः ददातु मात्यभूतमं बोधम् ॥१५०॥

(इय घाटकम्ममुक्तको), इति पूर्वोक्तलक्षणात्मातिकर्मभ्यो भुक्तः । (अद्भारहृदोसवज्जितो सयलो) अष्टाङ्गेशदोषवज्जितो रहितः, सकलः सह कलया शरीरेण वर्तते इति सकलः तेन तस्य घर्मोपदेशोऽपि चट्टते शरीरसंयुक्तपरमापातत्वात् । एतेनेदं वचनं प्रत्युक्तं भवति—

जानता है इसलिये सर्वज्ञ है । केवलज्ञानके द्वारा लोकालोक को व्याप्त करता है इसलिये विष्णु है । विष्णु पाद्व में ‘विष्णोः किञ्च’ इस सूत्र से नु प्रत्यय हुआ है तथा किन् होनेके कारण गुण नहीं हुआ है । भूतपूर्वनयकी अपेक्षा अर्थात् समवशारण में चारों दिशाओं में बैठे हुए सभ्यों को सन्मुख दर्शन होते थे इस विकाससे चतुर्मुख कहलाता है और सिद्धावस्था में सब ओर के पदार्थों को ज्ञानता देता है इसलिये चतुर्मुख कहलाता है । समस्त पदार्थों को ज्ञानता है इसलिये बुद्ध है । बुद्ध पाद्व में ‘अ्यनुबन्ध-मति-दुद्धि-पूजार्थेभ्यः वक्तः’ इस सूत्र से वर्तमान काल में वक्त प्रत्यय हुआ है । अहेन्त और सिद्ध होनेसे परमात्मा कहलाता है तथा निश्चय से ज्ञानावरणादि कर्मोंसे विमुक्त होता है । यह सब सम्यग्दर्शन की महान् महिमा ज्ञानना चाहिये ॥१४९॥

गाथार्थ—इस प्रकार जो धातिया कर्मोंसे मुक्त हो चुके हैं, अठारहृदोषों से रहित हैं तथा तीन लोक रूपी भवन को प्रकाशित करने के लिये श्रेष्ठ दीपक के समान हैं वे सकल अर्थात् परमीदारिक घरीरके घारक अहेन्त अगवान् मुझे उत्तम ज्ञान-केवलज्ञान देवें ॥१५०॥

विद्वेषार्थ—अहेन्त अगवान् पूर्वोक्त चार धातिया कर्मोंसे रहित हैं। अठारहृदोषों से रहित हैं और सकल अर्थात् कला-परमीदारिक घरीर

‘अदृष्टविश्राच्छान्ताञ्जिवात्परमकारणात् ।

नादरूपं समुत्तरं शास्त्रं परमदुर्लभं ।

ज्ञानीरस्य शास्त्रोत्तरित्वं संग्रहते कूर्मरोमवत् बन्ध्यात्तनन्वयवत् शास्त्रविषय-
वात् विष्णुपदलतोत्तरत् महरोचिकोदकवत् “अष्टी स्थानानि वर्णनां” इति
शब्दानां करचकारणत्वात् । (तिहुवर्णभणवपद्धिवो) वैलोक्यगृहस्य दीपः प्रश्नोत्तरः
श्रिभुवनप्रदीपः । (देउ मम उत्तमं दोहं) ददातु मम महा’ उत्तमं दोहं
केवलज्ञानं । इतोष्ट्रायांना श्रीकृष्णकुन्दाचार्याणां शास्त्रकरणस्य फलाभिलवित्वात् ।
अथ के ते ब्रह्मदाश दोषा इति चेदुक्ता अप्युच्यन्ते—

✓ ‘कुर्तिपासाचरात्कृजन्मान्तकम्यस्मयः ।

न रागद्वेषमोहाद्वयस्थाप्तः सः प्रकारेति ॥ १ ॥

से सहित हैं । यहाँ सकल विशेषण देने से अहंत भगवान् के शरीर
संयुक्त परमात्म-पना प्रकट किया है इसीसे उनके धर्मोपदेश भी घटित
हो जाता है । अहंत परमेष्ठो को शरीर सहित मान लेनेसे निम्नाङ्कित
कथन खण्डित हो जाता है—

अदृष्ट—‘जिसका शरीर अदृष्ट है, जो शान्त है तथा जो परम
कारण रूप है, उस शिव से परम दुर्लभ नाद रूप शास्त्र उत्पन्न हुआ है ।’

जिस प्रकार कछुए से रोम की, बन्ध्या से पुत्रकी, शशा से सींग की,
आकाश से पुष्प की और मृगमरीचिका से जल की उत्पत्ति असंगत है
उसी तरह शरोर-रहित शिव से शास्त्र की उत्पत्ति असंगत है । क्योंकि,
अष्टी स्थानानि वर्णनाम् वर्णों की उत्पत्ति कण्ठ तालु आदि आठ स्थानों
से होती है, इस नियम के अनुसार शब्दों की उत्पत्ति का कारण करण
शरीर ही हो सकता है ।

अहंत भगवान् तोन लोक रूपो घर को प्रकाशित करनेके लिये उसम
दीप-स्वरूप हैं / श्री कृष्णकुन्दाचार्य शास्त्र-रचना के फलकी अभिलाषा
रखते हुए इष्ट प्रार्थना करते हैं कि वे अरहंत भगवान् मेरे लिये उत्तम
ज्ञान-केवलज्ञान प्रदान करें ।

अब उन अठारह दोषोंको कहते हैं जो अरहंत भगवान् में नहीं
होते ।

कुर्तिपासा—भूख, प्यास, बुद्धापा, रोग, जन्म, मरण, भय, गर्व, राग-

चकाराच्छिन्ताइरतिनिद्राविषादस्तेवद्वेदविस्मया गृह्णन्ते । निर्दोषपरमाप्त-
विचारोऽष्टसहस्रीन्यायकुमुदचन्द्रोदयप्रमेयकमलमातंडदातपरीक्षात्स्वार्थराजवातिक-
तस्वार्थश्लोकवातिकन्यायविनिक्षयालक्ष्मारादिषु महाशास्त्रेषु विस्तरेण ज्ञातव्यः ।

जिणवरचरणंबुद्धं परमति जे परमभक्तिराएण ।

ते जन्मवेल्लिमूलं खण्डति वरभावसत्येण ॥ १५१ ॥

जिनवरचरणंबुद्धं कृष्णन्ति ये वरमभक्तिरायेण ।

ते जन्मवल्लीमूलं खनन्ति वरभावशस्त्रेण ॥ १५१ ॥

(जिणवरचरणंबुद्धं) जिनोऽनेकविषयमध्यग्रहनव्यसनप्रापणहेतून् कर्मारातीन्
जयतीति जिनः “इणजिकृषिभ्यो ‘नक्’” । जिनविषासी वरः श्रेष्ठो जिनवरः ।
अथवा जिनानां गणधरदेवादीनां सब्ये वरः श्रेयस्करो जिनवरस्तस्य चरणावेदाम्बु-
द्धं जिनवरचरणाम्बुद्धं श्रीमद्भगवद्वाहृत्सर्वज्ञदोत्तरागणावपद्म । (परम-

द्वेष, मोह और चकार से संगृहीत चिन्ता अरति निद्रा विषाद पसोना खेद
और आश्चर्य ये अठारह दोष जिसमें नहीं होते हैं वह आप्त कहा
जाता है ।

निर्दोष आप्त का विचार अष्टसहस्री, न्याय कुमुदचन्द्रोदय, प्रमेय-
कमलमातंड, आप्तपरीक्षा, तस्वार्थराजवातिक, तस्वार्थश्लोक-
वातिक तथा न्यायविनिष्चयालक्ष्मारादि शास्त्रों में विस्तारसे जानना
चाहिये ॥ १५० ॥

गायार्थ—जो उत्कृष्ट अक्षितसम्बन्धी रागसे जिनेन्द्रदेवके चरण
कमलों को नमस्कार करते हैं वे उत्तम भाव रूपी शास्त्रके द्वारा संसाररूपी
लताके मूलको उखाड़ देते हैं ॥ १५१ ॥

विशेषार्थ—‘जयतीति जिनः’ इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो संसार
रूपी सघन वन में अनेक विषय कष्टोंको प्राप्त कराने वाले कर्मरूपी
शत्रुओं को जीतता है वह जिन कहलाता है । ‘इण् जिकृषिभ्योनक्’ इस
सूत्र से ‘जि जये’ धातु से नक् प्रत्यय होने पर जिन शब्द सिद्ध होता है ।
जो जिन होकर श्रेष्ठ है वह जिनवर है अथवा जिन शब्द से गणधर देव
आदिका ग्रहण होता है उनमें जा वर-श्रेष्ठ है ये जिनवर-स्त्रीर्थकर परम-
देव कहलाते हैं । उन तीर्थकर सर्वज्ञ अहन्त देवके चरण कमलों को निकट
भव्य जीव परमभक्ति रूप अनुराग अर्थात् अकृत्रिम स्नेह से नमस्कार

१. इत्यनेन जि जये न इत्यस्य जातीनंशादेशः क इतु किञ्चान्नैङ् ।

भत्तिराएण) नमन्ति नमस्कुर्वन्ति ये आत्मानमव्याः परमभत्तिरागेण परमभक्त्यनु-
रागेणाकृष्णमस्तेहेन । (ते जग्मवेल्लिमूर्लं) ते पुरुषा अस्मवल्लीमूर्लं खनन्तीति
सम्बन्धः, जन्मेव वल्ली संसारवीद् अपन्तानन्तप्रसारत्वात् तस्या मूर्लं कन्दे
खनति उत्पाटयन्ति उद्धरन्ति समूलकार्षं कषम्तोत्स्यर्थः मोहस्य विष्णुवेदकत्वात्,
संसारवल्लीमूर्लं मिथ्यात्वमोहः तस्य मूर्लं खनस्ति सम्यग्दृष्टयो भवन्ति । उक्तं च
श्रीभीजराजमहाराजेन—

‘सुप्तोत्पितेन सुमुखेन सुमंगलाय दृष्टव्यमस्ति यदि मंगलमेव वस्तु ।

अधेन कि तदिह नाथ ! तवेव वक्त्रं शैलोक्यमंगलनिकेतनमीक्षणीयं ॥ १ ॥

(खण्ठि वरभावसत्त्वेण) खनन्ति निमूलकार्षं कषन्ति, वेळ कृत्या ? वर-
भावसत्त्वेण विशिष्टभावनाकुदालेन दात्राविना वा ।

जह सलिलेण च लिप्यह कमलणिपत्तं सहावपयडोए ।

तह भावेण ण लिप्यह कसायविसएर्हि सत्पुरिसो ॥ १५२ ॥

यथा सलिलेण न लिप्यते कषमितीपत्रं स्वभावप्रकृत्या ।

तथा भावेन न लिप्यते कषायविषयैः सत्पुरुषः ॥ १५२ ॥

(जह सलिलेण ण लिप्यह) यथा येन प्रकारेण सलिलेन जलेन न लिप्यते
न स्पृश्यते । कि तत्कर्मतापन्तं, (कमलणिपत्तं सहावपयडोए) कमलिनीपत्रं पदिम-
नीच्छदः स्वभावप्रकृत्या निजस्वभावेन । (तह भावेण ण लिप्यह) तथा सेन प्रकारेण

करते हैं वे जन्मवल्ली अथर्त् संसार रूपी लता के मूल को—जड़को खोद
हालते हैं । संसार रूपी लता का मूल मिथ्यात्व रूप मोह है उसे जो
विशिष्ट भावना रूपी कुदालो के द्वारा खोदते हैं वे सम्यग्दृष्टि हैं । जैसा
कि मोज महाराज ने कहा है—

सुप्तोत्पितेन—सोकर उठे हुए सत्पुरुष को यदि सुमञ्जल के कोई
माञ्जलिक वस्तु देखने योग्य है तो हे नाथ ! और दूसरो वस्तु की क्या
आवश्यकता है ? उसे तीन लोक के मञ्जलोंका धर स्वरूप आपके श्री
मुखका ही दर्शन करना चाहिये ।

गायार्थ—जिस प्रकार कमलिनी का पत्ता स्वभाव से ही जलसे लिप्त
नहीं होता उसी प्रकार सत्पुरुष—सम्यग्दृष्टि मनुष्य स्वभाव से ही कषाय
और विषयों से लिप्त नहीं होता ॥ १५२ ॥

१. जिन अनुरांशितिका त्वेने नृपाल करेः ।

२. न लिप्यह क० च० ।

भावेन जिनचरणकमलभक्तिलक्षणसम्यकत्वेन करणभूतेन हृत्वा । कीः कर्तुभूतेः न
लिप्यते, (कसायविसएहि सप्तुरिसो) कषायैः क्रोधमानमायालोमीः, विषयैः
विषयसुत्तेः स्पष्टरसगन्धं वर्णशब्दैः सत्पुरुषः सम्यगदृष्टिजीवः । तथा चोकर्त—

धात्रीबालाऽस्मीनाशपचिमीदलवारित् ।

दग्धरज्जुवदाभास भुज्जन् राज्यं न पापाभाक् ॥ १ ॥

ते चित्तय भणामिहं जे सयलकलासीलसंजमगुणेहि ।

बहुदोषाणामावासो सुमलिनचित्तो ण सावधसमो सो ॥ १५३ ॥

तानेव भणामि अहं ये सकलकलाशीलसंयमगुणैः ।

बहुदोषाणामावासः सुमलिनचित्तः न श्रावकसमः सः ॥ १५३ ॥

(ते चित्तय भणामिहं जे) तानेव सत्पुरुषानहं कुन्दकुन्दाचार्यो भणामि कथ-
यामि । तान् कान्, ये पुरुषाः (सयलकलासीलसंजमगुणेहि) सकलकलाः परिपूर्ण-

विशेषार्थ—जिस प्रकार निजस्वभाव के कारण कमलिनी का पत्ता पानो से लिप्त नहीं होता है उसी प्रकार सत्पुरुष सम्यगदृष्टि जीव, जिनेन्द्र देवके चरण कमलोंकी भवित रूपी सम्यकत्व के कारण क्रोधादि कषायों तथा स्पष्टशब्दिविषयों से लिप्त नहीं होता ।

जैसा कि कहा है—

धात्रीबाला—सम्यगदृष्टि मनुष्य धात्रीबाल, असतीनाथ, कमलिनी-पत्र पर स्थित जल और जली हुई रससी के समान राज्यका उपभोग करता हुआ भी पापी नहीं होता है । **भावार्थ—**जिस प्रकार धाय बालक का लालन-पालन करती हुई भी उसे अपना बालक नहीं मानती है, जिस प्रकार पुरुष अपनी हुश्चरित्रा स्त्रोंसे सम्बन्ध रखता हुआ भी उससे विरक्त रहता है, जिस प्रकार कमलिनीके पत्र पर पड़ा हुआ पानी उस पर रहता हुआ भी उससे भिन्न रहता है और जली हुई रससी जिस प्रकार ऊपर से भौजको लिये हुई दिखती है परन्तु भीतर से अत्यन्त निर्बल रहती है इसी प्रकार सम्यगदृष्टि जीव राज्य आदिका उपभोग करता हुआ भी अन्तरङ्ग से आसक्त नहीं होता, अतः पापी नहीं कहलाता ।

गाथार्थ—मैं उन्हीं को सत्पुरुष अधबा मुनि कहता हूँ जो शील संयम तथा गुणोंके द्वारा परिपूर्ण हैं । जो अनेक दोषोंका स्थान तथा अत्यन्त मलिन चित्त है वह तो श्रावक के भी समान नहीं है ॥ १५३ ॥

विशेषार्थ—श्री कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि जो शील संयम तथा गुणों के द्वारा सकल कला हैं अर्थात् समीचीन रीति से परीक्षा देने वाले

कल्पा: सम्यन्परीक्षादायिनः, कैः ? शीलसंयमगुणैः शीलमिकषकमाः संयमनिक-
षकमा गुणनिकषकमा भवति । तथा चोक्तं—

यथा चतुर्भिः कनक परीक्षयते निष्वर्णच्छेदनतापताहनैः ।

तदैव धर्मै विदुषा परीक्षयते श्रुतेन शीलेन तपोदयागुणैः ॥ १ ॥

तथा चोक्तं—

संज्ञमु शीलु सज्जनु तवु जसु सूरिहि गुह सोइ ।

दग्धछेदकसधायज्ञमु उत्तमु कंचनु होइ ॥ १ ॥

(बहुशेषाणावासो) बहुनां दोषाणामतीचारादीनामावासो गृहं, अथवा बहुनां
स्वीणां दोषाणां बाहुनां आवास आलिङ्गने मुनिः । (सुभलिणचित्तो ण सावद्यसमो
सो) मुष्टु अतीव चलिनचित्तो रागद्वेषमोहकदमलचेता मुनिः मुनिन् भवस्येव, तद्विं
कि भवति ? ण सावद्यसमो सोन्न आककसमः श्रावकेणापि गृहस्थेनापि समः सदृशः
स न भवति । तस्य वानपूजादिलाभसंयुक्तस्यादुत्तमत्वं । तथा चोक्तं—

वरं गाहूर्हस्थ्यमेवाद्य तपसो भाविजन्मनः ।

स्वःस्त्रोकटाक्षलु ठाक्कलोप्यवैराग्यसम्बदः ॥ १ ॥

है—जिनके शील संयम और गुणोंमें कभी कमी नहीं आती वे ही मुनि
हैं । जैसा कि कहा है—

यथाचतुर्भिः—जिस प्रकार चिसना, छेदना, तपाना और ताहना इन
चार उपायों से सुवर्ण की परीक्षा की जाती है उसी प्रकार श्रुत शील तप
और दया रूप गुणके द्वारा धर्म की परीक्षा को जाती है ॥ १ ॥

जैसा कि कहा है—

संज्ञमु—जिसमें संयम शील शौच तथा तप विद्यमान हैं वही गुरु हो
सकता है, क्योंकि तपाना छेदना चिसना तथा खोट खाना आदि कार्यों में
जो समर्थ है वही सुवर्ण हो सका है ।

इसके विपरीत जो अनेक दोषों अथवा अस्तिचारोंका आवास हो
अथवा जो स्त्रियों की भुजाओं के आलिङ्गन की इच्छा रखता हो तथा
जिसका चित्त अत्यन्त मलिन हो वह मुनि नहीं है वह तो श्रावक के भी
समान नहीं है । क्योंकि श्रावक दान पूजा आदि लाभ से संयुक्त होनेके
कारण उत्तम है । जैसा कि कहा --

वरगाहूर्हस्थ—आगे होनेवाले उस तपकी अपेक्षा तो जिसमें कि देवाङ्ग-
नाओं के कटस्त्र रूप लुटेरों के द्वारा वैराग्य रूपी संपदा लुट जाती है,
आज गृहस्थ रहना भी अच्छा है ।

“चित्र चेत्य असमीयस्थानस्थाणुमूकतूणीकश्वेकमुदुकसेवानकनीडनिहित-
व्याकृतकुत्तूहलस्थूलव्याकुलेषु वा” इस्तेन प्राकृतव्याकरणसूत्रेण चित्र इत्यस्य वा
द्वित्वं । चित्र इति कोऽर्थः “अवधारणे णइ च चित्र चेमाः ।”

अन्यच्च—

ते चित्र घण्णा ते चिय सात्तरिसा ते जियंति चियलोए ।

बोद्दहवहम्मि पहिया तरंति जे चित्र ले लोए ॥ १ ॥

बोद्दह इति कोऽर्थो यौवनम् ।

ते धीरवीरपुरिसा खमदमस्थगमेण विष्फुरत्तेण ।

बुज्जयपबलबलुद्धर कसायभदणिज्जिया जेर्ह ॥ १५४ ॥

ते धीरवीरपुरुषाः कमादमलड्गेन विष्फुरताः ।

दुर्जयप्रबलोद्धरकषायभटा निजिता यैः ॥ १५४ ॥

(ते धीरवीरपुरिसा) ते पुरुषा धीरा अनिवर्तकाः संयमसंप्राप्नात् कर्मशाश्रूणां
घातमकृत्वा न पश्चाद्व्याघुट्टि, धीरा विशिष्टां केवलज्ञानसाङ्गाज्यसाकृतीं रामित
स्वीकुर्वन्तीति धीराः । (समदमस्थगमेण विष्फुरत्तेज) धर्मः प्राप्तपात्रः, एषे
जितेन्द्रियत्वं कमयोपलक्षितो दमः कमदमः स एव लङ्घः कौक्षेयः करवाणोऽसि-
निष्ठिशः घातिकमंशकुरुसात्तथातकल्पात् तेन कमादमकल्पेन । कि कुर्वता ?
विष्फुरता जप्रतिहातम्या पारतया चमलुर्वता । (बुज्जयपबलबलुद्धर) दुःखेन

गाथा में ‘चित्र’ शब्द दिया है उसे चित्र चेत्ज आदि प्राकृत
व्याकरण के सूत्र से छिप्प हो गया है चित्र का अर्थ अवधारण है—

और भी कहा है—

तेजिव्य—संसार में वे ही धन्य हैं, वे ही सत्पुरुष हैं और वे ही जीवित हैं जो यौवन रूपी महरे हङ्द में गिरकर भी लीलासे उसे पार कर सकते हैं ।

गाथार्थ—वे धीर धीर पुरुष हैं जिन्होंने कमा और जितेन्द्रियता रूपी
चमकती तलवार से दुर्जय तथा प्रचुर बलसे उत्कट कषाय रूपी योद्धाओं
को जीत लिया है ॥ १५४ ॥

किशोरार्थ—धीर वे हैं जो संयम रूपी संग्राम से कर्मरूपी शत्रुओं का
घात किये बिना पीछे नहीं लौटते और वोर वे हैं जो वि-विशिष्ट, ई-
केबल-ज्ञान-रूपी लक्ष्मी को, र-स्वीकृत करते हैं । लोकोत्तर प्रशमभाव-
को कमा कहते हैं तथा इन्द्रियों को जीतना दम कहलाता है । कुन्दकुन्द
स्वामी कहते हैं कि इस संसारमें धीर धीर पुरुष वे ही हैं जिन्होंने कमा

महता कष्टेन जेतुमशक्या तुर्याः, प्रबलं प्रचुरं, बलं सामर्थ्यं तेन उद्धरा उत्कटा मे
कषायभट्टा लोभमानमायालोभसुभट्टा: । (कषायभट्टिजिज्या जेहि) एवंविषा
कषायभट्टा यैनिजिता भारिता भूमो पातिता: ।

घण्णा ते भयवंता दंसणणाणगपवरहृथेहि ।

विषयमयरहरपङ्गिया भविया उत्तारिया जेहि ॥१५५॥

धन्वास्ते भगवन्तो दर्शनज्ञानप्रवरहस्ताभ्याम् ।

विषयमकरधरपतिता भव्या उत्तारिता यैः ॥१५५॥

(घण्णा ते भयवंता) [धन्योः पुष्यवन्तः ते भगवन्ते] इच्छादिपूजिताः अथवा
भयं वातं त्यक्तं यैस्ते भयवन्ता निर्भयाः सप्तभयरहिताः (दंसणणाणगपवर-
हृथेहि) दर्शनज्ञाने एव प्रवरी बलवस्तरी हस्ती करी दर्शनज्ञानप्रवराभृस्ती ताम्या
दाम्यां हस्ताभ्यां करणभूताभ्यां । (विषयमयरहरपङ्गिया) [विषय एव मकरधरः]
समुद्रः तत्र पतिता त्रुडिताः । (भविया उत्तारिया जेहि) भव्यजीवा उत्तारिता
हस्तावलम्बनं दत्ता उत्तारिताः संसारसुखक्षारसमुद्रस्य पारं नीताः, यैर्विषवद्धंमान-
शीमीतमस्वाभ्यादिभिरिसि मंगलाभिप्रायः ।

से युक्त जितेन्द्रियता रूप देदीप्यमान तलवार से दुर्जेय-बहुत भारी कहट-
से जीतने के अयोग्य एवं प्रचुर बलसे दुर्घार कषाय रूपी भट्टोंको-कोध,
भान, माया और लोभ रूपो योद्धाओं को मारकर भूमि पर गिरा
दिया है ।

सबसे प्रबल शत्रु कषाय ही हैं इन्हें क्षमा और जितेन्द्रियता के द्वारा
ही जीता जा सकता है जिन्होंने ज्ञान दर्शन रूपो श्रेष्ठ अग्रणीमी
हाथों के द्वारा विषय रूपी समुद्र में पड़े हुए भव्य जीवों को उतार कर
पार लगाया है ॥१५४॥

गायार्थ—वे भगवान् धन्य हैं जिन्होंने ज्ञान दर्शन रूपो श्रेष्ठ अग्रणीमी
हाथों के द्वारा विषय रूपी समुद्र में पड़े हुए भव्य जीवों को उतार कर
पार लगाया है ॥१५५॥

विशेषार्थ—इन्द्र आदि के द्वारा पूजित वे भगवान् धन्य हैं—अतिशय
पुण्यवान् हैं अथवा 'भयवन्ता' छाया मान कर शक्ता आदि सात भयों से
रहित हैं जिन्होंने दर्शन और ज्ञान रूपी बलिष्ठ हाथों के द्वारा विषयरूपो
मकराकर-समुद्र में पड़े हुए भव्य जीवोंको निकाल कर पार लगा दिया
है । यहीं मङ्गल कामना से श्रो वर्धमान भगवान् तथा गीतम स्वामी
आदि की स्तुति की गई है ॥१५५॥

मायावेलिल असेसा मोहमहातरवरम्मि आरुदा ।

विषयविषपुष्पकुलिलय लुण्ठति मुणि णाणसत्थेहि ॥१५६॥

मायावल्लीमशेषां मोहमहातहवरे आरुदाम् ।

विषयविषपुष्पपुष्पितां लुनन्ति मुनयः ज्ञानशास्त्रैः ॥१५६॥

(मायावेलिल असेसा) माया परबंचनस्वभावा सेव वल्ली प्रतानिनी तां मायावल्लीं, अशेषां अनन्तानुबन्धप्रभृतिचतुर्भेदसमग्रां । (मोहमहातरवरम्मि आरुदा) मोह एव तरवरः पुश्पकलशमित्रादिस्नेहमहावृक्षस्तमारुदा विद्वितां । (विषय-विषपुष्पकुलिलय) विषया एव विषपुष्पाणि तैः पुष्पिता विषयविषपुष्पपुष्पिता तां । (लुण्ठति मुणि णाणसत्थेहि) लुनन्ति चिक्खदन्ति, के ते ? मुनयः सम्यग्ज्ञानस-मुनेता दिग्मवरगुरुव इत्यर्थः । केन, ज्ञानशास्त्रेण सम्यग्ज्ञानशास्त्रेण परद्युना इति शेषः ।

मोहमयगारवेहि य मुक्ता जे करुणभावसंजुत्ता ।

ते सब्बदुरियखंभं हृण्ठति चारित्तखगोण ॥१५७॥

मोहमदगारवैः च मुक्ता ये करुणभावसंयुक्ताः ।

ते सब्बदुरितस्तंभं धनन्ति चारित्रखद्गोन ॥१५७॥

गाथार्थ—मोहरूपी महावृक्ष पर चढ़ी और विषय रूपी विष पुष्पोंसे फूली माया रूपी सम्पूर्ण लताको मुनिगण ज्ञानरूपी शास्त्र के द्वारा छेदते हैं ॥१५६॥

विशेषार्थ—स्त्री पुत्रादि के स्नेह में पड़ कर मनुष्य नाना प्रकार की माया करता है । मायाका स्वभाव दूसरों को ठगना है । यह माया अनन्ता-नुबन्धी आदिके भेद से चार प्रकार की है माया के द्वारा मनुष्य विषयों को प्राप्त कर प्रसन्न होता है । यहाँ आचार्य महाराज ने स्त्री-पुत्रादि के स्नेहरूपी मोहको महान् ऊँचे वृक्ष की उपमा दी है, मायाको लता की उपमा दी है, विषय को विषपुष्प की उपमा दी है तथा ज्ञानको शास्त्र की उपमा दी है । इस प्रकार गाया का अर्थ होता है कि मोहरूपी ऊँचे वृक्ष पर चढ़ी एवं विषयरूपी विष पुष्पों से फूली माया रूपी लताको सम्पूर्ण रूपसे मुनि ज्ञानरूपी शास्त्र के द्वारा छेदकर-काटकर दूर फेंक देते हैं ॥१५६॥

गाथार्थ—जो मोह मद और गारव से रहित तथा करुणा भाव से संयुक्त हैं ऐसे मुनि चारित्र रूपी खड्गके द्वारा समस्त पाप रूपी स्तम्भको चात कर नष्ट करते हैं ॥१५७॥

(मोहमयगारखेहि य) मोहः कलवपुत्रमित्रादिषु स्नेहः, मदो ज्ञानादिरक्ष-
प्रकारो निजौन्नत्यं, गारब शब्दगारखद्विगारक्षात्गारवभेदेन विविध । तत्र शब्द-
गारव वर्णोच्चारणर्गवः, ऋद्विग्निर्वक्ष्यपुस्तककथाम्बलुप्तम्भृष्टुप्तम्भत्प्राप्तम्भत्प्राप्तम्भाद्वन् ।
वर्तं, सातगारवं भोजनपानादिसमुत्पन्नसौख्यलोलापवस्तीर्मोहमदगारवैः । चकार
उक्तसमुच्चयार्थस्तेन निजपक्षीयसज्जनराजमास्य श्रावकादिभिरभिमानः । (मुक्ता
जे करुणभावसंजुला) पूर्वोक्तैर्मोहादिभिर्युक्ताः, करुणभावः कारण्यं दयापरि-
णामस्तेन संयुक्ताः । (ते सञ्जुरित्यर्थम्) ते मुनयः सबैदुरित्यस्तंभं समस्तमला-
तिचारादिसमुत्पन्नं पापस्तंभं (हणति चारित्यलग्नेण) अन्ति चारित्यलग्नेन छिक्षन्ति
निषन्तिमलसद्वृत्तनिस्त्रेनेति शेषः ।

गुणगणमणिमालाए जिणमयगयणे णिसायरमुणिदो ।

ताराबलिपरियरिओ पुणिमहंदुब्बव पवणपहे ॥१५८॥

गुणगणमणिमालया जिनमतगमने निशाकरमुनीन्द्रः ।

ताराबलिपरिकलितः पूणिमेन्दुरिव पवनपथे ॥१५८॥

(गुणगणमणिमालाए) गुणा अष्टाविंशतिमूलगुणाः दश धर्माः तिक्ष्णो गुप्तयः
अष्टादशक्षोलसहजाणि द्वाविंशतिपरीषहाणां जय एते उत्तरगुणाः, गुणानां गणाः
समूहा गुणगणात् एव मणयो रत्नानि तेवा माला मुक्ताक्षेत्रारस्तया गुणगण-

विशेषार्थ——स्त्री-पुत्र तथा मित्र आदि में जो स्नेह है वह मोह कहलाता
है, ज्ञान पूजा आदि के भेद से मद आठ प्रकार का है। शब्द गारब, ऋद्वि-
गारव और सात गारव के भेद से गारब के तीन भेद हैं। हमारे वर्णोक्ता
उच्चारण साफ और सुन्दर होता है इस प्रकारका गर्व होना वर्णोच्चार
गारव है। शिष्य, पुस्तक, कमण्डल, पीछी तथा पाटे आदि बाह्य सामग्री
से अपने महस्त का प्रकट करना ऋद्वि गारव है और भोजन पान आदि
से समुत्पन्न सुखका गर्व होना सात गारव है। चकार उक्त समुच्चयार्थक
है अर्थात् कहने के जो बाकी रह गये हैं उनका समुच्चय करने वाला है
इसलिये अपने पक्षके श्रावक घनवान् अथवा राज-मान्य हों इस बातका
गर्व करना। जो मुनि इन मोह, मद और गारवों से मुक्त हैं तथा करुणा
भाव-दया भावसे संयुक्त हैं वे सब प्रकार के दोष अथवा अतिचार आदि
से समुत्पन्न पाप रूपी खम्मेको चारित्ररूपी खड़गके द्वारा नष्ट कर देते
हैं। यथार्थ में निर्मल चारित्र के द्वारा ही पापका नाश होता है ॥१५९॥

गायार्थ—जिस प्रकार आकाशमें ताराओंकी पत्तिसे सहित पूर्ण
चन्द्रमा सुशोभित होता है उसी प्रकार जिनमत रूपी आकाश में गुण

प्रारुद्या मुनिः शोभते हत्युपस्कारः । (जिणमयगयणं णिसायरमुणिदो) जिन-
मतमाहृतशासनं तदेव गगनं आकाशः पापलेपरहितस्वात् जिनमतगयनं तस्मिन् जिन-
मतगयते सबैशासनाकाशे, निशाकरचन्द्रः निशां करोति उद्योतयति निशाकरी
मुनीन्द्रः तथ मुनोन्द्रो दियमवरः निशाकरः पापान्वकारविष्टेवक्त्वात् (तारावलि-
परियरिदो) तारावलिपरिकलिता नक्षत्रमालापरिवेष्टितो नक्षत्रमण्डलोपेतः ।
(पूर्णिमानुद्धुर ववण्डाहे) पूर्णिमेन्दुनिव चूर्णिमानुद्धुर अदोभवे, पवनगये गगन-
मार्गे हति दीपः ।

चक्रकहररामकेशवसुरवरजिणगणहराइ सोकलाइ ।

चारणमुणिरिद्धीओ विशुद्धभावा णरा पत्ता ॥१५९॥

चक्रवररामकेशवसुरवरजिणगणधरादिसौख्यानि ।

चारणमन्यद्धीः विशुद्धभावा नराः प्राप्ताः ॥१५९॥

(चक्रकहररामकेशवसुरवरजिणगणहराइसोकलाइ) चक्रवरराइ भरतादयः
सकलचक्रवर्तिनः, रामश्च बलदेवाः, केशवाद्वचार्धचक्रवर्तिनः, सुरवराश्च सौधर्मेन्द्राद्व-
च्युतेन्द्रपर्यन्ता अहमिन्द्रान्तः, जिनाश्च वृषभादिवीरान्ताः, गणधराद्वयस्च
कृष्णसेनादयः श्रीगौतमान्तास्तेषां सौख्यानि महापूराणादिशास्त्रवणितानि

समूह रूपो मणियों की माला से युक्त मुनि-रूपी चन्द्रमा सुशोभित होता है ॥१५८॥

विशेषार्थ—अटठाईस मूलगुण हैं, तथा दश धर्म, तीन गुण्ठियाँ,
अठारह हजार शीलके भेद और बाईस परोषहों को जीतना आदि उत्तर-
गुण हैं। इन सब गुणोंके समूह रूप मणियों की माला से अलंकृत मुनि
रूपी चन्द्रमा, जिनमत-अहंत सबै देवके शासन रूपो आकाश में उस
प्रकार सुशोभित होता है जिस प्रकार के निर्मल आकाश में नक्षत्रों की
पंक्ति से घिरा हुआ पूर्ण चन्द्रमा सुशोभित होता है ॥१५८॥

गाथार्थ—विशुद्ध भावोंके धारक मनुष्य, चक्रवर्ती बलभद्र नारायण
सुरेन्द्र जिनेन्द्र और गणधरादिके सुखोंको नथा चारण मुनियों को क्रांद्यों
को प्राप्त हुए हैं ॥१५९॥

विशेषार्थ—चक्ररत्न के धारक भरत आदि सकल चक्रवर्ती, राम
अर्थात् बलदेव, केशव अर्थात् अर्ध चक्रवर्ती-नारायण, सुरवर-अर्थात्
सौधर्मेन्द्र से लेकर अच्युतेन्द्र तक अथवा अहमिन्द्र तक जिन अर्थात्
शृष्टभादि तीर्थकर, गणधरादि अर्थात् वृषभसेन को आदि लेकर गीतमान्त
भण्ठर इन सबके सुखोंको जिनका कि महापूराण आदि शास्त्रों में वर्णन

(चारणमुणिरिद्विषो) चारणमुनीनां आकाशगमिनामृतीणां कृद्वाः अक्षीणमहान्-
सालयप्रभुतिः । (विसुद्धभावा णरा पत्ता) विशुद्धभावा नरा जीवा : प्राप्ता
क्षमते स्म ।

सिवमजरामर्लिङ्गमणेवममुक्तम् परमविमलमतुलं ।

पत्ता वरसिद्धिसुहं जिणभावणभाविया जीवा ॥१६०॥

शिवमजरामर्लिङ्गमनुपममुक्तम् परमविमलमतुलम् ।

प्राप्ता वरसिद्धिसुखं जिनभावनाभाविता जीवा : ॥ १६० ॥

(सिवमजरामरलिङ्गं) शिवं परमकल्याणं परममंगलभूतं कर्ममलकलंकरहित-
त्वात्, अजरामरलिङ्गं जरामरणरहितचिन्त्यं । (अणोवमं) उपमारहितं । (उत्तमं)
परममुख्यं (परमविमलं) द्रव्यकर्मभावकर्मं नोकर्मरहितं । (अनुलं) अनन्त-
मित्यर्थः । (पत्ता वरसिद्धिसुहं) एतद्विशेषणविशिष्टं वरं श्रेष्ठं सिद्धिसुखं परम-
निवाणसौर्यं प्राप्ताः लभते स्म । (जिणभावणभाविया जीवा) जिनभावमया
निमलसम्यक्त्वेन भाविता वासिता जीवा आसन्नभव्याः ।

ते मे तिहुवणमहिया सिद्धा सुद्धा णिरंजना णिर्वत्ता ।

दितु वरभावसुद्धि दंसणणाणे चरित्ये य ॥१६१॥

ते मे त्रिभुवनमहिताः सिद्धाः सुद्धा निरंजना नित्याः ।

ददतु वरभावशुद्धि दर्शनशाने चारित्रे य ॥ १६१ ॥

है तथा आकाशगामी चारण कृष्णिके धारक मुनियों को अक्षीण महानस-
अक्षीण महालय आदि अनेक कृद्विषों को शुद्धसम्प्रकृत्व के धारक मनुष्य
ही प्राप्त हुए हैं ॥ १५९ ॥

गायार्थ—जिन भावना, अर्थात् निर्मल सम्यक्त्व से वासित आमन्न
भव्य जीव परम मञ्जल भूत जग और मरण के चिह्नों से रहित होने के
कारण जो अजगर लिंग है, वे अनुपम, उत्तम, अत्यन्त विमल और
अनुल-अनन्त उत्कृष्ट सिद्धि के सुखको प्राप्त हुए हैं ॥ १६० ॥

विशेषार्थ—कर्ममल कलङ्क से रहित होनेके कारण जो शिव अर्थात्
मोक्ष परम कल्याण एवं परम मञ्जल भूत है, उपमा रहित होनेसे अनुपम
है, परम मुख्य है, द्रव्य कर्म भावकर्म और नो-कर्म से रहित होनेके कारण
अत्यन्त विमल है, अनुल्य अर्थात् अनन्त है, ऐसे उत्कृष्ट सिद्धि सम्बन्धों
परम निर्वाण मुख्यको जिन भावना अर्थात् निर्मल सम्यक्त्व से भावित
अर्थात् वासित निकट भव्य जीव प्राप्त करते हैं ॥ १६० ॥

गायार्थ—जो त्रिभुवन के द्वारा पूजित हैं, शुद्ध हैं, निरञ्जन हैं और

(ते मे लिहुवणमहिया) से जगत्प्रसिद्धाः, मे यम श्रीकुन्दकुन्दाचार्यंत्य, निभुवनमहितास्त्रैलोक्यपूजिताः । (सिद्धा सुद्धा णिरंजना णिरचा) सिद्धा मुकितस्त्रीवल्लभाः, शुद्धाः कर्ममलकलंकरहिताः, निरंजना निरूपलेपाः, नित्याः शाश्वताः । (इति वरभावशुद्धि) ददतु प्रयच्छन्तु, वरभावशुद्धि विशिष्टपरिणाम-शुद्धि । कस्मिन्, (दसणणाणे चरित्ते य) सम्प्रदर्शने सम्प्रज्ञाने सम्प्रक्षारित्रे चेत्यर्थः ।

किं जंपिएण बहुणा अत्थो धर्मो य काममोक्षो य ।

अन्येवि य वावारा भावस्मि परिट्ठिया सब्दे ॥ १६२ ॥

किं जल्पितेन बहुता अर्थो धर्मक्षेत्रं काममोक्षश्च ।

अन्येपि च व्यापारा भावे परिस्थिताः सर्वे ॥ १६२ ॥

(किं जंपिएण बहुणा) बहुना प्रचुरतरेण, जल्पितेन कि ? न किमपि । (अत्थो धर्मो य काममोक्षो य) अर्थो घनं, घर्मो यतिथावकगोचरः, कामः-पञ्चेन्द्रियसुखशायिनो इष्टवनिता तस्या भोगः, मोक्षः सर्वकर्मण्यक्षमाणः । (अन्ये कि य वावारा) अन्येऽपि च व्यापारा विशदेकतासाधनादयः । (भावस्मि परिट्ठिया सब्दे) भावे शुद्धपरिणामे परिस्थिता भावात्मीया भवन्तीति भावार्थः । उपर्युक्तं च—

नित्य हैं, वे जगत्प्रसिद्ध सिद्धभगवान् हमारे दर्शन ज्ञान और चारित्र में उत्कृष्ट भाव शुद्धिको प्रदान करें ॥ १६३ ॥

विद्वाचार्थ—कुन्दकुन्द स्वामी इष्ट प्रार्थना के रूप में कहते हैं कि जो तीन लोकके द्वारा पूजित हैं, कर्ममल कलंक से रहित होने के कारण शुद्ध हैं, भाव कर्म से रहित होने के कारण निरञ्जन हैं और नित्य हैं—शाश्वत हैं—सादि अनन्त पर्याय से युक्त हैं वे जगत्प्रसिद्ध सिद्धपरमेष्ठी हमारे दर्शन ज्ञान और चारित्रमें उत्कृष्ट भावशुद्धिको करें ॥ १६३ ॥

गावार्थ—अधिक कहने से क्या ? धर्म अर्थ काम और मोक्ष तथा अन्य जितने व्यापार हैं वे सब भाव में हो—परिणामों की विशुद्धता में ही स्थित हैं ॥ १६२ ॥

विद्वाचार्थ—आचार्य कहते हैं कि अधिक कहने से क्या लाभ है ? अर्थ—घन, घर्म-मुनि धर्म, शावक धर्म, काम-पञ्चेन्द्रिय सम्बन्धी सुख देने वाली इष्ट स्त्रीका भोग और मोक्ष सर्वे कर्म क्षय तथा विद्वा देखता का साधन करना आदि सभी कार्य शुद्ध परिणामों पर निर्भर हैं इसलिये परिणामों की शुद्धता पर ध्यान देना चाहिये । कहा भी है—

म देवो विद्यते काष्ठे न पाषाणे न मूर्मये ।
 भावेषु विद्यते देवस्तस्माद्भावो हि कारणं ॥ १ ॥
 भावविद्युणउ जीव तुहं जइ जिणु वहहि सिरेण ।
 पत्थरि कमलु कि निष्पञ्च जह सिंचहि अभिएण ॥ २ ॥
 सीसु नमंतह कवणु गुणु भाऊ कुशुद्वज जाहं ।
 पारदीद्वृणउ नमइ दुकंतड हरिषाहं ॥ ३ ॥
 अन्नाम्नादि भवेत् पापी निघनन्नपि न पापभाक् ।
 परिणामविशेषेण यथा धीवरकर्थकी ॥ ४ ॥

इय भावपादुडमिणं सब्दं बुद्धेहि देसियं सम्मं ।
जो पढ़इ सुणइ भावइ सो पावइ अविचलं ठाणं ॥ १६३ ॥

इति भावप्रामृतमिदं सर्वं बुद्धैः देशितं सम्यक् ।
 यः पठति शृणोति भावयति स प्राप्नोति अविचलं स्थानम् ॥ १६३ ॥

(इय भावपादुडमिणं) इति-एवं प्रकारं, भावप्रामृतमिदं भावप्रामृतमाम
क्षास्त्रं (सब्दं बुद्धेहि देसियं सम्मं) सर्वं बुद्धैः सर्वज्ञैः देशितं कथितं सम्यद्व-
निलक्षयेन । यथा मया कथितं सर्वं बुद्धैर्योवमेवोक्तमिति भावार्थः । (जो पढ़इ

न देवो—देव न काष्ठ में हैं, न पाषाण में हैं, न मिट्टो के पिण्ड में हैं
किन्तु भावों में हैं इसलिये भाव ही कारण है ।

भावविद्युणङ्क—हे जीव ! यदि तू भावसे विहीन होकर शिरसे जिन
भगवान् को धारण करता है तो इससे क्या होनेवाला है ? क्या अमृत
से सींचने पर पत्थर पर कमल उत्पन्न हो सकता है ?

सीसु—जिसका भाव-अभिप्राय कुशुद्व खोटा है उसके शिर कुकाने
से कौनसा लाभ होनेवाला है अर्थात् कोई भी नहीं । हरिणों को मारने के
लिये शिकारी बहुत नम्मीमूल होता है ।

अन्नाम्नादि—परिणाम विशेष के कारण धीवर धात न करता हुआ भी
पापी है और लेत जोतने वाला किसान जीवोंका धात करता हुआ भी
पापी नहीं होता ।

गावार्य—सर्वज्ञ देवके द्वारा कथित इस समस्त भाव पादुड़ को जो
पढ़ता है, सुनता है तथा उसकी भावना करता है वह अविचलस्थान को
प्राप्त होता है ॥ १६३ ॥

विशेषार्थ—जो निकट भव्य मुनि श्रेष्ठ, सर्वज्ञ देव के द्वारा कहे हुए
इस समस्त भावप्रामृतका पठन करता है, सुनता है और चिन्तयन करता

सुणइ भावइ य) आसन्नभव्यो जीवः पठति गृह्येऽनुशीलयति अम्बस्थति, सुणइ एतदर्थमाकरण्यति, भावइ-शुखा श्रद्धाति । (सो पावइ अविचलं ठाणं) स आसन्नभव्यो मुनिपुणवः, प्राप्नोति लभते, अविचलं निष्वचलं, स्थानं मोक्षपदमिति सिद्धम् ।

इति श्रीपद्मनन्दिकुन्दकुन्दाचार्यवक्त्रप्रीवाचार्येलचार्यंगृहपिच्छाचार्यंनामपञ्चक-
विरचितेन श्रीसीमन्धरस्वामिसम्यग्वोबसंभोषितभव्यज्ञनेन श्रीजिनचन्द्रसूरिभट्टार-
कपट्टाभरणभूतेन कलिकालसर्वज्ञेन विरचिते षट्प्राभृतभावनापन्थे सर्वमुनिमण्डली-
मण्डलेन कलिकालगौतमस्वामिना श्रीमल्लभूषणेन भट्टारकेणानुमतेन सकल-
विद्वज्जनसमाजसम्मानितेनीभयभाषाकविचक्खवतिना श्रीविद्यानन्दिगुरुवंस्तेशसिमा
श्रीदेवेन्द्रकीर्तिप्रशिष्येण सूरिवर श्रीश्रुतसागरेण विरचिता भावप्राभृतटीका
परिसम्पूर्णी ।

है वही श्रेष्ठ मुनि अविचल स्थान को प्राप्त होता है अर्थात् मोक्ष जाता है ॥ १६३ ॥

इस प्रकार श्री पद्मनन्दि कुन्दकुन्दाचार्य वक्त्रप्रीवाचार्य, एलाचार्य, गृहपिच्छाचार्य, इन पाँच नामोंसे सुशोभित श्री सीमन्धर स्वामीके सम्प्रशान से भव्यजीवों को संबोधित करने वाले श्री जिनचन्द्र सूरि भट्टारक के पट्ट के आभरण—भूत कलिकाल सर्वज्ञ श्री कुन्दकुन्दाचार्य के द्वारा विरचित षट्प्राभृत भावना नामक ग्रन्थ में समस्त मुनि मण्डली से सुशोभित कलिकाल के गौतम स्वामी श्री मल्लभूषण भट्टारक के द्वारा अनुमत सकल विद्वज्जन समाज के द्वारा लम्मानित उभय भाषा के कवियों में प्रमुख श्रो विद्यानन्दि गुरुके शिष्य और श्री देवेन्द्रकीर्ति के प्रशिष्य सूरिवर श्री श्रुतसागर के द्वारा विरचित यह भावप्राभृत की टीका समाप्त हुई ।



मोक्षप्राभृतम्

अथ देवेन्द्रयशोगुरुविद्यानन्दीश्वरस्य शिष्येण ।
 मुक्तिप्रियामुखाम्बुजदिक्षुणा शिक्षितेन गुणे ॥ १ ॥
 श्रुतसागरेण कविना विनापि बुद्ध्या विरच्यते रचिदा ।
 मोक्षप्राभृतविद्युतिष्ठीकाँलीकप्रमुक्तेन ॥ २ ॥
 याचकजनकल्पतरः स्वैर्हर्षपि मिष्यामतादिशुङ्गेषु ।
 भव्यजनजनकसुर्यो विवेकवान् मल्लभूषणो जयति ॥ ३ ॥

शीतिरार्थ

ज्ञानमयं आत्मार्थं उद्दस्यु देष्ट इहित्यान्मोलः ।
 चाहुडण य परदब्धं जमो जमो तस्स देवस्स ॥ १ ॥
 ज्ञानमय आत्मा उपलब्धो येन क्षरितकर्मणा ।
 स्यवस्था च परदब्धं नमो नमस्तस्मै देवाय ॥ २ ॥

अथ देवेन्द्र—उदनन्तर देवेन्द्र-कोति जिनके गुरु हैं, ऐसे विद्यानन्दी महाराज के शिष्य, मुक्ति रूपी बलभा के सुख कमल के देखनेके इच्छुक सम्यगदर्शनादि गुणोंके विषय में अच्छी तरह शिक्षित एवं मिष्या बचन से रहित श्री श्रुतसागर कविके द्वारा बुद्धि के बिना ही, रुचिको उत्पन्न करने वाली मोक्षप्राभृत की यह टीका रची जाती है। जो याचक जनोंके लिये कल्प-वृक्ष रूप हैं, मिष्यामत रूपी पर्वतों की शिखरों पर वज्र रूप हैं, भव्यजनोंके लिये पिताके समान हैं और परम विवेकी हैं वे श्रीमल्लभूषण गुरु जयवन्त रहें ॥ १-३ ॥

अब मोक्ष पाहुड ग्रन्थ के प्रारम्भ में मङ्गलाधरणकी इच्छासे श्री कुन्दकुन्द स्वामी देवको नमस्कार करते हैं—

गायार्थ—जिन्होने कर्मोंका क्षय करके तथा परन्द्रव्यका त्याग करके ज्ञानमय आत्मा को प्राप्त कर लिया है उन श्री सिद्धपरमेष्ठों रूप देवके लिये बार-बार नमस्कार हो ॥ १ ॥

१. हाशिनी वज्रमध्यी स्पात् कुलिणी भिदुर् पविः ।

शतकोटि: स्वरः जमो द्वौक्षिरक्षनिहौयोः ॥

२. अस्माद्ये धृत नमः चिह्नेन्यः इति पाठ क० ।

(णामयं अप्याणं) ज्ञानमय आत्मा । (उवलद्वं जेण शिद्यक्षमेण) उपलब्धो येन क्षरितकर्मणा । (चहूण य परदब्दं) त्यक्ता च परदब्दं क्षरीरं कर्म च परित्यज्य नमो नमः—पुनः पुनर्नमः । तस्य देवस्य तस्मै देवायेति भावार्थः ।

णमित्तुण य तं देवं अणांतवरणाणदंसणं सुद्धं ।

'बोच्छं परमप्याणं परमपदं परमजोईणं ॥ २ ॥

नत्वा च तं देवं अनन्तवरज्ञानदर्शनं शुद्धं ।

वक्ष्ये परमात्मानं परमपदं परमयोगिनाम् ॥ २ ॥

(णमित्तुण य तं देवं) नत्वा च तं देवं सर्वज्ञवीतरागं । कर्मभूतं देवं, (अणांत-करणाणदंसणं सुद्धं) अनन्तवरज्ञानदर्शनं शुद्धं अनन्तज्ञानमनन्तदर्शनिभनन्तवीर्यभनन्त-सौख्यमित्यर्थः, शुद्धं घातिकमंसधातनेन निर्मलस्वरूपं अष्टादशदोषरहितमित्यर्थः । (बोच्छं परमप्याणं) वक्ष्यामि कथयिष्यामि । कः कर्ता ? अहं श्रीकुम्कुन्दाचार्यः, कं वक्ष्ये ? परमात्मानं शुद्धनयेन परमात्मानं अहंस्तिदंसमानं । कर्मभूतं परमात्मानं,

विद्वेषार्थ—जिन्होंने ज्ञानादरणादि कर्मोंका लास्यन्तिक क्षयकर ज्ञानस्वरूप आत्मा को प्राप्त कर लिया है तथा कर्म, नोकर्म रूप पर-द्रव्यका त्याग कर दिया है, उन सिद्ध भगवान् को बार-बार नमस्कार हो ॥ १ ॥

शार्थार्थ—अनन्त उल्कुट ज्ञान तथा अनन्त उल्कुष्ट दर्शन से युक्त, निर्मल स्वरूप उन सर्वज्ञ वीतराग देवको नमस्कार कर में परमयोगियों के लिये परम पद रूप परमात्मा का कथन कर्णगा ॥ २ ॥

विद्वेषार्थ—इस गायत्रा में श्री कुम्कुन्द स्वामी ने मङ्गल और प्रतिज्ञा वाक्य दोनों का उल्लेख करते हुए कहा है कि मैं अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन तथा सहचर सम्बन्ध से अनन्तवीर्य और अनन्त-सुख से युक्त एवं घातिया कर्मोंका नाश होनेसे निर्मल स्वरूप अर्थात् अठारहूँ दोषों से रहित सर्वज्ञ वीतराग देवको नमस्कार कर मुनियों के लिये उस परमात्मा का—अहंन्त सिद्ध परमेष्ठी का निरूपण कर्णगा जो कि परम पद रूप है—उल्कुष्ट पद रूप है । अर्थात् अरहन्त की अपेक्षा इन्द्रादि देव, नरेन्द्र आदि मनुष्य और गणधरादि महामुनियोंसे संयुक्त समवशरणरूप पद-स्थानसे मणिष्ठित हैं और सिद्धिकी अपेक्षा त्रिलोकाप्य रूप पद-स्थान पर समाप्तीन हैं ।

१. युक्तं क्षित् ।

२. इही भाव मीक्ष तो अरहन्त कै, अर द्रव्य भाव करि दो प्रकार सिद्ध परमेष्ठी के है याते क्षेत्रकूँ नमस्कार ज्ञानता । (प० जयचन्द्र जी हुत वर्षिका) ।

(परमपर्य) परमपदं परमं उल्लङ्घं इन्द्रादिदेव—तरेज्ञादिमानक-गणधरादिमहा-
मुनीश्वरसंयुक्तसमवसरणस्थानमण्डितं । अथ केषां परमात्मानं वक्ष्यामि ? (परम-
जोईं) परमयोगिनां दिग्म्बरग्रुहणां । इत्यमेन मुनीनामेव परमात्मव्याख्यानं
षट्टते । सप्तलोहुगोलकसमानग्रुहिणां परमारमण्यानं न संगच्छते । तेषां दानपूजा-
पर्वोपवाससम्यक्त्वप्रतिपालनशोलक्षतरक्षणादिकं गृहस्थवर्मं एकोपदिष्टं भवतीति
मावार्थः । ये गृहस्था अपि सन्तो मनागात्मभावनामासाद्य वर्य ध्यानिन इति क्रुते
ते जिनधर्मविराखका मिथ्यादृष्टयो ज्ञातव्याः । अपत्याचारा गृहस्थवर्मादिपि पतिता
उभयधर्माद्वयाः । ते लौकिकाः, तलामग्रहणं लम्बुक्षदशानं प्रभातकाले न
कर्त्तव्यं इष्टवस्तुभोजनादिविज्ञहेतुत्वात् । ते जिनस्तपतपूजादानादिसद्बर्मव्यातका
ज्ञातव्यः ।

अं जाणित्व्य जोई जो 'अत्थो जोहृत्वं अणवर्यं ।

अव्यावाहृत्वान्तं अणोवमं हृत्वं णित्वार्थ ॥ ३ ॥

यदशात्वा योगी यमर्थं दृष्टवाऽनवरतम् ।

अव्यावाहृत्वान्तं अनुपमं भवते निर्वाणम् ॥ ३ ॥

मैं परम योगियों अर्थात् दिग्म्बर गृहवर्मों के लिये यह कथन करूँगा,
इस प्रतिज्ञा वाक्य से यह सूचित होता है कि परमात्मा का ध्यान मुनियों
के ही घटित होता है तथे हुए लोहेके गोले के समान गृहस्थों के परमात्मा
का ध्यान संगत नहीं होता । उनके लिये तो दान, पूजा, पर्वके दिन
उपवास करना, सम्यक्त्व का पालन करना तथा शीलद्रवत की रक्षा करना
बादि गृहस्थ धर्मका उपदेश ही कार्यकारी होता है । जो गृहस्थ होते
हुए भी तथा रंच मठों आत्माकी भावना को न पाते हुए भी यह कहते हैं
कि हम तो आत्मा का ध्यान करते हैं वे जिन धर्मकी विराखना करने
वाले मिथ्यादृष्टि हैं । ऐसे जीव मुनियोंके आचार से तो रहित हैं ही,
गृहस्थ धर्म से भी पतित होकर उभय धर्म-द्वीनोंसे पतित हो जाते हैं ।

गावार्थ—जिस आत्म-तत्त्व को जानकर तथा जिसका निरन्तर
साक्षात् कर योगी ध्यानस्थ मुनि, बाष्पा-रहित, अनन्त, अनुपम निर्वाण
को प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

१. योगस्थो योगस्थो ध्यानस्थ दृत्यर्थः । इति पुस्तकान्तरे पाठ तत्परे योगस्थः
क्षमि तत्पर ।

(जे आणिऊं जोई) यं अर्थं बात्मतत्वं ज्ञात्वा हे योगिन् । (जो अत्थो जोइऊं अणवरयं (यं)) अर्थं तत्त्वं, जोइऊं—दृष्ट्वा शानेन साक्षात्कीर्त्य थोगी व्यानवान् मुनिः । (अव्यावाधमण्ठं) अव्यावाधं वाषारहितं, अनन्तमविनश्वरं । (अणोवमं हवइ णिव्याणं) अनुपमं उपमारहितं, भवते प्राप्नोति । “भूप्राप्तावात्मनेपदी” इति चचनात् । कि ? निवर्णं शुद्धसुखं मोक्षस्थानं । चक्रं च—

‘अन्मजरामयमरणैः शौकदुःखभैरैश्च परिमुक्तं ।

निवर्णं शुद्धसुखं निःश्रेयसमिष्यते नित्यं ॥ १ ॥

तिषयारो सो अप्या परभितरत्माहिरो दु हेऊणं ।

तत्त्वं परो क्षाङ्कज्जइ अंतोबाहुण चमहि बहिरप्या ॥ ४ ॥

त्रिप्रकारः स आत्मा परमत्वो नहि तु हित्वा ।

तत्र परं ध्यायते अन्तरुपाथेन त्यज बहिरात्मानम् ॥ ५ ॥

(तिषयारो सो अप्या) त्रिप्रकारः स आत्मा त्रिविषः । (परभितरत्माहिरो दु हेऊणं) परमात्मा-अन्तरात्मा-बहिरात्मा चेति । तत्र बाहिरो दु हेऊणं बहिरा-

विशेषार्थ—द्विसरो गाथा की ‘बोच्छ’ कियाके साथ सम्बन्ध जोड़ते हुए कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि मैं उस परमात्म-तत्त्वका कथन करूँगा जिसको जानकर तथा जिसका निरन्तर अवलोकन कर थोगी-व्यानस्थ मुनि, अव्यावाध—बधा रहित अनन्त-अविनाशी और अनुपम-उपमारहित निवर्ण-शुद्ध सुख रूप मोक्ष स्थानको प्राप्त होते हैं । कहा भी है—

जन्मबारामय—जो जन्म जरा रोग मरण शोक दुःख और भय से रहित है, शुद्ध सुख से युक्त है तथा नित्य है ऐसा निवर्ण-मोक्ष निःश्रेयस कहलाता है ।

गाथा में आया हुआ ‘हवइ’ पद भूप्राप्ती वातुका रूप है । भूप्राप्ता-वात्मनेपदी इस कथन से उसका आत्मनेपद में प्रयोग होता है ॥ ३ ॥

गाथार्थ—वह आत्मा परमात्मा, अभ्यन्तरात्मा और बहिरात्मा के भेद से तीन प्रकार का है । इनमें से बहिरात्मा को छोड़कर अन्तरात्माके उपाय से परमात्मा का ध्यान किया जाता है । हे योगिन् ! तुम बहिरात्मा का त्याग करो ॥४॥

१. रुद्रकरणहस्यावकाशारे ।

२. ‘परमंतर बाहिरो दु देहोण’ इति पाठः पं० जयचन्द्र वचनिकायां स्वीकृतः
‘सुखुः च व्रतिभाति ।

त्यानं हित्यापरित्यज्य । (तत्य परो क्षाहज्जाह) तत्र परमात्मा व्यापते कथं परमात्मा व्यापते ? (अंतोबाएण) अन्तरात्मोपायेन भेदशानवलेनेत्यर्थः (अयहि बहिरप्णा) त्यज परिहूर त्वं हे मुने बहिरप्णा बहिरात्मानं-शरीरमेवात्मेति मतं मन्यते बहिरात्मा तमभिप्रायं त्वं त्यजेति तात्मर्थ्यर्थः ।

अक्षाणि बाहिरप्णा अंतरबाप्पा हु अप्पसंकप्यो ।

कर्मकलंकविमुक्तो परमप्पा भण्णए देवो ॥ ५ ॥

अक्षाणि बहिरात्मा अन्तरात्मा स्फुटं आत्मसंकल्पः ।

कर्मकलंकविमुक्तः परमात्मा भण्णने देवः ॥५॥

(अक्षाणि बाहिरप्णा) अक्षाणि इन्द्रियाणि बहिरात्मा भवति । (अंतर-
बाप्पा हु अप्पसंकप्यो) अन्तरात्मा हु-स्फुटं आत्मसंकल्पः शरीरकर्मरागद्वेषमोहादि-
दुःखपरिणामरहितोऽयं ममात्मा वर्तते शरीरे तिष्ठनशुद्धनिश्चयनयेन शरीरं न
स्पृशति, कर्मबन्धनवद्वोपि सन् कर्मबन्धनैर्देवो न भवति भलिनीदलस्थितजलवदि-
तीदृशां भेदशानं आत्मसंकल्पं उप्यते स आत्मसंकल्पो यस्य जीवस्य वर्तते सोऽन्त-

विद्वेषार्थ—आत्मा के तीन भेद हैं १ परमात्मा २ अन्तरात्मा ३ बहि-
रात्मा । इन तीनोंके लक्षण आगे स्वयं कुन्दकुन्द स्वामी कहेंगे । इनमें से
बहिरात्मा को छोड़कर अन्तरात्मा के उपाय से—भेदशान के बलसे पर-
मात्मा का ध्यान किया जाता है । हे मुने ! तू बहिरात्मा को छोड़
अर्थात् शरीर ही आत्मा है इस अभिप्राय का त्याग कर ॥४॥

गायार्थ—इन्द्रियाँ बहिरात्मा हैं, आत्मा का संकल्प अन्तरात्मा है
और कर्म-रूपी कलंक से रहित आत्मा परमात्मा कहलाता है । परमात्मा
को देव संज्ञा है ॥५॥

विद्वेषार्थ—यह जीव इन्द्रियों के द्वारा पदार्थ का स्पर्श आदि करता
है इसलिये इन्द्रियों को बहिरात्मा कहा है । शरीर कर्म रागद्वेष मोह
आदि दुःख रूप परिणामों से रहित भेरा आत्मा अशुद्ध निश्चयनय से
यद्यपि शरीर में निकास कर रहा है तथापि शरीर का स्पर्श नहीं करता
है, कर्म-बन्धन से बढ़ होनेपर भी बढ़ नहीं है, जैसे कमलिनों के पत्र पर
स्थित पानी उस पर स्थित होता हुआ भी निलिप्त होनेमें उससे पृथक्
माना जाता है इसी प्रकार भेरो आत्मा भी शरीर में रहती हुई भी
निलिप्त होनेमें उससे पृथक् है, इस प्रकार का भेद-शान आत्म-संकल्प
कहलाता है जिसके यह आत्म-संकल्प होता है वह अन्तरात्मा कहलाता

रात्मा वेदितव्यः । (कम्पकलंकविमुक्तो परमपा भण्णए देवो) कर्मकलद्वय-
विमुक्तो द्रव्यकर्मभावकर्मनोकर्मरहितः सिद्धपरमेश्वरो देवः परमात्मा भव्यते
अहन् परमेश्वरः सामान्यकेवली च परमात्मा कव्यते तस्य जीवन्मुक्तसत्त्वात् ।
हक्तं च—

आत्मन्नात्मविलोपनात्मचरितैरासीदुर्रात्मा चिरं
स्वात्मा स्याः परमात्मनीनचरितैरासीकृत्तरात्मनः ।
आत्मेत्यां परमात्मता प्रतिपत्तन् प्रस्यात्मविद्यात्मकः
स्वात्मोत्थात्मसुखो निषीदवि^१ लसन्नध्यात्मसञ्चात्मना ॥ ६ ॥

मलरहिओ कलचसो अणिदिओ केबलो विसुद्धप्पा ।
परमेष्ठी परमजिणो सिवंकरो सासओ सिद्धो ॥ ६ ॥

मलरहितः कलत्यक्तः अनिन्द्रियः केबलो विशुद्धात्मा ।
परमेष्ठी परमजिनः शिवद्वारः शाश्वतः सिद्धः ॥ ६ ॥

(मलरहिओ कलचसो) परमरहितः कर्मकलद्वयरहितः, कलया शरीरेण
त्यक्तः कलत्यक्तः । याकारो स्त्रीकृतौ छुस्त्री कन्जित् यथा इष्टकचितं इष्टीकतूल-

है । और जो द्रव्यकर्म भावकर्म तथा नोकर्म से रहित सिद्ध परमेश्वर
है वे परमात्मा कहलाते हैं । अरहन्त परमेश्वर तथा सामान्य केवली
भी परमात्मा कहलाते हैं, क्योंकि उनकी जीवन्मुक्त अवस्था है । कहा
भी है—

आत्मन्नात्म—आत्मन् । तू आत्माको लुप्त करने वाले अपने आचार
से चिरकाल तक दुरात्मा (दुष्ट स्वभावसे युक्त बहिरात्मा) रहा, अब
आत्मस्वरूप किये हुए परमात्मा के चरित से अर्थात् परमात्मा के ध्यान
से स्वात्मा (उत्तम स्वभाव से युक्त अन्तरात्मा) हो जा । जिसे आत्म-
विद्या—आत्मज्ञान प्राप्त हो चुका है, ऐसा तू आत्मा के द्वारा प्राप्त करने
योग्य परमात्म-दशाको प्राप्त होता हुआ अपनी आत्मा से ही उत्पन्न होने
वाले आत्म-सुखसे सम्पन्न हो अच्यात्मकी भावनासे सुशोभित होता हुआ
आत्मामें लीन हो जा ॥ ५ ॥

गाथार्थ—वह परमात्मा मल रहित है, कला अर्थात् शरीर से रहित
है, अतीन्द्रिय है, केबल है, विशुद्धात्मा है, परमेष्ठी है, परम जिन है,
शिवकर है, शाश्वत है और सिद्ध है ॥ ६ ॥

१. निषीदसी लसन्न म० ।

मिति । (अणिदिवो केवली विसुद्धपा) अनिन्दित्य इन्द्रियज्ञानरहितः केवलज्ञानेन द्रव्यपर्यायस्वरूपं जानश्चित्पर्यः ।

उक्तं च पुष्पदन्तेन महाकविना—

सर्वहेणु अणिदिवो णाणमबो जो मयभुहु न पत्तियइ ।

सो णिदिवो पचिदियनिरभो वहतरणिहि पाणित पियइ ॥ १ ॥

अथवा—अणिदिवो—अणिदित इन्द्रधरणेन्द्रखगेन्द्राद्वीनां स्तुत्य इत्यर्थः ।
उक्तं च सुलोचनाकान्तेन—

षष्मितालिलविघ्नसंस्तवस्त्वपि तुच्छोऽप्युपवात्प्रतुच्छतां ।

शुभिशुक्तिपुटभूतं शूतं ननु मुक्ताफलतां प्रपद्धते ॥ १ ॥

विशेषार्थ—इस गाथामें श्रीकुन्दकुन्द स्वामीने दश विशेषणों के द्वारा परमात्माका निरूपण किया है, जिनका भाव यह है—परमात्मा मलसे रहित है अर्थात् कर्मशुद्ध क्लॅण्ड से रहित है, कला अर्थात् शरोर से रहित होनेके कारण कलत्यक्त अथवा निष्फल है, इकार और आकार स्त्रीलिङ्ग में कहीं कहीं हस्त भी होते हैं जैसे 'इष्टक चित्तम्' यहाँ पर इष्टिका केवदले इष्टकचित्तं प्रयुक्त होता है और 'इषीका तूलम्' यहाँ पर इषीका के स्थान पर हृस्त्वान्त ईषीक शब्दका प्रयोग हुआ है। परमात्मा अतीन्द्रिय है अर्थात् इन्द्रिय ज्ञानसे रहित है क्योंकि वह केवलज्ञान के द्वारा द्रव्य और पर्याय के स्वरूप को जानता है ।

जैसा कि महाकवि पुष्पदन्त ने कहा है—

सम्बन्ध—परमात्मा सर्वज्ञ अतीन्द्रिय और ज्ञानमय है, ऐसा जो मूढ़मति मनुष्य श्रद्धान नहीं करता है वह निन्दित है, पञ्चेन्द्रियों में निरत है तथा भरकर वैतरणी नदी का पानी पीता है अर्थात् नरक जाता है ।

अथवा 'अणिदिवो' को छाया 'अणिन्दितः' है, इस पक्षमें यह अर्थ होता है कि वह परमात्मा अनिन्दित है—निन्दित नहीं है अर्थात् इन्द्रधरणेन्द्र तरेन्द्र तथा विद्याधरेन्द्र आदिका स्तुत्य है । जैसा कि सुलोचनाकान्त-जयकुमार ने कहा है—

शमिता—आपके विषय में किया हुआ समस्त विघ्नोंको शान्त करने काला छोटा सा भी स्तवन अतुच्छतां-विशालता को प्राप्त होता है, सो ठीक हो है, क्योंकि उज्ज्वल सीप के भीतर रखा हुआ पानी निश्चय से मुक्ताफलपनेको प्राप्त होता है ।

षट्यन्ति न विज्ञकोटयो निकटे त्वर्जमयीनिवासिनाम् ।

एट्टोऽपि पदं दवारिनिमिभयमस्त्वैभुविमध्यवत्तिनाम् ॥ ३ ॥

हृदये त्वयि सन्मिष्ठापिते रिषवः केऽपि भयं विधित्सवः ।

अमृताशिषु सत्सु सत्तात् विषभेदार्पितविष्लवः कुतः ॥ ३ ॥

उपयान्ति सभस्तसम्पदो विषदो विष्युतिमाणुवस्त्यलम् ।

वृषभं वृषभार्गदेशिनं शष्यकेतुद्विषैमाणुषां सताम् ॥ ४ ॥

इत्थं भवतमतिभक्तिपथं निर्नीषोः, प्रागेव बन्धकलयः प्रलयं वजन्ति ।

पश्चाद्वनक्षरमयाक्षितमध्यवश्य, संपत्स्यतेऽस्य विलसदगुणभद्रभद्रम्^३ ॥ ५ ॥

केवलोसहायः केवलशानमयो वा, के परब्रह्मणि निजशुद्धवृद्धकस्वभावे आत्मनि बलमनन्तर्वीर्यं यस्य स भवति केवलः, अथवा केवले सेवते निजात्मनि एकलोली-

षट्यन्ति—बड़े बड़े करोड़ों विज्ञ भी आपके चरणों के समीप निवास करने वाले लोगों में अपना स्थान नहीं बना पाते सो ठीक ही है क्योंकि ऐसा होनेपर फिर समुद्र के मध्य बास करनेवाले लोगों को भी दावानलसे भय उत्पन्न हो ?

हृदये—हृदयमें आपके स्थापित किये जाने पर भय उत्पन्न करने वाले शत्रु कौन होते हैं ? अर्थात् कुछ भी नहीं । सो ठीक ही है क्योंकि अमृतभोजी जनोंके रहते हुए किसी भी प्रकार के विषसे उत्पन्न होने वाला उपद्रव कैसे हो सकता है ?

उपयान्ति—जो इस तरह धर्मका मार्ग बतानेवाले तथा कामके द्वेषी भगवान् वृषभदेव को प्राप्त हुए हैं—उनके शरणागत हुए हैं उन्हें सभस्त्र सम्पदाएँ प्राप्त होती हैं और विपत्तिर्था अच्छी तरह नष्ट होती है ।

इत्थं—शोभत्यमान गुणों से कल्याण करने वाले जिनेन्द्र इस प्रकार अपने आपको अपने भक्ति के मार्ग में ले जाने के इच्छुक मनुष्य के बन्ध-सम्बन्धी कलह पहले ही नष्ट हो जाते हैं और पीछे अविनाशी पद बिना याचना किये अवश्य ही प्राप्त होता है ।

परमात्मा केवल हैं अर्थात् असहाय हैं—दूसरे पदार्थों की सहायता से आलम्बनता रहित हैं अथवा केवल-ज्ञान-मय हैं अथवा 'के' परब्रह्मणि

१. मस्त्यम्बुद्धि म० ।

२. द्विषमेवमायुषां क० द्विषमायुषां म० ।

३. एतत् स्तोत्रम्भनक महापुराणस्य ४४ तमे पर्वणि ३५८-३९२ संख्यान चर्तते ।
अवद्वयारोक्तिरिच्चम ।

भावेन तिष्ठतीति केवलः । विशुद्धात्मा विशेषेण शुद्धः कर्ममलकलंकरहित आत्मा स्वभावो यस्य स विशुद्धात्मा । (परमेष्ठी परमजिनो) परमेष्ठी परमजिनः, परमे इन्द्रधरणेन्द्रभरेन्द्रमुनीश्चादिविंविते पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी पञ्चपरमेष्ठिरूपः, परमजिनो परा उत्कृष्टा प्रत्यक्षलक्षणोपलक्षिता मा प्रमाणं यस्येति परमः, अथवा परेणां भव्यप्राणिनां उपकारिणी मा लक्ष्मीः समयसरणविभूतिर्यस्येति परमः, अनेकविषमभवग्रहनदुःखप्राप्यहेतून् कमरितीन् जयति समूलकार्यं कषतीति जिनः परमस्वासी जिनः परमजिनः तीर्थकरपरमदेवः । (सिंवकरी) शिवं परममंगलं करोति शिवंकरः, अथवा शिवं मोक्षं करोति भक्तभव्यजीवानां भोक्षं विद्वातीति शिवंकरः शिवतातिरपरपर्यायः ।

निज शुद्ध-बुद्धेच-स्वभावे शात्मनि बलमनन्तरोर्य यस्य ह अहति केवलः इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिनकी के अर्थात् शुद्ध बुद्धेक स्वभाव आत्मा में अनन्त बल विद्यमान है उस रूप है अथवा 'केवते सेवते निजात्मनि एकलोलीभावेन तिष्ठतीति केवलः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार निज आत्म-स्वरूप में लीन हैं ।

वह परमात्मा विशुद्धात्मा है अर्थात् उनका आत्म-स्वभाव कर्ममल-कलंकसे रहित होने के कारण अत्यन्त शुद्ध है । [इन्द्र धरणेन्द्र नरेन्द्र और मुनीन्द्रों के द्वारा वन्दित परम उत्कृष्ट पदमें स्थित होनेसे परमात्मा परमेष्ठी कहलाता है] अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु के भेद से परमेष्ठीके पाँच भेद हैं, परमात्मा उन्हीं पञ्च परमेष्ठी रूप हैं । प्रत्युत्पत्त-ग्राही नैगमनय की अपेक्षा अरहन्त और सिद्ध परमेष्ठी रूप हैं तथा भूतप्रजापन नैगमनय की अपेक्षा आचार्य उपाध्याय और साधु रूप भी हैं ।

परमात्मा परम जिन हैं 'परा-उत्कृष्टा प्रत्यक्षलक्षणोपेता मा—प्रमाणं यस्य सः' । इस समास के अनुसार जो प्रत्यक्ष प्रमाण से युक्त है वह परम है अथवा 'परेणां भव्यप्राणिनामुपकारिणी मा लक्ष्मीः समयसरणविभूतिर्यस्येति परमः' इस समास के अनुसार जो भव्य जीवोंका उपकार करने वाली लक्ष्मी से सहित है वह परम है । 'कमरितीन् जयतीति जिनः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो संसार के ग्रहन दुःखों को प्राप्त करने वाले कर्मरूपी शत्रुओं को जीतता है वह जिन है । इस तरह परम-जिनका अर्थ तीर्थकर परम देव है ।

वह परमात्मा शिवंक है अर्थात् परममञ्जुल अथवा मोक्षको प्राप्त करनेवाला है, शाश्वत है, अविनाशी है अथवा 'सासबो' के स्थान पर

सासबो शस्वदभवः शाश्वतोऽविनश्वरः । (सासबो) इति च कवचित् पाठो दृष्ट्यते तत्त्वायमर्थः—साशपः भक्तभव्यानां आशापूरणसमर्थं इत्यर्थः । (सिद्धो) सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिविद्वाते यस्य स तिद्वः परमनिर्बाणपदमारुण्डं इत्यर्थः ।

‘तदुद्दते—तस्य त्रिविधस्यात्मनः स्वरूप शोऽन्तर्गतरेऽपि भ्रोक्तमस्तोति औकुन्द्य-
कुर्वदाचार्यो निरूपयन्ति—

आखहवि अंतररूपा बहिरप्या छंडिङ्गण तिविहेण ।

शाइज्जह परमप्या उबहहुं जिणवारिवेहि ॥ ७ ॥

आरुह्य अन्तरात्मानं बहिरात्मानं त्यक्त्वा त्रिविधेन ।

ध्यायते परमात्मा उपदिष्टं जिनवरेन्द्रेः ॥ ७ ॥

(आखहवि अंतररूपा) आरुह्य प्रादुर्भाव्य आश्रित्येति, कि ? अंतररूपा—अन्तरात्मानं भेदज्ञानावलम्बनं कृत्वेत्यर्थः । (बहिरप्या छंडिङ्गण तिविहेण) त्रिविधेन मनोवचनकायैर्बहिरात्मानं त्यक्त्वा । (शाइज्जह परमप्या) ध्यायते

‘सासबो’ पाठ भी कहीं देखा जाता है उस पाठकी अपेक्षा ‘साशप’ है अर्थात् भक्त भव्य जोवोंकी आशाओं को पूर्ण करने में समर्थ हैं ।

परमात्मा सिद्ध है अर्थात् स्वात्मोपलब्धि रूप सिद्धि उसे प्राप्त हो सकती है ।

इस तरह तीन प्रकारके जोवोंका स्वरूप अन्य शास्त्रों में भी कहा गया है ॥ ६ ॥

गाथार्थ—मन वचन काय इन तीनों योगों से बहिरात्मा को छोड़कर तथा अन्तरात्मा पर आरूढ़ होकर अर्थात् भेदज्ञानके द्वारा अन्तरात्मा का आलम्बन लेकर परमात्मा का ध्यान किया जाता है, ऐसा जिनेन्द्र देवने उपदेश दिया है ॥ ७ ॥

विशेषार्थ—जो शरीर को ही आत्मा मानता है वह बहिरात्मा है, मिथ्यादूषित है । इस अवस्था को त्रिविध योग से छोड़कर अन्तरात्मा

१. समस्त प्रसिद्धों में ‘तदुद्दते’ पाठ है परत्सु उसके जागे कोई गाथा उद्घृत नहीं है । ऐसा जान पड़ता है कि ‘आखहवि’—आदि गाथा ही उद्घृत गाथा है क्योंकि यह गाथा नं० ५ की गाथासे भिन्नार्थ हो जाती है । संस्कृत टीकाकार ने इसे मूल ग्रन्थ समाप्त कर इसकी टीका कर दी है । इसलिये यह मूल में शामिल हो गई । यह गाथा कहीं की है, इसकी खोज आवश्यक है ।

अहर्निशं चित्यते, कौड़ी ? परमात्मा निष्ठचयनयेन कर्ममलकलस्तुरहितः सिद्धस्वरूपः निष्परमात्मा ध्यायते अहंतिसिद्धस्वरूपोऽवलोक्यते द्विविषमस्यासं कुर्वणो मुनिः परमात्मानन्देव प्राप्नोति—अहंसिद्धसदूलो भवति । तथा जोक्तं—

‘आत्मा मनीषिभिरयं लदभेदद्वुद्धापा ध्यातो जिनेन्द्र ! भवतीह भवतप्रभावः ।

पानीपमप्यमृतमित्यनुचित्यमानं कि नाम नो विषविकारमपाकरोति ॥१॥

(उवद्गु जिभक्तिरद्विहि) उपदिष्ट प्रतिपादित । कैः, जिनवरेन्द्रैः श्रीमद्-भगदहृत्सवैक्षणीयतरामैरिति शेषः ।

बहिरत्ये फुरियमणो इन्द्रियद्वारेण णियस्वरूपच्छुओ ।

णियदेहं अप्याणं अज्ञानद्वारेण भूढविद्धीओ ॥८॥

बहिरत्ये स्फुरितमना इन्द्रियद्वारेण निजस्वरूपच्युतः ।

निजदेहं आत्मानमध्वस्यति मूढदृष्टिस्तु ॥८॥

बनना चाहिये अर्थात् भेदज्ञानका आलम्बन कर शरीरसे भिन्न आत्माका अनुभव करना चाहिये, अन्तरात्मा सम्यद्वृष्टि है । इस तरह अन्तरात्मा बनकर परमात्मा का ध्यान करना चाहिये । निष्ठचयनय से परमात्मा कर्म-मल कलेक से रहित सिद्ध स्वरूप है । जो अहंत और सिद्धका स्वरूप है वही मेरा स्वरूप है, इस प्रकार ध्यान करना चाहिये । ऐसा ध्यान करने वाला मुनि परमात्मा को प्राप्त कर लेता है अर्थात् स्वर्व अहंत सिद्ध स्वरूप हो जाता है ।

जैसा कि कहा गया है—

आत्मा—हे भगवन् ! विद्वानोंके द्वारा आपसे अभिन्न मानकर ध्यान किया हुआ आत्मा आपके ही समान प्रभाव वाला हो जाता है सो ठीक ही है क्योंकि ‘यह अमृत है’ इस प्रकार ध्यान किया हुआ पानी भी क्या विष-के विकार को दूर नहीं कर देता ? अर्थात् अवश्य कर देता है ।

परमात्म-अवस्था को प्राप्त करने का यह मार्ग जिनेन्द्र भगवान् वीतराग सवैक्ष देवने कहा है ॥ ७ ॥

गायत्री—बाह्य पदाथों में जिसका मन स्फुरित हो रहा है तथा इन्द्रिय रूप द्वारके द्वारा जो निज स्वरूप से च्युत हो गया है ऐसा मूढ-दृष्टि—बहिरात्मा पुरुष अपने शरीर को ही आत्मा समझता है ॥८॥

१. कर्माणमिवरस्तोचे कर्मद्वचनस्य ।

(बहिरत्वे कुरियमणो) बहिरत्वे इष्टवनितासुतस्वापतेयादो स्फुरितं चमत्कृतं मनो यस्य स इष्टार्थं स्फुरितमनाः । (इदियदारेण णियसरूपच्छुबो) इन्द्रियद्वारेण हन्त्रियेषु प्रविश्य, निजस्त्रैरूपच्युतं आत्मभावनायाः प्रभृष्टः । (णियदेहं अप्यार्थं) निजदेहं स्वकोयशरीरं आत्मानमध्यवस्थतीर्ति सम्बन्धः—शरीरमात्मानं जानान् तीत्यर्थः । (अज्ञानवसदि मूढदिट्ठीओ) अध्यवस्थति मूढदृष्टिस्तु ममार्थं काय आत्मेनि जानाति मूढदृष्टिर्थं हिरात्मेतिभावार्थः ।

णियदेहसरिस्सं पिच्छिङ्गणं परविग्रहं पथस्तेण ।

अच्चेयणं पि गहियं शाइजजइ ॥ परमभाएण ॥ ९ ॥

निजदेहसदृक्षं दृष्ट्वा परविग्रहं प्रवत्तेन ।

अचेतनमपि गृहीतं ध्यायते परमभावेन ॥ ९ ॥

(णियदेहसरिस्सं पिच्छिङ्गण) निजदेहसदृक्षे सदृग्ं पिच्छिङ्गण दृष्ट्वा । (परविग्रहं पथस्तेण) परविग्रहं इष्टवनितादिशारीरं, पथस्तेण—प्रयत्नेन मलमूत्र-शुक्रलघ्वरमांसकीकसचर्मरोमादिलुग्मन्थापविक्रादिदरिणामभावेन । (अच्चेयणं पि गहियं) अचेतनमपि आत्मना गृहीतं जोवेन स्वीकृतं । (शाइजजइ परमभाएण)

विशेषार्थ—इस गाथामें बहिरात्मा जीवको प्रवृत्तिका वर्णन करते हुए श्री कुन्दकुन्द स्वामी लिखते हैं कि जिसका मन इष्ट स्त्री पुत्र तथा धन आदिमें चमत्कार को प्राप्त हो रहा है तथा इन्द्रिय-सम्बन्धी विषयों में आसक्त होकर जो निज रूपसे च्युत हो गया है अर्थात् आत्माकी भावना से भृष्ट हो गया है ऐसा मूढ़ दृष्टि मनुष्य निज शरीरको ही आत्मा मान बैठता है ॥ ८ ॥

गाथार्थ—ज्ञानी मनुष्य निज-शरीर के समान पर-शरीर को देखकर भेद-ज्ञान पूर्वक विचार करता है कि देखो इसने अचेतन शरीरको भी प्रयत्नपूर्वक ग्रहण कर रखा है ॥ ९ ॥

विशेषार्थ—ज्ञानी जीव भेद ज्ञान-पूर्वक ऐसा विचार करता है कि जिस प्रकार मेरा शरीर मल मूत्र शुक्र धूधिर मांस हड्डी चर्म रोग आदि द्वुगुण्ठ युक्त अपवित्र पदार्थों से भरा हुआ है तथा अचेतन है, उसी प्रकार पर का शरीर भी अपवित्र वस्तुओं से भरा तथा जड़ रूप है परन्तु मोहो जीव उसे प्रयत्नपूर्वक ग्रहण किये हुए है। यहाँ संस्कृत टोकाकार ने 'परमभाएण' की छाया 'परमभागेन' स्वीकृत की है और उसका अर्थ 'शरीर भिन्न है तथा आत्मा भिन्न है' ऐसा-ज्ञान लिया है।

व्यापते शरीरस्वरूपं चित्त्यत परमभागेन पृथक्तया भेदशानेन—शरीर भिन्नं
आत्मा भिन्नी वर्तते इति भेद कुरुतेर्णः । सहा चोलः—..

आत्मा भिन्नस्तदनुगतिमत् कर्म भिन्नं तयोर्या
प्रत्यासत्तेर्भवति विकृतिः सापि भिन्ना सर्वैः ।
कालक्षेत्रप्रमुखमपि यत्तच्च भिन्नं मतं मे ।
भिन्नं भिन्नं निजगुणकलालङ्घतं सर्वमेतत् ॥ १ ॥

सपरज्ञवसाएणं देहेषु य अविदिदत्थमण्डाणं ।
सुतदाराईविसए मणुयाणं छड्ढए मोहो ॥ १० ॥
स्वपराध्यवसायेन देहेषु च अविदितार्थमात्मानम् ।
सुतदारादिविषये मनुजानां वर्वते मोहः ॥ १० ॥

(सपरज्ञवसाएणं) स्वपराध्यवसायेन परवस्तु शरीरादिकं स्वमात्मानं मन्यते
स्वपराध्यवसायः । केषु पदार्थेषु, (देहेषु य) शरीरेषु च, चक्ररात्रिनितादिषु च,
शरीर वनितासु तस्वापतेयादिकं वस्तु लालु परकोयं वर्तते तत्र । (अविदिदत्थं)

जैसा कि कहा है—

आत्मा—आत्मा भिन्न है, उसके साथ लो हुए कर्म भिन्न हैं, आत्मा
और कर्म की प्रत्यासत्ति-एक क्षेत्रावगाह से जो विकार उत्पन्न हुआ है
वह भी भिन्न है । आत्माका काल तथा क्षेत्र आदि भिन्न हैं तथा आत्म-
गुणों की कला से अलंकृत जो कुछ है वह सब भिन्न भिन्न है ।

[इस गाथाके 'परमभाएण' पाठकी छाया पं० जयचन्द्र जी ने 'परम-
भावेन' स्वीकृत को है और उसका अर्थ परम भाव लिया है । अन्य कितनी
ही प्रतियों में 'परमभाएण' के स्थान पर 'मिच्छभावेण' पाठ है । इस पाठ
से गाथा का अभिप्राय ही दूसरा हो जाता है उससे गाथा में ज्ञानी जीव
के विचार की चर्चान होकर अज्ञानी जीव की चर्चा दिखने लगती है । यह
जीव मिथ्या भावके कारण बहिरात्मा बनकर अपने शरीर के समान इष्ट
स्त्री आदि परके शरीरको भी आत्मा मानता है तथा प्रथत्पूर्वक उनमें राग,
भाव करता है]

गाथार्थ—स्व-पराध्यवसाय के कारण अर्थात् परको आत्मा समझने
के कारण यह जीव अज्ञान-बश शरीरादिको आत्मा मानता है । इस
विपरीत अभिनिवेश के कारण ही मनुष्यों का पुत्र तथा स्त्री आदि विषयों
में मोह बढ़ता है ॥ १० ॥

अविदितार्थं यथावत्सरूपपरिज्ञानरहितार्थं यथा भवत्येवं वर्तमान आत्मा । (अप्याण) इति जीवः आत्मानं जानीते तच्च देहादिकं वस्तु आत्मा न भवति । तेन विपरीताभिनिवेशेन (सुयदाराद्विविसए) सूतदाराद्विविषये पुत्रकलशादिषु । (मण्डपार्णवद्धणे मोही) मनुजानां मानवानां वर्धते मोहः—स्तेहेनाज्ञानमूलं मोही वैचिस्यं बृद्धि याति, मोहेन परिणतो जीवो बहिरात्मा पुनः कामीण्यषट्टी बध्नाति । उक्तं च

‘जीवकृतं परिणामं निमित्तमार्थं प्रपद्य पुनरुन्मे ।

स्वयमेव परिणमन्तेऽन् पुद्गलं कर्मभावेन ॥ १ ॥

गिरोद्दर्श—‘इति पदहितन् अस्यवसाय. स्वपराव्यवसायः’ इस व्युत्पत्ति के अनुसार ‘यह आत्मा है’ इस प्रकार पर पदार्थों में जो निश्चय होता है वह स्वपराव्यवसाय कहलाता है । ‘अविदितोऽर्थो यस्मिन् कर्मणि तत् अविदितार्थं यथावत् स्वरूप-परिज्ञानरहितार्थं यथास्यात् तथा’ इस समालोचन के अनुसार अविदितार्थ किया-विशेषण है । ‘जीवः’ इस कतुं पद-की ओर ‘जानीते’ इस किया पद की ऊपर से योजना करनी चाहिये । इस तरह गाथा का अर्थ होता है कि यह जीव पर पदार्थ में आत्म-बुद्धि होनेके कारण अज्ञानी होता हुआ शरीरादि पर वस्तुओंका आत्मा जानता है । इसी विपरीताभि-निवेश—मिथ्या अभिप्रायसे मनुष्यों का पुत्र तथा स्त्री आदि में मोह बढ़ता है । मोह रूप परिणत हुआ जीव बहिरात्मा कहलाता है तथा बहिरात्मा होकर यह जीव आठ कर्म बधिता है ।

जैसा कि कहा है—

जीवकृती—जीवके द्वारा किये हुए रागादि परिणाम को निमित्त मात्र प्राप्त करके जीवसे भिन्न पुद्गल द्रव्य स्वयं ही कर्म-रूप परिणत होजाते हैं । यहीं पुद्गल द्रव्य स्वयं कर्म रूप परिणत होजाते हैं, इससे आचार्य ने यह भाव सूचित किया है कि कर्मका उपादानकारण पुद्गल द्रव्य है क्योंकि वह स्वयं कर्म रूप परिणत होता है परन्तु पुद्गल द्रव्यका कर्म रूप परिणमन अनिमित्तक न होकर जीवके रागादि परिणाम-निमित्तक है । एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका उपादान कारण नहीं हो सकता क्योंकि एक द्रव्यका दूसरे द्रव्य में अत्यन्ताभाव होता है परन्तु निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध दो भिन्न द्रव्यों में भी होता है इसीलिये पुरुषार्थसिद्धघुपार्थके इस इलोकमें श्री अमृतचन्द्र स्वामी ने पुद्गल द्रव्यके कर्म रूप परिणमन में जीवके रागादि भावोंको निमित्त कारण माना है और ‘परिणममानस्य

१. पुरुषार्थसिद्धघुपार्थे ।

मिच्छाणाणेस् रओ मिच्छाभावेण भाविओ संतो ।
मोहोदण पुणरवि अंगं सं मण्णए मणुओ ॥११॥

मिथ्याज्ञानेषु रतः मिथ्याभावेन भावितः सन् ।

मोहोदयेन पुनरपि अङ्गं स्वं मन्यते मनुजः ॥ ११ ॥

(मिच्छाणाणेषु रओ) मिथ्याज्ञानेषु रतोऽयं मनुजो जीवः । (मिच्छाभावेण भावितो संतो) मिथ्यापरिणामेन कुण्डलकुदेवभक्त्या भावितो वासितः सनः । (मोहोदण पुणरवि) मोहोदयेन मिथ्यामोहस्य विविधस्योदयेन विपाकेन, पुनरपि भूयोऽपि । (अंगं सं मण्णए मणुओ) अंगं शरीरं, स्वप्रात्मानं, मन्यते जानाति, मनुजो मनुष्यो मिथ्यादुष्टिजीव इत्यर्थः ।

जो देहे णिरवेक्षो णिहंदो णिम्मसो णिरारम्भो ।

आयसहावे सुरओ जोइ सो लहड़ णिभ्वार्ण ॥१२॥

यो देहे निरपेक्षः निहंदः निर्ममः निरारम्भः ।

आत्मस्वभावे सुरतः योगी स लभते निर्विमिस् ॥ १२ ॥

चित्तिचिदात्मके; स्वयमपि स्वकेभविः । भवति हि निमित्तमात्रं पौद्यग्लिकं कर्मं तस्यापि' । इस पद्म में जीवके रागादि रूप परिणामन में पौद्यग्लिक कर्म को निमित्त कारण माना है । एकान्त से मात्र उपादान का पक्ष लेकर वर्णन करतेसे लोक-प्रचलित-निमित्त नैमित्तिक भाव तथा शास्त्र-वर्णित षट्द्रव्योंका उपकार्य उपकारक भाव विहृद्ध जान पड़ने लगता है । अतः अनेकान्त की दृष्टि से ही पदार्थ का वर्णन करना संगत है ॥१०॥

गायार्थ—यह मनुष्य मोहके उदय से मिथ्याज्ञान में रत है तथा मिथ्याभाव से वासित होता हुआ फिर भी शरीर को आत्मा मान रहा है ॥११॥

विशेषार्थ—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति के भेदसे मोहके तीन भेद हैं । इस तीन प्रकारके मोहके उदयसे यह जीव मिथ्याज्ञानमें रत हो रहा है—मिथ्याशास्त्रों के अध्ययनादि में प्रवृत्त हो शुद्ध-बुद्धेक-स्वभाव आत्मज्ञान से विमुख हो रहा है तथा कुण्डलकुदेव आदि की भक्ति रूप मिथ्या परिणाम की भावना से वासित होता हुआ शरीर को फिर भी आत्मा मान रहा है अर्थात् इस जीवकी मिथ्याबुद्धि हट नहीं सकती है ।

गायार्थ—जो शरीर में निरपेक्ष है, दन्त-रहित है, भरता रहित है,

(जो देहे शिरवेकहो) यो योगी देहे शरीरे निरपेक्ष उदासीनो समत्वेन
च्युतः । (शिरदो निम्नमो निरारंभो) निर्द्वन्द्वो निष्कलहः केनापि सह कलहुर-
हित । अथवा निर्द्वन्द्वो नियुगमः स्त्रीभोगरहितः “द्वन्द्वं कलहयुगमयोः” इति
बचनात् । निर्ममो ममत्वरहितः, ममेति अद्वैतोऽव्यवशब्दः निगंतं भमेति परिणामो
यस्येति निर्ममः । उक्तं च—

“अकिञ्चिन्नोऽहमित्यास्त्वं त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः ।

योगिगम्यं तत्र प्रोक्तं रहस्यं परमात्मनः ॥ १ ॥

निरारंभः सेवाकृतिवाणिज्यादिकर्मरहितः । उक्तं च—

आरंभे एत्य दद्या महिलासंगण यासए नेमं ।

संकाएः सम्मतं पञ्चज्ञा अस्थगहणेण ॥ २ ॥

आरम्भ रहित है और आत्म-स्वभावमें सुरत है—संलग्न है, वह योगी
निर्वाणिको प्राप्त होता है ॥ १ ॥

विशेषार्थ—जो योगी शरीर में निरपेक्ष है—उदासीन है । निर्द्वन्द्व-
कलह रहित है अथवा ‘द्वन्द्वे कलहयुगमयोः’ इस कोशके बचन के अनुसार
द्वन्द्वका अर्थ स्त्री पुरुषका युगल भी होता है, अतः निर्द्वन्द्व है—अर्थात् स्त्री
के भोगसे रहित है । निर्मम है अर्थात् ममता भाव से रहित है । ‘मम’ यह
बदलत अव्यय शब्द है उसका अर्थ ‘यह मेरा है’ इस प्रकार का परिणाम
है । योगी निर्मम होता है अर्थात् मम परिणामों से सर्वथा रहित है—

जैसा कि कहा है—

अकिञ्चिन्नोऽहं—हे आत्मन ! ‘मैं अकिञ्चन हूँ—मेरा भेरे पास कुछ
नहीं है’ यह विचार कर तुम चुपचाप बैठ जाओ क्योंकि ऐसा करने से
तुम तीन लोकके अधिपति हो सकते हो । मैंने परमात्मा का यह योगिगम्य
रहस्य तेरे लिये कहा है ।

जो योगी निरारम्भ है अर्थात् सेवा कृषि वाणिज्य आदि कार्योंसे रहित
है । कहा है ।

आरंभे—आरम्भ में दद्या नहीं है, स्त्रियों की संगति से ब्रह्मचर्य नष्ट
हो जाता है, शङ्खा से सम्बन्ध नष्ट हो जाता है और धनके ग्रहण करने
से प्रकृत्या-दीक्षा नष्ट हो जाती है ।

(आदसहाये सुरओ) आत्मस्वभावे टकोल्कीर्णशायकेकस्वभावचित्तमत्कार-
लक्षणनिजशुद्धबुद्धेकपरिणामे जीवतत्त्वे सुष्ठु—अतिशयेन रत् एकलोलीभावः ।
(जोई सो लहूइ णिष्वाणं) म एवंविषो योगी शुद्धोपयोगरतो भुनिः स लभते
निवर्णं, सर्वकर्मकायलक्षणोपलक्षितं मोक्षं लभते प्राप्नोति । अथवा जोई सो योगो
ध्यानं विद्यते यस्य स योगी योगिनामीषो यागीश इत्यनेन गृहस्थस्य स्त्रियाः
परिस्मी च मुक्तिनं भवतीति शुद्धिर्त्वा तात्त्वं । उत्तरं च --

साम्यं स्वास्थ्यं समाधित्वं योगस्त्विन्तानिरोधनम् ।

शुद्धोपयोग इत्येते भवत्येकाध्येवाचकाः ॥ १ ॥

कथं गृहस्थस्य मुक्तिनं भवतीति चेत् ?—

—संप्रदानी पेषणी चुल्ली चबुद्धुमभः प्रभार्जनी ।

पञ्च सूना गृहस्थस्य तेन मोक्षं न गच्छति ॥ १ ॥

और जो टक्कोल्कीर्ण एकमात्र शायकस्वभाव, चैतन्य-चमत्कार लक्षण
से मुक्त, निज शुद्ध-बुद्धेक परिणाम जीव तत्त्व में अतिशय से लीन है वह
योगी शुद्धोपयोग में रत होता हुआ सर्व कर्मकाय लक्षणसे सहित मोक्षको
प्राप्त होता है । अथवा 'योगो ध्यानं विद्यते यस्य स योगी योगिनामीषो
योगीशः' इस समास के अनुसार ध्यानी मुनियों का स्वामी—उत्कृष्ट मुनि
ही मोक्षको प्राप्त होता है, ऐसा अर्थ लेना चाहिये । ऐसा अर्थ करनेसे
गृहस्थ के स्त्री के तथा दिव्यम्बर मुद्रा के सिवाय अन्यवेष के घारक साधु
के मोक्ष नहीं होता है यह भाव सूचित होता है । कहा भी है—

साम्य—साम्य, स्वास्थ्य, समाधि, योग, चिन्ता-निरोध और शुद्धो-
पयोग ये सब एकार्थ के बाचक हैं ।

प्रश्न—गृहस्थ के मुक्ति क्यों नहीं होती है ?

उत्तर—गृहस्थ के कूठना, पीसना, चूला सुलगाना, पानी के घट भरना
और बुहारी लगाना ये पाँच हिंसा के कार्य होते हैं अतः वह मोक्ष को प्राप्त
नहीं होता ।

इसी प्रकार स्त्रियों की भी मुक्ति नहीं होती क्योंकि उनके महाव्रतका
अभाव है ।

प्रश्न—स्त्रियों के महाव्रत का अभाव क्यों है ?

उत्तर—क्योंकि उनकी काँखरियों में, स्तनों के बीच में, नाभि में
और योनि में जोवों की उत्पत्ति तथा विनाश रूप हिंसा होती रहती है,
उनके निःशाश्वपनेका अभाव है तथा वस्त्र रूप परिध्रु का त्वाण भी नहीं

तथा स्त्रीणामपि भुक्तिर्त्वं भवति महाव्रताभावात् । तदपि कर्मान्व भवति ? कक्षयोः स्तनयोरत्तरे नामौ शोनी च जीवानामुत्पत्तिविनाशलक्षणहिंसासद्भावात्, तिर्णेन्द्रियसावात्, विग्रहिरिद्धारणात्, अहमिन्द्रियाद्यपि गच्छन्ते कथं निवाणिति हेतीश्च । यदि च स्त्रियो मुक्ता भवन्ति तहि तत्पर्यायिमूर्तयः कथं न पूज्यन्ते । सर्वथा दुभैर्विहाय पुरुषस्यैव मुक्तिमन्तव्येति भाषः । एतलिमे च भुक्तिर्त्वं भवति मिथ्यात्वद्विषितत्वात्, दण्डकमण्डलुमृगचर्मकर्माणामैकारणात् । तद्विस्तरेण प्रमेयकमलमार्तण्डादिषु शास्त्रेषु ज्ञातव्यं । सज्जातिज्ञापनार्थं स्त्रीणां महाव्रतान्युपचर्यन्ते न परमार्थतस्तासां महाव्रतानि सन्ति तेन भुनिजमस्य स्त्रियाश्च परस्परं बन्दनापि न युक्ता । यदि ता बन्दन्ते तदा भुनिभिर्मोऽस्तित्वति न बन्दन्य, कि तहि बन्दन्यं ? समाधिकर्मक्षयोस्त्वति । ये तु परस्परं सत्थएण बन्दामीति आर्याः प्रतिबन्दन्ति तेऽप्यसंयमिनो ज्ञातव्याः । दिगम्बराणां मते या नीतिः कृता सा प्रमाणमिति भन्तव्यं । उक्तं च—

वरिससयदिविषयाए अज्जाए अज्ज दिक्षितो साहू ।

अभिगमण बन्दन नर्मसणेण विणएण सो पुज्जो ॥ १ ॥

होता है। एक हेतु यह भी है कि स्त्रियाँ अहमिन्द्र पद भी नहीं प्राप्त कर सकती हैं फिर मोक्ष कैसे प्राप्त कर सकती हैं? यदि स्त्रियाँ मुक्त होती हैं तो उस पर्यायकी मूलियाँ क्यों नहीं पूजी जाती हैं? अतः सब प्रकारके दुराघ्रह को छोड़कर पुरुष की ही मुक्ति होती है, ऐसा जानना चाहिये।

अत्य लिङ्ग में भी मुक्ति नहीं होती क्योंकि वह मिथ्यात्व से द्वषित है तथा दण्ड कमण्डलु मृगचर्म और आरम्भ आदिके कार्यों से दुःख का कारण है। इसका विस्तार से बण्ठन प्रमेय-कमल-मार्तण्ड आदि शास्त्रों में जानना चाहिये।

सज्जातित्व बतलाने के लिये स्त्रियों के महाव्रतों का उपचार होता है, परमार्थ से उनके महाव्रत नहीं होते। इसलिये मुनि और आयिका को परस्पर बन्दना करना युक्त नहीं है। यदि आयिकाएँ बन्दना करती हैं तो मुनियों को 'नभोऽस्तु' नहीं कहना चाहिये किन्तु 'समाधिकर्मक्षयोऽस्तु'—समाधि के द्वारा कर्मोंका क्षय हो, ऐसा कहना चाहिये। इतना होने पर भी जो परस्पर 'सत्थएण बन्दामि'—सस्तकसे बन्दना करता है, यह कह कर आयिकाओं को बदले में बन्दना करते हैं वे भी असंयमी हैं, ऐसा जानना चाहिये। दिगम्बरों के मत में जो नीति प्रचलित है उसे ही प्रमाण मानना चाहिये। कहा भी है—

वरिससय—आर्या सो वर्ष की भी दीक्षित हो और साथु आज ही

इति गाथा अप्रमाणं भवति यदि स्त्रीणां मुक्तिः स्यात् ।

परद्रव्यरओ बज्जाइ विरओ मुच्चेह विविहकम्मेहि ।

एसो जिणउवएसो समासओ बन्धमोक्षस्य ॥१३॥

परद्रव्यरतः बध्यते विरतः मुञ्चति विविधकम्भिः ।

एष जिनोपदेशः समासतः बन्धमोक्षस्य ॥१३॥

(परद्रव्यरओ बज्जाइ) परद्रव्यं शारीरादिकं तत्र रतो बध्यते बन्धम् प्राप्तोति चौरवत्, यथा चौरः परद्रव्यं चौरयन् पुमान् राजलोकैबध्यते यो न परद्रव्यं चौर-यति स न बध्यते । (विरओ मुच्चेह विविहकम्मेहि) विरतः परद्रव्यपराङ् मुखः पुमान् मुच्यते—मुक्तो भवति विविहैन्नानाप्रकारैः कर्मभिज्ञानावरणादिभिः । (एसो जिणउवएसो) एष जिनोपदेशः । (समासओ बन्धमोक्षस्य) समासतः संक्षेपात्, बन्धमोक्षस्य बन्धेनोपलक्षितो मोक्षो बन्धमोक्षः तस्य बन्धमोक्षस्य । अथवा बन्धदन्तमोक्षश्च बन्धमोक्षं समाहारदन्तस्तस्य ।

दीक्षित हुआ हो तो भी वार्या के द्वारा साधु संमुख गमन करता, बन्दना, नमस्कार और विनय के द्वारा पूजनीय होता है ।

यदि यह गाथा अप्रमाण है तो स्त्रियों की मुक्ति हो सकती है ॥१२॥

गाथार्थ—पर-द्रव्यों में रत्त पुरुष नाना कर्मोंसे बन्धको प्राप्त होता है और पर-द्रव्यों से विरत पुरुष नाना कर्मों से मुक्त होता है, बन्ध और मोक्ष के विषय में जिनेन्द्र भगवान् का यह संक्षेप से उपदेश है ॥१३॥

विशेषार्थ—जिस प्रकार पर द्रव्य को चुराने वाला चौर पुरुष राज-पुरुषों के द्वारा बढ़ होता है—बाँधा जाता है और जो पर-द्रव्यको नहीं चुराता है वह बढ़ नहीं होता, उसी प्रकार शारीरादि पर-द्रव्यमें लौन रहने वाला पुरुष नाना प्रकारके ज्ञानावरण आदि कर्मोंसे बन्ध को प्राप्त होता है और पर-द्रव्य से पराङ् मुख रहने वाला पुरुष नाना प्रकार के ज्ञानावरणादि कर्मोंसे मुक्त होता है, बन्ध और मोक्षके विषय में जिनेन्द्र भगवान् का यह संक्षेप से उपदेश है ।

प्रश्न—यहाँ 'बन्धश्च मोक्षश्च बन्धमोक्षो तयोः' इस प्रकार इतरेतर योग दन्त समाप्त करने पर द्विवचन होना चाहिये एकवचन का प्रयोग क्यों हुआ ?

उत्तर—यहाँ इतरेतर योग न करके 'बन्धेन मोक्षः बन्धमोक्षः तस्य' इस प्रकार बध्यम पद लोपो तस्मुख उपास करने से द्विवचन रखने की

सद्ब्वरओ सवणो समाइटी हवेइ णियमेण ।

सम्मत्परिणदो उण खवेइ दुट्टुकम्माणि ॥१४॥

स्वद्रव्यरतः श्रमणः सम्यग्दृष्टिर्भवति नियमेन ।

सम्यक्त्वपरिणतः पुनः क्षियते दुष्टाष्टकमर्मणि ॥१४॥

(सद्ब्वरओ सवणो) स्वद्रव्यरतः श्रमण आत्मस्वरूपे तन्मयभूतो दिग्म्बरः ।
(समाइटी हवेइ णियमेण) सम्यग्दृष्टिर्भवति नियमेन निष्चयेन, अत्र सद्देहो नास्ति । सम्यग्दर्शनस्य आत्मपरिणामत्वेन सूक्ष्मत्वात्, चक्षुरादीन्द्रियाणामगोचरत्वात् । (सम्मत्परिणदो उण) सम्यक्त्वपरिणतः पुनः । (खवेइ दुट्टुकम्माणि) क्षियते दुष्टानि अष्टकमर्मणि ज्ञानावरणादीनि ।

जो पुण परदब्वरओ मिच्छादिटी हवेइ सो साहू ।

मिच्छत्परिणदो उण बज्जस्ति दुट्टुकम्मोहि ॥१५॥

यः पुनः परदब्वरतः मिथ्यादृष्टिर्भवति स साधुः ।

मिथ्यात्वपरिणतः पुनः बध्यते दुष्टाष्टकमर्मभिः ॥१५॥

(जो पुण परदब्वरओ) यः पुनः साधुः परदब्वरत इष्टवनितादिरतः स्तन-जघनकदनलोषनादिविलोकनादिलक्षणः । (मिच्छादिटी हवेइ सो साहू) मिथ्यादृष्टिर्भवति संजायते साधुः जिनलिंगोपजीवी । (मिच्छत्परिणदो उण) मिथ्यात्व-

आवश्यकता नहीं है अथवा 'बन्धव भौम भौम अनयोः समाहारः' इस प्रकार समाहार द्वन्द्व करने से नपुंसकलिङ्ग तथा एकवचन का प्रयोग व्याकरण से मिछ्द है ॥१३॥

गाथार्थ—स्वद्रव्य में रत साधु नियम से सम्यग्दृष्टि होता है और सम्यक्त्वरूप परिणत हुआ साधु दुष्ट आठ कर्मोंको नष्ट करता है ॥१४॥

विशेषार्थ—आत्म स्वरूप में तन्मय रहने वाला दिग्म्बर साधु निष्चय से सम्यग्दृष्टि होता है इसमें संशय नहीं है । सम्यग्दर्शन आत्मा की परिणति होनेये सूक्ष्म है तथा चक्षुरादि इन्द्रियों का अविषय है । सम्यक्त्वरूप परिणत हुआ साधु ज्ञानावरणादि आठ दुष्ट कर्मोंको लिपाता है—नष्ट करता है ॥१४॥

गाथार्थ—जो साधु परदब्य में रत है वह मिथ्यादृष्टि होता है और मिथ्यात्वरूप परिणत हुआ साधु दुष्ट आठ कर्मोंसे बन्धन को प्राप्त होता है ॥१५॥

परिणतः पुनः मिथ्यावरणे वासितो भुनिः (वज्रादि दुष्टदृढकम्भेहि) वध्यते
दुष्टाष्टकम्भिः । उक्तं च—

कम्भद्वं दिद्वचणचिक्कणद्वं गरुयह वज्रसमाई ।

जाणवियवल्लग्नजीवहू उप्पहि पाडहि ताई ॥१३॥

इति कारणात् कर्मणि दुष्टत्वविशेषणविशिष्टत्वं लभन्ते ।

परदब्धादो दुर्गई सद्व्यादो हु सुगई हवह ।

इय णाऊण सद्व्ये कुणह रई विरह इयरम्भि ॥१४॥

परदब्ध्यात् दुर्गतिः स्वद्व्यात् स्फुट सुगतिः भवति ।

इति शात्वा स्वद्व्ये कुरुत रति विरतिमितरस्मिन् ॥१५॥

(परदब्धादो दुर्गई) परदब्ध्याद्वदुर्गतिः परमात्मव्यात् परिहृत्य परदब्ध्ये परि-
णमनाल्लरकादिषु चतस्रु गतिषु पतनं हे जीव ! तव भवति । (सद्व्यादो हु
सुगई हवह) स्वद्व्यादात्मद्व्ये एकलोक्याभावात् सम्यक्षद्वानशानानुचरणात्
सुगतिभवति मुक्तिभवति । (इय णाऊण सद्व्ये) इति शात्वा इदृशमर्थं परिज्ञाय
स्वद्व्ये आत्मतत्त्वे । (कुणह रई विरह इयरम्भि) कुरुत श्रूयं रति भावना,
विरति विमाणं इतरविशनं दरहस्ये, मा रज्यत यूपमिति ।

विशेषार्थ—जो साधु इष्ट स्त्री आदि पर-द्रव्यमें रत है वधति,
उनके स्तन जघन मूल नेत्र आदि के देसने में लम्पट है वह मिथ्यादुष्टि
है अर्थात् जिनलिङ्ग धारण कर मात्र आजीविका करता है और मिथ्यात्व
हृष परिणत अर्थात् मिथ्यादर्शन की वासना रखने वाला साधु आठ दुष्ट
कर्मोंसे बैधता है । कहा भी है—

कम्भद्वं—कम्भ अत्यन्त मजबूत चिकने, भारी ओर वज्र के समान हैं
वे इस ज्ञानी जीवको भी कुमार्ग में ढाल देते हैं । इसी कारण कर्म दुष्ट
विशेषण को प्राप्त हैं ॥१५॥

गाथार्थ—परदब्ध्य से दुर्गति और स्वद्व्य से निहित ही सुगति
होती है ऐसा आतकर स्वद्व्यमें रति करो और परदब्ध्यमें विरति
करो ॥१६॥

विशेषार्थ—परमात्म-द्रव्यको छोड़कर परदब्ध्यमें परिणयन करने से—
उसमें तल्लीनता बढ़ाने से जीव ! तेरा नरकादि चारों गतियोंमें पतन
होता है और स्वद्व्य अर्थात् आत्म-द्रव्यमें तन्मयो भाव रूप सम्यग्दर्शन,
सम्यक्षान और सम्यक्षवारित्रसे सुगति होती है—मुक्ति को प्राप्ति होतो
है ऐसा आतकर तू आपद्रव्यमें रति कर और परदब्ध्यसे विरति कर
अर्थात् उसमें राग मत कर ॥१६॥

त परदब्यं सदब्यं च केरिसे हवदि । तं जहा—
तत्तद्रद्वयं स्वद्रव्यं च कीदूरा भवति । तद्यथा—तदेव निरूपयरथाचार्यः—

आदसहावादण्णं सच्चित्ताच्चित्तमिस्तिस्यं हवदि ।

तं परदब्यं भणियं अवितर्थं सञ्चबरसीर्हि ॥१७॥
आत्मस्वभावादन्यत् सच्चित्ताच्चित्तमिश्रितं भवति ।

तत् परदब्यं भणितं-अवितर्थं सर्वदक्षिभिः ॥१७॥

(आदसहावादण्णं) आत्मस्वभावादन्यत् पुदगलादिदब्यं । (सच्चित्ताच्चित्त-
मिस्तिस्यं हवदि) सच्चित्तं विद्यमानचेतनं इष्टवनितादिकं अचित्तं अचेतनं घनकन-
कवसनादिकं, मिश्रितं आभरणवस्त्रादिसंयुक्तं कलज्ञादिकं भवति । (ते परदब्यं
भणियं) तत्तद्रद्वयं भणितं—बागमे प्रतिपादितं । (अवितर्थं सञ्चबरसीर्हि)
अवितर्थं सत्यरूपं सर्वदक्षिभिः श्रीमद्भगवत्सर्वज्ञवीतरागैरिति श्रेष्ठः ॥

दुष्टुकम्मरहियं अणोवमं णाणविग्रहं णिष्ठं ।
सुद्धं जिणेहि कहियं अप्याणं हवदि सदब्यं ॥१८॥

दुष्टाष्टकर्मरहितं अनुपमं ज्ञानविग्रहं नित्यम् ।

शुद्धं जिनेः कथित आत्मा भवति स्वद्रव्यम् ॥१८॥

(दुष्टाष्टकम्मरहियं) दुष्टाष्टकर्मरहितं दुष्टानि पापिठानि यानि अष्ट-
कर्माणि दुर्गतिसंपातहेतुलात् तैः रहितं वज्जितं (अणोवमं णाणविग्रहं णिष्ठं)
अनुपमं उपमारहितं, ज्ञानविग्रहं ज्ञानशरीरं केवलज्ञानमयं, नित्यं शाश्वतं अवि-

आगे वह परदब्य और स्वद्रव्य कैसा होता है यह बताते हैं—

गाथार्थ—आत्मस्वभाव से अतिरिक्त जो सच्चित्त अचित्त अथवा
मिश्र द्रव्य है वह सब परदब्य है, ऐसा यथार्थ रूप से समस्त पदार्थों को
जानने वाले सर्वज्ञ देवने कहा है ॥१८॥

विशेषार्थ—आत्मस्वभाव से भिन्न सच्चित्त-इष्ट स्त्री आदिक,
अचित्त-धन सुवर्ण वस्त्र आदिक और मिश्र—आभरण तथा वस्त्र आदि
से युक्त स्त्री आदिक जो भी पदार्थ हैं वे सब परदब्य हैं, ऐसा आगम
में सत्यरूप से समस्त पदार्थों को देखने वाले सर्वज्ञ देव ने कहा है ॥१८॥

गाथार्थ—आठ दुष्ट कर्मोंसे रहित, अनुपम, ज्ञानशरीरी, नित्य और
शुद्ध जो आत्मद्रव्य है उसे जिनेन्द्र भगवान् ने स्वद्रव्य कहा है ॥१८॥

विशेषार्थ—जो दुर्गति में गिरानेके हेतु होनेसे अत्यन्त पापी कहे
जानेवाले ज्ञानावरणादि कर्मोंगे रहित है, उपमा-रहित है, केवलज्ञान
रूप शरीर से युक्त है, अविनश्वर है तथा कर्मभल-कलंक से रहित होनेके

नवरं । (शुद्धं जिणहि कहिथं) शुद्धं निष्केवलं कर्ममलकलङ्कुरहितं रागद्वेष-
भोहादिवेभावपरिणामवजितं, जिनेः सर्वशब्दीतरागं, कथितं—आगमे प्रति-
पादितं । (अप्याणं हवदि सद्ब्यं) आत्मा भवति सद्ब्रव्यं आत्मरूपं सद्ब्रव्यं
निष्ठद्वयं कातव्यमिति ।

जे आयंति सद्ब्यं परद्वव्यपरम्मुहा दु सुचरिता ।

ते जिणवराण मर्ता अणुलम्ना लहुदि णिव्वाण ॥१९॥

ये ध्यायन्ति सद्ब्रव्यं परद्वव्यपराङ्मुखास्तु सुचरित्राः ।

ते जिणवराणां मार्गमनुलग्ना लभन्ते निर्वाणम् ॥२०॥

(जे आयंति सद्ब्यं) ये मुनयो ध्यायन्ति चित्तशन्ति सद्ब्रव्यं आत्मतत्वं ।
(परद्वव्यपरम्मुहा दु सुचरिता) परद्वव्यात् पराङ्मुखाः परद्वव्ये शरीरादौ राग-
रहिताः, तु पुनः, सुचरित्राः शोभनं चारित्रं अनतिचारचारित्रसहिताः (ते जिण-
वराण मर्गं अणुलम्ना) ते मुनयो, जिनवराणां सर्वशब्दीतरागाणां मार्गं रत्नत्रय-
रूपाणां, अनुलग्नाः पृष्ठतो लग्ना भवन्ति—जिनमार्गाराघका भवन्ति । (लहुदि
णिव्वाण) निर्वाणमनन्तं मुखं परमप्रोक्तं लभन्ते प्राप्नुवन्ति ।

जिणवरमण जोई शाणे शाएइ सुद्धमप्पाण ।

जेण लहुइ णिव्वाण ण लहुइ कि तेण सुरलोय ॥२०॥

जिनवरमतेन योगी ध्याने ध्यायति शुद्धमात्मानम् ।

येन लभते निर्वाणं न लभते कि तेन सुरलोकम् ॥२०॥

कारण अथवा रागद्वेष भोह आदि विभावपरिणामों से शून्य हीने के
फारण शुद्ध है वह आत्मद्वय ही सद्ब्रव्य है ऐसा सर्वज्ञ वीतराग जिनेन्द्र
ने आगम में कहा है ॥१८॥

गाथार्थ—जो सद्ब्रव्यका ध्यान करते हैं, परद्वव्यसे पराङ्मुख रहते हैं
और सम्यक्चारित्रका निरतिचार पालन करते हुए जिनेन्द्र देवके मार्ग में
लगे रहते हैं वे निर्वाणको प्राप्त होते हैं ॥१९॥

ग्रिहोधार्थ—जो मूनि पूर्व गाथा में कथित सद्ब्रव्यका ध्यान करते हैं
शरीरादि परद्वव्य से पराङ्मुख रहते हैं तथा अतिचार रहित सम्यक्-
चारित्रका पालन करते हुए सर्वज्ञ वीतराग जिनेन्द्र देवके रत्नत्रय रूप
मार्ग में संलग्न हैं अथवा जिनमार्ग के आराघक हैं वे अनन्त सुख-सम्पन्न
निर्वाण को प्राप्त करते हैं ॥२०॥

गाथार्थ—जो योगी ध्यानमें जिनेन्द्रदेवके मतानुसार शुद्ध-आत्माका

(जिनवरमण बोई) जिनवरमतेन जिनशासनेन सम्यक्षद्वानशानानुभवन-लक्षणेन रत्नत्रयेन योगी दिगंबरो मुनिः । (ज्ञाणे ज्ञाएह सुद्धमप्पाणे) ध्याने एकाशचिन्तानिरोषलक्षणे, ध्यायति चित्ततयति, शुद्धं रागद्वेषमोहादिरहितं कर्म-मत्तकलंकरहितं टंकोत्कीर्णस्फटिकमणिकिंवसदृशं ज्ञायकैकस्वभावं चिच्छमत्कार-स्वरूपं, आत्मानं निजात्मतत्वं । (जेण लहूद्र णिव्वाणं) येनात्मध्यानेन लभते निवाणं सर्वकर्मक्षेयलक्षणमोक्षमनन्तरसौख्यं । (ण लहूद्र कि तेण सुरलोकं) तेनात्मध्यानेन न लभते कि न प्राप्नोति सुरलोकं स्वर्गंभोगं ? तथा ओकतं—

तृष्णा भोगेषु चेदभिक्षो ! यहस्वात्मवं स्वरेष ते ।
‘प्रतीक्ष्य पाकं कि पीत्वा येयं मुक्ति विनाशये’ ॥१॥

ध्यान करता है वह स्वर्ग-लोक को प्राप्त होता है, सो ठीक ही है क्योंकि जिस ध्यान से निवाण प्राप्त हो सकता है उससे क्या स्वर्ग-लोक प्राप्त नहीं हो सकता ? ॥२०॥

विशेषार्थ—जो दिगंबर मुनि जिनवरके भतानुसार अर्थात् सम्यक्षद्वान्, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के अनुभवन रूप रत्नत्रय के अनुसार ध्यान में रागद्वेष मोहसे रहित टंकोत्कीर्ण स्फटिकमणिके विम्बके समान ज्ञायक-स्वभाव चिच्छमत्कार रूप निज आत्म-तत्त्वका ध्यान करता है, वह स्वर्ग-लोकको प्राप्त होता है । सो ठीक ही है क्योंकि जिससे सर्व कर्मक्षय रूप लक्षण से युक्त मोक्ष प्राप्त होता है उससे क्या स्वर्गलोक प्राप्त नहीं होगा ? अवश्य होगा । जैसा कि कहा है—

तृष्णा—हे मुने ! यदि भोगों में ही तेरी इच्छा है तो कुछ काल तक स्वर्गके विलम्ब को सहन कर ले । भोजन के पाककी प्रतीक्षा कर अर्थात् भोजन तैयार हो जाने दे क्षुधा की अधिकतासे मात्र-पेय-पानीको पीकर भोजन को क्यों नष्ट करता है ? ‘येयाम्’ पाठ में उसे मुक्ति विशेषण ल गाना चाहिये ।

१. प्रतीक्ष्य इति पाठः शुद्धो भाति ‘प्रतीक्ष्य’ इति पाठोऽनुपमयोगी, प्रतीक्षस्व इति पाठः शुद्धः किन्तु छन्दोभञ्जावहः ।
२. पेयां म० ।
३. आरम्भानुशासने ।

जो जाइ जोयणसयं दियहेणेककेण लेखि गुरुभारं ।

सो कि कोसद्धं पि हु ण सककए जाहु भुवणयले ॥२१॥

यो याति योजनशतं दिनेनैकेन लात्वा गुरुभारम् ।

स कि क्रोशाधर्मपि हु त शक्यते यातु' भुवनतले ॥२१॥

(जो जाह जोयणसवं) यो याति यः पुष्टान् याति गच्छति, कि ? योजनशतं सहस्रयोजनदशमभागं । (दियहेणेककेण लेखि गुरुभारं) दिवसेनैकेन लेखि लात्वा गृहीत्वा, कै ? गुरुभारं महाभारं । (सो कि कोसद्धं पि हु) स पुष्टान् (कि) क्रोशाधर्मपिह हु स्फृटं । (ण सककए जाहु भुवणयले) न शक्नोति न समर्थो भवति यातु' भुवनतले पृथिवीमण्डले अपि तु गच्छृतिचतुर्थमंड़ा यातु' शक्नोत्येष ।

जो कोडिए ण जिष्पइ सुहडो संगामएहि सब्बेहि ।

सो कि जिष्पइ इकिंक नरेण संगामए सुहडो ॥२२॥

यः कोट्या न जीयते सुभटः संग्रामिकः सर्वैः ।

स कि जीयते एकेन नरेण संग्रामे सुभटः ॥२२॥

(जो कोडिए ण जिष्पइ) यः सुभटः सुभटानो कोट्या न जीयते न पराभूयते । (सुहडो संगामरहि सब्बेहि) सुभटः संग्रामकैः सर्वैरपि । (सो कि जिष्पइ

आगे इसी बातको दृष्टान्त से सिद्ध करते हैं—

गाथार्थ—जो मनुष्य बहुत भारी भार लेकर एक दिन में सी योजन जाता है वह क्या पृथिवी तल पर आधा कोस भी तहीं जा सकता ? अवश्य जा सकता है ॥२१॥

विशेषार्थ—जिस जिनधर्म के द्वारा निर्विण प्राप्त हो सकता है उस धर्म से स्वर्ग का प्राप्त होना दुष्कर नहीं है, इसी बातको यहीं दृष्टान्त द्वारा समझाया गया है कि जो पुरुष एक दिनमें बहुत भारी बाजा लेकर सी योजन चल सकता है उसे आधा कोस चलना क्या कठिन हो सकता है ? अर्थात् नहीं । यथार्थमें सम्यगदर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप रत्नवृय मोक्षके ही कारण हैं परन्तु इनके साथ रहने वाला जो रागांश है वह देवायु के बन्धका कारण है इस रागांशको प्रबलतासे कितने हो जीव देवायुका बन्धकर स्वर्ग भी जाते हैं ॥२२॥

गाथार्थ—जो सुभट संग्राम में करोड़ों की संख्या में विद्यमान सब योद्धाओं द्वारा मिलकर भी नहीं जीता जाता वह क्या एक योद्धा के द्वारा जीता जा सकता है ? अर्थात् नहीं जीता जा सकता ॥२२॥

इकिं) स सुभटः कि जीयते एकेन सुभटेन-अपि तु न जीयते (नरेण संग्रामए सुहृष्टो) नरेण एकेन पुरुषेण संग्रामके एकस्मिन् मंदामे ।

समां तवेण सब्दो वि पावहु तहि वि शाणजोएण ।

जो पावहु सो पावहु परलोए सासर्यं सोकर्खं ॥२३॥

स्वर्गं तपसा सर्वोऽपि प्राप्नोति तत्रापि ध्यानयोगेन ।

यः प्राप्नोति स प्राप्नोति परलोके शाश्वतं सौख्यम् ॥२३॥

(समां तवेण सब्दो वि पावहु) स्वर्गं तपसा कृत्वा उनवासादिना कायकलेशेन सर्वोऽपि भृथजोवोऽभृथजीवोऽपि प्राप्नोति लभते । (तहि वि शाणजोएण) तत्रापि सर्वेषांपि जीवेषु मध्ये ध्यानयोगेन कृत्वा । (जो पावहु सो पावहु) यः प्राप्नोति स्वर्गं न पुमान् प्राप्नोति । (परलोए मासर्यं सोकर्खं) परलोके आगमनिभूते शाश्वतमविनश्वरं मौख्यं परमनिकरणमिति शेषः । परभावे इति च क्वचित्प्राप्तः तत्रायमर्थः—परभावे भवते भावो जग्मोच्यते तस्मिन् परभावे परजन्मनीत्यर्थः ।

विशेषार्थ——जिस प्रकार अतिशय शरवीर योद्धा संग्राममें अजेय होता है उसी प्रकार जिनवर मतका अनुयायी मुनि भो परीषहों द्वारा अजेय होता है इसी बातको यहाँ दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट किया है कि जिसे करोड़ों योद्धा मिलकर नहीं जीत सकते उसे एक योद्धा के द्वारा जीतना अशक्य है इसी प्रकार जो साधु अनेक इन्द्रियों के विषयों से नहीं जीता जा सकता वह क्या एक इन्द्रिय के विषय से जीता जा सकता है ? अथवा नहीं जीता जा सकतः ॥२२॥

गाथार्थ——तपसे स्वर्गं सभी प्राप्त करते हैं, पर जो ध्यान से स्वर्गं प्राप्त करता है उसका स्वर्गं प्राप्त करना कहलाता है, ऐसा जीव पर-भव में शाश्वत-अविनाशी-मोक्ष सुखको प्राप्त होता है ॥२३॥

विशेषार्थ——उपवास आदि तपके द्वारा स्वर्गं तो भृथ-अभृथ-मभी जीव प्राप्त कर लेते हैं परन्तु उन सभी जीवों में ध्यान के योगसे जो स्वर्गं प्राप्त करते हैं वे यथार्थ में स्वर्गं प्राप्त करने वाले कहे जाते हैं क्योंकि ऐसे जीव स्वर्गं से आकर आगमी भव में अविनाशी सुख-मोक्ष सुख को प्राप्त कर सकते हैं । जो साधारण कायकलेश से स्वर्गं जाते हैं उनका मोक्ष जाना निश्चित नहीं है । अभृथ जीव भो मुनिक्रत धारण कर तपके प्रभाव से नीबूं ग्रीवेयक तक उत्पन्न हो जाता है परन्तु उसके मोक्षका कभी ठिकाना नहीं है । यहाँ 'परलोए' के स्थान में 'परभावे' ऐसा

अहसोहणजोएण सुदृढं हेमं हवेह जहं तहं य ।

कालादिलद्वीए अप्य परमप्यओ हवदि ॥२४॥

'अतिशोभनयोगेन शुद्धं हेमं भवति यथा तथा च ।

कालादिलब्ध्या आत्मा परमात्मा भवति ॥२४॥

(अहसोहणजोएण) अतिशोभनयोगेन सामग्र्या अनन्धपाषाणादिकं अभिन्न-
मध्ये पचितं गुरुपदिष्टीषध्ययोगेन । (सुदृढं हेमं हवेह जहं तहं य) शुद्धं घोडश-
वणिक हेमं सुवर्णं भवति यथा तहं य—तथा च तथैव च (कालादिलद्वीए)
कालादिलब्ध्या कृत्वा कालाविलब्ध्यां सरयां वा । (अप्या परमप्यओ हवदि)
आत्मा संसारो जीवः परमात्मा भवति—अर्हन् सिद्धश्च संजायते । उक्तं च—

नागफणोए मूर्लं नागिणितोएण गवभणाएण ।

नार्गं होइ सुवर्णं धर्मं तहं पुण्यजोएण ॥१॥

भी पाठ संस्कृत टोकाकारको कहीं मिला है उसके अर्थ की संगति उन्होने 'परभावे का पर-जन्मनि' अर्थ करके बैठाई है ॥२३॥

गाथार्थ—जिस प्रकार अत्यन्त शुभ सामग्री से—शोधन सामग्री से अथवा सुहागासे सुवर्णं शुद्ध होजाता है उसी प्रकार काल आदि लब्धियों से आत्मा परमात्मा हो जाता है ।

विशेषार्थ—अन्य पाषाण से सुवर्णं नहीं निकल सकता अतः उसके सिवाय जो अनन्य पाषाण आदि पदार्थ हैं वे अरित के मध्य में पकाये जाने पर गुरुके द्वारा उपदिष्ट औषधके प्रयोग से शुद्ध—सोलहबानी के सुवर्णं बन जाते हैं, इसी दृष्टान्तको लेकर आचार्य आत्माके शुद्ध होनेका मार्ग दिखलाते हैं—जिस प्रकार अतिशोभन योगसे—अनुकूल उत्कृष्ट सामग्री से सुवर्णं शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार काल आदि लब्धियों से अथवा काल आदि लब्धियों के प्राप्त होनेपर आत्मा—संसारो जीव, परमात्मा बन जाता है—अर्हन्त सिद्ध हो जाता है । जैसा कि कहा है—

नागफणोए—नागफणी-शंपाफनी की जड़ को हस्तिनी के मूत्रके साथ पीसकर यदि उसमें सिन्दूर भी मिलाया जाता है तो सोसा सुवर्णं बन जाता है अर्थात् इन सबको मिट्टी के बर्तन में रखकर खेर के बंगारों में फूँका जाय तो पुण्य योग से सुवर्णं बन जाता है, पुण्य योग के बिना कार्य को सिद्धि नहीं होती । इसका सार यह है कि जिस प्रकार विभिन्न

१. अतिशोभनयोगेन इत्यति छाया भवितुमर्हति ।

अस्या अयमर्थः—नागफणीग् मूर्ल—नागीषधिः । नागिणिहोएण—हस्तिनो-
मूर्लेण पिष्ट्वा । गद्भणागण—गर्भे नागः सोमको यस्य स गर्भनागः सिन्दूरः
सोऽपि सध्ये क्षिप्त्वा मर्शने । नागं होइ मुवर्णं नागः सीसकः । एतत्सर्वे मूलिका-
भाजने क्षिप्त्वा अद्वोऽप्तिः क्षिप्ते खदिराङ्गार्दमयिने मुवर्णं भवति । पृष्ययोगेन
पृष्ययोगं विना सुब्धां न भवति ब्रह्मादिभ्रह्मटम्येति भावः तथार्थं आत्मा कालादि-
लक्ष्य ग्राप्य सिद्धपरमेष्ठी भवतीनि भावाद्यः ।

वरं वयत्वेहि सम्भो मा दुक्षं होउ निरइ इयरेहि ।

छायातवद्विधाणं पडिवालंताणं गुरुभेयं ॥२५॥

वरं द्रवत्तपोभिः स्वर्गः मा दुःखं भवतु नरके इतरे ।

छायातपस्थितानां प्रतिपालयतां गुरुभेदः ॥२५॥

(वरं वयत्वेहि सम्भो) वरं ईपदुच्ची वरं श्रेष्ठ द्रवत्तपोभिद्वच स्वर्णो भवति
तच्चाह । (मा दुक्षं होउ निरइ इयरेहि) मा दुःखं भवतु निरइ—नरकावासे,
इतरेरवतंस्तपोभिद्वच । (छायातवद्विधाणं) छायातपस्थितानां ये छायाणां

अनुकूल बाह्यनिमित्त तथा पुण्योदय रूप अन्तरङ्गनिमित्त से सीमा
मुवर्णं रूप हो जाता है उसी प्रकार अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग-दोनों प्रकार की
सामग्री के मिलने पर आत्मा परमात्मा हो जाता है । यहाँ काल आदि-
लक्ष्य के द्वारा जीव की उपादान शक्ति रूप अन्तरङ्ग योग्यता का वर्णन
किया है और अतिशोभन योगके द्वारा गुरुपदिष्ट उत्तम शुभ योग-शुभ-
ध्यान आदि बाह्य सामग्री का वर्णन किया गया है । कार्य की सिद्धिमें
अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग दोनों प्रकार की सामग्रीका सदभाव अपेक्षित
है ॥२५॥

गाथार्थ—व्रत और तपके द्वारा स्वर्गं वा प्राप्त होना अच्छा है परन्तु
अन्त्र और अतपके द्वारा नरक के दुःख प्राप्त होना अच्छा नहीं है । छाया
और घास में बैठकर इष्ट मथान की प्रतीक्षा करने वालों में बढ़ा
भेद है ॥२५॥

विशेषार्थ—व्रत तप आदि शुभोग्योग को परिणति में जीवको स्वर्गं
प्राप्त होता है सो उसका प्राप्त होना भी कुछ अच्छा है । सम्प्रदृष्टि
जीवका सर्वोत्तम लक्ष्य तो मोक्ष प्राप्त करना ही है परन्तु उसके अभाव
में स्वर्गं की प्राप्ति होना भी अच्छा है । आचार्य कहते हैं कि व्रत और
तपके अभाव में पाप तथा अतप में प्रवृत्ति करने से इस जीवको जो नरक

स्थिता अनात्मे वर्तन्ते ते सुखेन तिष्ठन्ति, ये अतपे स्थिता वर्तन्ते ते दुःखेन तिष्ठन्ति (पडिवालंताण गुरुभैयं) प्रतिपालयतां व्रतानि अनुतिष्ठतां स्वर्गं भवति तदर्थं संसारित्वेनापि ते कुशिनः । अव्रतानि प्रतिपालयतां नरके दुःखमनुभवतां अतिनिन्दितपिति महान् भेदो वर्तते । तथा चोक्तं पूज्यपादेनेष्टोपदेशग्रन्थे—

वरं व्रतैः पदं देवं नाव्रतैर्ब्रतं नारकं ।
सायातपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान् ॥ १ ॥

के दुःख प्राप्त होते हैं, वे न हों । दो मनुष्य कहों जा रहे थे मार्ग में यक्ष जानेके कारण एक उनमेंसे एक छाया में बैठकर विश्राम कर रहा है और दूसरा घासमें बैठ कर दिशानुसार रहा है । जो छाया में बैठा है वह सुखसे बैठा हुआ अपने लक्ष्यका विचार कर रहा है, पर जो घास में बैठा है वह दुःख से बैठा हुआ अपने लक्ष्यका विचार कर रहा है । इस तरह छाया और घास में बैठे हुए पुरुषोंमें जिस प्रकार महान् अन्तर है उसी प्रकार शुभोपयोग और अशुभोपयोग में स्थित जीवोंमें महान् अन्तर है । शुभोपयोग वाला जीव स्वर्ग में विश्राम कर वहीं से आने पर मनुष्यभव प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त करता है और अशुभोपयोग वाला जीव नरकके दुःख वर्तमान में भोगता है और आगामी पर्यायकी अनुकलता अनिविच्चत है । तात्पर्य यह है कि शुभोपयोग सर्वथा हेय नहीं है किन्तु हेयाहेय उभय रूप है, शुद्धोपयोगकी अपेक्षा हेय है और अशुभोपयोगकी अपेक्षा अहेय है । इतनी बात अवश्य है कि सम्यग्दृष्टि जीव शुभोपयोग करता हुआ भी उसे साक्षात् मोक्षका कारण नहीं मानता है किन्तु परम्परा से ही मोक्षका कारण मानता है । श्रीपूज्यपाद स्वामी ने इष्टोपदेश ग्रन्थमें कहा है—

वरं व्रतैः—व्रतों के द्वारा देव-सम्बन्धी पद प्राप्त करना कुछ अच्छा है परन्तु व्रदत के द्वारा दुःखदायक नरक का पद प्राप्त करना अच्छा नहीं है क्योंकि छाया और घासमें बैठकर प्रतीक्षा करने वालों में महान् भेद है ।

यथार्थ में श्री पूज्यपाद की यह कारिका कुम्दकुन्दस्वामी के 'वरवय-तबेहि'—गाथा से अनुजीवित है ॥ २५ ॥

जो इच्छाह निस्सरिदुं संसारमहणवस्स रुद्धस्स ।

कर्मिमध्यनाण डहणं सो ज्ञायइ अप्यथं सुढ़ुं ॥ २६॥

य इच्छति निस्सरितुं संसारमहार्णवस्य रुद्रस्य ।

कर्मेन्धनानां दहनं म ध्यायति आत्मानं शुद्धम् ॥ २६ ॥

(जो इच्छाह निस्सरिदुं) यो मुनिवर इच्छामि अभिलब्धति, कि कर्तुं ? निःसरितुं पारं यातुं । कस्य, (संसारमहणवस्स रुद्धस्स) नंसारमहार्णवस्य संसारमहासमुद्रस्य । कथंभूतस्य, रुद्रस्य अतिविस्तीर्णस्य । (कर्मिमध्यनाण डहणं) कर्मेन्धनानां दहनं कर्मकाङ्क्षानां भस्मीकरणं । (सो ज्ञायइ अप्यथं सुढ़ुं) स मुनिः
ध्यायति चिन्तयति, आत्मानं शुद्धं कर्ममलकलंकरहितं रागद्वेषमोहादिविभाववजित-
मिति शेषः ।

सब्दे कसाय मोत्तुं गारवमयरायदोसवामोहं ।

लोयववहारविरदो अप्या ज्ञाएइ ज्ञाणत्थो ॥ २७॥

सर्वानु कषायान् मुक्त्वा गारवमदरागद्वेषवद्यामोहम् ।

लोकव्यवहारविरतं आत्मानं ध्यायति ध्यानस्थः ॥ २७ ॥

गाचार्य—जो मुनि अत्यन्त विस्तृत संसार महासागरसे निकलनेकी इच्छा करता है वह कर्म रूपी ईधन को जलाने वाले शुद्ध आत्मा का व्यान करता है ॥ २६ ॥

बिशेषार्थ—यहीं संसार रूपी महासागर से बाहर निकलने का उपाय आत्मध्यान बतलाया है । यह संसार महासागर के समान अतिशय विस्तृत है । इसके बीच मञ्जनोन्मञ्जन करते हुए जीव अनादि कालसे हुःस उठा रहे हैं । आचार्य कहते हैं कि जो मुनि इस संसार रूप महासागर से पार होना चाहता है वह मुनि कर्म रूपी ईधनको जलानेवाली शुद्ध आत्मा का व्यान करता है । वह बिचार करता है—यद्यपि आत्मा वर्तमानमें कर्ममल से कलंकित हो रहा है तथापि आत्मा का यह स्वभाव नहीं है । शुद्ध निश्चयन्तय से आत्मा रागद्वेष मोह आदि विभाव भावों से रहित है, अतः पर-निमित्तसे स्वकीय आत्मामें उत्पन्न हुए विभाव भावोंको मुझे नष्ट करना चाहिये ॥ २६ ॥

गाचार्य—इपानस्थ मुनि समस्त कषायों और गारव मद रागद्वेष तथा ध्यामोह को छोड़कर लोक व्यवहार से विरत होता हुआ आत्मा का व्यान करता है ॥ २७ ॥

(सब्वे कषाय मोतुं) सवन् कषायान् क्रोधमानमायालोभान् मुक्त्वा परित्यज्य क्षीणकषयो मुनिभूत्वा । (गारवमपरायदोसवामोहुं) गारव च शब्दगारवं—अहं वर्णच्चारं रुचिरं जानामि न वेते मतयः, ऋद्धिगारवं-शिव्यादिनामयी मम वह्नी वर्तते न त्वर्माषां यतीनां, सातगारवं—अहं यतिरपि सन् इन्द्रत्वसुखं चकिसुखं तीर्थकरसुखं भुजानो वर्ते हिमे मत्यस्तपस्त्वनो वराकाः । मदा अष्टं-अहं ज्ञातवान् सकलशास्त्रज्ञो वर्ते, अहं मात्यो महामण्डल-श्वरा मत्यादसेवकाः । कुलमपि मम पितृपक्षोऽतीकोऽज्ज्वलः कोऽपि ब्रह्महृत्या-ऋषिहृत्यादिभिरदोषं । जातिः मम माता मंघस्य पत्युदुहिता-शीलिन सुलोचना सीता-अनन्तमती चन्दनादिका वर्तते । बलं-अहं सहस्रभटो लक्षभटः कोटीभटः । क्रुद्धिः—ममातेकलक्षकोटिगणनं चनमामीत् तदपि भया त्यवत् अन्ये मुनयोऽष्मणाः संतो दीक्षां जागृद्धः । तदः—अहं तिहनिष्कीडितविमानपंक्तिसर्वतोभद्रशात्कुंभसिंह-विक्रमविलोकसारवच्चमध्यालीणोल्लोणमृद्गमध्यधर्मचक्रवालहृदोत्तरवसंतमेरुनन्दी—

विशेषार्थ—सर्व कषाय से कोष, मात, माया और लोभ का ब्रह्म होता है । गारव के तीन भेद हैं—१-शब्द गारव २-ऋद्धिगारव और ३-सात गारव । 'मैं वर्णके उच्चारण सुन्दर जानता हूँ ये अन्य मुनि नहीं जानते' इस प्रकार के गर्वको लिये हुए परिणाम को शब्द-गारव कहते हैं । 'मेरी शिव्यादि सामग्रो बहुत है इन मुनियों की नहीं है' इस प्रकार के गर्व रूप परिणाम को ऋद्धि-गारव कहते हैं । मैं मुनि होने पर भी इन्द्रपतेका सुख, चक्रवर्ती का सुख और तीर्थकर का सुख भोग रहा हूँ ये बेचारे तपस्वों कथा भोगेंगे' इस प्रकार के गर्व रूप परिणाम को सात गारव कहते हैं ।

मद आठ होते हैं—१ ज्ञानमद, २ पूजामद, ३ कुलमद, ४ जातिमद, ५ बलमद, ६ ऋद्धिमद, ७ तपमद और ८ शरीर मद । मैं ज्ञानवान् हूँ, सकल शास्त्रों का ज्ञाता हूँ इस प्रकारके अहंकारको ज्ञानमद कहते हैं । मैं माननोय हूँ, महामण्डलेश्वर राजा हमारे चरण सेवक हैं इस प्रकार के अहंकार को पूजामद कहते हैं, मेरा पितृपक्ष कोई अद्भुत तथा अत्यन्त उच्ज्वल है, ब्रह्महृत्या ऋषिहृत्या आदि दोषोंसे कभी दूषित नहीं हुआ है, इस प्रकार के अहंकार को कुलमद कहते हैं । मेरी माता संघपति (सिंहई) को लड़की है तथा शोलसे मुलोचना, सीता, अनन्तमती तथा चन्दना आदि है, इस प्रकार के अहंकारको जाति मद कहते हैं । मैं सहस्रभट, लक्षभट अथवा कोटीभट हूँ इस प्रकार के

इवरपंक्तिपल्यविद्वानादिमहातपोविषिविद्वाता मम जन्मेवं तपः कुर्वतो गतं, एते सुयतयो नित्यभोजनकरताः । वपुः—ममस्तपाये कामदेवोऽपि दासत्वं करोतीत्यष्टमदाः । रागद्वच प्रोत्तिलक्षणः । द्वेषस्त्वापीतिलक्षणः । ग्रन्थोऽपुराहवद्विदिस्त्वाहुः । वामानां स्त्रीणां वा ओहो वामौहः तत्तथोक्तं समाहारो दृश्युः । (लोकव्यवहारविरद्धी) धर्मोपदेशादिकमपि न करोति लोकव्यवहारविरतः । (अप्याक्षाएह स्थाणत्थो) आत्मानं, व्यायति चिन्तयति, ज्ञाणत्थो—“उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमानतमुंहृत्वा” इत्युक्तलक्षणो ध्याने तिष्ठतीति ध्यानस्थः । “स्थ॒श्च” इति कप्रत्ययप्रयोगत्वात् ध्यानस्थ उच्यते ।

अहंकार को बलमद कहते हैं। मेरे पास अनेक लाख अध्यात्म अनेक करोड़ का धन था किर भी मैंने छोड़ दिया। इन अन्य मुनियों ने तो कर्जदार होकर दीक्षा ली है। इस प्रकार के अहंकार को अहंकारमद कहते हैं। मैं सिंहनिष्ठीडित, विमान-पंक्ति, सर्वतोभद्र, शातकुमभ, सिंहविक्रम, प्रिलोकमार, वज्रमध्य, उल्लीणोल्लीण, मूदङ्गमध्य, धर्मचक्रवाल, रुद्रोत्तर, वसन्त, मेरु, नन्दोश्वर पंक्ति तथा पल्यविद्वान आदि महातपोंका करने वाला हूँ, मेरा जन्म इस तरहके तप करते हुए अतीत हुआ है। परन्तु ये मुनि नित्य भोजन में लीन हैं अर्थात् एक भी उपवास नहीं करते हैं, इस प्रकारके अहंकारको तपमद कहते हैं। और मेरे रूपके आगे कामदेव भी दासता करता है, इस प्रकार के मदको शरीरमद कहते हैं।

रागका अर्थ प्रोति है, द्वेषका अर्थं अप्रोति है, व्यामोह का अर्थं पुत्र स्त्री तथा मित्र आदि का स्नेह है। लोकव्यवहार का अर्थं धर्मोपदेश आदि है तथा ध्यान का अर्थं उत्तम संहनन वाले जीवका अन्तमुंहृत्वं तक किसी पदार्थ में चित्तकी गतिका स्थिर हो जाना है।

इस तरह समस्त पदोंका अर्थ-विवेचना के बाद गाथा का अर्थ यह है कि ध्यान में बैठा मुनि समस्त कषायों को तथा गारब, मद, राग, द्वेष और व्यामोहको छोड़कर लोक-व्यवहार से विरत होता हुआ आत्मा का ध्यान करता है। पुर्व गाथा में यह कहा था कि जो संसार सागर से पार होना चाहता है वह शुद्ध आत्मा का ध्यान करता है और इस गाथा में शुद्ध आत्मा का ध्यान किस प्रकार किया जाता है वह बताया है।

गाथामें आये हुए ध्यानस्थ शब्द की सिद्धि ‘स्थ॒श्च’ इस सूत्रसे क

१. जीनेन्द्रस्येवं सूत्रं परिज्ञायते । ब्रह्म स्थाने स्थः कः इति शाकटानीयं सूत्रं ।

मिच्छत्तं अण्णाणं पावं पुण्णं चाएवि तिविहेण ।
मोणव्वएण जोई जोयस्थो जोयए अप्पा ॥२८॥

मिथ्यात्वमज्ञानं पापं पुण्यं च त्यक्त्वा त्रिविधेन ।
मौनव्रतेन योगी योगस्थो द्योतयति आत्मानस् ॥ २८ ॥

(मिच्छत्तं अण्णाणं) मिथ्यात्वं बोद्धवेशोषिकचार्वाककणभक्तकापिलभट्टवेदान्तप्राभाकरश्वेतपटगोपुच्छिक्यापतीयद्रामिलनिष्ठिच्छाद्यनेकेकान्ताद्याभित्तमत, अज्ञानं मस्करपूरणमत । (पापं पुण्यं चाएवि तिविहेण) पापं पंचप्रकारं प्राणातिपातानूतचौर्यमैथुनपरिश्रहरात्रिभोजनादिकं सप्तव्यसनादिलक्षणं च, पुण्यं शुभमुद्गलश्चाहृणलभणं स्वदुःखसहनं इत्यादिकं त्यक्त्वा परिहृत्य त्रिविधेन मनोवचनकाययोगप्रकारेण । (मोणव्वएण जोई) मौनव्रतेन वाग्व्यापाररहिततया योगी दिग्म्बरः । (जोयस्थो) योगस्थितः शुद्धोपयोगतत्त्वीमः (जोयए अप्पा) द्योतयति ध्यायत्यात्मानं शारीरप्रमाणं निजजीवस्वरूपं ।

प्रत्यय होकर हुई है । ‘ध्याने तिष्ठतीति ध्यानस्यः’ यह उसकी व्युत्पत्ति है ॥२७॥

गाथार्थ—मिथ्यात्व, अज्ञान, पाप और पुण्यको मन वचन काय रूप त्रिविध योगों से जोड़कर जो योगी मौन व्रतसे ध्यानस्थ होता है वही आत्माको शोतित करता है—प्रकाशित करता है—आत्मा का साक्षात्कार करता है ॥२८॥

विशेषार्थ—बोद्ध, वैशेषिक, चार्वाक, नैयायिक, सांख्य, मीमांसक, वेदान्त, प्रभाकर (मीमांसकका एक भेद), इवेताम्बर, गोपुच्छिक, यापनीय, द्रामिल और निष्ठिच्छ आदि अनेक एकान्तवादियों के मत मिथ्यात्व कहलाते हैं । मस्कर-पूरण का मत अज्ञान नाम से प्रसिद्ध है । हिंसा, शूठ, चोरी, मैथुन, परिश्रह और रात्रिभोजन तथा सप्त व्यसन आदि पाप कहलाते हैं । शुभ-पुद्गलों-पुण्य कर्म-वर्गणामों का ग्रहण करानेवाला कायक्लेश आदि पुण्य कहलाता है । इन सबका त्रिविध—मन वचन काय रूप योगोंके प्रकार से छोड़कर मौनव्रत से जो योगी योगस्थ होता है अथवि शुद्धोपयोग में तत्त्वीभ होता है वह शारीर-प्रमाण आत्मा का ध्यान करता है ॥२८॥

कर्णं मोक्षेन तिष्ठतीति प्राकृतवक्त्रमाह—

जं मया दिस्तदे रूपं तण्णं जाणादि सञ्चहा ।

जाणगं दिस्तदे णंतं तम्हा अदेमि कोऽहं ॥२९॥

यन्मया दृश्यते रूपं तन्नं जानाति सर्वथा ।

जायको दृश्यतेऽनन्तः तस्माज्जल्यामि केनाहम् ॥२९॥

(जं मया दिस्तदे रूपं) यन्मया दृश्यते रूपं तदरूपं स्थीप्रभृतिशरीरादिकं दृश्यतेऽनलोक्यते रूपं रूपिपदार्थं तत् सर्वं पुद्गलद्रव्यपर्योग्यत्वात्परमार्थंतोऽचेतनं । (तण्णं जाणादि सञ्चहा) तदरूपं सर्वथा निद्रचयनयेन न जानाति, अचेतनेन सह कर्णं जल्यामि । (जाणगं दिस्तदे णंतं) जायकमात्मानं रूपाश्रितं वस्तु, अनन्त-मात्मतत्त्वमनन्तकेवलज्ञानस्वभावत्वादनन्तं यदहं सेन सह जल्यामि स तु जानात्मे-

आगे योगी मोन से क्यों रहता है ? इसका कारण बतलाने के लिये प्राकृत का अनुष्टुप छन्द कहते हैं—

गाथार्थ—जो रूप मेरे हारा देखा जाता है वह बिलकुल नहीं जानता और जो जानता है वह दिखाई नहीं देता तब मैं किसके साथ बात करूँ ॥२९॥

विशेषार्थ—जो स्त्री आदिके शरीर आदि रूपी पदार्थं दिखाई देते हैं वे सब पुद्गल हैं तथा परमार्थ से अचेतन हैं—वे कुछ भी नहीं जानते हैं इसलिये अचेतन पुद्गल के साथ कैसे बात करूँ ? और जो केवलज्ञान रूप स्वभाव से युक्त होनेके कारण अनन्त आत्म-तत्त्व अनुभवमें आता है वह भाव जायक है—बोल नहीं सकता है, अतः किसके साथ बोलूँ ? किसके साथ बात करूँ ? अथवा किस कारण बोलूँ ? यह विचार कर योगी मोनको ही शरण मानते हैं अर्थात् किसी से कुछ कहते नहीं हैं ॥२९॥

[जाणगं दिस्तदे णंतं—यही संस्कृत टीकाकारने जो अनन्तं, छाया स्वीकृत की है तथा उसीके आधार पर संस्कृत टीका की है, उससे गाथा-का भाव दूसरा होगया है । हमारी समझसे इसकी छाया 'न तत्' होना चाहिये और तब गाथाका अर्थ यह होता है यह आत्मा जायक है वह दिखाई नहीं देता । यही भाव पूज्यपाद ने इस गाथाकी अनुकूलति कर जो

आत्मा । (तम्हा जपेमि केण हं) तस्मात्कारणाद् केन सहाहं जप्यामि, अथवा केन कारणेन जप्यामि सेन मे मीनमेव शरणं ।

सब्दासवणिरोहेण कर्म स्वदि संचिदं ।

जोयस्थो जाणए जोई जिणदेवेण भासिये ॥३०॥

सवस्त्रिवनिरोधेन कर्मक्षिपयति संचितम् ।

योगस्थो जानाति योगी जिनदेवेन भासितम् ॥३०॥

(सब्दासवणिरोहेण) सर्वेषामालशाश्वाणां मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकशाश्वयोग-लक्षणात्मानां निरोधेन तिषेवेन (कर्म स्वदि संचिदं) कर्म जिपयति पूर्वोपाजित तदागेऽभिनवज्ञलप्रवेशाभावे संचितपूर्वज्ञलशोषवत् । (जोयस्थो जाणए जोई) योगस्थः ध्यानस्थित आत्मैकलौलीभावमिलितो जानाति केवलज्ञानमुत्पादयति योगी शुक्लध्यानविषेषागमभाषया केवली भवति । ('जिणदेवेण भासिय') सिद्धार्थ-नृपनन्दमेन वीरेण कर्षितमिति भावः ।

इलोक' लिखा है उससे प्रकट होता है । १० जयचन्द्रजी ने अपनी वचनिका में 'न तद्' लाया स्वाकृत की भी है ।]

गाथार्थ—सब प्रकार के आस्त्रों का निरोध होनेसे संचित कर्म नष्ट होजाते हैं तथा ध्यान-निमग्न योगी केवल ज्ञानको उत्पन्न करता है, ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है ॥३०॥

दिशोवार्थ—जिस प्रकार तालाब में नदीन जलके प्रवेश का अभाव होनेपर पहले का संचित पाती धीरे-धीरे सूखकर नष्ट होजाता है उसी प्रकार मिथ्यात्व अविरति प्रमाद कषाय और योग रूप समस्त आस्त्रोंका अभाव होजाने पर पहले के संचित कर्म नष्ट हो जाते हैं और ध्यान में स्थित अर्थात् आत्मा में एक लोलोभाव-तन्मयो भावको प्राप्त हुआ योगी जानता है अर्थात् केवलज्ञान को उत्पन्न करता है । अथवा शुक्लध्यान रूप विशेष आगम की भाषा से केवली होता है, ऐसा भगवान् महाबीर ने कहा है ॥३०॥

१. यन्मथा दृश्यते रूपं तन्न जानाति सर्वथा ।

ज्ञानन्न दृश्यते रूपं ततः केन ज्ञानम्यहम् ॥१८॥

—सप्ताविंशति के पूर्वचतुर्थ ।

‘जो सुतो व्यवहारे सो जोई जगए सकञ्जलिम् ।

जो जगति व्यवहारे सो सुतो अप्पणे कज्जो ॥३१॥

यः सुतो व्यवहारे स योगी जागति स्वकार्ये ।

यो जागति व्यवहारे स सुत आत्मनः कार्ये ॥३१॥

(जो सुतो व्यवहारे) यो मुनिः सुतः क्य ? व्यवहारे व्यवहारमध्ये न पतितः । (सो जोई जगए सकञ्जलिम्) स योगी जागति सावधानो भवति, स्वकार्ये आत्मकार्ये कर्मक्षयविधाने । (जो जगति व्यवहारे) यो योगी जागति सावधानो भवति, क्य ? व्यवहारे लोकोपचारे । (सो सुतो अप्पणे कज्जो) स योगी मुनिः सुतो न वेद्यतेऽसावधानो भवति आत्मनः कार्ये आत्मस्वरूपे । उक्तं च—

जा निसि सयलह देहियहं जोगिगउ लहि जगेह ।

जहि पुण जगेह सयलु जगु सा निसि भणेवि मुएह ॥३१॥

इय जाणिऊण जोई व्यवहारं व्यष्टि सञ्चाहा सब्दं ।

क्षायह परमप्पाणं जह भणियं जिणवर्तिदेण ॥३२॥

इति जात्वा योगी व्यवहारं त्यजति सर्वथा सर्वम् ।

ध्यायति परमात्मानं यथा भणिते जिनवरेन्द्रेण ॥३२॥

गाथार्थ—जो मुनि व्यवहार में सोता है वह आत्म-कार्य में जागता है और जो व्यवहार में जागता है वह आत्म-कार्य में सोता है ॥३१॥

विवेषार्थ—जो मुनि लौकिक कार्योंसे उदासीन रहता है वह कर्मक्षयरूप आत्मकार्य में सावधान रहता है और जो लौकिक कार्योंमें जागरूक है वह आत्म-कार्य में उदासीन रहता है । जैसा कि कहा है—

जा निसि—समस्त जीवोंके लिये जो रात्रि है उसमें योगी जागता है और जिसमें सब जगत् जागता है उसे योगी रात्रि कह कर सोता है ।

गाथार्थ—ऐसा जानकर योगी सब तरह से सब प्रकार के व्यवहार को छोड़ता है और जिनेन्द्र देवने जैसा कहा है उस प्रकार परमात्मा का ध्यान करता है ॥३२॥

१. व्यवहारे सुपुत्रो यः स जागत्यतिमगोचरे ।

जागति व्यवहारेऽस्मिन् सुपुत्रश्चात्मगोचरे ॥३१॥

—समरचित्तके पूज्यपादस्य ।

(इय जाणिउण जोई) इतीदृशमर्थं जारवा, कोउसी ? योगो ध्यानवान् मुनिः । (व्यवहारं चयइ सबवहा सर्वं) व्यवहारं त्यजति सर्वं या सर्वं आत्मना सह एकलोलीभावे गते सति व्यवहारः स्वयमेव [न] तिष्ठति (आयइ परमप्याणं) ध्यायति परमात्मानं—निजशुद्धदुदैकस्वभावे आत्मनि तल्लीनो भवति । (जह भणियं जिणवरिदेण) यथा भणितं प्रतिपादितं जिनवरेन्द्रेण प्रियकारिणी-प्रियपुत्रेण श्रीधीरवर्धमानस्कामिना ।

पंचमहव्ययजुत्तो पंचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु ।

रथणत्यसंजुत्तो शाणज्ञयणं सथा कुणह ॥३३॥

पञ्चमहाव्रतयुक्तः पंचसु समितिषु तिसृषु गुप्तिषु ।

रत्नत्रयसंयुक्तः ध्यानाध्ययनं सदा कुरु ॥३३॥

(पंचमहव्ययजुत्तो) पंचमहाव्रतयुक्तो द्यावान् सत्यवादी अदत्तादानविरतः सर्वस्त्रीसोदरः बस्त्रादिपरिग्रहरहितः दिवा एकवारं प्रत्युत्तम्नं प्राप्तुकं मुक्ते शुद्ध शोधितं भूजानः । (पंचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु) ईर्यायां युग्मात्तरोविलोक्यमनः बागमोक्तभाषानिपुणः, चमजलस्पृष्टभोजनपरित्यागे हिंगुसंवासितव्यज्ञनाभोजनः

विशेषार्थ—ऐसा जानकर ध्यानस्थ मुनि सब व्यवहार को सब प्रकार से छोड़ता है अर्थात् जब योगो आत्मा के साथ तन्मयी भावको प्राप्त होता है तब व्यवहार स्वयमेव नहीं ठहरता है तथा प्रियकारिणी-क्रिशला देवी के प्रियपुत्र श्री वर्धगान स्वामी ने जिस प्रकार कहा है उस तरह परमात्मा का ध्यान करता है ॥३३॥

गाथार्थ—हे मुने ! तू पाँच महाव्रतों से युक्त होकर पाँच समितियों तथा तीन गुप्तियों में प्रवृत्ति करता हुआ रत्नत्रय से युक्त हो सदा ध्यान और अध्ययन कर ॥३३॥

विशेषार्थ—हे जीव ! तू द्यावान्, सत्यवादो, अदत्तादान से विरत, सब स्त्रियों के साथ सहोदर का व्यवहार करनेवाला, बस्त्रादि परिग्रह से रहित तथा दिन में एक बार प्राप्तुक, शुद्ध और शोधे हुए अन्न का आशुर लेता हुआ पञ्चमहाव्रत का धारी हो । तदनन्तर पञ्चसमितियों और तीन गुप्तियोंका पालन करनेके लिये चलते समय एक युग प्रमाण भूमिको देखकर चलने वाला, बागमोक्त भाषा के बोलने में निपुण, चमड़े के बर्तन में रखे हुए जलसे छुए भोजन का त्यागो, हींगसे सुश्रासित शाक आदिका

अजिनसंगवृत्तेलपरिहारी, दृष्टमृष्टोपकरणप्रहणनिषेपः, प्रासुकारुद्धभूमिमलमूत्र-
धृतसर्जनकुशलः, अपध्यानमतोनिवेदी, मौनवान्, कूर्मवत्संकोचितकरचरणादि-
कायः । (रथणत्यसंजुतो) मिथ्यात्वक्वदकुदालः सम्यग्ज्ञानानुशोलनकुशलः
सच्चरित्रपविगात्रः । (शाणज्ञयणं सया कुणह) ध्यानाद्ययनं सदा सर्वकाल
कुरु त्वं हे जीव ! इति तात्पर्यर्थः ।

रथणत्यमाराहं जीवो आराहओ मुणेयव्वो ॥

आराहणाविहार्ण तस्स फलं केवलं ज्ञाणं ॥३४॥

रत्नत्रयमाराधयन् जीव आराधको मुनितव्यः ।

आराधनाविधानं तस्य फलं केवलं ज्ञानम् ॥३४॥

('रथणत्यमाराहं') रत्नत्रयमाराधयन् । (जीवो आराहओ मुणेयव्वो)
जीव आत्मा आराधको मुनितव्यो (?) ज्ञातव्यः । (आराहणाविहार्ण) इद-
माराधनाविधानं विधिः । (तस्स फलं केवलं ज्ञाणं) तस्याराधनाविधानस्य, कि-
फलं केवलं ज्ञानं अनन्तकेवलज्ञानमिति अनन्तचतुर्थयः ।

न खानेवाला, चमड़े के पात्र में रखे हुए वी तैल आदिका परित्याग करने
वाला, देखभालकर कोमल उपकरण-पिच्छो से शुद्ध वस्तु को धरने उठाने
वाला, प्रासुक तथा रोक टाक से रहित भूमि में मलमूत्र छोड़ने में कुशल,
अपध्यान से मन को हटाने वाला, मौनवान् तथा कछुए के समान हस्त
पादादिके कार्यको कछुएके समान संकोचित करनेवाला बन तथा मिथ्यात्व-
रूपी कन्दको खोदने के लिये कुदाली स्वरूप, सम्यग्ज्ञानके अनुशोलनमें
अत्यन्त कुशल और सम्यक्चारित्र से पवित्र शरीर होकर अर्थात् रत्नत्रय
से धुक्त होकर सदा ध्यान और अध्ययन कर ॥३४॥

गायार्थ—रत्नत्रय की आराधना करनेवाले जोवको आराधक मानना
चाहिये, आराधना करना सो आराधना है और उसका फल केवलज्ञान
है ॥३४॥

विशेषार्थ—इस गाथामें आराधक, आराधना और आराधना का
फल बतलाते हुए कहा है कि जो मुनि रत्नत्रय की आराधना करता है
वह आराधक है, आराधनाका करना आराधना कहलाती है तथा केवल-
ज्ञान उस आराधनाका फल है ॥ ३४ ॥

१. रथणत्यमाराहं अर्यं पाठः क. पुस्तके नास्ति, ख. पुस्तकात् संयोजितः ।

सिद्धो सुद्धो आदा सब्बष्टु सब्बलोयदरसी य ।
सो जिणवरेहं भणियो जाण तुम केवलं णाणं ॥३५॥

सिद्धः शुद्धः आत्मा सर्वज्ञः सर्वलोकदर्शी च ।

स जिनवरैः भणितः जानीहि त्वं केवलं ज्ञानम् ॥ ३५ ॥

(सिद्धो सुद्धो आदा) सिद्ध आत्मोपलब्धिमान् । शुद्धः कर्ममलकलङ्घरहितः, ईद्युग्मिष्ठ आत्मा अतति समयेकेन ऊर्ध्वं ब्रह्मास्वभावेन त्रिभुवनार्थं गच्छतीति आत्मा शुद्धबुद्धैकस्वभावेन । (सब्बष्टु सब्बलोयदरिसी य) सर्वज्ञः त्रैलोक्यालोक-स्वरूपज्ञायककेवलज्ञानसमुपेतः, सर्वलोकदर्शी च सर्वशब्देनालोकाकाशो लभ्यते लोकशब्देन षड्द्रव्याषारवस्त्रिभुवनमुच्यते तद्द्रव्यं अवलोकयितुं शीलमस्येति सर्वलोकदर्शी । चकार उक्तविशेषणसमुच्चयार्थः तेनानन्तवीयनिन्तसौख्यवदादिर-नन्तगुणोऽपि गृह्णते । (सो जिणवरेहं भणियो) स एव गुणविशिष्ट आत्मा जिनवरैस्तीर्थकरपरमदेवैर्भणितः प्रतिपादितः । एवं गुणविशिष्टमात्रमानं (जाण तुम्हे केवलं णाणं) जानीहि त्वं केवलं ज्ञानं, आत्मा खलु केवलं ज्ञानं—अभेदनयस्वात् ज्ञानमेवात्मानं जानीहि ।

रथणस्तथं पि जोई आराहइ जो हु जिणवरमएण ।

सो ज्ञायदि अप्पाणं परिहरदि परं ण सदेहो ॥३६॥

रत्नक्रयमपि योगी आराधयति यः स्फुटं जिनवरमतेन ।

स ध्यायति आत्मानं परिहरति परं न सन्देहः ॥ ३६ ॥

गाथार्थ—जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहा हुआ वह आत्मा सिद्ध है, शुद्ध है, आत्मा है, सर्वज्ञ है, सर्वलोक-दर्शी है तथा केवलज्ञानरूप है, ऐसा तुम जानो ॥ ३५ ॥

विशेषार्थ—जिनेन्द्र देवने जिस आत्माका प्रतिपादन किया है वह सिद्ध है—आत्मोपलब्धि से युक्त है । शुद्ध है—कर्ममल कलंक से रहित है । आत्मा है—ऊर्ध्व-गमन स्वभाव होनेसे एक समय में त्रिभुवन के अग्रभाग तक गमन करता है अथवा शुद्धबुद्धैक स्वभाव वाला है । सर्वज्ञ है—तीनों लोक तथा अलोक को जानने वाले केवलज्ञान से सहित है । सर्वलोकदर्शी है—अलोकाकाश और लोकको देखने वाला है । तथा अभेदनय से केवल-ज्ञान रूप है । चकार से अनन्तवीय तथा अनन्त सुख-सम्पन्नता आदि अनन्त गुणोंसे युक्त है, ऐसा हे जीव ! तू जान ॥ ३५ ॥

पाथार्थ—जो योगी—ध्यानस्थ मुनि जिनेन्द्रदेवके मतानुसार रत्नत्रय

(रथणसर्वं पि जोई) रलन्नयमधि योगी ध्यानवान् मुनिः, न केवल गुणिन-
मात्मानं तदगुणं रलन्नयमपीत्यपेत्यर्थः । (आराहृ जो हु जिनवरमण) आरा-
यति यः संघमो हु—स्कृटं जिनवरमतेन सर्वज्ञबोतराग कथितमार्गेण । (सो
ज्ञायदि अप्पाण) स योगी ध्यायति चित्तयति, कं ? आत्मानं सहजानन्दस्वभावं
जीवतत्वं । चकारात्मा आत्मा, तद्रलन्नये यद्रलन्नयं स आत्मा गुणगुणिनोरभेदनयात्
(परिहरदि पर ए संदेहो) परिहरति परित्यजति, परं पुद्गलाद्यचेतनद्रव्यं, त
सन्देहोऽत्रार्थं संशयो नास्ति ।

कह आदे रथणसर्वं हृषदि तं जहा—

कथमात्मनि रलन्नयं भवतीति चेत् ? यद्यथा न देव निरूपयति—

जं जाणइ तं णाणं जं पिच्छइ तं च दंसणं गोयं ।

लं चारितं भवित्यं नहिहरतो तुल्यपापाणं ॥ ३७ ॥

यज्जानाति तज्जानानं यत् पश्यति तच्च दर्शनं ज्ञेयम् ।

तच्चारितं भणितं परिहारः पुण्यपापानाम् ॥ ३७ ॥

(जं जाणइ तं णाणं) यज्जानाति तज्जानानं आत्मेव जानाति तेमात्मैव ज्ञानमि-
त्यर्थः । “कृत्ययुटोऽन्यत्रापि” इति बचनात् कर्त्तरि युट् । (जं पिच्छइ तं च दंसण
की आराधना करता है वह आत्मा का ध्यान करता है और पर-पदार्थ
का परित्याग करता है इसमें संदेह नहीं है ॥ ३६ ॥

विशेषार्थ——जो ध्यानारूप मुनि, सर्वज्ञ बोतराग द्वारा कथित मार्ग से
न केवल गुणी-आत्मा की आराधना करता है किन्तु आत्मगुण-रलन्नय
की भी आराधना करता है वह सहजानन्द स्वभाव जीवतत्व का ध्यान
करता है तथा पुद्गलादि अचेतन द्रव्योंका परित्याग करता है इसमें संशय
नहीं है । यहाँ गुणी और गुणों में अभेदनय की अपेक्षा से कहा गया है
कि जो आत्मा है वही रलन्नय है ॥ ३६ ॥

आगे आत्मा में रत्नप्रय किस प्रकार रहते हैं यही निरूपण करते हैं—

गाथार्थ——जो जानता है वह ज्ञान है, जो देखता है—सामान्य अव-
लोकन करता है वह दर्शन है और पुण्य पापका परित्याग है वह चारित्र
है ॥ ३७ ॥

विशेषार्थ——‘जो जाने सो ज्ञान है’ इस व्युत्पत्ति से आत्मा जानता है
अतः आत्मा ही ज्ञान है । यहाँ ‘कृत्ययुटोऽन्यत्रापि’ अर्थात् कृत्य संज्ञक
तथा युट् प्रत्यय कर्म और भाव के सिद्धाय अन्यवाच्य—कतृवाच्य में भी
प्रत्यय होते हैं इस बचन से कतृवाच्य में युट् प्रत्यय हुआ है । इसी
सरहू जो देखे वह दर्शन है इस व्युत्पत्ति से आत्मा ही दर्शन है । यहाँ भी

गेये) यत्कर्तुभूतं, पश्यति तदर्थं ज्ञेयं आत्मवं आत्मैव पश्यति तेन कारणेनात्मैव दर्शनं । अतापि पूर्वोक्तु कर्त्तरि युट् । (तं चारित्तं भणियं परिहारो पुण्यपात्राणं) तम्भारित्तं भणितं प्रतिपादितं, तत्कि ? परिहारः पुण्यपात्रानां आत्मैव पुण्यं पापं च परिहरति तेनात्मैव चारित्तं । "पापक्रियाविरमणं चरणं किल" इति वचनात् । तथा चोक्तं—

न किञ्चित् पापाय प्रभवति न वा पुण्यततये
प्रसिद्धेदां शुद्धि समधिकस्तो ष्वांसविधुरां ।
भवेत् पुण्यायैवाखिलभणि विशुद्धशंगमपरं
सतं पापायैवेत्युदितमवहारो मुनिपते ॥ १ ॥

मुनिपतिरत्र विद्यानन्दी समन्तभद्रो वा मंतव्यः ।

अण्णं च—अत्यन्त वचनमस्तोति भगवंतो निरुपयन्ति—

तच्चरुद्दी सम्भृतं तच्चगग्नहणं च हृदद्व सण्णाणं ।
चारित्तं परिहारो पर्यंपिष्ठं जिणवर्दिदेहि ॥ ३८ ॥
तत्त्वरुचिः सम्यक्त्वं तत्त्वग्रहणं च भवति संज्ञानम् ।
चारित्रं परिहारः प्रजलिपतं जिनवरेन्द्रेः ॥ ३८ ॥

पूर्वकी तरह कर्तृवाच्य में युट् प्रत्यय जानना चाहिये पुण्य और पापका जो परित्याग करता है वह चारित्र है । इस व्युत्पत्ति के आधार पर आत्मा ही पुण्य और पाप का परित्याग करता है अतः आत्मा ही चारित्र है । यथार्थ में गुण और गुणी में अभेद की विवक्षा से यहाँ गुणो-आत्मा को गुण-ज्ञान दर्शन और चारित्र रूप कहा गया है ।

जैसा कि कहा है—

न किञ्चित्—प्रसिद्ध देदीप्यमान तथा विनाश से रहित शुद्धिको प्राप्त होने वाले साधुके कोई वस्तु न तो पापके लिये होती है और न कोई वस्तु पुण्यके लिये होती है । उसका जितना भी विशुद्धिका अङ्ग है वह सब पुण्यके लिये हो है और जितना अविशुद्धि का अङ्ग है वह सब पापके लिये हो है । इस प्रकार मुनिपति-मुनीन्द्र का कथन तुम सबकी रखा करे ।

यहाँ मुनिपति शब्दसे विद्यानन्दी अर्थवा समन्तभद्रको समझना चाहिये ॥ ३७ ॥

आगे और भी इसी प्रकारका वचन है यह कुन्दकुन्द भगवान् कहते हैं—
तात्पार्थ—तत्त्वरुचि होना सम्भवदर्शन है, तत्त्वज्ञान होना सम्भग्नान

(तच्चवर्षी सम्भावना) तत्त्वविचित्रं सम्यक्त्वं तत्त्वानां जीवाजीवालवदन्वसंबर-
निर्जंरामीकालक्षणोपलक्षितानां सप्तानां रुचिः अद्वा सम्यक्त्वमुच्यते । “तत्त्वार्थ-
श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं” इति वचनात् । (तच्चवर्गहरणं च हक्ष लक्षणाणं) तत्त्वानां
पूर्वोक्तसप्तपदार्थानां ग्रहणं सम्यग्विज्ञानं भवति सज्जानं सम्यग्ज्ञानं । (चारित्यं
परिहारो) चारित्रं पापक्रियापरिहरणं परिहारः सम्यक्चारित्रं भवति । (पर्याप्तियं
जिणवर्सिदेहि) प्रजलिपतं कथितं जिनवरेन्द्रैः ।

दंसणसुद्धो सुद्धो दंसणसुद्धो लहेह णिध्वार्ण ।
वंसणविहीणपुरिसो न लहइ तं इच्छयं लाहं ॥३९॥

दर्शनशुद्धः शुद्धः दर्शनशुद्धः लभते निर्विणम् ।
दर्शनविहीनपुरुषः न लभते तं इष्टं लाभम् ॥ ३९ ॥

(वंसणसुद्धो सुद्धो) दर्शनेन सम्यग्दर्शनेन सम्यक्लेन शुद्धो निर्मलो निरति-
चारः पञ्चविंशतिदोषपरहितः पुमान् शुद्धः कथ्यते । उक्तं च—

सम्यग्दर्शनसंशुद्धमपि मातृगदेहणां ।
देवा देवं विद्वर्भस्मगृदाङ्गारात्तरीजसं ॥ १ ॥

है और पाप का परिहार होना सम्यक्चारित्र है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान्
ने कहा है ॥ ३८ ॥

विशेषार्थ—जीव अजीव आसव बन्ध संबर निर्जंरा और मोक्ष इन
सात तत्त्वोंकी रुचि-श्रद्धा होना सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन कहलाता है ।
क्योंकि ‘तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनसु’ अर्थात् यथार्थतासे सहित जीवादि
तत्त्वोंका श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन है, ऐसा आगम में कहा गया है ।
पूर्वोक्त सात तत्त्वोंका ग्रहण करना अर्थात् उनके यथार्थ स्वरूपको जानना
सम्यग्ज्ञान कहा जाता है और पापका परित्याग होना सम्यक्चारित्र
कहलाता है, ऐसा जिनवरेन्द्र-तीर्थकर सर्वज्ञ देवने कथन किया है ॥ ३८ ॥

गाथार्थ—सम्यग्दर्शन से शुद्ध मनुष्य, शुद्ध कहलाता है । सम्यग्दर्शन से
शुद्ध मनुष्य निर्विणको प्राप्त होता है । जो मनुष्य सम्यग्दर्शनसे रहित
है वह इष्ट लाभ को नहीं पाता ॥ ३९ ॥

विशेषार्थ—जो मनुष्य सम्यग्दर्शन में कभी अतिचार नहीं लगाता
तथा पञ्चोस दोषों से रहित है वह शुद्ध कहलाता है । कहा भी है—

सम्यग्दर्शन—सम्यग्दर्शन से शुद्ध चाण्डाल को भी गणधरादिक देव,
भस्मके भोतर छिपे अज्ञातके समान आश्यन्तर तेजसे युक्त देव कहते हैं ।

(दंसणमुद्गो लहू णिवाणं) दर्शनशङ्कः पुमांलभते निवीणं मोक्षं । (दंसण-विहीणमुरिसो) दर्शनविहीनः पुरुषः सम्यग्दर्शनरहितः पुमान् सम्यक्त्वविवर्चितो जीवः । (न लहू ते इच्छयं लाहू) न लभते न प्राप्नोति सं जगत्रसिद्धं योगिनां प्रत्यक्षं इष्टं लाभं सर्वकर्मक्षयलक्षणं मोक्षपदार्थं ।

इय उवएसं सारं जरमरणहरं खु मण्णए जं तु ।

तं सम्मतं भणियं समणाणं सावयाणं पि ॥४०॥

इति उपदेशः सारो जन्ममरणहरं रफुटं मन्यते यत् ।

तत् सम्यक्त्वं भणितं श्रमणानां आवकाणामपि ॥४०॥

(इय उवएसं सारं) इतीदृश उपदेशः संबोधनवृक्षं, सारं-सारः श्रेष्ठतरः ।

श्रेष्ठे वैले स्विरस्वान्ते मज्जायां सारं उच्यते । ॥४०॥

जले न्याय्ये धने विविभः सारमुक्तं नयुं सके ॥ १ ॥

(जरमरणहरं खु मण्णए जं तु) जरामरणहरं जरामरणविनाशकं इमं उपदेशं मन्यते श्रद्धापाति यत् यत् श्रद्धते तु पुनः । (तं सम्मतं भणियं) तत्सम्यक्त्वं भणितं प्रतिपादितं । (समणाणं सावयाणं पि) श्रमणानां अनगारयतीनां आवकाणामपि गृहस्वानां । अपिशब्दाच्चानुर्गतिक्जीवानामपि ।

जिस मनुष्य का सम्यग्दर्शन शुद्ध है वह निवीण को प्राप्त होता है । सम्यग्दर्शन से रहित मनुष्य इष्ट लाभको-सर्वकर्मक्षय रूप मोक्षको नहीं पाता ॥ ३९ ॥

गाथार्थ—यह श्रेष्ठतर उपदेश स्पष्ट हो जन्म मरण को हरने वाला है इसे जो मानता है—इसकी श्रद्धा करता है वह सम्यक्त्व है । यह सम्यक्त्व मुनियों के, आवकों के तथा चतुर्गति के जीवोंके होता है ॥४०॥

विशेषार्थ—यहीं सार शब्दका अर्थ श्रेष्ठतर-अत्यन्त श्रेष्ठ है । जैसा कि कहा है—

अंडेश्वले-मुलिङ्ग में सार शब्द श्रेष्ठ, बल, दृढ़चित्त और मज्जा अर्थ में कहा जाता है और नयुं सक लिङ्गमें सार शब्द जल, न्यायपूर्ण बात और धन अर्थ में विद्वानों द्वारा प्रयुक्त होता है ।

इस पूर्वोक्त अत्यन्त श्रेष्ठ उपदेशका जो जरा और मरणका नाश करनेवाला मानता है वह सम्यक्त्व कहा गया है । यह सम्यग्दर्शन श्रमण—दिगम्बर मुनियों के, आवकों के और अपि शब्द से चारों गतियों

१. अमरेष्मुक्तं—“सारो वैले स्विराशो न्याय्ये बलीयं वरे चिषु ।”

जीवाजीवविहृती जोई जाणेह जिणवरमएण ।
तं सण्णाण भणियं अवियत्यं सव्वदरिसीहि ॥४१॥

जीवाजीवविभक्ति योगी जानाति जिनवरमतेन ।
तत् संज्ञानं भणितं अवितयं सर्वदशिभिः ॥ ४१ ॥

(जीवाजीवविहृती) जीवाजीवानां विभक्तिः भेदस्तां जीवाजीवविभक्तिः ।
(जोई जाणेह जिणवरमएण) योगी दिग्घवरी मुनिः, जानाति वेत्सि यथावत्स्वरूपमवैति, जिनवरमतेन सर्वज्ञशासनेन । (तं सण्णाण भणियं) तत्संज्ञानं भणितं तत्सम्यग्जानं कणितं । (अवियत्यं सव्वदरिसीहि) अवितयं सत्यभूतं, सर्वदशिभिः सर्वज्ञैरिति चौपः । उक्तं च—

अन्यूनमनतिरिक्तं याथात्यं विना च विपरीतात् ।
निःसन्देहं वेदं यदाहुस्तज्ञानमगमिनः ॥ १ ॥

जं जाणिऊण जोई परिहारं कुणइ पुण्णपाचाणं ।
तं चारितं भणियं अवियत्यं कम्मरहिएण ॥४२॥
यत् ज्ञात्वा योगी परिहारं करोति पुण्णपापयोः ।
तत् चारित्रं भणितं अविकल्पं कम्मरहितेन ॥ ४२ ॥

के जीवोंके होता है । सम्यक्त्व को प्राप्ति चारों गतियोंके संज्ञों पञ्चेन्द्रिय पथप्रिक भव्य जीवको हो सकती है ॥ ४० ॥

गाथार्थ—जो मुनि जिनेन्द्रदेव के मतसे जीव और अजीवके विभाग को जानता है उसे सर्वदर्शी भगवान् ने यथार्थ सम्यग्ज्ञान कहा है ॥४१॥

विद्वावार्थ—यद्यपि तत्त्व सात हैं तथापि संष्ठेष्पसे उनका समावेश जीव और अजीव इन दो तत्त्वोंमें हो जाता है इस दृष्टिको हृदयस्थ कर श्री-कुन्दकुन्दस्वामी कहते हैं कि जो जिनेन्द्रदेव के मतानुसार जीव और अजीवके विभाग को जानता है अर्थात् शुद्ध-बुद्धेकस्वभाव आत्मा और उसके साथ लगे हुए कर्म नोकर्म तथा भावकर्म के विभाग को अच्छी तरह समझता है उसे सर्वेन देवने सत्यभूत सम्यग्ज्ञान कहा है । कहा भी है—

अन्यून—जो ज्ञान बस्तुके स्वरूपको न्यूनता रहित, अधिकता रहित, जैसाका तंसा, विपरीतता के विना और संशय-रहित जानता है उसे आगम के ज्ञाता पुरुष सम्यग्ज्ञान कहते हैं ।

गाथार्थ—यह सब जानकर योगी जो पुण्ण और पाप दोनोंका

(जं जाणिङ्ग जोई) यज्ञात्वा विश्वाय योगी जैनी मुनिः । (परिहारं पुण्ड्रपुण्णपावाणं) परिहारं परित्यागं करोति पुण्णपापयोः । (तं चारित्संभियं) तुदात्मा सहंकलोलीभावः तन्मयत्वं सत्त्वरत्वं तन्निष्ठत्वं तदेकतानत्वं चारित्रं परमोदासीनतालक्षणं भणितं प्रतिपादिते । केन, (कम्परहिएण) धातिकमंविष्वं सकेन सर्वज्ञेन । तत्कथंभूतं चारित्रं, (अविष्यष्टं) अविकल्पं संकल्पविकल्परहितं निविकल्पसमाधिलक्षणं यथाह्यात्मामकं ।

जो रथणत्यजुतो कुणइ तबं संजदो ससत्तोए ।
सो पावह परमपदं आयतो अप्ययं सुद्धं ॥४३॥

शो रत्नत्रययुक्तः करोति तपः संघसः स्वशक्त्यः ।

स प्राप्नोति परमपदं ध्यायन् आत्मान् शुद्धम् ॥४३॥

(जो रथणत्यजुतो) यो जैनो मुती रत्नत्रययुक्तः सम्यग्ददर्शनशानचारित्र-सहितः सम्यक्शब्दानशानानुष्ठानसमुपेतः (कुणइ तबं संजदो ससत्तोए) करोति विद्धाति सम्बानुतिष्ठति, कि तत् ? तत् इच्छाविरोधलक्षणं आत्मनि ज्ञानवत्तया

परिहार करता है उसे कम्प-रहित सर्वज्ञ देवने निविकल्पक चारित्र कहा है ॥ ४२ ॥

विशेषार्थ—चारित्र का यथार्थ लक्षण आत्मस्वरूपमें स्थिरता है । जब तक इस जीवकी पुण्य अथवा पाप में प्रवृत्ति होती रहती है तब तक स्वरूप की स्थिरता नहीं होती क्योंकि पुण्य और पाप की प्रवृत्ति कथायसे जन्य है तथा कथाय-जन्य होनेसे उसमें अनेक संकल्प-विकल्प उठते रहते हैं । [संकल्प-विकल्प दशा में निविकल्प समाधिरूप यथाह्यातचारित्र का प्रकट होना असंभव है, इसलिये आचार्य महाराज ने कहा कि योगी-जैन मुनि वस्तुरूप को जानकर जो पुण्य और पाप दोनोंका परित्याग करता है अर्थात् परम शूद्धोपयोग रूप अवस्था को प्राप्त होता है उसे धातिया कर्मोंका क्षय करने वाले सर्वज्ञदेवने निविकल्प समाधि रूप यथाह्यात नामका चारित्र कहा है ॥४२॥]

गाथार्थ—रत्नत्रय को धारण करने वाला जो मुनि शूद्ध आत्मा का ध्यान करता हुआ अपनी शक्ति से तप करता है वह परम पद को प्राप्त होता है ॥४३॥

तथन् संयतो जैनो मुनिः परमोदासीनतालक्षणसंयमं सम्पन्नः; स्वशक्त्या आत्म-
शक्त्यनुसारेण । उक्तं च—

जं सक्कह तं कीरह जं च ण सक्केह तं च सद्हह ।

सद्हमाणो जीवो पावह अजरामर ठाण ॥ १ ॥

“शक्तितस्त्यागतपसी” इति वचनात् । (सो पावह परमपर्यं) स श्रावणोति
स मुनिलंभते, कि तत् ? परमपर्यं इन्द्रधरणेन्द्रमुनीन्द्रनरेन्द्रविदितं स्थानं परम-
निवाणं । (ज्ञायन्ते अप्यप्यं सुदृढं) ध्यायन् मन् एकाग्रतया चिन्तयन्, कं ? आत्मानं
निजसूद्धबुद्धैकस्वभावात्मतर्वं, शुद्धं द्रव्यकर्मभावकर्मनोकर्मरहितं रागद्वेषमोहादि-
विवितिं कर्ममलकलक्षुरहितं प्रत्यक्षतया प्राप्तमिति तात्पर्यार्थः ।

तिहि तिणि धरचि यिच्चं तियरहिओ तह तिएण परियरिओ ।
दोदोसविष्पमुक्तो परमप्या ज्ञायए जोई ॥ ४४ ॥

त्रिभिः श्रीन् घृत्वा नित्यं त्रिकरहितः तथा त्रिकेण परिकलितः ।

द्विदोषविप्रमुक्तः परमात्मानं ध्यायति योगी ॥ ४४ ॥

विशेषार्थ—जो जैन मुनि सम्यगदर्शन, सम्यगज्ञान और सम्यक्चारित्र-
से मुक्त होता हुआ अपनी शक्तिके अनुसार इच्छा-निरोध रूप तपको
करता है वही वास्तव में संयत है अर्थात् परम उदासीनता रूप संयम की
प्राप्त है । ऐसा संयत यदि द्रव्यकर्म भावकर्म और नोकर्म से रहित अथवा
रागद्वेष मोह आदिसे रहित अथवा कर्म-मल-कलंक से रहित शुद्ध-बुद्धैक
स्वभावसे मुक्त निज आत्माका ध्यान करता है तो वह परम पद-इन्द्र-
धरणेन्द्र मुनीन्द्र और नरेन्द्रोंके द्वारा बन्दित परम निवाण को प्राप्त होता
है । तप शक्तिके अनुसार होता है क्योंकि ‘शक्तितस्त्यागतपसी’—त्याग
और तप शक्ति के अनुसार होते हैं ऐसा आगम का वचन है । और भी
कहा है—

जं सक्कह—जो किया जा सके उसे करना चाहिये और जो न किया
जा सके उसका श्रद्धान करना चाहिये क्योंकि श्रद्धान करने वाला जोव
भी अजर-अमर पदको प्राप्त होता है ॥ ४४ ॥

गाथार्थ—तीनके द्वारा तीन को धारण कर, निरन्तर तीनसे रहित,
तीनसे सहित और दो दोषों से मुक्त रहने वाला योगी परमात्मा का ध्यान
करता है ॥ ४४ ॥

१. जं सक्कह तं कोरह जं च ण सक्केह तं च सद्हण ।

केवलिविष्पीहि नगियं सद्हमाणस्स सम्मतं ॥ २२ ॥ —र्दर्शनप्राप्ते

(तिहि) निभिः मनोवचनकार्यैः । (तथ्यं शरवि) श्रीन् वयशीतोष्णकालयोगान् घृता । "तु आण तूणाव तुम् च कल्वायाः" इति प्राकृतव्याकारमसूक्षेण कल्वास्थानेऽन्न-आदेशः तेन घृता इत्यस्य स्थाने शरवि इति प्रयोगः साधुः । (निचन्) उर्वशा उर्वरित्यैः शिखाग्राले । (नियरहेत्वो) मायामिथ्यात्मनिदानशब्दं त्रिकरहितः । (तह तिदेण परिवर्तितो) तथा तेनैव त्रिकरहितप्रकारेण, निकेण सम्यग्दर्शनज्ञानकारित्वेण, परिकरितो भवितः । (दोदोसविष्पमुक्तको) द्विदोषविश्वमुक्तः विशेषेण प्रकर्षेण रागद्वेषबोधरहितः । (परमप्या ज्ञायए जोहि) परमात्मानं सिद्धस्वरूपमात्मानं ध्यायति चित्तयति योगिन ध्यानवान् मुनिः । अथवा योगीति योगवलेन मनोवाक्यावयवोगवल्म्मेन ।

मयमायकोहरहितो लोहेण विवजितत्वो य जो जीवो ।

णिम्मलसहावजुतो सो पावह उत्तमं सोकलं ॥४५॥

मदमायाकोधरहितः लोभेन विवजितत्वं योऽजीवः ।

निम्मलस्वभावयुक्तः स प्राप्नोति उत्तमं सौख्यम् ॥४५॥

(मयमायकोहरहितो) मदमायाकोधरहितः । (लोभेन विवजितत्वो य जो जीवो) लोभेन विवजितत्वं यो जीव आत्मा । (णिम्मलसहावजुतो) निम्मलस्वभावः रागादिरहितः परिणामस्तेन संयुक्तः । (सो पावह उत्तमं सोकलं) स जीवः

विजेषार्थ—तीनके द्वारा अर्थात् मन वचन कावके द्वारा तीनको अर्थात् वर्षा कालयोग, शीतकाल योग और उष्णकालयोगको धारण कर निरन्तर अर्थात् दीक्षाकालसे लेकर तीनसे रहित अर्थात् माया मिथ्यात्म और निदान इन शल्योंसे रहित, तीनसे सहित अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से सहित और दो दोषोंसे विश्वमुक्त अर्थात् राग, द्वेष इन दोषोंसे सर्वथा रहित योगी-ध्यानस्थ मुनि परमात्मा अर्थात् सिद्धके समान उत्कृष्ट तिज-स्वरूप का ध्यान करता है ॥४५॥

गायार्थ—जो जीव मद माया और कोषसे रहित है, लोभसे वजित है तथा निम्मल स्वभाव से युक्त है, वह उत्तम सुखको प्राप्त होता है ॥४५॥

विजेषार्थ—यह जीव कोध, मान, माया और लोभ, इन चार कषायों के कारण स्वभाव से च्युत हो रहा है, इसलिये इन चारों कषायों का अभाव करके जो रागादि परिणाम से रहित होता हुआ निम्मल स्वभाव से युक्त हो गया है वही जीव कर्म-क्षयसे उत्पन्न होनेवाले, इन्द्रियसुखसे रहित देव-कुलैम परमात्मद रूप उत्तम सुखको प्राप्त होता है ।

प्राप्नोति लभते, कि ? उत्तमं सीर्वयं कर्मकायसंज्ञात्-हन्दियनुद्वरहित-हम्ब्रादीनामणि
सुलभं सीर्वयं परमानन्दलक्षणं । तथा चोकर्त—

जं मुणि लहूह अर्णतसुहु जियअप्पा आयेतु ।
तं सुहु हंदु वि न वि लहूह देविहिं कोहि रमेतु ॥ १ ॥

विसयकसाएहि जुबो रहो परमप्पभावरहियमणो ।

सो न लहूह सिद्धिसुहं जिणमुद्वपरम्मुहो जीबो ॥ ४६ ॥

विषयकषायैयुक्तः रहः परमात्मभावरहितमनाः ।

स त लभते सिद्धिसुखं जिनमुद्वापराड्मुखो जीबः ॥ ४६ ॥

(विसयकसाएहं जुबो) विषयः वा:ताजनात्मामालिगनादित्पशांश्वपचेन्द्रिय-
सुखैः कषायैष क्रोधमानमायालोभैः युतः संहितः । (रहदो परमप्पभावरहियमणो)
रहः सात्यकिमहाराजपुत्रः परमात्मभावरहितमनाः परमात्मभावनायाः प्रभृष्टः ।
(सो न लहूह सिद्धिसुहं) स रहो न लभते न प्राप्नोति, कि ? सिद्धिसुखं आत्मो-
पलञ्चिसुखं । तहुं कि लभते ? तरकदुःखं लभते ? इत्यर्थापित्तिः । (जिणमुद्वपरम्मुहो
जीबो) जिनमुद्वापराड्मुखो जीबः—जिनमुद्वा परित्यज्य भृष्टो बभूदेति
भावार्थः ।

रुद्रस्य कथा यथा—अथेह भरतकेष्वे विजयार्थपद्वते दक्षिणचेष्वा किन्नरगीत-

जैसा कि कहा गया है—

अंपुणि—निभ आत्माका ध्यान करता हुआ मुनि जिस अनन्त सुख-
को प्राप्त करता है उस सुखको करोड़ों देवियोंके साथ रमण करता हुआ
भी इन्द्र नहीं प्राप्त कर सकता है ।

गाथार्थ—जो विषय कषाय से युक्त है जिसका मन परमात्माकी
भावनासे रहित है तथा जो जिन-मुद्वासे पराड्मुख-भ्रष्ट हो चुका है
ऐसा रुद्रपद धारी जीब सिद्धि सुख को प्राप्त नहीं होता ॥ ४६ ॥

विशेषार्थ—स्त्रीजनों के आलिङ्गन आदि पञ्चेन्द्रियों के विषयों तथा
क्रोध, मान, भाया और लोभ कषाय से युक्त होनेके कारण जिसका मन
परमात्मा की भावना से हट गया है तथा जो जिन-मुद्वाको छोड़कर भ्रष्ट
हो चुका है ऐसा रुद्र मोक्ष सम्बन्धी सुखको प्राप्त नहीं होता किन्तु तरक
के दुःखको प्राप्त होता है । रुद्र की कथा इस प्रकार है—

रुद्र की कथा

अथानन्तर इसी भरत क्षेत्रके विजयार्थ पद्वत की दक्षिण शेणी में एक
किन्नरगीत नामका लगत है । उसमें रत्नमाली नामका विद्वान्वरों का

नगरे रत्नमाली रुद्रगतरेण्डो मनोहरी विद्याधरी कान्ता, तत्पुन रुद्रमाली । स एक-स्थिन् दिने स्वच्छन्द बने किहरभाणो विद्यां साधयत्वं विद्याधरकुमारीं ददर्श । तद्रूपमोहितो विद्यया भ्रमरो बभूव । षष्ठ्मासपर्यन्तं तद्वदनकमलस्थिति चकार । पुनः सूक्ष्मो भूत्वा स्तनयोर्जघ्ने च तस्यो । पश्चात्प्रकटीकृतनिजशरीरः स तथा परिगलितधैर्यो भणितः—प्रतीक्षस्त्र कियत्कालं तावत् विद्धनं मा कार्षीः । शिखिदुर्लभा विद्या सिद्धपति तस्यां सिद्धायां तब आया भविष्यामि । हे सुभग ! बदानुरागाहं वर्ते । तदा तेन सा पृष्ठा । भद्रे ! त्वं कस्य घूदा ? । भणितं च तथा । अत्रैव पर्वते उत्तरस्यां थेणो गन्धवंपूरपत्तनावीशो मम विता महाबलः । तस्य प्रभाकरी भार्या । तयोर्भूद्वा प्रसिद्धाहमचिमालिनी । तथापि पृष्टः त्वं कः ? स आह अत्र गिरो दक्षिणश्रेणो किन्तरणीतप्रभुरत्नमालिमनोहर्योः सुतोऽहं रुद्रमाली नाम ।

राजा रहता था । उसकी स्त्रीका नाम मनोहरी विद्याधरी था । उन दोनों-के रुद्र-माली नामका पुत्र था । एक दिन वह स्वच्छन्दतापूर्वक बनमें विहार कर रहा था । उसी समय उपने विद्या फिल करी हुई एक विद्याधर कुमारी को देखा । उसके रूपसे मोहित होकर रुद्रमाली विद्यासे भ्रमर बन गया और छह महीने तक उसके मुख कमलमें रहा आया । उसके बाद और भी सूक्ष्म रूप बना कर स्तनों तथा जघन प्रदेश में रहा आया । पश्चात् उसने अपना असली शरीर प्रकट किया उस समय उसका धैर्य छूट रहा था अर्थात् वह उस विद्याधर-कुमारी को पानेके लिये अत्यन्त उत्कण्ठित हो रहा था । यह देख विद्याधर कुमारी ने कहा कि कुछ समय तक प्रतीक्षा करो, विद्धन मत करो । शिखिदुर्लभा नामकी विद्या सिद्ध हो रही है उसके सिद्ध होनेपर मैं तुम्हारी स्त्री बन जाऊँगी । हे सुभग ! मैं तुम्हारे प्रति बद्धानुराग हूँ ।

उस समय रुद्रमाली ने उससे पूछा कि हे भद्रे ! तू किसकी पुत्री है ? उसने कहा कि इसी पर्वत को उत्तर श्रेणोपर गन्धवंपुर नगर का राजा महाबल रहता है वह मेरा विता है । उसकी स्त्रीका नाम प्रभाकरी है । मैं अचिमालिनी नामसे प्रसिद्ध उन्हीं दोनों की पुत्री हूँ । इस प्रकार अपना परिचय देकर विद्याधर कुमारीने भी पूछा कि तुम कौन हो ? तब रुद्रमाली ने कहा कि इसी पर्वत की दक्षिण श्रेणो पर किन्तरणीत नामका नगर है । उसके राजा रत्नमाली और रानी मनोहरी का मैं रुद्रमाली नामका पुत्र हूँ ।

बहुभिर्दिनैः साधितविद्याच्चिमालिनीन्दुवदना सदनं जगाम । मातरपितरौ द्वयोर्मन्दो विज्ञाय तयोर्विवाहं अक्रतुः । तौ रतिरसरजिती साधितप्रज्ञप्तिविद्या नन्दनवते शान्तिहेतु जिनस्तपनपूजनस्तवनानि कृत्वा सुखं स्थिती । ममोजयचित्तवेगी तस्या मैथुनिकावागत्य महाजालिनीविद्या रुद्रमालिनं वद्युष्वा प्रगृह्ण गती । सोऽपि तौ निजित्य पुनरागतः । अचिमालिन्या सह निजपुरं प्रविष्टेषा । सानुरागस्तस्यौ । एकवा वैराग्यं प्राप्य चारणचरणभूले सभायीं दिवीक्षे । तौ परस्परं ममायं कान्तो भविष्यति ममेयं प्राणप्रिया भविष्यतीति सनिदानो सौधर्मं संन्यासेन गती । तत्रापि दीर्घकालं रतिसुखं भुवस्वा गन्धारदेशे माहेश्वरपुरे स देवः सत्यन्धरमहाराजसत्यवत्योः सुतः सात्यकिर्जातिः । अचिमालिनीघरी देवी सौधर्माच्छ्रुत्वा सिन्धुदेशे विद्यालीपत्तने चेटकमहाराजसुप्रभादेव्योः सुहा ज्येष्ठा जाता । सा सात्यकेः पूर्वमेव दत्ता । परं विद्याहो न वर्तते । अबान्तरे श्रेणिकमहाराजपुत्रः कस्याद्य सार्थकाहो भूत्वा अभयकुमारो नाम धूर्तस्तश्रागतः । तत्र राजपुत्रौ चेलना ज्येष्ठां च चालयित्वा उपायं कृत्वा सुरगया निःसूतः । तत्र चेलनया जेष्ठा आभरणादिभिषेण व्याघोटिता स्वयं श्रेणिकं बागता । यावज्ज्येष्ठा जिनप्रतिमो गृहीत्वा गच्छति

बहुत दिनोंमें विद्या सिद्ध कर, चन्द्रमुखी, इन्द्रुमालिनी अपने घर चली गई । माता-पिता ने दोनोंका मन जानकर उनका विवाह कर दिया । रतिके रागसे रंगे तथा प्रज्ञप्ति नामक विद्या को सिद्ध करने वाले वे दोनों शान्तिके हेतु नन्दन बनमें जिनेन्द्र भगवान्का अभिषेक पूजन तथा स्तवन कर सुखसे बैठे थे । इतने में मनोजय और चित्तवेग नामके दो विद्याधर जो कि अचिमालिनी के अभिलाषी थे महाजालिनी विद्यासे रुद्रमाली को बौधकर ले गये । परन्तु रुद्रमाली उन दोनोंको जीतकर फिर आगया । अचिमालिनीके साथ उसने नगर में प्रवेश किया तथा अनुराग पूर्वक रहने लगा ।

एक दिन उसने विरक्त होकर चारण ऋद्धिधारी मुनिके चरण मूलमें स्त्रीके साथ दीक्षा ले ली अर्थात् रुद्रमाली मुनि होगया और अचिमालिनी आधिका बन गई । उन दोनों ने 'परस्पर यह मेरा पति होगा और यह मेरी स्त्री होगी' इस प्रकार निदान कर संन्यास धारण किया और मरकर सौधर्म स्वर्गं गये । वहीं भी दीर्घकाल तक रति सुखका उपभोग कर देव तो गन्धार देशके माहेश्वर पुरनगर में महाराज सत्यन्धर और उनकी रानी सत्यवतीके सात्यकि नामका पुत्र हुआ । तथा अचिमालिनी का जीव देवी सौधर्म स्वर्गसे न्युत हो सिन्धुदेश के विद्याली नगर में महाराज चेटक

तावन्त्र कीजियि न दृष्टः । ज्येष्ठा तु लज्जितो “अह वृहवृभगिन्या वैचिता” इति वैराग्येण पितृष्वभुयंशस्वत्या श्वचेत्यालये स्थितायत्प्रवरणमुले दीक्षां जपाहु । कन्त्कांशवणयाः कन्याया वातीं शुक्ला सत्यकिनामि कुमारः संकाराद्विरक्तो राज्य-लक्ष्मीं परित्यज्य समाधिगृप्त नला जिनदीक्षामग्रहोत् । त्रिगुप्तिगृप्तः सन् स तपस्तीव्रं कुर्वण उत्तरगोकर्णभद्रि मुक्त्वा कदाचित् राजगृहनगरसमीमे उच्चग्रीवपर्वते स्थितः । एकस्मिन् दिने तवृगुणनुरागिण्यस्तत्प्रत्यार्द्यस्त वन्दिसुमागताः । वन्दित्वा यावत्पिरेरवतरम्भि तावन्महामेषवृष्टिरागता । आर्यास्तु स्तिम्यन्त्यो दिव्यहृलीभूतं यत्र तत्र गताः । ज्येष्ठाया सात्यकिमुनेगुंहा प्रविष्टा । तत्र वस्त्रं निष्पीलयत्ती उपेष्ठा सात्यकिना मुनिना दृष्टा । समुत्तम्नकामोद्देशेण

और उनकी रानी सुप्रभादेवी ने उपेष्ठा नामकी तुरी हुई । उपेष्ठा सात्यकि के लिये पहले ही दे दी थी परन्तु विवाह नहीं हुआ था ।

इसी बीच में महाराज श्रेणिक का पुत्र धूर्तं अभय कुमार कन्या के लिये सेठ बन कर वही आया । वहीं उसने राजा की दो पुत्रियों चेलना और ज्येष्ठा को चला दिया और उपाय कर सुरज्ज द्वारा निकल गया । उन दोनों पुत्रियों में चेलना ने ज्येष्ठा को आभरण आदिके द्वारा वापिस लौटा दिया और स्वयं अकेली श्रेणिकके पास आ गई । जिन प्रतिभा लेकर जब ज्येष्ठा वहीं पहुँची तब वहीं कोई नहीं दिखा । इस घटना से ज्येष्ठा बहुत लज्जित हुई ‘मैं बड़ी बहिन के द्वारा छारी गई’ इस अभिप्राय से विरक्त होकर उसने अपनी बुआ यशस्वती नामकी आयिका के जो कि जिन मन्दिरमें रहती थीं चरण मूलमें दोक्षा धारण कर ली । देवीप्यमान सुवर्णके समान वर्ण वाली ज्येष्ठा कन्याका दीक्षा लेने का समाचार सुनकर सात्यकि नामक कुमार भी संसारसे विरक्त हो गया । उसने राज्यलक्ष्मी का परित्याग कर समाधि गृप्त नामक मुनिराज को नमस्कार पूर्वक जिनदीक्षा ले ली । तीन गुप्तियोंसे युक्त होकर तीव्र तप तपश्चरण करते हुए सात्यकि मुनि एकबार उत्तर गोकर्ण पर्वत को छोड़कर राजगृह नगर के समीप उच्चग्रीव पर्वत पर स्थित हुए । एक दिन उनके गुणों में अनुराग रखनेवाली आयिकाएँ उनकी वन्दना करनेके लिये आईं । वन्दना करके ज्योंही ही वे पर्वत से उतरने लगीं त्योंही बहुत भारी मेषवृष्टि आ पहुँची । आयिकाएँ भींग कर विहूल होती हुई इधर उधर चली गईं । परन्तु ज्येष्ठा नामकी आयिका सात्यकि मुनिकी गुफा में प्रविष्ट हुईं । वहीं

सा तेन भुक्ता । पुनरास्तोचना निन्दा गहणे च कृत्वा अमणवर्णे स्थितः । सा समर्मा शास्त्रार्थया आत्मा चेलन्याः समर्पिता । तत्र लिङ्गली सा पुनरभूत । स पुत्रोऽस्यकुमारेण स्वर्यंभूषुहार्या शिष्टः । तत्र रात्रौ स्वप्नदशाच्चेलनया स आनायितः । 'वर्धनोऽह्वा हं शमायित्वा स्वर्यंभूताभ्युक्तः । ज्येष्ठा तु निःशाल्या भूत्वा गता । आयिया पाइवे संधमनियमान् पालयन्ती स्थिता । स्वर्यंभूस्तु वर्धमान् शिशूना अपेटादिताङ्नेन सन्तापं करोति । तदेव्या चेलनया अपरमपि कालेनायुक्त दुष्ट्वा स्वर्यंभूरुक्तः । खलो जारजातो निर्लज्जः कि केनपि स्वभावं मुचति । भुक्तुटि कृत्वा दुर्बचनेन शूलभिन्न हव ताङ्गितः । पुनः स प्रणामं कृत्वा पृष्ठवान्—मातः । किमेतदुक्तं ? चेलनया तु न किमपि रक्षितं पथोक्तमुवाच । निजोऽस्ति-व्यतिकरं जात्वा उत्तरगोकर्णपर्वतं गत्वा सात्यकिमुनिं नत्वा वैराग्येण दिग्म्बरो भूत्वा उत्तरगोकर्णपर्वते स्थितः । गुरुशिक्षया मतो रुद्ध्वा स एकावशास्त्रानि शिखितः । तत्र रोहिणीप्रभृतयः पञ्चशतविंशा महातिचाया आगताः सिद्धाः । अपरा

वह कपड़ा निचोड़ने लगी । उसी समय सात्यकि मुनि की दृष्टि उस पर पड़ी । देखते ही मुनिके कामोद्रेक हो गया जिससे उन्होंने उसका उपभोग कर लिया । मुनि तो अलोचना निन्दा तथा गह्य कर मुनि धर्म में स्थिर हो गये परन्तु ज्येष्ठा आर्या गम्भीरता हो गई । जब शान्ति नामक प्रधान आर्यको पता चला तो उसने उसे चेलनाको सौंप दिया । चेलना के पास रहते हुए उसने पुनर उत्पन्न किया । उस पुत्रको अभय कुमारने स्वर्यंभू गुफा में डाल दिया । रात्रिके समय चेलना को स्वप्न दिला जिससे उसने उसे गुफा से बुलवा लिया तथा दर्शन सम्बन्धी अनिष्ट का शमन कर उसका स्वर्यंभू नाम रखा । ज्येष्ठा निःशाल्य होकर चली गई तथा आर्यका के पास संयम सम्बन्धी नियमों का पालन करती हुई रहने लगी ।

स्वर्यंभू ज्यों ज्यों बड़ा होने लगा त्यों त्यों चाँटा आदि की ताढ़ना से अन्य बच्चों को संताप पहुँचाने लगा । किसी समय रानी चेलना ने उसके और भी अनुचित कार्यको देखकर स्वर्यंभू से कहा—जो दुष्ट, जार जात तथा निर्लज्ज होता है वह क्या किसी भी कारण स्वभाव को छोड़ता है । चेलना ने भौंह टेही कर उक्त दुर्बचन कहे थे इसलिये स्वर्यंभू इतना पीढ़ित हुआ मानो किसी ने शूल से ही विदीर्ण कर दिया ही । उसने फिर प्रणाम कर पूछा—माता जो ! आपने यह क्या कहा है ? चेलना ने कुछ भी नहीं रख छोड़ा सब ज्योंका त्यों कह दिया । अपनी उत्पत्ति का समा-

अपि अंगुष्ठप्रसेनाप्रभृतयः सप्तशतसु द्विविद्यास्तस्य सिद्धाः । विद्यासामर्थ्येन सिंहो भूम्भा जनं भीषणति । तद्वृत्तान्तः केनचित् सात्यकेनिरूपितः । गुरुणा स ऊचे— मुने । तथ श्रीहेतुना विनाशी भविष्यति । तदश्रुत्वा यत्र स्त्रीमूलं न परयामि सप्ताहं तपः करिष्यामीति कैलासपवर्तं गत्वा तपः करुं लग्नः । तावद्विजयार्थ-दक्षिणश्रेणी मेघनिवद्धपत्तने कनकरथो नाम विद्याधरनरेत्रः । तद्देवी मनोरथा । देवदाहविद्युदसनी द्वौ पुत्रौ । एकवा देवदाहराज्ये स्थापयित्वा विद्युजिज्ञहं च युवराजं कृत्वा कनकरथी गुणवरगुरुचरणमूले दीक्षां जग्राह । प्रजप्तिविद्याप्रसावेण विद्युजिज्ञहेन देवदाहजितो निर्वाटितः । कैलासमागत्यसपरिवारो विद्यापुरु त्रुत्वा निभ्रंयः स्थितः । तस्य देवदारोः चतुर्लो महादेवः 'सन्ति योजनगत्वा कनका, तरंगवेगा, तरंगभासभन्नि चेति । भत्त्वोऽप्यतिमनोहरशरोराः योजनगत्वायां गंधिला गन्धमालिनी चेति द्वे धूषे जाते अतिविनीते । कनकायां कनकचित्रा कनक-माला चेति धूषे द्वे जाले तरंगवेगायां तरङ्गसेना तरङ्गवती चेति द्वे कन्ये संजाते ।

चार जानकर स्वर्यंभू उत्तर गोकर्ण पर्वत पर गया और सात्यकि मुनिको नमस्कार कर वैराग्य वश दिगम्बर साधु हो गया तथा उसी उत्तर गोकर्ण पर्वत पर रहने लगा । गुरु की शिक्षा से मन रोककर उसने ग्यारङ्ग अङ्ग सीख लिये । वहाँ उसे महान् अतिशयसे युक्त रोहिणो आदि पांचसौ विद्याएँ आकर सिद्ध हो गईं । विद्या की सामर्थ्य से वह सिंह बन कर लोगोंको छारने लगा । यह समाचार किसीने उसके गुरु सात्यकि मुनि से कह दिया । तब गुरु ने उससे कहा कि हे मुने । स्त्री के कारण तुम्हारा विनाश होगा । गुरुके बचन मुनकर वह कहने लगा कि 'मैं जहाँ स्त्री का भुख न देख सकूँ वहाँ तप करूँगा' ऐसा कह कर वह कैलाश पर्वत पर जाकर तप करने लगा ।

उसी समय विजयार्थ पर्वत की दक्षिण श्रेणी पर मेघनिवद्ध नामक नगर में कनकरथ नामका विद्याधरोंका राजा रहता था । उसको स्त्री का नाम मनोरमा था । उन दोनोंके देवदाह और विद्युजिज्ञ हानामके दो पुत्र थे । एक दिन देवदाह को राज्य पर स्थापित कर तथा विद्युजिज्ञ हान को युवराज बनाकर राजा कनकरथ ने गुणवर गुरुके पाद मूल में दोक्षा ले ली । उधर प्रज्ञप्ति विद्या के प्रभाव से विद्युजिज्ञ हान ने देवदाह को जोतकर निकाल दिया जिससे वह कैलास पर्वत पर आकर तथा विद्या से एक नगर

तरङ्गभासिन्यां सुप्रभा प्रभावती चेति ह्ये पर्तिकरे बभवन्तुः । एता अष्टाविंशति दिव्याम्बरहर्त्तर लक्ष्मीरिणी इव अचूचिष्ठरित्वास्तिष्ठति । एकवा कैलासोपरि मानससरसि जलक्रीडार्थमागताः पीनोन्नतस्तमशोभिताः स्नानं कुर्वतीस्ता रुद्रो ददर्श । मदनबाणीवक्षसि विद्धः । अभितो रुद्रो व्यामोहं प्राप । हेनासन्नस्थितेमकामवाणजर्जरितद्वदयेन चिन्तित उपायः । विद्यया सरस्तदस्थितानि वस्त्राभरणानि हारयति सम । ता अनुपमाः स्नानं कृत्वा तटमागत्य वस्त्राभरणानि पदयन्ति सम । व्याकुलितमनोभिस्ताभिर्मुनिसमीपं गत्वा स मुनिरुचे । स्नामिन् । न ज्ञायते देवानामपि प्रियाणि अहमाकं वस्त्राभरणानि केनचिदगृहीतानि । भगवन् । त्वं ज्ञानवान् ज्ञानासि निषिद्धतं कथय । रुद्र उवाच । जानाम्येव, यदि मामिच्छते यूर्य तदा इर्जयामि । एतद्वृत्त्वा विस्मित्य नवयोदवना विद्याधरकुमार्यं ऊचुः । मुने ! वर्य स्वच्छन्दचारिणीना विद्यामहात्म्यं कुतः । ततो वस्त्राभरणानि दत्त्वा शिपिविष्टः प्राह । निजमातरपितुगणं पृष्ठ्वा मम उत्तरं दत्त मूर्य । ताभिगृहं गत्वा पितुरस्य वार्ता कृता । पित्रा तु एकः कंचुकी संदेशाहरो हरं प्रेषितः । स

बसा कर सपरिवार निर्भय रहने लगा । उस देवदार की ओर महा देवियाँ थीं १ योजन गत्था, २ कनका, ३ तरङ्ग वेगा और ४ तरङ्ग भासिनी । चारों ही अत्यन्त सुन्दर शरीर की धारक थीं । योजन गत्था के गन्धिका और गन्धमालिनी नामकी दो अत्यन्त बिनीत पुत्रियाँ उत्पन्न हुईं । कनका के कनक चित्रा और कनक माला ये दो पुत्रियाँ हुईं । तरङ्ग वेगा के तरङ्ग सेना और तरङ्गवती ये दो पुत्रियाँ उत्पन्न हुईं और तरङ्ग भासिनी के सुप्रभा तथा प्रभावती ये दो पुत्रियाँ उत्पन्न हुईं । ये आठों ही कन्याएँ दिव्य आभूषणों से सुशोभित दिव्य वस्त्रों को धारण करने वाली देव कन्याओं के समान कञ्जनुकियों से चिरी रहती थीं । एक दिन वे सब कन्याएँ कैलास पर्वत पर मानस सरोवर में जल क्रीड़ा करने के लिये आईं । स्थूल तथा उठे हुए स्तनों से सुशोभित उन कन्याओं को स्नान करती हुई रुद्र ने देखा । देखते ही वह कामके बाणों से हृदय में धायल हो गया । अभित रुद्र व्यामोह को प्राप्त हो गया । समीप में स्थित तथा काम के बाणों से जर्जरित हृदय वाले रुद्र ने उपाय सोच लिया । उसने विद्या के द्वारा सरोवर के तट पर रखे हुए उन कन्याओं के वस्त्राभूषण उठवा लिये । वे अनुपम कन्याएँ स्नान कर जब तट पर आईं तब उन्होंने अपने वस्त्राभूषण नहीं देखे । जिनके चित्त व्याकुल हो रहे थे ऐसी उन रुद्रिकियों ने मुनि के पास जाकर कहा कि हे स्वामिद् ! देवोंको भी प्रिय

गत्वा मुनिमुवाच । स्वामिन् ! अस्मल्लवाम्ल्येवं मणति । यदि मेषनिबद्धं पत्तनं
गत्वा मेषनृपं तथा मेषनादं च दायिनं मिश्रदिव्यं त्रिकहर्षदायि त्रिपुरं पुरं प्रवेश-
यसि मां तदा जनमनोमोहनकारिणीमम् सुता अष्टा अपि दद्वामि । कर्पदिना
ओमिति अधिते कंदुमिता चतुर्वय राज्ञं उभा कृष्णस्त्रियो हर्षं चकार ।
‘मुहूर्तस्वजनकर्णण सर्वेण तत्र गत्वा सर्वं स्वमन्त्विरमानिनाय । तत्रोपचेष्यत्यरमादिती
बृत्तान्तं जगाद यथा दायिना राज्यमपहृतं । ईशान उवाच । राजन् ! यस्य
मणसि तदहं साधयामि, किमेकेन त्रिपुराभियेन ? त्रिजगदपि संहृतामि । तदनन्तरं
सरोषो देकदाहर्षयरहितो नानाशुक्रध्वजचामरसैत्यसहितः शंकरं तीत्वा तत्र गतः ।
पुरं वैष्णितवान् । विशुज्जित्वस्तु निर्गतः, षट्कशेषरस्तेन सह त्रैलोक्यचित्तचम-

लगने वाले हमारे षट्काभूषण किसी ने ले लिये हैं पर जान नहीं पड़ता
किसने लिये हैं ? आप ज्ञानवान् हैं अतः निहित जानते हैं । बतलाइये,
किसने लिये हैं ? रुद्र बोला, जानता ही हूँ यदि तुम सब मुझे चाहो तो
मैं दिखला दूँ । यह सुनकर आहचर्य में पड़ो नवयौवनवती किशाधर
कुमारियाँ बोलीं—मुने ! हम स्वच्छन्दचारिणी नहीं हैं हमारे माता
पिता जानते हैं, स्वच्छन्दचारिणी स्त्रियों को विद्या का माहात्म्य
कैसे प्राप्त हो सकता है ? तब उनके षट्काभरण देकर रुद्र ने कहा—
अच्छा आप लोग अपने माता पिता से तथा सपरिवार से पूछकर
उत्तर देखो ।

उन कन्याओं ने घर जाकर पिता के आगे सब समाचार कहा । पिता
ने एक कञ्चुकी को ढूत बनाकर रुद्र के पास भेजा । कञ्चुकी ने जाकर
मुनि से कहा—स्वामिन् ! हमारे स्वामी ऐसा कहते हैं—यदि आप मेष
निबद्ध नगर जाकर मेषनृप तथा मेषनादको जो कि हमारे दासी हैं—
सम्पत्ति पर अधिकार किये बैठी हैं निकालकर मानसिक, वाचनिक और
शारीरिक के भेद से तीनों प्रकार के हर्षों को देनेवाले त्रिपुर नगर में मेरा
प्रवेश करा दें तो मनुष्यों के मनको मोहित करने वाली अपनी आठों
पुत्रियाँ आपको दे दूँ । रुद्र ने ‘ओम्’ कह कर स्वीकृति दे दी । कञ्चुकी ने
आकर सब समाचार कहा जिससे विद्याधर राजा हर्ष को प्राप्त हुआ । वह
समस्त मित्र तथा परिवार के लोगों के साथ जाकर रुद्र को अपने घर
लिवा लाया । वहाँ बैठा कर उसने, दासोंने जिस प्रकार राज्य अपहृत

१. त्रिकहर्ष वायिनि क० ।

२. सुदृश्युजम च० ।

त्वारकारकं समनीकं चकार । ज्वालिन्या विद्यया ज्वालयित्वा रिपुं भस्यामास । त्रिपुरं गृहीत्वा देवदाहः सुखी चभूव । जामातरं त्रिपुरं नीत्वा तस्मै चन्द्र-
शेखराय अष्टा अपि कन्या अवित । सास्तर्ण्येयुनमसहमाना अष्टा अपि मृताः ।
देवदारुसगस्याऽटचन्द्रैः सुहृदिभः शत्रुमारकस्य भूतेषास्य मालतीमाला हृष कोमल-
मुजाः पौचशतकन्याः पुनर्वस्ताः । ता अपि स्वण्डपरसोविषभरतेन दिनं दिनं प्रति
भुक्ता एकैकाः सर्वा अपि मम्रुः । तदा तासां मरणे गिरीशविचल्ताव्याकुलित्वमनाः
स्थितः । अथ गौर्या सह यथा संयोगो जातस्तत्कथां कथयामि शृणुत भव्याः । ।
पूर्वेभवे शत्रुवेका ज्ञानितका देशान्तरं यान्ती यार्गश्चमध्यान्ता धोवरेण नदीमुक्ता रिता ।
तस्य मत्स्यद्यम्बृशी शीतलशरीराभ्यर्थेन सा वायामिता । तथा दिवभास्या कर्मवद्वेन
निदानं कृतं—अन्यस्मिन् भवेत् प्रकटितपरमस्नेहोऽयं मम भर्ता भविष्यतीति । ईदूरां

किया था वह सब समाचार प्रारम्भ से लेकर रुद्र को सुनाया ।
रुद्र ने कहा—राजन् ! तुम जो कह रहे हो वह मैं अभी सिद्ध किये देता
हूँ । एक त्रिपुर के राजा से क्या मैं तो तीनों जगत् का संहार कर
सकता हूँ ।

तदनन्तर रोष से भरा देव दाह निर्भय होकर नाना छत्र ज्वाला चमर
और सेना से सहित रुद्रको साथ लेकर वहाँ गया । उसने नगर को घेर
लिया । विद्युज्जिह्वा बाहर निकला रुद्र ने उसके साथ तीन लोक के चित्त
में चमत्कार उत्पन्न करने वाला युद्ध किया तथा ज्वालिनी विद्यासे शत्रु
को जलाकर भस्म कर दिया । देवदाह त्रिपुर को लेकर सुखी हुआ ।
तदनन्तर जमाता को त्रिपुर ले जाकर उसने आठों कन्याएँ उसके लिये दे
दीं । परन्तु वे आठों कन्याएँ उसके मैथुन को सहन नहीं कर सकीं अतः
मर गईं । देवदाह विद्याधरके अष्ट चन्द्र नामक मित्र थे । उनकी मालती
की माला के समान्तरे कोमल भुजाओं वाली पाँचसौ कन्याएँ थीं । शत्रु को
नष्ट करने वाले रुद्र के लिये उन्होंने वे पाँचसौ कन्याएँ पुनः दे दीं परन्तु
रुद्रके विषम रत के कारण एक-एक दिनके उपभोग से एक-एक कर वे सब
मर गईं । उन सबके मर जाने पर रुद्र चिन्ता से व्याकुलचित्त हो उठा ।
अब गौरी के साथ जिस प्रकार संयोग हुआ वह कथा कहता हूँ हे भव्य
जीवो ! सुनो—

पूर्व भव में एक साध्वी दूसरे देश को जाती हुए मार्ग के श्रम से थक
गई । एक धीर ने उसे उस नदी से पार उतारा । उस धीर के शीतल
शरीर के स्पर्श से वह साध्वी संतुष्ट हुई तथा विषय की आशा से कर्मवदा
विदान कर दैठी कि अन्यभव में यह धीर परम स्नेह को प्रकट करले

निदानं कुत्वा कायं विमुच्य सौधर्मेन्द्रस्य देवी जाता । कैवर्तस्तु संसारे भ्रमित्वा मिथ्यातपः कुत्वा ज्येष्ठासुसो जातः । अथ सावस्तिपुरे राजा वासवः । तन्महादेवी मित्रवती । तथा विद्युन्मती नामनी कन्या जनिता । तदिदंष्ट्रस्य विद्यावरत्य सा दत्ता । सौधर्मेन्द्रदेवी च्युत्वा विद्युन्मतीगर्भे स्थिता । नभमे मासे कष्टेन जनिता । विद्युन्मती विद्याधरी पीडावशेन निविन्ना (णा) सतो सावस्तिनगरे पर्वतगृहायां ल्यजिता । तत्र गुहायां अतक्षो द्विजपुण्य क्रिडितुं कन्यापुण्येनागताः । उमा उमा इति शब्देन रठन्ती तांभिदृष्टा उमेति नाम कुत्वा सा कोमलाञ्जी करुणया गृहमानीता । ब्राह्मणपुत्रीभिश्चतसुभि सा कन्या राजकुले 'विद्युन्मत्या [मित्र वत्या] 'महादेव्या 'वासवनृपत्न्या दर्शिता । तथापि गृहीत्वा पुण्याः पुत्री निज-

बाला मेरा भर्ता हो । ऐसा निदान कर वह शरीर छोड़ सौधर्मेन्द्र की देवी हुई । वह धीवर संमार में भ्रमण कर मिथ्या तप के प्रभाव से ज्येष्ठा का पुत्र हुआ ।

तदनन्तर सावस्तिपुर में एक वासव नामका राजा रहता था उसकी रानी का नाम मित्रवती था । मित्रवती ने विद्युन्मती नामकी कन्या को जन्म दिया तथा वह कन्या विद्युदंष्ट्र नामक विद्याधर को ही गई । साढ़वी का जीव जो सौधर्मेन्द्र की देवी हुई थी वहाँ से च्युत होकर विद्युन्मती के गर्भे में आई और नीवें मास में बड़े कष्ट से उत्पन्न हुई । विद्युन्मती विद्याधरी प्रसवकालिक पीड़ा से अत्यन्त स्त्रिन हो गई थी इसलिये उसने उस कन्या को सावस्ति नगर के समीप पर्वत की गुफा में छुड़वा दिया । कन्या के पुण्य से प्रेरित हुई चार ब्राह्मण कन्याएँ कीड़ा करने के लिये उस गुफामें आईं । ब्राह्मण कन्याओं ने 'उमा उमा' इस

१. अन्तर्याः पाठो भिन्न भिन्न पुस्तकेषु यथा दुदि पाठकः संशोषितः । शुद्ध पाठसु ममदृष्टौ एवं प्रतिभाति ब्राह्मण पुत्रीमित्रवतसुभिः सा कन्या विद्युन्मत्या इति महाविद्याया गात्वा राजकुले महादेव्या वासवनृपत्न्याः सा बालिका दर्शिता ।

"ब्राह्मण को चार पुत्रियों ने महाविद्या से यह जानकर कि यह 'विद्युन्मती' की पुत्री है, राजकुल में वासव नृप की पत्नी—मित्रवती को वह कन्या दिक्षिलाई' इति च तद्यन् ।

२. महाविद्या च० (?) महाविद्यायाः इति क प्रती लिङ्गित्वा केनापि महादेव्या इति संशोषितम् ।

३. रम्या इति संशोषित ।

धार्या: पंडितायाः पालयितुं दत्ता । अष्टचन्द्रनुपेषु प्रधानं 'चन्द्रसेनाभिधानो
गग्नाङ्गे संचोदितविमानं एकस्मिन् दिने सावस्तिमागतः । तस्य कुलस्त्रिया
निषमगिन्द्या धर्यत्वरहितायाः सन्मानपूर्वकं भित्रवस्था वासवमृपमायेन गिरिकर्णि-
कानाम्याः सा उमा दत्ता । तयापि प्रतिपाल्य नवयीवना कृता सा सुन्दरी सुरकूट-
पुरेशविद्याधरेशतद्विग्रहस्य परिषाधिता । सा मदोन्मत्तं मुष्टु सुरसानुरागा यदा सुरज-
सुखमनुभवति तदा तद्विद्वेशो भूतः । उमातु योवनमदेन स्वच्छन्दा जाता । विष्म-
स्तोमा देवदारुलगरे एकस्मिन् दिने गता । देवदारणा तच्चारं जात्वा रतिगुणाधिका
सा स्थाणोविद्याकिभवस्यार्थमानवेनार्थसनस्याङ्गोकरणेन च तस्य भार्या पुनर्भू-
जीता । भूतेशस्तु तस्या मुखविशप्रसूनं निरीक्षमाणोऽहमिशं तिष्ठति । ॥ सरित्सु

शब्द से रोती हुई उस कन्या को देखा । वे उसका उमा नाम रखकर उस
को मलाङ्गी को दयाभाव से घर लेती आई । उन चारों ब्राह्मण कन्याओं ने
उस कन्या को राजमहल में ले जाकर वासव राजा को महादेवी मित्र-
वती को दिखलाया और उसने भी 'यह हमारी पुत्री की पुत्री है' यह जान
कर ले ली तथा पालन करने के लिये अपनी पण्डिता नामकी धायको
दे दी ।

तदनन्तर अष्ट चन्द्र नामक विद्याधर राजाओं में प्रधान इन्द्रसेन
नामका राजा एक दिन आकाशमें विमान चलाता हुआ सावस्ति नगर
आया । चन्द्रसेन की स्त्री सत्तान रहित थी तथा रिश्ते में वह सावस्ति के
राजा वासव की रानी मित्रवती की बहिन होती थी उसका नाम गिरि-
कर्णिका था । मित्रवती ने वह उमा नामकी पुत्री उसे सन्मान पूर्वक दे
दी । तथा उसने भी पाल कर उसे नवयीवनवती कर दिया । वह सुर-
कूट नगर के स्वामी तडिद्वेग नामक विद्याधर राजा को विवाही गई ।
उमा मदोन्मत्त थी तथा सुरत-संभोग में अत्यन्त अनुराग रखती थी । एक
दिन जब वह संभोग सुख का अनुभव कर रही थी उसी समय तडिद्वेग का
मरण हो गया । उमा योवन के मद से स्वच्छन्द हो गई । विधवा उमा
एक दिन देवदार के नगर आई वहाँ देवदार के हारा उसे रुद्र की
प्रवृत्ति का पता चला । वह स्वर्य रतिगुण से अधिक था अर्थात् अधिक
रतिको अच्छा मानती थी इसलिये रुद्र की भार्या हो गई । रुद्र ने उसे
विद्या रूप ऐश्वर्य का आधा भाग दिया अपना अर्धासन प्रदान किया ।
रुद्र उसके सुख कमलको रात दिन देखता रहता था । वह सीता, सीतोदा

सीतासीतोदादिषु सरस्नु पदमादिषु गिरिषु मेर्वादिषु लबणोदादिषु समुद्रेषु देवारप्यादिषु च बनेषु सर्वमंगलथा तथा सार्वमनुविने रमण उवरायां पर्यटति । स जटामुकुटविभूषितो वृशाल्लो भस्मोदृश्वलितो लीकानेव वदति—अह विजग-त्सामी, कर्ता, हर्ता, शिवः, स्वर्यभूः, शम्भुः, ईश्वरः, हरः, शंकरः, सिद्धः, बुद्धः, त्रिपुरारिः, त्रिलोचनः, प्रकृतिशुद्धः, सर्वज्ञः, उमापति:, भवः, ईशः, ईशानः, मृडः, मृत्युञ्जयः, श्रीकण्ठः, वामदेवः, महादेवः, व्योमकेश इत्यादीनि मम नामानि । अहमेव वर्त्तेष्यरो नास्ति । मायाकी विजयार्थं बहुनि दिनान्युषित्वा जनमनांसि मैर्ये रंजयित्वात् भरतक्षेत्रमागत्य तेन शीक्षास्त्र प्रकटीकृत । तद्विजिताः शौचाचार्या बहको बभूवुः । दर्शितगुणा गणाः प्रभूता भिस्ता:, तेः परिवृत्ताऽस्त्वलित्प्रतापोऽनवरतमुषाप्रेमानुरागो द्वादश वर्षाणि विषयसीक्ष्य भुजानो महा हृतविषक्षो भ्रमितः । तत्प्रताप दृष्ट्वा सर्वेष्यपि विद्याधरा वतिमीताः । तंविचारित एष महा-विद्यावलीयानस्मान् भारवित्का उभये अपि वेष्यो निश्चितं प्रहोष्यति । केनोपाये-

आदि नदियों में, पद्म आदि सरोवरों में, येरु आदि पर्वतों में लबणोद आदि समुद्रों में तथा देवारप्य धर्ति वन्नों में सर्व मालूल उदास उपर उमा के साथ प्रतिदिन रमण करता हुआ पृथिवी पर घूमने लगा । जटा रूप मुकुट से विभूषित, बैल पर बैठा एवं मस्म रमाये हुए लोगों से यह कहता था कि मैं तीन जगत् का स्वामी हूँ, कर्ता हूँ, हर्ता हूँ, शिव हूँ, स्वर्यभू हूँ, शम्भु हूँ, ईश्वर हूँ, हर हूँ, शंकर हूँ, सिद्ध हूँ, बुद्ध हूँ, त्रिपुरारिहूँ, त्रिलोचन हूँ, प्रकृति से शुद्ध हूँ, सर्वज्ञ हूँ, उमापति हूँ, भव हूँ, ईश हूँ, ईशान हूँ, मृड हूँ, मृत्युञ्जय हूँ, श्रीकण्ठ हूँ, वामदेव हूँ, महादेव हूँ, व्योमकेश हूँ, इत्यादि सब मेरे ही नाम हैं शिव मैं ही हूँ, और दूसरा नहीं है । उस मायाकी ने विजयार्थं पर्वत पर बहुत दिन तक रह कर मन्त्रों से लोगों के मनको अनुरक्त किया । तदनन्तर भरत क्षेत्र में आकर उसने शौच शास्त्र प्रकट किया । उसके द्वारा दीक्षा को प्राप्त हुए बहुत से शौचाचार्य होगये । उसके गुणोंको देखकर बहुत से गण आ मिले । उन सब से विरा, अस्त्व-लित प्रताप का धारक, निरन्तर उमाके प्रेम से अनुराग रखने वाला एवं विषय सुखका उपभोग करता हुआ वह रुद्र बारह वर्ष तक पृथिवी में शत्रु रहित हो घूमता रहा । उसके प्रताप को देखकर सभी विद्याधर अत्यन्त भयभीत हो गये । उन विद्याधरोंने विचार किया कि यह महा-विद्याओं से अत्यन्त बलवान् है अतः हम सबको मारकर निश्चित ही दोनों श्रेणियों को ले लेगा । जब तक यह हम लोगोंको नहीं मारता है तब तक किस उपाय से इस दुष्ट को मारा जाय ?

नाय लोगों हृत्यते यावत्त्र हृतीति । लोकं चिन्ताकुलं दृष्ट्वा मात्रा गिरिकणिका-
नाम्या निजसुतोमा भ्रेद पृष्ठापुत्रि उमे ! भम जामातुविद्याः कदाचिदपि अवधा
भवति न देति, उमा प्राह—मातृगिरिकणिके । यदायं यथा सह सुरत्सुखमनु-
भवति तदा सुरत्काले विद्या अस्य न स्फुरन्ति । इत्युपदेशं लक्ष्या । गन्धारदेशो
दुरुद्धनगरे वनप्रदेशो सुरत्माद्वाः, तैविद्याधरैः कान्तासहितस्य शिरशिविष्णुः ।
तस्मिन् हृते तद्विद्यामिदेश उपद्रुयोद्वासितः । यृहे युहे छतचौरः प्रविष्टः जीवघर्न
मुख्याति । सन्नगरस्य राजा विश्वसेनेन नन्दिष्येण मुनिः पृष्ठः । भगवन् !
“मारिकोपसर्गस्य कः प्रत्ययः । मुनिरुद्याच । रुद्रनामा विद्याधरस्तव नगरे विद्या-
नामज्ञामापणं कुद्याज्ञो मारितस्तेनोपसर्गो बनति । तहि स्वामिन् ! उपसर्गविमासः
कथं भविष्यति ? तल्लिंगं छित्वा उमोपसर्वे स्थापयित्वा पदि पूजयन्ति भवत्सत्त्वा
विद्या उपशाम्यन्ति । उत्थात उपशाम्यतीति तदशूल्वा विश्वसेनसतत्र गत्वा

लोगों को चिन्ताकुल देख माता गिरिकणिका ने अपनो पुत्री उमा से
पूछा कि बेटी उमे ! हमारे जामाता की विद्याएँ कभी अनाधीन होती हैं
या नहीं ? उमा ने कहा—माता गिरिकणिके ! जब यह हमारे साथ
संभोग सुखका अनुभव करता है तब संभोग काल में इसे विद्याएँ स्फुरित
नहीं रहतीं । गिरिकणिका माता इस उपदेश को प्राप्त हुईं । तदनन्तर
गन्धार देश सम्बन्धी दुरुण्ड नगर के वन प्रदेश में जब वह संभोग कर
रहा था तब उन विद्याधरों ने स्त्रो सहित उसका शिर काट डाला । रुद्र
के मरने पर उसकी विद्याओं ने उपद्रव कर उस देशको छाड़ कर दिया ।
धर धर में यम प्रविष्ट होकर लोगों के प्राण रूपी धनको चुराने लगा ।
उस नगर के राजा विश्वसेन ने नन्दिष्येण मुनि से पूछा कि भगवन् ! इस
भारी रोग के उपसर्ग का कारण क्या है ? मुनि बोले—रुद्र नामका विद्या-
धर तुम्हारे नगर में विद्याओं से क्षमा याचना नहीं कर सका उसके पहले
ही उसे मार डाला गया इसी कारण उपसर्ग हो रहा है । राजा ने फिर
पूछा कि स्वामिन् ! उपसर्ग का विनाश किस तरह होगा । इसके उत्तर में
मुनि ने कहा कि यदि आप लोग उसका लिङ्ग काट कर तथा पार्वती की
योनि में रखकर पूजा करेंगे तो विद्याएँ शान्त हो जावेंगी । “उपद्रव
शान्त होता है” यह सुनकर राजा विश्वसेन ने वहाँ जाकर देशके सब
लोगों से उक्त बात कही । लोगों ने ईटों का ऊँचा चूतरा बनाकर उस
पर काटकर शिवका लिङ्ग रखा उस लिङ्ग पर योनि को स्थापना की

सर्वोऽपि जनपदो व्याहृतः । इष्टकाभिरुच्चां मंचिकां कृत्वा तल्लिं छिस्वा तदुपरि
कृत्वा तल्लिगोपरि सुरतमुखस्थोर्णि तदुपरि धृत्वा तमस्ये लब्धंमणि—शिवलिङं
स्मापयित्वा जलेन प्रक्षालय परिमलबहुलेन चम्दनेन विलिप्य पुष्याक्षतादिभिरुच्चै
राजाशया पूजयित्वा 'तदिन्द्रिययोर्नमस्कारः कृतः तदा विद्याभिः क्षमा कृता, लोक-
स्योपसर्गस्य विनाशो जातः । तदिनमारभ्य प्रहृतलज्जं लोकस्येश्वरं लिम् पूज्यं
आतभित्यज्ञानिभिरुच्चैः श्रीमद्भूगवदहृत्परमेश्वरं परित्यज्य स एव देवः परमात्मी-
कृतः ।

इति मोक्षप्राभृते छद्रोलत्युपाख्यानं जिनमुद्रापरिभ्रष्टत्वसूचकं समाप्तम् ।

जिणमुद्रवं सिद्धिसुहं हवेह नियमेण जिणवरुदिवद्वा ।

सिद्धिणे विण रुच्छहु पुण जीवा अच्छ्रुतिभवगहृणे ॥४७॥

जिनमुद्रा सिद्धसुखं भवति नियमेन जिनवरोद्दिष्टा ।

स्वप्नेषि त रोचते युनः जीवा तिष्ठन्ति भवगहृने ॥ ४७ ॥

(जिणमुद्रा रितिहुहं) जिनमुद्रा सिद्धिपुहं आलोचनाभिलमणमुक्तिसुखं—
सिद्धिसुखपोगाजिजनमुद्रैव सिद्धिसुखमुपचर्यते । (हवेह) भवति । (नियमेण

और उसके मध्य में खड़ा मणिमय शिवलिङ्ग रख कर जलसे उसका
प्रक्षालन किया, चन्दन का विलेपन लगाया, पुष्य तथा अक्षत आदि से
पूजा की इस प्रकार राजा की आज्ञा से लोगों ने उमा और रुद्र दोनों की
इन्द्रियों को नमस्कार किया । उसी समय विद्याओं ने उमा कर दी और
ओगों का उपसर्ग नष्ट हो गया । उसी दिन से लेकर लज्जा को नष्ट
करने वाला शिवलिङ्ग लोगोंका पूज्य हो गया तथा अज्ञानी लोगों ने
श्रीमान् भगवान् अरहन्त परमेश्वर को छोड़ कर उस देव को ही परमात्मा
मान लिया ।

इस प्रकार मोक्षप्राभृत में जिन मुद्रा से भ्रष्टता को सूचित करने
वाला छद्रोलपति का कथानक समाप्त हुआ ।

गायार्थ—जिनेन्द्र भगवान् के ढारा कही हुई जिनमुद्रा नियम से
सिद्धि सुख रूप है । जिन जीवों को यह जिनमुद्रा स्वप्नमें भी नहीं रुचती
वे संसार रूप बनमें रहते हैं ॥ ४७ ॥

विशेषार्थ—यही कारण में कार्य का उपचार कर जिनमुद्रा को ही
सिद्धि सुख रूप कहा है । बिना जिनमुद्रा-दिगम्बर वेष धारण किये मोक्ष

१. 'तदावेदभगवोः द्वयोः' इति वर पाठः (३० टिं) ।

जिणकर्हिद्वा) नियमेन निश्चयेन, कर्थभूता जिनमुद्रा ? जिनवरोहिष्टा केवलि-प्रतिपादिता । तत्त्वस्थं पूर्वमेवोक्तं वर्तते । (सिविणे चिण हच्छइ पुण) सा जिनमुद्रा जीवस्य स्वप्नेऽपि निरायामयि न रोचते । हच्छातोः प्रयोगे चतुर्थी प्रोक्ता “यस्मै दित्या रोचते एतदते वा तत्सदातन्” इति वाक्यम् निर्ददाते अनुरूपं तद्युक्तं, कस्मादिति चेत् ? यदा रोचते तदा संप्रदातं यदा तु न रोचते तदा घट्टी-प्रयोग एव । स्वप्नेऽपि न रोचते पुनर्जीवस्येति राम्यन्धः । (जीवा अच्छंति भव-गहणे) येन कारणेन जिनमुद्रा न रोचते भावचारित्रं भावचारित्रमिति लोकादि-मिराब्रेह्यते तेनैव कारणेन जीवास्तिष्ठन्ति भवगहने संसारवने । रुद्धादिवत्-अष्टजिनमुद्रा नरकाद्ये पतस्ति ।

परमप्य ज्ञायतो जोई मुच्चेह मलदलोहेण ।

णादियदि णवं कर्मं णिविद्वहुं जिणकर्विवेहिं ॥४८॥

परमात्मानं व्यायन् योगी मुच्यते मलदलोभेन ।

नाद्विष्यते नवं कर्म निदिष्टं जिनवरेन्द्रैः ॥ ४८॥

(परमप्य ज्ञायतो) परमात्मानं निजात्मस्वरूपं व्यायन् । (जोई मुच्चेह मलदलोहेण) योगी व्यायवान् मुनिमुच्यते, परिलिप्यते केन ? मलदलोभेन मल पापं ददातीति मलदः स ज्ञासी लोभो धनाकाङ्क्षा तेन मलदलोभेन । (णादियदि णवं कर्मं) लोभरहितो मुनिनार्थियते न बध्नाति, नवं कर्म अभिनव पापं, पूर्वोपाजितं

की प्राप्ति होना संभव नहीं है । जिनमुद्रा का यथार्थं रूप केवली भगवान् ने प्रतिपादित किया है । जिन जीवों को यह जिनमुद्रा साक्षात् तो दूर रही स्वप्नमें भी नहीं रुचतो वे इस संसार रूप अटबीमें ही विद्यमान रहते हैं । लोका आदि लोग बार बार भावचारित्रं, भावचारित्रको ही रट लगाते हैं परन्तु भावचारित्र के अनुसार जिस जिनमुद्रा की आषश्यकता है उसे स्वप्न में भी अच्छा नहीं समझते—आदर को दृष्टि से नहीं देखते तब सिद्धिकी प्राप्ति को सकती है ? जो जीव जिनमुद्रामे अष्ट हो जाते हैं वे रुद्धादि के समान नरक आदि कुरुतियों में पड़ते हैं ।

गाथार्थ—परमात्मा का व्याय करने वाला योगी पाप दायक लोभ से मुक्त हो जाता है और नवीन कर्म बन्धको नहीं करता ऐसा जिनेन्द्र देवने कहा है ॥ ४८ ॥

विशेषार्थ—परमात्मा-निज आत्म स्वरूप को कहते हैं उसका व्याय करने वाला मुनि, पाप उत्पन्न करने वाले लोभ से छूट जाता है लोभ

तु स्वयमेव शीघ्रते । (जिद्धिं जिष्वरित्वेहि) निविष्टं कपितं, जिनवरेन्द्रः
जिनवरा एव इन्द्रास्त्रभुवनप्रभवस्तैजिनवरेन्द्रः सर्वेन्द्रीतरागीरिति शेषः ।

होङ्कण दिद्वचरित्तो दृढसम्मतेण भावियमईओ ।

आयंतो अप्याणं परमपर्यं पावए जोई ॥४९॥

भूत्वा दृढचरित्रः दृढसम्यक्त्वेन भावितमतिः ।

ध्यायन्नात्मानं परमपदं प्राप्नोति योगी ॥४९॥

(होङ्कण दिद्वचरित्तो) दृढचरित्रोऽपलितचारित्रो भूत्वा । (दिद्वचरित्तो
भावियमईओ) दृढसम्यक्त्वेन चलमलिनतारहितसम्यग्ददर्शनेन भावितमतिस्तु
वासितमनाः । (आयंतो अप्याणं) ज्ञानवलेन ध्यायन्नात्मान । (परमपर्यं पावए
जोई) परमपदं केवलज्ञानं निवाणं च प्राप्नोति, योगी भेदज्ञानवान् मुक्तिः ।

चरणं हृवह सधाम्मो धम्मो सो हृवह अप्यसमभावो ।

सो रागरोपरहिओ जीवस्स अप्यण्णपरिणाम्मो ॥५०॥

धर्मं भवति स्वधर्मः धर्मः स भवति आत्मसमभावः ।

स रागरोपरहितः जीवस्य अनन्यपरिणामः ॥५०॥

रहित मनुष्य नवीन कर्मबन्ध को नहीं करता है किन्तु उसके पूर्वोपाजित
कर्म ज्ञान हो जाते हैं ऐसा जिनेन्द्र देखने कहा है ॥ ४८ ॥

गाथार्थ—योगी-ध्यानस्थ मुनि, दृढचारित्र का धारक तथा दृढ-
सम्यक्त्व से वासित हृदय होकर आत्मा का ध्यान करता हुआ परम पद-
को प्राप्त होता है ॥ ४९ ॥

विशेषार्थ—जो दृढधारित्र है अर्थात् चारित्रसे कभी विचलित नहीं
होता और दृढसम्यक्त्वसे अर्थात् चल मलिनता आदि दोषोंसे रहित
सम्यग्दर्शनसे जिसकी बुद्धि सुसंस्कारित है ऐसा योगी आत्मा का
ध्यान करता हुआ परमपद—केवलज्ञान और निवाण को प्राप्त होता
है ॥ ४९ ॥

गाथार्थ—चारित्र आत्मा का धर्म है, अर्थात् चारित्र आत्मा के धर्म
को कहते हैं, धर्म आत्माका समभाव है अर्थात् आत्माके समभाव को
धर्म कहते हैं, और समभाव राम द्वेष से रहित जीवका अभिन्न परिणाम
है अर्थात् रामद्वेष से रहित जीवके अभिन्न परिणामको समभाव कहते
हैं ॥ ५० ॥

(चरणं हवह सवन्नो) चरणं चारित्र भवति स्वधर्मं आत्मस्वरूपं । (धन्मो
सो हवह अप्पसमभावो) धन्मो भवति, कोउसी ? स एव यः स्वधर्मं आत्मस्वरूपं,
स धर्मः कथंभूतः ? अप्पसमभावो—आत्मसमभाव आत्मसु सर्वजीवेषु सभभावः
समतापरिणामः, यादृशो मोक्षस्वाने सिद्धो दर्शते तावृषा एव ममात्मा शुद्धबुद्धैक-
स्वभावः तिद्वप्तमेवरसमानः यादृशोऽहं केवलशान स्वभावस्तादृश एव सर्वोऽपि
जीवराशिरश भेदो न कर्तव्यः । (सो रागरोपरहितो जीवस्त्र अण्ण्यपरिणामो)
स आत्मसमभावः कथंभूतस्तस्य लक्षणं निरूपयन्ति भगवानः—स आत्मसमभावो
रागरोपरहितो भवति ये प्रति प्रीतिलक्षणं रागं करोमि सोऽप्यहमेव, ये प्रति
अप्रीतिलक्षणं द्वेषं करोमि सोऽप्यहमेव तेन रागरोपरहितो जीवस्यात्मनेऽप्यपरि-
णाम एकलोलीभावः समत्वमेव परमात्मित्वं ज्ञात्यस्मिहि । उषा शोक्ता—

जीवा जिष्वर जो मुण्ड जिष्वर जीव मुण्ड है ।

सो समभावपरिटिथ्यां लहू णिवाणु लहै ॥ १ ॥

विशेषार्थ—चारित्र स्वधर्मं है—आत्मा का स्वरूप है, आत्मस्वरूप
जो वर्म है वह आत्म समभाव है अर्थात् सब जीवों में समता भाव है ।
मोक्ष स्थान में जिसप्रकार सिद्ध परमेष्ठो विद्यमान हैं उसी प्रकार शुद्ध
बुद्धेक स्वभाव वाला मेरा आत्मा है । जिस प्रकार मैं केवलशान स्वभाव
वाला हूँ उसी प्रकार समस्त जीव राशि केवलशान स्वभाव वाली है
शुद्धनय से इनमें शक्तिकी अपेक्षा भेद नहीं करना चाहिये । आत्म
समभाव रागद्वेष से रहित है अर्थात् जिसके प्रति प्रीतिरूप राग करता हूँ
वह भी मैं ही हूँ और जिसके प्रति अप्रीति रूप द्वेष करता हूँ वह भी मैं
ही हूँ इसलिये रागद्वेष से रहित जीवका जो अनन्य परिणाम—एक लोली-
भाव रूप समता परिणाम है वही परम चारित्र है ऐसा जानना चाहिये ।
जैसा कि कहा है—

जीवा जिष्वर—जो जीवोंको जिनेन्द्र तथा जिनेन्द्रको जीव जानता
है वह समभाव में स्थित है तथा समभाव में स्थित योगी शीघ्र ही निर्वाण
को प्राप्त होता है ।

१. यह कथन प्रभ्यबुद्धि की अपेक्षा है पर्यायदृष्टि से संसारी और चिठ्ठ जीवमें
शहान् जलतेर है ।

जह कलिहमणि विशुद्धो परदब्द्यजुदो हवेइ अण्णं सो ।
तह रागादिविजुतो जीवो हवदि हु अणण्णशिहो ॥५१॥

यथा स्फटिकमणि: विशुद्धः परदब्द्ययुतो भवति अन्यः सः ।

तथा रागादिविषयुक्तः जीवो भवति स्फुटमन्यान्यविधः ॥५१॥

(जह कलिहमणि विशुद्धो) यथा येत प्रकारेण स्फटिकमणि: स्वभावेन विशुद्धो निर्मलो बत्तते । (परदब्द्यजुदो हवेइ अण्णं सो) परदब्द्येण जपापुण्ड्रादिना युतः, अण्ण—अन्यान्यादृशो भवति । (तह रागादिविजुतो) तथा तेनैव स्फटिकमणिप्रकारेण रागादिभिविदेषेण युक्तः स्वादिरागयुतो रागादिमान् ।

[इस भास्त्र ध्या भाव प्रवधनस्तार के—

चारितं ललु धर्मो धर्मो जो सो सम्पोत्ति णिदिवद्वो ।
मोहक्षसोहु विहिषो परिणामो अप्पणो हु समो ।

गाथाके समान जान पड़ता है अर्थात् निश्चय से चारित्र का अर्थ धर्म है, धर्मका अर्थ सम परिणाम है और समपरिणाम का अर्थ रागद्वेष से रहित आत्माका अभिन्न परिणाम है परन्तु संस्कृत टीकाकार ने दूसरा ही भाव प्रदर्शित किया है जो ऊपर स्पष्ट किया गया है ।]

गाथार्थ—जिस प्रकार स्फटिक मणि स्वभावसे विशुद्ध अर्थात् निर्मल है परन्तु पर द्रव्य से संयुक्त होकर वह अन्य रूप हो जाता है उसी प्रकार यह जीव भी स्वभावसे विशुद्ध है—अर्थात् वीतराग है परन्तु रागादि विशिष्ट कारणों से युक्त होने पर स्पष्ट ही अन्य अन्य रूप हो जाता है ॥ ५१ ॥

विशेषार्थ—जिस प्रकार स्वभावसे स्वच्छ स्फटिक मणि जपापुण्ड्र आदि के सम्बन्ध से लाल, पीला आदि अन्य रूप हो जाता है उसी प्रकार स्वभाव से स्वच्छ—वीतराग जीव रागादि के द्वारा विशिष्ट रूप से युक्त होकर अन्य अन्य प्रकार का हो जाता है अर्थात् स्त्रियोंके योग में रागी शत्रुओंके योग में द्वेषी और पुत्रादि के योग में मोही हो जाता है ।

(यहाँ गाथा का एक भाव यह भी समझ में आता है कि जिस प्रकार स्फटिक मणि स्वभाव से विशुद्ध है परन्तु पर पदार्थके सम्बन्ध से वह

भवति । (जीवो हृषदि हु अणण्विहो) जीव आत्मा भवति हु—स्फूटं अन्यो-
न्यविद्वाऽपरापरकारो भवति—स्त्रीभियोगे रागवान् भवति शाशुभियोगे हृषवान्
भवति पुत्रादिभियोगे मोहवान् भवतीति तात्पर्यः ।

देव गुरुमिम् य भत्तो साहमिम् य संजदेसु अणुरत्तो ।

सम्भासमुच्चहंतो शाणरओ होइ जोई सो ॥५२॥

देवे गुरी च भत्तः साधमिके च संयतेषु अनुरत्तः ।

सम्यक्त्वमुद्धहन् ध्यानरतः भवति योगी सः ॥५३॥

(देव गुरुमिम् य भत्तो) देवे गुरी च भत्तो विनयपरः । (साहमिम् य संजदेसु अणुरत्तो) साधमिकेषु समानज्ञेषु, जैसेषु संयतेषु महामुनिषु, अनुरक्षोऽकृत्रिम-
स्नेहवास् वात्सल्यपरः । (सम्भासमुच्चहंतो) सम्यक्त्वं सम्यग्दर्शनमुद्धहन् मूर्धनि
स्थापयन् । (शाणरओ होइ जोई सो) एवं विशेषणत्रयविशिष्टो योगी अष्टाङ्ग-
योगनियुगो मुनिध्यानिरतो भवति ध्यानानुरागी भवति सः । विपरीतस्य ध्यानं न
रोचत इत्यर्थः । तथा चीक्षण—

अन्य रूप हो जाता है उसी प्रकार यह जीव स्वभाव से रागादि वियुक्त है
अर्थात् रागबैष आदि विकार भावों से रहित है परन्तु परद्रव्य अर्थात् कर्म-
नोकर्म रूप पर पदार्थों के संयोग से अन्यान्य प्रकार हो जाता है । इस
अर्थमें वियुक्त शब्दके प्रचलित अर्थको बदल कर 'विशेषण युक्तो वियुक्तः
अर्थात् साहितः' ऐसी ओ क्लिष्ट कल्पना करनी पड़ती है उससे बचाव हो
जाता है ।

गाथार्थ—जो देव और गुरुका भक्त है, सहधर्मी भाई तथा संयमो
जीवोंका अनुरागी है तथा सम्यक्त्व को ऊपर उठाकर धारण करता है
अर्थात् अत्यन्त आदरसे धारण करता है ऐसा योगी ही ध्यान में तत्पर
होता है ॥५३॥

विशेषार्थ—यहाँ कौसा मुनि ध्यानमें तत्पर होता है इसका बर्णन
करते हुए आचार्य लिखते हैं कि जो देव-अरहत, सिद्ध और गुरु-आचार्य
उपाध्याय साधुका भक्त है अर्थात् उनकी विनय करने में तत्पर रहता है,
सहधर्मी-जैनों में तथा संयम के धारक महामुनियों में अनुरक्ष रहता है
अर्थात् अकृत्रिम स्नेह से युक्त हो वात्सल्य भाव प्रकट करता है और
सम्यक्त्व को सिर पर धारण करता है अर्थात् बड़े आदर से उसकी
आराधना करता है ऐसा योगी—अष्टाङ्गयोग में निपुण मुनि ही ध्यान
में रह होता है । इससे विपरीत पुरुष को ध्यान नहीं रखता है । जैसा कि
कहा है—

सर्वपापालये धीणे ध्याने भवति भावना ।
पापोहृतवृत्तीनां ध्यानवातार्थि दुर्लभा ॥ १ ॥

अन्यथा—

‘स्वयूध्यान् प्रति सद्भावसत्त्वाद्यपेतकैतवा ।
प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं वात्सल्यमभिलप्यते ॥ २ ॥

उग्रतवेणाण्णाणी जं कर्मं खबदि भवहि बहुएहि ।
तं णाणी तिहि गुतो लबेह अंतोमुहृत्तेण ॥ ५३ ॥

उग्रतपसाऽज्ञानी यत्कर्म द्वपते भवैर्बहुकैः ।
लज्जानी त्रिभिर्गुप्तः क्षपयति अन्तमुहृत्तेन ॥ ५३ ॥

(उग्रतवेण) उग्रतपसा तोवतपसा कृत्वा । (अण्णाणी) अज्ञानी मुनिः
आत्मभावनाविवर्जितस्तपस्त्री । (जं कर्मं खबदि भवहि बहुएहि) यत्कर्म पाप-
कर्म खिपते भवैर्बहुकैः कोटिभवैः शतकोटिभवैः सहस्रोटिभवैः लक्षकोटिभवैः
कोटिकोटिभवैश्चत्वादिभिः । (तं णाणी तिहि गुतो) तत्कर्म ज्ञानी आत्मभावना
परः सूरि तिहि गुतो—त्रिभिर्गुप्तो अन्तेष्टचक्रकालगृहितदितः । (भवैर अंतोमुहृ-
त्तेण) क्षपयति क्षयमानवति—कियति काले ? अन्तमुहृत्तेन । कोऽसाक्ष्यमुहृत्ते इति
चेत् ?—

सर्वपापालये—जब समस्त पापोंका आसव क्षीण हो जाता है तभी
ध्यान की भावना होती है । जिनकी वृत्ति पापसे उपहन हो रही है ऐसे
पुरुषों को ध्यान की बात करना भी दुर्लभ है ॥ १ ॥ और भी कहा है—

स्वयूध्यान्—अपने सह धर्मी भाईयों के प्रति उत्तम भावसे सहित तथा
कपट से रहित यथायोग्य आदर प्रकट करना वात्सल्य कहलाता है ॥ २ ॥

गाथार्थ—अज्ञानी जीव उग्रतपश्चरण के द्वारा जिस कर्मको अनेक
भवोंमें खिपा पाता है उसे तीन गुणितयोंसे सुरक्षित रहने वाला ज्ञानी जीव
अन्तमुहृत्त में खिपा देता है ।

विशेषार्थ—आत्म भावनासे रहित अज्ञानी मुनि तीव्र तपके द्वारा
जिस कर्म को करोड़—सौकरोड़—हजार करोड़—लाख करोड़ अधिका कोटि
कोटि भवोंके द्वारा नष्ट कर पाता है उस कर्मको आत्म भावना में तत्पर
रहने वाला ज्ञानी मुनि मनो गुणित बचनगुणित और काय गुणित से सुरक्षित
होता हुआ अन्तमुहृत्त में नष्ट कर देता है ।

‘आवलि असंख्यसमया संखेज्जावलिहि होइ उस्सासो ।
सरुस्सासो योओ सत्तत्योओ ल्यो भणिओ ॥ १ ॥

अदृश्यतीसद्गलवा नाली दो नालिया मुहूर्तं सु ।

समक्षणं तं भिण्णं अतमूहूर्तं अणेकविहं ॥ २ ॥

इति गाथाद्यकथितक्रमेण आवल्या उपरि एकः समयोऽधिको भवति सोऽन्त-
मुहूर्तो जब्यः कथ्यते । एव व्यादिसमयवृद्धधा समयद्यहीनोऽन्तमूहूर्तं उत्कृष्टः
कथ्यते । मध्येऽसंख्यातभेदा अन्तमूहूर्तस्य ज्ञातव्याः । सेषु कस्मिदन्तमूहूर्ते ज्ञानी
कर्म कथ्यति । एकेन समयेन हीनो मुहूर्तो भिन्नमूहूर्तं उच्यते इति भावः ।

सुभजोगेण सुभावं परद्रव्ये कुण्ड रागवो सराहु ।

सो तेण दु अण्णाणो णाणो एस्तो दु विकरीदो ॥ ५४ ॥

शुभयोगेन सुभावं परद्रव्ये करोति रागतः साधुः ।

स तेन तु अज्ञानी ज्ञानी एतस्माद्विपरीतः ॥ ५४ ॥

(सुभजोगेण सुभावं) शुभस्य मनोऽन्तपदार्थस्येष्टवनितादेः योगेन संयोगेन
मैलतेनोपहोकमेनाप्यत आगतेन सुभावं—शोभनं प्रीतिलक्षणं भावं परिणामं । (पर-

प्रश्न—अन्तमूहूर्तं क्या है ?

उत्तर—असंख्यात समय की एक आवलि होती है, संख्यात आवलियों
का एक उच्छ्वास होता है, सात उच्छ्वास का एक स्तोक होता है, सात
स्तोकों का एक लब कहा गया है । साढ़े अहृतीस लब की एक नाड़ी होती
है, दो नाड़ियों का एक मुहूर्त होता है । एक समय कम एक मुहूर्त को
भिन्न मुहूर्तं कहते हैं । अन्तमूहूर्तं अनेक प्रकार का होता है ।

इन दो गाथाओं में कहे हुए क्रमसे आवली के ऊपर एक समय अधिक
होने पर जब्य अन्तमूहूर्तं कहलाता है । इस प्रकार दो तीन आदि समय
बढ़ाते बढ़ाते जब मुहूर्त में दो समय कम रह जाते हैं तब वह उत्कृष्ट
अन्तमूहूर्तं कहलाता है । बोच में अन्तमूहूर्तं के असंख्यात भेद जानना
चाहिये । इनमें से किसी भी अन्तमूहूर्तं में ज्ञानी जीव कर्मोंको नष्ट कर
देता है । एक समय से कम मुहूर्तं को भिन्न मुहूर्तं कहते हैं ॥ ५३ ॥

आगे ज्ञानी और अज्ञानी मुनिका लक्षण प्रकट करते हैं—

गाथार्थ—जो साधु शुभ पदार्थ के संयोग से रागवश परद्रव्य से
प्रीतिभाव करता है वह अज्ञानी है और इससे जो विपरीत है वह
ज्ञानी है ॥ ५४ ॥

द्व्ये कुण्ड रागवो साहू) परहम्ये आत्मनो भिन्ने वस्तुनि इष्टवनितादौ, करोति
विषयाति सुभावभिति सम्बन्धः, रागतः प्रेमपरिणामात् । कः कर्ता, साषु वेषधारो
मुनिः पुष्पदन्तकृत् । तथा चोक्तं—

'अलकबलयरम्यं भूलतानतंकान्तं नवनयनविलासं चारुगणहस्थलं च ।
मधुरवचनगर्भं स्मेरविम्बावरायाः पुरत इव समास्ते तनुस्तु मे प्रियायाः ॥१॥
कणवितंसमुद्धमज्जनकण्ठभूषावसीोषपञ्चनामरणानि रागात् ।
पादेष्वलक्षकरसेन च चर्चनानि कृत्वैन्ति ये प्रणयिनीषु त एव चन्याः ॥२॥
लीलाविलासविलसन्तयनोत्पलायाः स्फारस्मरोत्तरलिताघरपल्लवायाः ।
उत्तुंगपीवरपयोषरमंडलायास्तस्या महा सह कदा ननु संगमः स्यात् ॥३॥

विशेषार्थ—इष्ट स्त्री आदि शुभ पदार्थ के योग से-मिलने, पासमें
आने अथवा आगे आने आदि के कारण जो साषु रागके वशीभूत हो उसमें
प्रोति रूप परिणाम करता है तथा उपलक्षण से अनिष्ट पदार्थ के योग से
द्वेष वश अप्रोति रूप परिणाम करता है वह पुष्पदन्त (पुष्पडाल) के समान
मात्र वेषको धारण करने वाला अज्ञानी साषु है और इससे विपरीत
लक्षणों वाला साधु ज्ञानी साधु है । यज्ञानी साषु गिरजर विषय सामग्रीका
चिन्तन करता है । जैसा कि कहा है—

अलक बलय—जो धूंघराले बालोंसे सुन्दर है, अकुटी रूपलता के
नृत्य से मनोहर है, नेत्रोंके नये नये विलास से सहित है, सुन्दर कपोलों से
सुशोभित है और भीठे भीठे बचनों से युक्त है ऐसा, मनदमुसकान से युक्त
विम्बफलके समान लाललाल ओठों वाली प्रिया का वह मुख ऐसा जान
पड़ता है मानो मेरे सामने ही स्थित हो ॥१॥

कणाविलास—जो पुरुष रागवश स्त्रियों के कानों में आभूषण पहिनाना,
मुखको सुसज्जित करना, गले में आभूषण बाँधना, स्तनों पर पत्र रखना
करना, नितम्ब पर मेलला कसना तथा पैरों में महावर से चर्चेंग करना
आदि करते हैं वे ही चन्य हैं—भास्यशाली हैं ॥२॥

लीलाविलास—जिसके नेत्र रूपी नील कमल लीला से सुशोभित हो
रहे हैं, जिसका अधर पल्लव अस्थधिक कामको बाधा से चुक्खल हो रहा
है और जिसका स्तन मण्डल उन्नत तथा स्थूल है उस प्रिया का मेरे साथ
संगम कब होगा ॥३॥

१. ऐसे सर्वेष्लोका यसस्तिलकचम्प्यां सोमदेवस्य ।

किं—

चित्रालेखनकर्मभिमैनसिजव्यापारास्मृतैर्गद्विष्ण्यासपुरः स्थितप्रियतमापादप्रणामक्लैः ।
स्वप्ने हग्मविप्रयोगविषयश्रीत्यप्रमोदागमैरित्य वेषमूनिदिनानि गमयरपुल्काभिः ।
कानने ॥१३॥

(सो तेण दु अण्णाणी) इत्यादिसुदतीचिन्तनेनाज्ञानी मूढः कथ्यते । (जाणी
एतो दु विवरीदो) जानी निर्मोही मुनिः एतस्मादुक्तलक्षणात् साधोविष्णवीतः
शुभवस्तुयोगी सति रागं त करोतीति तात्पर्यादिः ।

आसबहेद्य तहा भावं मोक्षस्त्वं कारणं हवदि ।

सो तेण दु अण्णाणी आदसहावस्त्वं विवरीदो ॥५५॥

आसबहेतुश्च तथा भावो मोक्षस्य कारणं भवति ।

स तेन तु अज्ञानी आत्मस्वभावात् विपरीतः ॥५५॥

(आसबहेद्य तहा भावं मोक्षस्त्वं कारणं हवदि) आसबहेतुश्च यथा यषेष्टवनि-
तादिविषये राग आसबहेतुभवति तथा निविकल्प समाधि विना मोक्षस्यापि रागः

और भी कहा है—

चित्रालेखन—वह वेषधारी मुनि कभी प्रियतमा का चित्र बताने
बैठता था पर कामको सारपूर्ण व्यापार अर्थात् संभोग के स्मरण से उसे
बीच में ही भूल जाता था । कभी प्रगाढ़ संस्कार के कारण उसे प्रियतमा
सामने बैठी दिखती थी और वह उसके चरणों में प्रणाम करता था । कभी
स्वप्नमें संगम होनेसे प्रसन्न हो उठता था और विष्णोग से दुखी हो जाता
था इस प्रकार वेषको धारण करने वाला वह मुनि उल्काभित होकर बन
में दिन व्यतीत करता था ॥१॥

गायार्थ—जिस प्रकार इष्ट विषय का राग कर्मस्त्रिव का हेतु है उसी
प्रकार मोक्ष विषयक राग भी कर्मस्त्रिव का हेतु है और इसी रागभाव के
कारण यह जीव अज्ञानी तथा आत्म स्वभाव से विपरीत होता है ॥५५॥

विशेषार्थ—जिस प्रकार इष्ट बनिता आदि विषय का राग कर्मस्त्रिव-
का कारण होता है उसी प्रकार निविकल्प समाधि के बिना मोक्ष का भी
राग कर्मस्त्रिव का हेतु होता है । मोक्ष विषयक रागभाव कर्मस्त्रिय का
कारण न होकर पुण्य कर्म बन्धका कारण होता है अतः उस रागभाव के
कारण यह जीव अज्ञानी अर्थात् निविकल्प समाधि रूप आत्म स्वभाव से
विपरीत होता है ।

कर्मसिवहेतु भवति । (सो तेण दु अण्णाणी) स साधुमोक्षेऽपि रागभाव कुर्वन्तः तेन कारणेन पुण्यकर्मबन्धहेतुत्वादज्ञानी भवति—मूढः स्यात् (आदसहावस्त्र विवरीदो) आत्मस्वभावान्तिरिक्तप्रसाधिलक्षणात्मध्यानस्त्रपाद्विपरीतः । तथा चोक्तमेकत्वसप्तस्यां—

२४५
“स्पृहा मोक्षेऽपि मोहोत्था तन्त्रिषेधाय जायते ।

अन्यस्मै तत्कथं शान्ताः स्पृहयन्ति मुमुक्षुवः ॥

जैसा कि एकत्व सप्तति में कहा गया है—

स्पृहा—जब मोह से उत्पन्न हुई मोक्षकी इच्छा भी मोक्षके निषेध के लिये होती है तब शान्त मूमुक्षु जन अन्य पदार्थ की इच्छा कैसे कर सकते हैं ?

[रागभाव मात्र बन्धका कारण है अतः वह राग चाहे इष्ट विषय सम्बन्धी हो चाहे मोक्ष सम्बन्धी । यह जुदी है कि इष्ट विषय सम्बन्धी राग पाप कर्मके बन्धका कारण है और मोक्ष का राग पूण्य बन्धका कारण है । चन्द्रत यद्यपि ठण्डा होता है तथापि उसमें लगी आग जलाने का ही काम करती है । जो इस राग भावको उपादेय भान्ता है वह अज्ञानी है तथा आत्म स्वभाव से विपरीत है । यह कथन कर्म बन्धन को अपेक्षा जानना चाहिये क्योंकि तारतम्य बहुत है । विषय सम्बन्धी राग संसार का ही कारण है परन्तु मोक्ष सम्बन्धी राग परम्परा से मोक्षका भी कारण है ।]

इस गाथा में 'जही' शब्द नहीं है तथा 'मोक्षस्त्र' के साथ 'कारण' शब्द प्रथमान्त पृथक् दिया हुआ है इसलिये एक अर्थ यह भी समझ में आता है—

“भाव ही आस्रव का हेतु है, भाव ही मोक्षका कारण है और उस भाव से ही यह जीव अज्ञानी तथा आत्म स्वभाव से विपरीत होता है ।”

भावार्थ—शुभ-अशुभ रागरूप भाव कर्मान्तरका हेतु है, निर्विकल्प समाधि रूप भाव मोक्षका कारण है तथा मोह रूप भावके कारण यह जीव अज्ञानी तथा निर्विकल्पसमाधि रूप आत्मस्वभाव से च्युत होता है ।

जो कर्मजादमङ्गओ सहावणाणस्त्वा खंडदूसयरो ।
सो तेण दु अण्णाणी जिणसासणदूसगो भणिदो ॥५६॥

यः कर्मजातमतिकः स्वभावज्ञानस्य खण्डदूषणकरः ।

स तेन तु अज्ञानी जिनशासनदूषको भणितः ॥५६॥

(जो कर्मजादमङ्गो) यः पुमान् कर्मजातमतिक इन्द्रियानिन्द्रियाणि उल्लु
कर्मजातानि तदुत्पन्नमतिलेघसंयुक्तः । (सहावणाणस्त्वा खंडदूसयरो) स्वभावज्ञान-
स्थात्मोत्थज्ञानस्य केवलज्ञानस्म दूसयरो—दोषदायकः । आत्मनः स्ववतीनिद्रियज्ञानं
नास्ति चक्षुरादीनिद्रियज्ञानितमेव ज्ञानं वर्तते इत्येवं स्वभावज्ञानस्य दूषणकरो भवति,
अतीनिद्रियज्ञानं न मन्यते । खंडदूसयरो—खण्डज्ञानेन दूषणकरः किञ्चित्निष्ठा-
दृष्टिः । (सो तेण दु अण्णाणी) स पुमान् तेन तु दूषणदानेन अज्ञानी ज्ञातव्यो
शानिनः ज्ञेयो वेदितव्य इति यावत् । स कर्त्त्वभूतः, (जिणसासणदूसगो भणिदो)
जिनशासनस्याहंतमतस्य दूषको दोषभाषको भणितः—स नरकदुखं प्राप्त्यति ।
तथा ओक्तं पुरुषदन्तेन महाकविना काव्यपिशाचखण्डकव्यपरनामद्वयेन—

सब्बण्डु अणिदिक्षो णाणमत जो मङ्गमङ्गु न पत्तियह ।

सो णिदित्तं विचिदियणिरउ वैतरणिहि पाणित पियह ॥१॥

गायार्थ—कर्म जन्य मतिज्ञान को धारण करने वाला जो जीव
स्वभाव ज्ञान—केवल ज्ञान का खण्डन करता है अथवा उसमें दोष लगाता
है वह अपने इस कार्य से अज्ञानी तथा जिनवर्म का दूषक कहा
गया है ॥५६॥

विशेषार्थ—जो पुरुष ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशाम से उत्पन्न पाँच
इन्द्रियों और मनके निमित्त से होनेवाले अल्पतम मति ज्ञानसे युक्त होकर
भी आत्मोत्थ—स्वभावभूत केवलज्ञान को दोष देता है अर्थात् कहता है कि
आत्मा के अतीनिद्रिय ज्ञान नहीं है चक्षुरादि इन्द्रियों से होनेवाला ज्ञान ही
है अतीनिद्रिय ज्ञानको नहीं मानता है तथा अपने खण्डज्ञानसे दूषण लगाता
है उसे उस दूषण के देनेसे अज्ञानी ज्ञानता चाहिये । ऐसा पुरुष जिन
शासक का दूषक कहा गया है तथा उसके फल स्वरूप वह नरकको प्राप्त
करता है । जैसाकि काव्य पिशाच और खण्डकवि इन दो दूसरे नामों को
धारण करने वाले महाकवि पुष्पदन्त ने कहा है—

सब्बण्डु—'सब्बेज अतीनिद्रिय तथा केवल ज्ञानमय है' ऐसा जो भूढमति
श्रद्धान नहीं करता है वह निन्दित है, पञ्चेन्द्रियों के विषयों में निरत
है तथा वैतरणी नदी का पानी पीता है अर्थात् मरकर नरक जाता है ।

णाणं चरित्तहीणं दंसणहीणं तवेहि संजुतं ।

अण्णोसु भावरहियं लिङगमहणेण कि सोक्ष्मं ॥५७॥

ज्ञानं चारित्रहीनं दर्शनहीनं तपोभिः संयुक्तम् ।

अन्येषु भावरहितं लिङ्गग्रहणेन कि सौख्यम् ॥५७॥

(णाणं चरित्तहीणं) ज्ञानं चरित्रहीनं सौख्यकरं न भवतीति सम्बन्धः ।
 (दंसणहीणं तवेहि संजुतं) दर्शनहीनं सम्यगदर्शनरत्नरहितं तपोभिः संयुक्तं कर्म सौख्यकरं न भवतीति सम्बन्धः । (अण्णोसु भावरहियं) अन्येषु षड्बावश्यकादिषु भावरहितं कर्म । (लिङगमहणेण कि सोक्ष्मं) लिङगग्रहणेन वेषमाप्णेण आत्मभावनारहितेन कर्मणा कि सौख्यं भवति—अपितु सर्वकर्मक्षयलक्षणे मोक्षसुखं न भवतीति भावार्थः ।

अच्छेषाणं पि चेदा जो लाण्डु तो हृषी उण्डाएः ।

सो पुण णाणो भणिओ जो मण्ड चेयणे चेदा ॥५८॥

अचेतनमपि चेतयितारं यो मन्यते स भवति अज्ञानो ।

स पुन ज्ञानी भणितः यो मन्यते चेतने चेतयितारम् ॥५८॥

गाथार्थ—चारित्र रहित ज्ञान सुख करने वाला नहीं है, सम्यगदर्शन से रहित तपों से युक्त कर्म सुख करने वाला नहीं है तथा छह आवश्यक आदि अन्य कार्यों में भी भाव रहित प्रवृत्ति सुख करने वाली नहीं है फिर मात्र लिङ्ग ग्रहण करनेसे क्या सुख मिल जायगा ? ॥५७॥

बिशेषार्थ—चारित्र के बिना ज्ञान कार्यकारी नहीं है, सम्यगदर्शन से रहित तपश्चरण कार्यकारी नहीं है इसी तरह छह आवश्यक आदि में भाव रहित प्रवृत्ति भी कार्यकारी नहीं है फिर भी आत्म भावना से रहित वेष मात्र से क्या सुख हो सकता है ? अर्थात् उससे सर्वकर्म क्षय रूप मोक्ष सुख प्राप्त नहीं हो सकता है ॥५७॥

[इस गाथा का एक भाव यह भी हो सकता है—हे साधो ! तेरा ज्ञान धर्थार्थ चारित्र से रहित है तेरा तपश्चरण सम्यगदर्शन से रहित है तथा तेरा अन्य कार्य भी भाव से रहित है अतः तुझे लिङ्ग ग्रहण से—मात्र वेष धारण से क्या सुख प्राप्त हो सकता है ? अर्थात् कुछ नहीं ।]

गाथार्थ—जो अचेतन की भी चेतयिता मानता है वह अज्ञानो है और जो चेतन को चेतयिता मानता है वह ज्ञानी कहा गया है ॥५८॥

(अस्तेवणं पि चेदा जो मण्डाइ सो हवेह अणाणी) चेतयितारमात्मानं पः पुमान् कापिलमतानुकारी अचेतनमात्मानं मन्यते स पुमान् अज्ञानी ज्ञान-विजिती मूलो भवेत् । (सो पुण णाणी भणिओ) स पुमान् पुनर्जनी भणितः । स कः ? (जो मण्डाइ चेयणे चेदा) यः पुमान् चेतनद्वये चेतयितारमात्मानं मन्यते ।

उक्तं च—

स यदा दुःखयोपतप्तचेतास्तदिधारकहेतुजिकासोत्सेकितविवेकसोताः स्फाटिकाशमानमिवानन्दात्मनमप्यात्मानं सुखदुःखमोहावहपरिवर्तमहंहंकारविवतेऽश्च

विदोषार्थ—सांख्य मतका अनुसरण करने वाला जो पुरुष चेतयिता अर्थात् आत्मा को अचेतन अर्थात् ज्ञान से शून्य मानता है वह अज्ञानी है और जो चेतन द्रव्य में चेतयिता-आत्मा को मानता है वह ज्ञानी है ।

भावार्थ—सांख्यों का कहना है कि पुरुष तो उदासीन चेतना स्वरूप है, नित्य है और ज्ञान प्रधान का धर्म है । इस मत में पुरुष कूँ उदासीन चेतना स्वरूप माना सो ज्ञान बिना जड़ ही हुआ । ज्ञानके बिना चेतन किस प्रकार हो सकता है ? ज्ञानको प्रधान का धर्म माना और प्रधान को जड़ माना तब अचेतन में चेतना मानने से अज्ञानी ही हुआ । नैयायिक और वैशेषिक गुण गुणी में सर्वथा भेद मानते हैं इसलिये इनके मतसे चेतना गुण जीवसे पृथक् है और चेतना गुण के पृथक् रहने से जीव अचेतन सिद्ध होता है अतः अचेतन को चेतन मानने के अज्ञानी दर्शा है । इसी प्रकार भूतवाती चार्किक पृथिवी जल अग्नि और वायु के संयोग से चेतना की उत्पत्ति मानते हैं सो भूत तो जड़ है उनसे चेतना किस प्रकार उत्पन्न हो सकती है ? इसलिये अन्य मतवादियों का कथन अज्ञान से भरा हुआ है । यथार्थ में जीव द्रव्य ज्ञान गुण से तन्मय है इनमें गुण गुणी भाव अवश्य है परन्तु प्रदेश भेद नहीं है । ज्ञानगुण से तन्मय होनेके कारण जीव द्रव्य चेतन कहलाता है इसलिये चेतन को चेतन कहना अचेतन को अचेतन कहना चेतन को अचेतन नहीं कहना और अचेतन को चेतन नहीं कहना ज्ञानी जीव की पहिचान है—

सांख्यों के यहाँ मुक्ति का स्वरूप इस प्रकार कहा गया है—

स यदा दु—शारीरिक मानसिक और आधि भौतिक इन तीन प्रकार के दुःखों से इस जीवका चित्त निखार संतप्त रहता है परन्तु उन दुःखों के विषात के कारणों की जिशासा से जब इसके विवेक का स्रोत प्रस्फुटित

कलुषयन्त्या: सत्वरजासाम्यावस्थापरनामवत्याः सनातनव्यापिगुणाचिकृतः प्रकृतेः स्वरूपमवगच्छति तदायामयगोलकामलतुलयवर्णस्य वोषबद्धुधानकसंसर्गस्य सति विसर्गं सकलज्ञानज्ञेयसम्बन्धवैकर्त्त्यं कैवल्यमवलम्बते तदा दृष्टुः स्वरूपेऽवस्थानं मुक्तिरिति कागिलाः विवदन्तः प्रतिवक्तव्याः—

कपिलो यदि वांछति वित्तिमचिति सुरगुरुगीरुङ्केष्वेष पतति ।

चेतन्यं वाह्यग्रास्यरहितमुपयोगि कस्य वेद तत्र विदित ॥११॥

तवरहियं जं णाणं णाणं विजुत्तो तवो चि अक्षयत्थो ।

तम्हा णाणत्थेणं संजुत्तो लहुइ णिष्ठाणं ॥१२॥

तपोरहितं यत् जानं ज्ञानवियुक्तं तपोऽपि अकृतार्थं ।

तस्मात् ज्ञानतपसा संयुक्तः लभते निवणिम् ॥१३॥

होता है तब यह स्फटिक के समान स्वच्छ आनन्द रूप आत्मा को सुख दुःख तथा मोह के परिवर्तनों और महत् तथा अहंकार की विवलों से कलुषित करने वाली सत्त्व और रजोभूणि की साम्यवस्था रूप दूसरे नाम से युक्त प्रकृति के स्वरूप को समझ लेता है तब लोहे के गोलों में जिस प्रकार अनितका सम्बन्ध तन्मयके समान जान पड़ता है उसी प्रकार ज्ञान के साथ आत्मा का तन्मय सम्बन्ध होनेसे आत्मा ज्ञानमय जान पड़ती है । परन्तु जब वह पर पदार्थों का सम्बन्ध यहाँ तक कि ज्ञान ज्ञेय सम्बन्धी समस्त विकल्प भी बिलोन हो जाता है और पुरुष कैवल्य अर्थात् मात्र अपने आपका अर्वलम्बन करने लगता है तब दृष्टा पुरुष जो अपने स्वरूपमें अवस्थित रहता है उसे मुक्ति कहते हैं । इस प्रकार विवाद करते हुए सांख्योंके प्रति यों कहना चाहिये—

कपिलो—कपिल यदि अचेतन प्रधान में ज्ञान मानता है तो वह भी चार्वाकों के बचन जाल में फँसता है, अर्थात् जिस प्रकार चार्वाक अचेतन भूत चतुष्टक से चेतन की उत्पत्ति मानता है उसी प्रकार सांख्य की भी अचेतन प्रधान से चेतन की उत्पत्ति इसके उत्तर में यदि सांख्य कहता है कि मैं चेतन्य को तो मानता हूँ परन्तु उसे बाह्य पदार्थों के ग्रहण से विमुख मानता हूँ । इसके उत्तर में कहना यह है कि हे प्रस्त्यात् पुरुष ! बाह्य पदार्थों के ग्रहण से विमुख चेतन्य किसके उपयोग आता है तुम्हीं बताओ ।

गायत्री—जो ज्ञान तपसे रहित है वह व्यर्थ है और जो तप ज्ञानसे

(तवरहियं जं णाणं) तपोरहितं यज्ञानं तदकृतार्थमिति सम्बन्धः । (णाण-
विजुतो तवो वि अकार्यत्वो) ज्ञानविवृततं ज्ञानरहितं अज्ञानं तपोऽपि अकृतार्थं
मोक्षं न साधयति । (तम्हा णाणतत्वेण संजुतो लहूङ गिव्वाणं) तस्मात्कारणात्
ज्ञानतपसा ज्ञान च तपश्च ज्ञानतपः समाहारो द्वच्छस्तेन ज्ञानतपसा । अथवा
ज्ञानेनेग्यलक्षितं तपो ज्ञानतपस्तेन तथोक्तेन संयुक्तो मुनिर्भवते निर्बणिं सर्वकर्मक्षय-
लक्षणं मोक्षमित्यर्थः ।

तथा चोक्तं—

मान्ये ज्ञानं तपोऽहोनं ज्ञानहोनं तपोऽहितं ।

द्वाम्यां युक्तः स देवः स्याद्विहीनो गणपूरणः ॥११॥

ध्रुवसिद्धी तित्थयरो चउणाणजुदो करेह तवयरणं ।

णाणज्ञनं ध्रुवं कुरुज्ञा तवयरणं णाणजुतो च ॥६०॥

ध्रुवसिद्धिस्तीर्थकरः चतुष्कज्ञानयुतः कर्त्तोति तपश्चरणम् ।

ज्ञात्वा ध्रुवं कुर्यात् तपश्चरणं ज्ञानयुक्तोपि ॥६०॥

(ध्रुवसिद्धी तित्थयरो) ध्रुवसिद्धिरवश्यं मोक्षगामी, कोइसी ? तोर्थकरः नीर्थकर-
परम देवः । (उउणाणजुदो करेह तवयरणं) दीक्षानन्तरमेवोत्पन्नमतःपर्यंज्ञान-

रहित है वह भी अर्थ है, इसलिये ज्ञान और तपसे युक्त पुरुष हो निर्बणि
को प्राप्त होता है ॥५९॥

विशेषार्थ—तप रहित ज्ञान अकार्यकारी है, और ज्ञान रहित तप
भी अकार्यकारी है अर्थात् मोक्षका साधक नहीं है इसलिये ज्ञान और तप
अथवा ज्ञान से उपलक्षित तप से सहित मुनि ही सर्व कर्मरूप स्व मोक्षको
प्राप्त होता है । जैसा कि कहा है—

मात्म्यं—तपसे अहोन अर्थात् सहित ज्ञान हो मात्म्य है—आदरणीय
है और ज्ञान से हीन तप अहित है—कर्म बन्ध का कारण होने से अहित-
कारी है । जो मुनि ज्ञान और तप दोनोंसे युक्त है वह देव हो जाता है
अर्थात् घाति चतुष्क का क्षय कर अरहन्त बन जाता है और जो दोनों
से रहित है वह मात्र संघकी पूर्ति करता है अर्थात् संघ को संख्या बढ़ाता
है, आत्मकल्याण नहीं करता है ॥१॥

गायार्थ—जो ध्रुव सिद्धि है—अर्थात् जिन्हें अवश्य ही मात्थ प्राप्त
होना है तथा जो चार ज्ञानों से सहित हैं ऐसे तोर्थकर भगवान् भी
तपश्चरण करते हैं ऐसा ज्ञानकर ज्ञान युक्त पुरुष को तपश्चरण करना
चाहिये ॥६०॥

तथापि तपश्चरणं चिराकादिकं तपश्चरणं करोति । (याऊण जुवे कुञ्जा तपयरणं आणजुसो वि) इति जात्या, श्रुतिमिति निश्चयेन, कुर्याहि दद्यात्, कि तत् ? तपश्चरणं ज्ञानयुक्तोऽपि । अहं सकलज्ञास्तपश्चरणः कि ममोपवासादिता तपश्चरणेनेति न काच्यमिति भावः । उक्तं च—

उपवाससो एकहो फलेण संबोहिष्यपरिवार ।

पायदत्तु दिवि देव हुज पुणरवि यायकुमार ॥ १ ॥

ते कारणि जिव पह्लजसि कारं उपवासमासु ।

जाम्ब ण देहकुडिलयहि हुमकह मरणहु वासु ॥ २ ॥

यदज्ञानेन जीवेन कृतं पापं सुवारणं ।

उपवासेन तत्सर्वं दहत्यग्निरिवेष्टनं ॥ ३ ॥

तथा चोक्ते प्रभाचन्द्रेण तार्किकलोकशिरीमणिना—

उपवासफलेन भजति नरा भूवनत्रयज्ञातमहाविश्वान् ।

खलु कर्ममलप्रलयादचिरावज्ञरामरकेवलसिद्धिसुर्तं ॥ ४ ॥

विशेषार्थ—यद्यपि तोर्यकर भगवान् नियम से मोक्षगामी हैं तथा दीक्षा लेते ही मनःपर्यं ज्ञानके भी उत्पन्न होजाने से चार ज्ञानके धारी हैं तथापि वे वेला तेला आदि उपवास करते हैं ऐसा ज्ञानकर ज्ञानी पुरुष को भी तपश्चरण करना चाहिये । यह नहीं विचारना चाहिये कि मैं तो सकल शास्त्रों में प्रवीण हूँ मुझे उपवास आदि तपश्चरण करने से क्या प्रयोजन है । कहा भी है—

उपवासहो—एक उपवास के फलसे परिवार को संबोधित करने वाला नागदत्त स्वर्ग में देव हुआ और फिर नागकुमार हुआ ॥ १ ॥

तेजारणि—इसलिये हे जीव ! मैं कहता हूँ कि जब तक शरीर रूपों कुटी पर मरण रूपी अग्नि का आकरण नहीं होता है तब तक उपवास का अभ्यास कर ॥ २ ॥

यदज्ञानेन—इस जीवने अज्ञान वश जो भयकर पाप किया है उपवास से वह सब उस प्रकार जल जाता है जिस प्रकार कि अग्नि से इंधन ॥ ३ ॥

ऐसा ही तार्किकज्ञों के शिरोमणि प्रभाचन्द्र ने कहा है—

उपवासफलेन—उपवास के फलसे मनुष्य तीनों लोकों में उत्पन्न होने वाले महान् वैभवों को प्राप्त होते हैं और कर्म रूपी मलको नष्ट कर निश्चय से शीघ्र ही अजर-अमर पद, केवल ज्ञान और मोक्ष के सुखको प्राप्त होते हैं ॥ ४ ॥

‘होइ विज्ञु य पोटलिहि उवासें गठ धम्मु ।
 एज अहाणउ सो चवइ जसु कठ भारत कम्मु ॥ १ ॥
 ‘पोटलिहि मणिमोति यहं बाण कित्तिवि य जाइ ।
 कोरिहि मरिय बलहुइ ल णाहि जोक्खाइ ॥ २ ॥
 आत्मशुद्धिरियं प्रोक्षता तपसीव विक्षयैः ।
 किमनिना विना शुद्धिरस्ति कांचनशोधने ॥ ३ ॥

आहरलिंगोण जुदो अभ्यन्तरलिंगरहितपरियम्मो ।
 सो सगच्छरित्तभद्दो मोक्षपहुविणासगो साधु ॥ ६१ ॥
 बहिलिंगेन युतो अभ्यन्तरलिंगरहितपरिकर्मा ।
 स स्वक्षरित्रभष्टः मोक्षपथविनाशकः साधु ॥ ६१ ॥

(बाहिलिंगेन जुदो) बाहिलिंगेन पुतो वामदुप्रातरहितः । (अभ्यन्तरलिंग-
 रहितपरियम्मो) अभ्यन्तरलिंगरहितपरिकर्मा आत्मस्वरूपभावनारहितं परिकर्मं
 अङ्गसंस्कारो यस्य सोऽन्यन्तरलिंगरहितपरिकर्मा । (सो सगच्छरित्तभद्दो) स

होइविज्ञु—पोटली (कपड़े की लोटी सी गठरी) से वाणिज्य नहीं
 हो सकता और उपवास करने से धर्म नहीं हो सकता ऐसा अहाना
 (लोकोक्ति) वहो कहुता है जिसके कर्म भारी है ।

पोटलिहिं—मणि और मोतियों की पोटली (गठरी) का धन कितना
 है कहा नहीं जाता । वह धन बोरों से भरे हुए बैलों से नहीं जोखा जा
 सकता—नहीं तोला जा सकता क्योंकि अतुल है ।

आत्मशुद्धि—यह आत्मशुद्धि तपसे ही ही सकती है ऐसा विद्वानों
 ने कहा है । क्या सुबर्ण के शोधने में अग्नि के बिना शुद्धि हो सकती है ?
 अर्थात् नहीं ।

ग्राहार्थ—जो साधु बाह्य लिङ्ग से तो सहित है परन्तु जिसके शरीर
 का संस्कार (प्रवर्तन) आभ्यन्तर लिङ्ग से रहित है वह आत्म चारित्र से
 भ्रष्ट है तथा मोक्षमार्ग का नाश करने वाला है ॥ ६१ ॥

विशेषार्थ—बाह्य लिङ्ग अर्थात् नगन मुद्रा से सहित होनेपर भी जिसके
 शरीर की प्रवृत्ति आभ्यन्तर लिङ्ग से रहित है अर्थात् आभ्यन्तर स्वरूप
 की भावना से शून्य है वह साधु आत्म चारित्र से भ्रष्ट है तथा मोक्ष

१. साक्षय वर्म दोहा १०९ ।

२. साक्षय वर्म दोहा ११० ।

साधु स्वकर्तिक्षेपः । (मोक्षपहचिणासगो साहु) मोक्षपथविनाशकः साधुः स साधुमोक्षमार्गविधिं सको ज्ञातयो ज्ञानीयो ज्ञेयः । इति भावं ज्ञात्वा निजशुद्ध-
शुद्धेकस्वभावे इत्यमलये निर्माण नामगः कलंया ज्ञातोः ।

सुहेण भाविदं णाणं दुहे जावे क्रिणस्सदि ।

तम्हा जहाबलं जोई अप्पा दुखेहि भावए ॥६२॥

सुखेन भावितं ज्ञातं दुखे जाते विनश्यति ।

तस्माद् यथाबलं योगी आत्मानं दुखेः भावयेत् ॥ ६२ ॥

(सुहेण भाविदं णाणं) सुखेन नित्यभोजनादिना भावितं वासितं ज्ञानं आत्मा । (दुहे जावे क्रिणस्सदि) दुखे जाते सति भोजनादिर-प्राप्तौ सत्यां विन-
श्यति आत्मभावनाप्रच्युतो भवति । (तम्हा जहा बलं जोई) तस्मात्कारणाद्यथा-
बलं निजशक्त्यनुसारेण योगी मुनिः । (अप्पा दुखेहि भावए) आत्मानं दुखैर-
नेकहपःकलेशः भावयेदासयेत् दुखास्यासं कुर्यादित्यर्थः ।

मार्गका विधिं स करने वाला है । ऐसा जातकर साधुको शुद्धबुद्धेक स्वभाव
से युक्त निज आत्म तत्त्व की भावना करना चाहिये ।

[मोक्षमार्ग के प्रवर्तन के लिये बाह्य लिङ्ग को निर्दोष प्रवृत्ति तथा
तदनुरूप आत्म तत्त्व की भावना और रागादि विकारों के अभाव की
आवश्यकता है जिस साधु में उक्त बातों की कमी है वह यथार्थं चारित्र
से रहित है तथा अपनी प्रवृत्तिसे मोक्षमार्गको दूषित करने वाला है ।]

गाथार्थ—सुख से वासित ज्ञान दुःख उत्पन्न होनेपर नष्ट हो
जाता है इसलिये योगी को यथाशक्ति आत्माको दुःख से वासित करना
चाहिये ॥ ६२ ॥

विशेषार्थ—नित्य प्रति भोजन करना आदि सुखिया स्वभाव से जो
ज्ञानका अर्जन होता है वह भोजनादि की अप्राप्ति जन्य दुःख के उपस्थित
होनेपर नष्ट हो जाता है । अथवा ज्ञान का अर्थ आत्मा है । जो आत्मा
सुखसे वासित है वह दुःख के उत्पन्न होनेपर आत्म भावना से च्युत हो
जाता है इसलिये योगी को चाहिये कि वह निज शक्तिके अनुसार अनेक
तप सम्बन्धी दुःखों से आत्मा को वासित करे अथात् दुःख सहन करने का
अभ्यास करे ॥ ६२ ॥

आहारासणिद्वाजयं च काञ्छ जिणवरमएण ।

शायब्दो णिथअष्पा णाञ्छं गुहपसाएण ॥६३॥

आहारासननिद्वाजयं च कृत्वा जिनवरमतेन ।

ध्यात्वो निजात्मा ज्ञात्वा गुरुप्रसादेन ॥६३॥

(आहारासणिद्वाजयं च काञ्छ जिणवरमएण) आहारासननिद्वाजयं च कृत्वा जिनवरमतेन, शनैः शनैः आहारोऽल्पः क्रियते । शनैः शनैः शनैः सानैरासनं पश्चासनं उद्भासनं चाभ्यस्यते । शनैः शनैः निद्रापि स्तोका स्तोका क्रियते एकस्मिन्नेव पाश्वें पाश्वेशत्वित्वं न क्रियते । एवं सति सर्वोऽप्याहारस्यक्षुं शक्यते आसनं च कदाचिदपि त्वक्तुं “(न) शक्यते । निद्रापि कदाचिदप्यक्षुं शक्यते । अभ्यासात् कि न भवति ? तस्मादेवकारणात्केवलिभिः कदाचिदपि न भुज्यते । पद्मासन एव वषणिसहस्रैरपि स्वीयते, निद्राजयेनाप्रमत्तभूयते, स्वप्नो न दृश्यते । एवं जिनवरमतेन वृषभस्त्वामिवीरचन्द्रशासनेनानुशील्यते । (शायब्दो णिथअष्पा) ध्यात्वो निज आत्मा । (णाञ्छं गुहपसाएण) आत्मानमष्टाङ्गं [योगं] च ज्ञात्वा गुरु-

गाथार्थ—आहार आसन और निद्रा को जीतकर जिनेन्द्र देवके मतानुसार गुरुओं के प्रसाद से निज आत्मा को जानना चाहिये और जानकर उसीका ध्यान करना चाहिये ।

विशेषार्थ—जिनेन्द्र देवके मतानुसार पहले धीरे धीरे आहार अस्य किया जाता है । धीरे धीरे पद्मासन और स्तुङ्गासन का अभ्यास किया जाता है तथा धीरे धीरे निद्रा भी कम की जाती है एक ही करवट से शयन करनेका अभ्यास किया जाता है करवट नहीं बदली जाती । इस तरह अभ्यास होते होते सभी आहार का त्याग किया जा सकता है । आसन का कभी भी त्याग नहीं किया जा सकता निद्रा भी कभी बिलकुल छोड़ी जा सकती है । अभ्यास से क्या नहीं होता ? इसी कारण केवलों कभी भी जन नहीं करते । पद्मासन से ही हजारों वर्ष स्थित रहे आते हैं । निद्रा जीतने से अप्रमत्त रहा जाता है अर्थात् प्रमाद का अभाव होता है, स्वप्न नहीं दिखाई देता । इस तरह जिनेन्द्र देवके मतानुसार अभ्यास किया जाता है । साधुको चाहिये कि वह गुरुओं के प्रसाद से अर्थात् नियन्त्राचार्थवर्य की करुणा से आत्मा को तथा अष्टाङ्ग योग को जानकर उसका ध्यान करे । गुरुप्रसाद के बिना आत्मा का ज्ञान होना संभव नहीं है । ‘द्रष्टव्यो वारेऽप्यमात्मा श्रोतव्योऽनमन्तव्यो निदिष्यासितव्य’—निश्चय

१. सर्वप्रतिषु नकारो नास्ति परन्तु आशनस्य त्यागः फर्वं शक्यः ।

प्रसादेन निर्धन्याचार्यवर्द्ध्य कारण्येन । गुहप्रसाद विना “इष्टव्ये वर रेत्यमात्मा” श्रोतव्योऽनुमन्तव्यो निदिष्यासितव्य” इति बृहदभिरपि वेदान्तवादिभिन्नवृत्तिः केनापि जनेन याज्ञवल्क्यादिना न प्राप्त इति भावार्थः ।

अप्या चरित्तवंतो दंसणणाणेण संजुदो अप्या ।
सो ज्ञायद्वो णिष्ठं पाठ्यं गुरुप्रसाएण ॥६४॥

आत्मा चारित्रवान् दर्शनज्ञानेन संयुत आत्मा ।
स ध्यातव्यो नित्यं ज्ञात्वा गुरुप्रसादेन ॥ ६४ ॥

(वर्णन चरित्तवंतो) आत्मा चारित्रवान् एवं ज्ञानेन अनुत्तिष्ठतीति कारणात् यस्य मुनेश्वारित्रे प्रीतिरसि स आत्मानमेवाभ्युत्कृति भावार्थः । (दंसणणाणेण संजुदो अप्या) दर्शनेन ज्ञानेन च संयुतः संगुक्तः, कौडसी ? आत्मा जीवतस्य, बत्रापि स एव भावार्थः—यस्य मुनेश्वरेन प्रेम वर्तते ज्ञाने बानुरागोऽस्ति स मुनिरात्मानमेवाभ्युत्तु तदृढ्यमपि तत्त्वं यस्मात् । (सो ज्ञायद्वो णिष्ठं) स आत्मा ध्यातव्यो नित्यं सर्वकालं । रसाना तप्स्योशायशूतस्यात्मलाभे मोक्षलाभे वा प्रीतिमत इत्यर्थः । (पाठ्यं गुरुप्रसाएण) गुरोनिर्धन्याचार्यवर्द्ध्य विज्ञादीक्षाचार्यवाचनादेश्वर कर्तुः प्रसादेन कारण्येन । [इत्यं वस्तुस्वभावो वर्तते यथाचार्यप्रसन्नतयात्मलाभो भवति तद्विराधने सत्यात्मा न स्फुटीभवति] । तथा ओक्तं—

से आत्मा दृष्टवा, श्रोतव्य, अनुमन्तव्य और निदिष्यासितव्य है इस प्रकार गृह अंजाल से निवृत्त वेदान्तवादी कहते अवश्य हैं परन्तु माज्ञवल्क्य आदि कोई भी उसे प्राप्त नहीं कर सका ॥ ६४ ॥

गत्यार्थ—आत्मा चारित्र से सहित है, आत्मादर्शन और ज्ञान से युक्त है इस प्रकार गृह के प्रसाद से जानकर उसका नित्य ही ध्यान करना चाहिये ॥ ६४ ॥

विशेषार्थ—आत्मा चारित्रवान् है इसलिये जिस मुनिकी चारित्रमें प्रीति है वह आत्माको ही आश्रय करे । आत्मादर्शन और ज्ञान से सहित है इसलिये जिस मुनिका दर्शन और ज्ञान में अनुराग है वह आत्मा का आश्रय करे । गुरुका अर्थं निर्धन्याचार्य है । उसके प्रसाद से आत्मा को जानकर उसका निरन्तर ध्यान करना चाहिये । यह वस्तु कर स्वभाव है कि जिस आचार्य की प्रसन्नता से आत्म लाभ होता है उसको विराधना आज्ञाभूक्त करने पर आत्मा अच्छी तरह स्पष्ट नहीं होती । जैसा कि कहा है—

गुणेषु ये दोषमनीषयान्वा दोषान् गुणीकर्तुं प्रयेशते ये ।

श्रोतुं कवीनां वस्त्रं न लेऽहीः सरस्वतीद्वौहिषु कोऽधिकारः ॥१॥

अथवा गुणों पञ्चतयाना परमेष्ठिनां प्रसादादात्मा प्रभुलैभ्यते । तेषां प्रसादं बिना आत्मप्रभुन् प्राप्यत इत्यर्थः । यथा राजानं इष्टुकामः कदिचत् पुमान् तत्सामन्तकादीन् पूर्वं पश्यति ते तु राजानं भेदपनिः, तदेतत्तोऽपि तद मध्येषुभ्युपि न लभ्यते इति कारणात् पूर्वं पञ्चदेवताः प्रसादनीया आत्मलाभमिष्ठता योगिनेति भावार्थः ।

दुक्खे णज्जह अप्या णाऊण भावणा दुक्खं ॥

भावियसहावपुरिसो दिसएसु विरच्छए दुक्खं ॥६५॥

दुःखेन ज्ञायते आत्मा आत्मानं ज्ञात्वा भावना दुःखम् ।

भावितस्वभावपुरुषो विषयेषु विरज्यति दुःखम् ॥६५॥

(दुक्खं पञ्जह अप्या) दुःखेन महता कञ्जेन तावदात्मा ज्ञायते आत्मास्तीति बुद्धिरुत्पद्यते । (अप्या णाऊण भावणा दुक्खं) यद्यात्मास्तीति ज्ञातं तदा तस्मिन्नात्मनि भावना वासनाऽहनिश्चिन्तनं तदगुणस्मरणादिकं दुःखं सुष्पाप्य भवति ।

गुणेषु ये—जो गुणों में दोष बुद्धि से अन्वे हैं अर्थात् गुणों को दोष सिद्ध करते हैं और दोषों को गुण सिद्ध करने की सामर्थ्य रखते हैं वे कवियों के दब्बन सुनने के थोड़े नहीं हैं । सरस्वतीद्वौहियों का अधिकार हो क्या है ?

अथवा गुह्य से पञ्च परमेष्ठियों का ग्रहण करना चाहिये । उन्हीं के प्रसाद से आत्मा रूपी प्रभुका लाभ होता है अर्थात् उनके प्रसादके बिना आत्मा रूपी प्रभुकी प्राप्ति नहीं होती । जिस प्रकार राजाके दर्शनकी इच्छा करने वाला कोई पुरुष पहले उनके सामन्त आदि से मिलता है क्योंकि वे उसे राजासे मिला देते हैं उनके बिना वहाँ प्रवेश भी प्राप्त नहीं होता इसलिये आत्मलाभ के इच्छुक मुनिको पहले पञ्चपरमेष्ठियों को प्रसन्न करना चाहिये ॥ ६४ ॥

गायत्री—प्रथम तो आत्मा दुःख से जानी जाती है, फिर जान कर उसकी भावना दुःख से होती है फिर आत्म स्वभाव की भावना करने वाला पुरुष दुःख से विषयों में विरक्त होता है ॥६५॥

विशेषार्थ—प्रथम तो 'मैं आत्मा हूँ' इस प्रकार की बुद्धि ही नड़े दुःख से उत्पन्न होती है तदनन्तर आत्मा हूँ इस प्रकार का ज्ञान भी यदि ही जाता है तो उस आत्मा की निरन्तर भावना करना—रातदिन उसों के

(भाविष्यसहावपुरिसो विसएसु विरच्चह दुक्षर्ण) भावितस्वभावः पुरुषः आत्मभाव-
नासहितोऽपि सूरि: यद्विषयेषु वनिताज्ञतस्तनज्ञवद्वलोचनादिविक्लोम्बे सडाती-
लापगोष्ठीषु शरीर स्वर्णनादिसुखेषु विरच्यति तत्सुख हालाहलविषास्वद्वज्ञा-
नाति तवतीव दुःख दुःखरभीति तात्पर्यार्थः ।

ताव ण णजजङ्ग अप्पा विसएसु णरो पवद्वृए जाम ।

विसए विरक्तचित्तो जोई जाणेइ अप्पाण ॥ ६६ ॥

तावत् न ज्ञायते आत्मा विषयेषु नरः प्रवर्तते थावत् ।

विषये विरक्तचित्तः योगो जानाति आत्मानम् ॥ ६६ ॥

(ताव ण णजजङ्ग अप्पा) तावकालमात्मा न ज्ञायते । तावत्क्षमत् ?
(विसएसु णरो पवद्वृए जाम) यावत्कालं विषयेषु पूर्वोक्तलक्षणेषु नरो जीवः
प्रवर्तते व्याप्रियते । (विसए विरक्तचित्तो) विषये पूर्वोक्तलक्षणे विरक्तचित्तो
निवृतचेता थती । (जोई जाणेइ अप्पाण) योगी इयानवान् पूर्मान् महामुनिरात्मानं
जानाति प्रत्यक्षतया पश्यति ।

अप्पा णाऊण णरा कोई सबभावभावपवभद्वा ।

हिंडति चाउरंगं विसएसु विमोहिया मूढा ॥ ६७ ॥

आत्मानं शाल्वा नराः केचित्सद्भावप्रभ्रष्टाः ।

हिण्डन्ते चातुरङ्गं विषयेषु विमोहिता मूढाः ॥ ६७ ॥

गुणोंका स्मरण आदि करना दुःख है—दुष्प्राप्य है तदनन्तर यदि आत्मा की
आवत्ता भी होती है तो स्त्री आदि विषयों से विरक्त होना दुःख है—
दुष्प्राप्य है ॥ ६५ ॥

गाथार्थ—जब तक मनुष्य विषयों में प्रवृत्ति करता है तब तक
आत्मा नहीं जानो जाती अर्थात् आत्म जान नहीं होता है । विषयों से
विरक्त चित्त योगी ही आत्मा को जानता है ॥ ६५ ॥

विशेषार्थ—तब तक आत्मा नहीं जानो जाती जब तक की मनुष्य
विषयों में प्रवृत्त होता रहना है । यथार्थ में विषयों से विरक्त चित्त योगी
ही अर्थात् महामुनि ही आत्माको जानता है ॥ ६६ ॥

गाथार्थ—आत्माको जानकर भी कितने ही लोग सद्भाव की आवत्ता
से—निजात्म भावना से भ्रष्ट होकर विषयोंमें मोहित होते हुए चतुर्गति
रूपी संसार में झटकते रहते हैं ॥ ६७ ॥

(अप्या णाठण णरा) आत्मार्न जात्वा आत्मास्तीति सम्यन्विताय नरा वहिरात्मजीवाः । (केहि सब्मावपब्मद्धा) केचित् सद्भावप्रभृष्टाः केचित् विविलितः सन् समीचिनो भावः सद्भावः निजात्मभावना तस्मात्प्रभृष्टा निजशुद्धबुद्धिक-स्वभावात्मभावनाप्रम्भुता विषयसुखद्वयिनासु रता इत्यर्थः । (हिंडति चाउरंग) हिंडन्ते परिभ्रमन्ति पर्यटनं कुर्वन्ति चाउरंग—चतुर्गो भवं चातुर्गं चतुर्गति-संसारसंसरणं यथा भवत्येव । (विसएसु विमोहिया मूढा) विषयेषु पञ्चेन्द्रियाश्चेषु स्पर्शरसमन्वयणशब्देषु विमोहिता लोभं गताः, से च विषया अनादिकाले जीवेनास्वादिताः, आत्मोत्थस्वाधीनं सुखं कदाचिद्दपि न प्राप्ताः । तता चोक्त—

अद्वृट् कि किमल्पृष्टं किमनाङ्गातमश्रुतं ।
किमनात्वादितं येन पुनर्नवमिवेक्ष्यते ॥ १ ॥
मुक्तोजिज्ञसा सहुमोहितान्मया सर्वेऽपि पृदगलाः ।
अच्छिष्टेऽविव तेष्वद्य सम विश्वस्य का स्पृहा ॥ २ ॥

विषयेषु विमोहिता ये ते गुड़ डक्कान्तेः चाहिरात्मन इत्यर्थः । तेन वहिरात्म-भावं गत्यज्यात्मभावना कर्तव्या ।

विशेषार्थ—कितने हो वहिरात्मा जीव किसी तरह आत्मा को जान भो लेते हैं परन्तु शुद्ध-शुद्धैक स्वभाव आत्मा की भावना से भ्रष्ट होकर पञ्चेन्द्रियों के स्पर्श रसगन्ध वर्ण और शब्द रूप विषयों में लुभा जाते हैं और उसके फल स्वरूप चतुरज्ञ—चतुर्गति रूप संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं । इस जीवने पञ्चेन्द्रियों के विषय अनादि कालसे प्राप्त किये परन्तु आत्मोत्थ स्वाधीन सुख कभी भी प्राप्त नहीं किया है । जैसा कि कहा है—

अद्वृट्—इन विषयों में ऐसा कौन विषय है जिसे इस जीवने पहले न देखा हो, न छूआ हो, न सूचा हो, न सुना हो, न अखा हो, जिससे कि वह नवोन के समान दिलाई देता है ॥ १ ॥

भक्तोजिज्ञसा—मेरे द्वारा सभी पुद्गल बार बार भोगकर छोड़े गये हैं फिर आज मुझ जानी की जूठन की तरह उन विषयों में मोह वश इच्छा करना क्या है ?

जो जीव विषयों में मोहित है वे मूढ़ हैं—अज्ञानी हैं, वहिरात्मा हैं, अतः वहिरात्मभाव को छोड़कर आत्म भावना करना चाहिये ॥ ६७ ॥

जे पुण विषयविरता अप्या णाऊण भावणासहिता ।
छंडति चाउरंगं तवगुणजुता ण संवेहो ॥६८॥

ये पुनः विषयविरक्ता आत्मानं ज्ञात्वा भावनासहिताः ।

त्यजन्ति चातुरङ्गं तपोगुणयुक्ता न सन्देहः ॥ ६८ ॥

(जे पुण विषयविरता) ये पुनरासन्नभव्यजीवा विषयेभ्यो विरक्ताः पराङ्मुखा विषयेषुत्पन्नविषयभावनाः । (अप्या णाऊण भावणासहिता) आत्मानं ज्ञात्वा आत्मभावनासहिता भवन्ति । (छंडति चाउरंगं) ते पुरुषास्त्यजन्ति, कि ? चातुरंगं संसारं । (तवगुणजुता ण संवेहो) तप एव गुणस्तपोगुणस्तेन युक्ताः । अथवा तपो द्वाक्षराभेदं गुणा अट्ठार्दिक्षातिमूलगुणा उत्तरगुणाश्च बहुभेदालौयुक्ताः संसारं त्यजन्ति अप्य सन्देहो नास्ति संशयो न कर्तव्यः । उक्तं च गौतमेना महर्षिणा—

बदसमिदिदियरोषो लोचाक्षसयमचेलमाहाणं ।
विदिसप्तमदस्वर्णं ठिदिमोयणमेगभर्तं च ॥ १ ॥
एदे खलु मूलगुणा समणाणे जिणवरेहि पण्डिता ।
एत्य प्रमादकदादो अहचारादो नियत्तो हं ॥ २ ॥

गाथार्थ—और जो विषयोंसे विरक्त होते हुए आत्मा को जानकर उसकी भावना से सहित रहते हैं वे तप रूपी गुण अथवा तप और मूलगुणों से युक्त होकर चतुरङ्गं संसार को छोड़ते हैं ॥ ६८ ॥

विशेषार्थ—जो निकट भव्य जीव विषयों को विषयके समान देखते हुए उनसे विरक्त रहते हैं तथा आत्मा को जानकर सदा उसके शुद्ध-शुद्धेक स्वभाव की भावना रखते हैं वे तप रूप गुण अथवा बारह तप और अट्ठार्दिस मूलगुण तथा अनेक भेदोंसे युक्त उत्तर गुणों से सहित होते हुए चतुर्गति रूप संसार का त्याग करते हैं इसमें संशय नहीं है । जैसा कि महर्षि गौतम ने कहा है—

बदसमिदिदिय—पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रियदमन, केश-लोचन, छह आवश्योंका पालन, वस्त्र त्याग, स्नान त्याग और एकबार खड़े खड़े भोजन करना ये मुनियों के अट्ठार्दिस मूलगुण जिनेन्द्र भगवान् ने कहे हैं । इनमें प्रमादके कारण लगे हुए अतिचारों से मैं निकृत हुआ हूँ ॥ ६८ ॥

परमाणुप्रमाणं वा परदब्धे रदि होवेदि मोहादो ।

सो मूढो अज्ञाणी आदसहावस्स विवरोदो ॥६९॥

परमाणुप्रमाणं वा परदब्धे रति भवति मोहात् ।

स मूढोज्ञानी आत्मस्वभावाद्विपरीतः ॥ ६९ ॥

(परमाणुप्रमाणं वा) परमाणुप्रमाणं वा । (परदब्धे रदि होवेदि मोहादो) परदब्धे रतिभवति मोहादज्ञानात् परमाणुप्रमाणात् रतिमोहावशानादभवति, किन्तु अत बल्ही रतिः ? महती रतिस्तु अज्ञानादभवत्येव । (सो मूढो अज्ञाणी) यस्य परदब्धे स्वाद्विविष्ये रतिभवति स मुनिमूङ्दः तस्यैक पर्यायोज्ञानीति । (आदसहावस्स विवरोदो) स मुनिरात्मस्वभावाद्विपरीतः परदब्धरत इत्युच्चते बहिरात्मा कथ्यत इति भावार्थः । एवं ज्ञात्वा परमात्मानं परिस्पृष्ट्य परदब्धे रतिनं कर्तव्येति तात्पर्यर्थः ।

अप्पा ज्ञायन्ताणं दंसणसुद्धोण दृढचरित्ताणं ।

होदि ध्रुवं णिष्ठाणं विसएसु विरत्तचित्ताणं ॥७०॥

आत्मानं ध्यायतां दर्शनशुद्धोनां दृढचारित्राणाम् ।

भवति ध्रुवं निर्धीर्णं विषयेषु विरक्तचित्तानाम् ॥ ७० ॥

गाथार्थ—जिसकी अज्ञान वश परदब्धमें परमाणु प्रमाण भी रति है वह मूढ़ है, अज्ञानी है और आत्मस्वभाव से विपरीत है ॥ ६९ ॥

विशेषार्थ—परदब्ध विषयक रति अज्ञान के कारण होती है । जब कि परमाणु प्रमाण रति भी अज्ञान के कारण होती है तब अधिक रति तो अज्ञान से होती ही है । जिस साधु की स्त्री आदि परदब्ध में रति है वह साधु मूढ़ है, उसीका दूसरा नाम अज्ञानी है, ऐसा साधु आत्मस्वभाव से विपरीत है । परदब्ध में रत रहने वाला साधु बहिरात्मा कहा जाता है । ऐसा जान परमात्माको छोड़कर द्वयमें रति नहीं करना चाहिये ॥६९॥

गाथार्थ—जो आत्माका ध्यान करते हैं, जिनके सम्यादर्शन की शुद्धि विद्यमान है, जो दृढचारित्र के धारक हैं तथा जिनका चित्त विषयों से विरक्त है ऐसे युरुषों को निश्चित ही निवाण प्राप्त होता है ॥ ७० ॥

१. परमाणुमित्ताणं पि हु रायादोणं तु विज्ञादे जस्स ।

ण वि सो जाणदि अणाणयं तु सब्बागमघरोदि ॥२०१॥

अणाणमयाणांतो अणप्यये चावि सो अयाणसी ।

कह होदि सम्मदित्ती चीवाजीवे अयाणसी ॥२०२॥

—समयसार

(अप्या ज्ञात्यताणं) आत्मानं व्यायतां मुनीनां । (इसप्रसुद्धोण दिढ्चरित्ताणं)
दर्शनस्य शुद्धिनेमंल्यं चलमलिनत्वरहितसम्यक्त्वानां चर्मजलभृततेलभृतनाशनादि-
परिहरतां शरीरमात्रबद्धनेन परागवेषु कृतादितो एरहितशत्रुरात्रा दर्शनशुद्धिमत्ता,
शृङ्खलारित्राणां ब्रह्मचर्यप्रत्याख्यानादिवृक्षारित्राणां । (होदि ध्रुव णिक्षाणं)
भवति ध्रुवमिति निश्चयेन निर्वाणं मोक्षो भवति । (विसेषु विरक्तचित्ताणं)
विषयेषु इष्टवनितालिङ्गनादिषु विरक्तचित्तानां विषयान् विष मन्यमानानामिति
संक्षेपताऽर्थो ज्ञानव्यो ज्ञानीयो शेय इति ।

जेण रागे परे वद्ये संसारस्स हि कारणं ।

तेणावि जोइणो णिच्छं कुञ्जा अप्ये सभावणा ॥७१॥

येन रागे परे द्रव्ये संसारस्य हि कारणम् ।

तेनापि योगो नित्यं कुर्यादित्यनि स्वभावनाम् ॥ ७१ ॥

(जेण रागे परे वद्ये) बनितादिना पर्यायेण, रागे सति राग उत्पद्यते,
परक्षीये द्रव्ये आत्मनो मिन्ने वस्तुनि । (संसारस्स हि कारणं) स रागः कथंभूतः,
संसारस्य भवत्तमणस्य, हि निश्चयेन, कारणं हेतुः । (तेणावि) न केवल आत्मनि
आत्मभावनां कुर्यात् किन्तु तेनापोष्ट बनितादिना । (जोइणो) योगी । (णिच्छं)

विशेषार्थ—जो मुनि आत्माका ध्यान करते हैं, जिनके सम्यग्दर्शन
की निर्मलता है अर्थात् जिनका सम्यक्त्व चलमलिनत्व आदि दोषों से
रहित है जो चमड़े के पात्र में रखे हुए जल धो तेल तथा हीम आदिका
परित्याग करते हैं, जो शरीर मात्र दिखाकर दूसरों के घरों में कृतादि
दोषों से रहित आहार ग्रहण करते हैं, जो ब्रह्मचर्य तथा प्रत्याख्यान आदि
दृढ़ चारित्र से युक्त हैं तथा इष्ट-स्त्री आदि पञ्चेन्द्रियों के विषयों में
विरक्त चित्त हैं अर्थात् विषयोंको विषके समान मानते हैं उन मुनियों को
निश्चय से निवाण(मोक्ष)प्राप्त होता है ॥ ७० ॥

गायार्थ—जिस स्त्री आदि पर्याय से परद्रव्य में राग होनेपर वह राग
संसारका कारण होता है योगी उसी पर्यायसे निरन्तर आत्मा में आत्मा
भावना करता है ॥ ७१ ॥

विशेषार्थ—साधारण मनुष्य के स्त्री आदि पर्याय के कारण परद्रव्य
में जो राग भाव होता है वह उसके संसार का कारण बन जाता है परन्तु
योगी—वीतरामी मुनिके उसी स्त्री आदि पर पर्याय से निरन्तर आत्मा में
आत्म भावना उत्पन्न होती है जो कि मोक्षका कारण बनती है ।

भावार्थ—साधारण मनुष्य स्त्रीको देखकर उसमें राग करता है जिससे

नित्य-सर्वकालं । (अपे) आत्मनि । (सभावणा कुज्जा) सभावनां आत्मभावनां कुर्यात् । कथमिति चेत् ? इयमिष्टवनिला अनन्तकेवलज्ञानमयी वर्तते यथा समात्मा-नन्तकेवलज्ञानमयो वर्तते । इयमहं च इवपि केवलज्ञानिनी वर्तति हे । तेन इयम-प्यात्मा ममेति को नाम पृथग्वर्तते येन सह स्नेहं करोमि । तथा चोपनिषद्—

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मेवाभूद्विजानतः ।

तत्र को मोहः कश्चोक एतत्वमनुपश्यतः ॥ १ ॥

णिदाए य पसंसाए दुख्ये य सुहएसु य ।

सत्तूण चेव बन्धूण चारित्तं समभावदो ॥७२॥

निन्दायां च प्रशंसायां दुःखे च सुखेषु च ।

शत्रूणां चेव बन्धूनां चारित्रं समभावतः ॥७२॥

(णिदाए य पसंसाए) निन्दायां प्रशंसायां च समभावतश्चारित्रं भवतोति सम्बन्धः । (दुख्ये य सुहएसु य) दुखे च सुखे च समागतेष्वित्युपस्कारः । (सत्तूण चेव बन्धूण) शत्रूणां चेव बन्धूनां समायोगे इत्युपस्कारः । (चारित्रं

उसके संसार को वृद्धि होती है परन्तु योगी-ज्ञानी मनुष्य स्त्री को देखकर विचार करता है कि जिस प्रकार मेरी आत्मा अनन्त केवल ज्ञानमय है उसी प्रकार इस स्त्री की आत्मा भी अनन्त केवल ज्ञानमयी है । यह स्त्री और मैं-दोनों ही केवल ज्ञानमय हैं । इस कारण यह स्त्री भी मेरी आत्मा है मुझसे पृथक् इसमें है ही क्या ? जिससे स्नेह करूँ । उपनिषद् में भी ऐसा कहा है—

यस्मिन्—जिस एकत्व के प्राप्त होनेपर ज्ञानी जोवके समस्त भूत आत्मस्वरूप ही होजाते हैं उस एकत्व भावको मैं प्राप्त हो चुका हूँ अतः मुझे मोह क्या है ? और शोक क्या है ? अर्थात् एकत्व के प्राप्त होनेपर आत्मा के राम और द्वेष दोनों नष्ट हो जाते हैं ।

[पं० जयचन्द्र जी ने अपनी वचनिका में “जेणरागो परे दब्बे” ऐसा पाठ स्वीकृत कर यह अर्थ प्रकट किया है—चूँकि पर द्वब्य सम्बन्धी राग संसारका कारण है इस लिये योगी को निरन्तर आत्मा में ही आत्म भावना करना चाहिये । परन्तु इस अर्थ में ‘तेणाचि-तेनापि’ यही तेन शब्दके साथ दिये हुए अपि शब्दकी निरर्थकता सिद्ध होती है ।]

गायार्थ—निन्दा और प्रशंसा, दुःख और सुख तथा शत्रु और मित्र में समभाव से ही चारित्र होता है ॥७२॥

समभावदो) समभावतः समतारिणम् सति चारित्रं भवतीति निविकल्पसमाधि-
रूपं यथाख्यातं चारित्रं भवतीति भावार्थः ।

चरियावरिया वदसमिदिवजिजया सुद्धभावपबभट्टा ।

केई जंपंति णरा ण हु कालो झाणजोयस्स ॥७३॥

चयविरिका ब्रतसमितिवजिता शुद्धभावपबभट्टा ।

केचित् जल्पन्ति नराः न हि कालो व्यानथोगस्य ॥७३॥

(चरियावरिया) चयविरिका व्यानथोगस्य आवरण येषां ते चयविरिका-
चारित्रमोहनोयकर्मयुक्ताः (वदसमिदिवजिजया) ब्रतसमितिवजिता ब्रतरहिताः
समितिहीनाश्च । (सुद्धभावपबभट्टा) शुद्धभावपबभट्टा रागद्वेष मोहाद्विभिः परि-
णामैः कश्चलोकुत्ता आत्मध्यानहीनाः । (केई जंपंति णरा) केचिद्विरात्मानो
नराः पुरुषा जल्पन्ति ब्रुवन्ति । कि जल्पन्ति ? (ण हु कालो झाणजोयस्स)

विशेषार्थ—मोह अर्थात् मिथ्यात्व और क्षोभ अर्थात् रागद्वेष के
अभाव को समभाव कहते हैं । इस समभाव के प्रकट होनेपर मूलिके इष्ट
अनिष्ट पदार्थोंके मिलने पर हृषि विषाद उत्पन्न नहीं होता यही भाव
हृदयेगत कर आचार्य महाराज कहते हैं कि निर्दा और प्रशंसा में सम-
भाव रखने से चारित्र होता है, दुःख और सुख के प्राप्त होनेपर समभाव
रखने से चारित्र होता है और शत्रुओं तथा दत्त्वुओं के संयोग होनेपर सम-
भाव रखने से चारित्र होता है । यही चारित्र पद से निविकल्प समाधि-
रूप यथाख्यान चारित्र का ग्रहण करता चाहिये ॥७३॥

आगे कोई कहते हैं कि यह ध्यानके योग्य समय नहीं है सो इसका
निराकरण करते हैं—

गाथार्थ—जो चारित्र को आवरण करने वाले चारित्रमोहनीय कर्म
से युक्त हैं, ब्रत और समिति से रहित हैं तथा शुद्धस्वभाव से च्युत हैं ऐसे
कितने ही मनुष्य कहते हैं कि यह ध्यान रूप योग का समय नहीं है अर्थात्
इस समय ध्यान नहीं हो सकता ॥७३॥

विशेषार्थ—योग के आठ अङ्ग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम,
प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि । इन आठ अङ्गों में से ध्यान योग
का सातवाँ अङ्ग है । कुछ लोग कहते हैं कि यह पञ्चम काल ध्यान के
योग्य नहीं है अर्थात् इस समय ध्यान नहीं हो सकता है । परन्तु ऐसा
कहने वाले हैं कौन ? जो चारित्र मोहनोय कर्मके उदयसे युक्त हैं, जो ब्रती
और समितियों से रहित हैं, तथा जो राग, द्वेष और मोह रूप वरिवामों

ध्यानयोगस्य अव्याङ्ग्योगमध्ये सुप्तमो योगो ध्यानयोगस्तस्य कालोऽवकरो न वर्तते ।
कथं ? हि—स्फुटं । के ते अव्याङ्ग्योगाः—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्यहारधारणाध्यानसमाधयः । इति ।

सम्मत्तणाणरहितो अभव्यजीवो हु मोक्षपरिमुक्तो ।

संसारसुखे सुरदो ण हु कालो भणइ ज्ञाणस्स ॥७४॥

सम्यक्त्वज्ञानरहितो अभव्यजीवो हि मोक्षपरिमुक्तः ।

संसारसुखे सुरतः न हि कालो भणति ध्यानस्य ॥७४॥

(समस्तणाणरहितो) सम्यक्त्वरहितो मिथ्यादृष्टिः, ज्ञानरहितोऽज्ञानो मूढ-
जीवो बहिरात्मा । (अभव्यजीवो हु मोक्षपरिमुक्तो) अभव्यजीवो रत्नत्रयस्या-
योगयो लौकादिको मोक्षपरिमुक्तः तस्य कदाचिदपि कर्मयो न अदिव्यति स न
सेत्यति कोक्टूकमूढगवत् । (संसारसुखे सुरदो) संसारसुखे वनितायोनिमथनसुखे,
सुरतः सुषु अतिशयेन रतः तत्परः । (ण हु कालो भणइ ज्ञाणस्स) एव दोषदुष्टो
भणति द्रूते, कि भणति ? ध्यानस्य कालो न भवति । कथं ? हु—स्फुटं ।

से कलुषित होनेके कारण शुद्धभाव से झट्ट हैं—आत्मध्यान से विमुख हैं ।
ऐसे जोक अपनी पुरुषार्थ होनता को छिपाने के लिये कहते हैं कि यह
ध्यान के योग्य समय नहीं है ॥७४॥

आगे और भी इसी बातको स्पष्ट करते हैं—

गाथार्थ—जो सम्यक्त्व तथा सम्यग्ज्ञान से रहित है, जिसे कभी मोक्ष
होना नहीं है, तथा जो संसार सम्बन्धी सुख में अत्यन्त रत है ऐसा अभव्य
जीव ही कहता है कि यह ध्यान का समय नहीं है अर्थात् इस समय ध्यान
नहीं हो सकता ॥७४॥

विशेषार्थ—मोक्ष की प्राप्तिसे रहित, संसार सुख में आसक्त
मिथ्यादृष्टि एवं मिथ्याज्ञानी अभव्य जीव ही ऐसा कहते हैं कि यह ध्यान
का काल नहीं है—इस समय ध्यान नहीं हो सकता परन्तु सम्यग्दृष्टि,
सम्यग्ज्ञानी, मोक्ष प्राप्ति की योग्यता रखने वाले और संसार सुख से
विरक्त रहने वाले पुरुष ऐसा नहीं कहते कि यह ध्यान का काल
नहीं है ।

पञ्चसु महावदेसु य पञ्चसु समिदीसु तीसु गुत्तोसु ।
 जो मूढो अणगाणो य हु कालो भणई झाणस्स ॥७५॥
 पञ्चसु महावतेसु य पञ्चसु समितिषु तिसृषु गुप्तिषु ।
 यो मूढः अज्ञानी न हि कालो भणति ध्यानस्य ॥७५॥

(पञ्चसु महावदेसु य) पञ्चसु महावतेषु च प्राणातिपातमूषावादसत्त्वमैधुनपरिग्रह-
 सर्वथापरित्यागो महाव्रतमूच्छते एतेषु पञ्चसु महावतेषु यो मूढश्चारित्रमोहवलव-
 त्तरः । चकारादण्डज्ञानामपि अप्रतिपालको रात्रिभोजननियमरहितः अर्जलवृत-
 तैलरामठास्वादन रैतः (पञ्चसु समिदीसु तीसु गुत्तोसु) ईर्यासमितिः—करञ्जतुष्टय
 मार्गमवलोक्य गमनं, भाषासमितिः—आगमावहदभाषणं, एषणासमितिः—पूर्वो-
 क्तषट्चत्वारिंशद्विष्टाहारयहणं, आदाननिक्षेपणसमितिः—ज्ञानोपकरणशीक्षा-
 पकरणानां पूर्व दृष्ट्वा पश्चान्मध्यरपिष्ठैः प्रतिलेख्य ग्रहणं विसर्जनं च आदाननिक्षे-

गायार्थ—जो पाँच महावतों, पाँच समितियों तथा तीन गुप्तियों के
 विषय में मूढ़ है तथा अज्ञानी है वही कहता है कि यह ध्यान का काल
 नहीं है अर्थात् इस समय ध्यान नहीं हो सकता ॥७५॥

विशेषार्थ—हिंसा, शूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह इन पाँच पापोंका
 सर्वथा त्याग करना महाव्रत है । ये अहिंसा महाव्रत आदिके भेदसे पाँच हैं
 जो इन पाँचों महावतोंमें मूढ़ है अर्थात् अरथन्त बलवान् चारित्र मोहके
 उदय से जो महाव्रत धारण करने में असमर्थ है । चकार से यह भी सूचित
 होता है कि जो अणुवतों का भी पालन नहीं करता है, रात्रिभोजन के
 त्यागका जिसके नियम नहीं है तथा चमड़े के पात्र में रखे हुए जल, धी,
 तैल और हींग के खाने से जो आसक्त है । चार हाथ प्रमाण मार्ग देखकर
 चलना ईर्यासमिति है, आगम के अविरुद्ध वचन बोलना भाषासमिति है,
 पूर्वाक्त छ्यालीस दोषोंसे रहित आहार ग्रहण करना एषणासमिति है,
 ज्ञान तथा शीच के उपकरणों को पहले देखकर पीछे मयूर को पिछी से
 परिमार्जन कर उठाना रखना आदाननिक्षेपण समिति है, तथा मलमूशादि
 का लोकसे अविरुद्ध एवं जीव रहित स्थान में छोड़ना प्रतिष्ठापनसमिति
 है । जो इन पाँचों समितियों में मूढ़ है अर्थात् विवेक से शून्य है तथा
 जो मनोगुप्ति वचनगुप्ति और कायगुप्ति के पालन करने में मूढ़ है साथ
 ही अज्ञानी अर्थात् जिनागम से बहुभूत है वही ऐसा कहता है कि यह

पणासमितिः, प्रतिष्ठापनासमितिः—मलमूत्रशरीरादिकस्याविरुद्धनिर्जन्तुप्रदेशे विस-
जनं एतासु पञ्चसु समितिषु यो मूढो निविवेकः । तिसृष्टु गुप्तिषु मनोगुप्तिवाग्गुप्ति-
काष्मुप्तिषु । (जो मूढो अण्णाणी) यः पुमान् मूढा निविवेकोऽज्ञानो जिनसूत्रबहिर्भूतः । (य हु कालो भण्ह भाणस्स) न विद्यते हु—स्फुटं, कोऽस्तौ ? कालोऽवसरः,
ध्यानस्य सप्तमयोगस्य, एवं भणति त्रृते ।

भरहे दुस्समकाले धर्मज्ञानं हन्ते राहुरतः ।
तं अप्सहावठिदे ण हु मण्ड सो वि अण्णाणी ॥७६॥

भरते दुष्प्रमकाले धर्मर्थध्यानं भवति साधोः ।
तदात्मस्वभावस्थिते न हि मन्यते सोऽपि अज्ञानी ॥७६॥

(भरहे दुस्समकाले) भरहे—भरतक्षेत्रे भारतवर्ण, दुष्प्रमे काले पञ्चमकाले
कलिकालापरताम्नि काले । (धर्मज्ञानं हन्ते इ साहुस्स) धर्मर्थध्यानं भवति साधो-
विगम्बरस्य मुनेः । (तं अप्सहावठिदे) तद्वर्त्मध्यानं आत्मस्वभावस्थिते आत्म-
भावनातन्मये मुनौ भवति । (य हु मण्ड सो वि अण्णाणी) न मन्यते नाञ्छी-
करोति सोऽपि पुमान् पापीयान् अज्ञानी तिनसूत्रदात्यः ।

ध्यान का समय नहीं है । इसके विरोत जो पाँच महाब्रत, पाँच समिति
तथा तीन गुप्तियोंका पालन करने वाला और जिनागमका पाठी-सम्ब-
ग्नानी है वह ऐसा नहीं कहता कि यह ध्यानका समय नहीं है ॥७६॥

गाथार्थ—भरत क्षेत्रमें दुष्प्रमनामक पञ्चम काल में मुनि के धर्म-
ध्यान होता है तथा वह धर्मर्थध्यान आत्म स्वभाव में स्थित साधु के होता
है ऐसा जो नहीं मानता वह अज्ञानी है ॥७६॥

विशेषार्थ—भरत क्षेत्र में क्रम क्रम से उत्सर्पिणी और अपसर्पिणी के
छह कालों का परिवर्तन होता रहता है । इस समय यहाँ दुष्प्रमा नामका
अपसर्पिणी का पाँचवाँ काल चल रहा है । यह ठोक है कि इस समय यहाँ
मोक्ष प्राप्त नहीं है अर्थात् इस काल का उत्पन्न हुआ मनुष्य
मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता तथापि धर्मर्थध्यान का निषेध नहीं है जो
मुनि इस समय की आत्म भावना से तन्मय है उसे धर्मर्थध्यान हो सकता
है ऐसा जो नहीं मानता है वह पुरुष नापो, अज्ञानी तथा जिनागम के
ज्ञान से रहित है ॥७६॥

अज्ज वि तिरयणसुद्धा अप्या झाएवि लहहि इदसं ।
 लोक्यतिथेवत्तं तत्य चुआ णिक्षुदि जंति ॥७७॥
 अद्यापि त्रिरत्नशुद्धा आत्मतं ध्यात्वा लभन्ते इन्द्रत्वम् ।
 लौकान्तिकदेवत्वं ततः च्युत्वा निर्वाणं यान्ति ॥७७॥

(अज्ज वि तिरयणसुद्धा) अद्यापि पञ्चमकालोत्पन्नाः समनस्ताः पञ्चेन्द्रिया उत्तमकुलादिसामग्रीप्राप्ता वैराग्येण गृहीतयीक्षास्त्रिरत्नशुद्धाः सम्यक्लक्ष्मानचारित्र-निर्भला वत्तन्ते एव, ये कथयन्ति महाव्रतिनो न विद्यन्ते ते नास्तिका जिनसूत्रबाह्या ते ज्ञातव्याः आसन्त भव्याः कि कुर्वन्ति ? (अप्या झाएवि लहहि इदसं) आत्मानं ध्यात्वा भावयित्वा लभन्ते इन्द्रत्वं शक्रपदं । न केवलमिन्द्रस्त्रं लभन्ते, (लोक्यतिथ-देवत्वं) केविदलमधुता अपि साधव आत्मभावनावलेन लौकान्तिकत्वं लभन्ते पञ्चम-स्वर्गस्पान्ते पर्यन्तप्रदेशोषु तेषां विमानानि सन्ति, तत्र भवा लौकान्तिकाः सुरमुन-पश्च कथ्यन्ते, ते स्वर्गं स्थिता अपि ब्रह्मवर्यं प्रतिपाल्यन्ति—सर्वीरहिता भवन्ति, तोर्थकरसम्बोधनकाले यत्वेलोकमागच्छन्ति अवका स्वस्थानमेवावतिष्ठन्ते ।

गाथार्थ—आज भी रत्नत्रयसे शुद्धता को प्राप्त हुए मनुष्य आत्मा का ध्यान कर इन्द्र पद तथा लौकान्तिक देवोंके पदको प्राप्त होते हैं और वहाँ से च्युत होकर निर्वाणको प्राप्त होते हैं ॥७७॥

विज्ञेयार्थ—आज भी पञ्चम काल में उत्पन्न सैनी पञ्चेन्द्रिय जीव उत्तम कुल आदि सामग्री को प्राप्त होकर वैराग्य वश दीक्षा धारण करते हैं तथा रत्नत्रय से शुद्ध रहते हैं अथवा तिर्दोष सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्लक्ष्मारित्र के धारके रहते हो हैं । जो कहते हैं कि इस समय महाव्रती नहीं हैं वे नास्तिक हैं उन्हें जिनशासन से बाह्य जानना चाहिये । रत्नत्रय की शुद्धता को प्राप्त हुए निकट भव्य जीव आज भी इस पञ्चम कालके समय भी इन्द्रपद को प्राप्त होते हैं । न केवल इन्द्रत्व पदको ही प्राप्त होते हैं किन्तु कितने ही मुनि अल्पश्रुत के जाता होकर भी आत्म भावना के बल से लौकान्तिक देवोंका पद प्राप्त करते हैं । पञ्चम स्वर्गं के अन्त में अन्तिम प्रदेशों में लौकान्तिक देवों के विमान हैं उनमें उत्पन्न होने से वे लौकान्तिक कहलाते हैं इन्हें सुरमुनि—देवर्षि भी कहते हैं वे स्वर्ग में स्थित रहते हुए भी ब्रह्मवर्य का पालन करते हैं—सभी से रहित होते हैं और तोर्थकरों को सम्बोधने के समय मनुष्य लोक में आते हैं अन्यथा अपने स्थान में ही स्थित रहते हैं ।

चतुर्लक्षणः सहस्राणि सप्त चैव शताष्टकं ।
विषातिमेलिता एते बुधैर्लोकान्तिका मताः ॥ १ ॥

“सारस्वत्यादित्यवन्हुरुणगदंतोयतुषिताव्याबाधारिष्टाइच” इति तेषां अष्टी जातयः । तथा तेषां षोडशजातयश्च वर्तन्ते । सारस्वत्यादित्यान्तरे अग्न्याभसु-यांभाः । आदित्यवन्हुरुणद्यो इत्यासहस्राभाः । नाशुण्यान्तारे देवस्थानेऽन्तराः । अरुणगदंतोयमध्य बृषभोष्ट्रकामकराः । गदंतोयतुषितान्तरे निर्वाणरजोदिग्नस्तर-क्षिताः । तुषिताव्याबाधमध्ये आत्मरक्षितसर्वरक्षिताः । अव्याबाधारिष्टान्तरे मह-द्वासवः । अरिष्टसारस्वतान्तरे अश्वविद्वाः । (तत्य चूआ णिवृदि जंति) तस्मा-च्युता निर्वृति निर्वाणं यान्ति गच्छन्ति सर्वेऽपि पूर्ववारिण एकं गर्भवासं गृहोत्त्वा मोक्षं प्राप्नुवन्ति ।

✓ जे पापमोहियमई लिङं घेत्तूण जिणवरिदाणं ।

पार्व कुर्वन्ति पापा ते चत्ता मोक्खमगम्मि ॥७८॥

ये पापमोहितमतयः लिङ्गं गृहोत्त्वा जिनवरेन्द्राणाम् ।

पापं कुर्वन्ति पापाः ते त्यक्ता मोक्षमार्गे ॥७८॥

चतुर्लक्षण— विद्वानों ने समस्त लौकान्तिक देवोंका प्रमाण चार लाङ्ग सात हजार आठसौ बीस मरणा है । “सारस्वत्यादित्यवन्हुरुणगदंतोय तुषिताव्याबाधारिष्टाइच” तत्वार्थसूत्रके इस सूत्रमें उनकी आठ जातियाँ बतलाई गई हैं । अथवा उनको सोलह जातियाँ भी होती हैं । सारस्वत और आदित्य के मध्य में अग्न्याभ और सूर्याभ रहते हैं । आदित्य और वल्लिके मध्यमें चन्द्रमा तथा सत्याभमें रहते हैं । वल्लि और अरुणके बीच में श्रेय-स्कर तथा क्षेमंकर रहते हैं । अरुण और गदंतोय के मध्य में बृषभोष्ट्र और कामचर रहते हैं । गदंतोय और तुषित के बीचमें निर्वाणरज और दिग्नत रक्षित रहते हैं । तुषित और अव्याबाध के मध्य में आत्म रक्षित और सर्व रक्षित रहते हैं । अव्याबाध और अरिष्ट के मध्य में मरुद तथा वसु रहते हैं । तथा अरिष्ट और सारस्वत के मध्यमें अश्व और विश्व रहते हैं । ये लौकान्तिक देव वहाँ से च्युत होकर नियम से निर्वाण को प्राप्त होते हैं । सभो पूर्वके धारी होते हैं और एक गर्भवास ग्रहण कर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं ।

भावार्थ—जो पाप से मोहित बुद्धि मनुष्य, जिनेन्द्र देवका लिङ्ग धारण कर पाप करते हैं वे पापी मोक्ष मार्ग से पतित हैं ॥७८॥

(जे पापमोहियमई) ये मुनयः पापमोहितमतयः पापेन ब्रह्मचर्यंभंगप्रत्याख्यानभंजनादिना मोहिता लोभं प्राप्तिः पापमोहितमतयः । (लिंग वेत्तुण विणवरिदाणं) लिंगं चिन्हं मुद्रां नग्नस्वं वस्त्रमात्रोपेतक्षुल्लक्त्वं च चक्रवर्तिलिंगं, वेत्तुण गृहीत्वा घृत्वा, जिनवरेन्द्राणां तोर्चकरपरमदेवानां । (पापं कुण्ठित पापा) पापं ब्रह्मचर्यंभंगादिकं कुर्वन्ति पापानिपापमूत्रं पापरूपाः । (ते चत्ता मोक्षमगम्मिम्) ते जिनलिंगोपजोविनः त्यक्ताः पतिता मोक्षमार्गादित्पर्वः । उक्तं च—

अन्यलिङ्गकृतं पापं जिनलिंगेन मुच्यते ।

जिनलिंगकृतं पापं वज्रलेपे भविष्यति ॥१॥

जे पञ्चचेलसत्ता गंथगाहीय जायणासीला ।

आधाकमम्मिम रया ते चत्ता मोक्षमगम्मिम ॥७९॥

ये पञ्चचेलसत्ताः गंथगाहिणः याचनशीलाः ।

अथःकर्मणि रताः ते त्यक्ताः मोक्षमार्गे ॥७९॥

(जे पञ्चचेलसत्ता) ये मुनयः पञ्चचेलसत्ताः पञ्चविधवस्त्रलीपटा अुण्डज-दुण्डज-वल्कज-चर्मज-रोमजपञ्चप्रकारवस्त्रेष्वन्यतम् इस्त्रप्रकारं परिवर्थत्युपदब्धिति च । (गंथगाहीय जायणासीला) गंथगाहिणो रिक्षयस्वोक्तारिणः, याचनशीलाः

विशेषार्थ—जो ब्रह्मचर्यं भंग तथा प्रस्थाख्यान भंग आदि पापोंसे मोहित बुढ़ि होकर जिनेन्द्र देवका लिङ्ग अथवा नग्न दिग्म्बर मुद्रा और चक्रवर्ती का पद अर्थात् वस्त्रमात्र परिग्रह के धारक क्षुल्लक का पद ग्रहण करके भी पाप करते हैं ब्रह्मचर्यं भज्ज आदि पाप कर बैठते हैं वे पापी हैं तथा मोक्षमार्ग से पतित हैं । जैसा कि कहा है—

अन्यलिङ्ग—अन्य लिङ्गसे किया पाप जिनलिङ्ग से छूटता है और जिनलिङ्ग के द्वारा किया हुआ पाप वज्रलेप होता है ॥७८॥

गाथार्थ—जो पाँच प्रकार के वस्त्रों में आसक्त हैं, परिग्रह को ग्रहण करने वाले हैं, याचना करते हैं तथा अथः कर्म-निन्दा कर्म में रत हैं वे मुनि मोक्षमार्ग से पतित हैं ।

विशेषार्थ—अण्डज, बुण्डज, वल्कज, चर्मज और रोमज के भेदसे वस्त्रके पाँच भेद हैं । जो मुनि इन पाँच प्रकार के वस्त्रों में से किसी एक वस्त्र में आसक्त हैं, किसी काज से धन स्वीकृत करते हैं, याचना करना जिनका स्वभाव पड़ गया है और जो अथः कर्म में निन्दाकर्म में रत हैं वे

स्वभवेन याचनापरा जिनमुद्रा प्रकर्ष्य धनं याचने मातरं प्रकर्ष्य भाडीं गृहणति तत्समानाः । (आधाकम्मस्मि रथा) आधाकर्मणि ब्रह्मकर्मणि जिन्हाकर्मणि उपविश्य भोजनं कारयित्वा भुजते वे तेऽप्यकर्मस्ता हत्युच्यन्ते । (ते चत्ता मोक्ष-मरणस्मि) ते मुनयस्त्यक्ताः पतिता मोक्षमार्गादिति भावार्थः ।

निर्यन्थं मोहमुक्तका बावीसपहरीसहा जियकसाया ।

पावारंभविमुक्तका ते गहिया मोक्षमगम्मि ॥८०॥

निर्यन्थं मोहमुक्ता द्वाविशतिपरीषहा जितकषायाः ।

पापारम्भविमुक्ताः ते गृहीता मोक्षमार्गे ॥८०॥

(निर्यन्थ) निर्यन्थाः परियहरहिताः (मोहमुक्ता) मोहमुक्ताः पुत्रमित्रकलप्रादिस्नेहरहिताः । (बावीहपरीसहा) द्वाविशतिपरीषहा द्वाविशति-परीषहसहनशीलाः । (जियकसाया) क्रोधमानमायालोभकषायपरहिताः । (पावारंभविमुक्तका) पापारभेष्यो विमुक्ता रहिता हिसादिपञ्चपातकविहीनाः सेवाकृषि-वाणिज्यादिशणातिपातहेतुभूतारम्भरहिताः । (ते गहिया मोक्षमगम्मि) ते गृहीता अङ्गीकृताः, भोक्षमार्गे रजनश्चलक्षणं ।

मुनि मोक्षमार्ग से त्यक्त हैं छूटे हुए हैं अर्थात् पतित हैं । जो मुनि जिन मुद्राको दिखाकर धन की याचना करते हैं वे माता को दिखा कर भाड़ा ग्रहण करने वालों के समान हैं ॥७९॥

गायार्थ—जो परियह से रहित हैं पुत्र मित्र स्त्री आदि के स्नेह से रहित हैं, बाईस परोषहों को सहन करने वाले हैं, कषायों को जीतने वाले हैं तथा पाप और आरम्भ से दूर हैं वे मोक्षमार्ग में अङ्गीकृत हैं ।

विशेषार्थ—जो निर्यन्थ हैं अर्थात् परियह से रहित हैं, मोहमुक्त हैं अर्थात् पुत्र मित्र तथा स्त्री आदि के स्नेह से रहित हैं, जिन परोषहों हैं अर्थात् क्षुधा तुषा आदि बाईस परोषहों को सहन करने वाले हैं, जिन-कषाय हैं अर्थात् क्रोध, मात, माया, लोभ, कषाय को जीतने वाले हैं और पापारम्भ विमुक्त हैं अर्थात् हिसादि पापों और सेवा कृषि आदि आरम्भों से रहित हैं वे मोक्षमार्ग में गृहीत हैं अर्थात् उन्हें मोक्षमार्ग में प्रविष्ट भाना गया है ॥८०॥

उद्घदमज्जलोए कोई मज्जां ण अहयमेगागी ।

इय भावणाए जोई पार्वति हु सासंय सोक्खं ॥८१॥

अधर्विमध्यलोके केचित् मम न अहकमेकाकी ।

इति भावनया योगिनः प्राप्नुवन्ति हि शाश्वतं सौख्यम् ॥८२॥

(उद्घदमज्जलोए) ऋर्वलोकेऽधोलोके मध्यलोके । (कोई मज्जां ण अहय-मेगागी) केन्द्रिजीवा मम न वर्तन्ते, अहकं अहं एकाकी एक एव वर्ते । (इय भावणाए जोई) इति भावनया योगिनो मुनयः । (पार्वतिहु सासंय सोक्खं) प्राप्नुवन्ति लभते हु—स्फुटं शाश्वतं सौख्यं अविनश्वरं परमनिवाणसुखं । ताण इति पाठे शाश्वतं अविनश्वरं स्थानं मोक्षं प्राप्नुवन्तीति सम्बन्धः ।

देवगुरुणं भक्ता णिवेदपरंपरा विचितंता ।

स्थानरया सुचरिता ते गहिया मोक्षमभ्यम्भिः ॥८३॥

देवगुरुणां भक्ताः निर्देवपरम्परां विचित्तयन्तः ।

ध्यानरताः सुचरिताः ते गृहीता मोक्षमार्गे ॥८३॥

(देवगुरुणं भक्ता) देवानामष्टाब्रह्मोष्ठरहितानामिन्द्रादिपूजितानां पञ्चकल्याण-प्राप्तानां अष्टमहाप्रातिहार्यशोभितानां संसारसमुद्दिनिस्तारकाणां भव्यकमलबोध-भार्तण्डानामित्याद्यनन्तरगुणगरिष्ठानामहंहेवानां तथा गुरुणां निर्वच्याचार्यवयणां

गाथार्थ—‘ऋर्वं मध्य और अधोलोक में कोई जीव भेरे नहीं है मैं अकेला ही हूँ इस प्रकार की भावना से योगी शाश्वत-अविनाशी सुखको प्राप्त होते हैं ॥८१॥

विशेषार्थ—अधर्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक में कोई भी जीव भेरे नहीं है—मेरा किसी के साथ स्वामित्व नहीं है मैं अकेला ही हूँ—मेरे प्रति किसीका स्वामित्व नहीं है……इस प्रकार की भावना से योगी शाश्वत सुख—अविनश्वर परम निवाण सुखको प्राप्त होते हैं । ‘सासंय सोक्खं’ के बदले कहीं ‘सासंय ठाण’ पाठ है उसका अर्थ अविनाशी मोक्ष-स्थान को प्राप्त होते हैं ऐसा समझना चाहिये ॥८१॥

गाथार्थ—जो देव और गुरुके भक्त हैं, वे राग्य की परम्पराका विचार करते रहते हैं, ध्यान में तत्त्व रहते हैं तथा शोभन-निर्देष आचार का पालन करते हैं वे मोक्षमार्ग में अज्ञीकृत हैं ॥८२॥

विशेषार्थ—जो अठारह दोषों से रहित, इन्द्रादि के द्वारा पूजित, पञ्चकल्याणका को प्राप्त आठ महाप्रातिहार्यों से शोभित संसार समुद्र से पार करनेवाले, भव्य रूपी कमलों को विकसित करने के लिये सूर्य तथा

शास्त्रसमूहपारगाणां सम्यगदर्शनज्ञानाचारित्रपवित्रगात्राणां स्त्रीविवरजिताभां विवाहादिपापारम्भविवरजितानां अधिक्षिणवेश्यब्रह्मवृषभगजवकर्त्तराविजोवानाममारकाणां भव्युलित वनितामगानास्वादकालं सौत्रामणिमध्यानामपापकानां गोवधं कृत्वा संवत्सरे मातुभगिन्याविभोगालम्पटानां भव्यजीवसंबोधने मातुपितृवृद्धितोपदेशकानां पापघटाग्राहकाणां, कृष्णादिसावश्यकमरहृतानां प्राप्तकपरग्रहयोग्यभोजनभोजकानां अवर्णलोपकानामतुर्भिष्टभुक्तप्रग्रहणमागाणां इत्यादिगुणगणगरिष्ठानां जगद्विष्टानां गुरुणां ये भक्ताः पापकंजमधुलिहः देवगुरुणां भक्ता हत्युच्यन्ते (णिव्वेयपरर्परा विवितता) निर्वेदः संसारशारीरभोगविरागता तस्य परंपरा मानाविधोपदेशस्तां विशेषेण वित्तयन्तः पयलोचयतः भरकाविमतिगतंपातिपातकमयभीतमूर्तयः । (आणरपा सुचरिता) ज्याने धर्म्यशुक्लध्यानद्वये रसास्तस्पराः, सुचारिताः शोभनाचाराः । (ते गहिया मोक्षमगाम्यि) ते भव्यवरपुण्डरीका गृहीता अङ्गीकृता मोक्षमार्गं इति ।

इन्हें आदि लेकर अनन्त गुणोंसे अतिशय श्रेष्ठ अहंत देवका और निर्वन्य वाचायों में श्रेष्ठ, शास्त्र समूह के पारगामी, सम्यगदर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्खारित्रसे पवित्र शरीर, स्त्री से रहित, विवाह आदि पापके आरभों से रहित क्षमिय, ग्राहण और बैद्य, घोड़ा, बैल, हाथी तथा बकरा आदि जीवों को नहीं मारने वाले, यधुसे लिप्त स्त्री के भैयका स्वाद नहीं लेनेवाले, सौत्रामणि नामक यज्ञ में मदिरा को नहीं पीने वाले, गोवध करके संयत्सर नामक यज्ञ में माता बहिन आदि के भोग में अलम्पट, भव्यजीवों के संबोधन करने में माता पिता के समान हितका उपदेश देनेवाले, पाप समूह को ग्रहण नहीं करने वाले, खेती आदि पाप कार्यों से रहित, दूसरों के घरमें योग्य प्रासुक आहार का भोजन करने वाले, ग्राहणादि वर्णोंका लोप नहीं करने वाले, जूठि भोजन को ग्रहण करने के भार्ग से रहित, इत्यादि गुणोंके समूह से श्रेष्ठ तथा जगत् के लिये इष्ट गुरुओं के भक्त हैं—उनके चरण कमलों में अमर बनकर रहते हैं जो संसार शरीर और भोगों से विरागता रूप निर्वेद की परम्परा का विशेष रूप से विचार करते हैं, जो नरकादि गति रूप गति में गिराने वाले पावों से भयभीत रहते हैं, धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान में तत्पर रहते हैं तथा सुचारित्र हैं अर्थात् निर्दोष आचार का पालन करते हैं वे श्रेष्ठ भव्य जीव भोक्षणार्ग में अङ्गीकृत हैं अर्थात् मोक्षमार्ग में विचरण करने वाले हैं ॥८२॥

णिच्छयणग्रस्स एवं अप्या अप्यमिम अप्यणे सुरदो ।

सो होदि हु सुचरित्तो जोई सो लहुइ णिव्वाण ॥८३॥

निश्चयनयत्येवं आत्माऽऽत्मनि आत्मने सुरतः ।

स भवति हि सुचरित्रः योगी स लभते निर्वाणम् ॥८३॥

(णिच्छयणग्रस्स) एवं निश्चयनस्यैवमभिप्रायः । (एवं) कथमिति चेत् ?
(अप्या अप्यमिम अप्यणे सुरदो) आत्मा कर्ता, आत्मन्यकिकरणभूते आत्मने
आत्मार्थमिति संशब्दने तादर्थचतुर्थी, सुधु अतिशयेनालौकिकप्रकारेण रतः तन्मयी-
भूत एकलोलीभावं गतः । (सो होदि हु सुचरित्तो) स आत्मा भवति, कथमूलो
भवति सुचरित्रः निश्चयचारित्रः । (जोई सो लहुइ णिव्वाण) योगी ध्यानवान्
पुमान् लभते प्राप्नोति, कि तत् ? निर्वाणं परमसुखं मोक्षमिति, अथवा योगीको
योगिनां व्यातिनामीशः स्वामी निर्वाणं लभते इति समाप्तः ॥

पुरिसायारो अप्या जोई वरणाणदंसणसमग्नो ।

जो ज्ञायदि सो जोई पापहरो भवदि णिदंदंदो ॥८४॥

पुरुषाकार आत्मा योगी वरज्ञानदर्शनसमग्रः ।

यो ध्यायति स योगी पापहरो भवति निर्द्वन्द्वः ॥८४॥

गाथार्थ—निश्चय क्य ऐसा अभिप्राय है कि जो आत्मा आत्मा के लिये
आत्मा में तन्मयीभाव को प्राप्त है वही सुचारित्र-उत्तम चारित्र है ।
इस चारित्र को धारण करने वाला योगी निर्वाण को प्राप्त होता है ॥८३॥

विशेषार्थ—निश्चयनयके अनुसार सम्यक्चारित्रका स्वरूप निरूपण
करते हुए कहा है कि जो आत्मा आत्मा के लिये आत्मा में सुख है
अर्थात् अलौकिक प्रकार से तन्मयी भावको प्राप्त है वह आत्मा सुचारित्र-
निश्चयचारित्र । निश्चयनय गुणगुणी के भेदको भी स्वीकृत नहीं करता
इसलिये यही आत्मा और चारित्र में गुणी तथा गुण का भेद न कर
आत्मा के लिये ही सुचारित्र कह दिया है । जिस योगी को ऐसा सुचारित्र
प्राप्त हो गया है वह नियम से निर्वाण को प्राप्त करता है अथवा 'जोई
सो' की संस्कृत छाया 'योगीशः' है इस पक्ष में अर्थ होता है कि वह
निश्चयचारित्र का धारक योगीश निर्वाण को प्राप्त होता है ॥८३॥

गाथार्थ—पुरुषाकार अर्थात् मनुष्य शरीर में स्थित जो आत्मा,
योगी बनकर उत्कृष्ट ज्ञान और दर्शन से पूर्ण होता हुआ आत्मा
का ध्यान करता है, वह पापों को हरने वाला तथा निःद्वन्द्व होता
है ॥८४॥

(पुरिसामारो अप्या) पुरुषस्य नरस्याकार आकृतियस्य स पुरुषाकारः, एवं गुण विशिष्टः कः ? आत्मा अचेतनस्वभावो जीवतत्वं, (जोई वरणाणदसणसमग्ने) योगी मूर्तिः, इत्यनेन गृहस्थस्य मोक्षं दुष्कालाः सित्तादाः प्रत्युक्ता भवन्ति । वर-ज्ञानदण्डेनसमयः केवलज्ञानकेवलदण्डनपरिपूर्णः । इत्यनेनाचेतन्यमात्मानं मन्यमानाः कपिलाः शुनका इव निराकृताः । (सो ज्ञायदि सो जो जोई) एवं गुणविशिष्ट-मात्मानं पो मुनिष्ययिति स योगी ज्यानी भवति । अन्यज्ञावाकिं नास्तिको योगिनामा । एवं स्वाने भतान्तराश्रयेण ऋग्यास्म कर्तव्यमिति भावः । (पापहरो भवति णिहंदो) पापहरस्त्रिष्ठिप्रकृतिविज्ञेदको भवति धातिशेषातधातकः स्वत्, निदृन्दः समवशरणागतपरस्य रविरोधिजन्तुकलहनिषेषक इत्यर्थः ।

एवं जिणेहि कहियं सद्बणाणं साद्बयाण पुण पुणसु ।

संसारविणास्तथरं सिद्धियरं कारणं परमं ॥८५॥

एतत् जिने कथितं श्रवणानां श्रावकाणां पुनः पुनः ।

संसारविनाशकरं सिद्धिकरं कारणं परमसू ॥८५॥

विशेषार्थ—यद्यपि जीवत्व सामान्य की अपेक्षा चारों गतिके जीव समान हैं परन्तु मोक्षका अधिकारी वही जीव है जो वर्तमान में मनुष्य-कार परिणमन कर रहा है । इसी प्रकार मनुष्यत्व सामान्य की अपेक्षा गृहस्थ और योगी समान है परन्तु मोक्षका अधिकारी योगी ही है गृहस्थ नहीं है । इस कथन से 'गृहस्थ को मोक्ष होता है' ऐसा कथन करने वाले इवेताम्बरों का निराकरण हो जाता है । यद्यपि योगित्व सामान्य की अपेक्षा योगी और अरहन्त भगवान् समान हैं तथापि मोक्षके अधिकारी वही योगी हैं जो उत्कृष्ट ज्ञान और दर्शन से परिपूर्ण हैं अर्थात् अरहन्त अवस्था को प्राप्त हैं । इस कथन से आत्माको अचेतन मानने वाले सांख्यों का निराकरण हो जाता है । इस प्रकार की विशेषताओं से युक्त द्वोकर जो योगी अर्थात् ज्यानी बनता है वह पापहर अर्थात् श्रेसठ प्रकृतियों का स्थ करने वाला होता है तथा निदृन्द्र होता है अर्थात् समवशरण में आगत परस्पर विरोधी जीवोंको कलह को दूर करने वाला होता है ॥८४॥

गायार्थ—इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान् के ढारा बार बार कहे हुए वधन मुनियों तथा श्रावकों के संसार को नष्ट करने वाले तथा सिद्धि को प्राप्त कराने वाले उत्कृष्ट कारण स्वरूप हैं ॥८५॥

(एवं जिणेहि कहिय) एतदातिसंधातात्माविकं फलं आत्मध्यानस्य, जिनैः सर्वज्ञैः कथितं प्रमाणभूतवचनैः प्रतिपादितं । (सबणार्णं सावयाणं पुणं पुणसु) अवणानां दिगम्बराणां महामुन्यपरसंज्ञानमृषीणामिति, न केवलं अवणानां अवकाणां सद्दृष्टीनामुपासकानां च यतस्ते वीक्षायोग्या ध्यानाविकारिणो देशव्रताः सन्त आत्मभावनापराः संसारविरक्तचित्ता आरजकगृहीतचौरवत् गृहपरित्यागपरिहारमनसः शोदशान्यतमस्वर्गामिनः । पुनः पुनः भणित्वं तत्त्वज्ञानविज्ञानार्थं च । (संसारविणासमर) सर्वज्ञवीतरागवचनमिदं कथंभूतं ? संसारविनाशकरं शोकप्रदायकं । (सिद्धियरं) आत्मोपलक्षिकरं । (करणं) हेतुभूतं । (परमं) उत्कृष्टं उपदेशानामुपदेशोत्तमं ।

४

गहिङ्गण य सम्मतं सुणिम्मलं सुरगिरीव णिक्कंपं ।

तं ज्ञाणे ज्ञाहज्ज्ञाइ सावय दुखलक्षयद्वाए ॥८६॥

गृहीत्वा च सम्यक्त्वं सुनिम्मलं सुरगिरिरिव णिक्कम्पम् ।

तद ध्याने ध्यायते शावक ! दुःखक्षयार्थं ॥८६॥

(गहिङ्गण य सम्मतं) गृहीत्वा च सम्यक्त्वं सम्यग्वशेषं तत्त्वार्थंशद्वामलक्षणं ।

(सुनिम्मलं सुरगिरीव णिक्कंपं) नुनिम्मलं—पुनः न तपादेन निर्वैद निरतिष्ठार्थं

विशेषार्थ—शातिकर्मों के समूह को नष्ट करना आदि आत्मध्यान का फल है ऐसा जिनेल्द्र सर्वज्ञ देखने प्रमाण भूत वचनों द्वारा महामुनि इस दूसरे नामको शारण करने वाले दिगम्बर क्रृष्णियों तथा सम्यग्दृष्टि शावकोंके लिये बारबार कहा है। मुनि दीक्षाकी योग्यता रखनेवाले गृहस्थ भी ध्यान के अधिकारी हैं। क्योंकि आत्मा की भावना में तत्पर रहने वाले गृहस्थ भी देशव्रती होते हुए संसार से विरक्त चित्त रहते हैं। कोतवाल के द्वारा पकड़े हुए चोर के समान वे अपने गृहस्थाश्रम की गहरी करते हैं गृह छोड़ने की इच्छा रखते हैं ऐसे शावक भी मर कर सोलह स्वर्णों में से किसी स्वर्ण को प्राप्त होते हैं। सर्वज्ञ वीतराग देवका यह वचन संसार का विनाश करने वाला है तथा आत्मा को उपलक्ष्य करने का श्रेष्ठ कारण है ॥८६॥

गाथार्थ—हे श्रावक ! अस्यन्त निर्मल और मेषवर्वत के समान निश्चल सम्यग्दर्शीन को ग्रहण कर दुःखोंका क्षय करने के लिये ध्यान में उसोका ध्यान किया जाता है ॥८६॥

विशेषार्थ—शावक का वाच्यार्थं सम्यग्दृष्टि उपासक है अथवा 'शावयति वस' 'जो वसे सुसावे वह शावक है' इस व्युत्पत्ति के अनुसार

शकाकालाविचिकित्सान्यदुष्टिप्रवासासंस्तवलक्षणातिचाररहितं । सुरगिरिखन्मेश्वरीत
इव निष्कर्षं चलमलिनत्वरहितं । (सं काणे शाहजहां) तजिज्जनवच्छं सम्यक्त्वं
या ध्याने धर्म्यव्यापासावसरे दानपूजाविस्तवनमहापुराणादिशास्त्रशब्दणसामाधिकजिन-
यात्राश्रतिष्ठादिप्रस्तावे व्यायते मुहुर्मुहुर्विषम्यते भाव्यते । (सावय कुमारकल्पयट्टा०)
हे श्रावक सम्यग्दृष्टयुपासक ! हे मुने ! च, श्रावयति धर्ममिति श्रावक इति व्यु-
त्पत्तेः, तुःखसदार्थे ।

सम्मतं जो ज्ञायदि सम्माइट्टी हवेह सो जीवो ।

सम्मतपरिणवो उण खवेह तुट्टुकम्माणि ॥८७॥

सम्यक्त्वं यो ध्यायति सम्यग्दृष्टः भवति स जीवः ।

सम्यक्त्वपरिणतः पुनः कथति दुष्टाद्यकम्माणि ॥८८॥

(सम्मतं जो ज्ञायदि) सम्यक्त्वमनध्येयाणिकर्यं यो जीवो ध्यायति चिन्तयति
पुनः पुनर्वियति । (सम्माइट्टी हवेह सो जीवो) सम्यग्दृष्टभैवति स जासम्म-

मुनि अर्थ भी हो सकता है अतः दोनों को सम्बोधन करते हुए आर्थार्थं
कहते हैं कि हे सम्यग्दृष्ट उपासक अथवा हे मुन ! [खुसुगति भ्रमण रूप
दुःख का क्षय करने के लिये अस्यन्त निर्मल अर्थात् शक्ता, कांक्षा, विचि-
कित्सा, अन्यदृष्टि प्रवर्णसा, और अन्यदृष्टि संस्तव इति पाँच अतिचारों से
रहित तथा सुमेह पर्वत के समान अस्यन्त निष्कर्ष अर्थात् चल मलिन
आदि दोषों से रहित सम्यग्दर्शन को ग्रहण करे] ध्यान के समय अर्थात्
धर्म्यध्यान के काल में अथवा दान, पूजन, स्तवन, महापुराणादि शास्त्रों
के शब्दण, सामाधिक, जिन यात्रा तथा प्रतिष्ठा आदि के अवसर पर बार
बार उसीका ध्यान किया जाता है । दान पूजा आदिके समय सम्यक्त्व के
बार-बार ध्यान करने की प्रेरणा देनेका अभिप्राय यह है कि इन सबको तू
भोगोपभोग प्राप्ति के निमित्त तो नहीं कर रहा है क्योंकि इन सबके करते
हुए मिथ्यादृष्टि जीवका अभिप्राय भोगोपभोग की प्राप्ति का रहता है
और उसके इस अभिप्राय के कारण उसको यह सब कियाएँ बन्धका
कारण होती हैं परन्तु सम्यग्दृष्टि जीव इन सबको करते हुए आत्मा के
ज्ञायक भावको ही प्राप्त करनेका अभिप्राय रखता है अतः बन्धका अभाव
होकर दुःखका क्षय होता है ॥८६॥

गाथार्थ—जो जीव सम्यक्त्व का ध्यान करता है वह सम्यग्दृष्ट हो
जाता है और सम्यक्त्व रूप परिणत हुआ जीव दुष्ट आठ कर्मोंका क्षय
करता है ॥८७॥

भव्यजीवः । (सम्मतपरिणदो वण) सम्यक्त्वरत्नपरिणतः सम्यगदर्शनसमयोभूतः पुनः । कि भवति ? (लवेह दुष्टदृक्समाणि) क्षिपते विनाशयति दुष्टानि दुःखशायीनि अष्टकमाणि जानावरणादीनि ।

कि बहुणा भणिएण जे सिद्धा नरवरा गए काले ।

सिज्जसहहि जे वि भविया तं जाणह सम्ममाहॄर्प ॥८८॥

कि बहुना भणितेन ये सिद्धा नरवरा गते काले ।

सेत्स्यन्ति येऽपि भव्याः तज्जानीत सम्यक्त्वमाहात्म्यं ॥८९॥

(कि बहुणा भणिएण) कि बहुनां भणितेन कि प्रचुरेण जलितेन न किम-प्रियाकोपः । (जे सिद्धा गतान गए काले) वे तिवित्सिद्धा मुक्ति गता मोक्ष प्राप्ताः, नरवराः भव्यवरपुण्डरीका भरतसगररामगण्डवादयः, तत्सर्व सम्यक्त्वमाहात्म्यं जानीत पूर्यमिति सम्बन्धः, गते काले अतीते काले । (सिज्जसहहि जे वि भविया) सेत्स्यन्ति भविष्यति काले सिद्धि यास्यन्ति मोक्षं प्राप्तिं येऽपि भव्याः । (तं जाणह सम्ममाहॄर्प) तज्जानीत सम्यक्त्वस्य माहात्म्यं प्रभावं ।

ते धर्मा सुक्यथा ते सूरा ते वि पंडिया मणुया ।

सम्मतं सिद्धियरं सिद्धणे वि ण मइलियं जोहिं ॥८९॥

ते धन्याः सुकृतार्थाः ते शूराः तेषि पण्डिता मनुजा ।

सम्यक्त्वं सिद्धिकरं स्वप्नेऽपि नलिनितं यैः ॥८९॥

विशेषार्थ—सम्यक्त्व अमूल्य माणिक्य के समान है जो जीव निरन्तर इसका ध्यान करता है वह निकट भव्य जीव सम्यगदृष्टि बन जाता है और सम्यक्त्व रूप परिणत हुआ जीव दुःखदायी अष्टकमाँ को नष्ट कर देता है । कमङ्खय का प्रारम्भ सम्यगदर्शन से ही होता है अतः पूर्ण प्रयत्न से सर्व प्रथम उसे ही प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिये ॥८७॥

गायार्थ—अधिक कहने से क्या ? अतीत काल में जितने ओष्ठ पुरुष सिद्ध हुए हैं और भविष्यत्काल में जितने सिद्ध होंगे उन सबको तुम सम्यगदर्शनका ही माहात्म्य जानो ॥८८॥

विशेषार्थ—बार बार सम्यक्त्व के माहात्म्य का वर्णन करते हुए आचार्य महाराज कहते हैं कि अधिक कहनेसे क्या प्रयोजन है ? अतीत काल में जितने भरत, सगर, राम तथा पाण्डव आदि श्रेष्ठ भव्यजीव मोक्षको प्राप्त हुए हैं और भविष्य काल में जो मोक्षको प्राप्त करेंगे वह सम्यगदर्शन का ही माहात्म्य है ऐसा जानना चाहिये ॥८९॥

गायार्थ—वे ही मनुष्य धन्य हैं, वे ही कृतकृत्य हैं, वे ही शूरवोर हैं,

(ते विष्णा सुकर्पत्या) ते पुरुषा विष्णा: पुण्यवन्तः, ते पुरुषा: सुकृतार्थी: सुषु अतिशयेन कृतार्थीः कृतकृत्याः साधितचतुःपुरुषार्थीः । (ते सूरा ते वि पंदिता मणुमा) ते पुरुषा: शूरा: सुभटा: पापकर्मणप्रविष्टवस्तवात्, ते पुरुषा: पण्डिता: विद्वासस्तार्किका अपि मनुजा मानवा अपि सन्तो देवा इत्यर्थे । (सम्मतः सिद्धियरं सिवणे वि ण महलिये जेहि) सम्यक्त्वं सम्यगदशीनं, स्वप्नेऽपि निदायां, अपिषाढ्याज्ञायदवस्थायापणिः, मैः पुरुषैः, सम्यक्त्वं सम्यगदशीनरत्नं, न मलिनीकृतं निरतिष्ठारं प्रतिषालितं । कथंभूतं सम्यक्त्वं, सिद्धियरं—सिद्धिकरं आत्मोपलब्धिवक्षणमोक्षकारकमिति ।

तं सम्मतः केरिसं हृकदि-तं जहा—तत्सम्यक्त्वं कीदृशं भवति तथाथ—

हिसारहिए घम्मे अट्टारहदोसदजिजए देवे ।

निर्गमन्थे प्रावयणे सद्गृहणं होइ सम्मतं ॥९०॥

हिसारहिते धर्मे अष्टादशदोषवर्जिते देवे ।

निर्गमन्थे प्रावचने श्रद्धानं भवति सम्यक्त्वम् ॥९०॥

(हिसारहिए घम्मे) हिसारहिते धर्मे अद्वानं सम्यक्त्वं भवतीति सम्बन्धः, हिसारहितो धर्मो जीनधर्मः यत्र धर्मे शाहृणक्षत्रियवेष्यशूद्राश्वपश्चादिको जीवो वस्त्रते सोऽधर्मं इति तत्वार्थः । (अट्टारहदोसदजिजए देवे) अष्टादशदोषवर्जिते देवे श्रद्धानमिति सम्बन्धः । रुद्रः किल शृगालश्रेष्ठिनः पुरुषं भक्षितवान् तत्र कुचाशोषः हिसादोषश्च । ब्रह्मणः कमच्छलुप्रहणात् भिपासादोषः, जीर्णक्षरीरत्वात्स्य

और वे ही पण्डित हैं जिन्होंने सिद्धि को प्राप्त कराने वाले सम्यक्त्व को स्वप्न में भी मलिन नहीं किया है ॥८९॥

विजेषार्थ—यह सम्यगदशीन ही सिद्धि अर्थात् स्वात्मीय लब्धिरूप मोक्षको प्राप्त कराने वाला है इसकी प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है । इसे पाकर जिन्होंने जागृत अवस्था की तो बात ही जुदी है स्वप्न में भी कभी मलिन नहीं किया है अतिचारों से दूषित नहीं किया है वे ही पुरुष वन्य हैं—पुण्यवान् हैं, वे ही अतिशय कृतकृत्य हैं—चारों पुरुषार्थी को माधने वाले हैं, वे ही शूरवीर हैं—पाप कर्म रूपी शान्त्रुओं का विद्वंस करने के लिये सुभट हैं और वे ही पण्डित हैं भद्रविद्वान् तार्किक हैं अथवा मनुष्य होते हुए भी देव हैं ॥९०॥

वह सम्यगदशीन कौसा होता है ? इसका वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—हिसा रहित धर्म, अठारह दोषों से रहित देव और निर्गमन्थ मुख में जो श्रद्धा है वह सम्यगदशीन है ॥९०॥

जरादोषः । गजस्तर्मस्त्वः ? कण्ठे कालस्त्र्वं रुद्रे हस्तेषः, सूर्ये पाष्टकुष्ठलकाद्रदोषः । दशाक्तारसंयुक्तत्वात् कृष्णो जन्मदोषः वसुदेवदेवकीमन्दन त्वाच्चत् । त्रयाणामपि मृत्यु-सद्भावो वेदितव्यः । नरकासुरभयानष्टः खलु श्रीमहादेवस्तत्रिवयदोषः, ब्रह्मा दंडं वरति, रुद्रः शूलं स्थण्डपरशुं पिनाकं धनुश्लेत्यादिकं वरते, विष्णुस्त्रकं सुदर्शनं कीमोदकीं गदां चेत्यादिकं गृहणाति तेन त्रयाणामपि भयसद्भावो बुवरवबुद्धयते । सृष्टिकर्तृत्वसंहर्तृत्वादिकस्तत्र स्मयो वदश्च निष्ठीयते विष्पविष्कविभः । रुद्रः पार्वतीमधीञ्जे धरति जटाभय्ये गंगां चापधाति, ब्रह्मा वशिष्ठस्य पितृत्वादुवैशीवल्लभत्वात्, विष्णुः वोहवस्त्रहस्तगोपीभंजते गोपनायस्य दुहितरं च, सूर्यो रणादेवीं चन्द्रो रोहिणीं च भुजते उनैते रागवन्तोऽपि ज्ञातव्याः । ब्रह्मा गवादुर्देष्टि, रुद्र-

विशेषार्थ—हिंसा रहित धर्मकी अद्वा करना सम्यक्त्व है । हिंसा रहित धर्म जैनधर्म है । जिस धर्म में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, मनुष्य तथा अश्व आदि पशुओं का वध किया जाता है वह अधर्म है । अठारह दोषों से रहित देवका अद्वान करना सो सम्यक्त्व है । अठारह दोषों से रहित देव यदि कोई है तो वीतराग सर्वज्ञ देव ही हैं उन्हींका अद्वान करना सम्यक्त्व है । रुद्र ने शृगाल श्रेष्ठी के पुत्र का भक्षण किया था इसलिये उनमें कृष्ण दोष तथा हिंसा का दोष है । ब्रह्मा कमण्डल ग्रहण करते थे इसलिये उनमें प्यासका दोष तथा जीर्ण शरीर होने से जराका दोष था रुद्र के गज चर्मत्व था अर्थात् उनके शरीर का चमं फूलकर मोटा होगया था और कण्ठ में कालापन था इसलिये रोग नामका दोष था । सूर्य के पैर में कुष्ठ था इसलिये रोग नामका दोष था । दश अवतारों से सहित होने अथवा वसुदेव और देवती के पुत्र होनेके कारण कृष्ण में जन्म नामका दोष था मृत्यु नामका दोष ब्रह्मा, रुद्र और कृष्ण तीनोंके जानना चाहिये । नरकासुरके भयसे महादेव नष्ट हुए थे इसलिये उनके भय था । ब्रह्मा दण्ड धारण करते हैं रुद्र शूल स्थण्ड परशु और पिनाक नामके धनुष को धारण करते हैं, तथा विष्णु सुदर्शन चक्र तथा कीमोदकी नामकी गदा इत्यादि शस्त्रों को धारण करते हैं इसलिये तीनों के भय का सद्ग्राव विद्वान् स्वतः समझते हैं । ब्रह्मा को सृष्टिकर्तृत्व का तथा रुद्रको संहर्तृत्व आदिका गर्व है इसलिये विद्वान् उनके मद नामक दोष का निश्चय करते हैं । रुद्र पार्वती को अर्धाञ्ज में धारण किये हैं तथा गङ्गा को जटाओं में धारण करते हैं ब्रह्मा वसिष्ठ के पिता हैं तथा उर्ध्वशी के पति हैं । विष्णु सोलह हजार गोपियोंका तथा गोपनाय को पुत्री राधा का

स्त्रिपुरदानवं भस्मदति, विष्णुः कंसकेशाचाणूरलरासन्धान् पिनभिः सेनैते देववस्तोऽपि ज्ञातव्याः । ब्रह्मा विष्णुमुखे पश्यति, लदस्तु स्कन्द निरीक्षते, विष्णु प्रद्युम्ने स्त्रिहृति तैनैते मोहिनोऽपि ज्ञातव्याः । ब्रह्मणः सुष्टिविना समुत्पन्ना लडस्य नरकवरदानात् विष्णोर्जरासन्धशिषुपालादिवधे महती चिन्ता समुत्पन्ना । तैनैते चिन्तावतो पि ज्ञातव्याः ब्रह्मा उर्बेश्वरां रमते, रुद्रः पार्वतीं भुक्षते, विष्णुः सत्यभामाद्याकोहति तैनैते चुरतिदेवोऽपि घटते । ब्रह्मा योगनिद्रा करति, रुद्रः कैलासे थोते गिरिशनामकत्वात्, विष्णुर्जलशायोति कथ्यते तैनैते प्रमीलाकर्त्तोऽपि विज्ञेयाः निद्रादोषा इत्यर्थः । रुद्रो नरकाय वरं वत्वा विष्णीदति इत्यादि विषाददोषोऽपि संगच्छते । मैथुनादिवृ स्वेदसद्भावोऽपि लोककल्पतदेवतानामभ्युह्याः । लेदस्तु संचामादी । विष्मयस्तु रूपादिवर्णे । इत्यादि लोकदेवतानामव्यावशापि दोषाद्विन्नीयाः । सर्वशब्दीतरामे तु कदिवदपि दोषो न वर्तते । उक्तं च—

सेवन करते हैं । सूर्य एणादेवीका और अन्द्रमा रोहिणी देवीका उपमोग करता है इसलिये इन सबको रायी भी जानना चाहिये । ब्रह्मा गजासुर के साथ द्वेष करते हैं, रुद्र विष्णुर तानको शम्प करते हैं विष्णु कंस, केश, धाणर और जरासन्धको पीस डालते हैं इसलिये इन सबको द्वेष से रहित भी जानना चाहिये । ब्रह्मा वसिष्ठ का मुख देखते हैं, रुद्र स्कन्द-कार्तिकेय को देखते हैं और विष्णु प्रद्युम्न पर स्नेह रखते हैं इसलिये इन्हें मोही भी जानना चाहिये । ब्रह्मा को सुष्टिकी चिन्ता उत्पन्न हुई, रुद्रको नरकासुर के वरदान से चिन्ता उत्पन्न हुई और विष्णु को जरासन्ध तथा शिशुपाल आदि की बड़ी भारी चिन्ता उत्पन्न हुई इसलिये इन्हें चिन्तावान जानना चाहिये । ब्रह्मा उर्बेशी में रमण करते हैं, रुद्र पार्वती का भोग करते हैं और विष्णु सत्यभामा आदिके साथ कोड़ा करते हैं इसलिये इनमें रतिदोष भी घटित होता है ब्रह्मा योग निद्रा लेते हैं, रुद्र कैलास पर्वत पर सोते हैं क्योंकि गिरिश उनका नाम ही है और विष्णु जलमें शयन करते हैं इसलिये इन्हें प्रमीला अथवा निद्रा द्रोष से युक्त भी जानना चाहिये । रुद्र नरकासुर वरदान देकर विषाद करते हैं, इसलिये विषाद दोष भी संगत होता है । मैथुनादिक समय स्वेदनामका दोष भी इन लोक कल्पित देवोंमें समझना चाहिये । संग्राम आदि के समय स्वेद और रूपादि के दिखाने में विष्मय नामका दोष संगत होता है । इस तरह लोक कल्पित देवताओं में अठारहों दोषों का सद्भाव विचार लेना चाहिये परन्तु सर्वज्ञ वीतराम देवमें कोई भी दोष नहीं है । जैसा कि कहा है—

रागादिदोषसद्भावो ज्ञेयोऽमीर्णा तदागमात् ।

असतः परदोषस्य गृहीतौ पातकं महत् ॥ १ ॥

(निर्णये पादथणे) निर्णये प्रावचने प्रवचननियुक्ते गुरी । (सद्हरणे होइ सम्मतं) एतेषु धर्मदेवगुरुषु पदार्थेषु अद्वानं शृचिः अन्येषु स्ववातान्नास्वादनवद्भूचिः सम्यक्त्वं भवतीति क्रियाकारकसम्बन्धः ।

जहेजायस्त्वरूपं सुसंजयं सब्वसंगपरिचत्तं ।

लिङं ण परोदेक्खं जो मण्णह तस्स सम्मतं ॥९१॥

यथाजातरूपरूपं सुसंयतं सर्वसंगपरित्यक्तम् ।

लिङ्गं न परापेक्षं यः मन्यते तस्य सम्यक्त्वम् ॥९१॥

(जहजायस्त्वरूपं) यथाजातरूपं मातुर्भनिर्गतवालकरूपं तद्दूषप्राकारो यस्य लिङस्य तद्वाजातरूपं रूपं । (सुसंजयं सब्वसंगपरिचत्तं) पुनः कर्त्तभूतं लिङं, सुसंयतं सुष्ठु अतिशयवत्संयमसहितं, सर्वसंगपरित्यक्तं सर्वपरिग्रहरहितं शिरःकण्ठ-कण्ठकरकटीकमप्रभूत्यङ्गाभरणवस्त्ररहितं सर्वथा नग्नं । (लिङं ण वरावेक्खं)

रागादि—इन सब लौकिक देवों में रागादि दोषों का सद्भाव उन्होंने के शास्त्रों से जानने योग्य है क्योंकि दूसरे के आवश्यमान दोष के ग्रहण करने में महान् पाप है ॥१॥

इसी तरह प्रवचन कर्ता निर्णये गुरुका अद्वान करना भी सम्यगदर्शन है । इस प्रकार धर्म देव गुरु तथा जीवादि पदार्थों में अद्वान या रुचि करना और अन्य धर्म तथा देवताओं में अपने द्वारा बान्त अन्त के खानेके समान अरुचि रखना सम्यक्त्व होता है ॥९०॥

गाथार्थ—दिगम्बर मुनिका लिङ्ग (वेष) यथा शान—तत्काल उत्पन्न हुए बालक के समान होता है, उत्तम संयम से सहित होता है सब परिग्रह से रहित होता है और परकी अपेक्षा से रहित होता है……ऐसा जो मानता है उसके सम्यक्त्व होता है ॥९१॥

विशेषार्थ—जिस प्रकार माता के गर्भ से निकले हुए बालक का रूप निविकार होता है उसी प्रकार दिगम्बर मुनिका वेष निविकार होता है । दिगम्बर मुनिका वेष सुसंयत अर्थात् अत्यधिक संयम से युक्त होता है । सर्व परिग्रहों से रहित होता है अर्थात् शिर कान कण्ठ हाथ कमर तथा पैर आदि अङ्गों के आभूषणों और वस्त्र से रहित सर्वथा नग्न होता है तथा परकी अपेक्षा से रहित शरीर मात्र परिग्रह का धारी होता है । निर्णय साधु का वेष ऐसा होता है ऐसी जिसकी मान्यता है उसके सम्यक्त्व होता

ईदुग्धिवधे लिंगं कर्णं भूतं, न परापेक्षा परापेक्षा रहितं शरीरसात्र परिग्रहं । (जो मण्णइ तस्स सम्मतं) ईदुशं लिंगानियन्त्रवेचं यः पुमान् गम्यते साधु वक्ति तस्य सम्यक्त्वं भवति, यः सप्तल्यलिङ्गेन मोक्षं वक्ति स मिथ्यादृष्टिर्जातव्य हृति ।

कुच्छियदेवं धर्मं कुच्छियलिंगं च वंदए जो हु ॥११॥

लज्जाभयगारबदो मिच्छादिट्टी हवे सो हु ॥१२॥

कुत्सितदेवं धर्मं कुत्सितलिङ्गं च वदन्ते यस्तु ।

लज्जाभयगारबदः मिथ्यादृष्टिर्भवेत् स हु ॥१२॥

(कुच्छियदेवं धर्मं) कुत्सितदेवं श्रीमहादेवं ब्रह्मणं नारायणं बुद्धं रथि चन्द्रमसं यक्ष त्रिपुरभैरवीं चेत्यादिकां । कुत्सितधर्मं थार्लभनकुंडलशिष्ठतपशुचक्रव-षट्कारसम्बन्ध शूलपाणि, झंपापातं, दक्षिप्रदेशं, ३भस्तुः सह गमनं सूर्यार्थं यस्तु-स्नानं, सकान्तिदानं, नदीतामरादिमज्जनं, गोयोनिस्पर्शनं, तन्मूलपानं, शमी, तक्षपूजनं, गिर्जलालिङ्गं मृत्तिकाविलेपनं, कृष्णसारजर्मवसनं, नक्तं भोजनं घूलोदुष-दुष्वयवन्दनं, रत्नपूजनं वाहनार्थनं, भूमिपूजनं, खज्जपूजनं, पर्वतपूजनं, धूते मुख-वीक्षणमित्यादि कुत्सितधर्मं (कुच्छियलिंगं च वंदए जो हु) कुत्सितलिंगं नना-ष्टकं, जटाधारिणं, पंचशिखं, एकाशणिकं, त्रिदणिकं, शिखाधारिणं, सौमतपाशु-

है जो परिग्रह सहित वेष से मोक्ष कहता है उसे मिथ्यादृष्टि जानता चाहिये ॥११॥

गाथार्थ—जो लज्जा भय और गारब से कुत्सित देव, कुत्सित धर्म और कुत्सित लिङ्ग की वन्दना करता है वह मिथ्यादृष्टि होता है ॥१२॥

विशेषार्थ—महादेव, ब्रह्मा, नारायण, बुद्ध, सूर्य, चन्द्रमा, यक्ष तथा त्रिपुर भैरवी इत्यादि को कुत्सित देव कहते हैं। यज्ञकुण्ड में होमे गये पशु समूह की स्कीकृति से सम्बन्ध रखने वाले शूलपाणि, पर्वत आदि से कूदकर झंपापात करना, अग्नि में प्रवेश करना, पत्तिके साथ गमन करना अर्थात् अग्नि में जलकर सती होना, सूर्य को अर्घ देना तथा ग्रहण के समय स्नान करना, संकान्तिके समय दान देना, नदी समुद्र आदिमें स्नान करना, गाय की योनिका स्पर्श करना, उसका मूत्र पीना, शमी वृक्ष की पूजा करना, पीपल का आलिङ्गन करना, मिट्टीका लेप लगाना, काले मूग की चर्मका पहिनना, रात्रिभोजन करना, धूली और पत्तवरों के ढेर की वन्दना करना,

१. भर्ता सह गमन स्थ॒ इदमेव साधु ।

परयोगरेत्यादि—कुत्सितलिंगं च वन्धते नमस्करोति अभिवादनं विदधाति नमोनारायणमिति वाचा प्रणमति मस्तकेन वन्दे इति प्रणमति यस्तु पुमान् । (लज्जाभयगारवदो) लज्जया हृत्वा भयेन च गारवेण गर्वेण च यो वन्धते । (मिष्ठादृष्टिठी हवे सो हु) मिष्ठादृष्टिभवति सः । कथं ? हु-स्कृतं ।

सपरावेक्षं लिङं राई देव असंजयं वदे ।

माणइ मिष्ठादिविद्वीण हु मण्डाह सुद्धसम्मतो ॥९३॥

स्वपरापेक्षं लिङ्गं रागिणं देव असंयत वन्दे ।

मानयति मिष्ठादृष्टिः न हि मानयति शुद्धसम्यक्त्वः ॥९३॥

(सपरावेक्षं लिङं) स्वपरापेक्षं लिङं, स्वापेक्षं ऋषिपत्नीयुतं परापेक्षं रक्त-वस्त्रमृगचर्मादि सापेक्षं लिङं देव । (राई देवं असंजयं वदे) रागिणं देवं पावर्ती-पर्ति लज्जमीकान्तं तिलोत्तमामुखकमलप्रधट्कचतुर्वर्णम् चेत्यादिकं देव, असंयतं वदे—असंयतं अनेकमात्रुक्षमांसदणि भक्तमुक्तं भक्तकं वन्दे इति यो वक्ति । (माणइ मिष्ठादृष्टिठी) मानयति मिष्ठादृष्टिः अदृष्टाति मिष्ठादृष्टि जिनानाम-

रत्नोंको गुहना, घोड़ा लादि गहनों की पूजा चारन्, शूपि की पूजा करना, सहूँग की पूजा करना, पर्वत की पूजा करना तथा घों में मुख देखना आदि कुर्कर्म कहलाता है । नगनाण्डक, जटाधारी पञ्चशिव एक-दण्डी, त्रिदण्डी, शिखाधारी सौगत, पाशुपत तथा योगप आदि वेष कुलिङ्ग कहलाते हैं । जो मनुष्य लज्जा भय अथवा गारव से इन सबको नमस्कार तथा अभिवादन आदि मन वचनकाय से करता है वह मिष्ठादृष्टि होता है ॥९२॥

गाथार्थ—स्व और पर की अपेक्षा से सहित लिङ्गको तथा रागी और असंयत देवकी वन्दना करता है ऐसा मिष्ठादृष्टि जीव मानता है शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव नहीं ॥९३॥

विशेषार्थ—जो वेष स्त्री से सहित होता है वह स्वापेक्षा है तथा लाल वस्त्र और मृगचर्म आदि की अपेक्षा रखता है वह परोपेक्षा है । रुद्र, विष्णु तथा तिलोत्तमा के मुख कमल को प्रधटिल करने वाले चार मुखके धारक ब्रह्मा आदि रागों देव हैं तथा अनेक मनुष्यों का मांस भक्षण करने वाले

१. मांस दक्षिणमुख भक्षक ।

२. जैन सिद्धान्त की अपेक्षा कोई भी देव मांसभक्षक नहीं होता । यह वाचा अन्य सिद्धान्त की अपेक्षा है ।

भक्तः । (य हु मण्डइ सुदृशम्मलो) न मानयति न सम्मानं ददाति कोऽसौ ?
शुद्धसम्यक्त्वो निर्भलसम्यक्त्वरत्नभवितः ।

सम्माइट्टी सावय धर्मं जिणदेवदेसियं कुणदि ।

विवरीयं कुञ्जंतो मिच्छाविद्वी मुण्यव्यो ॥९४॥

सम्यग्दृष्टिः श्रावकः धर्मं जिनदेवदेशितं करोति ।

विपरीतं कुर्वन् मिथ्यादृष्टिः ज्ञातव्यः ॥ ९४ ॥

(सम्माइट्टी सावय) सम्यग्दृष्टिः श्रावकः सम्यक्त्वरत्नसंशोभितो गृहस्थः । उत्था काक्षयोर्जित शारके मुनि । शारक हे सम्यग्दृष्टिहस्तवक । इसि सम्बोधनपदं । (धर्मं जिणदेवदेसियं कुणदि) धर्मं दुर्भितिपालादुदृत्य इन्द्रचंक्रमुनोन्द्रवन्दिते पदे धरतीति धर्मस्त । जिणदेवदेसियंजिनदेशितं श्रीमद्भगवद्गुरुत्सर्वज्ञवीतरागच्छथितं करोति । (विवरीयं कुञ्जंतो) विपरीतं कुर्वन् रुजिमिनिकणभक्तकापिलसौगतादिभिरुपदिष्टं धर्मं कुर्वन् पुमान् । (मिच्छाविद्वी मुण्यव्यो) मिथ्यादृष्टिरिति ज्ञातव्यः ।

यह आदि असंवित देव हैं इन सबकी जो वन्दना करता है, मानता है अर्थात् उनकी श्रद्धा करता है वह मिथ्यादृष्टि है । शुद्ध सम्यक्त्व का धारक जीव न उन्हें वन्दना करता है और न उनकी श्रद्धा करता है ॥९३॥

गाथार्थ—सम्यग्दृष्टि श्रावक बथवा मुनि जिनदेवके द्वारा उपदेशित धर्मको करता है । जो विपरीत धर्मको करता है उसे मिथ्यादृष्टि जानना चाहिये ॥ ९४ ॥

विज्ञेयार्थ—प्रसिद्धि की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि श्रावक का अर्थ सम्यक्त्व रूपी रत्नसे सुशोभित गृहस्थ है और 'श्रावयति धर्मं भव्यजीवात्' जो भव्य जीवों को धर्मं श्रवण करावे । इस व्युत्पत्ति के अनुसार मुनि अर्थं भी होता है । 'सावय'—श्रावक यह सम्बोधनान्त पद भी माना जा सकता है । श्रावक को सम्बोधित करते हुए कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि हे श्रावक ! जो जिनदेवके द्वारा उपदेशित धर्मको करता है वह सम्यग्दृष्टि है तथा जो इससे विपरीत धर्मको करता है उसे मिथ्यादृष्टि जानना चाहिये । जिनदेव के द्वारा उपदेशित धर्मं दुर्गति के पतन से निकालकर इन्द्र चन्द्र तथा बड़े बड़े मुनियों के द्वारा धन्दित पद में प्राप्त करा देता है इसलिये वह धर्मं है । इसके विपरीत रुद्र जियिनि कणभक्त, सारुण तथा दोद्ध आदिके द्वारा उपदिष्ट धर्मं कुणति पातका कारण होने से लधर्म है ॥ ९४ ॥

मिच्छादिद्वी जो सो संसारे संसरेह सुहरहिओ ।

जन्मजरमरणपउरे दुःखसहस्राउले जीवो ॥ ९५ ॥

मिथ्यादृष्टिः यः सः संसारे संसरति मुखरहितः ।

जन्मजरामरणप्रचुरे दुःखसहस्राकुले जीवः ॥ ९५ ॥

(मिच्छादिद्वी जो सो) मिथ्यादृष्टियों जीवः सः । कि करोति ? (संसारे संसरेह सुहरहिओ) संसारे भवसागरे संसरति सम्यक्त्रविशति सुखरहितो दुःख-सहितः । कथंभूते संसारे (जन्मजरमरणपउरे) जन्मजरामरणप्रचुरे बहुते । (दुःखसहस्राउले जीवो) दुःखानां सहस्रसन्तदुःखराकुले परिपूर्णं कः ? जीवो मिथ्यादृष्टिज्ञातीति वेषः ।

सम्मगुण मिच्छादोसो मणेण परिभावित्तण तं कुणसु ।

जं ते मणस्स रुच्छद् कि अहुणा पलविएणं तु ॥ ९६ ॥

सम्यक्त्वं गुणः मिथ्यात्वं दोषः मनसा परिभाव्य तत्कुरु ।

यत्ते मनसे रोचते कि बहुता प्रलयितेन तु ॥ ९६ ॥

(सम्म गुण मिच्छादोसो) सम्यक्त्वं गुणो भवति, मिथ्यात्वं दोषो भवति पापं स्यात् । (मणेण परिभावित्तण तं कुणसु) इसमर्यं मनसा चित्तेन परिभाव्य

गायार्थ—जो मिथ्यादृष्टि जीव है वह जन्म जरा और मरण से युक्त तथा हजारों दुःखों से परिपूर्ण संसार में दुखी होता हुआ भ्रमण करता रहता है ॥ ९५ ॥

विशेषार्थ—मिथ्यात्व का फल बतलाते हुए श्री कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि जो जीव मिथ्यादृष्टि है वह सदा मुखसे रहित अर्थात् दुखी होता हुआ जन्म जरा और मरण से परिपूर्ण तथा अनन्त दुःखों से व्याप्त संसार में संसरण करता रहता है—चतुर्गति रूप संमार में सब ओर परिभ्रमण करता रहता है । इस परिभ्रमण से बचने का मूल उपाय एक सम्यग्दर्शन हो है सो हे आत्महित के अभिलाषो जन हसे धारण कर ॥ ९५ ॥

गायार्थ—सम्यक्त्व गुण है और मिथ्यात्व दोष है ऐसा मनसे विचार कर तेरे मनके लिये जो रुचे वह कर अधिक कहने से क्या लाभ है ?

विशेषार्थ—आचार्य सम्यक्त्व और मिथ्यात्व की विस्तार से चर्चा करने के बाद कहते हैं कि भाव्य ! अधिक कहने से क्या लाभ है ? सक्षेप में इतना ही समझ ले कि सम्यक्त्व गुण रूप है और मिथ्यात्व दोष रूप है

सम्परिवर्थं तस्य विषेहि । तत् कि ? (जं ते मनस्तु रस्यह) यद्युयोगुणदोष-योमध्ये ते तत्र मनसे रोचते । (कि बहुणा पलकिएर्ण तु) बहुणा ब्रह्मिनेन अनर्थ-क्वचनेन कि—न किमपि । यदि तत्र मनसे गुणो रोचते तहि सम्यक्त्वं विषेहि तत्र दोषो रोचते तहि मिथ्यात्वं विषेहि । अर्थत्स्तु सम्यक्त्वं विषेहोति सम्यगुपदेशा अगवतां श्रीकृष्णकुन्दाचार्याणां ।

बाहिरसंगविमुक्तो ण वि मुक्तो मिच्छभाव णिगमंथो ।

कि तस्स ठाणमउणं ण वि जाणवि अप्पसमभावं ॥९७॥

बाह्यसंगविमुक्तः न विमुक्तः मिथ्याभावेन तिग्रन्थः ।

कि तस्य स्थानमौनं नापि जानाति आत्मसमभावम् ॥ ९७ ॥

(बाहिरसंगविमुक्तो) बहिःसंगाद्विमुक्तो रहितो नमवेषः । (ण वि मुक्तो मिच्छभाव णिगमंथो) नापि मुक्तः नैव मुक्तः न विमुक्तो वा मिथ्याभावेन—मिथ्यात्क्वदोषेण रहितो न भवति, कोऽसो ? निर्धन्थो हिग्राम्बरवेषाजीवो जीवः । (कि तस्स ठाणमउणं) तत्त्वं तिग्रन्थत्वं स्तुतं उद्देश्यदीर्घाः कि—न तिग्रपि, कर्मक्षयलक्षणं मोक्षं न साधयतीत्यर्थः । तथा मौनं कि—मूकत्वमपि न किमपि,

ऐसा तू मन से विचार कर । फिर तुझे जो अच्छा लगे उसे कर । यदि सम्यक्त्व अच्छा लगता है तो सम्यक्त्व को प्राप्त कर और मिथ्यात्व अच्छा लगता है तो मिथ्यात्व को कर परन्तु मिथ्यात्व का फल दुर्गति है और सम्यक्त्व का फल सुगति है । यहाँ मिथ्यात्व को दोष और सम्यक्त्व को गुण रूप बता कर सम्यक्त्व की ओर ही आचार्य ने लक्ष्य दिलाया है ॥ ९६ ॥

गाथार्थ—जो साधु बाह्य परिग्रह से तो छूट गया है परन्तु मिथ्यभाव से नहीं छूटा है उसका कायोत्सर्ग के लिये खड़ा होना अथवा मौन से रहना क्या है ? अर्थात् कुछ भी नहीं है क्योंकि वह आत्मा के समभाव को तो जानता ही नहीं है ॥ ९७ ॥

विशेषार्थ—मिथ्यात्व को छोड़े बिना मात्र बाह्य परिग्रह का छोड़ना कायीकारी नहीं है इस बातका वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं कि जिस तिग्रन्थ साधु ने—दिगम्बर धारी मुनि ने बाह्य परिग्रह तो छोड़ दिया परन्तु मिथ्याभाव रूप अन्तरङ्ग परिग्रह नहीं छोड़ा उसका खड़े होकर कायोत्सर्ग करना तथा मौन धारण करना क्या कर सकता है ? अर्थात् कुछ नहीं । उसकी यह सब प्रवृत्ति कर्मक्षय रूप मोक्षका कारण नहीं है क्योंकि वह आत्मा समभाव स्थि है—रामदेव से रहित है यह नहीं जानता

मोक्षाश्रितं कार्यं न करोतीत्यर्थः । (ण वि जाणदि अप्यसमभाव) मापि जानीते न लभते न बेत्ति आत्मसमभावं आत्मना जीवामां समखपरिणामं—सर्वे जीवाः शुद्धबुद्धकर्तव्यभावा इति सिद्धान्तवचनं न जानाति ।

मूलगुणं छित्तूण् य ब्रह्मित्वम् करेह जो साहू ।

सो ण लहूइ सिद्धिसुहं जिणलिंगविराधगो णिच्छं ॥९८॥

मूलगुणं छित्वा ब्रह्मकर्मकरोति यः साधुः ।

स न लभते सिद्धिसुखं जिनलिङ्गविराधकः नित्यम् ॥ ९८ ॥

(मूलगुणं छित्तूण् य) मूलगुणमष्टाविंशतिभिन्नं पञ्चमहाब्रह्माभिन्नं पञ्चसमितयः पञ्चेन्द्रियरोधो लोचः बहावश्यकाभिन्नं अचेलत्वमहनाभिन्नं विसिंशयनं दन्ताधावन-रहितात्मं उद्भवभोजनं एकभक्तं इत्यष्टाविंशतिमूलगुणाम्नायः । तत्र यदुक्तः स्नाना-भावस्तस्यायमर्थः—

गुह्यस्तानं गुह्यस्त्वं देवार्थंभरिन्नहे ।

यतेस्तु दुर्बन्नस्पशाति स्नानमन्मद्विराहित ॥ १ ॥

तत्र यत्ते: रजस्त्वलास्यर्थो अस्त्वि-स्यर्थो-चाण्डाल ईर्ष्यं शूनकभद्रभनापितयोग-कपालस्यर्थं वर्मने विष्टोयरि पावपत्तने परीरोपरिकाकविष्मोचने इत्याविस्तानोत्पत्ती

है अथवा आत्मा अर्थात् जीवों के समभाव है—सभी जीव शुद्ध शुद्धेक स्वभाव से युक्त हैं इस आगम के वाक्य को तहीं जानता है ॥ ९७ ॥

गाथार्थ—जो साधु मूलगुणों को छेद कर ब्रह्म कर्म करता है वह सिद्धिके सुखको तहीं पाता वह तो निरन्तर जिन लिङ्ग की विराधना करने वाला माना गया है ॥ ९८ ॥

विशेषार्थ—पाँच महाब्रह्म, पाँच समितियाँ, पञ्चेन्द्रिय दमन, केशलोच, छह आवश्यक, अचेलत्व, स्नान, भूमिशयन, अदन्तधावन, खड़े खड़े भोजन करना और एक बार भोजन करना ये मुनियों के अट्ठाईस मूलगुण हैं । इन मूलगुणों में जो स्नान नामका मूलगुण बतलाया है उसका भाव यह है—

नित्यस्तानम—भगवान् की पूजा करने के लिये गुह्यत्व को प्रतिदिन स्नान करना चाहिये परन्तु मुनिके दुर्जन का स्पर्श होनेपर स्नान करने की विधि है उसके लिये अन्य स्नान निन्दित हैं ।

दुर्जन स्पर्श का स्पष्ट भाव यह है कि यदि मुनिको रजस्त्वला स्त्रीका स्पर्श हो जाय, हृदृजो का स्पर्श हो जाय, चाण्डाल का स्पर्श हो जाय, कुरुता, गचा, नाई जबका कापालिकों के भूर कपालका स्पर्श हो जाय, कम्म

सत्या दंडवदुपविश्यते, आवकादिकश्चात्रादिको वा जलं नामपति, सर्वाङ्गप्रकालनं
क्रियते, स्वयं हृतमर्दनेनाङ्गमलं न दूरीक्रियते, स्नाने संजाते सति उपवासो गृह्णते,
पञ्चनमस्कारशतमष्टोत्तरं कायोत्सर्गेण जप्त्यते एवं शुद्धिर्भवति । एवं मूलगुणं छित्वा ।
(बाहिरकम्मं करेह जो साहु) बहिकर्म आतपनयोगादिकं यः साधुकरोति ।
(सो य लहुः सिद्धिमुहु) च साधुःसिद्धिसुखं मोक्षसीर्थं न लभते न प्राप्नोति ।
(जिणलिंगविराघगो णिष्वं) स साधुजिनलिंगविराघको भवति, कर्थ ? नित्यं
सर्वकाल ।

कि काहिदि बहिकम्मं कि काहिदि बहुविहं च स्वरणं च ।

कि काहिदि आदावं आदसहावस्त विवरीदो ॥९९॥

कि करिष्यति बाह्यकर्मं कि करिष्यति बहुविधं च क्षमणं च ।

कि करिष्यति आतापः आत्मस्वभावाद्विपरीतः ॥१००॥

(कि काहिदि बहिकम्मं) कि करिष्यति—न किमपि करिष्यति, मोक्षं न
करिष्यति, कि तत् ? बहिकम्मं पठनपाठनादिकं प्रतिक्रमणादिकं च । (कि काहिदि
बहुविहं च स्वरणं च) कि करिष्यति—न किमपि करिष्यति, न मोक्षं बास्यति ।

अथवा छिठ्ठा परं पैरं पङ्क जाय अथवा शरीर के ऊपर कौआ बीट कर दे
तो स्नानका प्रसङ्ग होता है । परन्तु इस स्थिति में मुनि दण्डके समान
सीधे बीठ जाते हैं और आवक अथवा छात्र आदिक जल डालते हैं तथा
उनके सर्वं शरीर का प्रश्नालन करते हैं मुनि स्वयं हाथ से बीठ कर शरीर
का मैल दूर महीं करते हैं । स्नान हो चुकने पर मुनि उस दिनका उपवास
लेते हैं (ओरु खड़े होकर पञ्च नमस्कार मन्त्र का एकसौ बाठ बार ज्ञाप
करते हैं । इस तरह शुद्धि होती है ।

उक्त मूलगुणों को छेदकर अर्थात् उनमें दोष लगाकर जो साधु
आतापन योग आदि बाह्य कार्यं करता है वह सिद्धि सुख-मोक्ष मुख्यको
नहीं प्राप्त करता । वह निरन्तर जिन लिङ्गं की विराघना करने वाला
माना गया है ॥ १० ॥

**गाथार्थ—जो साधु आत्मस्वभावसे विपरीत है मात्र बाह्य कर्म उसका
क्षय कर देगा ? नाना प्रकार का उपवासादि क्षय कर देगा ? और आता-
पन योग क्षय कर देगा ?**

अर्थात् कुछ नहीं ॥ १० ॥

**विशेषार्थ—पठन-पाठन तथा प्रतिक्रमण आदि बाह्य कर्म उस साधुका
क्षय कर देंगे जो आत्मस्वभाव से विपरीत है । नाना प्रकार के उपवास
इ-**

कि तत् ? बहुविव नानाप्रकारं क्षमणसुपवासः । (कि काहिदि आदावं) कि करिष्यति, न किमपि करिष्यति, कोऽसौ ? आतापः ज्ञानीकायोत्सर्गं पूर्वोक्तः समाचारः । कथंभूतः, (आदसहावस्स विवरीदे) आत्मस्वभावाद्विपरीतः वाल्यवस्तुसम्मोहित-मनः ।

जदि पठदि बहुसुदाणि य जदि काहिदि बहुविहे य चरिते ।
तं बालसुदं चरणं हवेइ अप्पस्स विवरीदं ॥ १०० ॥

यदि पठति श्रुतानि च यदि करिष्यति बहुविधानि चारित्राणि ।
तद्वालश्वतं चरणं भवति आत्मनः विपरीतम् ॥ १०० ॥

(जदि पठदि बहुसुदाणि य) यदि चेत्, पठति व्यक्तमुच्चारयति, बहुश्रुतानि अनेकतर्कव्याकरणच्छन्दोऽलङ्घारसिद्धान्तसाहित्यादीनि शाल्याणि । चकार उक्त-समुच्चयादं एकादशाङ्गानि दशपूर्वाणि च । (जदि काहिदि बहुविहे य चरिते) यदि चेत्, काहिदि—करिष्यति अनुष्ठास्यति, बहुविधानि चारित्राणि त्रयोदश-प्रकाराणि सामायिकादीनि पञ्चविधानि वा । (तं बालसुदं चरणं) उसबं बालश्वतं मूर्खशास्त्रं, बालचरणं मूर्खचारित्रं । (हवेइ अप्पस्स विवरीदं) भवति बालश्वतं बालशारित्रं भवति, कथंभूतं सत् ? आत्मनो निजशुद्धवुद्दीकस्वभावजीवत्सत्वाद्विप-रीतं पराङ्मुखमात्मभावनारहितमिति भावार्थः ।

आदि तप भी उस साधु का क्या कर देंगे जो आत्म स्वभाव से विमुक्त है और धाम में कायोत्सर्ग से खड़े होकर आतप योग धारण करना भी उसका क्या कर सकता है जो आत्मस्वभाव से विपरीत है । अर्थात् जिसका चित्त बाहु वस्तुओं से संमोहित है ॥ ९९ ॥

गाथार्थ—यदि ऐसा मूनि अनेक शाल्योंको पढ़ता है तथा नाना प्रकार के चारित्रों का पालन करता है तो उसकी वह सब प्रवृत्ति आत्म स्वरूप से विपरीत होनेके कारण बालश्वत् और बालचारित्र कहलाती है ॥ १०० ॥

बिशेषार्थ—यदि कोई मूनि स्थृट उच्चारण करता है अथवा तकं, व्याकरण, छन्द, अलंकार, सिद्धान्त और साहित्य तथा चकार से ग्यारह अङ्ग और दशपूर्वों को पढ़ता है तथा तेरह अथवा सामायिक आदि पाँच प्रकार के चारित्र को करता है तो उसका वह सब कायं बालशास्त्र और बाल-चारित्र होता है क्योंकि वह मूनि आत्मस्वभाव से पराङ्मुख है—आत्म भावना से रहित ॥ १०० ॥

‘वेरगपरो साधु परदब्यपरम्मुहो य सो होदि ।
संसारसुहविरक्तो सगलुद्गलुहेसु अणुरक्तो ॥ १०१ ॥

वेराग्यपरः साधुः परदब्यपराङ्मुखश्च स भवति ।
संसारसुखविरक्तः स्वकाशुद्गलुखेषु अनुरक्तः ॥ १०१ ॥

(वेरगपरो साधु) वेराग्यपरः साधुः संसारशरीरभोगनिविष्णः सहयदर्शनं ज्ञानानामारात्रकल्पात्साधक आत्मनामान्वयत्वात् । (परदब्यपरम्मुहो य सो होदि) यः साधुः वेराग्यपरः स साधुः परदब्यपराङ्मुखो भवति इष्टवनितादिविरक्तो भवति । (संसारसुहविरक्तो) संसारस्थ सुखं कामुरकस्तुरीचन्दनमालापट्टकूलसु-वर्णमणिमोक्षिकप्रासादपल्युक्तेवयोवनयुक्तिपुत्रसम्पदिष्टसेयोगारोग्यदीक्षियुक्तः-कीतिप्रभूतिकं तस्माद्विरक्तः (सगलुद्गलुहेसु अणुरक्तो) पूर्वोक्तामणरीरकर्मसमुत्पन्न-विवक्तसुखाद्विरज्य निष्केवललवणस्तिथास्वादवत् सुखेषु अनन्तज्ञानादिक्षतुष्टयेनुरक्तोऽनुरागवान् भवतीति भावार्थः ।

गाथार्थ—जो साधु वेराग्य में तत्पर होता है वह परदब्य से परांग-मुख रहता है । इसी प्रकार जो साधु संसार मुख से विरक्त होता है वह स्वकीय शुद्ध सुख में अनुरक्त होता है ॥ १०१ ॥

विशेषार्थ—जो साधु वेराग्यमें तत्पर है, अर्थात् संसार शरीर और भोगोंमें विरक्त है वह इष्ट स्त्री आदि परदब्य से विमुख रहता है और जो कपूर, कस्तुरी, चन्दन, पुष्पमाला, रेशमी वस्त्र, सुबर्ण, मणि, मोती, महल, पर्लग, नवयोविनवती स्त्री, पुत्र, सम्पत्ति, इष्टजन संयोग, आरोग्य, दीर्घायु तथा पशास्कीर्ति आदि संसार के मुखसे विरक्त रहता है वह अनन्त चतुष्टय रूप अपने दुख मुख में अनुरागी होता है जिस प्रकार नमक डलोंको जिस ओर से चखा जाय उसी ओर से उसमें खारापन का स्वाद आता है इसी प्रकार आत्मा का किसी भी अंश-गुण की अपेक्षा अनुभव किया जाय उसी अंश से वह अनन्त ज्ञानादि रूप अनुभव में आता है ॥ १०१ ॥

१. पं० जयचन्द्रेण इमा गाथां १०२ तम् गाथां सह पठिला “उत्तमं छाण पावह” इति कर्म किंवा सम्बन्धोद्योजितः ।

गुणगणविहृसियंगो हेयोपादेयणिच्छदो साधु ।
भाणजक्षयणे सुरदो सो पावइ उत्तमं ठाणं ॥ १०२ ॥

गुणगणविभूषिताङ्गः हेयोपादेयनिश्चितः साधुः ।
ध्यानाध्ययने सुरतः स प्राप्नोति उत्तमं स्थानम् ॥ १०२ ॥

(गुणगणविहृसियंगो) गुणानां ज्ञानस्थानसपोरल्लानां गणः समूहैर्विभूषिताङ्गः शोभितशरीरः । (हेयोपादेयणिच्छदो साधु) हेयं मिथ्यात्वादिकं उपादेयं ग्रहणीयं सम्यक्त्वरत्नादिकं तत्र निश्चितं निश्चयो यस्य स हेयोपादेयनिश्चितः साधु रत्न-उपाराधको मुनिः । (भाणजक्षयणे सुरदो) एवामात्मरीढ्रव्यापाद्युपरिम्परान्मध्ये-शुक्लब्यानद्वये रत्नस्तत्परस्तनिष्टस्तदेकतानः । (सो पावइ उत्तमं ठाणं) य एवं-विषः साधुः स प्राप्नोति कि ? उत्तमस्थानं भावस्थानं 'शरीरलक्षण हीनस्थानं परिदृश्य कमेशारीरबन्धनेरहित मोक्षं' प्राप्नोति लभते सिद्धः प्रसिद्धैच भवतीहि तात्पर्यार्थः ।

गाधार्थ—गुणों के समूह से जिसका शरीर शोभित है, जो हेय और उपादेय पदार्थों का निश्चय कर चुका है तथा ध्यान और अध्ययन में जो अच्छी तरह लीन रहता है वही साधु उत्तम स्थान को प्राप्त होता है ॥ १०२ ॥

विद्वाधार्थ—शान ध्यान और तप रूपो रत्न गुण कहे जाते हैं इनके समूह से जिस साधुका शरीर सुशोभित हो रहा है । मिथ्यात्वादिक हेय-छोड़ने योग्य हैं तथा सम्यक्त्व रत्नादिक उपादेय-ग्रहण करने योग्य पदार्थ हैं इन दोनों के विषय में जो साधु दूष्कृतिश्चय कर चुका है तथा आतं और रोद्र इन दोनों स्वोटे ध्यानों को छोड़कर धर्म्य और शुक्लब्यान में सथा वीतराग सर्वज्ञ देवके द्वारा उपाजात शास्त्रों के अध्ययन में जो तदेकतान हो रहा है पूर्ण रूपसे संलग्न है वह साधु उत्तम स्थान को अर्थात् रूप हीन स्थानको छोड़कर कर्म और शरीर के बन्धन से रहित मोक्षको प्राप्त होता है ॥ १०२ ॥

१. शरीर लक्षणं म० ।

२. रहितरवं मोक्षं म० ।

✓ णविएहि जं णविज्जइ शाइज्जइ शाइएहि अणवरयं ।
युब्बतेहि युणिज्जइ वेहत्यं कि पि तं मुणह ॥१०३॥

नते: यत् नम्यते ध्यायते ध्याते: अनवरतम् ।

स्तूयमाने: स्तूयते देहस्यं किमपि तत् मतुत ॥ १०३ ॥

(णविएहि जं णविज्जइ) नतैर्देवेन्द्रादिभिर्यन्नम्यते । (शाइज्जइ शाइएहि अणवरयं) ध्यापतेऽहनिंशं चिन्त्यते शाइएहि—ध्यातैस्तीर्थकरपरमदेवैर्यंहुधायते वहर्मिणं शुक्लध्यानार्थं सर्वकर्मसंकलयार्थं तत्त्वद्वाप्त्ययं अनुचिन्त्यते । (युब्बतेहि युणिज्जइ) स्तूयमानैस्तीर्थकरपरमदेवैर्यत् स्तूयतेऽनन्तगुणोद्भावनतया प्रपास्यते । (देहस्यं कि पि तं मुणह) देहस्यं शरीरमध्ये स्थिति किमप्यपूर्वमनिर्बन्धनीयमाससार-मप्राप्तं हत्योगिनां प्रसिद्धं तत्वं आत्मतत्वम् मुणह—जानीत यूर्यं । तदुक्तं—

तिलमध्ये यथा तैलं दुष्टमध्ये यथा घृतं ।

काष्ठमध्ये यथावल्हिदेहमध्ये तथा शिवः ॥ १ ॥

गाथार्थ—दूसरों के द्वारा नमस्कृत इन्द्रादिदेव जिसे नमस्कार करते हैं, दूसरों के द्वारा ध्यान-ध्यान किये गये तीर्थकर देव जिसका निरन्तर ध्यान करते हैं और दूसरों के द्वारा स्तूयमान—स्तुति किये गये तीर्थकर जिनेन्द्र भी जिसकी स्तुति करते हैं शरीर के मध्यमें स्थित उस अनिर्बन्धनीय आत्म तत्वको तुम जानो ॥ १०३ ॥

विशेषार्थ—यहाँ शरीर के मध्यमें स्थित रहने वाले आत्मतत्वको श्री कुन्दकुन्द भगवन्त ने कोई अनिर्बन्धनीय तत्व कहा है उसकी महिमा बतलाते हुए कहा है कि उस आत्मतत्वको दूसरों के द्वारा नमस्कृत इन्द्रादिक भी नमस्कार करते हैं, दूसरे प्राणी जिनका ध्यान करते हैं ऐसे तीर्थकर भगवान् भी उसका ध्यान करते हैं तथा समस्त लोग जिनकी स्तुति कर रहे हैं ऐसे तीर्थकर भी उसकी स्तुति करते हैं । हे भव्यजीवो ! उस आत्म तत्व को तुम जानो—उसीका ममन करो । यद्यपि वह आत्म तत्व तुम्हारे शरीर में ही स्थित है परन्तु आज तक तुम्हारा उस ओर लक्ष्य नहीं गया । कहा गया है—

सिलमध्ये—जिस प्रकार तिल के बीच में तैल, दूध के बीचमें घो और काष्ठ के बीच में अग्नि रहती है उसी प्रकार शरीर के बीचमें शिव रहता है । यही शिवका अर्थ आत्मतत्व है ॥ १०३ ॥

शिवशब्दावाच्यमात्मतत्त्वमित्यर्थः ।

इदानीं शास्त्रस्यान्ते मांगलनिमित्तं पञ्चपरमेष्ठिपूरस्मररत्नत्रयगमितमात्मतत्त्व-
मुद्भावयन्ति भगवन्तः—

अरहा सिद्धायरिया उज्ज्वाया साहु पञ्चपरमेष्ठो ।

ते वि हु चिद्गृहि आदे तम्हा आवा हु मे सरणं ॥ १०४॥

अहैन्तः सिद्धा आचार्या उपाध्यायाः साधवः पञ्चपरमेष्ठिनः ।

तेऽपि हु तिष्ठन्ति आत्मनि तस्मादात्मा हु मे शरणम् ॥ १०४॥

(अरहा सिद्धायरिया) अहैन्तः सिद्धा आचार्याश्च । (उज्ज्वाया साहु पञ्चपर-
मेष्ठो) उपाध्यायाः, साधवः, एते पञ्चपरमेष्ठिनो देवा ममेष्टदेवताः । (ते वि हु
चिद्गृहि आदे) तेऽपि पञ्चपरमेष्ठिनो देवा अपि तिष्ठन्ति, क्व ? आत्मनि निज-
त्रीवनत्वे । केवलज्ञानादिगुणविराजमानत्वात् सकलभव्यजीवसम्बोधनसमर्थत्वा-
च्चात्मायमर्हत् वर्तते । सर्वकर्मक्षमतापद्मप्राप्तत्वात् निश्चयनयान्मात्मायमेव
सिद्धः । दोक्षाशिक्षादायकत्वात् पञ्चचाराचरणचारणप्रवीणत्वात् सूरिमन्त्रतिलक-

अब शास्त्र के अन्त में मञ्जुल के निमित्त पञ्चपरमेष्ठियों के साथ साथ
रत्नत्रय से गमित जो आत्मतत्त्व है श्री कुन्दकुन्द भगवन्त उसोका वर्णन
करते हैं—

गायार्थ—अरहैन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु ये पाँच
परमेष्ठी हैं सो ये पाँचों परमेष्ठों भी जिस कारण आत्मा में स्थित हैं उस
कारण आत्मा ही भेरे लिये शरण हो ॥ १०४ ॥

विजेवार्थ—अरहैन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पाँच
परमेष्ठी हमारे इष्ट देवता हैं सो ये सभी आत्मा में स्थित हैं अर्थात्
आत्मा की ही परिणति रूप हैं । (केवलज्ञानादि गुणों से विराजमान होने
के समस्त भव्यजीवोंके संबोधनमें समर्थ होनेसे भेरी यह आत्मा ही
अरहत है ।) समस्त कर्मोंके क्षय रूप मोक्षको प्राप्त होनेसे निदन्त्यनय की
अपेक्षा भेरो आत्मा ही सिद्ध है । दोक्षा और शिक्षकोंके दायक होनेसे,
पञ्चाचार के स्वयं आचरण तथा दूसरोंको आचरण करानेमें प्रवीण
होनेसे और सूरिमन्त्र तथा तिलक मन्त्र से तन्मय होनेके कारण भेरी
आत्मा ही आचार्य है । शुतज्ञान के उपदेशक होनेसे, स्वपर मतके जाता
होनेसे तथा भव्य जीवोंके संबोधक होनेसे भेरो आत्मा ही उपाध्याय है
और सम्यदवान, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्षबारित रूप रत्नत्रय के साधक
होनेसे, सर्व प्रकार के दृढ़ों से रहित होनेसे, दोक्षा शिक्षा याचा प्रविष्टा

संवत्सर्यत्वान्ममात्मायमेवाचार्यपदभागी वर्तते । श्रुतज्ञानोपदेशकस्वात् स्वपरम-
तविज्ञायकस्वात् भव्यजीवसम्बोधकत्वान्ममात्मायमेवोपाध्यायः । सम्यगदर्शनज्ञान-
चारित्ररत्नप्रश्नास्त्रकल्पात् सर्वदत्त्वनिष्ठकल्पात् लीलाविज्ञानायामा प्रनिष्ठाकृत्वेकवर्म-
कार्यनिश्चन्ततयाऽस्त्रवसाधकतया ममात्मायमेव सर्वसाधुवर्तते इति पञ्चपरमेष्ठिन
आत्मनि तिष्ठन्तीति कारणात् । (तम्हा आदा हु मे शरणं) तस्मात्कारणादात्मा
हु—स्फुटं मे मम शरणं संसारदुःखनियारकत्वादतिभवनसमर्थः मम शरणं
गतिरिति ।

सम्मतं सरणार्णं सच्चारितं हि सत्त्वं चेद ।

चउरो चिदुहि आदे तह्या आदा हु मे शरणं ॥१०५॥

सम्यक्त्वं सज्जानं सच्चरित्रं हि सत्तपदचेद ।

चत्वारः तिष्ठन्ति आत्मनि तस्मादात्मा हु मे शरणम् ॥१०५॥

(सम्भवं सरणार्ण) ३सम्यक्त्वं सम्यगदर्शनरत्नं सज्जानं समीचीनमवाच्चित्
पूर्वपिरविरोधरहितं सम्यग्ज्ञानं । (सच्चारितं हि सत्त्वं चेद) सच्चारित्रं
सम्यक्त्वारित्रं पापक्रियाविरमणलक्षणं परमोदासीनतास्वरूपं च सम्यक्त्वारित्रं,
सत्त्वं—समीचनं तपः इच्छानिरोधलक्षणं चेति । (उत्तरो चिदुहि आदे) एते
चत्वारोऽपि परमाराधनापदार्थस्तिष्ठन्ति, क्व तिष्ठन्ति ? आत्मनि निजशुद्धबुद्धेक-

आदि अनेक धर्म कार्योंकी निश्चन्तता से तथा आत्मतत्व की साध-
कता से मेरी यह आत्मा ही साधु है । इस प्रकार पञ्चपरमेष्ठी रूप
मेरी यह आत्मा ही मेरे लिये स्पष्ट रूप से शरण है—यही संसार
सम्बन्धी दुःखोंका निवारक होनेसे मेरी पीड़ा को नष्ट करने में समर्थ
है ॥१०४॥

गाथार्थ—सम्यगदर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्त्वारित्र और सम्यक्तप
ये चारों आत्मा में स्थित हैं इसलिये आत्मा ही मेरा शरण है ॥१०५॥

विशेषार्थ—सम्यक्त्वं सम्यगदर्शन रूपी रत्नको कहते हैं । समीचीन
और अबाधित अर्थात् पूर्वपिर विरोध से रहित जो ज्ञान है वह सम्यग्ज्ञान
कहलाता है । पापक्रियाओं से विरत होना तथा परम उदासीनता को
धारण करना सम्यक्त्वारित्र है । और इच्छानिरोध हो जाना सम्यक्-
तप है । ये चारों हो परम आराधनाएँ निज शुद्धबुद्ध स्वभावसे पृक्त
आत्मा में स्थित हैं । चौंकि आत्मा ही आत्मा का श्रद्धान करती है, आत्मा
ही आत्मा के ज्ञानको करती है, आत्मा ही आत्मा के साथ एकलोली आद-

स्वभावबोवतत्वे तिष्ठन्ति । यदारम्नः अङ्गानमात्मैव करोति, आत्मनो ज्ञानमा-
त्मैव विधत्ते, आत्मा सहैकलोलीभावमात्मैव कुरुते, आरम्भ—वात्मनि तपति, केवल-
ज्ञानैस्वर्यं प्राप्नोति चतुर्भिरपि प्रकारैरात्मात्मानमेकाराधयति । (तम्हा आदा हु-
मेसरण) तस्मादात्मैव सम शरणमनिष्ठवत्समर्थः संसारातिनिषेषकरत्वात् आत्मैव
मे गतिः, (मंगल मलगालने कर्म मलकलमुक्तिवेषने मंगस्य सुखस्य दाने च समर्थ-
त्वादात्मैव परमं मंगलमिति मावार्थः ।

एवं जिणपण्णसं मोक्षस्य य पाहुडं सुभत्तीए ।

जो पढ़इ सुणइ सो पावइ सासयं सोक्खर्ण ॥१०५॥

एवं जिनप्रजातं गोक्षरय च गाभृतं सुभक्त्या ।

यः पठति शृणोति भावयति स प्राप्नोति शाश्वतं सौख्यम् ॥१०६॥

(एवं जिणपण्णतं) एवमनुनाप्रकारेण जिनप्रजाप्तं सर्वज्ञवीतरागभावितं
(मोक्षस्य य पाहुडं सुभत्तीए) मोक्षस्य परमनिष्ठिणपवधस्य प्राभृतं सारविदं
शास्त्रं सुच्छु—अतिशयेन भक्त्या परमधर्मनिरुपणेण । (जो पढ़इ सुणइ भावइ)
य आसन्नभव्यो जीवः पठति जिह्वार्थं करोति, परम भव्यजीवः धुणीत्याकर्णयति,
यद्युक्त मोक्षाभिलाषुको जीवो भावयति एतद्वात्मं यस्मै रोकते । (सो पावइ

अथवा तन्मयी भाव को प्राप्त होती है, आत्मा ही आत्मा में तपती है और
आत्मा ही आत्मा में केवलज्ञान रूप ऐश्वर्य को प्राप्त होती है इस तरह
चारों प्रकार से आत्मा ही आत्मा की अद्वाधना करती है इसलिये आत्मा
ही मेरा शरण है—मेरी पीड़ाको नष्ट करने में समर्थ है । इस प्रकार
संसार की पीड़ा का नाश करने वाली होनेसे आत्मा ही मेरी गति है—
अन्तिम लक्ष्य है । आत्मा ही मङ्गल रूप है क्योंकि वही मं अथवा
पापको गलाने वाली है अथवा कर्म रूपो मलके कर्लक को दूर करने वाली
है अथवा आत्मा ही मनं अथवा सुखको देनेवाली है इसलिये आत्मा ही
परम मङ्गल रूप है ॥१०५॥

गाथार्थ—इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा प्रणीत इस मोक्ष-
प्राभृत को जो उत्तम भवित्व से पढ़ता है, सुनता है और इसकी भावना
करता है वह शाश्वत सुखं-अविनाशी मोक्ष सुखको प्राप्त होता है ॥१०६॥

विद्वेषार्थ—ग्रन्थ के फलका निरूपण करते हुए श्री कुन्दकुन्द स्वामी
कहते हैं कि इस प्रकार सर्वज्ञ वीतराग देवके द्वारा मूलरूप से उपदिष्ट
इस मोक्षप्राभृत नामक सारभूत शास्त्रको जो निकट भव्यजीव परम
धर्मनिरुपण से पढ़ता है अर्थात् कफ्लस्व करता है, सुनता है और मोक्ष की

सासर्य सोकर्त्त्वं) स जीवः परमुनीश्वरः, प्राप्नोति लभते, शाश्वतमविनश्वरं, सौख्यं निजारमोत्त्वं परमानुकलधणं सौख्यं ।

टीकाकर्ता: प्रशस्ति:

नाभिशास्त्रमहार्णवैकतरणे यद्गुडिरिद्धिश्चिया ।
 पूर्णा पुण्यकविप्रमोक्षजननी सारैकनौकायते ॥
 मत्स्वादाम्बुजयुग्ममाप्य मुनिभिर्भृगैरिवा व्यायते ।
 स श्रीमान् श्रुतसागरो किञ्चयतामेनस्तमोऽहृष्ट्यतः ॥ १ ॥

 १५ मत्स्वामिसमन्तभद्रमसलं श्रीकुम्दकुन्दाम्बुर्य ।
 यो धीमानकलङ्कभट्टमधि च श्रीमत्प्रभेन्दुप्रभु ॥
 विद्यानन्दमपीक्षि तु कृतमनाः श्रीपूज्यपादं गुहं ।
 दीर्घेत श्रुतसागरं सविनयात् श्रीविद्वांशीमन्त ॥ २ ॥

अभिलाषा रखता हुआ इसका चिन्तन-मनन करता है वह निज
आत्मा से उत्सन्न होनेवाले प्रसानन्द रूप अविनाशी सुखको प्राप्त होता
है ॥१०६॥

आगे संस्कृत टीकाकार अपनी प्रशस्ति लिखते हैं—

देवी यमान लक्ष्मी से पूर्ण तथा पुण्यशाली कवियों को आनन्द उत्पन्न करनेवाली जिनकी बुद्धि नाना शास्त्र रूपी महासागर के तैरने में सुदृढ़ नौका के समान आचरण करती है, जिनके चरण कमलों के युगल को पाकर मूनि भग्नाओं के समान संतुष्ट हो जाते हैं तथा जो पाप रूपी अन्धकार को नष्ट करने के लिये सूर्य हैं वे श्रीमान् श्रुतसागर मूनि विजय को प्राप्त हों ॥१॥

श्रीमत—जो वृद्धिशान् ओभान् स्वामी समन्तभद्र, निर्मल कुल-
कुन्दाचार्य, अकलङ्कभट्ट, औं प्रभाचन्द्रस्वामी, विद्यानन्द तथा श्री
पूज्यपाद गुरुको देखनेको इच्छा करता है अर्थात् उनकी रचनाओंका
स्वाद जानना चाहता है वह विनयपूर्वक वैविद्य पदधारी विद्वानों के
द्वारा स्तुत श्री श्रुतसागरको विनयसे देखे अर्थात् उनकी रचनाओंका
पठन पाठन करे ॥२॥

श्रीमलिलभूषणगुरुर्वचनादलंघ्या । शुक्लितिरिया सह समागममिच्छते वं ॥

षट्प्राभृते सकलसंशयशाश्रुहंती । टीका कुताऽकृतविदां श्रुतसामरेण ॥३॥

इति श्रीपद्मनन्दिकुन्दकुम्भाचार्यवक्त्रीवाचार्येलाचार्यंगुणपिच्छाचार्यतामपंचकविराजितेन चतुरभुलाकाचार्यगमनदिना पूर्वविदेहपुण्डरीकिणीनगरवदितसीमन्वरापरनामस्वयंप्रभजितेन तदश्रुतज्ञानसम्बोधितभरतवर्षभव्यजीवेन श्रीजिनचन्द्र सुरभट्टारकपट्टाभरणभूतेन कल्पितः उत्तर्विदेहपुण्डरीकिणीनगरवदितसीमन्वरापरनामस्वयंप्रभजितेन कल्पितमस्त्वाभिना श्रीपद्मनन्दिकुन्दकीर्तिविद्यानन्दिपट्टभट्टारकेण श्रीमलिलभूषणेनातुमतेन सकलविद्युज्ज्ञनसमाजगम्भानिते नौभवभाषाकविचक्रवतिना श्रीविद्यानन्दिगुरुवत्तेवासिना सूरिवर श्रीश्रुतसामरेण विरचितामोक्षप्राभृतटीका—

परिसमाप्ता

षष्ठः परिच्छेदः श्रीभृद्यात्

श्रो मलिलभूषण—श्रो मलिलभूषण गुरुके अलङ्घश वचनों से मुक्ति लक्ष्मी के साथ समागम को इच्छा करने वाले श्री श्रुतसागर ने मन्दबुद्धि लोगोंके लिये षट्प्राभृत ग्रन्थ पर समस्त संशयरूपी शाश्रुओं को नष्ट करने वाली यह टीका रची है ॥३॥

इस प्रकार श्री पद्मनन्दी, कुन्दकुन्दाचार्य, वक्त्रीवाचार्य, एलाचार्य और गुणपिच्छाचार्य इन पाँच नामोंसे विराजित, चार अंगुल प्रभाण आकाशमें चलनेवाली ऋद्धि से युक्त, पूर्वविदेह क्षेत्र की पुण्डरीकिणी नगरी में सीमन्वर इस दूसरे नामसे युक्त स्वयंप्रभ जिनकी वन्दना करने वाले, उनके श्रुतज्ञान से भरत क्षेत्रके भव्य जीवों को सम्बोधित करने वाले, श्री जिनचन्द्रसुरि भट्टारक के पट्टके आभरणभूत तथा कलिकाल के सर्वेज स्वरूप श्री कुन्दकुन्द स्वामी के द्वारा विरचित षट्प्राभृत ग्रन्थ पर समस्त मूलिकाएँ से मण्डित कलिकाल के गौतमस्वामी, श्री पद्मनन्दी, देवेन्द्रकीर्ति और विद्यानन्दी के पट्ट पर स्थित भट्टारक श्री मलिलभूषण के द्वारा अनुमत सकल विद्युज्ज्ञनोंके समूह से सम्मानित, उभय भाषा के कवियोंके चक्रवर्ती, श्री विद्यानन्दी गुहके शिष्य सूरिवर श्री श्रुतसागर के द्वारा विरचित मोक्षप्राभृत की टीका समाप्त हुई ।

लिङ्ग प्राभृतम्

काऊण गमोकारं अरहन्ताणं तहेव सिद्धाणं ।

बोच्छामि समणालिंगं पातुडसत्यं समासेन ॥ १ ॥

कृत्वा नमस्कारं अहंतां तथैव सिद्धानां ।

वध्यामि श्रपणलिंगं प्राभृतशास्त्रं समासेन ॥ १ ॥

धर्मेण होइ लिंगं ए लिंगमत्तेण धर्मसंपत्ती ।

जाणेहि भावधर्मं किं ते लिंगेण कायद्वो ॥ २ ॥

धर्मेण भवति लिंगं न लिंगमात्रेण धर्मसंप्राप्तिः ।

जानोहि भावधर्मं किं ते लिंगेन कर्तव्यं ॥ २ ॥

जो पात्रोऽपि दृष्ट्वा लिंगं छेत्तुण जिज्ञवरिदाणं ।

उबहसङ्ग लिंगि भावं लिंगं णासेवि लिंगीणं ॥ ३ ॥

यः पापमोहितमतिः लिंगं गृहोत्वा जिनवरेन्द्राणां ।

उपहसति लिंगिभावं लिंगं नाश्यनि लिंगीनां ॥ ३ ॥

काऊण—मैं अरहन्तों तथा सिद्धों को नमस्कार कर संक्षेप से मुनि-लिङ्ग का वर्णन करने वाले प्राभृत शास्त्र को कहूँगा ॥१॥

धर्मेण—धर्म से ही लिङ्ग होता है, लिङ्गमात्र धारण करने से धर्म की प्राप्ति नहीं होती इसलिये भावको धर्म जानो, भाव-रहित लिङ्ग से तुझे क्या कार्य है ?

भावार्थ—लिङ्ग अर्थात् शरीर का वेष धर्म से होता है जिसने भावके बिना मात्र शरीरका वेष धारण किया है उसके धर्मकी प्राप्ति नहीं होती इसलिये भाव ही धर्म है भावके बिना मात्र वेष कार्यकारी नहीं है ॥ २ ॥

जो पाप—जिसकी बुद्धि पापसे मोहित हो रही है ऐसा जो पुरुष जिनेन्द्र देवके लिङ्गको—नम दिग्मवर वेषको ग्रहण कर लिङ्गी के यथार्थ भावकी हँसी करता है वह सच्चे वेषधारियों के वेषको नष्ट करता है अर्थात् लज्जाता है ।

१. उबहमह इति पाठः अः प॑० जयचन्द्रिण स्त्रीकृतः । लिंगिमी य णारदो लिंगी ।

णच्चविं गायत्रि तावं वायं काएवि लिगरूपेण ।

सो पावमोहितमवी सिरिक्खजोणो ण सो समणो ॥ ४ ॥

नृत्यति गायति तावत् वाय ? कादयति लिगरूपेण ।

स पापमोहितमतिः तिर्थंयोनिः न स श्रमणः ॥ ४ ॥

सम्मूहवि रक्खेवि य अट्टं ज्ञाएवि बहुपयत्तेण ।

सा पावमोहितमवी सिरिक्खजोणो ण सो समणो ॥ ५ ॥

समूहयति रक्षति च आतं ध्यायति बहुप्रयत्नेत ।

स पापमोहितमतिः तिर्थंयोनिः न स श्रमणः ॥ ५ ॥

कलहं वादं जूवा णिर्लक्षं बहुमाणगच्छओ लिगी ।

बच्चविं णरयं पाओ 'करमाणो लिगिरूपेण ॥ ६ ॥

कलहं वादं द्यूतं नित्यं बहुमाणगच्छितो लिगी ।

वजति नरकं पापः कूर्वाणः लिगिरूपेण ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो नगन मुद्राको धारण कर पीछे पापसे मोहित बुद्धि होता हुआ वेषधारियों के यथार्थ भावका उपहास करता है अर्थात् भावलिङ्ग की ओर लक्ष्य नहीं देता मत्र पापसे प्रेरित होकर विपरीत आचरण करता है वह अन्य जो यथार्थ वेषधारो हैं उनके भी वेषको नष्ट करता है उनके वेषके प्रति लोगोंमें अनादरका भाव उत्पन्न करता है ॥३॥

भज्जविं—जो मुनि लिङ्गसे नाचता है, गाता है अथवा बाजा बजाता है वह पापसे मोहित बुद्धि पशु है, मुनि नहीं है ।

भावार्थ—जो मुनि होकर भी नृत्य करता है, गाता है और बाजा बजाता है वह पापी पशु है, मुनि नहीं है ॥४॥

सम्मूहवि—जो बहुत प्रकार के प्रयत्नों से परिग्रह को इकट्ठा करता है, उसकी रक्षा करता है तथा आतंड्यान करता है वह पापसे मोहित बुद्धि पशु है, मुनि नहीं है ।

भावार्थ—मुनि होकर भी जो नाना प्रकार के प्रयत्नों से परिग्रह को इकट्ठा करता है, उसकी रक्षा करता है तथा उसके निमित्त आतंड्यान करता है उसकी बुद्धि पापमें मोहित है उसे पशु समझना चाहिये वह मुनि नहीं कहलाता है ॥५॥

कलहं—जो पुरुष मुनि लिङ्ग का धारक होकर भी निरन्तर अस्य-१. करणमाणा लाउराण य इतिपाठ प० बयस्त्रद्रेण स्त्रीकृतः तेनैव राडलाण इत्यपि पाठान्तर सूचित समाएण म० ।

**पापोपहविभावो सेवदि य अबंभु लिंगिरूपेण ।
सो पापमोहितमदी हिंडदि संसारकांतारे ॥ ७ ॥**

पापोहतभावः सेवते च अब्रह्म लिंगिरूपेण ।

स पापमोहितमप्तिः हिंडते संसारकांतारे ॥ ७ ॥

**दंसणणाणचरित्ते उक्खाणे जह ण लिंगरूपेण ।
अदृतं शासदि शालं कागंडाद्वैतादित्ते होयी ॥ ८ ॥**
दर्शनज्ञानचारित्राणि उपधानानि यदि न लिंगरूपेण ।
आत्म ध्यायति ध्यानं अनन्तसंसारी को भवति ॥ ८ ॥

धिक गर्व से युक्त होता हुआ कलह करता है, वादविवाद करता है, अथवा जुआ खेलता है वह चूंकि मूनि लिङ्ग से ऐसे कुकूत्य करता है अतः पापी है और नरक जाता है ।

भावार्थ—जो ऊँचा पद धारण कर कुकूत्य करता है वह पापी नियम से नरकगामी होता है ॥६॥

पापोपहव—पापसे जिसका व्याख्या भाव नष्ट होगया है ऐसा जो पुरुष मुनिलिङ्ग धारण कर भी अब्रह्म का सेवन करता है वह पापसे मोहित बुद्धि होता हुआ संसार रूपी अटवी में ऋमण करता रहता है ।

भावार्थ—मूनि लिङ्ग धारण कर जिसने पहले अब्रह्म सेवन का परित्याग किया पीछे पापोद्य से परिणामों को मालिन कर जो अब्रह्म का सेवन करता है वह दुर्बुद्धि दीर्घ काल तक संसार रूपी बन में घूमता रहता है ॥७॥

दंसणणाण—जो मूनि लिङ्ग धारण कर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को उपधान अर्थात् आश्रय नहीं बनाता है तथा आत्मध्यान करता है वह संसारी होता है ।

भावार्थ—मूनिवेषका प्रयोजन तो रत्नश्रय की आराधना है पर जो मूनिवेष रख कर रत्नश्रय को ध्यानका आलम्बन नहीं बनाता उलटा आत्मध्यान करता है वह अनन्त संसारी होता है अर्थात् जिसके संसार का अन्त नहीं ऐसा अभव्य कहलाता है ॥८॥

जो जोड़दि विवाहं किसिकम्मवणिडजजीवघादं च ।
 बच्चदि परयं पाओ करमाणो लिगिरुपेण ॥ ९ ॥
 यः यजयति विवाहं कृषिकर्मवाणिज्यजीवघातं च ।
 ब्रजति नरकं पापः कुर्वणः लिगिरुपेण ॥ ९ ॥

चोराण मिच्छवाण य जुद्ध विवाहं च तिलवकस्मेहि ।
 जंतेण दिव्यभाणो गच्छदि लिंगी परयवासं ॥ १० ॥
 चोराणां मिथ्यावादिनां युद्धं विवादं च तीव्रकर्मभिः ।
 वंत्रेभ दोष्यभासः गच्छति लिंगी नरकवासं ॥ १० ॥

जो जोड़दि—जो मुनिका लिङ्ग रखकर भी दूसरों के विवाह सम्बन्ध जोड़ता है तथा खेती और व्यापार के द्वारा जीव घात करता है वह कूकि मुनिलिङ्ग के द्वारा इस कुकूत्य को करता है अतः पापी है और नरक जाता है ।

भावार्थ—जो पुरुष नग्न मुद्राका धारी होकर दूसरों के विवाह सम्बन्ध जुड़वाता है और खेती तथा व्यापार के द्वारा जीव घात करता है वह नियम से नरक जाता है । गृहस्थ ने अपने पदके अनुकूल इन कार्योंका ल्याप नहीं किया है इसलिये वह इन्हें करता हुआ भी नरक का पात्र अनिवाय रूप से नहीं होता परन्तु जो मनुष्य मुनिलिङ्ग धारण कर इन कुकूत्यों को करता है वह नियम से नरक का पात्र होता है ॥ ९ ॥

चोराण—जो लिङ्गी चोरों के तथा शूठ बोलने वालों के युद्ध और विवाद को कराता है तथा तीव्रकर्म-खर कर्म अर्थात् जिनमें अधिक हिसा होती है ऐसे कार्योंसे और यन्त्र अर्थात् चौपड़ आदिसे कीड़ा करता है वह नरकवासको प्राप्त होता है ।

भावार्थ—मुनिका वेष रखकर भी जो मनुष्य पैशुन्य कार्य से चोरों तथा असत्यवादियों को परस्पर लड़ा देता है उनमें विवाद—संघर्ष पैदा कर देता है, अत्यधिक हिसा के कार्यों से विनोद करता है, तथा चौपड़, शतरंज, पासा और हिंडोला आदि यन्त्रोंके द्वारा कीड़ा करता है वह नियम से नरक को प्राप्त होता है ॥ १० ॥

दंसणाणचरिते तवसंजमणियमणि॑ रक्षकम्मम्मि ।
 पीडयदि॒ वदृटमाणो पावदि॒ लिंगी॒ नरयवासं ॥११॥

दर्शनशानचरितेषु॒ तपसंयमनियमनित्यकर्मणि॑ ।
 ३पोडयति॒ वर्तमानः प्राप्तोति॒ लिंगी॒ नरकवासं ॥११॥

कंदप्पा॒ इय वदृटइ॒ करमाणो भोयणेषु॒ रसगिर्दि॑ ।
 माई॒ लिंगविवाई॒ तिरिक्खलोणी॒ ण सो॒ समणो ॥१२॥

कंदप्पहिक॑ वर्तते॒ कुशणिः॒ गोक्कर्णेषु॒ लक्ष्मी॑ ।
 मायावी॒ लिंगव्ययायी॒ तिर्यग्योनिः॒ न स श्रमणः ॥१२॥

दंसण—जो मुनि वेषी दर्शन, ज्ञान, चारित्र तथा तप संयम नियम और नियकार्यों में प्रवृत्त होता हुआ दूसरे जीवों को थीहा पहुँचाता है वह नरकवास को प्राप्त होता है।

भावार्थ—जो पुरुष मुनिपद धारण कर अपनी प्रमाद पूर्ण प्रवृत्ति से दूसरे जीवों को पीड़ा पहुँचाता है वह नरकगामी होता है। अथवा 'पीडयति' के स्थान पर 'पीडयते' आया मात्र जावे तो यह अर्थ होता है कि जो पुरुष मुनि पद धारण कर उक्त कार्योंको करता हुआ पीड़ित होता है अर्थात् अरुचि भावसे दुःखी होता है वह नरकगामी होता है। कुछ प्रतियों में 'वदृटमाणो' के स्थान पर 'बद्धमानो' भी पाठ है सो उसका अर्थ अहं-कार-वश होता हुआ ऐसा करना चाहिये ॥११॥

कंदप्पाइय—जो पुरुष मुनिवेषी होकर भी कांदपीं आदि कुत्सित भावनाओं को करता है तथा भोजन में रस सम्बन्धी लोलुपता को धारण करता है वह मायाचारी, मुनिलिङ्ग को नष्ट करने वाला पशु है, मुनि नहीं है।

भावार्थ—मुनि होकर भी जो कषाय वश काम कथा आदि विकथाएँ करते हैं तथा भोजन में अत्यधिक आसवित रखता है वह मायाचारी है तथा लिङ्ग को लजाने वाला है ऐसा पुरुष पशु है, मुनि नहीं है ॥१२॥

१. णिय अ ।

२. बद्धमानो म० ।

३. प० जयचन्द्र शीकायां पवियते इति आया स्वीकृता ।

४. वंधी म० ।

धावदि पिङ्गनिमित्तं कलहं काञ्जणः भुञ्जदे पिङ्डं ।

अन्तर्हालही संहो गिणविषय च होइ सो समणो ॥१३॥

धावति पिङ्गनिमित्तं कलहं कुत्वा भुक्ते पिङ्डं ।

अपरप्ररूपी सन् जिनमार्गी न भवति स श्रमणः ॥१४॥

गिणहृदि अदत्तदाणं परणिदा वि य परोक्षबूसेहि ।

जिनलिंगं धारंतो चोरेण च होइ सो समणो ॥१४॥

गृह्णाति अदत्तदानं परनिन्दामपि च परोक्षदूषणैः ।

जिनलिंगं धारयन् चोरेणेव भवति स श्रमणः ॥१४॥

उच्चडवि पडदि धावदि पुढकीओ खण्डि लिंगरूपेण ।

इरिथावह धारंतो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥१५॥

उत्पत्तति पतति धावति पूषिवीं स्वनति लिंगरूपेण ।

ईयापिर्यं धारयन् तिर्यग्योनिः न स श्रमणः ॥१५॥

धावदि—जो आहार के निमित्त दौड़ता है, कलह कर भोजन को ग्रहण करता है और उसके निमित्त दूसरे से ईर्ष्या करता है वह जिनमार्गी श्रमण नहीं है।

भावार्थ—इस कालमें कितने ही लोग जिनलिङ्ग से छाप्ट होकर अर्घ-पालक हुए फिर उनमें इकेताम्बरादिक सध हुए। उन्होंने शिथिलाचार का पोषण कर लिङ्ग की प्रवृत्ति विकृत कर दी। उन्हों का यहाँ निषेध समझना चाहिये। उनमें अब भी कोई ऐसे साधु हैं जो आहार के निमित्त शीघ्र दौड़ते हैं ईयासिमिति को भूल जाते हैं और गृहस्थ के घरसे लाकर दो चार सम्मिलित बैठकर खाने हैं और बटवारा में सरस नीरस आनेपर परस्पर कलह करते हैं तथा इस निमित्त को लेकर दूसरों से ईर्ष्या भी करते हैं सो ऐसे साधु जिनमार्गी नहीं हैं ॥१३॥

गिणहृदि—जो मनुष्य जिन लिङ्गको धारण करता हुआ भी बिना दी हुई वस्तुको ग्रहण करता है तथा परोक्ष में दूषण लगा लगा कर दूसरे की निन्दा करता है वह चोर के समान है, साधु नहीं है।

भावार्थ—दोसार की इच्छा न होने पर अड़कर भिक्षा आदि को ग्रहण करना अदत्तदान है। जो साधु इस प्रकारके आहारको ग्रहण करता है और परोक्ष में दोष लगाकर दूसरे की निन्दा भी करता है वह चोर के समान है ॥१४॥

उच्चडवि—जो सुनिलिङ्ग धारण कर चलते समय कभी उछलता है,

बन्धे णिरओ संतो सस्सं खंडेदि तह व बसुहं पि ।
छिद्वदि तरुण बहुसो तिरिक्षज्जोणी ण सो समणो ॥१६॥

बन्धे विरतः सन् सस्यं खण्डयति तथा च बसुधामपि ।
छिनति तरुणं बहुशः तिर्यग्यानिः न स श्रमणः ॥१६॥
रागो (रागं) करेदि णिर्चचं महिलायग्नं परं च दूसेदि ।
दंसणणाणविहीणो तिरिक्षज्जोणी ण सो समणो ॥१७॥

रागं करोति विद्य महिलायग्नं परं च दूष्यति ।
दर्शनज्ञानविहीनः तिर्यग्योनिः न स श्रमणः ॥१७॥

कभी दीड़ता है और कभी पृथिवी को खोदता है वह पशु है, मुनि नहीं है ।

भावार्थ—मुनिलिङ्ग धारण करते समय ईर्यालिमिति से चलने का नियम लिया जाता है सो उस प्रतिज्ञा की ओर ध्यान न देकर जो कूदता हुआ, गिरता हुआ, दीड़ता हुआ तथा पृथिवी को खोदता हुआ छलता है वह मुनि नहीं है वह तो वृषभ आदि पशुके तुल्य है ॥१५॥

बन्धेणिरओ—जो किसी के बन्ध में लीन होकर अर्थात् उसका आज्ञाकारी बनकर धान कूटता है, पृथिवी खोदता है और वृक्षोंके समूहको छेदता है वह पशु है, मुनि नहीं है ।

भावार्थ—यह कथन अन्य साधुओं की अपेक्षा है जो साधु बनमें रहने कर स्वयं धान तोड़ते हैं उसे कूटते हैं, अपने आश्रम में वृक्ष लगाने आदिके उद्देश्यसे पृथिवी खोदते हैं तथा वृक्ष लता आदि को छेदते हैं वे पशु के तुल्य हैं उन्हें हिंसा पापकी चिन्ता नहीं है ऐसा मनुष्य साधु नहीं कहला सकता ॥१६॥

रागोकरेदि—जो स्त्रियोंके समूह के प्रति निरन्तर राग करता है दूसरे निर्दोष प्राणियोंको दोष लगाता है तथा स्वयं दर्शन और ज्ञानसे रहित है वह पशु है, साधु नहीं है ।

भावार्थ—कितने ही साधु निरन्तर स्त्रियों के पास उठते हैं बैठते हैं, उन्हीं से अधिक बालीलाप करते हैं, दूसरे निर्दोष व्यक्तियों की निन्दा करते रहते हैं और स्वयं ज्ञान दर्शन से रहित हैं न अपने इन गुणों की वृद्धि की ओर लक्ष्य रखते हैं वे साधु नहीं हैं वे पशु हैं—पशुके तुल्य अज्ञानी हैं ॥१७॥

पञ्चज्जहोणगहिणं णेहं सोसम्म वट्टदे बहुसो ।
 आयारविणयहीणो तिरिक्षजोणो ण सो सबणो ॥१८॥

प्रवज्याहीनगृहिणि स्नेहं शिष्ये वर्तते बहुशः ।
 आचारविनयहीनः तिर्यग्योनिः न स श्रमणः ॥१९॥

एवं सहिंओ मुणिवर संजदमज्जम्मिं वट्टदे णिच्छं ।
 बहुलं पि जाणमाणो भावविणट्ठो ण सो सबणो ॥२०॥

एवं सहितः मुनिवर संयतमध्ये वर्तते नित्यं ।
 बहुलमपि ज्ञानान् भावविनष्टो न स श्रमणः ॥२१॥

दंसणणाणचरित्ते महिलावगम्मि देवि वोपद्गो ।
 पासत्थ वि हु णियद्गो भावविणद्गो ण सो समणो ॥२२॥

दर्शनज्ञानधारित्राणि महिलावर्गं ददाति विश्वस्तः ।
 पाश्वेस्थादपि हु निकृष्टः भावविनष्टः न स श्रमणः ॥२३॥

पञ्चज्ज—जो दीक्षा से रहित गृहस्थ शिष्य पर अधिक स्नेह रखता है तथा आचार और विनय से रहित है वह तिर्यञ्च है साधु नहीं है ।

भावार्थ—कोई कोई साधु अपने गृहस्थ शिष्य पर अधिक स्नेह रखते हैं अपने पद का ध्यान न कर उसके धर आते जाते हैं सुख दुःख में आत्मो-यता दिखाते हैं तथा स्वयं भुनि के योग्य आचार तथा पूज्य पुरुषों की विनय से रहित होते हैं । आचार्य कहते हैं कि वे मुनि नहीं हैं किन्तु पशु हैं ॥१८॥

एवं सहिंओ—हे मुनिवर ! ऐसी खोटी प्रवृत्तियों से सहित मुनि, यद्यपि संयमो जनों के मध्यमें रहता है और बहुत ज्ञानवान् भी हो तो भी वह भाव से नष्ट है अर्थात् भावलिङ्ग से रहित है 'यथार्थ मुनि नहीं है ।'

भावार्थ—ऊर जिन खोटी प्रवृत्तियों का वर्णन किया है उनसे जो सहित है, निरन्तर संयमी जनों के बीच में रहता है और उनके शास्त्रों का जाता भी है वह भावसे शून्य मात्र द्रव्यलिङ्गो साधु है परमार्थ साधु नहीं है ॥१९॥

दंसण जाण—जो स्त्रियों में विश्वास उपजा कर । उन्हें दर्शन, जान

पुंश्चलिघरि जसु भुजइ णिच्चं संथुणदि पोसए पिंडं ।

पाववि बालसहावं भावविणद्वो ण सो स्वरणो ॥२१॥

'पुंश्चलीगृहे यः भृक्ते नित्यं संस्तीति पुष्ट्याति पिंडं ।

प्राप्नोति बालस्वभावं भावविनष्टो न स श्वरणः ॥२१॥

इय लिंगपाद्मुडमिणं सब्दं बुद्धेहि देसियं धर्मं ।

पालेहि कटुसहियं सो गाहवि उत्तमं ठाणं ॥२२॥

इति लिंगप्राभृतमिदं सर्वं बुद्धेः देशितं धर्मं ।

पालयति कष्टसहितं स गहते उत्तमं स्थानं ॥२२॥

इति श्रोकुन्दकुन्दाचार्यविरचितलिंगप्रभृतकं समाप्तम्

और चारित्र देता है वह पाइर्वस्य मुनि से भी निकृष्ट है तथा भावलिङ्ग से शून्य है वह परमार्थ मुनि नहीं है ।

भावार्थ—जो मुनि अपने पदका ध्यान न कर स्त्रियों से संपर्क बढ़ाता है उन्हें पास में बैठा कर पढ़ाता है तथा दर्शन या चारित्र आदिका उपदेश देता है वह पाइर्वस्य नामक ऋष्ट मुनिसे भी अधिक निकृष्ट है । जब मुनि एकान्त में आधिकार्यों से भी बात नहीं करते । सात हाथ की दूरी पर दो या दो से अधिक संख्या में बैठी हुई आधिकार्यों से ही धर्म चर्चा करते हैं, उनके प्रश्नों का समाधान करते हैं तब गृहस्थ स्त्रियोंको एक दम पास में बैठा कर उनसे सम्पर्क बढ़ाना मुनिपद के अनुकूल नहीं है । ऐसा मुनि भावलिङ्ग से शून्य है अर्थात् द्रव्यलिङ्गो है परमार्थ मुनि नहीं है ॥२०॥

पुच्छलिघरि—जो साथु व्यभिचारिणी स्त्री के घर आहार लेता है, निरन्तर उसकी स्तुति करता है तथा पिण्डको पालता है अर्थात् उसकी स्तुति कर निरन्तर आहार प्राप्त करता है वह बालस्वभाव को प्राप्त होता है तथा भाव से विनष्ट है वह मुनि नहीं है ।

भावार्थ—यह बड़ी धर्मरिमा है त्यागो व्रतो तथा मुनियों को सदा आहार देती है इस प्रकार व्यभिचारिणी स्त्री की प्रशंसा कर जो उससे आहार प्राप्त करता है वह अज्ञानी है ऐसा मुनि भावलिङ्ग से रहित है मुनि नहीं है ॥२१॥

इयलिंग—इस प्रकार यह लिङ्ग प्राभृत नामका समस्त शास्त्र ज्ञानी गणधरादि के उपदिष्ट है सो इसे जान कर जो कष्ट सहित धर्मका पालन

करता है अर्थात् कष्ट भोग कर भी धर्म की रक्षा करता है वह उत्तम स्थान को प्राप्त होता है ।

भास्त्रार्थ—ज्ञानी जीवों ने लिङ्ग प्राभूत का उपदेश मुनिजनों के हित के लिये दिया है इसलिये इसे जानकर मुनिअत का निर्दोष पालन करना चाहिये । यदि ग्रहण किये हुए व्रतके पालन करने में परिषह आदिका कष्ट भी उठाना पड़े तो उसे समता भाव से सहन करना चाहिये । ऐसा पुरुष ही उत्तम स्थान-निवाण को प्राप्त होता है ॥२२॥

इस प्रकार श्री कुन्दकुन्दाचार्य विरचित लिङ्गप्राभूत समाप्त हुआ



शील प्राभृतम्

बीरं विशालण्यणं रसुप्पलकोमलस्समन्वायं ।
 तिथिहेण पणमिक्कणं सीलगुणाणं णिसामेह ॥ १ ॥

बीरं विशालनयनं रक्तोत्पलकोमलसभपादम् ।
 त्रिविधेन प्रणम्य शीलगुणान् निशाम्यामि ॥ १ ॥

शीलस्स य जाणस्स य णत्य विरोहो बुधेहि णिद्विटो ।
 नवरि य सीलेण विणा विसया जाणं विणासंति ॥ २ ॥

शीलस्य च ज्ञानस्य च नास्ति विरोधो बुधेनिदिष्टः ।
 नवरि च शीलेन विना विषयाः ज्ञानं विनाज्ञायन्ति ॥ २ ॥

दुख्खेणज्जहि जाणं जाणं जाऊण भावणा दुख्खं ।
 भावियमई च जीवो विसएसु विरज्जाए दुख्खं ॥ ३ ॥

दुखेन ज्ञायते ज्ञानं ज्ञानं ज्ञात्वा भावना दुखेन ।
 भावितमतिश्च जीवो विषवेषु विरज्यति दुख्खं ॥ ३ ॥

बीरं विशाल—(बाष्पमें) जिनके विशाल नेत्र हैं तथा जिनके पाँव लाल कमल के समान कोमल हैं (अन्तरङ्ग पक्षमें) जो केवलज्ञानरूपो विशाल नेत्रोंके धारक हैं तथा जिनका कोमल एवं रागद्वेष से रहित वाणी का समूह रागको दूर करने वाला है उन महाबीर भगवान् को मन, बचनकाय से प्रणाम कर शीलके गुणों को अथवा शील तथा गुणोंका कथन करता हूँ ॥ १ ॥

शीलस्स—विद्वानों ने शीलका और ज्ञानका विरोध नहीं कहा है किन् । यह कहा है कि शीलके बिना विषय ज्ञानको नष्ट कर देते हैं ।

भावार्थ—शील और ज्ञान का विरोध नहीं है किन्तु सहभाव है जहीं शील होता है वहीं ज्ञान अवश्य होता है और शील न हो तो पञ्चेन्द्रियों के विषय ज्ञानको नष्ट कर देते हैं ॥ २ ॥

दुख्खे—प्रथम तो ज्ञान ही दुख से जाना जाता है फिर यदि कोई

ताव ण जाण्दि णाणं विसयवलो जाव बद्दुए जीवो ।

विसए विरत्तमेत्तो ण खवेह पुराइयं कर्म ॥ ४ ॥

तावन्न जानाति जानं विषयबलः यावत् वर्तते जीवः ।

विषये विरक्तमात्रः न धिपते पुराणकं कर्म ॥ ४ ॥

णाणं चरित्तहीणं लिंगग्रहणं च दंसणचिह्नणं ।

संजमहीणो य सबो जह चरइ गिरत्थयं सर्वं ॥ ५ ॥

जानं चारित्रहीनं लिंगग्रहणं च दर्शनविहीनं ।

संयमहीनश्च तपः यदि चरति निरथकं सर्वं ॥ ५ ॥

ज्ञानको जानता भी है तो उसकी भावना दुःख से होती है किर कोई जीव उसकी भावना भी करता है तो विषयों में विरक्त दुःख से होता है ।

भावार्थ—पहले सो सम्यग्ज्ञान का होना ही दुर्लभ है । यदि किसीको सम्यग्ज्ञान प्राप्त भी हो जाता है तो निरन्तर उसकी भावना रखना दुर्लभ है और किसी को उसकी भावना भी प्राप्त हो जाती है तो विषयों से विरक्त होना कठिन है । इस प्रकार तीनों कायों में उत्तरोत्तर कठिनता अथवा दुर्लभपना है ॥३॥

ताव ण—जब तक जीव विषयों के वशीभूत रहता है तब तक ज्ञान-को नहीं जानता और ज्ञानके बिना मात्र विषयोंसे विरक्त हुआ जीव पुराने बैधे हुए कर्मोंका क्षय नहीं करता ।

भावार्थ—प्रथम तो विषयासक्त जीवको यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति होती नहीं है और कदाचित् कोई जीव विषयों से विरक्त हो भी जावे तो यथार्थ ज्ञानके बिना वह पूर्व बद्ध कर्मोंकी निर्जरा करने में असमर्थ रहता है ॥४॥

णाणं—यदि कोई साधु चारित्र रहित ज्ञान का, सम्यगदर्शन रहित लिङ्ग का और संयम रहित तप का आचरण करता है तो उसका वह सब आचरण निरथक है ।

भावार्थ—हेय और उपादेय का ज्ञान तो हुआ परन्तु तदनुरूप चारित्र न हुआ तो वह ज्ञान किस काम का ? मुनि लिङ्ग तो धारण किया परन्तु सम्यगदर्शन न हुआ तो वह मुनि लिङ्ग किस काम का ? इसी तरह तप तो किया परन्तु जीव रक्षा अथवा इन्द्रिय वशीकरण संयम नहीं हुआ तो वह तप किस काम का ? इस सब का उद्देश्य करके मोक्ष प्राप्त

णाणं चरित्तसुद्धं लिङगहणं च दंसणविशुद्धं ।
 संयमसहितो य तथो थोड़ो वि महाफलो होइ ॥ ६ ॥

ज्ञानं चारित्रशुद्धं लिङगहणं च दर्शनविशुद्धं ।
 संयमसहितच तपः स्तोकमपि महाफलं भवति ॥ ६ ॥

णाणं ज्ञाऊणं परा केहि विषयादिभावसंसत्ता ।
 हिंडति 'चाकुरगदि विसएमु विमोहिया मूढा ॥ ७ ॥

ज्ञानं ज्ञात्वा नराः केचित् विषयादिभावसंसत्ताः ।
 हिंडन्ते चातुर्गति विषयेषु विमोहिता मूढाः ॥ ७ ॥

करना है। परन्तु उसकी सिद्धि न होने से सब का निरर्थकपना दिखाया है ॥५॥

णाणं चरित्त—चारित्र से शुद्ध ज्ञान, दर्शन से शुद्ध लिङ्ग धारण और संयम से सहित तप थोड़ा भी हो तो वह महाफल से युक्त होता है।

भावार्थ—जिस ज्ञान के साथ थोड़ा भी यथार्थचारित्र है वह ज्ञान यथार्थ कार्यकारी है। जिस मुनिवेश में सम्यग्दर्शन की विशुद्धता है वह थोड़े समय के लिये अर्थात् मरणान्त काल में भी धारण किया गया हो तो भी यथार्थ फल को देता है इसी प्रकार जिस तपश्चरण में संयम की साधना है वह मात्रा में अल्प होने पर भी कभी निर्जरा का प्रमुख कारण होता है ॥६॥

णाणं ज्ञाऊण—जो कोई मनुष्य ज्ञान को ज्ञान कर भी विषयादिक रूप भाव में आसक्त रहते हैं वे विषयों में मोहित रहने वाले मूर्ख प्राणों चतुर्गति रूप संसार में ऋमण करते रहते हैं।

भावार्थ—ज्ञान का फल विषयों से निवृत्त होना है सो जो मनुष्य अनेक शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त कर भी विषयों में संलग्न रहते हैं उनके त्याग करनेका पुरुषार्थ नहीं करते हैं वे मूढ़ कहलाते हैं अर्थात् ज्ञानते हुए भी विषयपात्र करने वालेके समान हैं, मूढ़ हैं और अपनी इस मूढता-मूर्खता के कारण वे चारों गतियों में चिरकाल तक ऋमण करते रहते हैं ॥७॥

जे पुण विसयविरसा णाणं णाऊण भावणासहिदा ।

छिन्दन्ति 'चादुरगदि तवगुणजुता न सदेहो ॥ ८ ॥

ये पुर्वविषयविरक्ता ज्ञानं ज्ञात्वा भावनानहिताः ।

छिन्दन्ति चातुर्गति तपोगुणयुक्ता न सन्देहः ॥ ८ ॥

जह कंचणं विशुद्धं धम्महृथं खंडियलब्धणलेखण ।

तह जीवो वि विशुद्धं णाण विसलिलेण विमलेण ॥ ९ ॥

यथा कंचनं विशुद्धं धम्मातं खंडियलब्धणलेपेन ।

तथा जीवोऽपि विशुद्धो ज्ञानसलिलेन विमलेन ॥ ९ ॥

णाणस्स णात्थ दोसो का 'पुरिसाणो वि मन्दबुद्धीणो ।

जे णाणगविदा होऊणं विसएसु रज्जन्ति ॥ १० ॥

ज्ञानस्य नास्ति दोषः कापुरुषत्यापि मन्दबुद्धेः ।

ये ज्ञानगविता भूत्वा विषयेषु रज्यन्ति ॥ १० ॥

जे पुण—किन्तु जो ज्ञान को जानकर उसकी भावना करते हैं और विषयों से विरक्त होते हुए तपश्चरण तथा मूलगुण और उत्तरगुणों से युक्त होते हैं वे चतुर्गति रूप संसार को छेदते हैं—नष्ट करते हैं इसमें सदेह नहीं है ।

भावार्थ—जो पुरुष हेयोपादेय का ज्ञान प्राप्त कर निरन्तर उसका विचार करते हैं और विचारों को परिपक्व बनाकर विषय कषयसे निवृत्त हो तपश्चरण करते हैं—मुनिव्रत का पालन करते हैं वे संसार सागर से पार होकर मोक्षको प्राप्त होते हैं इसमें संशय नहीं है ॥ ८ ॥

जह कंचण—जिस प्रकार सुहाग और नमकको लेप से युक्त कर फूंका हुआ सुर्वण विशुद्ध हो जाता है उसी प्रकार ज्ञानरूपी निर्मल जल से यह जीव भी शुद्ध हो जाता है ॥

भावार्थ—मोहनीय कर्म के उदय से इस जीव का ज्ञान अनादिकाल से मलिन हो रहा है उसी मलिन तप के कारण यह अशुद्ध होकर संसार सागर में मज्जनोन्मज्जन करता रहता है इसलिये ज्ञान में से मोह की धारा को दूर कर ज्ञानको निर्मल बनाने का पुरुषार्थ करना चाहिये । ज्ञान की निर्मलता से ही आत्मा की निर्मलता होती है ॥ ९ ॥

णाणस्स—जो पुरुष ज्ञान के गर्व से युक्त हो विषयों में राग करते हैं

णाणेण दंसणेण य तदेण चरिएण सम्मसहिएण ।
 होहुदि परिणिव्वाणं जीवाणं चरितसुद्वाणं ॥११॥
 जानेन दर्शनेन च तपसा चारित्रेण सम्यक्त्वसहितेन ।
 भविष्यति परिनिर्वाणं जीवानां चारित्रशुद्धानां ॥१२॥
 सीलं रक्खंताणं दंसणसुद्वाणं दिद्वचरित्ताणं ।
 अस्थि ध्रुवं णिर्वाणं विसर्गेण विरक्तचित्ताणं ॥१३॥
 शीलं रक्खतो दर्शनशुद्धानां दृढचारित्राणां ।
 अस्ति ध्रुवं निर्वाणं विषयेषु विरक्तचित्तानां ॥१४॥

सो वह उनके ज्ञान का अपराध नहीं है किन्तु मन्द बुद्धि से युक्त उसका पुरुषका ही अपराध है ।

भावार्थ—सासार में कितने ज्ञानों तथी विषयों में अनुरक्त देखे जाते हैं सो यह दोष उनके ज्ञान का नहीं है किन्तु ज्ञान के समय मोह की धारा ने मिलकर उन पुरुषों की जो मन्दबुद्धि और पुरुषार्थहीन बना दिया है सो वह अपराध उसी पुरुषार्थ हीन मन्द बुद्धि पुरुष का है ॥१०॥

णाणेण—निर्देष चारित्र का पालन करने वाले जीवों को सम्यक्त्व सहित ज्ञान, सम्यक्त्व सहित दर्शन, सम्यक्त्व सहित तप और सम्यक्त्व सहित चारित्र से निर्वाण प्राप्त होगा ।

भावार्थ—जैनागम में सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्त्वतप और सम्यक्त्व चारित्र इन चार आराधनाओं से मोक्ष प्राप्ति होती है ऐसा कहा गया है परन्तु ये चारों उन्हीं जीवों के मोक्ष का कारण होती है जो चारित्र से शुद्ध होते हैं अर्थात् प्रभाद छोड़ कर निर्देष चारित्र का पालन करते हैं ॥११॥

सीलं—जो शील की रक्षा करते हैं, जो शुद्ध दर्शन—निर्मल सम्यक्त्व से सहित हैं, जिनका चारित्र दृढ़ है और जो विषयों से विरक्त चित्त रहते हैं उन्हें निविचत ही निर्वाण की प्राप्ति होती है ।

भावार्थ—शील का अर्थ आत्माका बीतराग स्वभाव है सो जो पुरुष सदा इसकी रक्षा करते हैं अर्थात् विषय कषाय के कारण अपने बीतराग स्वभाव को नष्ट नहीं होने देते, जो कठिन तपश्चरण करने पर भी है देवादिकृत अतिशयों को न देख अपने सम्यक्त्व में कभी दोष नहीं लगते हैं, जो परिषहादिक के आने पर भी चारित्र से विचलित नहीं होते और

विसएसु मोहिदाणं कहियं मग्नं पि इद्वरिसीण ।
 उम्मग्नं दरिसीणं णाणं पि गिरत्थयं तेसि ॥१३॥

विषयेषु मोहितानां कथितो मार्गोऽपि इष्टदशिनां ।
 उन्मार्गं दशिनां ज्ञानमपि निरथकं तेषा ॥१३॥

कुमयकुसुवपसंसा जार्णता बहुविहारं सत्याणि ।
 सीलबद्धाणरहिता ण हु ते आराधया होंति ॥१४॥

कुमतकुश्रुतप्रशंसां (सकाः) ज्ञानन्तो बहुविधानि शास्त्राणि ।
 शीलब्रतज्ञानरहिता न हु ते आराधका भवन्ति ॥१४॥

विषयों से अपने चित्त को मुदा दृढ़ासीन रखते हैं उन्हें निश्चित ही मोक्ष प्राप्त होता है ॥१२॥

विसएसु—जो मनुष्य इष्ट-लक्ष्य को देख रहे हैं वे वर्तमान में भले ही विषयों में मोहित हों तो भी उन्हें मार्ग प्राप्त हो गया है ऐसा कहा गया है परन्तु जो उन्मार्ग को देख रहे हैं अर्थात् लक्ष्य से भ्रष्ट हैं उनका ज्ञान भी निरथक है ।

भावार्थ—एक मनुष्य दर्शनमोहनीय का अभाव होने से श्रद्धा गुण के प्रकट हो जाने पर अपने लक्ष्य-प्राप्तव्य मार्ग को देख रहा है परन्तु चारित्र मोहका तीव्र उदय होने से उस मार्ग पर चलने के लिये असमर्थ है तो भी कहा जाता है कि उसे मार्ग प्राप्त हो गया है परन्तु दूसरा मनुष्य अनेक शास्त्रों का ज्ञान होने पर भी मिथ्यात्म के उदय के कारण अपने गन्तव्य मार्ग को न देख उन्मार्ग को देख रहा है तो ऐसे मनुष्य का वह भारी ज्ञान भी निरथक होता है ॥१३॥

कुमय—जो नाना प्रकारके शास्त्रों को जानते हुए सो मिथ्यामत और मिथ्याश्रुत की प्रशंसा करते हैं तथा शील ब्रत और ज्ञानसे रहित हैं वे स्पष्ट ही आराधक नहीं हैं ।

भावार्थ—कितने ही लोग नाना शास्त्रों के ज्ञाता होकर भी मिथ्या मत और मिथ्याश्रुत की प्रशंसा करते हैं सो उनका ऐसा करना मिथ्यात्म का चिह्न है क्योंकि अन्य दृष्टि प्रशंसा और अन्य दृष्टि संस्तव सम्यादशीन के दोष हैं । साथ ही शील अर्थात् समता परिणाम ब्रत और यथार्थ ज्ञान-से रहित हैं अतः ऐसे लोग आराधक नहीं हैं—मोक्षमार्गकी आराधना करने वाले नहीं हैं ॥१४॥

रूपसिरिगङ्गिदिवदार्णं जुव्वणलाक्षणकंसिकलिदार्णं ।

सीलगुणवज्जिजदार्णं निरर्थर्य माणुसं जन्मं ॥१५॥

रूपश्रीगवितानां योवनलाक्षण्यकान्तिकलितानां ।

शीलगुणवज्जितानां निरर्थकं मातुर्षं जन्मं ॥१५॥

वायरणछंदवद्वसेसियववहारणायसत्थेसु ।

वेदेऊण सुदेसु य तेसु सुयं उत्तमं सीलं ॥१६॥

ब्राकरणछन्दो वैशेषिकव्यवहारन्यायशास्त्रेषु ।

विदित्वा श्रुतेषु च लेषु श्रुतं उत्तमं शीलं ॥१६॥

सीलगुणमंडिदार्णं देवा भवियाण वल्लहा होंति ।

सुवपारथपउरा णं दुसीला अधिपला लोए ॥१७॥

शीलगुणमण्डितानां देवा भव्यानां वल्लभा भवन्ति ।

श्रुतपारगप्रचुरा दुशीला अल्पकाः लोके ॥१७॥

रूपसिरि—जो मनुष्य सौन्दर्यं रूपी लक्ष्मी से गर्वीले तथा योवन, लाक्षण्य और कान्ति से युक्त हैं किन्तु शील गुण से रहित हैं तो उनका मनुष्य जन्म निरर्थक है ।

भावार्थ—कितने ही मनुष्य अत्यन्त रूपवान् योवन, लाक्षण्य और कान्ति से युक्त होते हैं परन्तु शील गुण से रहित होकर निरन्तर विषय बासनाओं में फँसे रहते हैं सो आचार्य कहते हैं कि उनका मनुष्य जन्म पाना निरर्थक है । मनुष्य जन्म की सार्थकता तो रत्नश्रव की उपासना कर मोक्ष प्राप्त करनेमें ही है । जिन पुरुषोंने मनुष्य जन्म पाकर रत्नश्रव की उपासना नहीं की उल्टे विषयों में निमग्न रहे उनका मनुष्य जन्म निरर्थक ही समझना चाहिये ॥१५॥

वायरण—कितने ही लोग ब्राकरण, छन्द, वैशेषिक, व्यवहार, गणित तथा न्याय शास्त्रों को जानकर श्रुतके धारी बन जाते हैं परन्तु उनमें यदि शील होवे तभी उत्तम है ।

भावार्थ—शील समताभावको कहते हैं उसके बिना अनेक लौकिक शास्त्रों के ज्ञाता हो जाने पर मनुष्य कल्याणके मार्गसे दूर रहते हैं इसलिये सर्व प्रथम शील को प्राप्त करने का प्रयत्न श्रेयस्कर है ॥१६॥

सीलगुण—जो भव्य पुरुष शील गुण से सुशोभित हैं उनके देव भी प्रिय हो जाते हैं अर्थात् देव भी उनका आदर करते हैं और जो शील

सब्दे वि य परिहीणा रूपविरुद्धा वि विद्वसुवया वि ।

शील जेसु सुशीलं सुजोविदं माणुसं तेसि ॥१८॥

सर्वेऽपि च परिहीना रूपविरूपा अपि पतितसुवयसोऽपि ।

शीलं येषु सुशीलं सुजोवितं मनुष्यत्वं तेषां ॥१८॥

जीवदया वम सच्च अचोरियं बंभस्त्रेसंतोसे ।

सम्मद्दंसणणाणं तओ य सीलस्स परिवारो ॥१९॥

जीवदया दमः सत्यं अचोर्यं ब्रह्मचर्यसन्तोषो ।

सम्यग्दर्शनं जानं तपश्च शीलस्य परिवारः ॥१९॥

गुण से रहित हैं के श्रुतके पारगामी होकर भी लीकमे तुच्छ-अनादरणीय बने रहते हैं ।

✓ भावार्थ—शीलवान् जीवों की पूजा प्रभावना मनुष्य तो करते ही हैं परन्तु देव भी करते देखे जाते हैं परन्तु दुःशील अर्थात् खोटे शील से युक्त मनुष्यों को अनेक शास्त्रों के ज्ञाता होनेपर भी कोई नहीं पूछता है के सदा तुच्छ बने रहते हैं । यहाँ 'अल्पका' का अर्थ संख्याके अल्प नहीं है किन्तु तुच्छ अर्थ है संख्या की अपेक्षा तो दुःशील मनुष्य ही अधिक है शीलवान् नहीं ॥१८॥

✓ सब्दे वि य—जो सभी में होत हैं अर्थात् हीन जाति के हैं, रूप से विरूप हैं अर्थात् कुरूप हैं और जिनको अवस्था बीत गई है अर्थात् वृद्ध-अवस्था से युक्त हैं इन सबके होने पर भी जिनमें शील सुशील है अर्थात् जो उत्तम शीलके धारक हैं उनका मनुष्यपना सुजोवित है-उनका मनुष्य भव उत्तम है ।

✓ भावार्थ—जाति, रूप तथा अवस्था की न्यूनता होने पर भी उत्तम शील मनुष्यके जीवन को सफल बना देता है इसलिये सुशील प्राप्त करना चाहिये ॥१८॥

✓ जीवदया—जीव दया, इन्द्रिय दमन, सत्य, अचोर्य, ब्रह्मचर्य, संतोष, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्तप ये सब शीलके ही परिवार हैं ।

भावार्थ—जिस मनुष्य के उत्तम शील होता है उसके जीव दया, इन्द्रिय दमन आदि गुण स्वयं प्रकट होजाते हैं ॥१९॥

सीलं तबो विशुद्धं दंसणसुद्धो य णाणसुद्धो य ।

सीलं विसयाण अरी सीलं मोक्षस्स सोपाणं ॥२०॥

शीलं तयो विशुद्धं दशनशुद्धिश्च ज्ञानशुद्धिश्च ।

शीलं विषयाणामरिः शालं मोक्षस्य सोपाणं ॥२०॥

जह विसय लुद्धविसदो तह थावरजंगमाण घोराण ।

‘सव्वेसि पि विणासदि विसयचिसं दारुणं श्रोई ॥२१॥

यथा विषयो लुड्बविषदः तथा स्थावरजङ्गमान् घोराण् ।

सर्वानपि विनाशयति विषयविषं दारुणं भवति ॥२१॥

वार एककस्मि य जन्मे मरिज्ज विसवेयणाहटो जीवो ।

विसयविसपरिहया ण भमंति संसारकान्तारे ॥२२॥

वार एकं जन्म गच्छेत् विषवेदनाहटो जीवः ।

विषयविषपरिहता भ्रमन्ति संसारकान्तारे ॥२२॥

सीलं तबो—शील विशुद्ध तप है शील दर्शनको शुद्धि है, शील ही ज्ञान की शुद्धि है, शील विषयों का शक्ति है और शील मोक्ष की सीढ़ी है।

भावार्थ—जिस जीवके समता भाव रूप शील प्रकट हुआ हो उसोके तप, दर्शन और ज्ञान की शुद्धता प्रकट होती है। वही जीव विषयों को नष्ट कर पाता है और वही मोक्षको प्राप्त हो सकता है ॥२०॥

जह विसय लुद्ध—जिस प्रकार विषय, लोभी मनुष्यको विषके देनेवाले हैं उसी प्रकार भयंकर स्थावर तथा जङ्गम-त्रस जीवोंको विष भी सबको नष्ट करता है परन्तु विषय रूपी विष अत्यन्त दारुण होता है।

✓भावार्थ—जिस प्रकार हस्ती मीन भ्रमर पतंग तथा हरिण आदि के विषय उन्हें विषकी भाँति नष्ट कर देते हैं उसी प्रकार स्थावरके विष मोहरा सोमल अदि और जङ्गम अर्थात् साँप बिच्छू आदि भयंकर जीवों-के विष सभी को नष्ट करते हैं इस प्रकार जीवोंको नष्ट करने की अपेक्षा विषय और विषमें समानता है परन्तु विचार करने पर विषय रूपी विष अत्यन्त दारुण होता है। क्योंकि विष से तो जीवका एक भव ही नष्ट होता है और विषय से अनेक भव नष्ट होते हैं ॥२१॥

चारि—विष की वेदना से पीड़ित हुआ जीव एक जन्म में एक ही

१. “अवचिदसादे,” इत्यनेन द्वितीयास्थाने वष्टी । द्वितीयादिविमक्तीनां स्थाने क्वचित् वष्टी स्यादिति सूत्रार्थः । २. “अस्टासोर्णीप” इत्यनेन द्वितीयास्थाने स्थानी । द्वितीयात्तुलीययोः स्थाने क्वचित् सप्तमी भवतीति सूत्रार्थपर्यः । (सौ०) ।

णरएसु वेयणाओ तिरिक्षाए माणुएसु दुक्षाहं ।

देवेसु वि दोहगं लहंति विषयासक्ता जीवा ॥२३॥

नरकेषु वेदनाः तिरिक्ष्व मानवेषु दुःखानि ।

देवेष्वपि दीभग्य लभन्ते विषयासक्ता जीवाः ॥२३॥

तुसष्टम्मंतबलेण य जह दवर्ष्ण ण हि वराण गच्छेदि ।

तवसीलमंस कुसली खर्वंति विषयं विसं व सलं ॥२४॥

तुष्टध्मद्वलेन च यथा द्रव्यं न हि तराणां गच्छति ।

तपः शीलमन्तः कुशला क्षिपन्ते विषयं विषमिक खलं ! ॥२४॥

बार मरणको प्राप्त होता है परन्तु विषय रूपी विष से पीड़ित हुए जीव संसार रूपी अटवी में निश्चय से अमण करते रहते हैं अर्थात् बार बार अन्य धारण करते हैं ।

भावार्थ—विषय रूपी विष तथा साधारण विष में अन्तर बतलाते हुए आचार्य लिखते हैं कि अन्य विष तो इस जीवको एक ही बार मारता है परन्तु विषयरूपी विष निरन्तर ही मारता रहता है । विषयी जीव नई नई पर्याय धारण कर संसाररूपी बनमें घूमता ही रहता है । इसलिये हे भव्य ! इस विषय रूपी विष से अपनो रक्षा कर ॥२३॥

णरएसु—विषयासक्त जीव नरकों में वेदनाओं को, तिर्यञ्च और मनुष्यों में दुःखों को तथा देवों में दीभग्य को प्राप्त होते हैं ॥२३॥

भावार्थ—विषयों में आसक्त हुए जीव नरकों में उत्पन्न होकर वहाँ की तीव्र वेदनाओंको प्राप्त होते हैं । तिर्यञ्च और मनुष्य गति सम्बन्धी दुःख सामने ही अनुभवमें आते हैं और देवों में कदाचित् काषाय की मनदता से उत्पन्न होते हैं तो वहाँ अभियोग्य या किलविष्क जाति के देव होकर निरन्तर दुःख उठाना पड़ता है ॥२३॥

तुसष्टम्मंत—जिस प्रकार तुष्टों के उड़ा देनेसे मनुष्यों का कोई सार भूत द्रव्य नष्ट नहीं होता उसी प्रकार तप और शीलसे युक्त कुशल पुरुष विषय रूपी विषको खल के समान दूर छोड़ देते हैं ।

भावार्थ—तुष्टको उड़ा देने वाला सूपा आहि तुष्टमत् कहलाता है उसके बलसे मनुष्य सारभूत द्रव्य को बचाकर तुष्टको उड़ा देता है—फेंक देता है उसी प्रकार तप और उत्तम शीलके धारक पुरुष शानोपयोग के द्वारा विषभूत पदार्थों के सार को ग्रहण कर विषयों को खलके समान दूर छोड़ देते हैं । तप और शील से सहित ज्ञानी जीव इन्द्रियों के विषय को

वद्देसु य खण्डेसु य भद्रेसु य विशालेसु अंगेसु ।

अंगेसु य पर्पेसु य सब्बेसु य उत्तमं शीलं ॥२५॥

वृत्तेषु च खण्डेषु च भद्रेषु च विशालेषु अंगेषु ।

अंगेषु च प्राप्तेषु सर्वेषु च उत्तमं शीलं ॥२५॥

पुरिसेण वि सहियाए कुसुमयमूढेहि विषयलोलेहि ।

संसारे भ्रमिदव्य अरथघरद्वं य भ्रवेहि ॥२६॥

पुरुषेणापि सहितेन कुसुमयमूढः विषयलोलः ।

संसारे भ्रमितव्य अरहटघरद्वं इव भूतेः ॥२६॥

खल के समान समझते हैं जिस प्रकार इसुका रस ग्रहण कर लेने पर छिलके फेंक दिये जाते हैं उसी प्रकार विषयों का सार उन्हें जानना या सो जानी जीव इस सार को ग्रहण कर छिलके के समान विषयों का त्याग कर देता है । जानी मनुष्य विषयों को ज्ञेयमात्र जान उन्हें जानता तो है परन्तु उनमें आसक्त नहीं होता है अथवा एक भाव यह प्रकट होता है कि कुशल द्रुष्टव्य विषय को द्रुष्ट विषय के समान छोड़ देते हैं ॥२४॥

वद्देसु य——इस मनुष्य के शरीर में कोई अङ्ग वृत्त अर्थात् गोल है, कोई खण्ड अर्थात् अर्ध गोलाकार है कोई भद्र अर्थात् सरल है और कोई विशाल अर्थात् चौड़े हैं सो इन अंगों के यथास्थान प्राप्त होने पर भी सब में उत्तम अङ्ग शील ही है ।

भावार्थ—शीलके बिना मनुष्य के समस्त अङ्गों की शोभा निःसार है इसलिये विवेको जन शील की ओर हो लक्ष्य रखते हैं ॥२५॥

पुरिसेण—मिथ्यामत में भूढ़ हुए वितने ही विषयों के लोभी मनुष्य ऐसा कहते हैं कि हमारा पुरुष ब्रह्म तो निविकार है विषयों में प्रवृत्ति भूत चतुष्टय की होती है इसलिये उनसे हमारा कुछ विगाढ़ नहीं है सो यथार्थ बात ऐसी नहीं है क्योंकि उस भूत चतुष्टय रूप शरीर के साथ पुरुष को भी ब्रह्मको भी अरहट की घड़ी के समान संसार में भ्रमण करना पड़ता है ।

भावार्थ—जबतक यह जीव शरीर के साथ एकी भावको प्राप्त हो १. इस गाथा का मानार्थ १० जयचन्द्र जी ने इस प्रकार लिखा है—

'कुमति विषया सभल मिथ्यादृष्टि आपनो विषयनिकू' भले माति सेवे हैं । कई कुमति ऐसे भी हैं जो ऐसे कहे हैं जो सुन्दर विषय सेवने ते बहु प्रसन्न होते हैं यह परमेश्वर की बड़ी मिलि है ऐसे कहिए अत्यन्त आसन्न

आदेहि कम्मगंठो जावद्वा विषयरायमोहेहि ।

तं छिदंति कयत्था तवसंजमसीलयगुणेण ॥२७॥

आत्मनि हि कर्मग्रथिः यावद्वा विषयरागमोहाभ्यां ।

तां छिन्दन्ति कृतार्थाः तपः संयमशीलगुणेन ॥२८॥

उदधी व रदणभरिदो तवचिणयंसीलदाणरथणाणं ।

सोहे तोय ससीलो णिक्वाणमणुत्तर पत्तो ॥२९॥

उदधिरिव रत्नभूतः तपोविनयशीलदानरत्नानां ।

शोभेत सशीलः निर्बणिमनुत्तरं प्राप्तः ॥२१॥

रहा है तब तक शरीर के साथ इसे भी भ्रमण करना पड़ता है इसलिये मिथ्या मतके चक्र में पड़कर अपनी विषय लोलुपता को बढ़ाना श्रेयस्कर नहीं है ॥२६॥

आदेहि—विषय सम्बन्धी राग और मोहके द्वारा आत्मामें जो कर्मों की गाँठ बाँधी गई है उसे कृतकृत्य-ज्ञानी मनुष्य तप संयम और शोल रूप गुणके द्वारा छेदते हैं ।

भावार्थ—जीवके रागादि भावोंका निमित्त पाकर कर्मोंका सम्बन्ध होता है सो ज्ञानी मनुष्य उन भावोंको समझ उसके विपरीत तप संयम तथा शील आदि मुण्डोंको धारण कर उस बन्ध को रोकते हैं तथा सत्ता में स्थित कर्म परमाणुओं की निजैरा कर आत्मा और कर्म को जुदा जुदा करते हैं ॥२७॥

✓ **उदधी व—**जिस प्रकार समुद्र रत्नों से भरा होता है तो भी तोय अथवि जल से ही शोभा देता है उसी प्रकार यह जीव भी तप विनय शील दान आदि रत्नों से युक्त है तो भी शील से सहित हस्त हो सर्वोक्तुष्ट निवाण पदको प्राप्त होता है ।

भावार्थ—तप विनय दान आदिसे युक्त होनेपर भी यदि मोह और शोभसे रहित समता परिणाम रूपी शील प्रकट नहीं होता है तो योक्ता की प्राप्ति नहीं होती इसलिये शोलको प्राप्त करना चाहिये ॥२८॥)

होय सेव्ह है, ऐसा ही उपदेश अन्यकूँ दे करि विषयनि मैं लगावे हैं ते आप तो बरहट की छड़ी ज्यों संसार में भ्रमै ही हैं धूर्ही अनेक प्रकार दुःख भोगवे हैं परन्तु अन्य पुरुषकूँ भी तहीं लगाय भ्रमावै हैं तात्सं यह विषय सेव्हा युक्त ही के अभि है दुःखका ही कारण है, ऐसे जानि कुमसीनि का प्रसंग न करना, विषया सक पका छोड़ना यात्री सुखीक पका होय है’ ।

सुणहाण गद्धाण य गोपसुमहिलाण वीसदे मोक्षो ।
जे॑ सोधति चउत्थं पिच्छुजजेता जणोहं सव्वेहि ॥२९॥

शुनां गद्धभानां च गोपसुमहिलानां दृश्यते मोक्षः ।

ये साधयन्ति चतुर्थं दश्यमानाः जनैः सर्वैः ॥२९॥

जह विषयलोलएहि जाणोहि हविज्ज साहिदो मोक्षो ।
तो सो सुरतपुत्तो दसपुञ्चीओ त्रि कि गबो णर्य ॥३०॥

यदि विषयलोलैः जानिभिः भवेत् गाधितो मोक्षः ।

तहि स सात्यकि३पुञ्चः दशपूर्विकः किं यतो नरकं ॥३०॥

सुणहाण—सब लोग देखो, क्या कुत्ते, गधे, गाय आदि पशु तथा स्त्रियों को मोक्ष देखने में आता है? अर्थात् नहीं आता। किन्तु चतुर्थ पुरुषार्थ अर्थात् मोक्षको जो साधन करते हैं उन्हीं को मोक्ष देखा जाता है।

भगवार्थ—बिना शीलके मोक्ष नहीं होता। यदि शील के बिना भी मोक्ष होता तो कुत्ते, गधे, गाय आदि पशु और स्त्रियों को भी मोक्ष होता, परन्तु नहीं होता। यहाँ काङ्कु द्वारा आचार्य ने दृश्यते किया का प्रयोग किया है इसलिये उसका निषेधपरक अर्थ होता है। अथवा 'चउत्थं' के स्थान पर 'चउक्क' पाठ ठीक जान पड़ता है उसका अर्थ होता है जो क्रोधादि चार कथायों को शोधते हैं—दूर करते हैं अर्थात् कथायों को दूर कर शीलसे बीतराग भाव से सहित होते हैं वे ही मोक्षको प्राप्त करते हैं ॥२९॥

✓ **जह**—यदि विषयों के लोभी जानी मनुष्य मोक्ष को प्राप्त कर सकते होते तो दशपूर्वों का प्राणी रुद्र नरक क्यों जाता?

भावार्थ—विषयों के लोभी मनुष्य शील से रहित होते हैं अतः ग्यारह अङ्ग और नौ पूर्व का ज्ञान होने पर भी मोक्ष से विच्छिन्न रहते हैं। इसके विपरीत शीलवान् मनुष्य अष्ट प्रवचनभातृका के जघन्य ज्ञानसे भी अन्त-मुहूर्तवाद केवलज्ञानी होकर मोक्ष प्राप्त कर सकता है। शील की—बीतराग भाव की कोई अद्भुत महिमा है ॥३०॥

१. जो० ।

२. सो ।

३. चाहः ।

**अह णाशेण विसोहो सीलेण विणा बुहेहि गिद्दिद्वो ।
दसपुष्टिवस्त य भावो न कि पुण गिम्मलो जावो ॥३१॥**

यदि ज्ञानेन विशुद्धः शीलेन विना बुधेनिदिष्ठः ।

दसपूर्विणः च भावो न कि पुनः निर्मलो जातः ॥३१॥

आए विषयविरक्तो सो गमयदि णरयवेयणा पउराँ ।

ता लेहदि अरहूपर्यं भणियं जिणवरुद्धमाशेण ॥३२॥

यः विषयविरक्तः स गमयति नरकवेदनां प्रचुराँ ।

तल्लभते अहंत्पदं भणितं जिनवर्धमानेन ॥३२॥

एवं बहुप्यवारं जिणेहि पचबवलणाणवरिसीर्हि ।

सीलेण य मोक्षपर्यं अक्षातीर्दं च लोयणार्णेहि ॥३३॥

एवं बहुप्रकारं जिनैः प्रत्यक्षज्ञानदर्शिभिः ।

शीलेन च मोक्षपदं अक्षातीर्दं च लोकज्ञानैः ॥३३॥

अह णाशेण—यदि विद्वान् शील के लिए आवश्यक मान से ज्ञाव छा शुद्ध हुआ कहते हैं तो दश पूर्व के पाठी रुद्र का भाव निर्मल-शुद्ध क्यों नहीं हो गया ।

भावार्थ—मात्र ज्ञान से भाव की निर्मलता नहीं होती । भाव की निर्मलता के लिये राग, द्वेष और मोह के अभाव की आवश्यकता होती है । राग, द्वेष और मोह के अभाव से भाव की जो निर्मलता होती है वही शील कहलाता है इस शील से ही जीव का कल्याण होता है ॥३१॥

आए विषय—जो विषयों से विरक्त है वह नरक की भारी वेदना को दूर हटा देता है तथा अरहत्पद को प्राप्त करता है ऐसा वर्धमान जिनेन्द्र ने कहा है ।

भावार्थ—जिनागम में ऐसा कहा है कि तीसरे नरक तक से निकल कर जीव तीर्थकर हो सकता है सो सम्यद्वृष्टि मनुष्य नरक में रहता हुआ भी अपने सम्यकत्व के प्रभाव से नरक की उस भारी वेदना का अनुभव नहीं करता—उसे अपनी नहीं मानता और वहाँ से निकलकर तीर्थकर पद को प्राप्त होता है यह सब शील की ही महिमा है ॥३२॥

एवं बहुप्यवारं—इस प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान और प्रत्यक्ष दर्शन से युक्त लोक के ज्ञाता जिनेन्द्र भगवान् ने अनेक प्रकार से कथन किया है कि अतीन्द्रिय मोक्ष पद शील से प्राप्त होता है ।

सम्यक्त्वाणदं सणतव्य रमण्याणः ।

जलणो वि पद्मणसहितो दहन्ति पौराणये कर्म ॥३४॥

सम्यक्त्वज्ञानदर्शनतपोवीर्यं पञ्चाचारा आत्मनां ।

ज्वलनोऽपि पवनसहितः दहन्ति पौराणकं कर्म ॥३४॥

णिहृद्धुभद्रुकम्मा विषयविरक्ता जिद्विद्या धीरा ।

तथाविणयसोलसहिता सिद्धा सिद्धिगदि पक्षा ॥३५॥

निर्देवधार्ष्टकमणिः विषयविरक्ता जितेन्द्रिया धीराः ।

तपोविनयशोऽराहिताः सिद्धः सिद्धिर्हीति गत्ता ॥३५॥

भाषार्थ—केवलज्ञान और केवलदर्शन से सहित लोक के ज्ञाता जिनेन्द्र भगवान् ने ऊपर नाना युक्तियों से यह निरूपण किया है कि अक्षनीय-अतीन्द्रिय मोक्ष पद की प्राप्ति शील से होती है मोहनीय कर्म का क्षय होने से पहले वीतराग परिणति रूप शील की प्राप्ति होती है उसके बाद केवलज्ञान की प्राप्ति होती, तदनन्तर मोक्ष प्राप्त होता है ।

सम्मत—सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, तप और वीर्य ये पञ्च आचार पवन सहित अग्नि के समान जीवों के पुरातन कर्मों को दर्श कर देते हैं ।

भाषार्थ—जिस प्रकार वायु से प्रज्वलित अग्नि काष्ठ के समूह को जला देती है उसी प्रकार सम्यक्त्व आदि पञ्च आचार जीवों के पूर्व बद्ध कर्मों को जला देते हैं । पञ्च आचार के प्रभाव से यह जीव कर्मों का क्षय कर मोक्ष को प्राप्त हो जाता है । यहाँ सम्यक्त्व शब्द से चारित्र का ग्रहण जानना चाहिये ॥३५॥

निहृद्धुभद्रुकम्मा—जिन्होंने इन्द्रियों को जीत लिया है, जो विषयों से विरक्त हैं, धीर हैं अर्थात् परीषहादि के आने पर विचलित नहीं होते हैं, जो तप, विनय, और शील से सहित हैं ऐसे जीव आठ कर्मों को समग्र रूपसे दर्श कर सिद्धगति को प्राप्त होते हैं । उनकी सिद्ध सज्जा है अर्थात् वे सिद्ध कहलाते हैं ।

भाषार्थ—यहाँ सिद्ध जीव कौन है ? तथा सिद्ध केसे जीवों को प्राप्त होती है ? इसका उल्लेख करते हुए कहा गया है कि जो इन्द्रियों को जीत नुके हैं, इन्द्रियों को जीतने के कारण जो उनके स्पष्टादि विषयों से विरक्त हुए हैं जो परीषह तथा उपलर्थ के सहन करने में धीर छीर हैं तथा तप

लावण्यसीलकुशला जन्ममहीदहो जस्स सवणस्स ।
सो शीलो स महेषा भमित्थ गुणवित्थरो भविए ॥३६॥

लावण्यशीलकुशला: जन्ममहीदहः यस्य श्रवणस्य ।
सो शीलः सः महात्मा अभ्यु गुणवित्थरः भव्ये ॥ ३६ ॥

पाणि शाणि जोगो दंसणसुद्धी य बीरियावत्तं ।
सम्मतदंसणेण य लहूति जिणशासणे बोहिं ॥३७॥

ज्ञानं ध्यानं योगो दर्शनशुद्धिश्च बीर्यत्वं ।
सम्यक्त्वदर्शनेन च लभन्ते जिनशासने बोधि ॥ ३७ ॥

जिणवयणगहिदसारा विषयविरत्ता तबोधणा धीरा ।
सीलसलिलेण छाचा ते सिद्धालयसुखं जंसि ॥३८॥

जिनवचनगृहीतसारा विषयविरत्ताः तपोधना धीराः ।
शीलसलिलेन स्नाताः ते सिद्धालयसुखं यान्ति ॥ ३८ ॥

विनय और शील से सहित हैं वे सिद्धि गति को प्राप्त होते हैं और वे ही सिद्ध कहलाते हैं ॥३५॥

लावण्यशील—जिस मुनि का जन्म रूपी वृक्ष लावण्य और सील से कुशल है वह शीलवान् है, महात्मा है तथा उसके गुणों का विस्तार लोक में व्याप्त होता है ।

✓**भावार्थ**—जिस मुनि का जन्म जीवों को अत्यन्त प्रिय है तथा समता भाव रूप शील से सुशोभित है वही मुनि शीलवान् कहलाता है वही महात्मा कहलाता है और उसी के गुण लोक में विस्तार को प्राप्त होते हैं ॥३६॥

ज्ञानं ध्यानं—ज्ञान, ध्यान, योग और दर्शन की शुद्धि-निरतिचार प्रवृत्ति ये सब बीर्य के आधोन हैं और सम्यग्दर्शन के द्वारा जीव जिनशासन सम्बन्धी बोधिरत्नत्रय रूप परिणति को प्राप्त होते हैं ।

भावार्थ—आत्मा में बीर्य गुण का जैसा विकास होता है उसी के अनुरूप ज्ञान, ध्यान, योग और दर्शन की शुद्धता होती है तथा सम्यग्दर्शन के द्वारा जीव जिनशासन में बोधि-रत्नत्रय का जैसा स्वरूप बतलाया है उस रूप परिणति को प्राप्त होते हैं ॥३७॥

जिणवयण—जिन्होंने जिनेन्द्र देव के वचनों से सार प्रहृण किया है,

सर्वगुणक्षीणकर्मा सुहुखसविवजिज्ञदा मणिशुद्धा ।

पर्योगियकर्मरया हृष्टिं आराहणप्रयडा ॥ ३९ ॥

सर्वगुणक्षीणकर्मणः सुखदुःखविवर्जिता मनोविशुद्धाः ।

प्रस्फुटितकर्मरजसः भवन्ति आराधनाप्रकटाः ॥ ३९ ॥

अरहंते सुहमत्ती समस्तं दंसणेण सुविशुद्धां ।

सीलं विषयविरागो ज्ञानं पुणं केरिसं भणित्य ॥ ४० ॥

अहंति शुभभक्तिः सम्यक्लब्धं दर्शनेन सुविशुद्धं ।

शीलं विषयविरागो ज्ञानं पुनः कोदृशं भणित्य ॥ ४० ॥

इति श्रीकुन्दकुन्दाचार्यविरचितशीलप्राभृतकं समाप्तं ।

जो विषयों से विरक्त हैं, जो तप को धन मानते हैं, और वीर हैं और जिन्होंने शील रूपी जल से स्नान किया है वे सिद्धालय के सुख को प्राप्त होते हैं ।

भावार्थ—जो पुरुष जिनवाणी का सार ग्रहण कर विषयोंसे विरक्त होते हुए तप धारण करते हैं दृढ़ता से तपकी रक्षा करते हैं तथा सदा समस्ता भाव रखते हैं वे जीव मोक्ष के सुख को प्राप्त होते हैं ॥ ३८ ॥

सर्वगुण—जिन्होंने समस्त गुणों से कर्मों को क्षीण कर दिया है, जो सुख और दुःख से रहित हैं, मन से विशुद्ध हैं और जिन्होंने कर्मरूपी धूलि को उड़ा दिया है ऐसे आराधनाओं को प्रकट करने वाले होते हैं ।

भावार्थ—जिन जीवों के दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप में चार आराधनाएँ प्रकट होती हैं अर्थात् पूर्णता को प्राप्त होती है वे समस्त मूल-गुणों और उत्तरगुणों के द्वारा कर्मों को क्षीण करते हैं अर्थात् उनकी स्थिति तथा अनुभाग को क्षीण कर देते हैं आत्मानुभव की मुख्यता के कारण उनका सांसारिक सुख दुःख का विकल्प छूट जाता है, उनका हृदय अस्थन्त शुद्ध हो जाता है और कर्मरूपी धूलि को उड़ाकर कर्म रहित हो जाते हैं । आराधनाओं का फल मोक्ष प्राप्ति है यदि आराधनाओं के पूर्ण रूप से प्रकट होने में न्यूनता रह जाय तो स्वर्ग की प्राप्ति होती है वहाँ से आने के बाद फिर मोक्ष की प्राप्ति होती है ॥ ३९ ॥

अरहंते—अरहंत भगवान् में शुभभक्ति होना सम्यक्लब्ध है, यह सम्यक्लब्ध तत्त्वार्थ श्रद्धान् से अस्थन्त शुद्ध है और विषयों से विरक्त होना

ही शील हैं ॥ ये दोनों ही ज्ञान हैं इनसे अतिरिक्त ज्ञान कैसा कहा गया है ।

भावार्थ—सम्यक्त्व और शील से रहित जो ज्ञान है वही ज्ञान ज्ञान है इनसे रहित ज्ञान कैसा ? अन्य भूतों में ज्ञानको सिद्धिका कारण कहा गया है परन्तु जिस ज्ञान के साथ सम्यक्त्व तथा शील नहीं है वह अज्ञान है, उस अज्ञान रूप ज्ञानसे मुक्ति नहीं हो सकती ॥ ४० ॥

इस प्रकार श्री कृष्णकृत्तदाचार्य विरचित शीलप्राभृत समाप्त हुआ

